व्यदाता-एवं प्राप्तिस्थान
—दि० जैन समाज
निवाई (राजस्थान)

श्री वीर निर्वाणसं० २४९६

मुद्रक—महेन्द्र कुमार "महेश" शास्त्री
श्री शांतिसागर जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था
पो० शांतिवीर नगर (श्री महावीर जी) राज०

प्रस्तावना

स्वामी समन्तभद्र और आप्तमीमांसा

दिगम्बर जैन मुनीन्द्रो में तार्किकचूडामणि स्वामी समन्तभद्र का अत्यन्त उच्च स्थान हैं। सपूर्ण विश्व के चिंतकों और दार्शनिकों के द्वारा रचित ग्रंथो के समक्ष समन्तभद्रभारतो यथार्थ में अप्रतिम है। समन्तभद्र को कृति अन्वर्थतः समन्तभद्र है।

समतभद्र

समन्तभद्र पद का वाच्यार्थ परमात्मा हैं। भगवज्जिनसेनरचित सहस्रनाम मे कहा है -

समन्तभद्र. शांतारि धर्माचार्यो दयानिधि ।
सूक्ष्मदर्शी जितानग. कृपालुर्धर्मदेशकः ॥

भगवान को सर्वांगीण मगल युक्त होने से समन्तभद्र कहा जाता है। समन्तभद्र आचार्य की भारती पूर्ण तथा मंगल दायिनी है, अत. इनकी समन्तभद्र संज्ञा अर्थवती है। तीर्थंकर की वाणी द्वारा जिस प्रकार मिथ्यात्व अंधकार दूर होता है, उसी प्रकार विचार पूर्वक इनकी रचना का परिशीलन करने वाला सुधी अविद्या को अंधियारी से मुक्त होकर सम्यक् श्रद्धा की ज्योति से समलंकृत होता है।

गौरव

इनकी रचनाओ के श्रवण मात्र से अनेक उच्च विद्वानो ने मिथ्यात्वका त्यागकर अनेकान्त शासन की शरण ग्रहण की है। वैयाकरण तथा महान योगी पूज्यपादने जैनेन्द्र व्याकरण मे "चतुष्टय समन्तभद्र य" सूत्र द्वारा इनका उल्लेख किया है। हरिवंश पुराण में लिखा है—

जीवसिद्धिविधीह कृत युक्त्यनुशासनम् ।
वचः समन्तभद्रस्य वीरस्येव विजृम्भते ॥

जीव सिद्धिग्रन्थनिर्माणकर्ता तथा युक्त्यनुशासन के रचयिता समन्तभद्र की वाणी भगवान महावीर की वाणी सदृश वदनीय है।

महा कवि जिनसेन ने महा पुराण मे इनकी इस प्रकार अभिवदना की है.—

नम समन्तभद्राय महते कविवेधसे ।
यद्वचो वज्रपातेन निर्भिन्ना. कुमताद्रयः ॥ १ -४३

मैं कवियो के ब्रह्मास्वरूप महान समन्तभद्र को प्रणाम करता हू, जिनको वाणी रूपा वज्रपात द्वारा मिथ्यामतरूप पर्वत निर्भिन्न हो जाते हैं।

कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि ।

यशः समन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीयते ॥ १-४४

समन्तभद्र की कीर्ति कवियो, गमको, वादियो तथा वाग्मियो के मस्तक पर चूडामणि सदृश शोभा को प्राप्त होती है। आचार्य समन्तभद्र कवि, गमक, वादी तथा वाग्मी थे। इन शब्दो का स्पष्टी करण इस प्रकार है-

कविर्नूतनसदर्भो गमको कृतिभेदक ।

वादी विजयवाग्वृत्ति र्वाग्मी स्याज्जनरंजक: ॥

नवीनता पूर्ण रचना करने वाला कवि है। शास्त्र के मर्म को स्पष्ट व्यक्त करने वाला गमक है। विजय पूर्ण वाणी वाला वादी है। जनता के हृदय को आनन्द दाता वाग्मी है।

इन महान गुणो के आकार रूप मे अप्रतिम विद्वान् समन्तभद्र स्वामी रहे हैं। भगवज्जिन सेन स्वय महाकवि होते हुए जब समन्तभद्र आचार्य को कविचूडामणि मानते हैं, तब उनको काव्य जगत् मे श्रेष्ठ स्थिति स्वय सिद्ध हो जाती है। सस्कृतज्ञ विद्वन्मण्डल आज महाकवि कालिदास को कवियो का शिरोमणि मानता है, किन्तु उन कवीश्वर की रचना मेघदूत की जब भगवज्जिनसेन के पार्श्वाभ्युदय से निष्पक्षभाव से सहृदय मनीषी तुलना करते हैं, तो वे वैदिक प्रकाण्ड विद्वान् डाक्टर के बी पाठक का समर्थन करते हैं, कि ये मेघदूत निर्माता की अपेक्षा पार्श्वाभ्युदय के रचयिता जिनसेन की प्रतिभा अपूर्व है। +

शुष्क तर्क शास्त्राभ्यासी मे काव्य का माधुर्य आश्चर्यप्रद बात है। सुन्दर यशस्तिलकमहाकाव्य के निर्माता आचार्य सोमदेव स्वय कहते है कि मेरी बुद्धिरूपी कामधेनुने शुष्क तर्क रूप घास खाया है। सत्पुरुषो के प्रसाद से वह कामधेनु सूक्ति रूप क्षीर प्रदान करती है।

शास्त्रार्थ के क्षेत्र मे तो समन्तभद्र स्वामी शाश्वनिक यशोभाजन रहे हैं। गद्यचिंतामणि के निर्माता वादीभसिंह आचार्य कहते हैं.—

+पार्श्वाभ्युदय के अग्रेजी अनुवादक प्रकाण्ड विद्वान श्री पं मोतीचन्द जी कोठरी एम ए ने अपनी प्रस्तावना मे यह यथार्थ लिखा है- कि इस पार्श्वाभ्युदय का पूर्ण तथा परिशीलन करने पर निष्पक्ष विद्वान् जिनसेन को कालिदास की अपेक्षा विशेषता स्वीकार करेंगे।

सरस्वतीस्वैरविहारभूमयः समतभद्र प्रमुखा मुनीश्वरा –
जयंतु वाग्वज्रनिपात-पाटित-प्रतापगाद्धात-महोध्रकोटय ।।

वे समन्तभद्र आदि मुनीश्वर जयवन्त हो जो सरस्वती के स्वतत्र विचरण की भूमि रूप हैं तथा जिनकी वाणी रूप वज्रपात द्वारा विपक्ष सिद्धान्त रूप पर्वतो का शिखरे चूर्णी भूत हुई है।

चद्रप्रभकाव्य मे वीरनदि आचार्य कहते है कि समन्तभद्र आदि महानज्ञानी की विद्वत्ता प्राप्त करना दुर्लभ हैं -

गुणान्विता निर्मल वृत्त मौक्तिका नरोत्तमैः कण्ठविभूषणीकृता ।
न हारयष्टि: परमेव दुर्लभा समतभद्रादिभवा च भारती ।।

गुणान्विता (डोरा सहित) निर्मल वृत्तमौक्तिका (निर्दोष गोलो मोती युक्त) नरोत्तमो के द्वारा कण्ठ का आभूषण बनाई गई माला हो दुर्लभ नही है किन्तु समन्तभद्र आचार्य आदि रचित भारती भी दुर्लभ है, वह सद्गुणो से अलकृत निर्मल चारित्रधारी मुक्त पुरुषो का कथन करने वाली तथा महान ज्ञानी जनो द्वारा कण्ठ मे धारण की जाती है।

वाणी में सगीत

अनेक महा कवियो ने समन्त भद्र स्वामी को श्रेष्ठ कविरूप मे स्मरण किया है। सहृदय पाठक स्वय उनकी रचना का रसास्वादन कर जान सकता है कि उनकी कृति मे भाव भाषा आदि का अद्भुत सौन्दर्य पाया जाता है उदाहरणार्थ चन्द्र प्रभ भगवान् की स्तुति का एक पद्य ही महा कवि की लालित्य पूर्ण भारतीका परिचय कराता है। यह पद्य उन्होने जिस समय पढा था, उस समय पाषाण पिण्ड के भीतर से १००८ भगवान् चन्द्र प्रभ का दिव्य दर्शन प्राप्त हुआ था। वह लोकोत्तर पद्य इस प्रकार है —

चंद्रप्रभ चद्रमरीचिगौरं चंद्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्
वन्देऽभिवद्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धम् । ३६ ।

चन्द्र किरणो के समान गौरवर्ण युक्त मानो जगत मे अत्यन्त मनोहर नवीन चन्द्रमा ही उदित हुआ है, ऋषियो के ईश्वर, आत्मा से कषाय के बन्धन को जीतने वाले, जिन तथा महान आतमाके द्वारा भक्ति पूर्वक वन्दनीय भगवान चन्द्रप्रभ को मै प्रणाम करता हूं।

भगवान महावीर को स्तुति मे उनके ये मार्मिक शब्द कितने गभीर, सत्य, तर्क शुद्ध श्रुति मधुर है —

बहुगुण सपद सकलं परमतमपि मधुर वचन विन्यासकलम्
नयभक्त्यवत सकल तव देव मत समन्तभद्र सकलम् ।।१४३।।

हे जिनेन्द्र ! एकान्त वादियो का मत सर्वज्ञता, वीतरागता आदि अनेक गुण रूप सपत्ति से असकल अर्थात विरहित है। वह

श्रुति मधुर वचन रचना से शोभायमान है। आपका मत पूर्णतया समन्तभद्र–सर्वांगीण कल्याण पूर्ण है। वह नैगमादि नयो की अस्ति, नास्ति आदि भग रूप कर्ण भूषण भव्यात्माओ को प्रदान करता है।

इस स्तुति पदय मे भापा सौन्दर्य के साथ कितना गहरा और मार्मिक अर्थ परिव्याप्त है, यह सहृदय चिंतक विचार कर अपूर्व आनन्द का अनुभव करेगा। समन्तभद्र स्वामी की रचना मे अद्भुत संगीत का भी माधुर्य रहने से अर्थ से अपरिचित भी श्रोता आनन्द की अनुभूति करता है।

समन्तभद्र स्वामी की महत्ता को ज्ञापित करने वाली बहुमूल्य सामग्री अनेक ग्रन्थो, शिला लेखो आदि मे प्राप्त होती है। अकलङ्क, विद्यानदि आदि प्रकाण्ड तर्क वेत्ताओ ने उनके वैदुष्य की अभिवंदनाकी है। नरेन्द्रसेन आचार्य की यह सूक्ति अत्यन्त मार्मिक है–

श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम्
प्राणिनां दुर्लभ मद्वन्मानुषत्व तथा पुनः ॥ सिद्धान्तसार सग्रह

श्री समतभद्र स्वामी की निर्दोप वाणी प्राणियो को मनुष्य पर्याय की प्राप्ति सदृश दूलंभ है।

आत्म परिचय

समंतभद्र स्वामी अद्भुत प्रतिभा पुञ्ज थे। विविध शास्त्रो के पारदर्शी महाज्ञानी साधुराज थे। वे अपना परिचय देते हुए कहते है, कि मैं आचार्य हूँ, कवि हू, वादियो का प्रमुख पण्डित, ज्योतिप शास्त्रज्ञ, वैद्य, मान्त्रिक तथा तान्त्रिक हूँ। मैं आज्ञा सिद्ध हूँ–मैं जो आदेश देता हू, वह सिद्ध होता है मैं सिद्धसारस्वत हूँ अर्थात मुझे विद्या सिद्धि भी प्राप्त है।

आचार्योऽहं कविरहमह वादिराट् पडितोहम्।
दैवज्ञोह भिषगहमह मान्त्रिकस्तांत्रिकोह।
राजन्नस्यां जलधिवलया मेखलाया मिलायाम्।
आज्ञासिद्धः किमिति बहुना सिद्धसारस्वतोहम्॥

समतभद्र स्वामी की रचनाए तथा उनके विपय की उपलब्ध सामग्री पूर्वोक्त कथन की प्रामाणिकता को सिद्ध करती है।

भावि तीर्थंकरत्व

राजा वलिकथे ने कन्नड़ ग्रन्थ में समन्तभद्र स्वामी को तपस्या द्वारा चारण ऋद्धिधारी वताते हुए उन्हे आगामी तीर्थंकर

कहा है । "आ भावि तीर्थंकरन अप्प समन्तभद्र स्वामी गलुपुनर्दीक्षेगोण्डु तपस्सामर्थ्यंदि चतुरंगुलचारणत्वमं पडे दु रत्नकरंडकादि जिनागम-पुराणम पेल्लि स्याद्वाद वादिगल आडी समाधिय ओडेदरू (समीचीन धर्मशास्त्र प्रस्तावना पृ० १०) । भावि तीर्थंकरत्व के विषय मे एक और उल्लेख है+ श्रेणिक और समन्तभद्र तीर्थंकर होगे । इस सम्बन्ध मे एक बात करणानुयोग शास्त्र की दृष्टि से विचारणीय है ।

गोम्मटसार कर्म काड मे लिखा है—

पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि ।
तित्थयरबंध पारभया णरा केवलि दुगते । ९३ ।

प्रथमोपशम सम्यक्त्वमे तथा शेष तीन सम्यक्त्वो मे अर्थात द्वितीयोपशम, क्षयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व मे असयत से लेकर अप्रमत्त गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानो मे तीर्थंकर प्रकृति के बन्ध का आरभ मनुष्य केवली श्रुत केवली के समीप करता है

इस आर्ष नियम के होते हुए यह प्रतीत होता है कि ऋद्धिबल से समंतभद्र स्वामी विदेह गये होगे, जहा केवली श्रुतकेवली की समीपता प्राप्त हुई होगी ।

राजवंश

समन्तभद्र स्वामी का गृहस्थ अवस्था मे शातिवर्मा नाम था । क्षत्रिय कुल के शिरोमणि राजपुत्र थे । इस विषय मे डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने लिखा है, यह उरगपुर पाण्ड्य देश की प्राचीन राजधानी जान पडती है, जिसका उल्लेख कालिदास ने भी किया है

"अथोरगाख्यस्य पुरस्य नाथ" (रघुवश ६ । ५९) ६७४ ई० से गडवल ताम्रशासन के अनुसार उरगपुर कावेरी के तटपर अवस्थित था (ए पि ई १० । १०२) श्री गोपालन ने इसकी पहिचान त्रिशिरा पल्ली के समीप उरैय्यूर से की है जो प्राचीन चोलवश की राजधानी थी ।" (समीचीन धर्मशास्त्र प्राक्कथन पृ १५-१६)

तेजस्वी श्रमणराज

श्रवण वेलगुल के विंध्यगिरि पर्वत पर मल्लिषेण रचित एक शिला लेख है उसमे समन्तभद्र स्वामी का इस रूप मे वर्णन दिया गया है —

अट्ठ हरी णव पडिहरि चक्कि चउक्कं च एय बलभद्दो,
सेणिय समतभद्दो तित्थयरा हुंति णियमेण

आठ नारायण, नव प्रतिनारायण, चार चक्रवर्ती, एक बलभद्र श्रेणिक तथा समन्तभद्र ये चौबीस महापुरुष आगे भी तीर्थंकर होंगे ।

कांच्यां नग्नाटकोहं मलमलिनतनुर्लांवुशे पांडु पिंडः ।
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षुर्दशपुर नगरे मिष्ट भोजी परिव्राट्
वाराणस्यामभूवं शशधरधवल पांडुरांगस्तपस्वी
राजन् यस्यास्ति शक्तिः स वदतु पुरतो जैननिर्ग्रन्थवादी

मैं काची नगरी मे दिगम्बर साधु था । उस समय मेरा शरीर मलिनता पूर्ण था । लावुश नगर मे मैंने अपने शरीर मे भस्म लगाई थी, उस समय मै पाण्डु रङ्ग था । मेन पड्र नगर मे वौद्ध भिक्षु का रूप धारण किया । दशपुर नगर मे मिष्टान्न सेवी परिव्राजक बना । वाराणसी मे आकर मैंने चंद्र समान धवल कान्ति युक्त शैव तपस्वी का वेप लिया । हे राजन् ! मैं जैन निर्ग्रन्थ मुनि हूँ । जिसकी शक्ति हो, वह मेरे समक्ष आकर शास्त्रार्थ करे । समंतभद्र स्वामी को भस्म व्याधि हो जाने से इन्होने जैन मुनि की मुद्रा का त्याग कर दिया था, कारण उस अवस्था मे स्वच्छद प्रवृत्ति के लिए स्थान नही रहता है । जैन मुद्रा को त्याग कर रोग के कारण इन्होने योग्य प्रिय तथा परितृप्ति प्रद पोपक आहार की उपलब्धि हेतु भिन्न २ धर्मों के साधुओ का रूप लिया था, यद्यपि इनकी श्रद्धा अनेकान्त शासन के नायक जिनेन्द्र भगवान के चरणो मे ही थी ।

इस श्लोक मे उनका इस प्रकार परिचय दिया गया है ।

पूर्वं पाटलिपुत्र मध्य नगरे भेरी मया ताडिता ।
पश्चान्मालव-सिंधु ढक्क विषये काची पुरे वैदिशे
प्राप्तोहं करहाटक बहुभट विद्योत्कटं सकटम् ।
वादार्थी विचराम्यहं नरपते ! शार्दूलविक्रीडितम् ।

पहले मैंने पाटलीपुत्र नगर मे वाद के हेतु भेरो वजाई, पश्चात मालवा, सिंधु, ढाका, काची, विदिशा मे भेरी ताडन किया । इसके पश्चात मैं विद्वानों, शूरवीरो से समलकृत करहाटक देश मे गया । हे नरेन्द्र मैं शास्त्रार्थ का इच्छुक हू । मैं सिंह सदृश निर्भय हो विचरण करता हू ।

मल्लिपेण प्रशस्ति मे कहा है—

सिद्धि संपन्नता

वन्द्यो भस्मक भस्मसात्कृतपटु पद्मावतीदेवता-
दत्तोदात्तपद स्वतन्त्र-वचन-व्याहूत-चन्द्रप्रभ ।
आचार्यः स समतभद्रयतिभृत् येनेह काले कलौ ।
जैनं वर्त्म समन्तभद्रमभवद्भद्र समताद् मुहुः ॥

जिन्होने भस्म रोग रूप महा व्याधि को भस्म किया, पद्मावती देवी की सहायता से जिन्होने उन्नत पद प्राप्त किया, जिनके मन्त्र युक्त स्तोत्र पाठ द्वारा पिण्डी के स्थान मे चन्द्रप्रभ तीर्थंकर की प्रतिमा प्रगट हुई, जिन्होने इस कलिकाल मे कल्याण कारक जैन धर्म की उन्नति कराई तथा समस्त भव्यात्माओ का हित सम्पादन किया, ऐसे आचार्य समन्तभद्र हमारे द्वारा वंदनीय हैं । समन्तभद्र नामके छह सात विद्वानो का प्राचीन उल्लेख मिलता है, किन्तु सुधी समाज के समक्ष सूर्य के समान दीप्तिमान होने वाले तार्किक समन्तभद्र सबसे प्राचीन है।

समय

उनका समय विक्रम की दूसरी–तीसरी शताब्दी माना गया है ।

रचनाएं

इन्होने देवागम स्तोत्र (आप्तमीमासा) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, युक्त्यनुशासन, जीवसिद्धि, स्वयभूस्तोत्र, स्तुति विद्या तथा तत्त्वानुशासन ग्रन्थ बनाए थे । जीवसिद्धि और तत्त्वानुशासन अनुपलब्ध हैं । ऐसी भी प्रसिद्धि है कि इन्होने तत्त्वार्थ सूत्र पर गधहस्ति महाभाष्य बनाया था । कवि हस्तिमल्ल ने विक्रान्त कौरव नाटक मे उपरोक्त भाष्य का उल्लेख किया है :-

तत्त्वार्थसूत्रव्याख्यान-गधहस्तिप्रवर्तकः ।
स्वामी समंतभद्रोऽभूद्देवागमनिदेशकः ॥

अष्टसहस्री पर विषमपद व्याख्याके लेखक लघु समन्तभद्र ने गंधहस्ति भाष्य की तार्किक समन्तभद्र द्वारा रचनाका उल्लेखकिया है ।-

इन्द्रनंदि आचार्य रचित श्रुतावतार कथा के हिन्दी अनुवाद मे पण्डित प्रवर लालाराम जी शास्त्री ने लिखा है-कालान्तर मे तार्किक सूर्य श्रीसमन्तभद्र स्वामी का उदय हुआ । उन्होने षट्खण्डागम और कसाय पाहुड इन दोनो प्राभृतो का अध्ययन किया । उन्हे षट्खण्डागम के पांच खण्डो की 'अडतालीस हजार श्लोक प्रमाण अतिशय सुन्दर सुकोमल संस्कृत भाषा मे टीका बनाई । पीछे से उन्होने द्वितीय सिद्धान्त की व्याख्या लिखना भी प्रारभ की थी, परन्तु द्रव्यादि शुद्धि करण-प्रयत्नो के अभाव से उनके एक साधर्मी (मुनि) ने निषेध कर दिया- जिससे वह नही लिखी गई (पृष्ठ ८३)

गधहस्तिमहाभाष्य तथा सिद्धान्तशास्त्र पर लिखित टीका अनुपलब्ध है । स्वामी समतभद्र की उपलब्ध रचनाओ में आप्तमीमासा की विशेष प्रसिद्धि है ।

सत्य को पूर्ण तथा हृदयगम कर उसे तर्क संगत मधुर वाणी द्वारा व्यक्त करने मे समतभद्र स्वामी की अद्भुत सामर्थ्य रही है। उनकी रचनाओ मे महान विद्वानो के लिए अध्ययन और चिरतन मनन योग्य सामग्री विद्यमान है साथ ही साधारण श्रेणी के मानवों के कल्याण पूर्ण विचारो का संकलन पाया जाता है ।

विचार

रत्न करण्ड श्रावकाचार मे उन्होने धर्म की सुन्दर परिभाषा दी है, "ससार दुखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे स धर्म" जो ससार के दुःखो से निकाल कर जीव को उत्तम सुख मे प्रतिष्ठित करता है, वह धर्म है । ऐसा धर्म प्राचीन है या नवीन इस विवाद में न पड़कर वे समीचीन धर्म देशयामि -मे समीचीन धर्म की देशना करता हूँ यह कहते हैं । सत्य धर्म की देशना करनी चाहिए, ऐसा उनका अभिमत था उन्होने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चरित्र के समुदाय को धर्म कहा है । ऐसा धर्म सर्वज्ञ जिनेन्द्र द्वारा प्रति पादित ही है । उस धर्म के विषय मे वे युक्त्यनुशासन मे अपनी दृष्टि इस प्रकार स्पष्ट करते हैं.-

दया-दम-त्याग-समाधिनिष्ठं नय प्रमाण प्रकृतांजसार्थम् ।
अधृष्यमन्यै रखिलैः प्रवादै जिन त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥

उमास्वामीपादैरासूत्रितस्य तत्त्वार्थाधिगमस्य मोक्षशास्त्रस्य गधहस्त्याख्यमहाभाष्य उपनिबध्नत. स्याद्वाद विद्याग्रगुरवः श्री समन्तभद्राचार्यास्तत्र मगलपुरस्सरस्तवविषयपरमाप्तगुणातिशय-परीक्षामुपक्षिप्तवन्तो देवागमाभिधानस्यप्रवचनतीर्थस्य सृष्टिमापूरयाचक्रिरे

विलिखन् द्वितीयसिद्धान्तस्य व्याख्यां सधर्मणा स्वेन ।
द्रव्यादिशुद्धिकरण–प्रयत्न विरहात् प्रतिनिषिद्धम् । १६१ मूल पुस्तक

हे जिन ! दया, इंद्रिय दमन, त्याग तथा समाधि (ध्यान) युक्त तथा नय, प्रमाण द्वारा जिसने वस्तु का स्पष्ट स्वरूप कहा है और समस्त प्रवादियो द्वारा जो अखण्डनीय है, ऐसा आपका मत अद्वितीय अप्रतिम है—उसके समान अन्य नही है । १

इस वाणी द्वारा समन्तभद्र स्वामी की प्रगाढ भक्ति का भाव व्यक्त होता है । इस श्लोक पर प्रकाश डालते हुए विद्यानंदि आचार्य ने लिखा है कि सर्व प्रथम जीवन मे दया आवश्यक है, उसके होने पर ही इंद्रियो का दमन होगा । इसके पश्चात् त्याग जरूरी है । इनके होने पर ध्यान होगा, जिससे कर्मो का विनाश होता है ।

उन्होने सम्यक्त्व को कल्याण दायी और मिथ्यात्व को अकल्याणकारी कहा है ।

नहि सम्यक्त्वसम किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि ।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत् तनूभृताम् ॥३४॥

जीवो के लिए तीन काल और तीन लोक मे सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी कोई वस्तु नही है तथा मिथ्यात्व के समान कोई अहितकारी नही है ।

पाप निरोध—

श्रावकों के लिए उन्होने यह मार्मिक देशना दी है कि वे हिंसा आदि पापो का परित्याग करें क्योंकि असली सपत्ति आरोहन जीवन है ।

---

१ श्रेष्ठ तथा निराबाध तत्वज्ञान समन्वित होने हुए भी आज के भोग प्रधान युग मे जिनेन्द्र के शासन से जगत् क्यो विमुख होता जा रहा है इस गभीर प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कहते है –

काल कलिर्वा कलुषाशयो वा श्रोतु प्रर्वक्तुर्वचनानयो वा ।
त्वच्छासनैकाधिपतित्वलक्ष्मी-प्रभुत्व शक्तेरपवाद हेतु ॥ यु अ ॥

हे भगवन् ! विषयाधना पोषक कलिकाल है, श्रोताओ का मन मोहान्धकार वश विशुद्धता रहित हो कलुषता प्रचर हो रहा है तथा अनेकान्त शैली के अनुरूप वीतराग शासन की धर्म देशना मे असमर्थ वक्ताओ की बहुलता है, इनसे आपके शासन की एकछत्रता होने रूप लक्ष्मी की प्रभुता मे बाधा आ रही है ।

जिनेन्द्रभक्ति के प्रभाव का ज्ञापक यह श्लोक लोकोत्तर है

देवेन्द्र–चक्र–महिमान–ममेयमानं,
राजेन्द्र-चक्रम-वनीद्र -शिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्र-चक्रमधरी-कृत-सर्वलोक,
लब्ध्वा-शिवं च-जिनभक्तिरूपैति भव्यः, ॥ ४१ ॥ रत्नकरण्ड श्रा०

उसके होनेपर स्वयं वैभव की उपलब्धि होती है।

यदि पापनिरोधो न्यसंपदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवो स्त्यन्यः सपदा किं प्रयोजनम् ॥

यदि पाप का निरोध है अर्थात् व्रतसयुक्त जीवन है, तो बाहरी संपत्ति से क्या प्रयोजन है ? यदि हिंसादि कार्यों में निरत रहने से पाप का आस्रव होरहा है, तो सपत्ति से क्या प्रयोजन है ? तात्पर्य पाप के उदय काल मे सर्व सुख और समृद्धि का क्षय होते देर नही लगती है।

महापुराण मे भगवज्जिनसेन ने लिखा है कि दण्ड नाथ का राजा विपयो की आसक्ति के कारण मरण प्राप्त कर अपने ही खजाने मे अजगर रूप से उत्पन्न हुआ था। उस अजगर को जातिस्मरण हो गया था। राजपुत्र मणि माली ने कहा था -

पितः ! पतितवानस्यां कुयोनावधुनात्वकम् ।
विषयासंगदोषेण धृतमूर्छो धर्नाद्धषु ॥ १-१२५ ॥

हे पिता ! विषयो की आसक्ति रूप दोप वश धन वैभव आदि मे मूर्छा–ममत्व धारण कर अब आपका इस कुयोनि मे पतन हुआ है।

समन्तभद्र स्वामी की यह देशना आज के महा पापो मे निमग्न हो धन सचय मे निरत रहने वाले व्यक्तियो को सत्पथ प्रदर्शन करती है। आचार्य महाराज का यह कथन गभीर अनुभव प्रसूत है.-

पापमराति धर्मो बधु जीवस्य चेति निश्चिन्वन् ।
समयं यदि जानीते श्रेयोज्ञाता ध्रुव भवति ॥ १४८ ॥

जीवका शत्रु पाप है और धर्म उसका बधु है, इस बात को निश्चय करने वाला यदि समय अर्थात् शास्त्र को जानता है, तो वह वास्तव मे श्रेय अर्थात् कल्याण को जानता है।

पाप तथा पापमय प्रवृत्तियो से प्रोति रखने वाला कभो भी कल्याण भाजन नहो होगा, ऐसा महान ज्ञानो इन महर्षि का अभिप्राय है।

जिनेन्द्र शरण:—

लोक आजकल सोचते हैं, कि सकट की घटा फिर आने पर किसका शरण लिया जाय, इस विषय मे समतभद्र स्वामी कहते हैं "क्लेशाम्बुधेर्नौ· पदे"–दु ख रूपी सागर से पार होने के लिए जिनेन्द्र भगवान के चरण नोका सदृश हैं। वे जिनेन्द्र भक्ति को अत्यत महत्व पूर्ण मानते थे। जिनेन्द्रभक्त शिरोमणि ये आचार्य अपने बारे मे कहते हैं. "सुस्तुत्या व्यसन शिरोनतिपर' जिनेन्द्र देव को अत्यन्त

सुन्दर स्तुति की रचना करने का मुझे व्यसन है तथा मेरा मस्तक उनके ही चरणो को प्रणामाजलि अर्पित करता है इसीसे इनकी स्तुति कार के रूप मे प्रसिद्धि भी है। इनकी स्तुतियो मे इनके उच्च तर्क और श्रेष्ठ चिंतन का सर्वत्र दर्शन होता है। ये भगवान के साथ तन्मय होकर उनका स्तवन करते थे। अपनी रचनाओ मे ये भगवान् को अपने भावना ज्ञान द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखते हुए उनसे वार्तालाप करते हुए से प्रतीत होते है। ये महावीर भगवान से युक्त्यनु शासन मे पूछते हैं –

स्तुति का रहस्य

याथात्म्य मुल्लध्य गुणोदयाख्या लोके स्तुति र्भूरिगुणोदधेस्ते ।
अणिष्ठमप्यशमशक्नुवन्तो वक्तु जिन त्वां किमिवस्तुयाम ॥ २ ॥

हे जिन! यथार्थता की सीमा का अतिक्रमण कर गुण का वडे रूप मे निरूपण करना लोक मे स्तुति कही जाती है आप अनत गुणो के सिंधु हैं। आपके गुण का अत्यन्त अल्प प्रमाण मे भी प्रतिपादन करना हमारी सामर्थ्य के वाहर है, तवभला हम आपका किस प्रकार स्तवन कर सकते हैं?

ऐसी स्थिति होते हुए भी भगवान का गुणगान क्यो किया जाता है, इस प्रश्न का सुन्दर समाधान वे अरनाथ तीर्थंकर के स्तवन मे करते हैं –

तथापि ते मुनीन्द्रस्य यतो नामापि कीर्तितम् ।
पुनातिपुण्य कीर्तेर्न स्ततो ब्रूयाम किचन ॥ ८७ ॥

ऐसी स्थिति होते हुए भी पुण्य कीर्ति युक्त आप मुनीन्द्र का नाम सकीर्तन आत्मा को उज्ज्वलता प्रदान करता है, इससे कुछ गुण कीर्तन करता हूँ।

स्तुतिविद्याविशेषज्ञ समतभद्र स्वामी का यह कथन कितना तर्क सगत और हितकारी है। स्तुत्य भगवान विद्यमान हो अथवा न हो, इससे स्तुति के द्वारा प्राप्तव्य सत्फल मे कमी नही पडती है, क्योकि स्तोता को स्तुति द्वारा मानसिक निर्मलता प्राप्त होती है स्तुतिः स्तोतु साधो कुशलपरिणामाय स तदा' [११६]। पाप का सचय न होकर भगवानकी स्तुति अथवा पूजा द्वारा महान कल्याण हुआ करता है। भगवान की आराधना से दुरितक्षय होने के साथ महान् पुण्य का लाभ होता है। जिनेन्द्र की आराधना द्वारा "सावद्यलेशो वहुपुण्यराशौ दोपायनाल' सावद्य का अश होता है, किन्तु अपार पुण्य का वध होता है।

स्वामी समन्तभद्र की उक्तियो मे अनेक महत्त्व पूर्ण समस्याओ का समाधान सहज ही उपलब्ध होता है।

भय द्वारा निर्भयता

आज कल यह कहा जाता है कि जीवन सुधार मे भय का आश्रय नही लेना चाहिए। विचारो के सुधार होने पर जीवन में

परिवर्तन होता है। इस प्रसग मे आचार्य कहते हैं कि भय के रहने पर मनुष्य कुपथ मे नहो जाता है। तथा निर्भय बनता है।

"जनोति लोलोप्यनुवधदोपतो भयादकार्येष्विह न प्रवर्तते ॥ १९ ॥

"अत्यन्त विपयासक्त व्यक्ति भी परम आसक्ति के वशीभूत हो परस्त्रो गमनादि कार्यों मे भयवश प्रवृत्ति नहा करता है इससे दण्ड विधान वेत्ताओ को ये महर्पि दण्डनीति का महत्व सूचित करते हैं।

सुख मीमांसा

इन्द्रियजनित सुख की मार्मिक मीमासा करते हुए वे कहते हैं कि इंद्रिय सुख बहुत थोड़े समय आनन्द प्रदान करता है। उनके शब्द है 'शतह्रदोन्मेषचल हि सौख्य' विद्यु त की क्षणिक आभा के समान सुख है।' उसको दूसरो बुराई यह है कि वह सुख "तृष्णामयाप्यायनमात्र हेतु'—तृष्णारोग की वृद्धि का कारण है। पाच रुपये की पू जी से व्यापार करने वाला पाच करोड़ प्राप्त करने पर चुप न बैठकर तृष्णा के रोग को वृद्धि होने से अत्यधिक संचय के कार्य मे तन्मय हो जाता है। "तृष्णाभिवृद्धिश्च तपति अजस्र', यह तृष्णा की अभिवृद्धि निरन्तर मानसिक सताय दिया करती है।

अनत पदार्थों का सग्रह हो जाने पर भी जीव को शान्ति नही मिलतो है। आज भौतिकता के चु गल फसा हुआ मानव यंत्रो की सहायता से अधिक उत्पादन द्वारा सीमातीत धन वैभव इकट्ठा करता है, फिर भी वह अन्तरङ्ग मे दु,खी रहा आता है। ऐसी स्थिति मे विशुद्ध और स्थायी शांति की आकाक्षा जागती है। उसका उपाय समन्तभद्र स्वामी एक लघु सूत्र द्वारा इन शब्दो मे कहते हैं "स्वदोषशान्त्या विहितात्मशाति' भगवान शातिनाथ ने चक्रवर्ती का वैभव छोडकर आत्मा मे विद्यमान कोवादि दोषो का क्षय किया, इससे उन्होने आत्मीक शान्ति प्राप्त की। इससे दार्शनिक शिरोमणि समन्तभद्रस्वामो यह तत्व सूचितकरते हैं कि असलीसुख को प्राप्त करने के लिए बाहरी आश्रयो या पदार्थो का अवलबन लेने के बदले मे अपने जोवन का शोधन करना चाहिऐ, इससे यह जीव अनत शान्ति का अधीश्वर बनता है।

तप का महत्व

अध्यात्मवाद का यथार्थ मर्म न समझकर कोई २ आत्म निमग्नता की चर्चा करते हुए शरोर को सर्व प्रकार से सुखी बनाने का उद्योग करते रहते हैं, उन्हे भगवान कुन्थुनाथ की स्तुति में आचार्य सुन्दर संकेत देते हैं कि चक्रवर्ती तीर्थंकर कुन्थुनाथ ने विपय सुख का परित्याग करके अनशनादि तप का आश्रय लिया था "बाह्य तप परम दुश्चर माचरस्त्वम। आध्यात्मिकस्य तपस परिबृंहणार्थम" (८२) हे भगवन् कुन्थुनाथ प्रभो! आपने अनशनादि घोर तप किया था, वह ध्यान लक्षण आन्तरिक तप को वृद्धि के लिए किया था।" इस कथन द्वारा आचार्य बाह्य तपस्या को आत्म शुद्धि का अङ्ग सूचित करते हैं। यह तप शक्ति के अनुसार करना चाहिये।

महा पुराणकार जिनसेन स्वामी ने लिखा है —

कायक्लेशो मतस्तावन्न सक्लेशोऽस्ति यावता । सक्लेशे ह्य समाधान मार्गात् प्रच्युतिरेव च । ३०-८ ॥

कायक्लेश उतना ही करना चाहिये, जितने मे सक्लेश भाव न होवे, कारण सक्लेश उत्पन्न होने पर मन स्थिर नही रहता तथा मार्ग से पतन हो जाता है ।

ब्रह्म–पद

दार्शनिक जगत मे ब्रह्म की चर्चा चला करती है । ब्रह्म की उपासना द्वारा यह प्राणी अमृतत्व अथवा मोक्ष को प्राप्त करता है । समत भद्र स्वामी अहिंसा को परमब्रह्म कहते हैं । रागद्वेपादि हिसात्मक परिणामो से विहीन आत्मा ही शाश्वतिक शाति को प्राप्त करती है । वे कहते हैं—

अहिसाभूतानां जगति विदित ब्रह्म परमं ।
न सा तत्रारभो स्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्धयर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयम् ।
भवानेवात्याक्षीत् न च विकृतवेषोपधिरतः ॥ ११९ ॥

प्रभो ! प्राणी मात्र के प्रति अक्रूरवृत्ति धारण करना अहिसा जगत् मे परब्रह्म है । वह अहिसा उस आश्रम की विधि मे नही होती जहा थोडा भी जीवघात युक्त आरभ होता है, अत उस अहिंसा रूप परब्रह्म की प्राप्तिके लिए परम करुणा शील आपने बाह्य और अन्तरङ्ग परिग्रह का परित्याग किया तथा जटा भस्मादि युक्त विकृत वेपमे मुक्त उपाधि धारण की । क्रमश अहिंसात्मक प्रवृत्ति द्वारा शक्ति सम्पन्न होता हुआ आत्मा परमात्मा की अवस्था को प्राप्त करता है ।

सर्वोदय तीर्थ

समतभद्र स्वामी युक्त्यनुशासन मे जैनधर्म को सर्वोदय तीर्थ कहते है । इस अनेकान्त शासन के आश्रय लेने से समग्त सकटो का क्षय होता है, तथा यह स्वयं अविनाशी है । "सर्वापदामन्तकर निरन्त तीर्थं मिदं तवैव" ६१ । इस सर्वोदय तीर्थं का भाव "सपूर्ण आत्माओ की" उन्नति है । यह उन्नति भी "सर्वांगीण" होती है । यह उन्नति सर्व कालीन है । अहिंसा और अनेकान्त शासन वास्तव मे सर्वोदय तीर्थं है ।

इस प्रकार समतभद्र स्वामी की भारती वास्तव मे दीप्तिमान रत्नो की राशि से समलकृत है । विचार शील जिज्ञासु का कर्तव्य है कि वह मन को पक्षपात के रोग से विमुक्त बना उस ज्ञान-सिंधु मे अवगाहन करे । इसका फल क्या होगा इस विषय मे दार्शनिक कहाकवि की ओज पूर्ण घोपणा है—

त्वयि ध्रुव खंडितमानशृंगो भवत्यभद्रोपि समन्तभद्रः ॥ ६३ ॥

समीक्षक व्यक्ति इस जिनवाणी का गहराई से मनन करेगा, तो उसके अहकार रूपसीग खण्डित होगे तथा अभद्र भी समन्त भद्र बन जायगा।

समतभद्र स्वामी की वाणी का जो भी सहृदय चिंतक रसपान करेगा, उसका मन मोह की मलिनता विमुक्त हुए बिना न रहेगा। उनके शब्दो तथा तर्कणा मे अन्त. करण को जीतने की अद्भुत शक्ति है। वे तथा उनकी वाणी दोनों अप्रतिम हैं।

समन्तभद्र स्वामी की रचनाओ मे सत्य शिवं सुन्दर का अपूर्व रस प्राप्त होता है।

आप्तमीमांसा

उनकी रचनाओ मे आप्तमीमासा विश्वविख्यात है क्योकि महान तार्किक आचार्य शिरोमणि अकलङ्क स्वामी ने उस पर अष्टशती टीका बनाई और स्याद्वादविद्यापति विद्यानदि आचार्य ने अष्टसहस्री टीका आठ हजार श्लोक प्रमाण बनाई। उस टीका के विषय मे ये मार्मिक शब्द कहे गए हैं —

श्रोतव्याष्टसहस्री श्रुतैः किमन्यैः सहस्रसंख्यानैः ।
विज्ञायते ययैव स्व समय-पर समय-सद्भावः ।।

एक अष्टसहस्री ग्रन्थ श्रवण योग्य है। अन्य हजारो शास्त्रो के श्रवण मे क्या सार है? इस एक ग्रन्थ के परिशीलन द्वारा स्वसमय तथा परसमय अथवा स्वदर्शन तथा अन्यदर्शनो का हृदय अवगत हो जाता है।

इस ११५ श्लोको वाली रचना मे दार्शनिक चितन पराकाष्ठा को प्राप्त उपलब्ध होता है। समंतभद्र स्वामी ने इस ग्रन्थ के अन्त मे [इसका नाम आप्तमीमासा दिया है :—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।
सम्यग् मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ।। ११४ ।।

इस प्रकार हितार्थी जीवो को सम्यक् और मिथ्या उपदेश के विशेष स्वरूप की प्रतिपत्ति के लिए मैंने यह आप्तमीमासा बनाई।

अष्ट शती [टीका मे अकलङ्क स्वामी आप्त मीमासा शब्द का अर्थ इस प्रकार करते हैं "आप्तमीमासा सर्वज्ञ विशेष परीक्षा" इस ग्रन्थ मे सर्वज्ञ की विशेप परीक्षा की गई है।

देवागम

वसुनदि सिद्धान्त चक्रवर्ती ने इस ग्रन्थ की टीका मे इसका नाम देवागम दिया है। उनके अत्यन्त मार्मिक विनम्र पूर्ण शब्द ध्यान देने योग्य है, "श्रीमत्समतभद्राचार्यस्य त्रिभुवनलब्धजय पताकस्य प्रमाणनयचक्षुपः स्याद्वाद शरीरस्य देवागमाख्यकृतेः सक्षेपभूत

विवरण वृत, श्रुतविस्मरणशालेन वसुनंदिना जडमतिना आत्मोपकाराय"–इस प्रकार सपूर्ण विश्व मे जयध्वज फहराने वाले, प्रमाण तथा नय दृष्टियो से समलङ्कृत, स्याद्वादमूर्ति श्रीमान् समतभद्रआचार्य की देवागम नाम की कृति पर सक्षिप्त विवरण शास्त्र विस्मरण स्वभाव वाले जड बुद्धि वसुनदि ने आत्महितार्थ बनाया।

इससे इस ग्रन्थ का आप्तमीमासा के सिवाय देवागम नाम भी स्पष्ट होता है। भक्तामर कल्याण मदिर एकी भाव, स्तोत्रो के प्रारंभ मे आगत शब्द की दृष्टि मे आदिनाथ स्तोत्र को भक्तामर स्तोत्र, पार्श्वनाथ स्तोत्र को कल्याण मंदिर स्तोत्र और कल्याण कल्पद्रुम स्तोत्र को एकीभाव स्तोत्र कहा जाता है, इसी न्याय से आप्तमीमासा के प्रथम पद्य मे देवागम शब्द होने से अनेक आचार्यो ने इसे देवागम स्तोत्र कहा है। आचार्य वादिराज का पार्श्वनाथ चरित्र मे किया गया यह पद्य कितना मधुर है·—

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम् ।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाद्यापि प्रदर्श्यते ॥ ७ ॥

जिन्होने इस कलिकाल मे देवागम स्तोत्र द्वारा जगत् को सर्वज्ञ का दर्शन,कराया है उन समन्तभद्राचार्य का चारित्र किसे आश्चर्य प्रद न होगा ?

आप्त

आप्तमीमांसा ग्रन्थ में आगत आप्त शब्द के अर्थ पर दृष्टि देना उचित है। नियमसार की गाथा ५ की टीका मे लिखा है आप्त· शका रहित, शका हि सकल मोह-राग-द्वेषादय शका रहित जो है उसे आप्त कहते है। मोह, राग, द्वेपादि समस्त दोपो का नाम शका है।

समन्तभद्र स्वामी ने स्वय अपने ग्रन्थ रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे आप्तका स्वरूप इस प्रकार कहा है —

क्षुत्पिपासा-जरातक-जन्मान्तक-भय-स्मयाः ।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्त सः प्रकीर्त्यते । ६ ।

क्षुधा, प्यास, बुढापा, रोग, जन्म, मरण, भय, मद, राग, द्वेप, मोह, 'च' शब्द द्वारा सूचित चिन्ता, अरति, निद्रा, विस्मय, विषाद, खेद और स्वेद ये अष्टादश दोष जिसमे नही पाये जाते, उसको आप्त कहते हैं। १

१ श्वेताम्बर लोग भगवान मे क्षुधा, तृषा रोगादि का सद्भाव मानते हैं। उन्होने पचअन्तराय जनित दोष, निद्रा, भय, अज्ञान जुगुप्सा, हास्य, रति, अरति, राग, द्वेष, अविरति, काम, शोक और मिथ्यात्व इस प्रकार १८ दोषो की गणना की है।

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागममेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥ ५ ॥

जो रागादि दोष रहित सर्वज्ञ, तथा आगम का स्वामी है वह वास्तव मे आप्त है, अन्य प्रकार से आप्तपना नही हो सकता।

आत्मानुशासन मे आप्त को सर्व दोष- रहित कहा है 'स च सर्व दोष रहित.' ॥ ६ ॥

विद्यानदि आचार्य ने कहा "अभीष्ट फल की प्राप्ति का उपाय सुबोध है, उसका कारण शास्त्र है, उस शास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है।" २

आप्त-मे-निर्दोषपना, सर्वज्ञता तथा- आगमेशिता ये तीन गुण समतभद्र स्वामी ने कहे हैं। तत्त्वार्थ सूत्र के मङ्गलाचरण मे उमास्वामी ने कहा है:—

मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ।

मोक्षमार्ग के नेता कर्म रूपी पर्वतो के भेत्ता तथा विश्व तत्त्वो के ज्ञाता को उनकी त्रिविध विशेषताओ की उपलब्धि के लिए मैं वदना करता हू। यहा कर्मभूभृताभेत्तार विशेषण द्वारा आप्त को निर्दोष स्वीकार किया है। विश्वतत्त्वाना ज्ञातार कहकर सर्वज्ञ कहा है और मोक्षमार्गस्य नेतार शब्द द्वारा दिव्यध्वनि के उपदेष्टा रूप मे आगम के स्वामी कहा है।

मीमांसा

इस ग्रन्थ मे आप्त की विशेष रूप से सर्वांगीण मीमासा अर्थात् विशेष परीक्षा की गई है अत. १ आप्त मीमासा नाम सार्थक है। अग्रेजी मे मीमासा का अर्थ कोश मे दिया है उसका भाव परीक्षा, गभीर चिंतन, बारीकी से जाच करना है।

आचार्य अकलङ्क देव ने अष्टशती मे लिखा है कि समतभद्र स्वामी मे जिनेन्द्र के प्रति श्रद्धा और गुणज्ञता के भाव विद्यमान थे। वे परमात्मा के गुणातिशय की परीक्षा के लिए तत्पर हुए। उन्हे गुण चिंतन की स्थिति मे निमग्नता के क्षण मे ऐसा लगा, कि महावीर भगवान का साक्षात्कार हो रहा है। वे जिनेन्द्र की अन्तरङ्ग लक्ष्मी का विचार करते हुए उसे इद्रियो के अगोचर अनुभव कर रहे है। धनजय महाकवि ने आदीश्वर भगवान् के विषय मे ये महत्त्व उद्गार व्यक्त किये है,

---

१ अभिमत फलसिद्धे रभ्युपायः सुबोधः ।
प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात् । गुणभद्र स्वामी

१ परमेष्ठिगुणस्तोत्रस्य •• प्रपचतस्तदन्वयस्याक्षेपसमाधान लक्षणस्य श्रीमत समन्तभद्रै देवागमाख्याप्तमीमासाया प्रकाशनात् आप्त परीक्षा श्लोक १२० यहां आप्तमीमासा का विशेषण देवागम दिया है। इस प्रकार विद्यानदि स्वामी ने नाम के विषय मे स्पष्टी करण किया है।

अशब्दमस्पर्शमगंधरूपं त्वां नीरसं तद्विषयावबोधम्
सर्वस्य मातारममेयमन्यैर्जिनेन्द्रमस्मार्यमनुस्मरामि ॥

प्रभो ! आप शब्द रहित, स्पर्श रहित, गंध रहित, रूप रहित, तथा रस रहित हैं किन्तु उनके अर्थात् स्पर्शादि के अवबोध युक्त हैं। आप दूसरो के द्वारा नही जाने जाते, किन्तु आप सबके ज्ञाता हैं, ऐसे स्मरणके अगोचर जिनेन्द्र देव आदिनाथका मैं स्मरण करता हूं

ग्रन्थ की पृष्ठ भूमि

आप्तमीमासा की टीका में वसुनदि सिद्धान्त चक्रवर्ती समन्तभद्र स्वामी के मनोगत भावो को इस प्रकार चित्रित करते हैं "हे भट्टारक ! सस्तवो नाम माहात्म्याधिक्यकथन, त्वदीय च माहात्म्यमतीन्द्रिय मम प्रत्यक्षागोचरं, अत. कथ मया स्तूयसे ?-हे परमपूज्य प्रभो ! महिमा का विशेप रूप से कथन करना सस्तव है। आपका माहात्म्य अतीन्द्रिय है। मेरे ज्ञान के अगोचर है। अत: मैं कैसे आपकी स्तुति करूं ? ऐसे गभीर प्रभु के चरणो मे तल्लीनता के पावन क्षणो मे समतभद्र स्वामी को ऐसा प्रतीत हुआ कि भगवान कह रहे हैं "ननु भोवत्स ! यथान्ये देवागमादिहेतोर्मम माहात्म्यमवबुध्य स्तव कुर्वन्ति तथा त्वं किं न कुरुषे ?" हे वत्स ! जिस प्रकार दूसरे लोग देवोका आगमन पुष्प वृष्टि आदि बाह्य अतिशयोके कारण मेरे महत्व को जानकर मेरा स्तवन करते हैं, उस प्रकार तुम क्यो नही करते ?" इस प्रकार कथन करने वाले भगवान जिनेन्द्र को अपने मनोमन्दिर मे कल्पना द्वारा विराजमान करते हुए परोक्षा प्रधानी तार्किक के रूप में आचार्य कहते है कि मुझ तार्किक के चित्त मे देवागमनादि चमत्कारो के कारण आप मे महानता की परिकल्पना नही होती है। समन्तभद्र स्वामी के वे ही मार्मिक तथा तर्क सगत शब्द इस कारिका मे सगृहीत हैं —

देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतय । मायाविष्वपि दृश्यते नास्तत्वमसि नो महान् ॥ १ ॥

भगवन् । पचकल्याणको मे देवो का आगमन, आकाश मे हेममय कमलो पर गमन करना, चमर, अशोक वृक्ष, सुरदुंभि, सिंहासन आदि बाह्य विभूति इद्रजाली लोगो में भी दृष्टिगोचर होती है–मस्करी पूरण आदि के भी दैत्रिक चमत्कार दृष्टि गोचर होते हैं, इससे आप हमारे लिए महान् अथवा गुरुरूप मे वंदनीय नही है। अष्टशती मे अकलङ्कस्वामी आचार्य समन्तभद्र के भावो को इस प्रकार व्यक्त करते हैं "आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशागमादिकं परमेष्ठिन. परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादय:, तादृशोमाया विष्वपि भावात् इत्यागमाश्रय:" आज्ञाप्रधानी देवागमनादि परमेष्ठी के परमात्मचिह्न स्वीकार करें, किन्तु हम परीक्षा प्रधानी इसे महत्व नही देते, क्योकि मायाजाल प्रदर्शको के भी ये पाए जाते हैं। देवागमादि हेतु आगम पर निर्भर है। आगम आप्त पर आश्रित है। आप्तपना असिद्ध है। अत: आगमाश्रित हेतु उपयोगी नही है।

अध्यात्मं बहिरप्येष विग्रहादि महोदय ।
दिव्य सत्यो दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु स: ॥

अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग नि.स्वेदपना आदि शरीर सबधो महत्ता दिव्य हैं, वे मनुष्यो मे नही होती हैं, किन्तु रागादि युक्त देवो मे तो विशेषता पाई जाती है। अत "ततोपि न भवान् परमात्मेति स्तूयते" (अष्टशती) इसलिए भी आपको परमात्मा रूप से मेरे द्वारा स्तुति नही की गई है। यहा आचार्य समतभद्र भगवान के प्रति अपनी भक्ति अन्य कारण द्वारा है, यह सूचित करते हैं। भगवान को तीर्थ प्रवर्तक होने से कोई २ महानता प्रदान करते हैं, इस विषय मे भी आचार्य की मीमासा इस प्रकार है

तीर्थंकृत् समयानाच परस्परविरोधत । सर्वेषामाप्तता नास्ति कश्चिदेव भवेद्गुरु ।। ३ ।।

प्रभो ! तीर्थंकर होने से भी आप मेरे लिए महान् नही है, क्योकि वह अन्यत्र भी पाया जाता है। अष्टशती मे कहा है "नहि तीर्थंकरत्वमाप्तता साधयति शक्रादिष्वसंभवि सुगतादिषु दर्शनात्" तीर्थंकरपना भी आप्तता को सिद्ध नही करता है, [कारण] वह इन्द्रादि देवो मे नही होते हुए भी बुद्धादि धर्म प्रवर्तको में पाया जाता है। वे भी अपने २ तीर्थ के प्रवर्तक हैं। इस प्रसङ्ग मे वैनयिक कहता है "इष्ट मस्माक सर्वेषा सर्वज्ञत्वम्" –तीर्थंकर होने से यदि सबको सर्वज्ञता युक्त आप्त माना जावे तो यह बात हमे इष्ट है। इसकी समीक्षा हेतु आचार्य कहते हैं। क्योकि परस्पर विरोधी प्रति पादन करनेके कारण सभी आप्त नही हो सकते हैं। सर्वज्ञोमे मत भेदका स्थान नही है।

कपिलो यदि सर्वज्ञो बुद्धो नेति का प्रमा ।

तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथ तयो ।।

यदि-कपिल को सर्वज्ञ माना जाय, तो बुद्ध को क्यो न माना जाय ? यदि दोनो को सर्वज्ञ कहा जाय, तो उनमे मत भेद क्यों है ?

कदाचित् यह कहा जाय, कि मीमासक के मतानुसार सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध होता है, सो भी बात नही है। चैतन्य गुण युक्त परमात्मा गुरु हैं; क्योकि उनके ज्ञानावरण कर्म का क्षय पाया जाता है। आत्मा के ज्ञाता स्वभाव युक्त होने से ज्ञानागोचर कोई भी पदार्थ नही है "न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिदगोचरोस्ति"। अष्टशती मे कहा है "साकल्येन विरतमोह सर्वं पश्यति प्रत्यासत्ति–विप्रकर्षयोरकिंचित्करत्वात् अतएव अक्षानपेक्षा, अजनादिसस्कृतचक्षुवो यथालोकानपेक्षा" – पूर्णतया क्षीणमोह होने पर जीव सर्व पदार्थो का दर्शन करता है। इस विषय में समीपता या दूरी का सद्भाव कुछ भी कार्यकारी नही है। इसलिए इद्रियो की भी अपेक्षा नही है जैसे अञ्जन आदि द्रव्यो के द्वारा विशुद्ध नेत्र प्रकाश के अभाव मे भी पदार्थों का दर्शन करते हैं।

सर्वज्ञता की सिद्धि

इसके अनतर समन्तभद्र स्वामी सर्वज्ञता को युक्ति द्वारा सिद्ध करते हुए कहते हैं–

दोषावरणयोर्हानिर्नि.शेषास्त्यतिशायनात्

कचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरंतर्मलक्षयः ।। ४ ।

जिस प्रकार सुवर्ण आदि मे तेजाब आदि पदार्थों के द्वारा किट्ट–कालिमादि बाह्य और अन्तरङ्ग दोषो का पूर्णतया क्षय देखा जाता है उसी प्रकार किसी विशेष आत्मा मे अज्ञानादि दोष तथा उसके कारण कर्म का पूर्णतया विनाश होता है, क्योकि दोषावरण में अतिशायनता अर्थात् क्रम क्रमसे हानि पाई जाती है।

इस विषय मे अकलङ्क स्वामी कहते हैं कि सतोऽत्यतविनाशानुपपत्ते–सत् का सर्वथा क्षय नहीं हाता है। इसका भाव है कि आत्मा से द्रव्यभाव कर्मोंका सम्बन्ध छूटता है। "कर्मणो वैकल्यमात्मकैवल्यमस्त्येव"–कर्म की विकलता ही आत्मा का कैवल्य है।

आत्मा के निर्दोष सिद्ध होने पर उसे सर्वज्ञ किस युक्ति से कहा जाता है, इस शङ्का के निवारणार्थं आचार्य कहते हैं

सूक्ष्मान्तरित दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञसंस्थितिः। ५।

सूक्ष्म, अन्तरित अर्थात कालविप्रकृष्ट, तथा दूरवर्ती पदार्थ अनुमान का विषय होने से किसी विशिष्ट व्यक्ति के प्रत्यक्ष ज्ञान-गोचर होना चाहिए। जिस प्रकार अनुमान के द्वारा जानी गई अग्नि किसी के प्रत्यक्ष गोचर होती है। इस प्रकार सर्वज्ञ की सम्यक् प्रकार से स्थिति सिद्ध होती है।

यह सर्वज्ञता अर्हन्त भगवान मे ही सिद्ध होती है, इसका कारण आचार्य कहते हैं :-

अर्हन्त की सर्वज्ञता

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्ट ते प्रसिद्धेन न बाध्यते। ६।

हे भगवन! युक्ति अर्थात् अनुमान् न्याय तथा प्रत्यक्ष प्रमाण और शास्त्र से अविरोधी वचनों के कारण आप ही समस्त दोषों से रहित हैं आपके द्वारा माने गये तत्त्व प्रमाणो से अबाधित हैं। अकलङ्क स्वामी कहते हैं "सोऽत्र भवान्नर्हन्नेव, अन्येषां न्यायागम विरुद्ध भषित्वात्" वे सर्वज्ञ आप ही है। अर्हन्त के सिवाय अन्य, न्याय और आगम के विरुद्ध कथन करते हैं।

आप्तपना अर्हन्त मे सिद्ध करते हुए अन्य देवो मे आप्तपनेका अभाव सिद्ध करते हुए कहते हैं –

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम्।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते। ७।

आपके शासन रूप अमृत से विमुख सर्वथा एकान्त वादियो का जो अपने को आप्त मानने के अहकार से भस्मीभूत हो रहे हैं, माना गया तत्व इष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाणसे बाधित होता है। अथवा "अनेकान्तात्मवस्तुना वा बाध्यते" अनेकान्त रूप पदार्थोंके द्वारा बाधित

होते हैं।

इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक रूप कथन किया गया है।

एकान्तवाद की सदोषता

समन्तभद्र स्वामीका अन्तःकरण अनेकान्त की दिव्य ज्योति से सर्वदा प्रकाशित रहता था। उस स्याद्वाद दृष्टिको प्रमुख]वना उन्होंने दशपरिच्छेदो में एकान्त दृष्टि के दोषो का उद्भावन करते हुए अनेकान्त शासन की निर्दोषता प्रामाणित की है। एकान्त वादियों का "स्वेष्टं दृष्टेन वाध्यते" --मनोनीत सिद्धान्त इष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण अथवा स्वय अनेकान्तात्मक वस्तु (दृष्टेन-प्रत्यक्षेण, अनेकान्तात्मवस्तुना वा) वाधित होता है। आचार्य कहते हैं एकान्तवादी स्वपक्ष के घातक तथा अनेकान्त रूप पर पक्ष के विरोधी हैं।। नित्य या क्षणिक का एकान्त पक्ष लेने वालों के यहां कुशल अर्थात् शुभ कर्म अकुशल अर्थात् अशुभ कर्म, परलोक, बध मोक्षादि की व्यवस्था नहीं बन पाती है

कुशलाकुशल कर्म परलोकश्चनक्वचित्।
एकान्तग्रहरक्तेषु नाथ स्वपरवैरिषु ।। ८ ।।

इस कारिका की व्याख्या करते हुए अष्टशतो टीका मे अकलङ्क देव कहते हैं "सदसन्नित्यामित्याद्येकान्तेषु कस्यचित् कुतश्चित् कदाचित् क्वचित्प्रादुर्भावा सभवात्"--सदेकान्त, असदेकान्त, नित्यैकान्तादि एकान्त वादियो के यहां किसी के, किसी से, किसी समय, कोई भी प्रकार के कार्य की उत्पत्ति असभव है।

भावैकान्त के मानने में इस प्रकार बाधा आती है :-

भावैकान्त–

२०

भावैकान्ते पदार्थानामभावानामपह्नवात्।
सर्वात्मक मनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम्। ९।

भावैकान्त मे सर्वथा अभाव या असत्व का लोप होने पर वस्तु सर्वात्मक अर्थात् एक रूप, अनादि, अनन्तरूप]तथा अस्वरूप]अर्थात् अभाव रूप हो जायगी, यह बात "अतावक" आपके प्रतिकूल है।

कार्यद्रव्यमनादि स्यात् प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वसस्य च धर्मस्य प्रच्यवेऽनंततां व्रजेत् १०

प्रागभाव को न मानने पर घटादि कार्य द्रव्य अनादि हो जायगी तथा प्रध्वसाभाव का अभाव मानने पर घट के कपाल आदि पर्यायो का अभाव होने पर वस्तु अनत तथा पर्यवसान विहीन हो जायगी ।

सर्वात्मकं तदेक स्यादन्यापोह व्यतिक्रमे ।
अन्यत्र समवाये न व्यपदिश्येत सर्वथा । ११ ।

अन्यापोह अर्थात् इतरेतरा भाव को न मानने पर वस्तु सर्वात्मक हो जायगी क्योकि उसमे अन्य रूपताका अभाव है, जो एकान्त वाद मे अस्वीकृत है) । अत्यन्ताभाव मे सर्वथा अर्थात् सर्व प्रकार से समुदाय रूपमे वस्तु मानी जायगी । (जीव मे अजीव का अभाव न होगा तव जीव और अजीव की भिन्नता का लाप हो जायगा ।

अभावैकान्त के मानने पर उत्पन्न बाधाओ को बताने हैं —

अभावैकांत—

अभावैकान्तपक्षेपि भावापह्नववादिनां
बोधवाक्य प्रमाण न केनसाधनदूषणम् ।१२।

भाव पक्ष का परित्याग कर केवल अभावैकान्त अङ्गीकार करने पर बोध अर्थात् स्वार्थानुमान रूपज्ञान, वाक्य अर्थात् परार्थानुमान तथा स्वपर प्रतिभासक प्रमाण का अभाव हो जायगा, तव किसके द्वारा स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण रूप कार्य होगा ?

स्याद्वाद शासन मे वस्तु का क्या स्वरूप है इस विषय का स्पष्टी करण करते हैं ?

कथंचित्ते सदेवेष्टं कथचिदसदेव तत् ।
तथोभयमवाच्य च नय योगान्न सर्वथा ।१४।

हे जिनेन्द्र ! आपके शासन मे वस्तु, कथचित्, सत् अर्थात् भावरूप, कथचित् असत् अर्थात् अभावरूप, कथंचित् उभयरूप, कथंचित् अवाच्यरूप नयदृष्टि से कही गई है । सर्वथा अर्थात् एकान्त रूप से नहीं कही गई है ।

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात् ।
असदेव विपर्यासान्नचेन्न व्यवतिष्ठते ।। १५ ।।

स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल तथा स्वभाव रूप चतुष्टय की अपेक्षा सपूर्ण विश्व को कौन सत् रूप नहीं स्वीकार करेगा तथा पर-

द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव रूप पर चतुष्टय की अपेक्षा असत् रूप कौन नही मानेगा ? ऐसा न मानने पर वस्तु स्वरूप ही नहीं बन पाएगा

आचार्य कहते हैं कि सप्तभङ्गी न्याय के अनुसार शेप भङ्ग अर्थात् अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य, अस्ति नास्ति के सिवाय, अस्ति अवक्तव्य, नास्ति अवक्तव्य और अस्ति, नास्ति अवक्तव्य ज्ञात करना चाहिए। यही वात इस कारिका मे कही गई है।

शेषभङ्गाश्च नेतव्याः यथोक्तनययोगतः ।
न च कश्चिद्विरोधोस्ति मुनीन्द्र ! तव शासने ।। २० ।।

आगे द्वितीय परिच्छेद मे अद्वैत एकान्त तत्त्व मानने पर दोषो का निरूपण करते हैं :—

अद्वैत मान्यता

अद्वैतैकान्तपक्षेपि दृष्टो भेदो विरुध्यते ।
कारकाणां क्रियायाश्च नैकं स्वस्मात् प्रजायते ।। २४ ।।

अद्वैतकान्त माननें पर क्रिया, कारको का प्रमाण सिद्ध भेद वाधित होता है। एक स्वयमेव विना सहायता के उत्पन्न नही होता है।

अकलङ्क स्वामी लिखते है "नहि कस्यचिदभ्युपगममात्र प्रमाणसिद्ध क्रिया-कारक भेद प्रतिरुणद्धि विरुध्यते च तथाऽद्वैतं क्रिया कारक भेद प्रत्यक्षादिभिः" (अष्टशती) किसी के कथन मात्र से प्रमाण सिद्ध क्रिया, कारक का भेद का लोप नही होता है। अद्वैत मान्यता क्रिया, कारक, भेद, प्रत्यक्षादि के द्वारा बाधित होती है।

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैत च नो भवेत् ।
विद्याऽविद्याद्वय न स्यात् बधमोक्षद्वयं तथा ।। २५ ।।

अद्वैतकान्त मे पुण्य पाप, सुख दुःख, इहलोक, परलोक, विद्या, अविद्या, बध, मोक्ष का अभाव हो जाता है। अत. "प्रेक्षापूर्वकारिभिः अनादरणीय यथा नैरात्म्य दर्शन" (अष्टशती) इस कारण विवेकी लोगो के द्वारा यह दर्शन नैरात्म्य दर्शन के समान अनादरणीय है।

एकान्त रूपसे अद्वैत तत्त्व का निराकरण करते हैं —

हेतोरद्वैत सिद्धिश्चेद द्वैतं स्याद्धेतु—साध्ययोः ।
हेतुना चेद् विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ।। २६ ।।

यदि अद्वैत पक्ष की सिद्धि किसी हेतु द्वारा करते हो तो हेतु और साध्य का द्वैत तत्त्व मानना होगा। यदि अद्वैत सिद्धि हेतु के बिना करते हो, तो वचन मात्र से द्वैत पक्ष भी क्यो नहीं सिद्ध होगा।

अकलङ्क स्वामी कहते हैं "स्वाभिलापमात्रादर्थसिद्धौ सर्वं सर्वस्य सिद्ध्येत्।" अपने शब्द मात्र से अर्थ की सिद्धि मानने पर सभी के सर्व प्रकार के कथन सिद्ध हो जावेंगे। अद्वैत मान्यता के विरुद्ध यह तर्क बडा मार्मिक है

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिवहेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥

अद्वैत शब्द द्वैत का निषेध परक है अर्थात् द्वैत के असद्भाव मे अद्वैत शब्द की ही निष्पति नही होगी। कही भी प्रतिपेध्य के अभाव में किसी सज्ञावान अर्थात् नाम धारी वस्तु का प्रतिषेध नही पाया जाता है। जैसे हेतु के अभाव मे अहेतु नही हो सकता है।

द्वैतैकान्त

स्याद्वाद शासन मे अद्वैत दर्शन के समान भेदैकान्तवाद का भी निराकरण पाया जाता है। एकत्व का निषेध मानने पर क्या हानि होती है इस विषय मे आचार्य कहते हैं —

संतान समुदायश्च साधर्म्यं च निरकुश।
प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ २९ ॥

एकत्व अर्थात् कथचित् तादात्म्यरूपसादृश्य (एकत्वस्य सादृश्यस्य कथंचित्तादात्म्यस्य) के लोप करने पर संतान् समुदाय, साधर्म्य, परलोक गमन तथा प्रत्यभिज्ञानादि का भी अभाव हो जायगा।

ज्ञान और ज्ञेय मे अस्तित्वसामान्य की अपेक्षा अभेद पना है। इसे भी यदि अस्वीकार किया गया, तो क्या होगा, इस पर ग्रन्थकार इस प्रकार प्रकाश डालते हैं —

सदात्मना च भिन्नं चेत् ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत्।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरंतश्च ते द्विषाम् ॥ ३० ॥

ज्ञान यदि अस्तित्व रूप से भी ज्ञेय से पृथक् है तो ज्ञान और ज्ञेय दोनो का लोप होगा। हे जिनेन्द्र! आपके स्याद्वाद सिद्धान्त के विरोधियो के यहा ज्ञान का अभाव मानने पर बाह्य और अन्तरङ्ग ज्ञेय का भी अभाव होगा।

वस्तु का स्वरूप कथचित् एक रूप है, कथचित् भिन्नरूप है यह कहते है —

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथक् द्रव्यादिभेदतः ।
भेदाभेद विवक्षायामसाधारणहेतुवत् ।। ३४ ।।

भेद और अभेद की विवक्षा मे असाधारण हेतु के समान सत्तासामान्य की अपेक्षा से सपूर्ण पदार्थों में एकपना पाया जाता है, तथा द्रव्य, गुण आदि के भेदो की अपेक्षा उनमे पृथक् पना भी पाया जाता है ।

भेद और अभेद काल्पनिक नही हैं दोनो प्रमाण गोचर हैं यह कहते है —

प्रमाणगोचरौ संतौ भेदाभेदौ न सवृती !
तावेकत्राविरुद्धौ ते गुण-मुख्य विवक्षया ।। ३६ ।।

भेद और अभेद दोनो प्रमाण ज्ञान के विषय रूप हैं, इससे वे काल्पनिक नही हैं, वास्तविक हैं ! हे जिनेन्द्र ! आपके शासन में गौण तथा मुख्यता की विवक्षा से एक पदार्थ मे विरुद्ध नही होते हैं ।

आचार्य तृतीय परिच्छेद मे पहले नित्यैकान्त पक्ष को मानने पर हानि बताते हैं–

नित्यैकांत-

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते ।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाण क्व तत्फलम् ।। ३७ ।

नित्यत्व रूप एकान्त पक्ष अर्थात् कूटस्थ नित्यपना मानने पर परिणमन अथवा परिस्पदन रूप कोई भी विक्रिया नही होगी ! अत सर्व प्रथम कारक का अभाव होने से प्रमाण और उसके फलका सद्भाव कैसे सिद्ध होगा ।—

इस प्रसङ्ग मे अष्टशती का यह कथन महत्व पूर्ण है "पूर्वापरस्वभाव-परिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येपि ब्रुवाण. कथमनुन्मत्त. ? कारकज्ञापकहेतुव्यापारा सभवात्" कूटस्थ नित्यपक्ष स्वीकार करते हुए पूर्व स्वभाव का परित्याग तथा उत्तर स्वभाव की प्राप्ति रूप अर्थ क्रिया को स्वीकार करने वाला क्यो न उन्मत्त कहा जायगा ? क्योकि ऐसी मान्यतामे कारक और ज्ञापक हेतुओ को प्रवृत्तिका अभाव होगा ।

समन्तभद्र स्वामी का यह कथन मार्मिक है :—

पुण्य-पाप-क्रिया न स्यात् प्रेत्यभावः फल कुत
बंधमोक्षौ च तेषा न येषां त्वं नासि नायकः ।। ४० ।।

मैत्री प्रमोद कारुण्यादि पुण्यप्रद क्रिया तथा हिंसादि अशुभ भावरूप पापोत्पादक क्रिया का अभाव होगा। अतः पुनर्जन्म, सुख दुखादि रूप पुण्य-पापक्रियाओ के फल, वध तथा मोक्ष का सद्भाव उनके यहा नही सिद्ध होगा, जिनके हे जिनेन्द्र ! आप प्रभु नहो हैं। निरन्वयनाशरूप क्षणिकैकान्तपक्ष मे दोषो को दिखाते है :-

क्षणिकैकांत

क्षणिकैकान्तपक्षेपि प्रेत्यभावद्यसंभवः

प्रत्यभिज्ञाद्यभाधान्न कार्यारभः कुत फलम् ।४१।

क्षणिकैकान्त पक्षे मे जन्मान्तरादि का अभाव हो जाता है। यह वही है इस प्रकार के ज्ञान रूप प्रत्यभिज्ञानआदि का अभाव हो जाने से घटादि निर्माण रूप कार्य, पर्यालोचन, अध्यवसायादि रूप फल का सद्भाव कैसे होगा ?

क्षण क्षण मे पदार्थ का निरन्वय नाश मानने पर अद्भुत अवस्था उत्पन्न होगी।

हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत् ।

बद्धयते तद्द्वयापेत चित्तं बद्धं न मुच्यते ।। ५१ ।।

हिंसा की अभिसधि अर्थात् अभिप्राय वाला हिंसक नही होगा और अभिप्राय रहित दूसरा ही हिंसा करेगा। हिंसा का अभिप्राय और प्राणघात करने वाला चित्त (चित्त तत्परिकल्पितरूपज्ञान जीवसदृश) बधन को प्राप्त होता है तथा बधन से छुटकारा रूप मुक्ति अन्य के होगी, बद्धचित्त की मुक्ति नही होगी। इस प्रकार क्षण क्षण मे नवीन जीव या चित्त की उत्पत्ति मानने पर उपरोक्त आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं।

इस विषय मे जैन दृष्टि क्या है ?

नित्यं तत् प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।

क्षणिक कालभेदात्तो बुद्धयसंचरदोषतः ।। ५६ ।।

हे प्रभो ! आपके सिद्धान्त मे प्रत्यभिज्ञान के द्वारा ग्रहण किए जाने से वस्तु कथंचित् नित्य है। यह प्रत्यभिज्ञान अकारण नही होता है। इसका अबाधित रूप से अनुभव होता है। परिणमन होने से वस्तु कथंचित् क्षणिक भी है बुद्धि के असचार दोष होने से वस्तु को एकान्त रूपमे नही माना गया है। पूर्व एवं उत्तर काल के भेद बिना-स्मरण तथा दर्शन रुप बुद्धियों का सचार नहीं होता। उनके असद्भाव में दर्शन तथा स्मरण के सकलन रुप प्रत्यभिज्ञान का भी अभाव हो जायगा। अकलङ्क स्वामी कहते हैं "ततः क्षणिकं काल-भेदात्

दर्शन-प्रत्यभिज्ञानसमययोरभेदो तदु भयाभावप्रसंगात्। किंच पक्षद्वयेपि ज्ञानासंचारानुषंगात् अनेकान्तसिद्धिः" इससे कालका भेद होने से वस्तु कथंचित् क्षणिक है। दर्शन तथा प्रत्यभिज्ञान के समयो मे अभेद मानने पर दोनो का अभाव हो जायगा। तथा नित्य और क्षणिक रूप एकान्त पक्षो मे ज्ञान का परिवर्तन न होने पर अनेकान्त पक्ष की सिद्धि होती है।

एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से एक समय में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना किस प्रकार आता है, इस विषय में आचार्य कहते हैं :—

अनेकान्त दृष्टि—

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्
व्येत्युदति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

सामान्य रूप से अर्थात् द्रव्यदृष्टि से अन्वय वश अर्थात् सर्व पर्यायो में अनुगत एक ज्ञान पाये जाने से वस्तु का न उत्पाद होता है, न व्यय होता है, वह कथंचित् ध्रौव्यरूप हैं यह स्पष्ट है। अर्थात् पर्याय की दृष्टि से वस्तु उत्पन्न होती है, व्यय को भी प्राप्त होती है। हे जिनेन्द्र! आपके मत मे उत्पाद व्यय तथा ध्रौव्यपना एकत्र एक साथ पाए जाते हैं।

किस प्रकार उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यपना एकत्र पाए जाते हैं, इसका स्पष्टी करण करते है :—

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात्पृथक्।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः ख पुष्पवत। ५८।

कार्य की उत्पत्ति अपने उपादान कारण के क्षयरूप है। उपादान कारण का क्षय और काय का उत्पत्ति इन दोनो का लक्षण पृथक् पृथक् है, किंतु जाति आदि अर्थात् सत्व, प्रमेयत्वादि की अपेक्षा भिन्न नही हैं। अभिन्न हैं। उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य परस्पर निरपेक्ष हो आकाश पुष्प सदृश हो जाते हैं।

अकलङ्क स्वामी ने अष्टशती मे कहा है, कि भिन्न लक्षण वाले होने से कार्य का उत्पाद, तथा कारण का विनाश कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न भी हैं, क्योकि उनमे एकत्वरूप से उपलभ्य मान जाति आदि का सद्भाव पाया जाता है। "अनपेक्षाः परस्परापेक्षामन्तरेण ते स्थित्युत्पत्तिविनाशाः खपुष्पसमाना"—अनपेक्षअर्थात् परस्पर सापेक्षता रहित स्थिति, उत्पाद तथा विनाश आकाश कुसुम समान हैं।

इस कथन को स्पष्ट करने के लिए उदाहरण देते हैं

घट—मौलि—सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयं।
शोक—प्रमोद—माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ५९

घटार्थी, मुकुटार्थी तथा सुवर्णार्थी व्यक्ति सुवर्ण घट के नाश होने पर क्रमश शोक आनद तथा माध्यस्थ्यभाव को सहेतुक प्राप्त होते हैं। तीन प्रकार के भावो की प्रतीति कराने से वस्तु मे त्रिरुपता सिद्ध होती है।

द्रव्य-पर्याय विचार

आचार्य चतुर्थ परिच्छेद मे द्रव्य तथा पर्याय के विषय मे नैयायिक और वैशेषिक दर्शनों की समीक्षा करते हुए स्याद्वाद दृष्टि को इस प्रकार स्पष्ट करते हैं :—

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकत:

परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावत: ।७१।

द्रव्य और पर्याय मे कथचित् ऐक्य है, क्योकि उनकी व्यतिरेक रूप मे अनुपलब्धि है। परिणाम और उसके विशेष की अपेक्षा भी एकता सिद्ध होती है। शक्ति और शक्तिमान की अपेक्षा भी एकता है। शक्तियुक्त शक्तिमान द्रव्य है। प्रतिनियतकार्यसपादन मे समर्थपना शक्ति है।

द्रव्य और पर्याय मे कथचित् भिन्नपना भी है।

संज्ञा–संख्या—विशेषाच्च स्वलक्षणविशेषत ।

प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ।। ७२ ।।

संज्ञा अर्थात् नाम, और सख्या की अपेक्षा भेद भी पाया जाता है। स्व लक्षण अर्थात् असाधारण लक्षणरूप विशेषता से तथा प्रयोजनादि के भेदवश द्रव्य और पर्याय मे नाना पना है, उनमे सर्वथा भिन्नत्व नही है। अष्टशती मे कहा है "यत्प्रतिभासभेदेपि अव्यतिरिक्त तदेक यथा वेद्यवेदकज्ञानं रूपादिद्रव्य वा"—जो प्रतिभास भेद होते हुए भी अभिन्न हैं, वे एक हैं जैसे वेद्य और वेदक ज्ञान अथवा रूपादि द्रव्य भिन्न २ रूप से प्रतिभासित होते हुए भी अभिन्न रूप मे पाये जाते हैं। "तथा च द्रव्यपर्यायौ न व्यतिरिच्येते तदन्यतरापायेऽर्थस्यानुपपत्ते" इसी प्रकार द्रव्य और पर्याय भी भिन्न नही है। उनमें मे द्रव्य अथवा पर्याय का अभाव होने पर पदार्थ का अभाव होता है

आगे पचम परिच्छेद मे सापेक्षभाव तथा निरपेक्षता के एकान्त का निराकरण करते हुए समीचीन दृष्टि को बताते हैं .—

सापेक्ष-निरपेक्ष

धर्मधर्म्यविनाभाव: सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।

न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकांगवत् ।। ७५ ।।

क्रमभावी तथा सहभावी परिणमन को धर्म कहा गया है। गुणी, सामान्य, कारण वस्तु को धर्मी कहा है। स्वधर्म की अपेक्षा से द्रव्य को धर्मी कहा है। स्वधर्मी की अपेक्षा रूपादि को धर्म कहा है। इन धर्म तथा धर्मी का अविनाभाव परस्पर सापेक्ष रूपसे सिद्ध होता है। "न स्वरूप" उनका स्वरूप स्वत. ही सिद्ध है, वह परत सिद्ध नही होता है। जैसे कर्तृ कर्म व्यपदेशका अविनाभाव अथवा वोध्य वोधक व्यपदेशका अविनाभाव परस्पर साक्षेपता द्वारा सिद्ध होता है, उसी प्रकार यहा भी जानना चाहिए।

उपाय तत्व—

आचार्य छठवे परिच्छेद मे उपेयतत्व के अनतर उपाय तत्त्व को प्रतिपादना करते है–

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गति ।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥ ७६ ॥

यदि ऐमा एकान्त मानाजाय, कि सर्व वातें निमित्त कारण से सिद्ध होती है तो प्रत्यक्षज्ञान अथवा आप्त कथन द्वारा पदार्थों का अववोध नही होना चाहिए। कदाचित् प्रत्यक्षज्ञान तथा आगम के आधार पर सर्व सिद्ध होते हैं ऐसा कहा जाय, तो परस्पर विरुद्धार्थ युक्त मतो को भी सिद्धि हो जायगी–

इस प्रसङ्ग गे अकेकान्त दृष्टि इस प्रकार है –

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतो साध्यं तद्धेतुसाधितम् ।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम् ॥ ७८ ॥

अनाप्त अर्थात् विसवादी ज्ञान युक्त वक्ता के होने पर जो वात हेतु अर्थात् अनुमान के द्वारा सिद्ध हो, वह हेतु साधित है। आप्त अर्थात् विसवाद रहित ज्ञान युक्त वक्ता के होने पर उनकी वाणी के आश्रय से जो वात सिद्ध होती हैं, उसे आगम साधित कहते हैं।

आचार्य सप्तम परिच्छेद मे अन्तस्तत्त्व ही समीचीन है इस पक्षकी समीक्षा करते हुए कहते हैं।

बहिरंतरंग तत्त्व–

अंतरगार्थतैकान्ते वुद्धिवाक्य मृषाखिलम् ।
प्रमाणाभासमेवातस्तत्प्रमाणादृते कथ ॥ ७९ ॥

ज्ञानरुप अन्तरगअर्थ ही यथार्थ है ऐसी अतरग अर्थ सम्बन्धी एकान्त पक्ष के मानने पर वाह्य अर्थात् अर्थ को जड रुप जानने वाली वुद्धि तथा अनुमान के निमित्त वाक्य के समान सव कुछ मिथ्या हो जायगा। प्रमाण के अभाव मे प्रमाणाभास भी कैसे रहेगा ?

वाह्य और अभ्यतर तत्व ज्ञानात्मक ही है इस कथन में दोप कहते है –

साध्य-साधन-विज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता ।
न साध्य न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः । ८० ।

साध्य तथा साधन के ज्ञान को यदि विज्ञप्ति (ज्ञान) मात्र माना जावे तो न साध्य रहेगा न हेतु रहेगा और न दृष्टान्त रहेगा, क्योकि प्रतिज्ञा तथा हेतू रुप भेव मे दोप आता है। निरशता मानकर भेद किस प्रकार सिद्ध होगा ?

वाह्यार्थ मानने पर उत्पन्न दोप को कहते है –

वहिरंगार्थ तैकान्ते प्रमाणाभसनिह्नवात् ।
सर्वेषा कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम् । ८१ ।

वाह्य अर्थ को ही मानने पर प्रमाणाभासका अभाव होजाने से विरुद्ध अर्थ का कथन करने वाले सभी लोगोके कार्य की सिद्धि माननी पडेगी ।

अनेकान्त विचार पद्धति के अनुसार तत्व स्वरुप पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं :—

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिन्हवः ।
वहिः प्रमेयापेक्षाया प्रमाणं तन्निभ च ते । ८३ ।

भाव अर्थात् ज्ञानरूप प्रमेय स्वीकार करने पर कोई भी ज्ञान सर्वथा अप्रमाण नही है वाह्य प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाण और प्रमाणाभास आपके शासन मे कहे गए है।

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं बाह्यार्थे सति नासति ।
सत्यानृतव्यवस्थैव युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ।८७।

वाह्य अर्थ के होने पर बुद्धि अर्थात् ज्ञान तथा शब्द मे प्रमाणपना पाया जाता है, वाह्य अर्थ के अभाव होने पर उनमे प्रमाणपना नही होता है। पदार्थ की उपलब्धि तथा अनुपलब्धि होने पर सत्य तथा असत्यपने के वारे मे निर्धारण होता है।

आठवे परिच्छेद मे इस वात पर प्रकाश डाला गया है कि वाह्यार्थ की प्राप्ति दैव पर निर्भर है या पुरुषार्थ पर आश्रित है।

दैव पुरुषार्थ

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद्दैवं पौरुषत कथं ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फल भवेत् ।८८।

अर्थ की सिद्धि दैव (दैवं कर्माख्य) से ही होती है ऐसा मान जाय तो फिर दैव की प्रादुर्भूति पुरुष प्रयत्न द्वारा किस प्रकार होती है। यदि दैव की उत्पत्ति पुरुषार्थ रहित पूर्व के दैवसे ही मानी जाय तो दैवको परंपरा चलते रहने से मोक्ष का अभाव हो जायगा तथा दान शील दीक्षा रुप अथवा कृषि आदि कार्यों के लिए पुरुपार्थ व्यर्थ हो जायगा ?

पौरुषादेव सिद्धिश्चेत् पौरुषं दैवतः कथम् ।

पौरुषाच्चेदमोघ स्यात् सर्वप्राणिषु पौरुषम् ८९

यदि पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि होती है, तो वह पौरुप दैव अर्थात पुरातन कर्म से कैसे संपन्न हो जाता है यदि पुरुषार्थ से ही पुरुषार्थ की सिद्धि होती हो तो सर्व प्राणियो के पुरुपार्थ को नियमत· सफल होना चाहिए।

इस सम्वन्ध मे जैनागम का कथन इस प्रकार है —

अवुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः ।

बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ९१

अवुद्धि पूर्वक हुए कार्यों मे इष्टपना अनिष्टपना अपने दै॰ अर्थात पूर्व सञ्चित कर्म पर निर्भर रहता है, बुद्धि पूर्वक हुए इष्ट अनिष्ट कार्यों मे स्वय का पुरुषार्थ कारण है।

अकलंक स्वामी कहते हैं 'अतर्कितोपस्थिमनुकूल प्रतिकूल वा दैवकृत"–अतर्कितरूप से अनुकूल अथवा प्रतिकूल कार्य दैवकृत है। "तद्विपरीत पौरुषापादितं"–इमके विपरीत अर्थात विचार पूर्वक किया गया कार्य पुरुपार्थ जनित है। दैव और पुरुपार्थ सापेक्ष हैं। "परस्परपं क्षयैवकार्यसिद्धिर्यतो देव आत्मा तस्यकर्मदैवमिति (वृत्ति)

मोमदेव सूरि ने नीतिवाक्यामृत मे लिखा है –

आयुरोपधयोरिव दैव पुरुपकारयो परस्परसयाग. समीहितमर्थं माधयति (१४ षाड्गुण्य समुद्देश·)

आयु और औपधि के समान दैव और पुरुपार्थ का परस्पर मे संयोग इष्ट कार्य को सिद्ध करता है।

सोमदेव सूरिका यह कथन अनुभव पूर्ण हैं "पौरुपमवलवमानस्यार्थानिर्थयो सन्देह. ॥ १२ ॥ निश्चित एवानर्थो दैवपरस्य" ॥१३॥

केवल पुरुषार्थ का अवलवन लेने वाले के इष्ट सिद्धि होने या न होने के विषय मे सदेह की स्थिति रहती है, किन्तु दैव के भरोसे बैठने वाले अकर्मण्यका निश्चय से अनर्थ होगा।

पुण्य–पाप

दूसरो को दु ख देने से पाप तथा सुख देने से पुण्य होता है। स्वय को कष्ट देने से पुण्य तथा स्व को सुख द्वारा पाप होता है,

ऐसी धारणा की नवम परिच्छेद में इस प्रकार मीमासा की है —

पाप ध्रुवं परे दु खात् पुण्यं च सुखतो यदि ।

अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्तत ॥ ९८ ॥

अन्य प्राणीको कष्ट पहुँचाने से दु ख होता है तथा सुख देने से पुण्य होता है, तो अचेतन दु खदायी विष शस्त्रादि को दूसरे को कष्ट देने से पाप का बध होगा, तथा अकषाय अर्थात् वीतराग मुनिराज को सुख में निमित्त होने से पुण्य का बंध होगा । यह बात अयथार्थ है, कारण अचेतन को बध नही होता है तथा वीतराग मुनीश्वर भी राग के अभाववश बध रहित होते हैं ।

पुण्य ध्रुवं स्वतो दु खात् पाप च सुखतो यदि ।

वीतरागो मुनि विद्वास्ताभ्यां यु ञ्ज्यान्निमित्ततः ॥ ९३ ॥

यदि स्वय को दु ख देने से पुण्य तथा स्वय को सुखप्रदान करने से पाप का बध माना जाय, तो वीतराग अर्थात् अकपाय मुनि को परीषहादि द्वारा कष्ट सहन करने से पुण्य का बध होगा तथा तत्व ज्ञानी मुनिके (जो तत्वज्ञान के कारण आनद प्राप्त करता है) पाप का बध मानना होगा । यथार्थ मे वीतराग के बध नही होता है, तथा सम्यग्ज्ञानी मुनि के सक्लेश न रहने से, पाप का बध नही होता है ।

इस विषय मे यथार्थ दृष्टि इस प्रकार है .—

दिशुद्धि-संक्लेशांगं चेत् स्वपरस्थं सुखासुखम् ।

पुण्य-पापास्रवौ युक्तौ न. चेद्व्यर्थ स्तवार्हतः ॥ ९५ ॥

पर सम्बन्धी अथवा स्वसबधी सुख तथा दुःख यदि विशुद्धि के अङ्ग हैं तो पुण्य का आस्रव कहा है तथा यदि वे आर्त रौद्रध्यानरूप संक्लेशभाव के कारण हैं तो पापका आस्रव होता है । जहा विशुद्ध या सक्लेश भाव के अवलबनरूप सुख तथा दु.ख नही होते हैं, वहा हे अर्हन्त देव ! शुष्क भीत पर पडी धूलिवत् बंध का अभाव होता है । अकलक स्वामी कहते हैं "आर्त रौद्रध्यान परिणाम. सक्लेशः तदभावो विशुद्धि आत्मन स्वात्मन्यवस्थान" —आतरौद्रभाव सक्लेश हैं, उनका अभाव विशुद्धि है । वह आत्मा की स्वरूप मे अवस्थिति रूप है ।

मोक्षका हेतु

दशम परिच्छेद मे पुण्य तथा पापास्रव का कारण क्या अज्ञान है, इस विचार की समीक्षा करते हुए कहते हैं :—

अज्ञानाच्चेद् ध्रुवो बधो ज्ञेयानत्यान्न केवली ।

ज्ञान स्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा । ९६ ।

अज्ञान के द्वारा नियमत' बघ होता है, ऐसा माना जाय, तो कोई भी केंवली अर्थात् मुक्त नही होगा, क्योकि ज्ञेय अनत हैं, अतः उनका ज्ञान न हो सकने से बध का अभाव नही होगा। यदि अल्पज्ञान के द्वारा मोक्ष की उपलब्धि मानी जाय, तो बहुत अज्ञान के कारण बध होते रहने से मोक्ष का अभाव मानना होगा।

ऐसी स्थिति मे निर्दोष पक्ष क्या होगा, यह कहते हैं ?

अज्ञानान्मोहतो बंधो नाज्ञानाद्वीतमोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्ष' स्यादमोहान्मोहिनोन्यथा ।। ९८ ।।

मोह युक्त अज्ञान के द्वारा बध होता है तथा मोह रहित अज्ञान के द्वारा बध नहीं होता है। मोह रहित जीव के अल्पज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है तथा मोही जीव के अल्पज्ञान से बध होता है।

कामादि अर्थात् रागादिभाव तथा ज्ञानावरणादि कर्मों की विचित्रता एव अनादिता पर प्रकाश डालते हैं .–

कामादि प्रभवश्चित्रः कर्मबधानुरूपतः ।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः ९९

ज्ञानावरणादि कर्मों के कारण नाना प्रकार के कामादि अर्थात् रागादि भावो की उत्पत्ति होती है। वे ज्ञानावरणादि कर्म अपने २ हेतुओ द्वारा उत्पन्न हुआ करते हैं। बध और बध हेतु अर्थात् रागादि भावो की परपरा बीजांकुर के समान अनादि से चली आरही है। हे अरहन्त देव ! शुद्धि तथा अशुद्धि अर्थात् भव्यता तथा अभव्यता के कारण वे जीव दो प्रकार के कहे गए हैं। भव्य ही मोक्ष जाते हैं, अभव्यो मे मोक्ष की पात्रता नही हैं।

जो इस जगत् को ईश्वर द्वारा रचित मानते है, उनकी मान्यता के निराकरणार्थ अकलक देव यह अनुमान वाक्य कहते हैं "संसारोय नैकस्वभावेश्वरकृत तत्कार्यसुखदु खादिवैचित्र्यात् नहि कारणस्यैकरूपत्वे कार्यनानात्व युक्त शालिवीजवत् ।" यह संसार एक स्वभावयुक्त ईश्वर रचित नहीं है, क्योकि उसके कार्य सुख दु.खादि मे विचित्रता देखी जाती है। एक रूप कारण के द्वारा नाना कार्यो की उत्पत्ति नही होती, जैसे धान्य के बीज द्वारा धान्य ही होगा। भिन्न २ बीजो द्वारा भिन्न २ धान्यादि होते हैं।

'कर्मबधविशेप वशात् चित्रा कामादय. तत कर्मवैचित्र्यम्' कर्म बध विशेप के कारण नाना प्रकार के रागादि भाव होते हैं तथा उन रागादि के द्वारा विचित्र प्रकार के कर्मों का बध हुआ करता है।

भव्यजीव मे मोक्ष की शक्ति है, अभव्य जीव मे वह शक्ति नही है, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। पदार्थ का स्वभाव तर्क के अगोचर है 'स्वभावोऽतर्कगोचर "।

प्रमाण

प्रमाण के आधीन रहने वाले प्रमेय की मीमांसा के पश्चात् आचार्य प्रमाण के विषय मे प्रतिपादन करते हैं :–

तत्त्वज्ञान प्रमाणं ते युगपत् सर्वभासनम् ।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् १०१

हे देव ! युगपत् अर्थात् अक्रम रूपसे सर्व पदार्थों का परिज्ञान करने वाला तत्त्वज्ञान अर्थात् केवलज्ञान तथा स्याद्वाद अर्थात् अनेकान्तवाद और नय के द्वारा सस्कृत क्रमभावि तत्त्वज्ञान आपके मतमे प्रमाण रूप माना गया है।

अकलक स्वामी कहते हैं, "सकलज्ञानावरणपरिक्षयविजृम्भित केवलज्ञान युगपत्सर्वार्थविषय शेष सर्व क्रमवृत्ति प्रकारातरासभवात्" सकल ज्ञानावरण के पूर्णक्षय से उत्पन्न केवल ज्ञान युगपत् सर्वार्थों का विषय करता है, शेष सर्व ज्ञान क्रमवृति है, प्रकारान्तर का सद्भाव असभव है। "मतिज्ञानादि स्याद्वादनयलक्षित प्रतिपत्तव्य" मतिज्ञानादि को स्याद्वाद–नय लक्षित जानना चाहिये।

प्रमाण का फल प्रदर्शित करते हैं —

उपेक्षाफलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधी ।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ।। १०२ ।।

आद्यज्ञान अर्थात् केवलज्ञान रूप प्रमाण का फल उपेक्षा है (उपेक्षा राग मोहाभाव) राग तथा मोह का अभाव उपेक्षा है। मति ज्ञानादि शेष सर्व ज्ञानो का फल आदान अर्थात् ग्रहण तथा हान अर्थात् त्याग बुद्धि अर्थात् हितप्राप्ति और अहित परिहार है। "हिताहितप्राप्ति—परिहार समर्थं हि ज्ञानम्' उनका व्यवहित फल उपेक्षा भाव भी है। उनका अपने २ विषयमे अज्ञान का नाश साक्षात् फल है। अकलंक स्वामी कहते हैं 'सिद्धप्रयोजनत्वात् केवलिना सर्वत्रोपेक्षा" कृतकृत्य हो जाने से केवली भगवान मे सर्वत्र उपेक्षा का भाव रहता है।

स्याद्वाद और केवल ज्ञान मे किस अपेक्षा से समानता है, इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–

स्याद्वाद शासन

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमंभवेत् ।। १०५ ।।

स्याद्वाद और केवल ज्ञान दोनो सर्व तत्त्वो के प्रकाशक हैं। केवल ज्ञान सर्व द्रव्यो तथा सर्व पर्यायो का साक्षात् प्रकाशक है तथा स्याद्वाद रूप श्रुतज्ञान सर्व द्रव्यो को असर्व पर्यायो को परोक्ष रूप से अवधारण करता है। इनके सिवाय पर परिकल्पित मान्यता अवस्तु रूप है।

स्याद्वाद शब्द श्रुतज्ञान का वाचक है। आचार्य नय के विषय मे कहते हैं—

स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यजनको नय ॥ १०६ ॥

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान के द्वारा विषयो कृत पदार्थ के नित्यत्वादि विशेष धर्मों का प्रकाशक नय है। अष्टशती में उद्धृत यह पद्य महत्व पूर्ण है –

अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः ।
नयः धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः ॥

अनेकान्त रूप पदार्थ का परिज्ञान प्रमाण है। उस अनेकान्त रूप पदार्थ के अंश रूप एक धर्म को प्रतिपत्ति नय है। यह अन्य धर्मों की अपेक्षा रखता है। धर्मान्तर का निराकरण करने वाला दुर्णय है। (नय अन्य धर्मों के प्रति मैत्री भाव युक्त है। मिथ्यानय अन्य धर्मों के प्रति शत्रु भाव रखता है)

समतभद्र स्वामी का यह कथन अत्यन्त गंभीर है –

मिथ्यासमूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः ।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥ १०८ ॥

नित्यत्वादि मिथ्याधर्मों का समूह असत्य रूप होगा, ऐसी बात नही है। हमारे स्याद्वादशासन मे मिथ्यैकान्तता नही है। निरपेक्षनय मिथ्या हैं तथा अन्य धर्मों को अपेक्षा रखने वाले नय परमार्थ रूप हैं, क्योंकि वे क्रम तथा अक्रमरूप से अर्थ क्रिया कारी हैं। स्याद्वाद शासन समीचीन नयो के समुदाय रूप हैं।

आचार्य स्याद्वाद की सर्व प्रमाणो से अविरुद्ध सिद्धि का स्पष्टी करण करते हैं—

विधेय मीप्सितार्थांग प्रतिषेध्याविरोधि यत् ।
तथैवादेय-हेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥ ११३ ॥

जो अस्तित्वादि है, वह प्रतिपेध्य अर्थात् नास्तित्वादि का अविरोधी है वह इष्ट कार्य का अङ्ग है इसी प्रकार अविधेय वस्तु अर्थात नास्तित्व अस्तित्व का अविरोधी है इस प्रकार सर्व प्रमाणो से स्याद्वाद की सम्यक् अवस्थिति प्रामाणित होती है। इस कारण वृत्तिकार का यह कथन समीचीन है "यदनेकान्तात्मक तत्सत्य'–जो अनेकान्तात्मक है, वह सत्य है। अत 'यदेकान्तात्मकं तन्मिथ्या'–यह कथन परमार्थ सत्य है।

शास्त्र का उपसंहार करते हुए समंतभद्र स्वामी कहते हैं—

उपसंहार—

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छता ।
सम्यड्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये ।। ११५ ।।

इस प्रकार हितार्थी भव्यो को सम्यक् एवं मिथ्या उपदेश के विशेष परिज्ञानार्थ मैंने यह आप्तमीमासा बनाई। इसके द्वारा सत्य तत्त्व और असत्य तत्त्व का स्वरूप स्पष्ट रूप से अवगत होता है।

इस आप्तमीमासा ग्रन्थ मे स्याद्वादामृत भरा हुआ है। अकलङ्कदृष्टि सत्पुरुष इसमे अक्षय ज्ञान की राशि का दर्शन करते हैं। दर्शन शास्त्र के क्षेत्र मे सम्यग्ज्ञान को उद्भासित करने वाली यह रचना विश्व प्रकाशक भास्कर के समान सुधीसमाज के समक्ष भासमान होती है। शुद्ध हृदय चिंतक इस आप्तमीमासा रूप अमृतौषध का सम्यक् रूप से सेवन कर अमृतत्व की उपलब्धि का सत्पात्र बनता है।

हिन्दी टीका

आप्तमीमासा की अत्यन्त गभीर, दुरूह और मार्मिक अष्टशती तथा अष्ट सहस्रीटीकाओ आदि का गहन चिन्तन, परिशीलन एव मनन के उपरान्त पडित मूलचद जी शास्त्री, जो यथार्थ मे न्याय-वाचस्पति हैं, ने महान् श्रम द्वारा प्रस्तुत हिन्दी टीका का ४६२ पृष्ठो मे निर्माण किया है। न्याय शास्त्र के अभ्यासियो के लिए यह रचना विशेष प्रकाश प्रदान करेगी तथा इसके द्वारा ग्रन्थकर्ता की सूक्ष्मदृष्टि और उच्च तर्कणा का सौंदर्य अवगत होगा ऐसी आशा है।

जब हम सन् १९२५ मे स्याद्वादमहाविद्यालय काशी मे न्याय,वारिधि महा महोपाध्याय श्री प० अम्बादास जी शास्त्री के पास न्याय शास्त्र पढते थे, उस समय श्री मूलचद जी भी उनके समीप विद्याभ्यास करते थे। शास्त्री जी प० मूलचन्दजी की तर्कणा, चिन्तन तथा मार्मिक परिशीलन की अनेक बार प्रशसा किया करते थे। ऐसे अनुभवी, प्रकाण्ड विद्वान् के अनुवाद द्वारा अकथनीय लाभ होगा। इस सम्यग्ज्ञान सेवा के उपलक्ष मे अनुभवी विद्वान् पडित मूलचंदजी धन्यवादके पात्र हैं। आशा है, उनके द्वारा और भी दि० जैन न्यायग्रन्थोके महत्वपूर्ण अनुवाद प्रकाशित होंगे। आपका समय हमने देखा है सरस्वती माता की ही सेवा मे अधिकतर व्यतीत होता रहता है। श्री आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य पूज्य क्षु० शीतल सागरजी के सत्प्रयत्न से ऐसा महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। आशा है कि उनका श्रुतसेवा का पुण्य उद्योग विशेष प्रवृद्धि को प्राप्त होगा।

(विद्वरत्न धर्मदिवाकर) सुमेरुचद्र जैन दिवाकर (शास्त्री, न्याय तीर्थ बी ए एल-एल बी) सिवनी म. प्र

दिवाकर सदन १ जनवरी १९६९

सम्पादकीय वक्तव्य

दो हजार वर्ष पूर्व श्रीस्वामीसमन्तभद्राचार्य एक अद्वितीय कोटि के दार्शनिक विद्वान् हो चुके हैं। उनेक वड़े बड़े दिग्गज आचार्यों ने आपके विषय मे बहुत कुछ लिखा है। आपके विषय की सम्पूर्ण जानकारी प्रकाश मे आ चुकी है।

प्रस्तुत महाशास्त्र, गन्धहस्तिमहाभाष्य के मङ्गलाचरण रूप में स्वामी जी द्वारा ही रचा गया है। इसकी अष्टशती, अष्टसहस्री आदि अनेक संस्कृत टीकायें हुई हैं जो कि प्रकाशित हो चुकी है। दो संक्षिप्त हिन्दी टीकायें भी हुई है और वे भी प्रकाशमें आचुकी हैं।

प्रस्तुत महाशास्त्र का विस्तृत हिन्दी विवेचन, मालथौन निवासी श्री पंडित मूलचन्द्र जी शास्त्री श्रीमहावीर जी प्रवासी ने लिखा है। पंडित जी ने यह कार्य ?७ वर्ष पहिले श्री अतिशयक्षेत्र महावीरकमेटी की देखरेख में किया है। विवेचन अधिकांश रूपमें अष्टशती और अष्टसहस्री को आधार मानकर लिखा गया है।

इस महाशास्त्रके हस्तलिखित पन्ने, सात वर्ष पहिले लाडनूं चातुर्मास मे ब्र० प० श्रीलालजी काव्यतीर्थ द्वारा प्राप्त हुये थे। लाडनू मे उस समय स्वर्गीय आचार्य श्री शिवसागर जी महाराज का विशाल चतुर्विध सघ था। सघ के विशिष्ट विद्वान् मुनि श्री अजित सागर जी और आर्यिका श्री ज्ञानमति जी जिनमति जी ने भी इस महाशास्त्र के पन्नो का यत्र तत्र पढ़कर प्रसन्नता व्यक्त की थी। सबकी भावना थी कि यह महाशास्त्र प्रकाश मे आ जाय।

हमने दूसरे दिन से ही इसकी शुद्ध प्रेस कापी करना प्रारम्भ कर दिया और भाग्य व परिश्रम की बात कि तीन सौ बीस पृष्ठ वाली ये कापियां थोडे ही समय मे भर गईं। कापियो को श्री प० इन्द्रलाल जी शास्त्री जयपुर और क्षुल्लक सिद्धसागर जी को भी बताया तो उन्होने भी यही कहा कि इस महाशास्त्र का छपना बहुत ही आवश्यक है। पर छपे कैसे। क्योंकि जब कार्यावधि का समय दूर हो तो लाखो प्रयत्न भी निष्फल हो जाते हैं।

जब समय व्यतीत होता गया तो बीच मे यह भी भावना जाग्रत हुई कि 'जैन समाचार पत्र' में इसे प्रकाशित करा दिया जाय, परन्तु अन्तर आत्मा से उत्तर मिला कि ऐसा नहीं। 'समाचार पत्र' तो समाचार पत्र ही हैं।

फिर एक बार यह भावना हुई कि इसे ३?, ३२ पृष्ठीय ट्रक्टो के रूप मे प्रकाशित करा दिया जाय। उस समय भी अन्तर से

यही उत्तर मिला कि यह कार्य भी पूर्ण शोभास्पद नहीं है और इस प्रकार पाच वर्ष व्यतीत हो गये। ज्योहि चंदलाई (जयपुर) चातुर्मास क पश्चात् ग्रामो मे भ्रमण हुआ कि एक दिन 'रूपाडी' ग्राम मे यह दृढ सकल्प कर ही लिया कि अब तो शीघ्रातिशीघ्र इसे छपाना ही है और 'निवाई' चातुर्मास मे यहां के सद्‌गृहस्थो द्वारा लागत द्रव्य की सुव्यवस्था हो जाने पर छपना प्रारम्भ हो गया।

इस महाशास्त्र के प्रकाशित होने मे वैसे सम्पूर्ण ही निवाई दि० जैन समाज की लगन रही, फिर भी इस समय श्रीबजरग लालजी जो कि मास्टर जी के नाम से भी प्रसिद्ध हैं और श्री बालचन्द जी पाटनी निवाई वालों को भुलाया नही जा सकता।

श्री प० महेन्द्रकुमार जी 'महेश' जो कि शातिवीर गुरुकुल के प्रधानाचार्य और श्रेयोमार्गके सम्पादक हैं उनने प्रूफ सशोधनादि मे पूर्ण सावधानी रक्खी है अत ये धन्यवाद के पात्र है।

विद्वरद्‌त्न प० श्री सुमेरुचन्द्र जी 'दिवाकर' जिन्होंने सत्प्रवचन, सत्साहित्य सर्जन और अलभ्य ग्रन्थों के सम्पादनादि द्वारा समाज सेवा के साथ साथ जो इस महाशास्त्र का रहस्योद्घाटन करने वाली प्रस्तावना लिख भेजने का अथक परिश्रम किया है अत. वे भी अत्यन्त धन्यवाद के पात्र है।

श्री ब्र० हीरालाल जो पाटनी निवाई वाले वतमान मे क्या और कैसे हे यह भारत वर्ष की दि० जैन समाज से छिपी हुई बात नहीं है। इस महाशास्त्र की लगभग एक सौ प्रतिया रूपाडी, कोटखानदा, काशीपुरा और वामखोह की समाज के कुछ सज्जनो के सद्द्रव्य से प्रकाश मे आई हैं अत वे भी धन्यवाद प्राप्त किये बिना नहीं रह सकते। निवाई समाज तो धन्यवाद की पात्र हे ही।

—क्षुल्लक–शीतलसागर

(श्री आचार्य महावीर कीर्ति जी के शिष्य)

हिन्दी टीकाकार का आत्म निवेदन

श्री स्याद्वाद् महाविद्यालय बनारस से न्यायतीर्थ आदि परीक्षाएं उत्तीर्ण कर जब पूज्य प्रातःस्मरणीय गुरुदेव की आज्ञा से मैं सर्व प्रथन पं० सुखलाल जी सघवी के पास अहमदाबाद पहुँचा तो उस समय प० जी ने मुझे सम्मतितर्क के पाठ का अन्य ग्रन्थों के पाठान्तरों से मिलान करने का और उन्हें सगृहीत करने का कार्य सौपा। फिर प० जी की मुझ पर ऐसी कृपा बरसी कि मुझे उन्होंने साधुओं को पढाने के कार्य मे लगा दिया तथा यह भी आदेश दिया कि तुम अष्टसहस्री का हिन्दी मे अनुवाद करो। यह उनकी आज्ञा मुझे एक वरदान सिद्ध हुई मैंने करीब १०-१५ कारिकाओं का अनुवाद उस समय अष्टसहस्री के अनुसार किया जो मेरे पास अभी तक सुरक्षित है फिर सन् ४८ मे जब मुझे श्री महावीर जी आने का पुण्य प्राप्त हुआ तो श्रीमान् रामचन्द्रजी खिन्दका मत्री अ० क्षे० श्री महावीर जी ने मुझे युक्त्यनुशासन के अनुवाद करने की आज्ञा प्रदान की मैंने उनकी आज्ञा

का समुचित सम्मान किया और उक्त ग्रन्थ का विस्तृत अनुवाद कर मैं विद्वज्जनों की सेवा में उसे उपस्थित कर चुका हूँ । यह पूर्वार्ध और उत्तरार्ध रूप से दो भागों में प्रकाशित हो गया है । बाद मे अन्त प्रेरणा से यह आप्तमीमांसाका अनुवाद अष्टसहस्री एवं अष्टशतीके भाव को लेकर तथा और भी अनेक ग्रन्थों की सहायता लेकर किया है, इसमे छद्मस्थ स्वभाव वश त्रुटिया रह जाना स्वाभाविक है, अत विद्वजनों से यही करबद्ध प्रार्थना है कि वे उन्हें सुधार लें और मेरी अज्ञता पर दया भाव रक्खें । इस ग्रन्थके अनुवाद से जायमान समस्त श्रेय मैं अपने पूज्यपाद प्रातः स्मरणीय गुरुदेव अम्बादास जी शास्त्री बनारस की एवं अन्य गुरुजनों की सेवा में सादर समर्पित करता हूं ।

गुरुदेव चरणचञ्चरीक
मूलचन्द्र जैन शास्त्री
श्री महावीर जी

३०–८–७०

समर्पण

मेरी २॥ वर्ष की अतिकुसुमार अवस्था मे दैवदुर्विपाक से
जिसने वैधव्यकी कंटकाकीर्ण भूमि पर पग धर अपने
सुख सुहाग के सिन्दूर बिन्दु को पोछा और मेरे
पलना के पास बैठकर जिसने आगे की अपनी
सब आशाओ का एक मात्र मुझे आधार
मानकर अपने दु खोके दिनोको भी कुछ
नही गिना, ऐसा उसी अनन्त उपकारणी
ममतामयी पूज्य माता को उसके
इकलौते बेटे की यह कृति सादर
समर्पित

मूलचन्द्र
हिन्दी टीकाकार

आप्तमीमांसा महाशास्त्र का शुद्धिपत्र

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
गृल्ह्यते	गृह्यते	४	२
अन्वराय	अन्तराय	२६	१७
है उस समय होता	होता है उस समय	३२	१५
प्रक्ष्यक्षता	प्रत्यक्षता	३४	११-१२
पपरिच्छिन्त्य	परिच्छित्य	३७	९
प्रमात्वात्	प्रमाणत्वात्	४०	१
स्यम्	स्वयम्	४०	७
विप्रमक्षो	विप्रेमोक्षो	४८	१५
सर्वत्र समस्त	समस्त	४९	१
कारण कि	कारण कि वे	५८	१
सम्यत्क्वदर्शन	सम्यक्त्वज्ञानदर्शन	६०	१८
निश्चत	निश्चित	६१	७
सुषुहृयादावपि	सुषुप्त्यादावपि	६३	१७
विदादा	विवादा	६३	१८
अनुमादि	अनुमानादि	७०	९
साधर्म्म	साधर्म्य	७२	७।८
वैद्यर्म्य	वैधर्म्य	७२	८
अकुकल	अकुशल	७३	१०
पदार्थना	पदार्थाना	७६	१२
पुरु१ष."	पुरुषः १"	७७	१३
द्वणश्च	द्गणश्च	७८	१४
नाभिधा१व्रती"	नाभिधावति१"	७९	४
दोषो	दोनो	८९	६
इतरेताभाव	इतरेतराभाव	११०	१
स्वस्वाध्य	स्वसाध्य	११५	१३
व्यवच्छेददार्थ	व्यवच्छेदार्थ	११६	१५
निसक	निरसक	११९	१
व्कक्तात्मना	व्यक्तात्मना	११९	१९
कान्स	कान्त	१२०	२०
उपिथत	उपस्थित	१४५	१३
तफावत	विशेषता	१५७	९
शका को	शका तो	१६७	१४
भेदोपचार से	भेदोपचार के	१७५	१५
जीजादिक	जीवादिक	१७७	१६
स्दरूप	स्वरूप	१८३	१४

अशुद्धि	शुद्धि	पृष्ठ	पंक्ति
अनुम	अनुक्रम	१८७	४
स्वरूप	×	१८६	३
कि कि	कि	१९०	१
विविष्ट	विशिष्ट	२१८	१
अ वश्यतका	आवश्यकता	२२२	१०
औ र और	और	२२५	१५
नैंके	नैंक	२२७	६
किये	कि ये	२२६	१८
आश्रणीय	आश्रयणीय	२३३	६
अतिभास्य	प्रतिभास्य	२३५	१०
लक्षण	लक्ष्य	२३८	११
नज्	नञ्	२४०	६
स्वत्रि-	स्व-	२४८	७
सवंथ युगसन्	सर्वथा युगपत्	२६४	७
दह	वह	२६५	१३
पुरस्पर	पुरस्सर	२६६	१०
परिणापरिस्मपद	परिणामपरिस्पद	२७७	१०
ससती	सकतो	२६३	५
अन्येण्व	अ येष्व	३०५	६
कुशरत्न	कुशूल	३०७	६।१३
परू	रूप	३०८	१
रूस	रूप	३३४	११
प्रत्यभिान	प्रत्यभिज्ञान	३३५	६
वात	वात	३५५	१७
तहर	तरह	३६६	१
कब्द	शब्द	४०१	१६
नियात्	नियमात्	४०७	१७
सवेवना	सवेदना	४०८	१०
द्रव	द्रय	४०६	१५
जिनता	जितना	४१५	१
जति	जाति	४ ७	५
के के	के	४३७	८
केवलिनामभि	केवलिनामपि	४८	८
अन्तर्याव	अन्तर्भाव	४४५	११
रह	हर	४५१	१४
अथचित्	कथचित्	४५६	१३

विशेप सूचना—रेफ, विन्दु और मात्राओ (,' ; ।, ि, ी, ु, ू, े, ै, ो, ौ) के टूट जाने आदि की अन्य भी साधारण अशुद्धियां कहीं कही इस महाशास्त्र मे हैं, पाठक उन्हे भी पढते समय सुधार लेवें।

—क्षुल्लक—शीतलसागर
(आचार्य श्री महावीर कीर्ति जी के शिष्य)



श्री दिगम्बर जैनाचार्य समन्तभद्रविरचिता

आप्त-मीमांसा

[विस्तृत हिन्दी विवेचन सहित]

(मंगलाचरण १)

सन्मतं सन्मतिं नत्वा, स्याद्वादन्यायदेशिनम् ।
सद्गुरुं चाप्तमीमांसा, भाषयाऽनूद्यते मया ॥

(मूल श्लोक)

देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतयः । मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥ १ ॥

अन्वय–देवागम-नभोयान-चामरादिविभूतयः मायाविषु अपि दृश्यन्ते । अतः त्वं नो महान् न असि ।

अर्थ–देवों का आगमन, आकाश मे गमन एवं चामर छत्र इत्यादिक विभूति–चिह्न, हे नाथ ! मायावी पुरुषों में भी देखी जाती हैं । इसलिये इन चिह्नो से आप हमारे जैसे परीक्षाप्रधानियों की दृष्टि में महान्-पूज्य-नहीं हो सकते हो ।

---

१ यह मंगलाचरण हिन्दी टीकाकार का है ।

भावार्थ—टीकाकार श्री विद्यानंद स्वामी ने इस कारिका के अवतरण में अपना यह १ अभिप्राय प्रकट किया है कि तत्वार्थसूत्र की रचना करते समय श्री उमास्वामी महाराज ने "मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम् । ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुणलब्धये ॥" इस श्लोक द्वारा मोक्षमार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वत के भेत्ता एवं विश्वतत्वो के ज्ञाता आप्त को नमन किया है । क्योंकि आप्त ही शास्त्र की उत्पत्ति एव उसके ज्ञान का कारण होता है । इसीलिये मंगल के निमित्त मुनिजन उस आप्त का स्तवन शास्त्र की आदि मे करते हैं । अतः प्रभु, समन्तभद्र स्वामी से पूछते हैं कि हे समंतभद्र ! तुम जब हमारा स्तवन करना चाहते हो तो फिर देवागमादि विभूति को लेकर भी स्तवन करना चाहिये । मोक्षमार्ग के नेतृत्व आदि विशेषणों को लेकर ही क्यों ? तब प्रभु के द्वारा विहित इस प्रश्न को सुनकर स्वामी समन्तभद्राचार्य कहते हैं कि हे नाथ ! हमारे जैसे परीक्षाप्रधानी मानव इन चिह्नों को लेकर आपका स्तवन नही कर सकते है—आपको पूज्य नहीं मान सकते है । कारण कि 'भवान् स्तुत्यः देवागमादिविभूतिमत्वात्" आप देवागमादि विभूति विशिष्ट होने से पूज्य हैं इस प्रकार से आप में स्तुत्य साध्य को सिद्ध करने के लिये प्रयुक्त यह हेतु, साध्य से शून्य मस्करी आदि अपूज्यों में भी विद्यमान होने की वजह से व्यभिचरित हो जाता है अपने साध्य के साथ अविनाभूतहेतु ही स्वसाध्य की निर्दोष सिद्धि का विधायक माना जाता है । प्रकृत में हेतु स्वसाध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से युक्त नहीं है अतः वह अपने साध्य का भी आप में गमक नहीं होता है । "आज्ञाप्रधाना हि त्रिदशादिकं परमेष्ठिनः परमात्मचिह्नं प्रतिपद्येरन् नास्मदादयस्तादृशो मायाविष्वपि भावात्"(अ.श.) भलेही आज्ञाप्रधानी मानव इन त्रिदशादिकों के आगमनादिकों को लेकर आपको भगवान् मानें—पर हमारे जैसे परीक्षाप्रधानीजन तो इन चिह्नो को लेकर कतई आपको परमात्मा मानने के लिये सहिष्णु नहीं हो सकते हैं । कारण कि जिन्हें आज्ञाप्रधानी जनों ने आप में पूज्यता की निशानी मानी है, वे हमारी दृष्टि मे पूज्यता की निशानी नहीं हैं । क्योकि इस प्रकार से की गई स्तुति आगम के आश्रय पड़ती है—युक्ति के आश्रय नहीं । परीक्षा प्रधानी की दृष्टि में आगम तब तक प्रमाण कोटि में नहीं माना जा सकता है कि जब तक उसके

---

१ "निश्रेयस. शास्त्रस्यादौ तन्निबंधनतया मगलार्थतया च मुनिभि सस्तुतेन निरतिशयगुणेन भगवताप्तेन श्रेयोमार्गमात्महितमिच्छतां सम्यग्मिथ्योपदेशार्थं विशेषप्रतिपत्त्यर्थमाप्तमीमांसां विदधानाः श्रद्धागुणज्ञताभ्यां प्रयुक्तमनसः कस्मात् देवागमादिविभूतितो नाऽहं महानभिष्टुत इति स्फुट पृष्टा इव स्वामिसमन्तभद्राचार्य प्राहु. ।"

वक्ता में आप्तत्व का निश्चय नहीं हो जाता। अत ऐसा कहना कि "आप देवागमादि विभूतिविशिष्ट हैं इसलिये परमात्मा है।" यह आगम के आश्रित ही है। क्योकि आगम में ऐसा लिखा है—और उसी आगम लिखित वाक्य को ध्यान में रखकर आज्ञा-प्रधानी आप मे परमात्मत्व को स्वीकार करते हैं। दूसरे इस बात को प्रतिवादी मानने के लिये कटिवद्ध भी तो नहीं है। क्योंकि जैनागम उसकी दृष्टि में प्रमाणभूत नहीं है। तथा जो जैनागम प्रमाणवादी हैं वे भी इस हेतु से आप में पूज्यता स्वीकार नहीं करते हैं। क्योकि उनकी दृष्टि में यह हेतु विपक्षवृत्तिवाला है।

शंका—आगमप्रमाणवादियों की दृष्टि में यह हेतु व्यभिचरित नहीं हो सकता है। कारण कि जिस प्रकार की वास्तविक देवागमादि विभूतिमत्ता अर्हतपरमात्मा मे पाई जाती हैं उस प्रकार की विभूतिमत्ता मस्करी प्रभृति इन्द्रजालियो में नही पाई जाती है। अर्हन्त मे पाई जाने वाली देवागमादि विभूति सत्य है और मस्करी आदि जनों में पाई जाने वाली देवागमादि विभूति असत्य है। भला कहीं असत्य से भी सत्य की समानता हो सकती है। यदि ऐसा न माना जावे तो सत्य धूम से जो अपने साध्य अग्नि के होने पर ही उपलब्ध होता है उसका भी अग्नि के विना उपलब्ध हुए स्वप्नदृष्ट धूम से भी अपलाप होने लगेगा—जिस प्रकार स्वप्नदशा में उपलब्ध धूम अपने साध्य-अग्नि का अनुमापक नहीं होता, उसी प्रकार जाग्रत दशा में उपलब्ध धूम भी अपने साध्य का अनुमापक नहीं हो सकेगा—तथा च सर्वानुमान का उच्छेद ही मानना पडेगा। अत जिस प्रकार सत्य धूम और असत्य धूम मे अन्तर माना जाता है—सत्यधूम स्वसाध्य का व्यभिचारी नहीं होता -असत्यधूम होता है ठीक इसी प्रकार अर्हन्त परमात्मा में घातिया कर्मों के विनाश से उद्भूत देवागमादिविभूतियां अपने साध्य—परमात्मत्व-से व्यभिचरित नहीं हो सकती है। ऐसी मान्यता में एक यह भी लाभ होगा कि जो कारिका का अर्थ इस प्रकार से सगत बैठाया जाता है कि "देवागमादिविभूति से आप महान् नही हैं क्योंकि ये विभूतियां मायावियों में भी पाई जाती है" सो अब वह इस प्रकार से संगत हो जायगा-कि जिस प्रकार पारमार्थिक देवागमादि विभूतियां परमात्मा तीर्थंकर में पायी जाती हैं, उस प्रकार की वे मायावियो में नही पाई जाती है। अतः आप हमारी दृष्टि में पूज्य है—इस पक्ष में ऐसा अन्वय होगा "देवागमनभोयान-चामरादिविभूतिय मायाविष्वपि न दृश्यन्ते, अतः त्व नो महान् असि।"

उत्तर—यह कहना सिर्फ कहना ही मात्र है। इसकी पुष्टि करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। प्रकृत हेतु—देवागमादि—विपक्ष—मस्करीआदिको—में असभवी है इसका समर्थक कहिये कौनसा प्रमाण है? कहो प्रत्यक्ष-सो यह "प्रकृत

हेतु विपक्ष में नहीं रहता है" इस बात का समर्थक–व्यापक–ही नहीं हो सकता है, कारण कि देवागमादि इसके विषय नहीं है। "संबद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिना" चक्षुरादि इन्द्रियों से संबद्ध और वर्तमान पदार्थ ही जाने जाते है असबद्ध और अवर्तमान नहीं। अनुमान प्रमाण भी उस देवगमादि का अनुमापक नहीं हो सकता–कारण कि देवागमादि के साथ अविनाभावसबन्ध से बद्ध लिङ्ग का अभाव है। लिंग हो तो उससे अपने लिङ्गी का ज्ञान हो सकता है। अत देवागमादि न तो प्रत्यक्ष का विषय है और न अनुमान का। आगम इसलिये उसका समर्थक नहीं है, कि वह विचारा स्वय आप्त के निर्णय हुए बिना अभी तक अप्रमाण का कारण हो रहा है। यदि प्रमाण प्रसिद्ध आगम से हेतु देवागमादि -की प्रसिद्धि मानी जाय तो यह एक बड़ी भारी गलती कहलायगी जो उसे प्रमाण मानकर हेतु की ही सिद्धि की जावे, हेतु के साध्य की नही। सबसे अच्छी बात तो यही होगी कि उस प्रमाण प्रसिद्ध आगम से ही साध्य-महान् -स्तुत्य–की सिद्धि मान लेनी चाहिये–ऐसा व्यर्थ में क्यो किया जाय कि प्रमाण प्रसिद्ध आगम से हेतु की और उस हेतु से फिर साध्य की सिध्दि मानी जाय। इसमें लाभ तो कुछ निकलता नहीं है–उल्टा परम्परा रूप परिश्रम ही बढ़ता है। इसलिये स्वामी समन्तभद्र का यह कथन निर्दोष ही है कि हे नाथ! "देवागमादिविभूति से आप महान् नहीं माने जा सकते हो—कारण कि ये महत्ता के चिह्न मायावियों में भी पाये जाते है जो इन चिह्नों को लेकर आप को महान् मानते है–वे सिर्फ आज्ञाप्रधानी जीव ही हैं। हमारी दृष्टि में इस प्रकार स्तवन और उसमें प्रदत्त हेतु ये सबके सब आगमाश्रय हैं। आगमाश्रय हेतु से यदि पदार्थ की सिध्दि मानी जाय तो फिर सब प्रतिवादियों के अभिमतों की भी सिध्दि माननी पडेगी। जिस प्रकार जैन अपने आगम को आश्रय कर अपने अभिमत तत्व की सिध्दि निर्दोष मानने की बात सोचते है उसी प्रकार अन्य प्रतिवादी भी अपने अपने अभिमत को निर्दोष सिध्द करने के लिये कटिबध्द हैं। इसमें यह अड़गा तो लगाया नही जा सकता कि, नहीं जैन आगम ही प्रमाण है—अन्य प्रतिवादी के आगम नहीं। कारण कि इस प्रकार का परीक्षण करना-अड़ंगा लगाना–तो युक्तिवाद का काम है, आगमवाद का नहीं। और इस युक्तिवाद की मान्यता में आगम-वाद धीमा- हल्का पड़ जाता है। इसी को ही चर्चा स्वामी समन्तभद्र यहा कर रहे हैं।

अध्यात्मं बहिरप्येष, विग्रहादिमहोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्स्व, प्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥ २ ॥

अन्वय—दिव्यः सत्य स एप अध्यात्म बहिः अपि विग्रहादिमहोदय रागादिमत्सु दिवौकस्सु अपि अस्ति ।

अर्थ— हे नाथ ! दिव्य एवं सत्य वह यह प्रसिद्ध अन्तरंग एवं बहिरंग शरीरादि रूप महोदय रागादि विशिष्ट देवो के भी है । अतः इस चिन्ह को भी लेकर आप मे महत्ता-पूज्यता सिद्ध नही होती है ।

भावार्थ—स्वामी समन्तभद्र ने जब देवागमादि रूप चिह्नो को, मस्करी आदिकों में संभवित होने के कारण पूज्यता के साथ व्यभिचरित प्रकट किया—तब पुनः प्रभु ने स्वामी जी से कहा—कि महानुभाव ! ठीक है—ये चिह्न भले ही मुझ मे सर्वज्ञता के ख्यापक न हो इससे क्या । परन्तु अन्तरग और बाह्य शारीरिक आदि महोदय मुझ में सर्वज्ञता का अबाध प्रख्यापक है । उसी को लक्ष्य मे लेकर तुम मुझे पूज्य क्यो नही मान लेते हो । क्योकि देखो, मेरे शरीर में कभी भी पसीना नही आता है । क्षुधा, पिपासा, जरा एव अपमृत्यु आदि दोषों के आतक से यह सदा निःशंक रहता है । यही इसका आन्तरिक महोदय है । शरीराश्रित मात्र होने से यह शारीरिक महोदय बहिरग नहीं कहा जा सकता क्योकि इसके उदय मे बाह्य निमित्त—मणि मन्त्रादिक की अपेक्षा नही है । अतः परानपेक्ष होने से यह मेरे शरीर का अन्तरंग स्वाभाविक—महोदय है । इसी प्रकार देवोपुनीत होने के कारण से गन्धोदक आदि की वृष्टि होना वगैरह वहिरग महोदय—अतिशय है । ये दोनो प्रकार के अतिशयरूप महोदय सत्य और दिव्य हैं । मायावियो-इन्द्रजालियों में नहीं पाये जाते हैं इसलिये सत्य, एव मनुजेन्द्र-चक्रवर्तियो मे भी असंभवित होने से दिव्य हैं । इस प्रकार यद्यपि अन्तरग एवं बहिरंग विग्रहादिमहोदय पूरणादिक-मस्करी-प्रभृतियो मे संभवित नही होता है·अतः उनकी अपेक्षा से यह स्वसाध्य के साथ अविनाभावी जैसा प्रतीत होता है और इसलिये इसे व्यभिचारी मानने के लिये गुंजाइश नहीं रहती है तो भी यह महत्ता-पूज्यता का साधक हे नाथ ! आप में इसलिये नही माना जा सकता है कि अक्षीण-कषाय वाले देवो मे भी इसका सद्भाव पाया जाता है । जो हेतु विपक्ष में भी व्यावृत्ति से रहित होता है वह स्वसाध्य का साधक नहीं होता है ।

आगमप्रमाणवादी—यह तो हम भी मानते है कि जो हेतु विपक्ष मे रहता है वह स्वसाध्य का साधक नही होता है । परन्तु इस अन्तरंग एवं बहिरग विग्रहादि महोदय रूप हेतु की विपक्ष-देवादिको-में वृत्ति मानना यह ठीक नहीं है । कारण कि भगवान का जो अन्तरंग एव बहिरग विग्रहादि महोदय है-वह घातिया कर्मो के सर्वथा अभाव से जन्य है-ऐसा वह महोदय कषायाविष्ट देवो मे संभवित ही नही हो सकता है । यही भाव इस कारिका से भी निकलता

है-"दिवौकस्स्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः, नैवास्तीति।" इस प्रकार का महोदय रागादिक विशिष्ट देवो के भी है ? अर्थात् नही है । अतः किं गर्भित इस प्रकार के कथन से हेतु को व्यभिचरित होने की जब सभावना ही नही है तब फिर इसे जबर्दस्ती आप व्यभिचारी क्यों घोषित कर रहे है ?

उत्तर–आपका इस प्रकार का कथन हेतु में व्यभिचार की निवृत्ति नही कर सकता है। कारण कि आप किस प्रमाण के आधार पर यह कह सकते है कि जिस प्रकार का घातिया कर्मोंके क्षय से उद्भूत अन्तरंग एवं बहिरंग विग्रहादि महोदय भगवान् में है उस प्रकार का वह रागादि सहित देवों में नहीं है। प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण इस बात का समर्थन करने वाला नही हो सकता है क्योकि यह उसका विषय नहीं है। रहा आगम प्रमाण सो इसको आश्रय करके किया गया यह कथन आगमाश्रय हो जाता है और हेतु भी आगमाश्रय हो जाता है। आगमाश्रय होने से इसे प्रतिवादी प्रमाणरूप से नही मान सकते हैं। क्योकि जैनाभिमत आगम का कथन जिस प्रकार जैनो की दृष्टि में प्रमाणरूप से मान्य होता है, उसी प्रकार से प्रतिवादियों की दृष्टि मे अपने सिद्धान्त ग्रन्थो का कथन भी प्रमाण कोटि से मान्य होता है। अतः इस कथन मे कोई महत्व नहीं है। और इस प्रकार से हेतु व्यभिचार दोष से निर्मुक्त नहीं किया जा सकता है । प्रत्युत प्रमाण के अभाव मे इस प्रकार का कथन, कथन मात्र ही रह जाता है तथा पक्षपातपूर्ण दृष्टि का परिचायक होता है। दूसरे–जिस प्रकार तुम आगमप्रमाणवादी आगम से हेतु की सिद्धि मानते हो उसी प्रकार से उसमे सीधे साध्य की ही सिद्धि मान लेनी चाहिये । तब अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहती हे और न विवाद के लिये स्थान ही रहता है।

आगमप्रमाणवादी—यह आपने खूब कहा कि प्रमाणसिद्ध आगम से हेतु की सिद्धि मानने पर सीधे साध्य की ही सिद्धि मान लेनी चाहिये। हम तो प्रमाण सम्प्लववादी हैं-हमें इस प्रकार की मान्यता भी अभीष्ट है। जिस साध्य की सिद्धि प्रमाण प्रसिद्ध आगम से हो जाती है उसी साध्य की सिद्धि प्रमाण प्रसिद्ध आगम से जनित हेतु से भी मानने में कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार पर्वत में जिस वह्निरूप साध्य की सिद्धि अनुमान से मानी जाती है उसी साध्य की सिद्धि पश्चात् प्रवृत्त प्रत्यक्ष प्रमाण से भी मानी जाती है। प्रमाण संप्लव का मतलब भी तो यही है कि "बहूनां प्रमाणानां एकस्मिन्नर्थे प्रवृत्तिः" अनेक प्रमाणों की एक ही अर्थ में प्रवृत्ति का होना । जिस साध्य को अनुमान प्रमाण जान लेता है पश्चात् उसी साध्य को प्रत्यक्ष प्रमाण भी विषय करता है। इससे आपने यह कैसे मतलब निकाल लिया

कि प्रमाण प्रसिद्ध आगम से साध्य की प्रतिपत्ति होने पर फिर अनुमान की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। यदि यही बात आपकी स्थिर स्थायी मानी जाय-तो फिर अनुमान से साध्य की प्रतिपत्ति होने पर प्रत्यक्ष प्रमाण की भी आवश्यकता नहीं रहनी चाहिये। अतः जिस साध्य की प्रतिपत्ति प्रमाणप्रसिद्ध आगम से होती है उसी साध्य की प्रतिपत्ति हेतु से मानने के लिये अनुमान की आवश्यकता होती ही है अतः अनुमान की मान्यता निरर्थक कैसे हो सकती है ? नहीं हो सकती।

उत्तर—इस प्रकार प्रमाण संप्लव का आधार लेकर जो कुछ यहां कहा गया है वह ठीक नहीं है। यह ध्यान में रखने जैसी बात है कि प्रमाण संप्लव की उपयोगिता जैन दार्शनिको ने वहीं पर मान्य रखी है कि जहां पर इससे प्रतिपत्ता की उपयोग—प्रयोजन—विशेष की सिद्धि होती हो। नहीं तो धारावाहिक ज्ञान की तरह वह प्रमाण संप्लव कोई महत्व ही नहीं रखता है। देखो—"अमुक जगह अग्नि है" इस प्रकार से जब अग्नि का बोध देशादिविशिष्ट रूप से प्रतिपत्ता करता है—तब वह अग्नि आगम—शाब्दिक ज्ञान—का विषय हो जाती है—परन्तु जब वही प्रतिपत्ता उस अग्नि को अनुमान से जानने की भावनाशाली होता है तब वह तत्प्रतिबद्ध धूमादि का साक्षात्कार करता है—और इस तरह से वह उसे अनुमान द्वारा विषय करता है। इसी प्रकार वही प्रतिपत्ता उस अग्नि को प्रत्यक्ष से जानने की जब इच्छा करता है तब अग्नि और इन्द्रिय—नेत्र के सयोग से उसे साक्षात् जान लेता है। अब यहां देखिये—विषय एक अग्नि है—उसे जानने वाले तीन प्रमाण हैं—१ आगम २ अनुमान और ३ प्रत्यक्ष। प्रतिपत्ता ने पहले आगम से उसे सिर्फ सामान्य रूप से देशादि-विशिष्ट ही जाना, पश्चात् अनुमान से उसने उसे धूमादि के द्वारा साध्य रूप मे जाना और प्रत्यक्ष से उसने उसे पिङ्गभासुराकार रूप से जाना। इस प्रकार एक ही अग्नि भिन्न २ प्रमाणों द्वारा भिन्न २ रूप से जानी जाकर, प्रमाण संप्लव की सार्थकता को चरितार्थ करती है—एक ही अग्नि भिन्न २ प्रमाणों का विषय होकर एक ही प्रतिपत्ता के लिये विशिष्ट प्रतिपत्ति रूप से प्रतिभासित होती है—अत. उपयोग विशेष का जनक होने से यहां प्रमाणसंप्लव सार्थक होता है। परन्तु जो साध्य और साधन केवल आगम मात्र गम्य है वहां प्रमाणसंप्लव उनकी प्रतिपत्ति विशेष का जनक होता ही नहीं है। फिर ऐसी हालत में प्रमाणसंप्लव की अकारण मान्यता से क्या लाभ निकलता है। ऐसी जगह प्रमाण संप्लव मानना व्यर्थ है। फिर तो जहां कही पर भी—प्रत्यक्ष से निश्चित अग्नि एवं धूम में भी-प्रमाण संप्लव मान लेना चाहिये। यह जो तुमने कहा कि अनुमान से जिस साध्य का परिज्ञान कर लिया जाता है, पश्चात् उसी का प्रत्यक्ष से

भी साक्षात्कार होता देखा जाता है—सो हम तुम्हें धन्यवाद देते हैं—क्योंकि इससे हमारे कथन की ही पुष्टि होती है। वह इस प्रकार से कि जब प्रतिपत्ता साध्य को अनुमान से जानता है-तब वह अस्पष्ट आकार में अनुमान का विषय होता है पश्चात् जब वही प्रतिपत्ता उसे प्रत्यक्ष से प्रतीत करता है तो इस परिस्थिति में वह उसे स्पष्ट आकार से प्रतिभासित होता है। अतः यहां पर प्रतिपत्ता के लिये उपयोग विशेष का सद्भाव सिद्ध है। इस प्रकार का उपयोग विशेष प्रतिपत्ता के लिये आगममात्रगम्य साध्य और साधन में तो होता नहीं है। अत साध्य या साधन जिस तरह आगम से जाने जायेंगे उसी प्रकार वे आगमसिद्ध अनुमान से भी जानें जावेंगे। तब उस अनुमान द्वारा उन्हे जानने में प्रतिपत्ता के लिये आगम से जानने के बाद क्या प्रतिपत्ति की विशेषता उद्भूत कराई गई। कुछ नहीं। अतः देवागम नभोयानादिक की तरह यह अन्तरंग एवं वहिरंग विग्रहादि महोदय भी आगमाश्रित एवं व्यभिचरित है,अत· इससे भी हे नाथ ! आप में महत्ता-पूज्यता सिद्ध नहीं होती है।

तीर्थकृत्समयानां च, परस्परविरोधतः।
सर्वेषामाप्तता नास्ति, कश्चिदेव भवेद्गुरुः॥ ३॥

अन्वय—तीर्थकृत्समयानां च परस्परविरोधतः सर्वेषां आप्तता नास्ति। कश्चित् एव गुरुः भवेत्।

अर्थ—हे नाथ ! तीर्थ प्रवर्तको के समयो में आपस में विरोध होने से सब में आप्तता नहीं है। कोई एक ही गुरु हो सकता है।

भावार्थ—देवागमादि रूप हेतु की विपक्ष मायावियों में और अन्तरंग एव बहिरंग विग्रहादि महोदय रूप हेतु की कषाय सहित देवो में वृत्ति होने से ये दोनो मुझ में पूज्यता के साधक यदि नही होते हैं तो समन्तभद्र ! इन्हे छोड़ दो ! और यह समझ कर कि मेरा सम्प्रदाय तीर्थकृत है—मोक्षमार्ग रूप धर्मतीर्थ का मैं प्रवर्तक हूं-मुझे पूज्य-अपना आराध्यदेव-सर्वज्ञ-मानों। "अहं पूज्य तीर्थकृत्सम्प्रदायत्वात्" देखो यह हेतु सर्वथा निर्दोष है। यह न तो मायावियो में रहता है और न कषाय सहित देवों में ही रहता है। क्योकि वे ऐसे मार्ग के प्रवर्तक नहीं हैं जो जीवों को ससार समुद्र से पार कराने वाला हो। संसार से पार कराने वाला मार्ग तो मेरा ही है। अतः इस हेतु से मुझ में पूज्यता साबित होती है। इसी हेतु को लेकर तुम मेरी स्तुति करो। इस प्रकार प्रभु के कहे जाने पर स्वामी उनसे कहते हैं कि हे नाथ !

यह मान्यता भी मेरी दृष्टि में दोष से खाली नहीं है। "भगवान् तीर्थंकरः इति कुतः प्रमाणात् सिद्धम्" "आप तीर्थंकर हैं" यह किस प्रमाण के आधार से आप कहते हैं। समझाइये क्या प्रत्यक्ष से—सो प्रभो ! प्रत्यक्ष इस बात का साक्षी दाता कैसे हो सकता है। वह विचारा तो इस विषय मे अन्य हेतुओं की तरह साक्षी भरने में सर्वथा मौन ही है। कारण कि तीर्थंकरत्व हेतु को वह जानता ही नहीं हे। उसे जाने बिना यह उसकी साक्षी दाता कैसे हो सकता है। रहा अनुमान-सो अनुमान का उत्थान बिना अविनाभावी लिङ्ग के होता ही नही है। ऐसा कोई सा भी तदविनाभावी लिङ्ग नहीं है जो आप मे तीर्थंकरत्व की सिद्धि करनेवाला हो। यदि इस पर यों कहा जाय कि समय-आगम तो है उससे हो तीर्थंकरत्व हेतु की सिद्धि हो जायगी-सो ऐसा कहना पहले जैसा ही आगमाश्रित है। अत इससे तो कोई मतलब इस विषय का हल नहीं होता है। दूसरे—जिस प्रकार आगमवादी अपने आगम के बल पर आप में तीर्थंकरत्व के सिद्ध करने की दम भरता है—उसी प्रकार अन्य प्रतिवादी भी कि जिनकी दृष्टि में जैन आगम की कोई कीमत नहो है अपने अपने इष्ट देवों में भी पूज्यता प्रदर्शित करते हैं। आगमवादी जैन जैसे "वीर. तीर्थंकरः" कहते है उसी प्रकार बौद्धादिक भी "सुगतः तीर्थंकरः कपिलः तीर्थंकर" ऐसा कहते है। इससे आपकी तरह उनमे भी इस हेतु के सद्भाव से स्तुत्यता-पूज्यता सिद्ध होती है। परन्तु उन सबमें पूज्यता तो आती नहीं है क्योकि वे सबके सब परस्पर विरुद्ध अर्थ की प्ररूपणा करते है। १ यही कारण है कि उनमें जबर्दस्त मतभेद है। एक सी प्ररूपणा में मतभेद के लिये गु जायश ही नहीं होती है। इसलिये यद्यपि यह तीर्थंकरत्व हेतु शक्र आदि में—विपक्ष में सर्वथा असंभवी है तो भी सुगताविक में वर्तमान है-इससे अनैकान्तिक है ही। अतः "न कस्यचिन्महत्व साधयति" इस हेतु को लेकर किसी में भो महत्तापूज्यता सिद्ध नहीं हो सकती है। इसी बात का समर्थन "कश्चिदेव भवेद्गुरू" काकु गर्भित इस पाद से होता है। अर्थात् क्या इस प्रकार से कोई गुरु-महान्- हो सकता है ? नही हो सकता।

मीमांसक — जब यह बात है कि कोई भी पुरुष स्तुत्य सिद्ध नहीं होता है तो फिर जो पुरुष कल्याण के

१ - सुगतो यदि सर्वज्ञ, कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ, मतभेद· कथ तयोः ॥

कामुक हैं उनके लिये कल्याण का मार्ग बताने वाला आपको मानना चाहिये कि एक वेद ही है। उससे ही उन्हें कल्याण के साधनों के उपदेश की प्राप्ति होती है

समाधान—इस तरह कहने वाले मीमांसको के प्रति प्रत्युत्तर रूप में इस कारिका की योजना इस प्रकार होती है कि तीर्थंकृत १ मीमांसकों का जो सम्प्रदाय-उपदेश-मत है वह सर्वज्ञ प्रतिपादित आगम मत का निराकरण करने वाला है। इस मत के अनुसार जब कोई भी पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है, तो फिर श्रेयोमार्ग का उपदेश करने वाले सर्वज्ञ के स्थानापन्न वेद के वाक्यार्थ में-उसके उपदेशों में—वेद की मान्यताओं में-परस्पर विरोध क्यो ? भट्ट सम्प्रदाय वाले वेद के वाक्यों का अर्थ भावना २ मानते हैं, प्रभाकर मतानुयायी नियोग मानते हैं, और वेदान्त सम्प्रदाय की मान्यता वाले विधि को ही वाक्यार्थ मानते हैं। इस प्रकार वेद के वाक्यार्थ में परस्पर वेदानुयायीयों में भी मत भेद क्यो ? वेद अचेतन होने से स्वयं अपने वाक्यों के अर्थ का प्रतिपादन तो कर नहीं सकता है। उसके वाक्यों के अर्थ का प्रतिपादन ता पुरुष ही करते हैं। अतः भाट्ट प्रभाकर एवं वेदान्ती उसके वाक्यों के अर्थ का समन्वय अपनी अपनी मान्यतानुसार ही करते हैं—इस परिस्थिति में भाट्टकृत अर्थ को प्रभाकर और प्रभाकर कृत् अर्थ को वेदान्ती तथा वेदान्ती कृत् अर्थ को भाट्ट और प्रभाकर मानने को तैयार नहीं होते हैं। अतः एक सम्प्रदाय जब दूसरे सम्प्रदाय के प्रति संवादक नहीं हैं-तो फिर इस हालत में परस्पर विरोध होने से किसको संवादक माना जा सकता है। अर्थात् कोई भी सम्प्रदाय संवादक नहीं हो सकता है।

चार्वाक—जब परस्पर विरोध होने से कोई भी तीर्थंकर सम्प्रदाय, वेद एवं अनुमानादिक प्रमाण सवादक

१- तीर्थं कृन्तन्ति इति तीर्थकृत, मीमासका -तेषां समया -उपदेशा. तेषा तीर्थंकृत्समयानां-भावनादिवाक्यार्थप्रवादानां परस्पर विरोधात् आप्तता-सवादकता नास्ति अत कश्चिदेव सम्प्रदाय. गुरु सवादको- भवेत्-नैव भवेदित्यर्थः।

२–भावना यदि वाक्यार्थो, नियोगो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि वाक्यार्थौ, हतौभट्टप्रभाकरौ ॥

ही नहीं हैं, तो इस दशा में "कश्चिदेव गुरुः संवादको भवेत्,, हमारे द्वारा मान्य देवता स्वरूप एक गुरु- वृहस्पति-ही सवादक-प्रमाणस्वरूप हो सकता है । क्योंकि उन्होने प्रत्यक्षसिद्धपृथ्व्यादितत्वों का उपदेश दिया है । इस प्रकार इस कारिका का अर्थ "कश्चिदेव गुरु" इस पद से ध्वनित होता है ।

समाधान—चार्वाक की इस प्रकार की मान्यता ठीक नहीं है-अप्रमाणिक है । क्योंकि "न खलु प्रत्यक्ष सर्वज्ञ-प्रमाणान्तरा-भावविषय अतिप्रसंगात्,, यदि प्रत्यक्ष सर्वज्ञ एवं प्रमाणान्तर में -अनुमान और आगम में- अप्रवर्तमान होने पर भी यदि उनके अभाव का व्यवस्थापक होता है, तो इसी प्रकार वही अन्य पुरुषों के प्रत्यक्षों एवं इनके विषयभूत पर्वत आदिको के अभाव का भी गमक हो जायगा-तथा च-स्वयं इष्ट वृहस्पति -गुरू-आदि के प्रत्यक्ष के अभाव की भी सिद्धि आपको माननी पडेगी । क्योकि वह वहां भी प्रवर्तमान नहीं है । परन्तु ऐसी बात तो आप मानते नहीं है । यदि इस अनिष्टापत्ति रूप प्रसंग को हटाने के लिये कहा जाय कि अन्य प्रेत्यक्ष स्वयं अपनी व्यवस्था और अपने विषय की व्यवस्था कर लेते हैं, क्योंकि इनकी उनमे प्रवृत्ति होती है, तो इस प्रकार से सर्वज्ञ भा स्वसवेदन से अपनी और अपने विषयभूत हुए स्वर्गादि पदार्थों की व्यवस्था कर लेता है, फिर इसका अभाव सिद्ध आप कैसे कर सकते हैं । और कैसे हेतुवादरूप अनुमान एवं अहेतुवादरुप आगम की कि जो सर्वज्ञ के वचन स्वरूप है एव जिसका व्यवस्थापक भी सर्वज्ञ ही है असिद्धि कह सकते है । यदि इस पर यों कहा जाय कि सर्वज्ञ स्व और पर पदार्थों का व्यवस्थापक है इस विषय में प्रमाण क्या है तो यही प्रेश्न वृहस्पति के प्रंत्यक्ष में भी कि जो अपनी और अपने ज्ञान के विषय की व्यवस्था करने वाला तुमने माना है उपस्थित होता है । यदि कहा जाय कि वृहस्पति का प्रेत्यक्ष स्व और पर का ग्राहक है इस प्रेकार गुरु परम्परा से यह बात प्रंचलित चली आ रही है, तो भाई सा० ! यही बात सर्वज्ञ के विषय में भी मानने में आपको क्या आपत्ति है ! इस प्रकार अति प्रंसंग के दुर्निवार होने से चार्वाक सयत एक प्रेत्यक्ष तो सर्वज्ञ और अन्य प्रंमाणान्तरों के अभाव का आवेदक होता नही है । रहा अनुमान सो अनुमान को तो जब प्रेमाण कोटि में चार्वाक सिद्धान्त ने रक्खा ही नहीं है, तब वह अनुमान को लेकर सर्वज्ञ और प्रेमाणान्तरो का अभाव कैसे सिद्ध कर सकता है । अनुमान के खंडन में

स्वयं चार्वाक ने इस प्रकार कहा है—

यदि कोई प्रमाणभूत ज्ञान है तो वह मुख्य होने से एक प्रत्यक्ष ही है। इससे ही पदार्थ का निर्णय होता है। अनुमान से अर्थ का निश्चय होना महा दुर्लभ है। हम पूछते है कि अनुमान से किसी की सिद्धि होती[1] है। सामान्य की या विशेष की-कहो। यदि अनुमान द्वारा सामान्य की-सामान्यता साध्य की—सिद्धि कराई जाती है, तो इससे लाभ कुछ नहीं—कारण कि व्याप्ति के निश्चय काल में सामान्य साध्य की सिद्धि तो हो ही जाती है। अन्यथा व्याप्ति का निर्णय नहीं हो सकता। यदि कहो कि अनुमान द्वारा विशेष की—विशेष रूप साध्य की-सिद्धि कराई जाती है, तो इसमें अनुगम का अभाव है क्योकि धूम के साथ विशेष अग्नि की व्याप्ति थोडे ही होती है। ऐसा तो कहीं पर भी सुनने में नहीं आता है कि जहां २ धूम होगा—वहां २ तृण आदि की विशेष अग्नि होगी। ऐसा ही सुनने में आता है और यही दार्शनिक मान्यता है-कि "जहां २ धूम होगा वहां २ अग्नि होगी"। जब चार्वाक सिद्धान्त इस प्रकार से अनुमान का निराकरण करता है तो यह कैसे संभव हो सकता है कि वह उसके बल पर सर्वज्ञ और अन्य प्रमाणान्तरो के अभाव का कथन कर सके। क्योकि "पतिपत्तुः प्रसिद्धं प्रमाणं स्वप्रमेयस्य निश्चायकं ना प्रसिद्ध अति प्रसंगात्" प्रतिपत्ता को प्रसिद्ध-मान्य प्रमाण ही अपने प्रमेय का निश्चायक होता हैं अप्रसिद्ध नही। यदि इस पर यों कहा जाय कि हम अनुमान को प्रमाण न मानें तो न सही, पर दूसरे वादी तो इसे मानते हैं। अतः उनकी अपेक्षा अनुमान प्रसिद्धि की कोटी में आकर सर्वज्ञ और प्रमाणान्तरो के अभाव का निश्चायक हो सकता है, तो इस पर भी यह प्रश्न होता है, कि पर ने जो अनुमान को सिद्ध माना है सो प्रमाण से सिद्ध कर अनुमान को प्रसिद्ध माना है या योंही स्वकपोलकल्पितरूप से सिद्ध माना है। यदि "प्रमाण से सिद्ध करके उस अनुमान को उन्होंने माना है" यह पक्ष स्वीकार किया जाय-तो उसे तुम्हें भी सिद्ध मानकर स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि प्रमाण सिद्ध वस्तु के मानने मे किसी को भी विवाद नहीं होता है। यदि फिर भी

१—विशेषेऽनुगमाभाव सामान्ये सिद्धिसाधनम्। नानुमान प्रमाण स्यान्निश्चयाभावतस्ततः।

२—"यो यो धूमवान् स स तार्णाग्नि मान" ऐसा अन्वय नही बनता है।

उसे तुम न मानो तो फिर इस तरह से प्रेत्यक्ष प्रेमाण भी कि जिसे तुम प्रमाण सिद्ध स्वीकार कर रहे हो मत मानो यदि मानते हो तो प्रेमाण सिद्ध अनुमान को भी प्रत्यक्ष की तरह स्वीकार करो । इससे यह फलित हुआ कि जो परवादियों को प्रेमाण से सिद्ध है वह चार्वाक को भी स्वयं मानना ही चाहिये । यदि वह प्रमाण से सिद्ध न होता तो उसे अनभिमत तत्व की तरह दूसरो को मानने की क्या आवश्यकता थी ।

दूसरे—जब तुम एक अकेले प्रत्यक्ष से ही सर्वज्ञ और अन्य प्रेमाणान्तरों का अभाव सिद्ध करना चाहते हो तो इस हालत मे स्वयं तुम एक बडी आपत्ति अपने सिर मोल ले रहे हो । वह कैसे ? ऐसे-सुनो-इन्द्रियों से उद्भूत ज्ञान-प्रेत्यक्ष मे तो इतनी योग्यता है नही, जो वह स्पष्ट रूप से बतला सके कि सर्वत्र सर्वदा समस्त ही पुरूष सर्वज्ञ नहीं है । यदि फिर भी तुम प्रेत्यक्ष से इस बात को जानते हो अथवा देशान्तर कालान्तर के मनुष्यो के प्रेत्यक्षों मे स्वय प्रेत्यक्ष से प्रेमाण्य की व्यवस्था करते हो तो भाई ! तुम स्वयं ही सर्वज्ञ ठहरते हो । इस तरह सर्वज्ञ एवं अन्य प्रमाणान्तरो का निषेध करने वाला तुम्हारा वचन अथवा प्रत्यक्ष ही एक प्रेमाण है इस प्रकार का कथन व्याहत हो जाता है ।

(तत्वोपप्लव वादी) इसी तरह तत्वपप्लववादी–शून्य वादी का भी यह कथन कि "जिसने भी प्रत्यक्षादिप्रमाण एवं उनके ज्ञेयस्वरूप जितने भी पदार्थ—प्रमेय—हैं वे सब शून्य स्वरूप हैं" ठीक नहीं है । कारण कि बिना प्रमाण के किसी भी मन्तव्य की सिद्धि नहीं हो सकती है । यदि वह अपने शून्य सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिये या स्थापित करने के लिये किसी भी प्रमाण का सहारा लेता है तो वह अपने सिद्धान्त से च्युत होता है । दूसरे—शून्य वादी अपने आगम के अनुकूल ही शून्यवाद का जब प्ररूपण करते हैं तो इस हालत में उन्हें आगम को प्रमाण मानना ही पडता है । अतः इस मान्यता से भी शून्यवाद का खण्डन हो जाता है । बिना प्रमेय के प्रमाण की व्यवस्था नहीं इस लिहाज से उन्हे प्रमेय भी स्वीकृत करना पड़ता है । शून्यवाद भी एक प्रमेय है । ऐसी हालत में एक शून्यवाद तत्व का ही अवलम्बन करना युक्तियुक्त नही है । क्योंकि शून्यवाद के स्थापन से ही स्वयं शून्यवादैकान्त का निरसन हो जाता है । यदि इस पर यों

कहा जाय कि "विचारोत्तरकालं प्रमाणादितत्व व्यवस्थितिः विचारस्तु यथा कथ चित् क्रियमाणो नोपालभार्हं" विचार करने के बाद ही प्रमाणादि तत्व की व्यवस्था बनती है, जिस किसी भी तरह से किया गया विचार उपालम्भ के योग्य नहीं होता है। अत यह कहना कि "शून्यैकान्ततत्त्व की व्यवस्था करने में अथवा उसकी व्यवस्था करने के लिये विचार करने में शून्यैकान्त की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि इस तरह शून्यैकान्त स्वय प्रमेय पड़ जाता है, तथा आगम के अनुसार शून्यवाद का प्ररूपण करना आगम प्रमाण की मान्यता सिद्ध करता है—तब शून्यवाद कहां रहा—अशून्यवाद सिद्ध हो जाता है" उपालम्भ के योग्य हो ही नही सकता है। नहीं तो फिर हम शून्यवादियो को कुछ कहना ही नहीं चाहिये कारण कि कहने पर शून्यवाद के विपरीत अशून्यवाद की स्थापना सिद्ध होती है। अतः शून्यवाद की स्थापना के लिये विचार भी किया जायगा। और आगम प्रेमाण भी उपस्थित किया जायगा। नहीं तो फिर शून्यवाद की सिद्धि हो कैसे सकेगी। इसलिये अशून्यवादियो ने जो इन चार बातो को लेकर अशून्यवाद की स्थापना की है वह ठीक नहीं है-यही सर्व प्रथम विचार किया जाता है—वे चार बातें ये हैं—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय और प्रमिति। इनमें प्रमाता नाम आत्मा का है आत्मा का अस्तित्व इसलिये सिद्ध नहीं होता है कि उसका ग्राहक कोई भी प्रमाण नहीं है। प्रत्यक्ष तो आत्मा की सिद्धि करता नही है क्योंकि आत्मा इन्द्रियगोचरातिक्रान्त है। अह प्रत्यय से मानस प्रत्यक्ष द्वारा उसकी सिद्धि इसलिये नहीं होती है कि "अहं गौरःअह श्यामः" इस प्रकार का अहं प्रत्यय शरीराश्रित भी होता है। यदि अह प्रत्यय आत्मोत्थ ही माना जाय तो फिर अहं प्रत्यय का सर्वदा ही उत्थान होते रहना चाहिये। क्योंकि आत्मा सदा विद्यमान रहता है। फिर जो कभी २ अहं प्रत्यय होता है वह नहीं होना चाहिये। अनुमान आत्मा की सत्ता का साधक इसलिये नहीं है कि आत्मा का कोई अव्यभिचारी लिङ्ग नही है। यदि होता तो अवश्य ही अनुमान उससे उत्थित होकर आत्मा का अस्तित्व ज्ञापित कर सकता। आगमो को तो परस्पर लड़ने झगड़ने से ही फुरसत नहीं है—कोई आगम कुछ कहता है कोई कुछ कहता है। इस प्रकार विरुद्ध अर्थ की प्ररूपणा करने से इनमें प्रमाणता ही दुर्लभ है। अतः प्रत्यक्ष

अनुमान एवं आगम प्रमाणो से प्रमाता का अस्तित्व साबित नहीं होता है। प्रमाण का खंडन "तत्वोपप्लव [1] सिह नामक ग्रन्थ से देख लेना चाहिये। तथा मीमांसक एव सांख्योने जिन कारणों को लेकर ज्ञान में प्रमाणता व्यवस्थापित की है यहां उन कारणों पर विचार किया जाता है–

प्रमाण—ज्ञान में प्रमाणता कैसे आती है। क्या वह अदुष्टकारक [2] सदोह से उत्पन्न होता है इसलिये या बाधा रहित होता है इसलिये या प्रवृत्ति सामर्थ्य से या अविसवादीपने से। यदि यह कहा जाय कि ज्ञान के उत्पादक कारणों की अदुष्टता—निर्मलता-आदि पर ज्ञान मे प्रमाणता निर्भरित है तो इनकी अदुष्टता किस प्रमाण से जानी जाती है यदि कहो कि प्रत्यक्ष से—सो ऐसा कहना ठीक नहीं है कारण कि ज्ञान के कारणभूत जो चक्षुरादि इन्द्रियां है उनकी निर्मलता रूप जो यह अदुष्टता है वह तो अतीन्द्रिय है—इन्द्रिय जन्य ज्ञान का विषय नहीं है-फिर इसे इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष कैसे जान सकता है, नहीं जान सकता। अदुष्टता का कोई अविनाभावी ऐसा लिङ्ग भी नहीं है कि जिसके बल पर उत्थित

१–यह ग्रन्थ पाटण के जैन भडार से मिला है। इसके कर्ता जयराशि भट्ट हैं। ये जयराशि भट्ट ही तत्वोपप्लववादी हैं। इस ग्रन्थ के ये दो अन्तिम श्लोक इस प्रकार हैं।

ये याता नहि गोचर सुरगुरोर्बुद्धे विकल्पा दृढा ।
प्राप्यन्ते ननु तेऽपि यत्र विमले पाखण्डदर्पच्छिदि ।।
भट्टश्री जय देवराशिगुरुभि· स्पृष्टो महार्थोदय· ।
तत्वोपप्लवसिंह एव इति य· ख्याति परां यास्यति ।।
पाखण्डखण्डनाभिज्ञा, ज्ञानोदधिविवर्धिता: ।
जयराशेर्जयन्तीह, विकल्पा वादिजिष्णव: ।

२–अदुष्ट कारको के सदोह से उत्पन्न होने की एवं बाधा रहित होने की वजह से ज्ञान मे प्रमाणता मीमांसकों ने मानी है। प्रवृत्ति की सामर्थ्य से ज्ञान मे प्रमाणता नैयायिको ने मानी है। अविसवादित्व की अपेक्षा ज्ञान मे प्रमाणता बौद्ध मानते हैं। जनाभिमत प्रमाण में प्रमाणता का विचार तत्वोपप्लववादी इन्हीं विकल्पो को लेकर कर रहा है। टीकाकार ने इन विकल्पो का विवेचन अच्छी तरह से किया है। उसी का सक्षेप यहा प्रदर्शित किया जाता है।

अनुमान की यह अदुष्टता विषय बन सके । यदि कहो कि निर्मलता का अविनाभावी लिङ्ग उसका कार्य विज्ञान है। और वह इस प्रकार से कि यदि चक्षुरादि इन्द्रियों में निर्मलता न होती तो जो हमें विज्ञान होता है वह नहीं होना चाहिये"-अत इस विज्ञान रूप हेतु के सद्भाव से चक्षुरादि इन्द्रियों की निर्मलता का अनुमान होता है। सो ऐसा कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता। कारण कि सामान्य ज्ञान उसका अविनाभावी लिङ्ग नहीं हो सकता है। यदि होता तो सीप में चांदी का जो ज्ञान होता है वह भी उनकी अदुष्टता का ज्ञापक होना चाहिये। इसपर यदि यों कहा जाय कि सीप मे हुआ चादी का ज्ञान प्रमाणभूत नही है अतः वह अदुष्टता का ज्ञापक नहीं हो सकता। अदुष्टता का ज्ञापक तो प्रमाणभूत ज्ञान ही माना गया है। सो ऐसा कहना परस्पराश्रय दोष से दूषित है। क्योकि विज्ञान में प्रमाणभूतता सिद्ध होने पर निर्दोष कारणो से उसमें अरब्धता सिद्ध होगी और इसके सिद्ध होने पर उसमे प्रमाणभूतता सिद्ध होगी। इस प्रकार प्रमाणता की सिद्ध ज्ञान में निर्दोष कारणो की आरब्धताधीन और कारणो में निर्दोषता की सिद्ध ज्ञान की प्रमाणता के आधीन हो जाती है। किञ्च---चक्षुरादि, कारणो को गुण और दोष का आश्रय माना जावे तो उनसे जनित ज्ञान में दोषो की आशंका की निवृत्ति नही हो सकती है। जिस प्रकार गुण और दोष के आश्रयभूत किसी एक पुरुष के बचन से उद्भूतज्ञान में दोषो की आशका की निवृत्ति नही होती है। यदि चक्षुरादीन्द्रिय जनित ज्ञान मे दोषों की आशंका की निवृत्ति के लिये केवल उनमे गुणाश्रयता ही कबूल की जाय, तो फिर तुम मीमांसकों ने जो शब्द-वेद को इस ख्याल से ',कि मनुष्य जाति गुण और दोषो के आश्रय भूत है, अत उसके किसी एक व्यक्ति द्वारा उपदिष्ट ज्ञान मे दोषो की आशंका की निवृत्ति नहीं हो सकती है अतः शब्दवेद-अपौरुषेय ही है सो मानने की आवश्यकता ही नहीं रहती है। क्योकि निर्दोषचक्षुरादि इन्द्रियो से जनित निर्दोष ज्ञान की तरह वह भी किसी गुणाश्रित पुरुष के निर्णित होने पर उसके द्वारा उपदिष्ट मान लेना चाहिये। वहां पर फिर दोषो की आशका उत्थित ही नहीं हो सकती है। यदि इस पर यो कहा जाय कि परकीय चित्त की वृतियां दुरधिगम है। अत यह कैसे निश्चय किया जा सकता है कि इनका कहना सर्वथा निर्दोष ही है। निर्गुण वाले भी व्यक्ति गुणवालों जैसा व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। इस प्रकार

व्यवहार की सकरता से किसी में भी सगुणता का निश्चय करना सर्वथा अशक्य है। तो इस पर हमारा भी यही कहना है कि चक्षुरादिक १ इन्द्रियां भी अतीन्द्रिय हैं । इनके कार्यों-व्यापारों—में भी सकरता देखी जाती है। अतः इनमें केवल गुणाधिकरणत्व का निश्चय आप क्यो कर कर सकते है। जब इसका निश्चय ही नहीं हो सकता है तो फिर अदुष्टकारकों के संदोह से उत्पन्न होने की वजह से ज्ञान में प्रमाणता मानना यह ठीक नही है। दूसरे अपौरुषेय होने के कारण वेद को प्रमाण मानना यह उचित भी नहीं है। क्योकि उससे जो ज्ञान होगा वह सच्चा ही होगा ऐसा नियम नहीं बन सकता है। अपौरुषेय ग्रहोपरागादि२ शुक्ल भी वस्त्र में पीत ज्ञान का हेतु देखा जाता है। अतः अपौरुषेय भी वेद में मिथ्याज्ञान के प्रति हेतुत्व की सभावना हो सकती है, तो फिर उससे जनित ज्ञान में निःशक रूप से प्रामाण्य का निश्चय कैसे हो सकता है। इसलिये अदुष्टकारको से जन्य होने से ज्ञान को प्रमाण मानना ठीक नहीं है। इसी प्रकार बाधक की अनुत्पत्ति होने से ज्ञान में प्रमाणता नहीं आ सकती है। मिथ्याज्ञान३ में भी तो अपने कारणो की विकलता से बाधक की अनुत्पत्ति देखी जाती है तो क्या एतावता उसे प्रमाण माना जा सकता है? नही माना जा सकता। यदि इस पर यों कहा जाय कि सामान्यतया बाधक की अनुत्पत्ति को हम प्रामाण्य का कारण नही मानते हैं, किन्तु यथार्थग्रहण की कारणभूत बाधक की अनुत्पत्ति को हम प्रमाणता का हेतु मानते हैं। मिथ्याज्ञान में जो बाधक की अनुत्पत्ति है वह यथार्थ ग्रहण का कारण नहीं है। वह तो अयथार्थ ग्रहण का ही कारण है। सो इस पर हम पूछते है कि यह बात आप कैसे निश्चित कर सकते है कि वह बाधक की अनुत्पत्ति यथार्थ ग्रहण का कारण है। यदि कहो कि ज्ञान में प्रमाणता के निश्चय से उसमें यथार्थ ग्रहण के प्रति कारणता का निश्चय हो जाता है-सो ऐसा कहना परस्पराश्रय४ दोषसे दुष्ट साबित होता है। यह बाधकानुत्पत्ति ज्ञानमें प्रमाणता की हेतु किस समय होती है। क्या जिस समय पदार्थ का संवेदन होता है उसी समय हुई यह ज्ञान में प्रमाणता की व्यवस्था का कारण बनती है अथवा सर्वदा। यदि

१-भावेन्द्रियां २-काच कामलादिरोग ३-मृगतृष्णा मे होने वाले जल ज्ञान मे बाधक का अभाव है।

४- ज्ञान मे प्रमाणता के निश्चय हो जाने पर यथार्थग्रहण की कारणभूत बाधकानुत्पत्ति का निर्णय और इस निर्णय के होने पर ज्ञान मे प्रमाणता का निश्चय इस प्रकार एक का निर्णय एक के आधीन है। यही परस्पराश्रय दोष हैं ।

प्रथम विकल्प स्वीकार किया जाय तो मिथ्याज्ञान में भी प्रमाणता का प्रसंग मानना पड़ेगा। क्योंकि मिथ्याज्ञान होते ही वहां उसी समय बाधक प्रत्यय की उद्भूति नहीं होती है। इसके ऊपर यदि यह समाधान दिया जाय कि माना मिथ्याज्ञान के उत्पन्न होने के अवसर में बाधक की उद्भूति नहीं होती -पर आगमी काल में तो उसकी उद्भूति होती है- अत इससे यह मानना पड़ता है कि ज्ञान में सर्वदा बाधक की अनुद्भूति प्रमाणता की कारण होती है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कोई यह गारन्टी के साथ नहीं कह सकता है कि अभी जिस ज्ञान में बाधक की उद्भूति नहीं हुई है उसमें आगे भी कभी भी बाधक की उद्भूति नहीं ही होगी। क्योकि यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस ज्ञान में वर्तमान में बाधक प्रतीत नहीं होता है उसी ज्ञान मे कालान्तर में बाधककारणकलाप के सद्भाव में बाधक उद्भूत देखा जाता है। किञ्च -किसी व्यक्ति की अपेक्षा यह बाधक की अनुत्पत्ति ज्ञान में प्रनाणता का कारण बनती है, या सर्व व्यक्तियो की अपेक्षा ? प्रथम पक्ष यदि अंगीकार किया जाय तो देशान्तर प्रयाण करते समय अपरिचित स्थान में किसी २ को, मृगतृष्णा में भी जलज्ञान होते देखा जाता है तो इससे वह भी प्रमाणभूत मान लेना चाहिये। परन्तु वह तो प्रमाणभूत नहीं माना जाता है। अतः यह कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि किसी के बाधक की अनुत्पत्ति ज्ञान में प्रमाणता की हेतु होती है। सब की अपेक्षा बाधक की अनुत्पत्ति को ज्ञान मे प्रमाणता का कारण मानना तुम्हारे सिद्धान्त से प्रतिकूल पड़ता है क्योकि तुम सर्वज्ञ तो हो नहीं जो यह कह सको कि सब के ज्ञान में बाधक की अनुत्पत्ति है इसलिये ज्ञान प्रमाण हैं।

इसी तरह नैयायिकों ने जो ज्ञान में प्रवृत्ति के सामर्थ्य से प्रमाणता मानी है वह भी ठीक नहीं है। क्योकि जब प्रवृत्तिसामर्थ्य पर विचार किया जाता है तब वहां अनेक दोष आते हैं-जैसे- यदि कोई आपसे यह पूछे कि प्रवृत्ति-सामर्थ्य क्या है ? अर्थक्रियार्थी पुरुष का फल के साथ सम्बन्ध होना यदि प्रवृत्तिसामर्थ्य है-अर्थात् यदि ऐसा कहा जाय कि जब अर्थक्रियार्थी पुरुष को "यह जल है" ऐसा ज्ञान होता है तब वह वहां अपनी प्रवृत्ति करता है- अतः उसकी इस प्रवृत्ति का कारण जल ज्ञान है-और इसी प्रवृत्ति की सामर्थ्य से-महिरबानी से-जल ज्ञानमें प्रमाणता आती है। सो यहां पर

फिर भी यह प्रश्न होता है कि ज्ञान में अपने इस फलस्वरूप प्रवृत्तिसामर्थ्य से जो प्रमाणता का आपादन किया गया है वह अवगत होकर अपने ज्ञान में प्रमाणता का गमक होता हैं या अनवगत होकर अनवगत होकर यदि वह ज्ञान में प्रमाणता का गमक माना जाय तो फिर जिस व्यक्ति को धूम और अग्नि का सम्बन्ध ज्ञात नहीं है उसे भी पर्वत आदि में अग्नि के निश्चय होने का प्रसंगप्राप्त होता है। यदि अवगत होकर वह ज्ञान में प्रमाणता का गमक होता है, तो फिर यहां पर यह प्रश्न होता है कि वह सम्बन्ध-फलरूप प्रवृत्ति सामर्थ्य-किसके द्वारा अवगत होता है ? क्या उसी अपने ज्ञान से या दूसरे किसी ज्ञान से ? उसी ज्ञानसे सम्बन्ध को अवगत मानने में परस्पराश्रय एव किसी दूसरे ज्ञान से अवगत मानने पर चक्रक दोष आता है ।

यदि सजातीय ज्ञान की उत्पत्ति प्रवृत्ति सामर्थ्य का अर्थ माना जाय तो इसमें भी परस्पराश्रय एव अनवस्था नाम के दोष आते हैं। इस तरह और भी कई विकल्प इसमें उठते हैं। जिन्हे अष्टसहस्त्रीकारने लिखा है।

इसी प्रकार अविसवादी होने से ज्ञान में जो प्रमाणता बौद्धो ने स्वीकृत की है, वह भी समीचीन नहीं है। कारण कि क्षणिक मान्यता मे यह अर्थक्रियास्थितिलक्षणवाली अविसंवादिता ज्ञान में घटित नही होती है। यदि किसी प्रकार से यह अविसंवादिता ज्ञान मे प्रमाणता की बीज मान भी ली जाय तो यह अवगत होकर उसमे प्रमाणता का कारण बनेगी या अनबगत होकर ? यदि अवगत होकर यह ज्ञान मे प्रमाणता का कारण बनती है-तो जिस ज्ञान से यह अवगत हुई है उसमें प्रमाणता किससे निर्णीत हुई है। अन्य संवादी ज्ञानान्तर से प्रमाणता का निर्णय मानने पर अनवस्था दूषण का प्रसंग आता है। यदि अनवस्था दोष को हटाने के लिये यह कहा जाय कि उस अविसंवादिता को जानने वाले ज्ञान मे प्रमाणता का निर्णय किसी दूसरे संवादी ज्ञानान्तर से नहीं हुआ है-प्रत्युत उसमें स्वतः प्रमाणता है। जैसे ज्ञान में अभ्यास दशा को लेकर स्वत प्रमाणता आती है, उसी प्रकार से इस अर्थक्रियासद्भावलक्षण अविसंवादी ज्ञान में अभ्यासदशा की अपेक्षा स्वतः प्रमाणता घटित हो जाती है । सो इस पर फिर भी यह पूछा जा सकता है कि अभ्यास का वाच्यार्थ क्या है ? सवेदन में बारम्बार संवाद का अनुभवन होना क्या यही अभ्यास है-यदि यही अभ्यास है तो यह

संवेदन मे वार वार सवादक का अनुभवन रूप अभ्यास तज्जातीय ज्ञान मे होगा या अतज्जातीय ज्ञान में ? क्षणिक वादी के यहां अतज्जातीय संवेदन में तो वारम्वार संवाद का अनुभवन हो ही नहीं सकता। कारण कि वह तो उत्पन्न होकर विनष्ट ही हो जाता है। यदि संतान की अपेक्षा से अतज्जातीय ज्ञान में भी वार वार संवाद का अनुभवन रूप अभ्यास होता है ऐसा कहा जाय तो यह कहना भी शोभा नहीं देता है। कारण कि तुम बौद्धों ने सन्तान को अवस्तु स्वरुप माना है। अवस्तु की कोई अपेक्षा नहीं करता। यदि संतान को वस्तुस्वरूप माना जाय तो वह स्थायी नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि तुम बौद्धों का सर्वंक्षणिकं का सिद्धान्त है। यदि अभ्यास सिद्ध करने के लिये इसे अक्षणिक माना जावे तो फिर "सर्वंक्षणिकं सत्वात्" यह तुम्हारा अनुमान ही निरर्थक सिद्ध होता है।

आ० मा० २०

सजातीय सवेदन में यह वारवार सवादक का अनुभवन रूप अभ्यास होता है यदि यह द्वितीय पक्ष अंगीकार किया जाय तो यह भी ठीक नही है—क्योंकि तज्जातीयता बिना सामान्य को वस्तु माने सिद्ध नहीं हो सकती है। बौद्ध सिद्धान्त मे सामान्य को अवस्तु रूप-अन्यापोहरूप- मान्य किया गया है।

इस प्रकार विचार करने पर जब प्रमाण तत्व की ही अपने सामान्य लक्षण के अभाव में व्यवस्था नहीं वनती है, तो फिर उसके विशेष स्वरुप प्रत्यक्षादि प्रमाणों की भी व्यवस्था कैसे वन सकती है। अतः जब प्रमाण तत्व ही सिद्धि सौध पर आसीन नही हुआ तो प्रमेय तत्व की या प्रमिति की व्यवस्था मानना न्याय संगत कैसे कहा जा सकता है। इसलिये तत्त्वोपप्लववाद ही एक सार्वभौम सुन्दर सिद्धान्त युक्ति सगत सिद्ध होता है।

उत्तर—तत्त्वोपप्लववादी का यह समस्त कथन सिर्फ कथनमात्र ही है-इसमें सार कुछ भी नहीं है। जब इसका युक्ति को लेकर विचार किया जाता है तो इसकी व्यवस्था ही नहीं वनती है तत्त्वोपप्लववादी ने जो कुछ अपने पक्ष की सिद्धि के लिये कथन किया है—उसपर हम उससे यह पूछते हैं कि उसका वह कथन शून्य स्वरुप है या अशून्य स्वरुप ? शून्य स्वरुप मानने पर यह सब अप्रामाणिक ठहरता है। इस प्रकार की मान्यता में इस करे कराये पर पानी फिर जाता है। अशून्य स्वरुप मानने पर शून्य वाद की शून्यता ही स्थापित होती है। दूसरी वात यह है कि शून्य स्वरुप

प्रमाण प्रमेय आदि तत्त्व मान ह ५ ७...

की मान्यता स्थापित करना यह समझ में नहीं आता-कारण कि हम स्याद्वादियो ने अदुष्टकारक सन्दोह स उत्पाद्य होन स या वाधारहित होने से, अथवा प्रवृत्ति की सामर्थ्यसे, या अविसवादी होने से ज्ञान मे प्रमाणता स्थापित नहीं की है क्योंकि इस प्रकार से ज्ञान मे प्रमाणता मानने पर उन समस्त परस्पराश्रयादि दोषो का सद्भाव आता है यह तो हम भी स्वयं मानते हैं। ज्ञान मे प्रमाणता जिस वजह से आती है वह है सुनिश्चितासभवद्वाधकप्रमाण । ज्ञान में सुनिश्चितासभव-द्वाधकता अभ्यस्त विषय की अपेक्षा स्वतः और अनभ्यस्त विषय की अपेक्षा परत स्वय सिद्ध है । अनभ्यस्त विषयमे जिस परवेदन से ज्ञान मे सुनिश्चितासंभवद्वाधकता प्रकट की जाती है-उसमे प्रमाणता स्वय सिद्ध कबूल की गई है।

अतः इस प्रकार की मान्यता मे न तो अनवस्थादोष ही आता है और न परस्पराश्रय दोष ही लागू पड़ता है। इस पर यदि यो कहा जाय कि संवेदन मे वाधक प्रमाण की असभवता सुनिश्चित है यह वात असर्वज्ञ-छद्मस्थ अल्पज्ञ--कैसे जान सकता है तो इस पर हम भी यह पूछ सकते है कि सर्वत्र सर्वदा समस्त प्राणियो का संवेदन असु-निश्चितासभवद्वाधक वाला है यह वात भी असर्वज्ञ कैसे जान सकता है ? यदि कहा जाय कि जव संवेदन में बाधक की सभवता और उसकी असभवता का निश्चय ही नही हो सकता है तव इससे अच्छा तो यही है कि उसमें इन दोनो के सद्भाव के प्रति संशय ही मान लेना चाहिये-तो इसपर भी यही कहा जा सकता है कि वहां यह सशय भी असर्वज्ञके ज्ञान का विषय क्यो कर होसकता है ? इसका उत्तर यदि यों दिया जाय कि स्वसवेदनमे इस प्रकार का बोध होता है अतः उसके अन्दाज से सर्वत्र वेदन में इसका अन्दाज लग जाता है तो इस प्रकार का अन्दाज लगाना ही अनुमान[१] प्रमाण है। अव यह अनुमान प्रमाण यदि सुनिश्चितासंभवद्वाधक प्रमाण वाला है तो इससे ही इस कथन में कि "सर्वत्र ज्ञान में सुनिश्चि-

१--विवादाध्यासित सवेदन सुनिश्चितासभवद्वाधकत्वेतराभ्यां सदग्ध सवेदनत्वात् अस्मत् सवेदनवत् ।

तासंभवद्बाधकता एवं असुनिश्चितासंभवद्बाधकता सदिग्ध है" व्यभिचार आ जाता है। यदि इसे सुनिश्चितासंभवद्बाधक वाला नहीं मानो तो फिर यह अपने साध्य की सिद्धि ही नहीं करा सकता है। दूसरे बात यह भी है कि जब ज्ञान में सुनिश्चितासंभवद्बाधकता और असुनिश्चितासंभवद्बाधकता प्रसिद्ध ही नहीं है तो फिर इस विषय का सन्देह भी ज्ञान में कैसे हो सकता है। जिसने स्थाणु और पुरुष को स्वप्न में भी नहीं जाना है ऐसे तलघर में पले हुए व्यक्ति के लिये वहां से निकलते ही सिर्फ उच्चत्वादि सामान्य के देखने मात्र से थोडे ही स्थाणु पुरुष विषयक सदेह उत्पन्न हो सकता है। यदि ये उभय सुनिश्चितासंभवद्बाधकता और असुनिश्चितासंभवद्बाधकता प्रसिद्ध है तो स्वतः है या परतः हैं। यदि कहो कि अभ्यास दशा में स्वतः और अनभ्यास दशा में परतः है तो बस फिर क्या है—यही तो हमारा भी कहना है। अतः इस समस्त कथन का सार यही है कि ज्ञान मे प्रमाणता का निर्णय सुनिश्चितासंभवद्बाधक होने से होता है। और जहां पर इसका अभाव है वहां ज्ञान में प्रमाणता का भी अभाव है।

इस तरह प्रमाणता का निर्णय होने से प्रमिति एवं प्रमेय का भी अस्तित्व सिद्ध हो जाता है। अत तत्वोपप्लववाद युक्ति युक्त नहीं है। इस प्रकार कारिकाकार तीथकृत्सप्रदायो मे परस्पर विरोध होने से किसी भी तीर्थंकृत संप्रदाय मे आप्तता—संवादकता का अभाव प्रदर्शित करते हुए जो यह कह रहे हैं कि "कश्चिदेव गुरुः" कोई एक ही गुरु—पूज्य हो सकता है ? वह सर्वथा निर्दोष है। क्योकि वैदिक सम्प्रदाय, नियोगभावनादि सम्प्रदाय, प्रत्यक्ष एक प्रमाण वादियों का सम्प्रदाय, तत्वोपप्लववादियो का सम्प्रदाय एव वैनयिको का सम्प्रदाय परीक्षित होने पर युक्ति युक्त—प्रमाणभूत नहीं ठहरता है। तथा एक प्रमाणवादी, संवेदनाद्वैतवादी, चित्राद्वैतवादी बौद्ध एवं ब्रह्माद्वैतवादी शब्दाद्वैतवादी ये तथा अनेक प्रमाणवादी कपिलादि वगैरह ये सब तीर्थच्छेद सम्प्रदाय है। इनमे परस्पर विरुद्ध अर्थ की प्ररूपकता होने से सत्यता—सम्वादकता-नही आती है। इस विषय को टीकाकार ने बहुत कुछ लिखा है जिसका सार यही है कि अद्वैतवादी जब अपने मत के सस्थापन करने के लिये अथवा परपक्ष को दूषित करने के लिये जो कुछ भी कथन करता है उसका वह सब कथन द्वैत की प्रसक्ति का कारण होने से अद्वैतवाद के विरुद्ध पड़ता है। इसी प्रकार चार्वाक भी कि

जो सिर्फ एक प्रत्यक्ष को ही प्रमाण मानता है वह प्रत्यक्ष मे प्रमाणता साबित करने एव परलोकादि के निषेध करने एवं परचित्त आदि के अवबोध करने के लिये जो स्वभाव लिङ्ग, अनुपलब्धि लिङ्ग एव व्यापारादि कार्य लिङ्ग से उत्थ अनुमान का सहारा लेता है तो वह प्रत्यक्षैक प्रमाणमान्यता के विरुद्ध पड़ता है, अनेक[1] प्रमाणवादी कपिल—सांख्य, कणभक्ष वैशेषिक, अक्षपाद-नैयायिक एव जैमिनियो को अपने अपने मत के अनुसार स्वीकृत प्रमाण-संख्या की मान्यता जब सकल देशादिक के उपसंहार से साध्य और साधन के सम्बन्ध का कथन करने मे आता है तब विरुद्ध पड़ जाती है। क्योंकि इनमें से किसी ने भी तर्क को प्रमाण नही माना है। सर्व देशकाल की अपेक्षा साध्य साधन की व्याप्ति का उपसहार करना इसी का नाम तर्क है। यह तर्क का विषय न प्रत्यक्ष का विषय होता है और न अनुमान का, न आगम का और न उपमान आदि का अतः इस प्रकार का कथन अपनी स्वीकृत प्रमाण की सख्या का विघटन सिद्ध करता है। इसी प्रकार एक भी प्रमाण नहीं मानने वाले तत्वोपप्लववादी का अपने तत्वोप्लववाद का प्रमाणित करना सर्वथा तत्वोपप्लव की मान्यता के विरुद्ध ठहरता है। क्योकि तत्वोपप्लवाद स्वय तो समर्थित होता नहीं है—अपने समर्थन के लिये तो प्रमाण की अपेक्षा ही रहती है। अतः इस मान्यता मे प्रमाण मानना ही पडता है। इस तरह इन समस्त तीर्थकृत् समयो में परस्पर विरुद्ध अर्थ की प्ररूपणा आप्तत्व के अभाव की साधिका होती है।

इस प्रकार परस्पर मे तीर्थकृत्सम्प्रदायो में विरोध प्रदर्शित करते हुए कारिकाकार ने यह समीचीन कहा है कि "कश्चिदेव गुरु." किञ्च—इन तीर्थच्छेद सम्प्रदावालो मे तथा जितने भी एकान्तवाद का प्रणयन करने वाले व्यक्ति है उन सबमे आप्तता इसलिये भी नही है कि वे समस्त ही अविशिष्ट—साधारण--वाणीयुक्त हैं, साधारण इन्द्रिय ज्ञान सम्पन्न है, साधारण बुद्धियुक्त है एव साधारण इच्छा विशिष्ट है। और यही कारण है कि जिसकी वजह से उनका व्यक्तित्व साधारण रथ्यापुरुष की तरह विशिष्टता से रिक्त है। परन्तु जो अपने इष्ट देव मे इन सब साधारण सी बातो

१--वैशेषिक-प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण, सांख्य प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इस प्रकार ३ प्रमाण, नैयायिक--प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान इम प्रकार ४ प्रमाण, प्रभाकर--प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान एवं अर्थापत्ति इस प्रकार ५ प्रमाण, और भाट्ट--प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान, अर्थापत्ति और अभाव इस प्रकार ६ प्रमाण मानता है।

का निषेध करने वाले स्याद्वादी हैं उनके सम्मत देव में ही आप्तता आकर आश्रय पाती है। क्योंकि उनकी वाणी साधारण न होकर युक्ति और शास्त्र से अविरोधी होने के कारण वैशिष्ट्य लिये हुए है। उनका जो बौद्धिक ज्ञान है वह करण क्रम से—इन्द्रियो की क्रमिक प्रवृत्ति के—व्यवधान आदि से अतिवर्ती—शून्य है। वे मोह की पर्याय स्वरूप इच्छा के कतई वशवर्ती नहीं है। यही कारण है कि उनका व्यक्तित्व खास अपनी विशिष्टता को लिये हुए है। जो अविशिष्ट वागादिक सम्पन्न हैं उनमें आप्तता का नियामक अनाविलज्ञान नहीं है। जिनमें ये नहीं हैं—वहीं पर अनाविल विज्ञान की विशिष्टता है। इस विषय को जो युक्ति और शास्त्र के वेत्ता नहीं हैं वे नहीं समझ सकते हैं इसलिये अष्टशतीकार स्वामी अकलंक देव ने इसे परम गहन कहा है। इसी समस्त अभिप्राय को लेकर स्वामी समन्तभद्राचार्य "कश्चिदेव गुरुः" ऐसा कह रहे हैं। इस कथन से मीमांसक की इस आशंका की निवृत्ति हो जाती है कि जो वह कहता है कि सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं होती है क्योंकि वह किसी भी प्रमाण का विषय नहीं है। एक अभाव प्रमाण से ही उसका अभाव ज्ञात होता है। भूत, भविष्यत एवं वर्तमान कालिक समस्त पदार्थों को बतलाने वाली एक चोदना—वेद-ही है, वही स्तुत्य है। अथवा जब यह आशंका उपस्थित की जाती है कि गुरु कौन है? तब उत्तर दिया है कि चित् ज्ञान स्वरूप आत्मा ही अथवा संस्कृत मे "क" का अर्थ परमात्मा भी होता है। परा—आत्यन्तिकी लक्ष्मी—कर्मों के सर्वथा विनाश से उद्भूत अनंत चतुष्टय स्वरूप अन्तरंग विभूति—जिसके हो—ऐसी जो आत्मा है वह चित्—सर्वज्ञ ही हो सकता है। अन्य अज्ञ परमात्मा नहीं हो सकते। इससे सांख्यो ने जो आत्मा को अज्ञ माना है और प्रकृति से वियुक्त मानकर उसे जो सर्वज्ञ मुक्त मानकर परमात्मा माना है उसका निराकरण होता है। तथा अपौरुषेय वेदो को जो भूत भविष्यत आदि पदार्थों का अवगमक माना है वह भी निराकृत होता है।

अतः हे नाथ! सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाण से वह सर्वज्ञता आप मे ही आती है। इसलिये आप ही परमात्मा हैं। और इसीलिये आप ही समस्त संसारी जीवो के एक मात्र गुरु पूज्य हैं। आत्मा में अल्पज्ञता एवं सदोषता ज्ञानावरणादिक पौद्गलिक कर्मों के सम्बन्ध से आती है। जब इनका अपने विरोधी कारणो के उत्कर्ष से अभाव-सर्वथा

प्रक्षय-होता है। तब आत्मा निर्दोष होकर सर्वज्ञ हो जाता है। ज्ञस्वरूप आत्मा ही सर्वज्ञ बनता है यह बात अनेक अकाट्य युक्तियों द्वारा स्वयं ग्रन्थकार आगे की कारिकाओ में स्पष्ट करेंगे। इसलिये हे प्रभो ! तीर्थंकृत्संप्रदायो में परस्पर विरोध होने से सर्व मे आप्तता का अभाव सुनिश्चित हो जाता है। अतः आप ही समस्त संसारी जीवो के एक मात्र पूज्य साबित होते है। क्योंकि आपही में समस्त आवरणादिकों का सर्वथा क्षय प्रसिद्ध है। और इसी कारण आप साक्षात्

आ० प्रबुद्धाशेपतत्वार्थ हैं ऐसी स्तुति मुनिजनो ने आपकी की है।

मी० समस्त आवरण एव दोषो का सर्वथा अभाव मुझ में है यह आपने कैसे निश्चय किया। इस प्रकार पूछे जाने

२५ पर स्वामी जी कहते हैं कि–

दोषावरणयोर्हानि,र्निश्शेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो वहिरन्तर्मलक्षयः ॥ ४ ॥

अन्वय—यथा क्वचित् स्वहेतुभ्य बहिः अन्तः मलक्षय (निश्शेषस्तथा) अतिशायनात् दोषावरणयोः हानिः क्वचित् निश्शेषा अस्ति।

अर्थ—जिस प्रकार सुवर्ण आदि द्रव्य में अपने हेतु पुटपाक आदि से किट्टकालिमा आदि अन्तरंग एव बहिरंग मैल का सर्वथा क्षय होता देखा जाता है, उसी प्रकार किसी आत्मा विशेष में अतिशायन होने से दोष और आवरणों की हानि भी नि शेष देखी-साधित-की जाती है।

भावार्थ–"मुझ मे दोष और आवरणो की हानि किस प्रकार से निश्चित की" इस प्रभु के प्रश्न का समुचित उत्तर देने के लिये स्वामी जी ने यहां से भूमिका बांधना प्रारम्भ किया है। इसमें वे सर्व प्रथम दोप और आवरणों का अस्तित्व सिद्ध करते हुए उनकी सर्वथा हानि इस कारिका द्वारा प्रदर्शित कर रहे हैं। वैसे तो इस प्रश्न का उत्तर "सत्वमेवासि निर्दोषो" इस छठवी कारिका में ही दिया गया है।

" प्रसिद्धो धर्मी " इस दार्शनिक पद्धति के अनुसार धर्मी प्रसिद्ध होता है–अतः सामान्य दोष और आवरणों की सामान्यतया कुछ कुछ हानि अस्मदादिकों में प्रसिद्ध है—क्योंकि उसके कार्य एकदेशरूप से निर्दोषता एवं ज्ञानादिकों का हम समस्त संसारी जीवों में अस्तित्व पाया जाता है। यदि दोष और आवरणों की एकदेशरूप से हम संसारी जीवों में जो हानि नहीं होती तो उसके एकदेश निर्दोषता एवं ज्ञानादिक रूप कार्यों की भी हम में उपलब्धि नहीं होती इस प्रकार कार्य हेतु की उपलब्धि से उनका एकदेशरूप से अभाव हम संसारी जीवों में प्रसिद्ध है। इस तरह इनकी यह तरतमरूपसे–हीनाधिक रूप से-होती हुई हानि कोई ऐसा भी स्थल विशेष है कि जहां सर्वथा रूप से हो चुकी है। " दोष और आवरण की हानि " यह पक्ष है। " वह कहीं पर सम्पूर्णरूप से है " यह साध्य है। " अतिशायनात् " यह हेतु है। " सुवर्ण में जैसे किट्ट कालिमादिक अन्तरंग बहिरंग मल का क्षय है " यह दृष्टान्त है। जो अतिशायन-विशिष्ट होता है उसकी हानि और वृद्धि अपनी अपनी चरम सीमा पर पहुँचती है। सुवर्ण में अन्तरंग एवं बहिरंग मल की क्रमश होती हुई हानि सौटंची के सोने में अपनी चरम सीमा पर पहुँची हुई प्रत्यक्ष से स्पष्ट प्रतीत होती है। इसी प्रकार अल्पज्ञों में दोष और आवरणो की क्रमशः होती हुई हानि भी किसी विशिष्ट आत्मा में अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। तब वही आत्मा निर्दोष एवं सर्वज्ञ इस पद को प्राप्त कर लिया करता है। आत्मा की विभाव परिणति स्वरूप जो अज्ञान, राग एवं द्वेप आदि भाव कर्म है वे दोष हैं और ज्ञानावरणादिक जो द्रव्य कर्म हैं वे आवरण हैं। इन दोनो का परस्पर में कार्य कारण सम्बन्ध है। दोषों के उदय से आवरण कर्म और आवरण कर्मों के उदय से दोष आत्मा में उद्भूत होते रहते हैं। जिसप्रकार ज्ञानावरण कर्म के उदय में अज्ञान, दर्शनावरण कर्म के उदय में अदर्शन, दर्शन-मोह के उदय में मिथ्यात्व, अनेक प्रकार के चारित्र मोहनीय के उदय में विविध प्रकार का अचारित्र एवं दानादिक अन्०राय के उदय में अदानशीलता आदि दोप जीवात्मा में उत्पन्न होते रहते हैं। उसी प्रकार से प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन एवं उपघात आदि दोपो के उदय में जीव के ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण रूप आवरणका आस्रव होता है। केवली श्रुत, संघ, धर्म और देवो के अवर्णवाद रूप दोप से दर्शनमोहका, कषाय के उदय से हुए तीव्र परिणामरूप दोष के उदय से चारित्र मोह का एवं विघ्न करने से अन्तराय का उदय भी जीवों के होता रहता है।

यही दोष और आवरणों का परस्पर में कार्य कारण सम्बन्ध है। इनके इसी कार्य कारण सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये कारिकाकार ने कारिक में "दोषावरणयोः,, इस प्रकार से छटी वि० के द्विवचन का निर्देश किया है। अज्ञानादि दोप जिस तरह से परपरिणामहेतुक हैं उसी प्रकार से ये जीव के स्वपरिणामहेतुक भी हैं। यदि इन्हें केवल परपरिणामहेतुक— कर्मोदयनिमित्तक—ही माना जावे तो जीवन्मुक्त अवस्था में भी इनके सद्भाव का प्रसंग मानना पडेगा।

शका —जब इनका-दोष और आवरण का-आप परस्पर में कार्यकारण भाव प्रकट कर रहे हैं तब यह बात तो सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाती है कि दोषों की हानि में अवरणो की हानि और आवरणों की हानि में दोषों की हानि ? फिर कारिका में इन दोनों की हानि को प्रदर्शित करने वाले द्विवचन के प्रयोग की आवश्यकता ही क्या है ? किसी एक की ही हानि का कथन करना चाहिये था ?

उत्तर—यह कहना उचित नहीं है। क्योंकि यह पहिले ही प्रकट किया जा चुका है कि इन दोनों में जो कि जीव और पुद्गल के परिणाम स्वरूप हैं परस्पर में कार्य कारण सम्बन्ध है। इसी कार्य कारण सम्बन्ध के समर्थन के लिये कारिकाकार ने कारिका में द्विवचन का प्रयोग करते हुये इन दोनो का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख किया है! अथवा बौद्ध, कि जो अज्ञानादि दोषों को ही संसार का हेतु मानता है पौद्गलिक आवरणों को नही—उसकी मान्यता को हटाने के लिये भी दोष और आवरणों का स्वतत्र रूप से कारिका में ग्रहण किया गया है। पौद्गलिक मदिरा जिस प्रकार से अमूर्त चित्त-आत्मा का आवारक देखा जाता है-उसी प्रकार पौद्गलिक आवरण भी अमूर्त आत्मा के आवारक होते हैं। यदि मदिरादिक आत्मा के आवारक न मानकर केवल अचेतन इन्द्रियो के ही आवारक माने जावें तो फिर इस प्रकार से उनके द्वारा उस बोतल में भी विभ्रम का सवेदन होना चाहिये कि जिसमें वे रखे हुए होते हैं। अत मदिरा की तरह आवरण कर्म चेतन जीव के ही आवारक होते है यही सिद्धान्त समीचीन है।

शका-साध्य अप्रसिद्ध होता है प्रसिद्ध नहीं, प्रसिद्ध को साध्य करने पर सिद्धसाध्यता दोष आता है, अतिशायन हेतुसे

जो यहां पर समस्त दोष और आवरणों की निःशेप हानि आप साध्य कोटि में रख रहे हैं वह तो लोष्टादिक पदार्थों में प्रसिद्ध ही है । क्योंकि लोष्टादिक पदार्थों में न दोष हैं और न आवरण हैं । अतः सिद्ध को साध्य करने से कोई लाभ नहीं इस तरह से तो हेतु अकिञ्चित्कर हो जाता है ।

उत्तर—यहां पर सिद्ध को साध्य नहीं किया गया है क्योंकि हानि शब्द का अर्थ प्रध्वंसाभाव है । होकर नहीं होने का नाम प्रध्वसाभाव है। प्रध्वंसाभाव रूप हानि लोष्टादिक में दोप और आवरण की नहीं है । अतः असिद्ध को ही अतिशायन हेतु का साध्य बनाया गया है । इसलिये सिद्धसाध्यता न होने से यह हेतु अकिञ्चित्कर नहीं है ।

शका— सिद्ध साध्यता के अभाव से यह हेतु अकिञ्चित्कर न हो न सही । परन्तु अनैकान्तिक तो है ही । वह इस प्रकार से —"जहां २ अतिशायन होता है वहां २ सम्पूर्ण रूप से हानि होती है" जब आप इस प्रकार की व्याप्ति बनाते हो तो देखो बुद्धि में भी यह हेतु रहता है । क्योंकि बुद्धि में भी तरतमता देखी जाती है । किन्तु बुद्धि का सर्वथा अभाव-प्रध्वसाभावरूप हानि-साध्य-कही पर भी प्रतीत नही होता है । अतः साध्याभाव विशिष्ट स्थल-प्रध्वसाभाव रूप हानि से रहित बुद्धि-में इस हेतु का सद्भाव होने से यह अनैकान्तिक दोष से हेतु खाली नहीं हो सकता है ।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि हम तो यह डके की चोट घोषणा कर रहे हैं कि जहां २ अतिशायन होगा वहां २ सर्वथा परिक्षय होगा । बुद्धि में भी अतिशायन हेतु से उसका पृथिवी आदि में सर्वथा-सर्वात्मना अभाव प्रसिद्ध ही है । फिर आप इसे अनैकान्तिक कैसे बनाते हो । सोच समझकर बात करना चाहिये ।

शका—बिना सोचे समझे कौन सी बात कही गई है । अरे ! जब तुम हानि शब्द का अर्थ प्रध्वसाभाव रखते हो- और उसका लक्षण "होकर फिर नहीं होना" कहते हो तो यह स्पष्ट है कि बुद्धि हानि से यह हेतु अनैकान्तिक है ही । हां; पृथिवी मे पहिले बुद्धि होती और बाद मे उसका वहां सर्वथा परिक्षय होता तो तुम्हारा हेतु निर्दोष मान लिया जाता । परन्तु ऐसा तो है नहीं-पृथिव्यादिको में सर्वात्मना बुद्धि-चेतनादिगुण-के प्रध्व साभाव -का अभाव है क्योंकि वहां तो उसका अत्यन्ताभाव है । कभी भी वहां चेतनादि गुण रहा ही नहीं है,कि जिससे वहां प्रध्वंसाभाव उसका कहा जावे ?

उत्तर—यह भी कहना बिना विचारे जैसा ही है। पृथिवीकायादिक पुद्गल द्रव्य जब पृथिवीकायिक जीवों द्वारा परिगृहीत होते हैं तब वे सचेतन कहलाते हैं और स्वायु के परिक्षय के बाद जब वे परित्यक्त हो जाते हैं तो अचेतन कहे जाते है। इस प्रकार उनमे भी सर्वात्मना चेतनादि गुण की व्यावृत्ति- प्रध्वसाभाव रूप हानि-सिद्ध ही होती है। उनमें चेतन गुण कभी रहा ही नही है-ऐसा मानना सिद्धान्त और अनुभव दोनो से विरुद्ध है। "न कश्चित् स पुद्गलोऽस्ति यो जीवैरसकृन्न भुक्तोज्झितः" यह सिद्धान्त-आगम-वचन है। इससे यह मानना चाहिये कि संसार मे ऐसा कोई सा भी पुद्गल नहीं बचा जो जीवो द्वारा बार २ भोग कर न छोड दिया गया हो। अनुभव एवं युक्ति भी इसी बात का समर्थन करती है।

शंका—हानि शब्द का वाच्यार्थ यदि प्रध्वंसाभाव आप रखते हैं तो इस प्रकार की हानि पौद्गलिक ज्ञानावरण आदि कर्म द्रव्य मे सभवित ही नहीं हो सकती है। क्योकि कर्म द्रव्य तो नित्य है। रही कर्म द्रव्य की पर्याय-सो पर्याय की इस प्रकार की हानि का क्या विश्वास-पर्याय की हानि होकर भी किसी निमित्त के मिलने पर पुनः उसका प्रादुर्भाव हो जाता है। अत भूत्वाऽभवन् लक्षण रूप हानि उसमे भी निश्शेषरूप से घटित नहीं हो सकती है। दूसरे-द्रव्य और पर्याय ये परस्पर अविनाभावी हैं। यदि पर्याय की सर्वथा हानि कल्पित की जायगी तो तदविनाभावी द्रव्य की भी निश्शेप रूप से हानि मानना पडेगी। द्रव्य की सर्वथा हानि मानने पर उसका निरन्वय विनाश स्वय सिद्ध हो जायगा-अतः इस प्रकार की मान्यता में मूलत द्रव्य का भी सर्वथा अभाव प्रसक्त होता है।

उत्तर—इस प्रकार की यह शका स्याद्वादसिद्धान्त की अनभिज्ञता प्रकट करने वाली है। हानि शब्द का प्रध्वंसाभाव-क्षय-रूप अर्थ रखने में हमें कोई आपत्ति ही नहीं आती है। जो आपत्ति तुमने प्रकट की है वह बिना समझे ही झूठ मूठ प्रकट की गई है। देखो-मणि से अथवा कनक पाषाण से जिस प्रकार उसके मल की व्यावृत्ति हो जाती है और इस मल व्यावृत्ति को ही मल का क्षय कहा जाता है उसी प्रकार आत्मा से कर्म की व्यावृत्ति ही उसका क्षय कहा गया है। क्षय शब्द का अर्थ अत्यन्त विनाश का होना नही है। यदि क्षय शब्द का अर्थ अत्यन्त विनाश होना माना

जाय तो यह अत्यन्त विनाश नित्य होने से न द्रव्य का हो सकता है और न द्रव्य रूप से ध्रौव्य होने के कारण पर्याय का ही, अतः जिस प्रेकार मणि की शुद्धि मलादिक पर्याय की व्यावृत्ति स्वरूप है उसी प्रकार कर्म द्रव्य की पर्याय की व्यावृत्ति होना ही जीव की परिशुद्धि है। इस पर्याय व्यावृत्ति में जो तुम यह कह रहे हो कि द्रव्य का भी तदविनाभावी होने से मूलतः विनाश हो जायगा सो ऐसा नही है । क्योंकि जिस प्रकार मल द्रव्य की मलात्मक पर्याय की निवृत्ति होने पर भी अमलात्मक पर्याय से उसका परिणमन हो जाता है उसी प्रकार कर्म द्रव्य का भी कर्म पर्याय के विनाश होने पर अकर्मपर्याय से परिणमन होता है। मतलब इसका यह है कि पर्याय का सर्वथा विनाश नहीं होता है। विवक्षित पर्याय का ही विनाश होता है। ज्ञानावरणादिक कर्मद्रव्य नही हैं ये तो उसकी पर्याय हैं। कर्म द्रव्य तो कार्माण वर्गणायें है। जो निमित्त के वश ज्ञानावरणादिकरूप परिणमती रहती है। निमित्त के हट जाने पर इनका स्वभाव रूप में-अकर्म पर्याय में-परिणमन होता है। कर्म द्रव्य की पर्याय जिस प्रकार ज्ञानावरणादि कर्म हैं उसी प्रकार अकर्म रूप से रहना भी कर्म द्रव्य की एक स्वभाव पर्याय है । अतः मूल द्रव्य का नाश इस हालत में नही हो सकता है। शकाकार की यह शंका सार्थक तब हो सकती कि जब प्रध्वंसाभाव को तुच्छाभाव रूप माना जाता। परन्तु स्याद्वाद सिद्धान्त में अभाव को तुच्छाभाव रूप न मान कर भावस्वरूप माना गया है उत्पन्न होकर विनिष्ट होना यही घट का प्रध्वंसाभाव है। यह प्रध्वसाभाव कपाल माला स्वरूप है। और यह कपालमाला भावस्वरूप है। कर्म द्रव्य का अकर्मरूप पर्यायसे आक्रान्त होना इसका भाव यही है कि उस अवस्था में केवल एक आत्मा ही है। यह आत्मा की केवलता ही कर्म पर्याय की विकलता है। यद्यपि कर्म पर्याय की विकलता होने पर पौद्गलिक कार्माणवर्गणाओ का सम्बन्ध आत्मा से रहता है तो भी वे निमित्ताभाव में अकर्मपर्यायाक्रान्त होने से आत्मा का कुछ भी विगाड़ नहीं कर सकती है। जिस प्रकार निमित्त के अभाव में मलादिपर्याय से रहित मलद्रव्य का संसर्ग सुवर्ण के साथ रहने पर भी उसका कुछ भी विगाड़ नहीं हो सकता है।

शका—जिस प्रकार कर्म पर्याय की सर्वथा निवृत्ति होने पर कर्म द्रव्य का अकर्म पर्याय रूप से अवस्थान आप

कह रहे हैं-उसी प्रकार से यह भी क्यों न मान लिया जाय कि बुद्धि रूप पर्याय की सर्वथा विनिवृत्ति होने पर आत्मा भी अबुद्धि रूप पर्याय से अवस्थित रहता है।

उत्तर—ऐसी मान्यता इस दृष्टान्त के बल पर सधती नहीं है। कारण कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्त में विषमता है। कर्म पर्याय की सर्वथा निवृत्ति होने पर कर्मद्रव्य का अकर्मरूप पर्याय से अवस्थान तो हो सकता है। क्योंकि कर्म-द्रव्य का " कर्मरूप पर्याय से परिणमन होना " यह लक्षण नहीं है। कर्म द्रव्य जब रागद्वेषादिक रूप निमित्त से आत्मा में परतन्त्रता का—ज्ञानावरणादिरूप पर्याय का जनक होता है तब ही उसका कर्म पर्याय रूप से परिणमन होता हे और जब वही इस परतन्त्रता का वहां जनक नही होता है तब उसका अकर्मरूप पर्याय से परिणमन होता है। कर्म द्रव्य तो पुद्गल द्रव्य है। और पुद्गल द्रव्य का सामान्य लक्षण रूप, रस, गंध और स्पर्श सहित होना है। यदि कर्मत्व परिणाम उसका लक्षण होता तो कर्म द्रव्य अपने इस लक्षण के अभाव में कथमपि अवस्थित ही नही रह सकता। इस परिस्थिति में तो उसे अपनी स्वरूप सत्ता से भी हाथ धोना पड़ते। अतः जब यह उसका लक्षण नही हे तो इस औपाधिक अवस्था की सम्पूर्ण रूप से विनिवृत्ति होने पर वह अपने स्वरूप से अकर्मत्वपर्याय रूप से—आक्रान्त होता हुआ अवस्थित रहता है। इस अवस्थिति में उसका रूपादिमत्व जो सामान्य लक्षण है उसका परित्याग नही होता हैं और इसी रूप से उसका अवस्थान रहता है। परन्तु आत्मा कि जिसका सामान्य निज लक्षण ही बुद्धि—उपयोग है—अपने इस लक्षण के सम्पूर्ण रूप से अभाव में कैसे रह सकता है। इस दशा में तो इसे स्वरूप सत्ता से भी हाथ धोना पडेगा। पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से वहां क्षायोपशमिकादि बुद्धि रूप पर्याय का विनाश होने पर भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से वहां—बुद्धि क्षायिकज्ञान-का सद्भाव ही रहता है। इस अपेक्षा से उस अवस्था में निःशेष रूप से बुद्धि का परिक्षय नही माना गया है कि जिससे अकर्मत्वपर्यायाक्रान्त कर्मद्रव्य की तरह आत्माका सर्वथा अबुद्धिपर्यायाक्रान्त होकर अवस्थान स्वीकार किया जा सके।

शका—आप तो दोषों की ज्ञानावरणादि आवरण कर्म की तरह सर्वथा हानि ही सिद्ध करना चाहते है। परन्तु

इस बुद्धि के पक्ष में दिये गये समाधान से यह बात सिद्ध नहीं हो सकती है। क्योंकि जिस प्रकार आप यह कहते हैं कि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से ही बुद्धि की हानि होने पर भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से उसका वहां अविनाश है। इसी प्रकार हम भी यह कह सकते हैं कि अज्ञानादि दोष सम्पूर्ण रूप से पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से ही आवरण की तरह विनष्ट होकर भी द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से इसी बुद्धि की तरह अविनष्ट हैं। अतः इनका सम्पूर्ण रूप से अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है। नहीं हो सकता ?

आ० मी० ३२

उत्तर— इस प्रकार की शंकाकार की यह शंका ठीक नहीं है। क्योंकि आत्मा के परिणाम दो प्रकार के होते हैं। एक आगन्तुक और दूसरा स्वाभविक। अनन्तज्ञानादि परिणाम आत्मा के निज रूप होने से स्वाभाविक हैं। अज्ञानादि दोषरूप मल आगन्तुक हैं। क्योकि ये कर्मोदयनिमित्तक है। इनके उदय का निमित्त कारण मोहनीय कर्म है। इसलिये ये आत्मा के प्रतीपक्ष भाव हैं। स्वाभाविक भाव नही। इसलिये ये परिक्षायी है। "यो यत्र आगन्तुकः स तत्र स्वनिर्हासनिमित्तविवर्द्धनवशात्परिक्षयी,, बात भी ठीक है जो जहां आगन्तुक होता है वह वहां अपने विनाश के कारणों की वृद्धि के वश से परिक्षयी होता है जिस प्रकार सुवर्ण में ताम्रादिक के मिश्रण से आई हुई कालिका अपने विनाश के निमित्त के विवर्द्धन के वश से नष्ट होती हुई जात्यसुवर्ण में सर्वथा विनष्ट हो जाती है। ये आज्ञानादि दोष आत्मा में आगन्तुक इसलिये हैं कि ये कादाचित्क हैं जो कादाचित्क होता है-वहआगन्तुक होता है। जैसे स्फटिकमणि में लोहितादि आकार दोप कादाचित्क है यह बात भी गलत नहीं है क्योंकि आत्मा में जिस समय सम्यक् ज्ञानादिक गुणों का आविर्भाव है उस समयहोता दोषो की उत्पत्ति नहीं होती है, इस प्रकार दोषो में प्रसिद्ध कादाचित्क उनमें आगन्तुकत्व का साधक होता है। इस लियेआत्मा में यह दोष रूप मल जब आगन्तुक है तो अवश्य यही परिक्षयी है यह बात माननी चाहिये इसलिये बुद्धि की तरह सामान्य रूप से भी दोषका अस्तित्व आत्मा में नही रह सकता है। अतः द्रव्य कर्म एव भावकर्म की अत्यन्त विनिवृत्ति सिद्ध होने से जो कर्मरूपी पर्वतका भेत्ता एव मोक्षमार्गका प्रणेता है वही स्तुति के योग्य हो सकता है और वही विश्व तत्वोका ज्ञाता हो सकता है। इसलिये सुवर्ण में पुटपाक आदि द्वारा जिस प्रकार अन्तरंग एवं बहिरंग

मैल का सर्वथा अभाव देखा जाता है उसी प्रकार किसी आत्मा में भी अन्तरंग मैल स्वरूप भावकर्म एवं बहिरंग मैल स्वरूप द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिकों का सर्वथा अभाव सिद्ध होता है। अतिशायन हेतु जिस प्रकार द्रव्यकर्म एवं भावकर्मों का सर्वथा अभाव सिद्ध करता है, उसी प्रकार अचेतन पृथिव्यादि में ही बुद्धि–चेतन गुण का भी सर्वथा अभाव सिद्ध करता है। आत्मा मे नही। क्योंकि वह तो उसका लक्षण है। हां, क्षायोपक्षमिक बुद्धि का वहां पर अभाव होता है। क्षायिक बुद्धि का नही। नहीं तो आत्मा में जडत्व का प्रसंग आता है। इस प्रकार इस कारिका का यह सक्षिप्त अर्थ प्रकट किया गया है। विस्तृतविवेचन अष्टसहस्री से जानना चाहिये।

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद् यथा।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः ॥ ५ ॥

अन्वय—अनुमेयत्वतः सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित् प्रत्यक्षाः यथा अग्न्यादिः इति सर्वज्ञसंस्थितिः।

अर्थ—अनुमेय होने से सूक्ष्म, अन्तरित एव दूरस्थ पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं जैसे अग्नि आदि। इस प्रकार सर्वज्ञ की निर्दोष रूप से सिद्धि होती है।

भावार्थ–कारिकाकार श्री स्वामी समन्तभद्र ने इस कारिका द्वारा " पुरुष सर्वज्ञ नहीं हो सकता है " इस मीमांसक की मान्यता का निरसन किया है। तथा प्रमाण–युक्ति से यह अच्छी तरह साधित कर दिया है कि पुरुष-आत्मा ही सर्वज्ञ होता है। मीमांसक को सर्वज्ञ होने के विरोध में यह दलील है कि–" निरस्तोपद्रवः सन्नात्मा कथमकलकोऽपिविप्रकर्षिणमर्थं प्रत्यक्षीकुर्यात् (अ०श०) " आत्मा भलेही अन्तरग एवं बहिरंग मेलसे रहित होजाय तोभी वह विप्रकर्षी-सूक्ष्म, अन्तरित एव दूरवर्ती पदार्थोका साक्षात् ज्ञाता नहीं हो सकता है। क्योकि विप्रकर्षी पदार्थ उसके अविषय है। अविषय में आत्मा की प्रवृत्ति नही हो सकती है। हम देखते हैं कि जिस आंख से उसका अन्तरग एव बहिरंग मैल सर्वथा नष्ट भी हो चुका हो तो भी वह सूक्ष्मादिक पदार्थों के अवलोकन करने में शक्ति सम्पन्न नहीं होती है। वह तो अपने योग्य विषय को ही प्रकाशित करनेवाली रहती है। और भी देखो–सूर्य चाहे कितना भी घनपटल के आवरण

एवं ग्रहोपरागादिक के उपद्रव से सर्वथा विमुक्त हो, तो भी वह इस स्थिति में स्वयोग्य वर्तमान कालीन पदार्थों के अतिरिक्त अविषयरूप भूत भविष्यत् कालीन पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता है। यह मुक्तात्मा भले ही रहो, परन्तु त्रिकालदर्शी नहीं हो सकता है। एक वेद ही त्रिकालदर्शी है और इसी बात को लेकर उसमें प्रमाणता की व्यवस्था मानने में आई है। धर्म आदि की व्यवस्था भी इसी वेद से होती है। पुरुष का धर्म आदि की व्यवस्था करने मे कोई अधिकार नही है। क्योंकि वह धर्मज्ञ १ नहीं हो सकता है और सब बातें वह भले ही जान ले। उसे कौन निषेध करता है।

इस मीमांसक की मान्यता पर कारिकाकार का यह कहना है कि ये स्वभाव से विप्रकृष्ट परमाणु आदि काल से विप्रकृष्ट राम रावण आदिक एवं देश से विप्रकृष्ट हिमवत् आदि पदार्थ अनुमान के विषय होने के कारण किसी न किसी के प्रत्यक्ष है। जैसे अग्नि आदि पदार्थ अनुमान के विषय होने से किसी न किसी के प्रत्यक्षज्ञान के विषय होते है। यह निश्चित है कि जो अनुमेय होगा वह किसी न किसी के प्रत्यक्ष का विषय अवश्य होगा।

शंका—सूक्ष्मादिक पदार्थ जिस नियत देशादिक आकार से किसी के द्वारा प्रत्यक्ष रूप में देखे गये है, क्या आप उसी रूप से उनमें अनुमेय हेतु द्वारा कस्यचित् प्रत्यक्षता साध्य करते हैं? या अनियत देशादिक आकार से कस्यचित्प्रत्य-क्षता साध्य करते हैं? प्रथम पक्ष की मान्यता में सिद्ध साध्यता नाम का दोष आता है। कारण कि ये सब अपने अपने समयवर्ती पुरुषो के द्वारा नियत देशादिक आकार से प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा प्रमित हुए ही हैं। अनियत देशादिक आकार से सूक्ष्मादिक पदार्थों में कस्यचित् प्रत्यक्षता साध्य करने पर अनुमेयत्व हेतु पर्वतादिकों में बुदिमत्कारणता साध्य करने के लिये प्रयुक्त सन्निवेशविशिष्टत्व की तरह अप्रयोजक२ है। जिस प्रकार पर्वत आदिको में बुद्धिमत्कारण के बिना भी सन्नि-वेशविशिष्टता देखी जाती है, उसी प्रकार अनियमितदेशादिक आकार युक्त सूक्ष्मादिक पदार्थों मे भी कस्यचित् प्रत्यक्षता

१—धर्मज्ञत्वनिषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानस्तु, पुरुष केन वार्यते ॥ (मी०श्लो०वा०)

२—क्ष्माधरादयो बुद्धिमत्कारणका सन्निवेशविशिष्टत्वात्।

के विना अनुमेयता आती है। दूसरे–परमाणु आदि अन्तरित पदार्थों की अप्रसिद्धि होने से यह अनुमेयत्व हेतु आश्रयासिद्ध भी है ।

उत्तर—यहां न तो सिद्ध को साध्य बनाया गया है, न हेतु अप्रेयोजक है और न धर्मी की ही असिद्धि है । इस अनुमान मे विवादापन्न सूक्ष्मादिक पदार्थों को ही किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध किया गया है । साध्य अप्रसिद्ध होता है यह एक दार्शनिक नियम है । इस निगम के अनुसार सूक्ष्मादिक पदार्थ कि जिनमें वादी और प्रतिवादी के लिये कस्यचित्प्रत्यक्षता विवाद का विषय बनी हुई है और इसीलिये जो कस्यचित्प्रत्यक्षत्वरूप साध्य को लेकर स्वय विवादग्रस्त बन चुके हैं और इसी अपेक्षा से जिनमें अप्रत्यक्षता आगई है वे किसी के प्रत्यक्ष के विषय हैं यह सिद्ध किया जा रहा है । स्पष्ट है कि जिस प्रकार स्वभावविप्रकर्षी परमाणु आदि, कालविप्रकर्षी राम आदि ओर देश विप्रकर्षी हिमवदादिक सूक्ष्म अन्तरित एवं दूरार्थ माने गये हैं उसी प्रकार धर्म अधर्म आदि तत्व भी देश से अन्तरित पुरुषों मे रहने वाले होने से देशान्तरित–दूर–काल से अन्तरित प्राणियों में रहने वाले होने से कालान्तरित–कालविप्रकर्षी–एवं इन्द्रियगोचर नहीं होने से अतीन्द्रिय–सूक्ष्म माने गये हैं । मीमांसको का इन्हीं की प्रत्यक्षता पर विवाद है । इस अनुमान द्वारा "धर्मादिक किसी के प्रत्यक्ष हैं" यही बात साबित की जा रही है । अत इस प्रकार से सिद्ध साध्यता दोष का परिहार हो जाता है । क्यों कि यहां सिद्ध को साध्य कोटि में नही रखा गया है । किन्तु उनमें कस्यचित् प्रत्यक्षत्व को जो असिद्ध है साध्य किया गया है । यदि यहां पर यों कहा जाय कि "कस्यचित्प्रत्यक्षरूप असिद्धसाध्य को लेकर विवाद कोटि में अवतरित हुए इन सूक्ष्मादिक पदार्थों में जो कि यहां धर्मी-पक्ष रूप से उपात्त हुए हैं असिद्धता का परिहार नहीं हो सकता है" सो ऐसा कहना भी उचित नहीं हो सकता हैं, क्योकि स्वयं मीमांसकों ने धर्मादिक पदार्थ मान्य किये हैं । अतः वहां नास्तित्व संभवित नहीं होता है । तथा अनुमेयत्व हेतु मे जो अभी २ अप्रयोजकता प्रकट करने में आई है सो वह भी ठीक नहीं है । क्ष्माधर–पर्वत आदि में बुद्धिमत्कारणता–बुद्धिमान् रूप निमित्त कारण से जन्यता-साध्य करने के लिये प्रयुक्त सन्निवेश-विशिष्टत्व हेतु तो स्वभाव भेद को लेकर ही अप्रयोजक–अकिञ्चित्कर–साबित हुआ है । क्योंकि जिस प्रकार की नवीन

मकानादिकों में रही हुई सन्निवेश विशिष्टता—रचनादि वगैरह—अक्रियादर्शी— जिसने उस मकान को बनते हुये नहीं भी देखा है—ऐसे पुरुष को भी कृतबुद्धि-यह मकान किसी ने बनाया है इस प्रकार की बुद्धि की उत्पादिका देखी जाती है-और इसी से सन्निवेश विशिष्टता वहां बुद्धिमान रूप निमित्त कारण से व्याप्त मानी जाती है तथा इसीलिये वह जीर्ण प्रासादिको में भी अक्रियादर्शी पुरुष के लिये कृतबुद्धि की उत्पादिका देखी जाती है ।

इससे भिन्न प्रकार की सन्निवेशविशिष्टता जो भूधरादिक में प्रतीयमान है वह वहां बुद्धिमान् कारण जन्यता की गमक नहीं होती है । इस प्रकार स्वभावभेद के कारण सन्निवेशविशिष्टत्व हेतु बुद्धिमान रूप कारण के द्वारा जन्यता का अविनाभावी सिद्ध नहीं होता है । अतः वह अप्रयोजक है ऐसा स्वयं मीमांसको ने भी कबूल किया है । इस प्रकार का स्वभाव भेद इस अनुमेयत्व हेतु में नहीं है । अपने साध्य के साथ जिसका अविनाभाव निश्चित होता है वही हेतु होता है । इस अविनाभावी साधन से जो साध्य का ज्ञान होता है वह अनुमान है । इस अनुमान ज्ञान का जो विषय होना है वही अनुमेयत्व है । यह अनुमेयत्व ऐसा नहीं है कि जो अपने साध्यरूप लिङ्गी में—अग्नि आदि में-और धर्म आदि में-स्वभाव भेद वाला होकर इस प्रकार से विभागवाला हो सके कि जिससे यह कहा जा सके कि यह अनुमेयत्व अग्नि आदि मे प्रयोजक है और धर्म आदि मे अप्रयोजक है ।

शंका—सन्निवेशविशिष्टत्व की तरह इस अनुमेयत्वरूप हेतु में भी अप्रयोजकता सिद्ध होती है और वह इस प्रकार से-ससार मे कितनेक ऐसे पदार्थ हैं जो प्रत्यक्षज्ञान के विषय हैं जैसे घटादिक । कितनेक ऐसे हैं जो क्वचित् कदाचित् प्रत्यक्ष से उनका अविनाभावी लिङ्ग जानकर अनुमान के विषय होते है, जैसे-अग्नि आदि । कितनेक ऐसे हैं जो सिर्फ आगममात्र गम्य हैं, जैसे-सर्वदा स्वभावादि से विप्रकर्षी धर्मादिक । अतः प्रत्यक्षप्रतिपन्नाविनाभावी लिङ्ग वालो की प्रतिपत्ति में ही अनुमान की सार्थकता है और इसी वजह से उनमें अनुमेयत्व हेतु प्रयोजक हो सकता है । परन्तु जो सिर्फ आगममात्र गम्य हैं उनमें अनुमानविषयता न आने से अनुमेयत्व हेतु प्रयोजक कैसे हो सकता है ।

उत्तर—"धर्मादीनामपि अनित्यत्वादि स्वभावतयाऽनुमेयत्वोपपत्तेः (अ०स०)" अर्थात् ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि

आ० मी० ३७

धर्मादिको में भी पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा लेकर अनित्यता आदि स्वभाव की वजह से अनुमेयता वन जाती है। वह इस प्रकारसे है"यावान् कश्चिद्भाव पर्यायाख्य स सर्वोऽनेकक्षणस्थायितयाक्षणिको यथा घटस्तथा च धर्मादिरिति" जो भी कोई पर्याय नाम का पदार्थ है वह सब अनेक क्षण स्थायी होने पर भी क्षणिक है जैसे घट। इसी प्रकार धर्मादि भी पर्याय है, अतः वे भी इसी तरह के क्षणिक हैं। इस प्रकार पर्याय की अनित्यता के साथ व्याप्ति सिद्ध हो जाती है। और इस प्रकार की व्याप्ति सिद्ध होने से पर्याय स्वरूप धर्म एवं अधर्म अनुमेय कोटि में आ जाते हैं। अथवा-जिस प्रकार अर्थापत्ति से बुद्धि की प्रतिपत्ति मीमांसक सिद्धान्तकारो ने मानी है उसी प्रकार से उससें धर्मादिक की भी प्रतिपत्ति मानने पर उनमे अनुमेयता सिद्ध होती है। मतलव इसका यह है कि बुद्धि-ज्ञान-मीमांसक सिद्धान्तकारों ने शश्वत्अप्रत्यक्ष मानी है। उनका कहना है कि ज्ञान अपने आप का ज्ञाता नहीं है। अत जिस प्रकार उसका अस्तित्व "मयि बुद्धिरस्ति बहिर्रर्थपपरिच्छिन्यन्यथानुपत्ते 'मुझमे बुद्धि है यदि बुद्धि न होती तो उसके द्वारा बाह्य घटपटादिकोका जो परिच्छेद होता है वह नहीं होना चाहिये, इस अन्यथानुपपत्ति से ज्ञात होता है। इसी प्रकार श्रेय और प्रत्यवाय की भी अन्यथा अनुपपत्ति होने से धर्म-पुण्य-और पाप का भी अस्तित्व ज्ञात होता है। यदि पुण्य-धर्म और पाप-अधर्म न होते तो श्रेय और प्रत्यवायो का भी अस्तत्व सिद्ध नहीं हो सकता। उनका अस्तित्व है-अतः पुण्य और पाप का भी सद्भाव है। इस प्रकार अर्थापत्ति रूप अनुमान से अनुमित होने पर धर्म और अधर्म में अनुमेयता सिद्ध हो जाती है। जैन दार्शनिको ने अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर उसे अनुमानस्वरूप ही माना है।

शंका — धर्मादिको में अनुमेयत्व रूप हेतु का सद्भाव रहे इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु जो अत्यत परोक्ष पदार्थ हैं उनमें अनुमेयता कैसे आ सकती है। क्योंकि अनुमान के जो विपय है वे अनुमेय हैं। अनुमान के विषय वे जभी हो सकते है कि उनका अविनाभावी लिङ्ग प्रत्यक्ष से प्रतिपन्न हो। परन्तु अत्यन्त परोक्ष पदार्थों का लिंग प्रत्यक्ष से जब प्रतिपन्न ही नही हो सकता तो फिर उनमें अनुमेयता मानना ठीक प्रतीत नहीं होता। इस प्रकार आपका यह अनुमेयत्त्व हेतु भागासिद्ध दोष से निर्मुक्त नही हो सकता ?

उत्तरः---इस प्रकार की आशंका ठीक नहीं है। क्योंकि अत्यंत परोक्ष पदार्थों में भी कथंचित् अनेकान्तात्मकत्वादि स्वभाव होने के कारण अनुमेयत्व की सिद्धि मानी गई है। अर्थात् "सर्वं अनेकान्तात्मकं सत्त्वात्" इस अनुमान प्रयोग द्वारा जब त्रिलोकवर्ती भूत भविष्यत्: वर्त्तमान कालीन पदार्थों में सत्त्वहेतु द्वारा अनेक धर्मात्मकता की सिद्धि की जाती है, तो अत्यंत परोक्ष पदार्थ भी इस अनेकान्त साधक अनुमान के शासन के बहिर्भूत नहीं रहते हैं। इसलिए वे भी अनुमेय हो जाते हैं।

शका:---इसमे आपको क्या विप्रतिपत्ति हैं--यदि ऐसा मान लिया जाय कि सूक्ष्मादिक पदार्थ अनुमेय तो रहें परन्तु वे किसी के प्रत्यक्षज्ञान के विषय न हों?

उत्तरः---बड़ी भारी विप्रतिपत्ति है। और वह यह है कि जब आप ऐसा कहेगे तब यह बात केवल सूक्ष्मादिक पदार्थों के ऊपर लागू न रहकर सर्वत्र अनुमान के विषयभूत पदार्थों के ऊपर लागू होने लगेगी-तथा च-फिर तो ऐसा भी कहा जा सकता है कि अग्न्यादिक पदार्थ अनुमान के विपयभूत ही रहें किसी के प्रत्यक्षज्ञान के विपय भूत न हो।

शका:---यदि ऐसा ही मान लिया जाय तो, आपको इसमे क्या आपत्ति है?

उत्तर ----अरे भाई! इस प्रकार की मान्यता मे विचारे अनुमान की ही हत्या हो जाती है।

शंका-चार्वाक--सो ठीक है। इसकी हत्या होनी ही चाहिए। हम तो यही चाहते हैं कि दुनियां में इसका नामो निशान तक भी न रहे। जब एक प्रत्यक्ष में ही प्रमाणता आती है तो इसे प्रमाण मानने की क्या जरूरत?

उत्तरः----हम आपसे यह पूछना चाहते हैं कि प्रत्यक्ष ही प्रमाण है इसके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नही है" इसकी व्यवस्था आप किसके आधार पर करते हैं। यदि कहो कि अविसवादित्व के आधार पर तो फिर आप अनुमान की हत्या के अभिलाषी कैसे माने जा सकते हो। इससे तो उल्टी उसके अस्तित्व की ही पुष्टि होती है। अत जब विना अनुमान के प्रत्यक्ष मे प्रमाणता और इस में अप्रमाणता सिद्ध नहीं हो सकती है तो अनुमान की बलात् व्यवस्थिति आपको माननी ही पडेगी। अतः मीमांसक का यह कथन कि सूक्ष्मादिक पदार्थो में अनुमेयता रहे, परन्तु कस्यचित्प्रत्य-

क्षता न रहे यह कहना शोभास्पद नही है ।

शका—आपका अनुमेयत्व हेतु कालात्ययापदिष्टदोष से दूषित होता है क्योकि इसका "सूक्ष्मादि पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं" यह विषय अनुमान से वाधित है । अनुमानादिक प्रमाण से जिस हेतु का विषय बाधित होता है वह हेतु कालात्ययापदिष्ट दोप से दूपित माना जाता है । "प्रमेय होने से सत्त्वविशिष्ट होने से अथवा वस्तुत्व विशिष्ट होने से अस्मादिक की तरह सूक्ष्मादिक पदार्थों का साक्षात्कर्त्ता कोई नहीं है" इस प्रकार के प्रत्यक्षादि १ अविसवादी अनुमान प्रमाण से अनुमेयत्व हेतु का विपय बाधित सिद्ध होता है ।

उत्तर—यह कहना ठीक नहीं है । क्योकि जिस अनुमान से आप सूक्ष्मादिक पदार्थों के साक्षात्कार करने वाले का निषेध कर अनुमेयत्व हेतु को बाधित विषयवाला कहकर कालात्ययापदिष्ट दोष से दूषित प्रकट कर रहे है उसी अनुमान से सूक्ष्मादिक पदार्थों को साक्ष्यात्कार करनेवाले की सिद्धि होती है—वह इस प्रकार है "सूक्ष्मादयोऽर्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षा प्रमेयात्वात् २ सत्वात् वस्तुत्वाद्वा स्फटिकादिवत्" प्रमेय होने से सत्त्वविशिष्ट होने से अथवा वस्तुत्व विशिष्ट होने से स्फटिकमरिण की तरह सूक्ष्मादिक पदार्थ किसी न किसी के प्रत्यक्ष है" इस अनुमान में प्रमेयत्वादि हेतु अत्यन्त परोक्ष अर्थ के साथ व्यभिचरित नहीं हो सकता है, क्योकि उन सबका पक्ष ३ मे अन्तर्भाव कर लिया गया है । अतः अनुमेयत्व हेतु अबाधित विपय वाला ही है यह बात उल्टी इस प्रमेयत्वादिक हेतु से पुष्ट ही होती है ऐसा मानना चाहिये, प्रमेयत्वादिक हेतु इस हेतु को बाधित विषयवाला प्रकट करते है, ऐसा नही मानना चाहिये । इस प्रकार सुनिश्चित-असभवद्बाधकप्रमाण वाले इस अनुमेयत्व हेतु से सूक्ष्मादिक पदार्थ जिसके साक्षात् प्रत्यक्ष है वही सर्वज्ञ है यह बात सिद्ध हो जाती है । इस

१—प्रत्यक्षाद्यविसवादि प्रमेयत्वादि यस्य तु, सद्भाववारणे शक्त को नु त कल्पयिष्यति ।

२—ततोऽन्तरिततत्त्वानि प्रत्यक्षाण्यर्हतोऽञ्जसा ।
प्रमेयत्वाद्यथाऽस्मादृक् प्रत्यक्षार्था सुनिश्चिता. ॥ आप्तपरीक्षा ८८ का०

३—हेतोर्न व्यभिचारीऽत्र दूरार्थैर्मन्दिरादिभि ।
सूक्ष्मैर्वा परमाण्वाद्यैस्तेषापक्षीकृतत्वत ॥ आप्तपरीक्षा ८९

पूर्वोक्त प्रतिपादन का " कश्चित् सर्वज्ञः अस्ति सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमात्त्वात्" यह निष्कर्षार्थ फलित हुआ ऐसा जानना चाहिए।

शंका:--- "कश्चित् सर्वज्ञः अस्ति सुनिश्चतासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्,, इस अनुमान द्वारा जो आप सर्वज्ञ का अस्तित्त्व साध्य कर रहे हैं। सो क्या यह बतलाने की कृपा करेंगे कि इसमें जो यह-सुनिश्चितासंभवद्बाधकप्रमाणत्वात्" हेतु है वह सर्वज्ञ का भाव[१]स्वरूप धर्म है या अभाव स्वरूप धर्म है। यदि इस हेतु को सर्वज्ञ का भाव स्वरूप धर्म अंगीकार किया जाय तो इस परिस्थिति मे यह सर्वज्ञ की तरह स्वयं असिद्ध हो जाता है। क्योंकि पक्ष में जब अस्तित्त्व स्यम् विवादग्रस्त बना हुआ है तब उसका भाव स्वरूपधर्म सिद्ध कैसे माना जा सकता है यदि हेतु सर्वज्ञ का अभाव स्वरूप धर्म माना जायगा। तो फिर यह विरुद्ध पड़ता है क्योंकि इससे आप जो सर्वज्ञ का अस्तित्व सिद्ध करना चाहते हो सो वह सिद्ध न होकर इससे विपरीत अभाव का ही उसके द्वारा साधन होगा। यदि उभयाश्रित इसे स्वीकार किया जाय तो फिर कहना ही क्या है-अस्तित्त्व की तरह इससे उसका नास्तित्व भी सिद्ध हो जायगा जिस तरह इसकी व्याप्ति अस्तत्वि के साथ रहेगी और उससे उसका सद्भाव साध्य होगा उसी प्रकार से विपक्ष -अभाव के साथ भी इसका सबध होने से उसका नास्तित्त्व भी इससे सिद्ध हो जायगा। अत यह हेतु एकान्त रूप से सर्वज्ञ के अस्तित्त्व का साधक कैसे माना जा सकता है।

उत्तर --इस प्रकार की आशका से हेतु को असिद्ध, विरुद्ध एव अनैकान्तिक प्रकट कर जो आप सर्वज्ञ के अस्तित्त्व का लोप करना चाहते है सो ठीक नहीं है क्योंकि विकल्पसिद्ध [२]धर्मी में सत्ता और असत्ता ये दो ही साध्य हुआ

१-धर्मिण्यसिद्धसत्ताके भावाभावोभयधर्माणाम सिद्धविरुद्धा नैकान्तिकत्वात् कथ सकलविदि सत्वसिद्धिरिति ब्रुवन्नपि देवानां प्रियः तद्धर्मिस्वभाव न लक्षयति "अष्टशती" असिद्धो भावधर्मश्चेत् व्यभिचायुभयाश्रितः। विरूद्धोऽभावधर्मश्चेत् स सत्तां साध्यते कथम् ॥ १ ॥ —अष्टसहस्री

२ विकल्पसिद्धे तस्मिन्सत्तेतरे साध्ये ॥२८॥ परीक्षा मुख अ० तृ०

करते है। हेतु उपादान के पहिले धर्मी विकल्प सिद्ध रहा करता है- मानस प्रत्यक्ष में भाव रूप से ही धर्मी की प्रतिपत्ति हुवा करती है। इस पर यदि यह शका की जाय कि जब मानस प्रत्यक्ष द्वारा उसका अस्तित्त्व सिद्ध रहता है तब अनुमान द्वारा उसके अस्तित्त्व का साधन करना व्यर्थ है सो यह बात नहीं है कारण कि जब कोई प्रतिवादी—सर्वज्ञाभाव वादी-अपनी धृष्टता से इसे स्वीकृत नहीं करता है। तब उसे इस बात को मनवाने के लिए अनुमान का प्रयोग करना पड़ता है। अत इस अपेक्षा से अनुमान की सफलता है। यदि इस पर फिर भी यह आशका की जाय कि इस तरह से गगन कुसुमादिको का भी अस्तित्त्व स्वीकार कर लेना चाहिये सो वात नहीं है, कारण कि गगनकुसुमादिको की सत्ता बाधक प्रत्ययोंद्वारा अपाकृत कर दी जाती है, अतः उनको विषय करने वाला मानस प्रत्यक्ष वास्तविक मानस प्रत्यक्ष नहीं है वह तो मानस प्रत्यक्षाभास है। तुरंगशृंगादिकों को जो धर्मी माना जाता है उसका कारण यह है कि धर्मिप्रयोग काल में बाधक प्रत्यय के अनुदय से उसमें सत्त्व की संभावना हो जाती है। पश्चात् बाधक प्रत्यय द्वारा वह संभावना निवृत हो जाती है। दूसरे वात यह है कि यदि इस प्रकार के विकल्प उठाकर हेतु में असिद्धादिकों का उद्भावन किया जायगा तो फिर यही बात शब्द को अनित्यत्व सिद्ध करने में प्रदत्त कृतकत्व हेतु में भी लागू हो जायगी -वह इस तरह-जिस प्रकार तुम (मीमांसक) बौद्ध का पक्ष लेकर हमसे पूछ रहे हो हम भी तो तुमसे यह पूछ सकते है कि शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिये जो यह उनका प्रसिद्ध अनुमान है कि "शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्" कृतक[१] होने से शब्द अनित्य है। इस अनुमान में कृतकत्त्व[२] जो हेतु है वह अनित्य शब्द का धर्म है ? या नित्यशब्द का धर्म है या नित्यानित्य शब्द का धर्म है ! प्रथम पक्षमें यह असिद्ध द्वितीयपक्ष में विरुद्ध एव उभयपक्ष में अनैकान्तिक दोष से युक्त हो जाता है।

मीमासक— बौद्धो के यहां कृतकत्व हेतु को अनित्य शब्द का ही धर्म माना गया है। फिर भी उसमें जो असिद्धता नहीं आ सकती है उसका कारण यह है कि पक्ष-शब्दरूप धर्मी की सत्ता का सर्वथा अभाव नही है। शब्दत्वरूप

१—स्वोत्पत्तौ अपेक्षितपरव्यापारों हि भाव' कृतक उच्यते। (२) कृतकत्त्व हेतु अनित्य शब्द का धर्म मानने पर असिद्ध, नित्य शब्द का धर्म मानने पर विरुद्ध एव नित्यानित्य शब्द का धर्म मानने पर अनैकान्तिकदोष से दूषित होता है।

सामान्य से उसका अस्तित्व सिद्ध है। साध्य-अनित्यत्वादिक धर्म ही उसमें संदिग्ध है। परन्तु तुम्हारा धर्मी-सर्वज्ञ रूप पक्ष-तो ऐसा नही है—उसकी तो सत्ता किसी भी रूप से प्रसिद्ध ही नहीं है। प्रसिद्ध धर्मी में ही साध्य विवादापन्न होता है। यहां धर्मी भी अप्रसिद्ध और साध्य भी असिद्ध। भला ऐसी हालत में "सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाण" यह हेतु उसका भावस्वरूप धर्म कैसे हो सकता है।

आ० मी० ४२ जैन—तुम जो शब्दत्वरूप सामान्य से शब्द रूप धर्म की प्रसिद्धि मानकर उसका धर्म कृतकत्व को मान रहे हो और इस अपेक्षा में उसमें असिद्धता का परिहार कर रहे हो सो इस पर हमारा यह आक्षेप है कि शब्द रूप धर्मी में जो शब्द को पक्ष बनाया है उसमें सकल देश एवं सकल कालवर्ती शब्दो को ही तो पक्ष बनाया गया है जब सकल देश और सकल कालवर्ती शब्द पक्ष कोटि में उपस्थित किये गये हैं तो फिर तुम कैसे कह सकते हो कि पक्ष की तो हमारे यहां प्रसिद्धि है, कारण कि क्षणिक सिद्धान्त में सकल देश एवं सकल कालवर्ती शब्दो की प्रसिद्धि ही नहीं है। वे तो वहां अप्रसिद्ध हैं। यदि परोपगम से सकल शब्दों की सिद्धि मानकर शब्दरूप धर्मी प्रसिद्ध है ऐसा माना जाय तो परोपगम स्वरूप हमारा सर्वज्ञ रूप पक्ष भी प्रसिद्ध क्यों न मान लिया जाय अर्थात् सर्वज्ञ रूप धर्मी भी हमारे मानने से तुम्हे प्रसिद्ध धर्मी मान लेना चाहिये। तथा च-सुनिश्चितासंभवद्बाधकत्व हेतु उसका धर्म हो जायगा और प्रसिद्ध धर्मी का भाव स्वरूप धर्म होने से उसमें उद्भावित असिद्धता का भी परिहार हो जायगा। धर्मी प्रसिद्ध होता है इसका मतलब क्या है? क्या सर्व प्रकार से जिसकी सत्ता प्रसिद्ध हो ऐसा धर्मी प्रसिद्ध होता है या कथंचित् जिसकी सत्ता प्रसिद्ध हो ऐसा धर्मी प्रसिद्ध होता है। प्रथम पक्ष को लेकर यदि धर्मी प्रसिद्ध माना जाय तो शब्दादिक धर्मिकोटि में नहीं आ सकते है क्योंकि वे विधेय साध्य धर्म की अपेक्षा से अप्रसिद्ध विशेषणवाले होने से सर्वथा प्रसिद्ध नहीं हैं। यदि कथंचित्-किसी अपेक्षा से-प्रसिद्ध सत्ता वाला धर्मी प्रसिद्ध माना जाता है यह बात कबूल की जाय तो शब्दत्व सामान्य से प्रसिद्ध शब्द धर्मी की तरह प्रसिद्ध आत्मत्वादि विशेषण से सत्ताविशिष्ट तथा सर्वज्ञ रूप विशेष उपाधि से अप्रसिद्ध-रहित-ऐसी आत्मा को धर्मि कोटि में रहने से हमारा पक्ष भी सर्वथा अप्रसिद्ध सत्तावाला नहीं है, इसलिये

आ० मी० ४३

अनुमान प्रयोग में "अस्ति कश्चित् सर्वज्ञ" इस प्रकार से पक्ष का प्रयोग हुआ है। दूसरे-कारिकाकार ने तो सूक्ष्मादयः कस्यचित्प्रत्यक्षाः अनुमेयत्वात्" ऐसा ही अनुमान प्रयुक्त किया है। इसमें धर्मी सूक्ष्मादिक पदार्थ हो हैं फिर भी सर्वज्ञ के विषय में उसे धर्मी मानकर जो कुछ यहाँ तक मीमांसक के साथ परस्पर में विचार विनिमय हुआ है उसका कारण इस अनुमान का फलितार्थ है।

मीमासक—सूक्ष्मादिक पदार्थों को आप इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से किसी के प्रत्यक्ष सिद्ध करना चाहते हैं या अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से ? इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से सूक्ष्मादिक पदार्थ किसी के प्रत्यक्षज्ञान के विषयभूत नहीं हो सकते हैं कारण कि सूक्ष्मादिक पदार्थों के साथ इन्द्रियों का सर्वथा सबध ही नहीं हो सकता है। जिनके साथ इन्द्रियो का सबंध होता है वे ही इन्द्रियो द्वारा जन्य प्रत्यक्ष के विपयभूत होते हैं-जैसे घटादिक। सर्वथा इन्द्रियों के साथ सबध से रहित सूक्ष्मादिक पदार्थ हैं, इसलिये वे किसी के भी उसके इन्द्रिय जन्य ज्ञान के विषयभूत नहीं हैं। अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष से सूक्ष्मादिक पदार्थ किसी के प्रत्यक्षज्ञान के विषय होते हैं यदि ऐसा द्वितीय पक्ष अंगीकार किया जाय तो इसमें पक्ष अप्रसिद्ध विशेपणवाला हो जाता है। "सूक्ष्मादिक पदार्थ" यह पक्ष है इसका विशेषण "अतीन्द्रिय प्रत्यक्षगम्य" यह है। अप्रसिद्ध यह इसलिये कहा गया है कि अभी तक ऐसा प्रत्यक्ष प्रसिद्धि कोटि में नहीं आया है जो इन्द्रियों के बिना भी उद्भूत् हुआ हो। दूसरे अग्न्यादिक दृष्टान्त भी जो इन्द्रिय जन्य प्रत्यक्ष का विषयभूत है अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष को साध्य में रखने पर साध्य विकल हो जाता है।

समाधान—यह आशका ठीक नहीं है। कारण कि प्रत्यक्षसामान्य से ही सू .ादिक पदार्थों में कस्यचित्प्रत्यक्षता साध्य की गई है। हमने स्वयं सूक्ष्मादिकों को इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से प्रत्यक्ष माननेवालों के प्रति अनेक दोषो का उद्भावन किया है। जब यह बात स्थिर हो जाती है कि सूक्ष्मादिक पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं और जिसके ये प्रत्यक्ष है वही सर्वज्ञ है तो इस हालत में उन पदार्थों के ज्ञाता का जो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है वह न तो इन्द्रिय जन्य है और न अनिन्द्रिय जन्य है। इस प्रकार जब उसमें इन्द्रिय और अनिन्द्रिय की अनपेक्षा युक्ति के बल पर पुष्ट हो जाती है तो वह

उसका प्रत्यक्ष सामर्थ्य से अतीन्द्रिय१ है इस विशेष वात की पुष्टि हो ही जाती है ।

शका—सूक्ष्मादिक पदार्थो को साक्षात् विषय करने वाला यह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष आप किसके सिद्ध करना चाहते हैं ? क्या अर्हत् भगवान् के या अनर्हत् के अथवा अर्हत् अनर्हत् विशेषानपेक्ष किसी सामान्य आत्मा के ? यदि यह विप्रकृष्ट-सूक्ष्मादिक-पदार्थों को विषय करनेवाला प्रत्यक्ष अर्हत भगवान् के है यह साध्य करना चाहते हैं तो "सूक्ष्मादयोऽर्था
आ० अर्हतः प्रत्यक्षा." इस प्रकार से प्रतिज्ञा होने पर वह अप्रसिद्ध विशेषण वाली हो जाती है । क्योंकि इस प्रतिज्ञारूप
मी० पक्ष का विशेषण जो अर्हत् प्रत्यक्ष है वह किसी भी प्रमाण से प्रसिद्ध नहीं है, दूसरा दोष यह आता है कि अनुमेयत्व
४४ हेतु की "यत्र २ अनुमेयत्वं तत्र २ अर्हत प्रत्यक्षत्वं" इस प्रकार की व्याप्ति भी नहीं वन सकती है । यदि सूक्ष्मादिक पदार्थों को विषय करनेवाला प्रत्यक्ष आप अनर्हत्-अर्हत् के सिवाय कपिलादिको-मे सिद्ध करना चाहते हैं तो इस हालत मे अनिष्ट का अनुपङ्ग प्रसक्त होता है, क्योंकि आपको तो इस प्रकार का प्रत्यक्ष उनमें सिद्ध करना इष्ट नहीं है । तृतीय पक्ष की अर्हत् और अनर्हत के सिवाय सामान्य आत्मा और कौन है कि जिसकी संभावना २ मानकर उसमें यह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष साधा जा सके । अतः इस प्रकार से विचार करने पर " न कश्चित् सूक्ष्मादिसाक्षात्कारी पुरुपत्वाद्. रथ्यापुरुपवत् " रथ्यापुरुप की तरह कोई भी मानव सूक्ष्मादिक पदार्थों का साक्षात् ज्ञाता नहीं है, क्योंकि वह पुरुष है इस अनुमान द्वारा सर्वज्ञ का निषेध रूप या ' विवादापन्न पुरुष सूक्ष्मादिसाक्षात्कारित्वेन सशयित एव विप्रकृष्टस्वभावत्वात् पिशाचादिवत् " विचारस्थ पुरुप, विप्रकृष्ट स्वभाववाला होने से पिशाचादिक की तरह सूक्ष्मादिक पदार्थों के साक्षात्कर्त्ता के रूप में सशयित ही है इस अनुमान द्वारा उसका संशयित रूप फलित होता है ।

१—योगिप्रत्यक्षं इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं सूक्ष्माद्यर्थविषयत्वात् । यन्नेन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षं तन्न सूक्ष्माद्यर्थविषय दृष्ट यथाऽस्मदादिप्रत्यक्षम् सूक्ष्माद्यर्थविषय च योगिनःप्रत्यक्ष सिद्ध तस्मादिन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षम् ।

२—यदि विप्रकृष्टार्थप्रत्यक्षत्व अर्हत साध्यते पक्षदोषोऽप्रसिद्धविशेषणत्वम् तत एव व्याप्तिर्न सिद्धयेत् । अनर्हतश्चेत् अनिष्टानुपङ्गोऽपि । कः पुनः सामान्यात्मा तदुभयव्यतिरेकेण यत्र विवक्षितार्थप्रत्यक्षत्वम् । इत्येतद्विकल्पजाल शब्दनित्यत्वेऽपि समान न केवलं सूक्ष्मादिसाक्षात्करणस्य प्रतिषेधने सशीतौ वा तदयमनुमानमुद्रां भिनत्ति ।

उत्तर—इस प्रकार के मिथ्या विकल्पजालों का विषय बनाकर जो आप विप्रकृष्ट पदार्थों के ग्राहक प्रत्यक्ष—अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष—का अपलाप—विध्वंस—करना चाहते है सो यह बात उचित नहीं है, कारण कि इस प्रकार के मिथ्या विकल्प उठाकर तो प्रत्येक अनुमान का विपय अपलपित किया जा सकता है। और इसका फल यह हो सकता है कि इससे किसी भी अनुमान का उत्थान नही हो सकता है। तथा—जिस प्रकार से विकल्पो का विषय बनाकर तुम इस अनुमेयत्व का साध्य विप्रकृष्ट पदार्थों के ग्राहक अतीन्द्रिय प्रत्यक्षका अपलाप करना चाहते हो-उसी प्रकार शब्द को नित्यत्व साध्य करने के लिए प्रयुक्त जो अकृतकत्व आपके प्रसिद्ध अनुमान का हेतु है उसके विषय मे भी हम इस प्रकार के मिथ्या-विकल्प उठाकर तुम से यह पूछ सकते है कि शब्दों को जो आपके यहां अकृतकत्व १ हेतु द्वारा नित्य सिद्ध किया गया है—सो कौन से शब्दो को नित्य सिद्ध किया है-क्या जो सर्वगत शब्द-व्यापक शब्द है उन्हे नित्य सिद्ध किया है या जो अव्यापक शब्द हैं उन्हे नित्य सिद्ध किया गया है अथवा सर्वगत असर्वगत विशेष निरपेक्ष सामान्य शब्द को ही नित्य सिद्ध किया गया है ! यदि प्रथम पक्ष कबूल किया जाय तो पक्ष अप्रसिद्ध विशेषण वाला होने से सदोष सिद्ध होता है। क्योकि वर्णों मे अभीतक सर्वगतता प्रसिद्ध ही नहीं है। असर्वगत वर्णों मे नित्यता साध्य करने पर अनिष्ट का अनुषग प्रसक्त होता है। कारण कि मीमांसक—आपके-सिद्धान्त मे नित्य वर्णों को ही व्यापक माना गया है। इन दोनों के अतिरिक्त सामान्य शब्द अब ऐसा और कौन बचता है जो इन दोनो पक्षो के प्रसक्त दोषो के उद्धार करने के लिए कल्पित किया जा सके। और भी बहुत सी ऐसी बातें हैं जिन पर मिथ्या विकल्प उठाकर आक्षेप किया जा सकता है। यदि इन आक्षेपों को हटाने के अभिप्राय से आप जो यों कहे कि सर्वगत असर्वगत यह चर्चा तो शब्द में नित्यता सिद्ध हो जाने के बाद की बात है उसे सिद्ध करने के लिये भिन्न हेतु दिया जायगा—हम तो अभी सिर्फ अकृतकत्व हेतु से सर्वगत असर्वगत निरपेक्ष सामान्य शब्द में ही नित्यता सिद्ध करते है। सर्वगत असर्वगत शब्दों के विशेष धर्म सिद्ध करना यहां प्रस्तुत नही

---

१ वर्णाना नित्यत्वमकृतकत्वादिना सर्वगताना यदि साध्यति स्यादप्रसिद्धविशेषणः पक्षः इतरथाऽनिष्टानुषगः। कीदृक् पुन सामान्य नाम यदुभयदोषप्रसगपरिहाराय कल्प्येत ॥अष्टशती॥

है तो बस हमारा भी यही कहना है कि हम भी अनुमेयत्व हेतु द्वारा सूक्ष्मादिक पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं इतना ही सिद्ध करते है। जब सूक्ष्मादिक पदार्थों मे इस हेतु द्वारा कस्यचित् प्रत्यक्षता सिद्ध हो जायेगी तव यह आगे की बात होगी कि वह सूक्ष्मादिक पदार्थों को प्रत्यक्ष करनेवाला प्रत्यक्ष किसके है अर्हंत् के है या अनर्हंत् के है इत्यादि। इसकी सिद्धि के लिये हेतु भिन्न होगा। अत यह हेतु निरवद्य रूप से कस्यचित् प्रत्यक्षता सूक्ष्मादिक विप्रकृष्ट पदार्थों में सिद्ध करने में पटिष्ठ है। ऐसा मानना चाहिये। अथवा-" अनुमेयत्वात् " इसका अर्थ " श्रुतज्ञानाधिगम्यत्वात् " ऐसा भी होता है। इसमें न तो जैनों को कोई विवाद है और न सर्वज्ञाभाववादी मीमांसकों को ही। क्योंकि मीमांसकों का यह सिद्धान्त है कि " चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्म व्यवहित विप्रकृष्टमित्येव जातीयकमर्थमवगमयितुमलमिति " एक वेद ही भूत भविष्यत्कालिक सूक्ष्मादिक पदार्थों को प्रकट करने में शक्त है। इसलिये भी यह अनुमेयत्व हेतु निर्दोष है और अपने साध्य को सिद्ध ही करता है।

पाचवीं कारिका द्वारा स्वामी समन्तभद्राचार्य सामान्यतया सर्वज्ञ की सिद्धि करके इस छठवी कारिका द्वारा अब यह सिद्ध कर रहे हैं कि वह सर्वज्ञता अर्हंत में ही है। अन्यत्र नहीं।

स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥ ६ ॥

अन्वय–युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् स त्व एव निर्दोषः असि। यत् ते इष्ट (तत्) प्रसिद्धेन न बाध्यते (अतः) अविरोधः।

अर्थ—हे नाथ ! युक्ति और आगम से आपके वचनों में किसी प्रकार का विरोध नहीं आता है ! इसलिये आप ही अज्ञान, राग एव द्वेषादि से सर्वथा रहित–सर्वज्ञ वीतराग–हो। आपके इष्टतत्त्व–मुक्ति, मुक्ति के कारण, ससार और ससार के कारण—ये तत्त्व प्रसिद्ध—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—प्रमाणो द्वारा बाधित साबित नहीं होते हैं, इसी लिये आपके बचन विरोध रहित हैं।

भावार्थ—चतुर्थ एवं पचम कारिकाओ द्वारा सामान्यता प्रतिपादित--साधित--सर्वज्ञत्व एव वीतरागत्व को

किसी एक विशेष आत्मा में प्रख्यापित करने के अभिप्राय से स्वामी समन्तभद्राचार्य युक्ति और आगम के बल पर यह कह रहे हैं कि नाथ ! अज्ञानादि राग द्वेषादिकों के सर्वथा अभाव से और सूक्ष्मादिक विप्रकृष्ट पदार्थों के साक्षात् प्रत्यक्ष से जो वीतरागता एव सर्वज्ञता आत्मा में उद्भूत होती है उसके असाधारण धनी आप ही हैं। दूसरा नहीं। कारण कि आपके वचनो में युक्ति और आगम से विरोध का दर्शन तक भी नहीं होता है। कारिका में " निर्दोष " पद से "सर्वज्ञ" और " वीतराग " का ग्रहण हुआ है। आत्मा वीतराग एवं सर्वज्ञ बन सकता है यह बात दलीलों के साथ चतुर्थ एव पचम कारिका में अच्छी तरह से स्पष्ट करने में आ चुकी है। उसी निर्दोषत्व की कि जो अभी तक सामान्य रूप से ही वर्णित हुआ है—किसी खास विशेष आधार में—जिसकी स्थिति प्रकट करने में नहीं आई है—ऐसे किसी खास आधार में स्थापित करने के लिहाज से साध्य कोटि में रखा गया है। "युक्ति—शास्त्रा विरोधिवाक्" यह प्रथमान्त पद हेतुपरक रूप से निर्दिष्ट हुआ है। इस हेतुद्वारा निर्दोषता सिद्ध करने के लिए यद्यपि कारिका मे दृष्टान्त पद का प्रयोग नहीं हुआ है तो भी कारिकाकार ने स्वयंभूस्तोत्र मे इस विषय को स्पष्ट करने के लिए " वैद्य " को दृष्टान्त के स्थान पर ग्रहण १ किया है। यह बात मानी हुई है कि जो जहां पर युक्ति और शास्त्र से अविरोध वचन संपन्न होता है वह वहां निर्दोष होता है। जिस प्रकार व्याधि के उपशमन करने में वैद्य। इसी प्रकार मुक्ति, मुक्ति के कारण, संसार और संसार के कारणों में युक्ति और शास्त्र से विरोध रहित वचन वाले भगवान् है। इसीलिये वे वहां निर्दोष है। इस प्रकार युक्ति और शास्त्राविरोधवाक् द्वारा परमात्मा में निर्दोषत्व की सिद्धि करके इस हेतु को सिद्ध करने के लिये "यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते " इस उत्तरांश का अवतरण हुआ है। " मेरे वचन युक्ति और आगम से अविरुद्ध है इसमें प्रमाण क्या " इस प्रश्न का उत्तर इसमें दिया गया है। यहां " युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् " को साध्य कोटि में रखा है। तथा " इष्टस्य प्रसिद्धेनाबाध्यमानत्वात् " इसे हेतु परक रक्खा है। हे नाथ ! आपके वचन युक्ति और आगम इन दोनों से अविरुद्ध

---

१ त्वं सभव· सभवतर्षरोगैः सतप्यमानस्य जनस्य लोके । आसीरिहाकस्मिक एव वैद्यो वैद्यो यथा नाथ । रुजा प्रशान्त्यै ।। स्वयभूस्तोत्र मे सभवनाथस्तुति

इसलिये हैं कि आपके अभिमत तत्त्व किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होते हैं। जहां जिसका अभिमत तत्त्व प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है वह वहां युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाला होता है। जैसे वैद्यप्रवर अपने अभिमत तत्त्व में–रोग, स्वास्थ्य एवं इनके कारणों में–प्रसिद्ध प्रमाण से अबाध्यमान होने से युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाला होता है। आपके भी अभिमत तत्त्व प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होते हैं। इसलिए आप उस विषय में युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाले हैं। किस प्रकार से-सो ही संक्षेप से प्रकट किया जाता है, प्रभु का अभिमत मोक्षतत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से इसलिए बाधित नही होता है कि वह उसका अविषय है। जो जिसका अविषय होता है वह उसका न तो बाधक होता है और न साधक ही। यदि कहा जाय कि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष मोक्ष तत्त्व का बाधक नहीं है तो न सही-अनुमान तो उसका बाधक है और वह अनुमान यह है " नास्ति कस्यचिन्मोक्षः सदुपलभक प्रमाणपचकाविपयत्वात् कूर्मरोमादिवत्" जिस प्रकार कूर्मरोमादिक का सत्ता के साधक प्रमाण पंचक का अविषय होने से अभाव हैं उसी प्रकार इस मोक्ष का भी सत्ता के साधक प्रमाणपंचक का अविपय होने से अभाव है। जब इसका साधक कोई प्रमाण ही नही है तो फिर इसकी सत्ता मानी भी कैसे जा सकती है! अतः मुक्ति की प्राप्ति किसी को होती है ऐसा कहना उचित नहीं है।,, सो ऐसा कहना युक्तियुक्त नही है, कारण कि यह बात चतुर्थ कारिका द्वारा स्पष्ट कर दी गई है कि दोष और आवरणो का क्षय ही कि जिसका फल अनन्त ज्ञानादि स्वरूप का लाभ है और जिसकी प्रसिद्धि प्रमाणताविशिष्ट अनुमान एवं आगम से पुष्ट की जा चुकी है मोक्ष है। आगम में भी यही कहा है कि "बन्धहेत्वभाव निर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमक्षो मोक्षः" नवीन कर्मों के बन्ध के हेतुओ के अभाव एव संचित् कर्मों की निर्जरा से समस्त कर्मों का सर्वथा आत्मा से जो विप्रमोक्ष है वही मोक्ष है। अत मुक्ति को प्रमाण पचक का अविषय मानना कथमपि युक्ति संगत नहीं है! इसी प्रकार मुक्ति का कारणतत्त्व भी किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है। प्रत्यक्ष से यह बात नहीं जानी जा सकती है कि मोक्ष अकारणक है। अनुमान से मुक्ति सकारणक ही सिद्ध होती है। "सकारणको मोक्षः प्रतिनियतकालादित्वात् पटादिवत्' यदि मुक्ति अकारणक माननेमें आवेगी तो इसकी प्राप्तिके सद्भावका सर्वदा सर्वत्र

सर्वत्र समस्त जीवो के प्रसग आयगा। तथा च भव्य और अभव्य भेद का विलोप हो जायगा। " सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः,, यह आगम वाक्य सकारणक मुक्ति का ही समर्थन करता है, अत आगम प्रमाण से भी मुक्ति के कारण का अस्तित्व प्रथित होता है। इस प्रकार मुक्ति और मुक्ति के कारण रूप तत्त्व किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित साबित नहीं होते हैं।

प्रभु-द्वारा प्रतिपादित ससार तत्त्व भी किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है-कारण कि प्रत्यक्ष तो बाधक उसका इसलिये नही है कि प्रत्यक्ष से संसार के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती है। अपने द्वारा उपात्त कर्म के वश से आत्मा को एक भव से दूसरे भव की प्राप्ति का नाम ससार हैं। यह ससार प्रत्यक्ष का विषय कैसे हो सकता है कि जिससे वह उसका बाधक बन सके। संसार के अभाव रूप साध्य के साथ प्रतिबद्ध लिंग का अभाव होने से अनुमान भी संसार का अभाव प्रकट नहीं कर सकता हैं।

चार्वाक—संसार के अभाव का साधक कोई अनुमान नहीं है यह आपका कहना ठीक नही है। कारण कि "गर्भादिमरणपर्यन्तचैतन्यविशिष्टकायात्मनः पुरुषस्य जन्मन पूर्व मरणाच्चोत्तरं-नास्ति भवान्तरम् अनुपलब्धेः खपुष्पवत्" १ अनुपलब्धि होने से खपुष्प की तरह गर्भ से लेकर मरण पर्यन्त चैतन्य विशिष्ट शरीर स्वरूप आत्मा का जन्म के पूर्व और मरण के बाद कोई भवान्तर-नया जन्म-नहीं हैं-मतलब इसका यह है कि यह चैतन्यविशिष्ट शरीर ही आत्मा है इसका विनाश होते ही जीव-आत्माका-भी विनाश हो जाता है, परलोक में जाने वाला ऐसा कोई भी जीव तत्त्व नहीं है- इसलिये जन्म के पहिले और मरण के बाद उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। फिर भव से भावान्तर रूप जो संसार है-उसका सद्भाव कैसे सिद्ध हो सकता है? नहीं हो सकता है। अत संसार के अभाव का आवेदक यह अनुमान है। फिर आप कैसे कहते हो कि संसार के आभाव का ग्राहक कोई अनुमान नहीं है!

आ० मी० ५०

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि "प्राणिनामाद्यं चैतन्यं चैतन्योपादानकारणकं चिद्विवर्तत्वात् मध्यचैतन्यविवर्तवत्, तथा अन्त्यचैतन्यपरिणामश्चैतन्यकार्यं तत एव तद्वत्[1]" मध्य-युवावस्था आदि के चैतन्य रूप विवर्त पर्याय—की तरह प्राणियो का आद्य चैतन्य, चैतन्य है उपादान कारण जिसका ऐसा है क्योकि वह चैतन्य का विवर्त है। तथा-अन्त अवस्था का चैतन्य,चैतन्य है कार्य जिसका ऐसा है चिद्विवर्त होने से मध्यचैतन्य विवर्त की तरह। इन दोनो अनुमानों का मतलब यह है कि जो अभी पहिले चार्वाक ने यह कहा था कि चैतन्यविशिष्ट कायस्वरूप जीव के अतिरिक्त गर्भ के आदि में और मरण के उत्तर काल में कोई स्वतन्त्र जीव तत्त्व नहीं है उस के ऊपर यह बतलाया जा रहा है कि जिस प्रकार युवावस्था आदि के चैतन्यरूप विवर्त का उपादानकारण बालक अवस्था आदिका चैतन्य है उसी प्रकार जन्म अवस्था का चैतन्य रूप विवर्त पूर्व का चैतन्य जिसका उपादान कारण है ऐसा है क्योकि यह भी चैतन्य का विवर्त है। इसी प्रकार अन्त अवस्था का भी चैतन्य, चैतन्य जिसका कार्य है ऐसा है। अतः यह कहना कि जन्म के पहिले और मरण के बाद चैतन्य जीव का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है-सो ऐसा कहना उचित नहीं है। यदि इस पर चार्वाक यों कहें कि चैतन्योपादान कारणक ही चैतन्य है ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती हैं, क्योंकि अचेतन गोमयादिक से भी वृश्चिकादिक चैतन्य का उत्पाद देखा जाता है- सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि अचेतन गोमयादिक से वृश्चिकशरीर का ही उत्पाद होता है, वृश्चिक चैतन्य का नहीं। वह तो पूर्व चैतन्य रूप विवर्त से ही उत्पन्न हुआ माना गया है।

चार्वाक—यदि ऐसा मान लिया जाय कि जिस प्रकार मुसाफिरी करते समय मुसाफिर लोग अरणि के निर्मथन से अग्नि उत्पन्न कर लेते हैं फिर बाद में उस अग्नि मे और भी दूसरी अग्नि उत्पन्न हो जाती है-तो जैसे यहां प्रथम अग्नि अनग्नि पूर्वक होती हुई देखने में आती है और बाद की अग्नि अग्न्युपादानपूर्वक-उसी प्रकार आद्य-आदि का

---

[1] अष्टसहस्री

चैतन्य-शरीराकार परिणत भूतचतुष्टय से उद्भूत मान लिया जाय और बाद का चैतन्य उस चैतन्य रूप उपादान
ग कारण पूर्वक मान लिया जाय। इसमें कोई विरोध भी नहीं आता है।

1056 जैन-समाधान—सो ऐसा कहना भी युक्ति संगत नहीं है। कारण कि जो वह प्रथम पथिकाग्नि है वह अनग्नि
पूर्वक नहीं है वह भी अग्नि पूर्वक ही है। अरणि को रगड़ से जो वह उत्पन्न हुई है सो उस अरणि में पावक तिरोहित
आ० है। यदि ऐसा न माना जाय और यही कहा जाय कि प्रथम पथिकाग्नि अनग्न्युपादानक है तो तुम्हारे यहां जो भूत चतु-
मी० ष्टय मानने में आया है उसकी व्यवस्था ही नही बन सकती, कारण कि जिस प्रकार अग्नि अपने उपादान के विना उद्भूत
हो जाती है उसी प्रकार जलादिक भी अपने उपादान कारण के विना उद्भूत हो जायेंगे -तथा च जल का अजलादिक
५१ पृथिव्यादिक—भी उपादान होने लगने से परस्पर में भूत चतुष्टय में उपादानोपादेयभाव का प्रसग दुर्निवार हो जायगा।
इस तरह से पृथिव्यादिक विवर्त वाला एक ही पुद्गल तत्त्व सिद्ध हुआ मानना पड़ेगा। भिन्न २ चार तत्त्व नहीं। यदि
तत्त्व चतुष्टय की व्यवस्था सिद्ध करने के लिये कहा जाय कि इनमें परस्पर में उपादानोपादेयभाव मानता ही कौन
है-हमने तो इसका परस्पर में सहकारिभाव स्वीकार किया है। अतः पृथिवी आदि विवर्त वाला एक पुद्गल तत्त्व कैसे
अवस्थित हो सकता है। परस्पर सहकारिभाव की मान्यता में तत्त्व चतुष्टय की व्यवस्था बन जाती है।

जैन समाधान-ठीक है। तो फिर प्रथम पावक इस प्रकार की मान्यता से अपावकोपादानक कैसे सिद्ध हो
सकता है, नहीं हो सकता है। अत इसको दृष्टान्त कोटि में रखकर आप प्रथम चैतन्य को अचेतनोपादानक कैसे सिद्ध
कर सकते हैं। आपको तो यही मानना चाहिये कि जिस प्रकार अरणि के निर्मथन काल में प्रथम आविर्भूत पावक उसमें
अरणि में —तिरोहित पावकान्तर पूर्वक है उसी प्रकार से आविर्भूत स्वभाव वाला गर्भ गत चैतन्य भी तिरोहित चैतन्य
पूर्वक है। मतलब इसका यही है कि जिस प्रकार अरणि का निर्मथन उस में तिरोहित हुए पावक की आविर्भूति में सह-
कारी कारण है उपादान कारण नहीं उसी प्रकार प्रथम चैतन्य की आविर्भूति में सहकारी कारण तत्त्व चतुष्टय भले रहें
एतावता वे उसके उपादान कारण थोड़े ही हो सकते हैं। उपादान कारण तो उसका तिरोहित चैतन्य ही माना जायगा

और वह तिरोहित चैतन्य अन्त समयका चैतन्य ही है, अन्य कुछ नहीं ।

चार्वाक—आप तो प्रत्यक्ष का अपलाप कर रहे है—अरे ! जब सहकारी मात्र से-अरणि निर्मंथन मात्र से-ही प्रथम पथिकाग्नि की उद्भूति स्पष्ट रूप से अनुभव में आती है-तब उस बात को न मानकर उसकी उद्भूति का एक उसमें तिरोहित दूसरी अग्नि को उपादानरूप से कारण मानना यह बात साबित नहीं होती ?

जैन समाधान—इसमें प्रत्यक्ष के अपलाप करने की बात ही भाई ! कौनसी है । हमारा तो यह कहना है कि बिना उपादान के किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है । उपादान है तभी जाकर वहां सहकारी अपना काम करता है । अन्यथा नहीं ।

चार्वाक—शब्द विद्युत आदि की तो उत्पत्ति विना अपने उपादान के भी देखने में आती है । ऐसा थोडे ही है कि शब्द का उपादान अन्य शब्द तथा बिजली का उत्पादक अन्य दूसरी अपने से पूर्व में रही बिजली हो ।

जैन समाधान—हां, शब्द बिजली आदि भी सोपादनक है । देखो—" जितने भी कार्य होते है वे सब अपने उपादान सहित ही होते है— जैसे घटादिक " । यद्यपि घटादिक के उपादान की तरह उनका उपादान कारण दृष्टिगत नहीं होता है परन्तु, इस अनुमान से वह उपादान अनुमित किया जाता है । इस प्रकार शब्दादिक कि जिनका उपादान कारण अदृश्य है सोपादानक ही साधित होते है । उपादान अदृश्य होने से उसका अभाव नहीं कहा जा सकता । वह अपने कोई न कोई सजातीय रूप में ही रहता है ।

चार्वाक—खैर, अग्नि का उपादान अग्नि रहो । परन्तु यह नियम चैतन्य की उत्पत्ति में लागू नहीं होता कारण कि चैतन्य का उपादान भूत- तत्त्वचतुष्टय—माना गया है ।

जैन समाधान—तुम्हारे मानने से क्या होता है । युक्ति सिद्ध बात ही संसार में मानी जाती है ! सोचो तो सही भूत में और चैतन्य में सम्बध ही क्या है । ये दोनो तत्त्व सर्वथा विजातीय हैं ।

और पावक भी भिन्न भिन्न लक्षणों द्वारा परस्पर में भिन्न सिद्ध माने गये हैं। रूप, रस, गंध और स्पर्श इन चार गुण वाले क्षित्यादिक भूत हैं और स्वसवेदनगुणवाला चैतन्य है। फिर इनमें सजातीयता कैसे आ सकती है। विजातीय से सजातीय की उत्पत्ति थोडे ही होती है। सजातीय से ही सजातीय उत्पन्न होता है। भूतो में स्वसंवेदनता इसलिये नहीं है कि वे असमदादिक अनेक प्रतिपत्ताओ के प्रत्यक्ष के विषय हैं। चैतन्य ऐसा नहीं है-अतः एक वही ज्ञान की तरह स्वसवेदन गुणवाला है। ज्ञान स्व सवेदी है इसमे प्रमाण यह है कि वह बहि अर्थ का परिच्छेदक १ है। यदि वह स्वसंवेदी न हो तो घटादिक की तरह अन्य बाह्य पदार्थ का परिच्छेदक नहीं हो सकता। दीपक के द्वारा इस कथन में व्यभिचार नही आ सकता—कारण कि दीपक तो बाह्य अर्थ का प्रकाशक होता है न कि उसका परिच्छेदक। यदि इस पर यो कहा जाय कि यदि दीपक बाह्य पदार्थ का परिच्छेदक न होता तो ज्ञान मे स्वपर व्यवसायता सिद्ध करने के लिये इसका दृष्टान्त आचार्यो ने क्यो दिया-सो इसका मतलब यह है कि जिस प्रकार बाह्य अर्थ को जाननेवाले ज्ञान की उत्पत्ति मे साधक-निमित्त कारण होने से इन्द्रियो में पदार्थ के परिच्छेदकत्त्व का उपचार किया जाता है उसी प्रकार दीपक मे भी समझना चाहिये। वास्तव में यह दृष्टान्त तो ज्ञान में स्वपर प्रकाशता के लिये ही दिया है। दीपक को प्रकाशित करने के लिए जिस प्रकार अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं है, वह स्वप्रकाशी है—उसी प्रकार ज्ञान को भी अपने आप का प्रकाशन करने के लिए अन्य कारण-ज्ञान-आदि की आवश्यकता २ नहीं है वह भी स्वप्रकाशी है।

आ० मी० ५३

शंका—ज्ञान पर-पदार्थ का प्रकाशक व्यवसायक-होता है यह बात तो समझ में आ जाती है। परन्तु वह स्वव्यवसायक भी है यह बात समझ मे नही आती कारण कि "स्वात्मनि क्रियाविरोधत्" अपने आप में क्रिया का विरोध

१—ज्ञान स्वसवेदि बहिरर्थपरिच्छेदकत्वान्यथानुपपत्ते।

भट्ट एव मीमासको ने ज्ञान को स्वप्रकाशक नही माना है, अतः उनके मतानुसार ज्ञान परोक्ष-अपने आपको नही जाननेवाला-है। ज्ञान का ज्ञान अर्थप्राकट्य से होता है। इसी प्रकार प्रधान का परिणाम होने से ज्ञान को अस्वसंवेदी सांख्यों ने माना है। नैयायिकों ने इसे ज्ञानान्तर वेद्य माना है।

है। कितना ही सुशिक्षित नट का वटु हो पर वह अपने स्कंध पर नहीं चढ़ सकता है।

उत्तर--यह कहना ठीक नहीं हैं। कारण कि अपने आप में जो तुम क्रिया का विरोध कह रहे हो सो कौन सी क्रिया का विरोध कह रहे हो, क्या धात्वर्थ लक्षणवाली क्रिया का, या परिस्पन्दात्मक क्रिया का ? अपने आप में धात्वर्थ लक्षणवाली क्रिया का विरोध नहीं होता है। अन्यथा क्षिति आदि में भी इस क्रिया के होने का विरोध मानना पडेगा। तथा च "प्रासादो भवति" इत्यादि प्रत्यक्षो के अभाव का प्रसंग दुर्निवार हो जायगा। यदि इस पर यों कहा जाय कि उत्क्षेपण अपक्षेपण आदि रूप परिस्पदात्मक क्रिया का विरोध स्वात्मा में होता है, तो इस पर फिर भी यह प्रश्न होता है कि क्रिया का स्वात्मा क्या है ? क्रियात्मा-क्रिया का स्वरूप ही-यदि क्रिया का निज आत्मा है तो इसका उसमें विरोध कैसा। स्वरूप तो विरोधक होता नहो है। अपने स्वरूप में अपना विरोध कौन बुद्धिमान स्वीकार करेगा। विरोध-दो पदार्थों में रहने वाला होता है। स्वरूप और स्वरूपवान् ये दो विरोधी पदार्थ थोडे ही हैं कि जिससे उन दोनों में परस्पर विरोध हो सके। अन्यथा--दुनिया में जितने भी पदार्थ हैं उनमें भी अपने स्वरूप के साथ विरोध का प्रसंग मानना पडेगा। इस परिस्थिति में अपने स्वरूप के साथ विरोध होने के कारण उनमें निःस्वरूपता आजाने से पदार्थों के अस्तित्व से ही हाथ धोना पड़ जायगा। यदि कहा जाय कि क्रियाविशिष्ट आत्मा-जिसमें क्रिया है ऐसा द्रव्य--ही क्रिया का स्वात्मा है, उसमें इस क्रिया का विरोध है, सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है। कारण कि क्रियावान् में ही समस्त क्रियाए होती है और ऐसी ही प्रतीति होती है। अतः स्वात्मा में क्रिया के विरोध की मान्यता ठीक नहीं है। यदि क्रिया शब्द का अर्थ स्व को उत्पन्न करना माना जावे और इसी अर्थ को लेकर यह कहा जाय कि स्वात्मा में क्रिया का विरोध है तो यह बात हमें भी अभीष्ट है। परन्तु, हम यह थोड़े ही कहते हैं कि ज्ञान अपने आप अपने को उत्पन्न करता है। इसकी उत्पत्ति तो ज्ञानावरण कर्म आदि के क्षयोपशम विशेष से मानी गई है। अतः स्व कारण विशेष से निष्पद्यमान ज्ञान में, दीपक में स्व और पर को उद्योतन करनेवाले स्वभाव की तरह स्व और पर की प्रकाशन रूपता होने से स्वात्मा में क्रिया का विरोध कहना असिद्ध हो जाता है। दीपक में यही तो स्व और पर की

प्रकाशन रूपता है कि वह जैसे रूप-ज्ञान की उत्पत्ति में चक्षु इन्द्रिय को मदद पहुँचाता है और इसी से वह रूप का द्योतक कहा जाता है उसी तरह वह दीपक अपने रूप के ज्ञान की उत्पत्ति में भी ज्ञान को सहायता करता है अतः स्वरूप का द्योतक भी कहा जाता है। इसलिये ज्ञान स्व और पर के स्वरूप का परिच्छेदक है क्योंकि उससे स्व और पर के ज्ञान करते समय वही पर उसके द्वारा तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति देखी जाती है। यदि ज्ञान स्व और पर का परिच्छे-दक जो नहीं होता तो उससे तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति भी नहीं होती। अतः तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति से कि जिसका हेतु स्वपर का ज्ञान है यह बात अच्छी तरह पुष्ट हो जाती है कि ज्ञान स्व और पर का परिच्छेदक १ है। अतः यह कथन कि अन्तस्तत्वचेतन का लक्षण स्वसंवेदन है और यह लक्षण क्षित्यादि भूत चतुष्टय में असंभवित है बिलकुल निर्दोष है। इसलिये भूत और चैतन्य में जब भिन्न लक्षणता सिद्ध है तब यह बात भी प्रसिद्ध होती है कि वे जुदे २ तत्त्व है। जो जुदे २ तत्त्व हुआ करते हैं वे असजातीय होते हैं। तत्त्वान्तरता जब भूत और चैतन्य में है तब ये भी दोनो असजातीय—विजातीय हैं। विजातीयो में उपादान-उपादेय भाव नहीं हुआ करता है। जब ऐसा नियम है तो इनमें भी उपादानोपादेय भाव नहीं हो सकता है। अतः विजातीयता इनमें उपादानोपादेयभाव के अभाव को प्रथित करती है।

चार्वाक—आप भिन्न लक्षण रूप हेतु से जो भूत एवं चैतन्य मे तत्त्वान्तरता जुदा२ तत्त्वपना—सिद्ध करते हैं सो ठीक नही है कारण कि "यत्र२ भिन्न लक्षणत्वं तत्र२ तत्त्वान्तरत्वं" इस प्रकार की व्याप्ति बनती नही है। व्याप्ति नही बनने का कारण यह है कि देखो-किण्वादी—पिष्ट—गुड—धातकी आदि मदीरा के कारण—एव इनका मदिरा रूप परि-णाम इन दोनो मे भिन्नलक्षणता तो है—मदिरा में नशा को उत्पन्न करने की शक्ति है और किण्वादिकों में यह शक्ति नहीं है—परन्तु फिर भी इनमे तत्त्वान्तरता नही है, यह दोनो जुदे२ तत्त्व नही है। दोनों एक हैं।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नही है। कारण कि इनमे भिन्न लक्षणता है ही नही। जिस प्रकार मदिरा में

१—ज्ञान स्वपररूपयो: परिच्छेदक तत्राज्ञाननिवृत्तिहेतुत्वान्यथानुपपत्ते:।

मद को उत्पन्न करने की शक्ति रही हुई है उसी प्रकार किण्वादि में भी मदजनन शक्ति रही हुई है। यदि यही माना जाय कि किण्वादि सर्वथा मदजनन शक्ति से विकल हैं तो जिस समय ये मदिरा के रूप में परिणमित होते हैं उस समय इनके परिणामान्तररूप उस मदिरा में भी मादकता—मदजनन-शक्ति की विकलता माननी पडेगी। क्योंकि जो शक्ति कारण में नही है वह कार्य में कैसे आ सकती है।

जिस प्रकार आप मदिरा के भिन्न२ कारणों में मदजनन शक्ति का सद्भाव अंगीकार करते हैं—क्योंकि यदि मदिरा की भिन्न२ चीजो में मदजनन शक्ति न हो तो, उनके समिश्रण से उद्भूत मदिरारूप अवस्था में वह नहीं हो सकती इसी तरह हम भी यही कहते है कि भूत और चैतन्य में भी भिन्न लक्षणता नहीं है। कारण कि जिस समय ये भूत कायाकार परिणत रूप अवस्था विशेप सपन्न होते है तभी जाकर चैतन्य रूप शक्ति की उद्भूति होती है—इसके पहिले नहीं। परन्तु, यदि चैतन्य शक्ति के उद्भावक इन क्षित्यादिक भूतों में स्वतंत्र अवस्था में जो इस चैतन्य शक्ति का सद्भाव न हो तो कायाकार परिणत अवस्था में भी वह उद्भूत नहीं हो सकती है।

जैन-समाधान--इस प्रकार के प्रत्यवस्थान से तो आत्मवादियो के इष्ट का प्रतिष्ठान होने से चेतन में अनादि अनतत्व की ही प्रसिद्धि होती है। वह भूत का विवर्त है वह बात साबित नही होती। उद्भूति उसी की होगी जो पहिले से होगा। अतः यह मानना चाहिये कि भिन्न लक्षणत्व हेतु तत्त्वान्तरभाव से व्याप्त है। और वह भूत और चैतन्य में रहता हुआ इन दोनो में तत्त्वान्तरता की प्रसिद्धि करता हैं। अत यह पूर्वोक्त अनुमान "प्राणिनामाद्य चैतन्यं चैतन्योपादानकारणकं चिद्विवर्नत्वात् मध्यचैतन्यविवर्तवत् तथाऽन्त्यचैतन्यपरिणामश्चैतन्यकार्यः तत एव तद्वत्" सर्वथा निर्दोष है और जीव का जन्म से पहिले एव मरण के बाद अप्रतिहत रूप से अस्तित्व सिद्ध करता है। पूर्वभव का परित्याग और भवान्तर का परिग्रह यही संसार हैं। इस प्रकार प्रभुद्वारा प्रतिपादित यह संसार तत्त्व पूर्वोक्त रीति से किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित सिद्ध नहीं होता है। आगम से संसारतत्त्व इसलिये बाधित नहीं होता है कि आगम "ससारिण-

स्त्रसस्थावराः " इस सूत्र द्वारा उसका प्रतिपादन जो करता है। प्रमाण प्रसिद्ध यह संसार अहेतुक भी नहीं है। कारण कि "यह अहेतुक है" इस बात की पुष्टि इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष से तो होती नहीं है। क्योंकि उसमें इतनी शक्ति नहीं है, जो इस बात को समर्थित कर सके। रहा अनुमान सो उससे संसार सहेतुक ही सिद्ध होता है। क्योंकि सुख एवं दुःखादिकों का विवर्तन स्वरूप ही संसार है और यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं भवरूप है तथा विशेष हेतुक है। इसलिए
10 यह कहना कि "निर्हेतुकः ससारः अनाद्यनतत्त्वात् आकाशवत्" ठीक नहीं है। भले ही वह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि अनत हो, परन्तु पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से तो सादि सांत ही सिद्ध माना गया है। अतः एकान्त रूप से
10 उसे अनादि अनंत मानना युक्ति युक्त नहीं प्रतीत होता। आकाश में भी सर्वथा अनादि अनतता इष्टनहीं है। पर्यायार्थिक
७ नय की अपेक्षा से उसमें भी सादि सान्तता जैन सिद्धान्त ने मान्य की है। अतः इस दृष्टि से आकाश साध्य एवं साधन दोनों से विकल है। आगम "ससार सहेतुक है" इसी बात की पुष्टि करता है क्योंकि आगम का "मिथ्यादर्शनाविरति तप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः" यह वाक्य है। इसमें जो बन्ध के हेतु प्रकट किये गये हैं वे ही ससार के हेतु हैं, ऐसा समझना चाहिये। इस प्रकार प्रभु द्वारा प्रतिपादित ससार, मोक्ष एवं उनके कारण रूप तत्त्व जब किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होते हैं तब "त्वं युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् इष्टस्य प्रसिद्धप्रमाणेनाबाध्यमानत्वात्" यह अनुमान सर्वथा निर्दोष सिद्ध हो जाता है। अतः हे नाथ! आपके द्वारा प्रतिपादित तत्त्व युक्ति और शास्त्र से अबाध्य सिद्ध होकर आपके वचन में ही युक्ति और शास्त्र से अविरोधिता को और यह युक्तिशास्त्राविरोधी वचनता आप में ही निर्दोषता को अच्छी तरह सिद्ध करती है। इसलिये आप ही सर्वज्ञ एव वीतराग हो और स्तोतव्य हो, अन्य नहीं।

कारिका में जो "त्वमेव" इस पदमें त्वं के साथ एवकार आया है वह अन्ययोगव्यवच्छेदक १ है। यह निर्दोष-

---

१ व्यवच्छेद ३ प्रकार का होता है-(१) अन्ययोगव्यवच्छेद २ अयोगव्यवच्छेद ३ अत्यन्तायोगव्यवच्छेद। इनका स्वरूप युक्त्यनुशासन के अनुवाद मे अच्छी तरह समझा दिया गया है।

त्व के संबध को अन्यकपिलादिको से व्यवच्छेद करता है। कारण कि न्याय और आगम से विरुद्ध भाषी हैं। जो न्याय और आगम से विरुद्ध भाषी होते है वे दुर्वैद्य की तरह निर्दोष नहीं होते है। कपिलादिक भी इसी तरह के हैं, इसीलिये वे निर्दोष नहीं माने जा सकते है। न्याय एव आगम से विरुद्धभाषो कपिलादिक इसलिये हैं कि उनके अभिमत तत्त्व-मोक्ष, संसार एवं उनके कारण प्रसिद्ध प्रमाणों द्वारा बाधित सिद्ध होते है। सो कैसे ? अच्छा सुनिये-इसे भी यहां संक्षेप से लिख दिया जाता है।—

"चैतन्य[1]मात्र में आत्मा का अवस्थान होना मोक्ष है" यह मोक्ष का लक्षण सांख्य सिद्धान्त ने स्वीकार किया है, परन्तु यह समीचीन इसलिये नही है कि आत्मा का चैतन्य मात्र में नहीं किन्तु अपने निज स्वरूप अनतज्ञानादिक चैतन्य विशेष मे अवस्थान होना मोक्ष साधित किया गया है। अनंत ज्ञानादिक यदि आत्मा के निजरूप न मानें जावेंगे तो आत्मा जो सर्वज्ञ हो जाता है वह नही होसकेगा उसका विरोध प्रसक्त होगा। सर्वज्ञत्व आदि स्वरूप, प्रधानका इसलिये नहीं होता है कि वह अचेतन है और इसी कारण ज्ञानादिक भी प्रकृति[3] के स्वभाव नहीं माने गये हैं। साख्यों ने जो ज्ञानादिकों में अचेतनता उत्पत्तिमत्त्व हेतु द्वारा साधित की है सो यह बात उन्हीं के सिद्धान्त से व्यभिचरित हो जाती है। क्योंकि उन्होने अनुभव[2] को उत्पत्ति विशिष्ट मानकर भी चेतन माना है। इसीलिये चेतन होने से जिस प्रकार अनुभव आत्मा का स्वभाव है उसी प्रकार ज्ञानादिक भी आत्मा के स्वभाव है, अचेतन प्रकृति के नहीं। अतः चैतन्य मात्र में अवस्थान आत्मा की मुक्ति नहीं है, किन्तु अनत ज्ञानादिरूप चैतन्य विशेष में अवस्थिति ही उसकी मुक्ति है ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

---

१ "तदा द्रष्टु. स्वरूपेऽवस्थानं,, पातञ्जलयोगसूत्र समाधिपाद, ३ सूत्र।

२ "प्रकृतेर्महान् ततोऽहकारस्तस्माद् गणश्च पोडशक, तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि। इस कारिका द्वारा ज्ञान प्रकृति से उत्थ साबित किया हे।।

३ "बुद्धयध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते,, सांख्य संमत इस सूत्र से अनुभव को चेतन माना गया है ?

इसी प्रकार वैशेषिक एवं नैयायिकों ने जो बुद्ध्यादिक विशेष ९ गुणोंका १ अत्यत उच्छेद होना मोक्ष कहा है वह भी युक्ति युक्त नहीं है। कारण कि आत्मा का स्वरूप अनंत ज्ञान दर्शन आदि अनेक गुणात्मक साधित किया गया है। इसलिये इस स्वरूप की उपलब्धि का नाम ही मोक्ष है। यदि इस पर यों कहा जाय कि "बुद्ध्यादिक आत्मा के निज स्वरूप नहीं है, क्योकि वे आत्मा से पदार्थान्तर की तरह सर्वथा भिन्न है-भिन्न भी ये इसलिये हैं कि आत्मा अनुत्पाद एवं अविनाश धर्मों का अधिकरण है और बुद्ध्यादिक उत्पाद एवं विनाश धर्मों के अधिकरण हैं, अतः आत्मा के धर्मों से विरुद्ध धर्मों की अधिकरणता आने से बुद्ध्यादिक आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं यह वात सिद्ध होती है" सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योकि विरुद्ध धर्माधिकरणता होने पर भी मेचकज्ञान एव उसके आकारों की तरह बुद्धयादिकों में आत्मा से सर्वथा भिन्नत्व सिद्ध नहीं होता है। देखो मेचकज्ञान एक है और उसके नीलपीतादि प्रतिभास स्वरूप आकार अनेक है, इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व रूप विरूद्ध धर्मो का अधिकरण होने पर भी मेचकज्ञान और उसके आकार नील-पीतादिक प्रतिभास विशेष इन दोनो में भेद स्वीकार नहीं किया गया है। अन्यथा वह मेचक ज्ञान ही नहीं कहला सकता। इस प्रकार विरुद्ध धर्माधिकरणता सर्वथा भेद की नियामक नही होती है! अत विरुद्ध धर्माधिकरणता को लेकर जो आत्मा एवं बुद्ध्यादिको—ज्ञानादिको-मे भेदैकान्त की सिद्धि करना चाहते हो सो वह सिद्ध नहीं होती है। अतः आत्मा अनत ज्ञानादिक स्वरूप है और इस अपने स्वरूप की उपलब्धि ही उसकी मुक्ति है। कर्मों के क्षय से उत्पन्न अनन्त ज्ञान एव अव्यावाध सुख यह आत्मा के निज स्वरूप हैं। इनका मुक्ति में अभाव कहने वालों का ही यहां प्रतिक्षेप किया है। जिनका हेतु कर्म है और जो आत्मा एव अन्तकरण के सयोग से उद्भूत होते हैं ऐसे बुद्धि सुख आदिकों की निवृत्ति तो हम भी मानते हैं। इनकी निवृत्ति हुए विना जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। अत मुक्ति में इनकी निवृत्ति मानने मे हमें कोई भी एतराज नहीं है। एतराज सिर्फ इतने मात्र में ही है कि क्षायिक ज्ञानादिकगुणों का जो अभाव कहते है। इसलिये स्याद्वाद सिद्धान्त की दृष्टि से यह वात सिद्ध होती है कि किसी विवक्षा से मुक्ति में बुद्ध्यादिक गुणों

---

१ बुद्धि सुख दुःख, इच्छा, द्वेष प्रयत्न, धर्म अधर्म और सस्कार इन नौ विशेष गुणो की अत्यत उच्छित्ति होने पर आत्मा को मुक्ति प्राप्त होती है।

की निवृत्ति भी होती है और किसी दृष्टि से नहीं भी होती है ! मुक्ति में केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यकत्व एवं सिद्धत्व भाव के विना अवशिष्ट औपशमिक, क्षायोपशमिक औदयिकभावों का एवं परिणामिक भव्यत्वभाव का भी विप्रमोक्ष सिद्धान्त में माना १ गया है ।

मोक्ष की प्राप्ति का उपाय भी कपिलादिकों ने एक विज्ञान ही माना है जो युक्ति और आगम से विरुद्ध है । जिस प्रकार मिथ्याज्ञान के सद्भाव में जीव को मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है उसी प्रकार से प्रकर्षवस्थापन्न ज्ञान की प्राप्ति में भी मुक्ति का लाभ जीव को नहीं होता है । अतः विज्ञान मात्र मुक्ति का कारण नहीं । सर्वज्ञ कपिलादिकों का प्रकर्षावस्थासपन्न ज्ञान की प्राप्ति में भी शरीर के साथ अवस्थान नैयायिकादिकों ने माना है । यदि साक्षात् सकलपदार्थों को जानने वाले ज्ञान की उत्पत्ति होने पर मुक्ति की मान्यता का सिद्धान्त अंगीकार किया जाय तो फिर इस स्थिति में उनके उपदेश का लाभ ही जीवों को नहीं हो सकता । कारण कि उस अवस्था में शरीर का अभाव होने पर अशरीर उस आप्त से आकाश की तरह उपदेश देने का विरोध आता है । जब तक पूर्णज्ञान प्राप्त नहीं हो लेता तब तक आप्त का उपदेश प्रमाणकोटि में मान्य नहीं है । यदि विज्ञान मात्र को मुक्ति कारण सिद्ध करने के लिये ऐसा कहा जाय कि परभव में दूसरे शरीर की उत्पत्ति नहीं होना ही निःश्रेयस–मोक्ष है गृहीत शरीर की निवृत्ति होना मोक्ष नहीं है । अब विचारना यह है कि शरीरान्तर की अनुत्पत्ति रूप जो यह मुक्ति है उसका कारण यह साक्षात् सकल तत्वज्ञान-विज्ञान-है । गृहीत शरीर की निवृत्ति का नहीं । इसकी निवृत्ति तो, फलोपभोग से मानी गई है । अतः साक्षात् विज्ञान मात्र के होने पर भी फलोपभोग के सद्भाव से गृहीत शरीर की निवृत्ति नहीं होगी-फिर आप यह क्या कहते हो कि विज्ञान के होते ही आत्मा की मुक्ति हो जायगी और ऐसी हालत में उससे उपदेश करना ही नहीं बन सकेगा-सो जब तक गृहीत शरीर की निवृत्ति नहीं होगी तब तक साक्षात् सकल तत्त्वज्ञान के द्वारा वह सकलपदार्थों का ज्ञाता

१ "औपशमिकादिभव्यत्वानां च अन्यत्रकेवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनसिद्धत्वेभ्य.,,

बनकर उनका ससारी जीवों को उपदेश देगा। इस प्रकार उस विज्ञानी आत्मा का शरीर के साथ अवस्थान सिद्ध हो जाता है। सो ऐसा कहना जैनमत की मान्यता का ही साधक है। हम भी तो यही कहते हैं कि प्रकर्षपर्यन्त अवस्था को प्राप्त हुए ज्ञान के सद्भाव में भी शरीर के साथ आत्माका अवस्थान रहता है। अत मात्र तत्त्वज्ञान परनिःश्रेयस का कारण सिद्ध नहीं होता है। भावि शरीर की निवृत्ति की तरह उपात्त शरीर की भी निवृत्ति ही परनिःश्रेयस है।

इसी तरह संसार और उसका कारण भी नित्यत्वादिक एकान्त की मान्यता में सुघटित नहीं होता है। ये भी युक्ति और आगम से विरुद्ध हैं। अतः अन्य सिद्धान्तसंमत आप्तोमें युक्ति और आगम से विरुद्ध तत्व प्रतिपादकता होने से अर्हंत प्रभु ही युक्ति और आगम से अविरोधी वचनवाले सिद्ध होते हुए-निर्दोष निश्चत होते हैं। इसलिए अर्हंत में निर्दोषत्व की सिद्धि कराने में प्रयुक्त युक्ति और शास्त्र से अविरोधि वचनत्व हेतु एव वचन में युक्ति और शास्त्र से अविरोधता जाहिर करने के लिए प्रयुक्त प्रतिपादित तत्त्व का किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होना रूप हेतु सर्वथा अकलक है। अत अर्हंत ही सकल शास्त्रो की आदि में प्रेक्षावानो द्वारा संस्तुत्य हैं।

बौद्ध-शंका—यह बात तो हम मानते हैं कि आत्मा सर्वज्ञ और वीतराग हो जाता है। परन्तु "अर्हंत ही सर्वज्ञ वीतराग हैं" इस प्रकार से निश्चय कैसे हो सकता है। क्योंकि वीतराग के जो व्यापारादिक कार्य है वे अवीतराग में भी देखे जाते हैं। अतः उस सर्वज्ञता एव वीतरागता का किसी व्यक्ति में-अर्हंत में-निश्चय-करना अशक्य है। इसलिये जब सरागियों में भी वीतराग की तरह चेष्टाएं देखने में आती हैं तब "त्वमेव आप्त." इस प्रकार का किसी को किसी में निर्णय कैसे सभावित हो सकता है?

उत्तर–सो ऐसा कहना ठीक[१] नहीं है। कारण कि सर्वज्ञ वीतराग पुरुष से किसी भी विषय में विसंवाद संभ-

---

१ विचित्राभिसन्धितया व्यापारव्याहारादिसाकर्येण क्वचिदप्यतिशयानिर्णये कैमर्थक्याद्विशेषेष्टिः ज्ञानवतोऽपि विसवादात् क्व-पुनराश्वास लभेमहि! (अष्ट शती)

आ० मी० ६२

वित नहीं होता है । यदि ज्ञानशाली सर्वज्ञ आत्मा से भी किसी विषय में विसवाद के लिये स्थान मिलने लगे तो कहो फिर विश्वास को जगह भी कहां मिले । ज्ञानशाली आत्मा में अवीतराग जैसी चेष्टाएं नहीं होती है । येतो अज्ञ एव रागादिक दोष विशिप्ट आत्मा में ही सभवित होती है । जहां विवित्र अभिप्राय होते हैं वहीं पर व्यापार व्याहार एव आकार विशेषों में सांकर्य देखा जाता है । भगवान सर्वज्ञ में रागादिक दोषों की कि जो विचित्र अभिप्रायता के हेतु हैं, प्रक्षीणता होनेसे वह विचित्र अभिप्रायता घटित नहीं होती है । वहां तो यथार्थ प्रतिपादन अभिप्रायता का ही निश्चय है । दूसरे-वीतरागसे भी यदि विसंवादकी सभावना मानी जायगी तो फिर तुम्हारे आप्त रूपसे इष्ट सुगतादिकमें भी वीतरागत्व का आश्वास कैसे माना जा सकेगा । अतः कपिलादिक से जो इन्हे असाधारण मानने में आया है वह अनर्थक ही ठहरता है । यदि यहां पर यों कहा जाय कि सर्वज्ञ एव वीतराग में विचित्र अभिप्रायता के सद्भाव का निश्चय अस्मादिक की तरह शरीरित्व१ हेतु द्वारा होता है सो ऐसा कहना भी ठीक नही है । कारण कि सुगतादिक में भी इसी तरह से कहा जा सकता है । यदि इस हेतु को वहां संदिग्धविपक्ष--व्यावृत्तिवाला कहा जाय तो यही समाधान हमारी तरफ से भी समझना चाहिये । विचित्र व्यापारादिक कार्यो के अवलोकन से सव में विचित्र अभिप्रायता का सद्भाव होना तो तुम मानते हो पर वचनादिक कार्य रूप अतिशय के सद्भाव से किसी के सर्वज्ञत्वरूप अतिशय नहीं मानते हो यह तो एक उन्मत्त जैसी बात है ।

कारिका मे जो " इष्ट " पद आया है उसका अर्थ मत-- शासन२ है । इच्छा का जो विषय भूत होता है, उसका नाम यद्यपि इप्ट है । परन्तु इस प्रकार का अर्थ यहां गृहीत नही हुआ है । कारण कि इच्छा मोह की पर्यायस्वरूप है । भगवान में इस मोह पर्यायात्मिक इच्छा का मोह के सर्वथा क्षीण होने से अभाव हो चुका होता है । अतः उनमें शासन प्रकाशन की इच्छा का सद्भाव नहीं है । फिर भी इच्छा विषयीकृत इष्ट का भगवान में उपचार किया गया है ।

---

१ सर्वज्ञे वीतरागे विचित्राभिप्रायोऽस्ति शरीरित्वात् अस्मदादिवत् "अष्ट सहस्त्री"
१ इष्टमतशासनमुपचयते निराकृतवाचोऽपि क्वचिदविप्रतिषेधात् " अ० श१"

शका— बिना इच्छा के भगवान् अपने शासन का प्रकाश करते है यह बात तो आपने बडे गजब की कही। बिना इच्छा के बोलना कैसे हो सकता है। जब वे वक्ता हैं तो हमारी तरह उनमें इच्छा का सद्भाव अवश्य मानन पडेगा। अतः "न सर्ववित् इच्छामन्तरेण वक्ति वक्तृत्वादस्मदादिवत्" (अष्ट स०)

उत्तर—इच्छा के अभाव मे बोलना नहीं होता है किन्तु उसके सद्भाव में ही होता है यह नियम बन नहीं सकता है। यदि ऐसा नियम अगीकार किया जाय तो सुषुप्ति अवस्था में जो निरभिप्राय १— बिना इच्छा के—भी वचन प्रवृत्ति देखी जाती है वह नही बन सकती ! सुषुप्ति दशा में अथवा गोत्रस्खलन अवस्था में व्यवहार आदि की हेतु इच्छा थोडे ही मानी गई है। अत सर्वज्ञ की शासन प्रकाशन आदि की प्रवृति को इच्छा पूर्वक सिद्धकरने के लिये प्रदत्त वक्तृ-त्वादि हेतु सुषुप्ति, गोत्रस्खलन आदि द्वारा व्यभिचरित होने से "बिना इच्छा के वचन प्रवृत्ति नहीं होती है" इस एकान्त नियम को खंडित करता है।

शका —खण्डित कैसे करता है ? क्या तुम्हारे कहने मात्र से। सुषुप्ति अवस्था में या गोत्रस्खलन दशा में जो वचन प्रवृत्ति होती देखी जाती है वह भी इच्छा पूर्वक ही है। बिना इच्छा के नहीं, वहा पर पूर्वकालभाविनी--जाग्रत अवस्था सबधी-इच्छा अपना काम करती है। यद्यपि उस समय वह इच्छा प्रतिसविदित आकार वाली नही है तथापि उसके हेतुत्व होने का वहा अनुमान से बोध होता है—वह वहां कारण है यह बात अनुमान से जानी जाती है। जैसे १ प्रसिद्ध वागादिप्रवृति इच्छा पूर्वक होती है उसी तरह वह भी वागादि प्रवृतिरूप है अत वह भी इच्छा पूर्वक ही है।

उत्तरः—यह तो अभी कहा ही जा चुका है कि ऐसा नियम नही बन सका है कि जो २ वागादि प्रवृत्ति होगी

---

१ नियमाभ्युपगमे सुषुप्त्यादावपि निरभिप्रायप्रवृतिर्न स्यात् (अष्ट शती)

१ विवादाध्यासिता वागादिप्रवृत्तिरिच्छा पूर्विका वागादिप्रवृत्तित्वात् प्रसिद्धेच्छापूर्वक वागादिप्रवृत्तिवत् ॥ अष्टसहस्री ॥

वह सब इच्छा पूर्वक ही होगी अत हेतु यहां अप्रयोजक है। यह तो सिर्फ इतना ही सार्धयितुं शक्य है कि जिस प्रकार जाग्रत अथवा सुचेतस्क व्यक्ति की वागादि प्रवृत्ति इच्छा पूर्वक होती देखी जाती है कालान्तर तथा देशान्तर के इसी प्रकार के व्यक्ति की वागादिप्रवृत्ति भी इच्छा पूर्वक ही होगी। इससे यह आप कैसे साबित कर सकते हैं कि सुषुप्ति अवस्थावाले एवं अन्यमनस्कदशावाले व्यक्ति की भी वागादिप्रवृत्ति इच्छा पूर्वक ही होती है। हेतु की समानता को लेकर यदि यह बात मानी जाय तो फिर क्या है। गोपालघटिकान्तर्गत धूम को भी अग्नि का अनुमापक हो जाना चाहिये! परन्तु ऐसा तो होता नही है। सुषुप्त की अथवा अन्यमनस्क व्यक्ति की वागादि प्रवृत्ति इच्छा पूर्वकत्वेन व्याप्त अवगत नहीं है! क्योंकि इस प्रकार की अवगति का वहां कोई साधन नहीं है। वहां वगादिप्रवृत्ति इच्छा पूर्वक है यह बात कौन जानता है? क्या स्वयं सुषुप्त व्यक्ति? यदि सुषुप्त व्यक्ति इस बात को जानता है तो वह उस समय सुषुप्त नहीं माना जा सकता है। क्योंकि सुषुप्त का और "वागादिप्रवृति इच्छा पूर्वक है" इस अवगति का परस्पर में विरोध है। यदि कहो कि अन्य असुषुप्त अथवा सुचेतस्क व्यक्ति उसकी इस प्रकार की प्रवृत्ति इच्छा पूर्वक है यह जानता है सो इस बात को कौन समझदार आहृत कर सकता है। कारण कि वह इतना विशिष्ट ज्ञानी तो है नहीं जो अन्यजन की इस बात को प्रत्यक्ष से जान सके। यदि वह अनुमान से इस बात को जानता है ऐसा कहा जाय तो इस कथन में अनवस्था दोष आता है। अत' यह मानना चाहिये कि "समस्त वागादिप्रवृत्ति इच्छापूर्वक ही होती है" ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। चैतन्य १ एव करणपटुता ही वहां साधकतम हैं। ऐसा स्वीकार करना चाहिए।

शंका—चैतन्य एवं करणपटुता के होने पर भी यह देखा जाता है कि यदि विवक्षा-बोलने की इच्छा-न हो तो वचन प्रवृत्ति नही होती है। अतः विवक्षा को भी उसका सहकारी कारण मानना ही चाहिये।

उत्तर—विवक्षा सहकारी कारण रहे इसमें हम प्रतिपन्थी नहीं है। परन्तु वह वागादिप्रवृति में नियमतः अपेक्षणीय है ऐसा एकान्त नियम संगत नही बैठता है। क्योंकि सहकारी कारण नियमतः अपेक्षणीय ही होते हैं ऐसा

---

१ ततश्चैतन्यकरणपाटवयोरेव साधकतम त्वम् अष्टशती -

कोई नियम नहीं हैं।

शंका—क्यों ?

उत्तर—इसलिये १ कि देखो रूप की उपलब्धि नक्तंचरादिको एवं अंजनादिक से संस्कृत चक्षुवालों को आलोकसन्निधि की अपेक्षा बिना ही होती है। अत रूपोपलब्धि में आलोक सहकारी कारण होने पर भी नियमतः वह अपेक्षणीय नही होता है। यदि इस पर यों कहा जाय "चैतन्य-ज्ञान-एव करणपटुता के अभाव में भी केवल एक विवक्षामात्र के सद्भाव मे किसी किसी के वचन प्रवृति देखने में आती हैं। अत करण-पाटवादिक को वाग्प्रवृत्ति में साधकतम मानना युक्ति युक्त नही है" सो ऐसा कहना ठीक नहीं- कारण कि चैतन्य-ज्ञान-एवं करणपाटव के अभाव में विवक्षा के होने पर भी वचन प्रवृत्ति नहीं होती है। जैसे-शब्द और अर्थ से शास्त्रीयज्ञान नहीं होने पर किसी व्यक्ति के उसके व्याख्यान करने की इच्छा होने पर भी तद्विषयकवचन प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। एव करण पाटव के अभाव मे स्पष्ट शब्दो का उच्चारण नही देखा जाता है। यदि विवक्षा मात्र से वचन प्रवृति एव स्पष्ट शब्दो का उच्चारण होना माना जाय तो बालमूकादिक २ में भी इस तरह का प्रसग मानना पडेगा। अतः इस कथन से यही एक बात प्रमाण युक्त प्रतीत होती है कि चैतन्य एव करण पाटव नियमतः वचन प्रवृति मे हेतु ही है विवक्षा नहीं। क्योंकि विवक्षा के विनाभी सुषुप्ति आदि अवस्थामे वचन प्रवृत्ति देखी जाती है। अत "इष्ट" पद का अर्थ मत–शासन जो प्रकट करने में आया है वह निर्दोष है। इच्छा का विषयभूत जो है वह इष्ट है यह कथन भगवान् में केवल उपचार से ही समझना चाहिये। "प्रसिद्ध" शब्द का अर्थ प्रमाण से जिसकी सिद्धि हो ऐसा है। क्योंकि प्रमाणतः सिद्ध पदार्थ ही किसी का

---

१ नक्तचरादेः सम्स्कृतचक्षुषो वाऽनपेक्षितालोकसन्निधे रूपोपलभात्। न चैव सवित्करणपाटवयोरप्यभावे विवक्षामात्रात् कस्यचिद्वचनप्रवृतिः प्रसज्यते, सवित्करणवैकल्ये यथाविवक्षं वागवृत्तेरभावात् [अष्टशती]

२ बालमूकादेरपि तत्प्रसङ्गत् [अष्टस०]

साधक या बाधक होता है। यही कारण है कि हे नाथ ! आपके मत का बाधक अप्रसिद्ध अनित्यत्वादिक एकान्त धर्म नही है। क्योंकि अनित्यत्वादी एकान्त धर्मो की प्रसिद्धि न प्रत्यक्ष प्रमाण से हो सकती है, और न अनुमान से ही।

अतः हे नाथ ! आप ही युक्ति और शास्त्र से अविरोधिवचन वाले होने से निर्दोष हो। आपके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधी इसलिये हैं कि आपका इष्ट तत्त्व किसी भी प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है। अतः आप ही सर्वज्ञ एव वीतराग होने से मोक्ष मार्ग के प्रणेता हो अन्य कपिलादिक नही, यह समंतभद्रीय कथन समन्ततः भद्रक होकर अकलंकमनोमोदक है।

त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् ।
आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते ॥ ७ ॥

अन्वय—त्वन्मतामृतबाह्यानां सर्वथैकान्तवादिनाम् आप्ताभिमानदग्धानां स्वेष्टं दृष्टेन बाध्यते।

अर्थ—आपके मत रूप अमृत से वहिर्भूत हुए ऐसे सर्वथा एकान्त वादियों का कि जो अपने में आप्तत्व के अभिमान से दग्ध हो रहे हैं अभिमत तत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है।

भावार्थ—स्वामी समन्तभद्राचार्य इस कारिका द्वारा इस बात का समर्थन करते हैं, कि हे नाथ ! आपका जो अनेकान्त स्वरूप शासन है तथा इसका जो ज्ञान है वह मोक्ष का कारण होने से स्वयं अमृत स्वरूप है। जिसने इस अमृत का पान नहीं किया है—अथवा जो इससे सर्वथा बहिर्भूत बने हुए हैं ऐसे एकान्त वादियों का स्वेष्ट तत्त्व—वस्तु सर्वथा अनित्य स्वरूप ही, सर्वथा नित्य स्वरूप ही, सर्वथा सत्स्वरूप ही, सर्वथा असत्स्वरूप ही, सर्वथा एक स्वरूप ही, सर्वथा अनेक स्वरूप ही है इत्यादि एकान्तवाद—प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है। कारण कि इन्होंने जो कुछ भी अपने अपने वाद में कहा है वह विना आप्तता प्राप्त किये केवल उसके अहकार के आवेश से ही कहा है। इस आवेश में जो भी उनके द्वारा प्ररूपित हुआ है वह सब एक ही दृष्टि से प्ररूपित हुआ है, अनेक दृष्टियों से नहीं, अत. वस्तु विवेचकों की दृष्टि में एकांगी होने से ये सब वाद सबाध साबित हुए हैं यही कारण है कि विद्वज्जनों को इनसे यथार्थ परि-

तोष नहीं हो सका है। जब कि अनेकान्त के नाथ ! आपके इस अनेकान्त शासन से कि जो सर्वथा निर्वाध है युक्तिविवेचकों को एकान्ततः परितोष हुआ है। अत इस शासन से बाह्य जितने भी शासन हैं वे सब एकान्त और उनमें अभिनिवेश रखनेवाले जितने भी व्यक्ति हैं वे सब एकान्तवादी हैं।

शंका —सदादिक एकान्तवाद सबाध क्यों है ?

उत्तर —अपेक्षावाद के बिना केवल एक दृष्टि से प्ररूपित तत्त्व यथार्थ प्ररूपणा से रिक्त होने के कारण वस्तु विवेचको की दृष्टि मे सर्वथा निर्दोष प्रतीत नहीं होते हैं। सदादिक एकान्तवाद में यही हुआ है। सत्ताद्वैतवादी असत्ताद्वैतवाद का निरसन करता है और असत्ताद्वैतवादी अपने पक्ष की सिद्धि के लिए सत्ताद्वैतवाद का खडन करता है। परन्तु इतने मात्र से वस्तु न सर्वथा सत् स्वरूप ही सिद्ध होती है और न सर्वथा असत्स्वरूप ही। क्योंकि इन दोनों प्रकार के भिन्न २ रूपो द्वारा कही गई वस्तु एकान्ततः एक २ धर्म विशिष्ट ही भिन्न २ समय में सिद्ध होती है- अनेक रूप विशिष्ट नहीं। यह भिन्न २ रूपता वस्तु का एक २ अंश है वस्तु की पूर्णता नही। युगपत् अनेक धर्मात्मकता ही वस्तु की पूर्णता है। यह पूर्णता निरपेक्ष एक २ वाद में घटित नहीं होती है। प्रत्युत वहां तो विवक्षित समय में प्रतिपादित धर्म की ही प्रधानता एव इतर धर्मों की अप्रधानता न मानकर उन सबका खंडन—तिरस्कार ही किया गया होता है। अनेकान्त शासन मे इस प्रकार की सकीर्णता नही है। यहां तो प्रत्येक विरोधी धर्मों का भी विवक्षित समय में भी तिरस्कार नहीं होता है, क्योकि उस समय उनकी अप्रधानता कर दी जाती है। अतः विवक्षावश वस्तु सद् असदादि अनेक धर्मात्मक है। एक ही धर्मात्मक नहीं। क्योकि सत् असत् आदि रूप परस्पर सापेक्ष धर्म हैं। एक के निराकरण में अपर का निराकरण अवश्यम्भावी है। अतः एक २ धर्म को वस्तु का पूर्ण रूप मानना यह प्रत्यक्ष प्रमाण से वाधित होने की वजह से सदादि एकान्त वाद सबाध सिद्ध होते हैं। चाहे अन्तस्तत्त्व हो चाहे वहिस्तत्त्व हो कोई भी तत्त्व क्यों न हो वह अनेकान्त शासन के वहिर्भूत नहीं है। तथा वस्तु का कोई भी रूप हो चाहे वह सत्रूप हो चाहे असत् रूप

हो वह भी रूपान्तर से विकल नहीं है। चित्र[1]ज्ञान की तरह प्रत्येक तत्त्व कथंचित् प्रतिनियत अनेक स्वरूप से एवं एक स्वरूप से विशिष्ट है। इसीसे पदार्थों में समान्यविशेपात्मकता साधित हुई है।

शका—कारिकाकार ने जो यहां एकान्त वादियों के स्वेष्टतत्त्व को केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित प्रकट किया है सो इसका अभिप्राय क्या है। क्या उनका अभिमत तत्त्व अनुमानादिक प्रमाण से बाधित नहीं होता है ?

आ० उत्तर—कारिकाकार का यह अभिप्राय है कि जब सुखादि चैतन्य रूप अन्तस्तत्त्व या स्कधादिरूप बहिस्तत्त्व
मी० अथवा सदेकान्त, असदेकान्त, नित्यैकान्त, अनित्यैकान्त, द्वैतैकान्त एव अद्वैतैकान्त आदि रूपान्तर से बिकल प्रत्यक्ष
६८ प्रमाण से प्रतीत नहीं होते हैं जैसा इन्हें एकान्त वादियों ने कबूल किया है, प्रत्युत ये रूपान्तर सापेक्ष है ऐसा ही प्रत्यक्ष प्रमाण से साबित होता है तब ये सब अपने २ प्रतिपक्षी रूपान्तर की सापेक्षावाले है इस बात को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण की आवश्यकता ही क्या है। इनमे परस्पर सापेक्षता सिद्ध करने वाला एक प्रत्यक्ष प्रमाण ही काफी है। इसका मतलब यह नही समझना चाहिये कि इनमें परस्पर सापेक्षता सिद्ध करने वाला प्रत्यक्षातिरिक्त अन्य प्रमाणान्तर है ही नहीं। वह भी है। परन्तु युक्तिवाद का सहारा लिये बिना भी यदि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही अभिमत सिद्ध हो जाता हो तो युक्तिवाद को उपस्थित करने की और उसे समर्थन करने रूप प्रयास की जरूरत ही क्या है। अत २ सत्ता असत्ता निरपेक्ष, द्वैत अद्वैत निरपेक्ष एव नित्य अनित्य निरपेक्ष कभी भी उपलब्ध नही हो सकता है। किन्तु ये परस्पर सापेक्ष ही उपलब्ध होते हे। सत्ता और असत्ता में अद्वैत और द्वैत में नित्य और अनित्य में परस्पर सामान्य विशेष संबंध है। सत्ता असत्ता की आपेक्षा सामान्य और सत्ता की अपेक्षा असत्ता विशेप धर्म है। इसी प्रकार द्वैत अद्वैत की

---

१ नहि किञ्चिद्रूपान्तरविकल सदसन्नित्यानित्याद्येकान्तरूपसंवेदनमन्यद्वा सपश्यामो यथात्र प्रतिज्ञायते चित्रज्ञानवत्कथं चिदसंकीर्णविशेषैकात्मनः सुखादिचैतन्यस्य वर्णसस्थानाद्यात्मन स्कन्धस्य च प्रेक्षणात्। (अष्ट शती)।

२ सामान्यविशेषैकात्मनः सविंत्तिरेकान्तस्यानुपलब्धिर्वा सर्वत्र सिद्धा चक्षुरादिमतामनाहतकल्पनामस्तंगमयतीति किं न प्रमाणान्तरेण (अष्टशती)

अपेक्षा विशेष एवं द्वैत की अपेक्षा अद्वैत सामान्य धर्म है। अनित्य की अपेक्षा नित्य सामान्य धर्म और नित्य की अपेक्षा अनित्य विशेष धर्म है। इस प्रकार इन वादो मे परस्पर सामान्य विशेषधर्मता सापेक्षवाद में ही घटित होती है निरपेक्ष वाद मे नही। एकान्त सामान्य की या एकान्त विशेष की अथवा परस्पर निरपेक्ष सामान्य विशेषैकान्त की कभी भी उपलब्धि नही होती है। एकान्त सामान्य की उपलब्धि के समय विशेष की विशेषैकान्त की उपलब्धि के समय सामान्य की एव निरपेक्ष सामान्य विशेषैकान्त की उपलब्धि के समय परस्परात्मक सामान्य विशेष की भी उपलब्धि होती है। इस प्रकार सापेक्ष वाद मे इन वादो मे अनेकान्त स्वरूप वस्तुरूपता की उपलब्धि तथा एकान्त रूपता की अनुपलब्धि अनार्हतमतवालो की कल्पना को जब ध्वस्त करने मे समर्थ है तो फिर प्रमाणान्तर के सहारे की जरूरत क्या रहती है। अत· "एकान्त वादियो का स्वेष्टतत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है इस प्रकार प्रतिपादन करने का यह पूर्वोक्त अभिप्राय है।

शका —"सामान्यविशेषैकात्मक पदार्थ की उपलब्धि होती है एकान्त की उपलब्धि नहीं होती है,, ऐसा जो आप कहते हैं सो इस पर हमारा आपसे यह पूछना है कि क्वचित् कदाचित् एकान्त की उपलब्धि होती है या नहीं ? यदि होती है तो उसका प्रतिषेध आप कैसे करते हैं,यदि नही होती है तो उसके असद्भाव में उसका प्रतिषेध भी कैसा ? प्रतिषेध प्रतिषेध्य वस्तु के सद्भाव में ही होता है।

उत्तरः—ऐसा कहना उचित नही है। कारण कि अध्यारोप से उस एकान्त का सद्भाव मानकर ही उसका निषेध किया गया है। जो ऐसा न हो तो फिर किसी के भी इष्ट तत्त्व का जो खुद के लिये अनिष्ट है प्रतिषेध ही नहीं हो सकता और न अपने इष्टतत्त्व का नियमन ही हो सकता है। अतः यह मानना चाहिये कि जो कोई भी किसी के अभिमत तत्त्व का जो निराकरण करनेवालो की दृष्टि मे उपादेय नही होता है निरसन करता है वह उसे अध्यारोप से अपनी विकल्प बुद्धि मे पहिले स्थापित कर लेता है, इस अपेक्षा से उसका सद्भाव मान लिया जाता है। और बाद में उसका प्रतिषेध कर दिया जाता है। इस प्रकार प्रतिषेध्य पदार्थ अध्यारोपित होकर प्रसिद्ध मान लिया जाता है। सर्वथा

एकान्त भी इसी तरह से अध्यारोपित कर प्रतिषिद्ध किया गया है । दूसरे-"सर्वथा एकान्तवादियों का स्वेष्टतत्त्व प्रत्यक्ष से बाधित है,, इस प्रकार से प्रतिपादित करनेवाले कारिकाकार का अभिप्राय यह भी है कि समस्त प्रमाणों में ज्येष्ठ प्रमाण एक प्रत्यक्ष ही है । क्योंकि बिना प्रत्यक्ष के अन्य अनुमानादिक प्रमाणों की प्रवृत्ति उत्पत्ति नहीं हो सकती है और जिस प्रकार से अपने विषय में समारोप का बिशेष रूप से व्यवच्छेद प्रत्यक्ष से किया हुआ देखा जाता है उस प्रकार से विशेष रूप से व्यवच्छेद अन्य प्रमाणों द्वारा अपने २ विषय में किया हुआ नहीं देखा जाता है । अन्य प्रमाणों द्वारा अपने २ विषय का समारोप व्यवच्छेद सामान्य रूप से ही किया जाता है ।

शका—आपने जो यह कहा कि "बिना प्रत्यक्ष प्रमाण के अनुमानादिक की प्रवृत्ति नहीं होती है अतः वह सकल प्रमाणो मे ज्येष्ठ प्रमाण है" सो ऐसा कहना एकान्ततः सत्य प्रतीत नहीं होता । कारण कि जिस प्रकार अनुमानादिक से अग्रेसर होने से प्रत्यक्ष में आप ज्येष्ठता कह रहे हैं, उसी तरह प्रत्यक्ष से अग्रेसर होने से अनुमादि भी ज्येष्ठ है। कही २ पर अनुमान के उत्तरकाल में प्रत्यक्ष भी उद्भूत होता हुआ देखा जाता है । फिर प्रत्यक्ष प्रमाण ही ज्येष्ठ क्यो, अनुमान भी क्यों नहीं ?

उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नही । कारण कि जिस लिङ्गज्ञान से अनुमान का उत्थान होता है उस लिङ्ग को विषय करने वाला प्रत्यक्ष यदि न हो तो अनुमानादिक प्रमाणन्तरो की प्रवृत्ति ही नही हो सकती है । अत सकल प्रमाणों में ज्येष्ठ प्रमाण प्रत्यक्ष है ऐसा ही मानना चाहिये । तथा १ प्रत्यक्ष ही अन्वय एवं व्यतिरेक में स्वभाव भेद का प्रदर्शक होता है । इसलिये भी उसमें ही गरिष्ठत्व की—ज्येष्ठत्व की-सिद्धि होती है । यह बात अभी प्रकट की जा चुकी है कि प्रत्यक्ष से सामान्य विशेषात्मक पदार्थ की उपलब्धि होती है एकान्त की नहीं । अतः वही अपने विषयभूत पदार्थ में सामान्य विशेषात्मकता के अस्तित्व का ख्यापक है, यही सामान्य विशेश-रूपता के अस्तित्व का ख्यापन अन्वय

१----दृष्टस्यान्वयव्यतिरेकयो स्वभावभेदप्रदर्शनार्थच्च गरिष्ठत्वसिद्धे । अष्टशती ।

है। एव एकान्त की उपलब्धि नहीं होना व्यतिरेक है। इस प्रकार अन्वय का स्वभाव अस्तित्व रूप एवं व्यतिरेक का स्वभाव प्रतिषेध स्वरूप है इस तरह इन दोनों में साक्षात् स्वभाव भेद का प्रदर्शन करना रूप प्रयोजन प्रत्यक्ष का ही है।

शका—जब यह बात प्रकट कर दी गई है कि " अर्हत् प्रभु का इष्टतत्त्व प्रसिद्ध प्रमाण से बाधित नहीं होता है अत वे ही परमात्मा-महान्-स्तुत्य हैं " तो यह बात कि " कपिलादिक अन्य एकान्त वादी तीर्थकों का स्वेष्टतत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित है और इसी से वे परमात्मा नहीं हैं इस कथन से सामर्थ्य लभ्य हो ही जाती है- फिर इस सामर्थ्य लभ्य बात को ग्रन्थकार ने पुन क्यों कहा है। इसमें उनका क्या अभिप्राय है।

अनेकान्त१ एवं एकान्त में कि जो उपलम्भ एवं अनुपलभ स्वरूप है एकत्व प्रदर्शन के लिये तथा धर्मकीर्ति के इस कथन को निराकरण करने के लिये कि जो उसने यह कहा है कि " साधर्म्य अन्वय और वैधर्म्य व्यतिरेक इन दोनों में से किसी एक के द्वारा साध्य की सिद्धि होने पर साधर्म्य और वैधर्म्य इन दोनों का प्रतिपादन करना तथा पक्षादिक का बोलना इससे प्रयोक्ता को निग्रहस्थान की प्राप्ति होती है " ग्रन्थकार ने इन दोनों बातों का कथन किया है। एकान्त अनुपलभ स्वरूप है, अनेकान्त उपलभ स्वरूप है। अतः एकान्त का अनुपलंभ ही अनेकांत का उपलंभ तथा अनेकांत का उपलंभ ही एकान्त का अनुपलभ है। इस तरह उपलंभ स्वरूप अनेकांत में और अनुपलंभ स्वरूप एकान्त में एकता प्रदर्शन के लिये ग्रन्थ कार ने " स त्वमेवासि निर्दोषो " इत्यादि कारिका रूप अन्वय का तथा " त्वन्मतामृतबाह्यानां " इत्यावि कारिका रूप व्यतिरेक का कथन किया है। तथा अपने साध्य की सिद्धि करने में बद्धकक्ष-समर्थ-ऐसे साध्याविनाभावी-विपक्ष से व्यावृत्ति लक्षणवाले-हेतु द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि करने वाले सद्वादी की सभ्यो के समक्ष

१अनेकान्तै कान्तयोरुपलम्भानुपलम्भयोरेकत्वप्रदर्शनार्थं तावदुभयमाह मतान्तरप्रतिक्षेपार्थं वा यदाह धर्मकीर्त्ति· साधर्म्य वैधर्म्ययोरन्यतरेणार्थगता ुभयप्रतिपादन पक्षादिवचन वा निग्रहस्थानमिति। नतद्युक्तम् कुत इति चेत्साधन सामर्थ्येन विपक्षव्यावृत्ति लक्षणेन पक्ष प्रसाधयत· केवलं वचनाधिक्योपालम्भच्छलेन पराजयाधिकरणप्राप्ति स्वय निराकृतपक्षेण प्रतिपक्षिणा लक्षणीया [अष्टशती]

एकान्तत विजय ही होती है। फिर उसे वचनाधिक्य के उपालम्भ के छल से निग्रह स्थान-पराजय-की प्राप्ति कहना यह युक्ति युक्त नही है। अरे अपने साध्यको सिद्ध करके नग्न नचनेवाले वादीको भी कोई दोप नहीं है। भला, क्या यह युक्ति युक्त माना जा सकता है कि जिस प्रतिवादी के पक्ष का वादी ने साध्याविनाभावी अपने समर्थ हेतु द्वारा निराकरण करदिया है वही प्रतिवादी उस वादी को वचनाधिक्य के छल से पराजय की प्राप्ति होने का आपादन करे। जय तो स्वपक्ष की सिद्धि मूलक ही होता है वचनाल्प निबन्धक नही। तब वचनाधिक्य के छल से वादी को पराजय की प्राप्ति होना कहना कथमपि युक्ति संगत नही माना जा सकता। इसी तरह ज्ञानाज्ञानमात्र कारणक भी जय और पराजय नही माने जा सकते है। निगमन की तरह गम्यमान भी पक्ष के प्रयोग करने में कोई दोष नहीं है। अतः स्वपक्ष की सिद्धि में साधर्म्म की तरह वैद्यर्म्य भी अ ग है। इसलिये अपने पक्ष की सिद्धि कर चुकने पर भी पर पक्ष का निराकरण एव पर पक्ष का निराकरण कर चुकने पर अपने पक्ष का साधन करना वादिप्रतिवादी दोनो को जय प्राप्ति का प्रतिबन्धक नहीं माना गया है। प्रत्युत साधक ही माना गया है। कारिकाकार ने भी इसी पद्धति का अनुसरण किया है। अतः साधर्म्य एव वैधर्म्य मे से किसी एक द्वारा साध्य की सिद्धि होने पर इन दोनो का कथन करना वादी के लिये निग्रह स्थान का कारण है यह कथन अयुक्त व्यवस्थित होता है। यही बात अष्ट १ शती कार ने भी प्रदर्शित की है। अत विजिगीषु को साधर्म्य और वैधर्म्य इन दोनो का स्वपक्ष सिद्धि पर्यन्त उद्भावन करना चाहिये। नहीं तो जयेतर व्यवस्था नही बन सकती। इसी बात को प्रदर्शित करने के लिए कारिकाकार ने 'स त्वमेवासि' इत्यादि साधर्म्य का एव 'त्वन्मतामृत' इत्यादि वैधर्म्य का प्रयोग किया है। गम्यमान के भी कहने मे कोई दोप नहीं है।

इसलिये कारिकाकार का यह कथन कि हे नाथ! आपके मत रूपी अमृत से वाह्य सर्वथा एकान्त वादियों का स्वेष्टतत्त्व प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होता है आक्षेपार्ह नहीं है।

अष्ट शती — १ विजिमी षुरा १ उभय कर्तव्य स्वपरपक्ष साधनदूषणाम्। निराकृतावस्थापितविपक्षस्वपक्षयोरेवजयेतरव्यवस्था नान्यथा

कुशलाऽकुशलं कर्म,परलोकश्च न क्वचित् ।
एकान्त-ग्रह-रक्तेषु, नाथ ! स्व-पर वैरिषु ॥ ८ ॥

अन्वय—हे नाथ एकान्तग्रहरक्तेषु (मध्ये) स्वपर वैरि षु कुशलाकुशलं कर्म परलोकश्च न सभवति ।

अर्थ—हे नाथ ! अनित्यैकान्त आदि अभिनिवेश से परवशीकृत वादियों के बीच स्व और परके बैरी होने के कारण कहीं पर भी–किसी भी वादी के शासन में भी–कुशल-कल्याणरूप शुभकर्म-एवं अकुशल-अकल्याण रूप -अशुभकर्म तथा परलोक और परलोक का कारण धर्माधर्म एव (च शब्द से गृहीत) मोक्ष आदि कुछ भी संभवित नहीं होते हैं ।

भावार्थ–इस कारिका द्वारा स्वामी समन्तभद्राचार्य किसी एकान्त वादो के द्वारा उपस्थित की गई इस आशंका का कि "सर्वथा एकान्तवादियों के यहां भी कुशल एवं अकुशल कर्मकी तथा परलोक की प्रसिद्धि है, एतावता उनमें भी आप्तता की उपपत्ति है, अतः उनका महानपना-महत्त्व-स्तुत्य क्यों नही" परिहार करने के लिये कहते हैं कि सर्वथा एकान्त वादियों के यहां कुशल अकुकल कर्म एव परलोक आदि कुछ भी संभवित नही हो सकते हैं । यद्यपि एकान्त वादियों ने प्राय' करके इनकी सत्ता स्वीकार की है-इन्हें माना है–परन्तु अनेकान्त शासन के वैरी होने के कारण वे विचारे स्वयं के वैरी बन चुके हैं, जिस प्रकार तत्त्वोपप्लववादी पर का बैरी होने से स्व का वैरी बना है । पुन्य एवं पाप रूप कर्म तथा इनके फल स्वरूप सुख एव दूःख रूप कुशलाकुशल और इनके संबन्ध रूप परलोक ये सब यहां स्वशब्द से गृहीत हुए है -ये सब स्व हैं । क्योंकि ये सब एकान्तवादियों ने माने हैं । पर अनेकान्त है । यह एकान्त वादियों को अनिष्ट है ।

अनेकान्त के वैरी ये इस लिये हैं कि उन्होने इस अनेकान्त का प्रतिषेध कथित किया है । अतः अनेकान्त का प्रतिषेधरूप पर वैरित्व इन में स्व के वैरित्व की सिद्धि १ करता है । क्योंकि कर्म-पुण्यपाप-फल-कुशलाकुशल-एवं पुण्य पाप के साथ कार्यकारण लक्षण रूप संबन्ध युक्त परलोक आदि ये सब एकान्त वादियों ने प्राय स्वीकार किये हैं-

१ कर्म-फल-संबंधपरलोकादिकमेकान्तवादिनां प्रायेणेष्ट तदनेकान्तप्रतिषेधेन बाध्यते (अष्ट शती)।

परन्तु जब वे अनेकान्त को अपनी मान्यता से वहिर्भूत कर देते हैं तब इनका अस्तित्व वहां बाधित हो जाता है।

शका —शून्य वादियों ने एवं अद्वैत सिद्धान्त का अवलम्बन करने वालों ने कर्मफल आदि को मान्य ही नहीं किया है फिर आप कैसे कहते हो कि समस्त एकान्त वादियो ने इन्हें माना है। अतः पर वैरित्व हेतु इन वादियों में रहता हुआ भी स्व वैरित्व का साधक एकान्ततः कैसे माना जा सकता है।

आ० उत्तर —सो ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि, इन वादियों ने भी सवृत्ति—माया—रूप से अथवा

मी० मिथ्या रूप से —अपने २ सिद्धान्त में प्रायः इन्हें मान्य रक्खा है।

७४ शंका—अनेकान्त को अपनी मान्यता से बहिर्भूत करने पर -अनेकान्त का प्रतिषेध करने पर-कर्मफल आदि की मान्यता बाधित कैसे होती है? इसे स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर—सर्वथा एकान्त में अर्थक्रिया का प्रतिषेध होने से कर्मादिक की व्यवस्था नहीं होती है, वह इस प्रकार से—एकान्त नित्य में अथवा एकान्त अनित्य में किसी भी प्रकार का क्रम और अक्रम घटित नही होता १ है। इन दोनों की व्याप्ति तो अनेकान्त—कथंचित् नित्य एवं कथचित् अनित्य के साथ हैं। जब अनेकान्त का प्रतिषेध कर दिया जाता है तो क्रम और अक्रम इन दोनों का भी प्रतिषेध हो जाता है। जब क्रम और अक्रम का प्रतिषेध हो जाता है तो ऐसी हालत में इन दोनों से व्याप्त अर्थक्रिया का भी प्रतिषेध हो जाता है। जब अर्थ २ क्रिया ही वहां नहीं है तो उस अर्थ क्रिया से व्याप्त कर्मादिकों का अस्तित्त्व वहां कैसे संभवित हो सकता ३ है। अतः जब सर्वथा नित्य अथवा सर्वथा अनित्य में क्रम से अथवा अक्रम से अर्थक्रिया संभवित नहीं होती है क्योंकि उसका सद्भाव अनेकान्त

१-यो यत्रैव स तत्रैव, यो यदैव तदैव सः।
न देशकालयोर्व्याप्ति, र्भावानामिह विद्यते ॥

१—कार्य करण अर्थ क्रिया।

२—इस विषय को स्पष्ट जानने के लिये युक्त्यनुशासन के अनुवाद को देखना चाहिये।

आ० मी० ७५ में ही संभवित होता है तो ऐसी हालत में अनेकान्त का प्रतिषेध करना कर्मफल आदि की मान्यता का विघातक ही है। अथवा—क्षणिकादि एकान्त की मान्यता विना अनेकान्त की स्वीकृति के, बन ही नहीं सकती। क्योंकि क्षणिकादि एकान्त का सत्त्व अपने निजरूप की अपेक्षा से ही तो माना जायगा पररूप की--अनेकान्त की--अपेक्षा से नहीं। अतः इसी प्रकार की मान्यता ही तो अनेकान्त है, स्वरूप की अपेक्षा अस्तित्व एवं पर रूप की अपेक्षा नास्तित्व अंगीकार किये विना क्षणिकादि एकान्त का सत्व जब बन नहीं सकता तो फिर अनेकान्त का प्रतिषेध हो ही कैसे सकता है। अतः क्षणिकादि एकान्त अनेकान्ताविनाभावी ठहरता है। जब यह है तो अनेकान्त का वैरी होना इसका मतलब ही यही है कि स्व का वैरी होना।

शंका—पर वैरी होने से स्ववैरित्व वहीं पर घटित होता है जो सर्वथा सदेकान्त वादी हैं। क्योंकि सदेकान्त में किसी भी कार्यादि व्यापार रुप अनुष्ठान से किसी भी आत्मा में कदाचित् भी न तो कर्म का जन्म बन सकता है, न कर्म के फलस्वरूप सुख दुःखादिक का, न परलोक का और तत्त्वज्ञान आदि से निःश्रेयस का, क्योंकि इस मान्यता में असत् कोई है ही नही कि जिसका जन्म वहां कुतश्चित् कारणादि व्यापार से माना जा सके। यहां तो जो कुछ भी है वह सब सर्वथा सत्स्वरूप ही है। असदेकान्त की मान्यता में यह बात नहीं है क्योंकि, यहां तो कारण विशेष से किसी आत्मा में कर्म आदि का जन्म बन जाता है। क्योंकि असत् का ही प्रादुर्भाव हुआ करता है सत् का नहीं।

उत्तर ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सर्वथा सदेकान्त में और सर्वथा असदेकान्त में कर्मफल आदि के जन्म का विरोध आता १ है। यह बात थोड़े ही है कि केवल सदेकान्त में ही कर्मफल आदि का जन्म विरुद्ध पड़े असदेकान्त में नही। असदेकान्त में भी कर्मफल आदिका प्रादुर्भाव घटित नहीं हो सकता है क्योंकि इस असदेकान्त में

न--न हि सर्वात्मना सर्वस्य भूतावेव जन्मविरुद्धमपि तु सर्वथाऽभावेऽपि, व्यालोकप्रतिभासानामनुपरमप्रसङ्गात् -अष्टशती।

ये सब कर्मफलादिक असत् ही एकान्ततः माने गये हैं। जब ये असत् हैं तो इनका जो उत्पादक होगा वह भी असत् ही होगा। सत् स्वरूप वह हो ही नहीं सकता! क्योंकि इस मान्यता में तो असदेकान्त की मान्यता ही ध्वस्त हो जाती है। अतः जब असत् कर्मादिकों का असत् कारणों से जन्म माना जायगा तो फिर इनके जन्म में अनुपरमता का प्रसग प्राप्त होता है। ऐसी हालत मे आपकी दृष्टि से मिथ्या प्रतिभास वाले इन कर्मादिकों की उत्पत्ति का कभी उपरम हो ही नहीं सकता है। इसलिये यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है कि सर्वथा सदेकान्त में सर्वथा असदेकान्त में कथमपि कदाचित् कुतश्चित् किसी भी जगह अर्थ क्रिया नही हो सकती है। अर्थ क्रिया के अभाव में पापादिक कर्म सिद्ध नहीं होते हैं। इसी तरह नित्यैकान्त एवं अनित्यैकान्त में भी अर्थक्रिया का अभाव प्रसक्त होता है। इस प्रकार सर्वथा एकान्त वादियों को प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विरुद्ध वस्तु की प्ररूपणा करने वाले होने से उनमें अज्ञानादिक दोषों की आश्रयता सिद्ध होती है। इससे वहां आप्तता सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिये हे नाथ! आप ही युक्ति और शास्त्र से अविरोधिवचन होने से सर्वज्ञ एवं वीतराग हो। ऐसा महामुनियों ने निश्चय कर तत्त्वार्थ सूत्र के आरम्भ में उसकी सिद्धि का कारण होने से आपका स्तवन किया है।

भावैकान्ते पदार्थना,मभावानामपह्नवात्
सर्वात्मकमनाद्यन्तमस्वरूपमतावकम् ॥ ९ ॥

अन्वय–पदार्थनां भावैकान्ते अभावानां अपह्नवात् सर्वात्मक अनाद्यनन्तं अस्वरूप (इति दूषणास्पदं) अतावकं (मतम्) ।

अर्थ—हे नाथ! पदार्थों का एकान्त रूप से अस्तित्व ही है ऐसा सिद्धान्त स्थिर करने पर इतरेतरादिक चार प्रकार के अभावों का सर्वथा लोप हो जाता है। इससे पदार्थों में परस्पर में सर्वात्मकत्व, अनादित्व, अनंतत्व एवं अस्वरूपत्व इन चार प्रकार के दोषों का सद्भाव होने से आपके शासन से बहिर्भूत एकांत वादियों का सिद्धान्त [illegible] होता है।

भावार्थ—कारिकाकार श्री स्वामी समतभद्राचार्य इस कारिका द्वारा "पदार्थों का अस्तित्व ही है" ऐसा सिद्धान्त मानने पर प्रत्यक्ष एवं अनुमानसे इसमें कोई बाधा नही आती है अत इस सिद्धान्त के प्ररूपको में निर्दोषत्व की सिद्धि होने से उनमें आप्तता सगत होती है। इसलिये वहां स्तुत्यता रहो,, इस प्रश्न का स्पष्टीकारण करते हैं। वे प्रत्युत्तर रूप में कह रहें हैं कि जब पदार्थों का निश्चित रूप से भावैकान्त सिद्धान्त स्थिर किया जाता है तो यह निश्चित है कि इस भावैकान्त की मान्यता के समक्ष अभावों का सवथा लोप ही हो जाता है। जब इतरेतराभाव, अत्यन्ताभाव, प्रागभाव एव प्रध्वसाभाव इन चार प्रकार के अभावो की मान्यता को स्थान ही नहीं है—स्वरूपतः जब इस सिद्धान्त के आगे वे ठहर नहीं सकते हैं--तो ऐसी हालत में "हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्ग । सावयव परतन्त्र व्यक्त विपरीतमव्य१क्तम्" इस कारिका द्वारा जो सांख्यों ने व्यक्त और अव्यक्त का भिन्न २ रूप से लक्षण प्रदर्शित किया है वह विरूद्ध पड़ता है। क्योकि व्यक्त और अव्यक्त इन दोनों में भेद ही सिद्ध नहीं है। भेद का कारण तो इतरेतराभाव है। वह सिद्धान्त मान्यता से बहिर्भूत है। इसलिये व्यक्त अव्यक्तात्मक होने पर भावैकान्त की मान्यता "सर्वात्मकत्व" इस दोष से दूषित सिद्ध होती है। मतलव इसका यह है कि सांख्य सिद्धान्त जो भावैकान्तवादी है पच्चीस तत्त्व मानता है—वे तत्त्व ये है "मूलप्रकृतिरविकृति,र्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकश्चय विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरु१ष" एक मूल प्रकृति यह अविकृतिअकार्य है। किसी का कार्य नहीं है-किन्तु कारण ही है इससे महान्-बुद्धि, बुद्धि से अहंकार, अहंकार से पांच तन्मात्रा-गंध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द-ये सात कारण रूप भी हैं और कार्य रूप भी हैं। पांच ज्ञानेन्द्रिय—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण-तथा पांच कर्मेन्द्रिय-वाक्,पाणि, पाद, पायु एव उपस्थ -और पांच भूत-पृथिवी, अप्, तेज, वायु और आकाश तथा मन ये सोलह कार्य ही हैं। पुरुष न कार्य है और न कारण है। इस प्रकार इन पच्चीस तत्त्वो में प्रकृतितत्त्व सिर्फ कारण रूप ही है। पुरुष तत्त्व कारण और

---

१ साख्य तत्त्व कौमुदी,

१ साख्यतत्त्व कौमुदी

कार्य से रहित है । महदादिक सात में बुद्धि, प्रकृति का कार्य है । अहकार बुद्धि का कार्य है । अहंकार का कार्य पांच तन्मात्रा, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय और एक मन ये सोलह पदार्थ हैं । इनमे पांच तन्मात्राओं के कार्य पांच भूत हैं । इस प्रकार बुद्धितत्त्व कार्य भी है और कारण भी है, इसी तरह अहंकार और पांचतन्मात्राए है । पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मोन्द्रिय, पाच भूत एवं मन ये सोलह पदार्थ कार्य रूप ही है । इससे यह फलित हुआ कि इन पच्चीस तत्त्वो में कोई कारण कोई २ कार्य कारण कोई सिर्फ कार्य एवं कोई अकार्य इस तरह ४ रूप से १ व्यवस्थित है । इस प्रकार सांख्यो ने इन पच्चीस तत्त्वो को सर्वथा-एकान्त रूप से अस्तित्व स्वरूप ही माना है नास्तित्व स्वरूप नहीं-अतः इस प्रकार की यह मान्यता भावैकान्त है । इस मान्यता में प्रागभावादिक चार प्रकार के अभाव का लोप होता है । इसमें इतरेतराभाव का लोप होने पर ये पच्चीस तत्त्व सब के सब एक तत्त्व रुप ही ठहरते है । अतः इस प्रकार के भेद वर्णन का प्रयोजन ही क्या रहता है । ये जितनी भी व्यक्तात्मक तत्त्व है वे सब अव्यक्तात्मक ठहरते है इसलिये इस मान्यता में "सर्वात्मक" यह प्रथम दोष आकर उपस्थित हो जाता है । प्रकृति और पुरुष में अत्यन्ताभाव का निह्नव करने पर प्रकृति को पुरुपात्मक रूप होने पर प्रकृति और पुरुप के भिन्न २ लक्षण के कथन का विरोध उपस्थित होता है । तथा च 'त्रिगुणमविवेकी विषय, सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मी । व्यक्त तथा प्रधान, तद्विपरीतस्तथा च १ पुमान्" इस कारिकागत उनका भेद कथन शोभित नहीं होता । प्रागभाव के अपह्नव करने पर "प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः, तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि, प्रकृति से महान्, महान, से अहकार, अहंकार से सोलहगण, पांच तन्मात्राओसे पांचभूत इस प्रकार से सृष्टि की उत्पत्तिके क्रम का वर्णन विरुद्ध पडता है क्योंकि ये सब के सब अनादि ठहरते हैं । प्रध्वसाभाव के लोप मे यह वर्णन करना कि "पृथिवी आदिक पांचमहाभूत पांचतन्मात्राओ में, षोडशगण अहकार मे, अहंकार महान् में, और महान् प्रकृति में लय हो जाते है, विरुद्ध पड़ जाता है । क्योंकि ये सब अन्तरहित

१—"प्रकृतेर्महान् ततोऽहकादरतस्माद्गणश्च षोडशक", तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्य पञ्च भूतानि" सांख्यकारिका सांख्यतत्त्व कोमुदी

प्रध्वंसाभाव के अभाव में सिद्ध होते हैं। इस प्रकार वस्तुस्वरूप के नियामक इन चारो अभावो के अपह्नव मे इन पूर्वोक्त चारो दोषों के सद्भाव होने पर ये सब पच्चीसतत्त्व अपने २ असाधरण-निज२ स्वरूप से-किसी भी तत्त्व की व्यवस्था नहीं बनने से अस्वरूप विशिष्ट-निज २ स्वरुप से रहित सिद्ध होते हैं। इस तरह एक का एक में अभाव का लोप होने पर "सर्वस्योभयरूपत्वे,तद्विशेषनिराकृतेः। चोदितो दधि खादेति, किमुष्ट्रं नाभिधा१ वति" पदार्थ में अन्यरुपता की प्रसक्ति होती है, इस प्रसक्ति में जब किसी से यह कहा जावे कि भाई! दही खाओ। तब वह ऊंट को भी खाने के लिये क्यों नही दौढ लगायेगा- अर्थात् अवश्य लगायेगा-क्योंकि दही और ऊंट इतरेतराभावके अभाव मे एक हैं-दही में ऊंट का अभाव नहीं और ऊंट में दही का अभाव नहीं।

शंका—हम सांख्यों ने व्यक्त और अव्यक्त में तत्स्वभावभूत इतरेतराभाव को प्रकृति और पुरुप में तद्रूप अत्यन्ताभाव को महत्—महान्—एव अहकार आदि में स्वकारणरूप प्रागभाव को और महाभूतादिक में स्वान्तर्भावाश्रयरूप प्रध्वंसाभाव को स्वीकार किया है। फिर आपका सर्वात्मकत्वादिक दोषों का हम पर लागू करना यथार्थ कैसे माना जा सकता है। क्योकि इस प्रकार की मान्यता में अभावों के अपह्नव की सिद्धि नहीं होती है।

उत्तर—इस प्रकार के कथन से भावैकान्त की मान्यता का विरोध आता है। कारण कि यह कथन सर्व पदार्थों में भावाभावात्मकता की सिद्धि का विधायक होता है। जैन दार्शनिकों ने भी भाव से सर्वथा भिन्न अभाव को नही माना है। अर्थात्—अभाव भावस्वरूप अंगीकार किया गया है। यदि भाव से भिन्न सर्वथा रूप मे अभाव माना जावे तो वह नीरूप हो जायगा—तुच्छाभावरूप हो जायगा—ऐसी हालत मे इसमे नास्तीति प्रत्ययजनकता का अभाव हो जायगा—परन्तु ऐसा नही है—इसके द्वारा नास्तीति प्रत्ययजनकत्व का सद्भाव होता है, अतः इसमे नीरूपता का अभाव है और इसलिये इसमें भावरूपता सिद्ध होती है। "नास्ति" इस प्रतीति का एवं "नास्ति" इस अभिधान का विषयभूत पदार्थ भावस्वरूप अंगीकार किया गया है। जिस प्रकार अस्तित्व वस्तु का धर्म है उसी प्रकार नास्तित्व भी वस्तु का

अष्टसहस्री

धर्म माना गया है। "अस्ति" इस प्रकार के ज्ञान का विषयभूत पर्याय वस्तु का अस्तित्व है। "नास्ति" इस प्रकार के ज्ञान का विषयभूत पर्याय वस्तु का नास्तित्व है। अतः ये दोनों वस्तु के धर्म हैं। यदि ऐसा न माना जाय किन्तु निष्पर्याय-द्रव्यैकान्त पक्ष ही स्वीकार किया जाय तो नियमतः सर्वात्मकत्वादि पूर्वोक्त दोषों का अनुषङ्ग परिहर्तुं १ शक्य कैसे हो सकता है।

शंका—सर्वात्मकत्वादिक दोषों के परिहार करने की जो आप अशक्यता प्रतिपादित कर रहे हैं सो हमें इसकी चिन्ता ही नहीं है क्योंकि हम सांख्यों ने प्रकृति समस्त व्यक्तात्मक मानी है और अनादि अनन्त स्वरूप वाली भी मानी है। प्रकृति के अतिरिक्त वास्तव में महदादिक स्वतन्त्र विशेष तत्त्व संभवित ही नहीं होते हैं।

उत्तर—आपका ऐसा कहना अपने सिद्धान्त पर कुठाराघात करना जैसा है क्योंकि इस प्रकार के कथन से तो प्रकृति और पुरुष में भी भेद के अभाव का प्रसग प्राप्त होता है। क्योंकि सत्ता की अपेक्षा इन दोनों में स्वतन्त्रता प्रतीत नहीं होती—अतः सत्ताद्वैत की इस आपके कथन से पुष्टि होती है। प्रकृति में भी सत्ता का सद्भाव है और पुरुष में भी फिर भेद कैसा ?

सत्ताद्वैतवादी—तो फिर इसमे आपका नुक्सान ही कौनसा हैं। सत्ताद्वैत ही एक सिद्धान्त रहा आवे। कारण कि चेतन और अचेतन ऐसे जो ये दो भेद हैं वे सब एक अविद्या की महरवानी से ही तो कल्पित हुए है।

जैन—अच्छा १ ठीक है--परन्तु इतना तो आप कहिये कि ये जो विशेष--भेद प्रतीत होते है, इनका अपह्नव आप किस प्रमाण से करते हैं। क्या प्रत्यक्ष से या अनुमान से या आगम से। प्रत्यक्ष प्रमाण तो भेदों का अपह्नव करने वाला है ही नहीं, क्योंकि आपके सिद्धान्तानुसार वह विधायक ही माना गया है निषेधक नहीं। अनुमान एवं आगम भी विशेष-

---

१—निष्पर्यायद्रव्यैकान्तपक्षे सर्वात्मकत्वादि दोषानुषङ्गः। अष्टशती।

१—"कुतः पर्वविशेषानपह्नवीत" अष्टशती। २—आहुर्विधातृ प्रत्यक्ष, न निषेधृ विपश्चितः। नैकत्वे आगमस्तेन, प्रत्यक्षेण प्रबाध्यते।

भेदों-के निषेधक नहीं माने गये हैं प्रत्युत विधायक ही माने गये हैं। इस प्रकार विशेषों का अपह्नव किसी भी प्रमाण से जब आपके इस सत्ताद्वैत सिद्धान्त में नहीं होता है--तो फिर उनका अपह्नव आप कैसे करते है--इसके लिये आपके पास क्या उत्तर है।

सत्ताद्वैतवादी--उत्तर एक यही है कि विशेष साधक जो भी साधन हैं वे सब व्यभिचरित हैं। वस्तु विशेष साधन वादियों ने जो भी विशेषों--भेदों--को सिद्ध करने के लिये साधनों का प्रयोग किया है जब हम उनका विचार करते है तो इस परीक्षा की कसौटी पर वे सब निर्दोष साबित नहीं होते हैं। जैसे--जब विशेषवादी अपने पक्ष की सिद्धि के लिये यह कहता है कि "विशेषाः सन्ति कारण भेदात्" कारणो के भेद से विशेष है, तो यहां पर जो कारण भेदरूप साधन है वह अभेदवादी हमलोगो को सिद्ध नहीं है--असिद्ध है। हेतु वही होता है जो वादी और प्रतिवादी दोनों को इष्ट हो। इसी तरह "विशेषा सन्ति विरुद्धधर्माध्यासात्" विरुद्ध धर्मों से युक्त होने से विशेष हैं अर्थात् अभेद एकत्व--अद्वैत धर्म विशिष्ट है और विशेष अनेकत्व--द्वैत--धर्मविशिष्ट है, इस अपेक्षा विशेष विरुद्धधर्म विशिष्ट है इसलिये वे है सो ऐसा कहना भी योग्य नही है क्योंकि यह हेतु भी हम अद्वैतवादियों की दृष्टि में सिद्ध नहीं है। विशेषों को सिद्ध करने के लिये पुनः यदि यह कहा जाय कि "संविन्निर्भासभेदात् भावस्वभावभेद :' (अ० श०) ज्ञान में भिन्न २ पदार्थों का प्रतिभास होता है अतः ज्ञानगत प्रतिभास के भेद से पदार्थों के स्वभाव में भेद साबित (सिद्ध) होता है सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण कि चित्राद्वैतवाद की अपेक्षा यह सविन्निर्भासभेद तो एकत्व मे भी होता है--क्योंकि वहां पर भी आत्मा रूप एकत्व का खण्डशः प्रतिभास होता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि चित्राद्वैत में ज्ञानस्वरूप आत्मा के एकत्व का जो खण्डश प्रतिभास होता है वह भ्रान्त है--आत्मा तो वास्तव में एक ही है अतः यहां पर संविन्निर्भासभेद १ है ही नहीं तो इसी प्रकार आपको भी यही मानना चाहिये कि वास्तव में ज्ञान में प्रतिभास भेद होता ही नहीं है। यह तो प्रतिपत्ता

१--अविभागोऽपि बुद्ध्यात्मा, विपर्यासित दर्शनैः।
ग्राह्यग्राहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते ॥ अष्टसहस्री

आ० मी० ८२

का अविद्यारूप कारण को लेकर एक तरह का विभ्रम ही है। अद्वैत सिद्धान्त में तो एक-अद्वैत-ज्ञान की ही व्यवस्थिति मानी गई १ है। यदि इस पर यो कहा जाय कि यदि एक अद्वैततत्त्व ही होता तो जो बुद्धयादिरूप नाना कार्य देखे जाते हैं वे नहीं देखे जाने चाहिये-अत "वस्तुनो नानात्वं बुद्धयादिकार्यनानात्वात् प्रतीयते" [अ० श०] "इस बुद्धयादिकार्यनानात्व से वस्तुओं में नानात्व-भेद-की सिद्धि होती है सो ऐसा कहना भी उचित नही है क्योकि "स्वभावाभेदेऽपि विविधकर्मता दृष्टा युगपदेकार्थोपनिबद्धदृष्टिविपयक्षणवत्" [अ० श०] यह हेतु भी व्यभिचरित है और वह इस प्रकार से-एक नर्त्तकी कि जो कि रंगशाला में उपस्थित प्रेक्षकजनों के समक्ष नाच रही है उसे देखनेवालों के चित्त में अनेक प्रकार की भावनारूप कार्यों का उद्गम होता है। यहां पर नर्तक्यादिक्षण एक ही है-परन्तु इसके द्वारा प्रेक्षकजनो के चित्त में विविध कार्यों का उद्गम कराया जाता है-अतः यह बात कैसे स्वीकार की जा सकती है कि बुद्धयादिकार्यनानात्व से वस्तु में नानात्व हो, यदि उस नर्तकी में नानाशक्ति की अपेक्षा से कि जो नानाभावना स्वरूप बुद्धयादिक कार्यों की जनक है स्वभावभेद-नानात्व—अंगीकार किया जाय तो इस कथन में कोई तथ्य नहीं है कारण कि इस प्रकार की मान्यता से अनवस्था दोष प्रसक्त होता है। नर्तकी आदि की एक शक्ति में बुद्धयादिक कर्म नानात्व को उद्भावित करने की अपेक्षा से शक्ति-नानात्व की कल्पना करनी पडेगी-उन कल्पित नाना शक्तियो में से फिर एक शक्ति में बुद्धयादिरूप नाना कार्यों को उद्भावित करने से नाना शक्तियों की कल्पना करनी पड़ेगी इस प्रकार स्पष्टत अनवस्था दोष से पिंड नहीं छूट सकता है। अन्त में फिर भी यही मानना पडेगा कि जो शक्ति अन्त में एक बचेगी वह नाना शक्तियों के अभाव में भी बुद्धयादिक नाना कार्यों की जनक होगी ही-अतः इस प्रकार से यही बात साबित (सिद्ध) होतो है कि बुद्धयादिक नाना कार्य को उत्पन्न करने से वस्तु में नानात्व सिद्ध नहीं होता है। इसलिये वस्तु में नानात्वसिद्ध करने के लिये प्रदत्त यह "बुद्धयादिकार्यनानात्वात्" हेतु व्यभिचरित ही है। इसलिये पहिले जो यह हमसे पूछा गया है कि सत्ताद्वैतवादी किस प्रमाण से विशेपो का-भेदो—का-अपह्नव करेगा सो यहां तक उनके अपह्नवो का कारण प्रकट

२-यथा विशुद्धमाकाश-तिमिरोपप्लुतो नर । सकीर्णमिव मात्राभि, भिन्नाभिरभिमन्यते । तथेदममल ब्रह्म, निर्विकल्पमविद्यया कलुषत्वमिवापन्न, भेदरूप प्रपश्यति ।। (अष्टशहस्री)

कर दिया गया है —विशेष-भेदो-केसाधक जो भी साधन हैं वे सब व्यभिचरित हैं—अतः जब भेदों की सिद्धि नहीं होती है तो यही मानना पड़ता है कि एक सत्ताद्वैतवाद ही वास्तविक मत है।

सत्ताद्वैतवादी जिसका दूसरा नाम वेदान्ती है का कहना है कि विधिरूप एक परमार्थसत् ब्रह्म ही प्रमाण का विषय है। इसकी सिद्धि निर्विकल्प प्रत्यक्ष १ से होती है। प्रत्यक्ष प्रमाण इन के सिद्धान्त की अपेक्षा विधायक ही माना गया है निषेधक नहीं। तथा घट पट आदि के भेद को ग्रहण करनेवाला सविकल्पक प्रत्यक्ष भी घट पट आदि को भी सत्ता रूप से ही जानता है इस-लिये सविकल्प प्रत्यक्ष भी परब्रह्म रूप सत्ता का ही साधक है। सत्ता ही परब्रह्म रूप है, अनुमान २ प्रमाण भी इसी विधि रूप ब्रह्म का प्रख्यापक है। आगम प्रमाण भी "पुरुषएव इद सर्वं यद्भूत यच्च भाव्य, तथा सर्वं वै खल्विद ब्रह्म, नेहनानाऽस्ति किञ्चन। आरामं तस्य पश्यन्ति, न तत् पश्यति कश्चन"॥ इस रूप से ब्रह्म का प्रतिपादन करता है। अवशिष्ट उपमान, एवं अर्थापत्ति प्रमाण भी भाव को विषय करनेवाले होने से एक विधितत्त्व के ही समर्थक हैं। रहा अभाव प्रमाण-सो इसका कोई अस्तित्व ही नहीं है, कारण कि उसका कोई स्वतन्त्र विषय नहीं है। इसी बात को स्वामी अकलंक देव ने उनकी ओर से "न हि वस्तुव्यतिरिक्तमसन्नाम प्रमाण-स्यार्थविषयत्वात्" इस अष्टशती द्वारा प्रतिपादित किया है। प्रमाण भाव रूप अर्थ को ही विषय करता है, असत्-अभाव-को नही "प्रत्यक्षाद्यवतारः स्यात् भावांशो गृह्यते यदा। व्यापारस्तदनुत्पत्तो, रभावांशे जिघृक्षिते॥" इस कारिका मे यही बात स्पष्ट की गई है। यदि अभाव का प्रत्यक्ष माना जाय तो "तदवसानकारणाभावात् भावदर्शनमनवसर प्राप्नोति" (अ. श.) भाव रूय पदार्थ के दर्शन करने का अवसर ही प्राप्त नही हो सकता। अत प्रमाणपंचक का विपय एक विधिस्वरूप ब्रह्म ही है। यही तत्त्व प्रमेय है। जो विधि रुप नही है वह गधे के सींग की तरह प्रमेय भी नही है।

१--अस्ति ह्यालोचनाज्ञान, प्रथम निर्विकल्पक। बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजं॥ २-ग्रामारामादय· पदार्थाः प्रतिभासान्तः प्रविष्टा. प्रतिभासमानत्वात्-यत्प्रतिभासते तत्प्रतिभासान्त प्रविष्ट यथा प्रतिभासस्वरूप-प्रतिभासन्ते च ग्रामारामादय पदार्था. तस्मात् प्रतिभासान्त प्रविष्टाः। -प्रमेयरत्नमाला पृष्ठ ७५

दृश्यमान यह जितना भी जगत है वह सब प्रतिभास में गर्भित होता है क्योंकि वह प्रतिभास के स्वरूप की तरह प्रतिभास का विषय है।

जैन—इस प्रकार से विशेषों का अपह्नव करते हुए जो सत्ताद्वैतवादी ने एक सत्ताद्वैत की सिद्धि के विषय में कहा है सो किस साधनके बलपर कहा है,क्या प्रतिभासन या तत्कार्य अथवा तत्स्वभावरूप साधनके आधारपर ? या अन्य किसी साधन के आधार पर ? यदि कहा जाय कि साधन के आधार पर ही कहा है-तो फिर भी यही प्रश्न होता है कि वह साधन साध्य से भिन्न है या अभिन्न है। भिन्न साधन को साध्य से माननेपर द्वैतापत्ति आती है, यदि साध्य से साधन अभिन्न है ऐसा माना जावे तो इस हालत में साध्य और साधन में अभेद होने पर दोनों एक हो जायेंगे, ऐसी अवस्था में कौन किसका साधक हो सकेगा। तथा च, हेतु रूप से संमत प्रतिभासन एव तत्कार्यादिक से यह एक स्वरूप साध्य निर्णीत कैसे हो सकेगा। दूसरे—अनुमान में पक्ष सपक्ष एवं विपक्ष का सद्भाव हुआ करता है। अद्वैतैकान्त की मान्यता में इनका सद्भाव हो ही नहीं सकता है। साध्यधर्म के आधारपने से प्रसिद्ध धर्मी पक्ष होता है। जब एक अद्वैत की ही मान्यपा कबूल की जा रही है तो इस अद्वैत रूप साध्य को सिद्ध करने के लिये इसके आधार रूप से स्वतन्त्र धर्मी-पक्ष-प्रसिद्ध होना चाहिये। परन्तु वह समस्त धर्मीरूप पदार्थ सत्ताद्वैतरूप साध्य से भिन्नरूप में प्रसिद्ध ही नहीं है, क्योंकि उनकी प्रसिद्धि मानने पर द्वैतापत्ति आती है। यदि इस पर यो कहा जाय कि परमत की प्रसिद्धि के अनुसार हम उन्हें प्रसिद्ध मान लेगें सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जब इस वादमें स्व और पर का विभाग ही सिद्ध नहीं है तब पराभ्युपगम की सिद्धि भी कैसे हो सकती है। अतः जब समस्त पदार्थों की धर्मी रूप से प्रसिद्धि नहीं हो सकती है—तो फिर इस एकत्वसत्ताद्वैतरूप साध्य-की सभवता भी कैसे हो सकती है, क्योंकि पदार्थ भिन्न सिद्ध हों तभी जाकर उनमे एकत्व साध्य सिद्ध किया जाय-परन्तु ऐसा तो है नहीं। इसलिये पक्ष कथमपि (किसी प्रकार भी) प्रसिद्ध नहीं हो सकता है। जब पक्ष की ही सिद्धि इस सिद्धान्त में नहीं बनती है, तो फिर इससे विरुद्ध-साध्याभाववान्-विपक्ष की एवं साध्य-सजातीय रूप सपक्ष की सिद्धि भी कैसे हो सकती है। यदि इनका अस्तित्व माना जायगा-तो फिर द्वैतवाद की

सिद्धि का प्रसग प्राप्त होगा। इसलिये सत्ताद्वैतवादियों का यह अनुमान "सर्वेऽर्थाः प्रतिभासान्तःप्रविष्टाः प्रतिभास-समानाधिकरणतयाऽवभासमानत्वात् प्रतिभासस्वात्मवत्" निरस्त हो जाता है। क्योंकि पक्ष सपक्षादिकों का अस्तित्व ही इस सिद्धान्त में सिद्ध नहीं होता है। यदि इस पर फिर भी यही कहा जाय कि अनुमान से भले ही सत्ताद्वैत की सिद्धि न हो तो कोई हर्ज की बात नहीं है-आम्नाय-वेद-से इसकी सिद्धि होती है-सो ऐसा कहना भी इसलिये ग्राह्य नही होता है कि साध्यरूप- ब्रह्म से यदि वेद की भिन्नता अंगीकार की जाती है तो द्वैत का प्रसंग ज्यो का त्यों खड़ा रहता है- और यदि वेद की साध्य से अभिन्नता अंगीकृत की जाती है तो साध्य और वेद में अभेद होने से साध्य साधनभाव नहीं बन सकता है। इस प्रकार "न हि क्वचिदसाधनासाध्यसिद्धि अतिप्रसगात्" (अष्टशती) जब इस सत्ताद्वैत का साधक कोई प्रमाण संभवित नहीं होता है तो फिर इसे अंगीकार करना युक्ति युक्त नहीं माना जा सकता है। प्रमाण प्रसिद्ध साध्य की ही सिद्धि सबको मान्य होती है। यदि कहने मात्र से साध्य सिद्धि होने लगे तो फिर क्या है-सबके स्वेष्ट तत्त्व की सिद्धि मान लेनी चाहियें-तथा च शून्यतादिक की भी सिद्धि मान लेनी पड़ेगी।

इस तरह इतरेतराभाव के न मानने पर सत्ताद्वैतवाद की भी मान्यता सदोष ठहरती है। क्योंकि इतरेतराभाव के अभाव से तत्त्व एक रूप ठहरता है, सो तत्त्व की व्यवस्था उस ढग की है नहीं।

अतः हे नाथ! "पदार्थो का एकान्तरूप से अस्तित्व मानने पर आभावो के अपह्नव से उनमे सर्वात्मकत्वादिक दोषो के सद्भाव हो जाने के कारण आपके शासन से बहिर्भूत एकान्तवादियो का सिद्धान्त सदोष साबित होता है।" यह कथन सर्वथा निर्दोष है।

कार्य द्रव्यमनादि स्यात्, प्रागभावस्य निह्नवे।
प्रध्वंसस्य च धर्मस्य, प्रच्यवेऽनन्ततां व्रजेत् ॥ १० ॥

अन्वय—प्रागभावस्य निह्नवे कार्यद्रव्यं अनादि स्यात्। च प्रध्वंसस्य धर्मस्य प्रच्यवे (कार्यं द्रव्यं) अनन्ततां व्रजेत् ॥

अर्थ–प्रागभाव के अपलाप करने पर पृथिवी आदि कार्य द्रव्य अनादि ठहरता है और प्रध्वसाभाव के अपह्नव करने पर वह अनंतता को-अविनाशता को-प्राप्त होता है।

भावार्थ—स्वामी समन्तभद्र इस कारिका द्वारा घटादिक का एवं शब्दादिक का प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव नहीं मानने वाले-अर्थात् इन दोनों का अपलाप करने वाले चार्वाक १ एवं सांख्य २ और मीमांसको के प्रति दूषण प्रकट करते हुए कह रहे हैं कि हे नाथ! यदि कार्य का प्रागभाव न माना जाय–अर्थात् उसका निह्नव किया जाय तो वह कार्य द्रव्य अनादि ठहरता है। यद्यपि कार्य द्रव्य प्रागभाव के सद्भाव से सादि होता है परन्तु प्रागभाव के अपलाप करने पर उसमे अनादिता-आदि रहितपने-की प्रसक्ति आती है तथा प्रध्वंसाभाव के सद्भाव से ही कार्य द्रव्य अन्त सहित माना जाता है, परन्तु जब इसका भी अपलाप कर दिया जायगा तो ऐसी हालत में कार्य द्रव्य अविनाशी मानना पडेगा, परन्तु ऐसा तो है नहीं अतः इन दोनो का अपलाप करना युक्तियुक्त नहीं।

चार्वाक-प्रश्न–प्रागभाव का लक्षण क्या है ?

जैन-उत्तर---कार्य का अपनी उत्पत्ति के पहिले नही होना यही उसका प्रागभाव है। "प्राग्,अभवनं प्रागभाव:" प्राक्-अपनी उत्पत्ति के पहले-अभवन-कार्य का नही होना-इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्रागभाव का ऐसा ही अर्थ लभ्य होता है। अत. आत्मलाभ से पहिले कार्य का अभाव ही प्रागभाव है और यह प्रागभाव कार्य का प्राग्-पहिले का अव्यवहित -अनन्तर-परिणाम स्वरूप ही है।

चार्वाक--यदि कार्य के पहिले का अनन्तर-अव्यवहित-परिणाम ही उसका प्रागभाव माना जावे तो ऐसी अवस्था में उस अनन्तर परिणाम से पूर्व की जितनी भी विवक्षित कार्य की अनादि परिणाम सतति है उन सब में

१–टीकाकार श्रीविद्यानदी के अभिप्राय से यह कारिका स्वामी जी ने चार्वाक के प्रति कही है और २-अष्टशतीकार श्री भट्टाकलकदेव के अभिप्राय से यह कारिका साख्य एव मीमांसको के प्रति कही गई है।

उस कार्य के सद्भाव का प्रसंग प्राप्त होता है, क्योंकि प्रागभाव का लक्षण उनमे घटित नहीं होता है। विवक्षित कार्य प्रागभाव का अभाव स्वरूप आप मानते हैं। ऐसी स्थिति मे उन समस्त अनादिपरिणाम सन्ततियों मे विवक्षित कार्य के सद्भाव का प्रसग प्राप्त होने से घट-विवक्षित--कार्य---मे अनादिता का सद्भाव दुर्निवार हो जाता है!

जैन — उन समस्त अनादि परिणाम सन्ततियों में विवक्षित कार्य रूप घट का सद्भाव प्रसंग इसलिये प्राप्त
ा० नहीं हो सकता है कि इनमें और घटरूप विवक्षित कार्य में परस्पर में इतरेतराभाव है। अतः कार्य में अनादिता की
ी० प्रसक्ति का दोप प्राप्त नही होता है।

८७ चार्वाक — यदि इस प्रकार के उत्तर से विवक्षित कार्य में प्राप्त अनादिता की प्रसक्ति का वारण किया जायगा तो फिर अव्यवहित क्षण मे भी कि जिसे आपने विवक्षित कार्य का प्रागभाव माना है इतरेतराभाव विद्यमान होने से उस विवक्षित कार्य के अभाव की सिद्धि होजाती है फिर प्रागभाव के मानने का प्रयोजन क्या रहा?

जैन---प्रागभाव मानने का प्रयोजन यह है कि विवक्षित कार्य प्रागभाव का अभाव स्वरूप है-अर्थात्-विवक्षित कार्य घट है उसका प्रागभाव–अव्यवहित-अनन्तरक्षणवर्ती मृत्पिंड (मिट्टी का पिंड)–है इसका अभाव ही तो घट है-अत विवक्षित घट रूप कार्य प्रागभाव का अभाव स्वरूप है इस बात के सिद्धि के लिये प्रागभाव की मान्यता अंगीकृत की गई है।

चार्वाक–तो फिर इस तरह की मान्यता से तो यही वात आती है कि कार्य की अनन्तर क्षणवर्ती जो मृत्पिड रूप प्रागभाव अवस्था है उससे रहित जितने भी और पूर्व एव उत्तर क्षणवर्ती समस्त परिणाम -पर्यायें-हैं उन सब में विवक्षित कार्य के सद्भाव का प्रसंग प्राप्त क्यो ना होगा-अवश्य होगा। इतने पर भी किसी पर्याय को ही कार्य मानना-अनन्तरक्षणवर्ती मृत्पिड रूप प्रागभाव का अभाव ही विवक्षित कार्यस्वरूप है ऐसा स्वीकार करना -एव तद्भिन्न इतर पूर्व एवं उत्तरक्षणवर्ती परिणाम विवक्षितकार्य स्वरूप नहीं है ऐसा मानना केवल आपका अभिनिवेश

मात्र है।

पुनश्च—यदि आपका—जैन का—यह अभिप्राय हो कि कार्य की प्राग् अनन्तर जो पर्याय है वह उसका प्रागभाव है- और इस प्रागभाव का जो प्रध्वस है वह कार्य है इतरेतराभाव कार्य-स्वरूप नहीं है कि जिससे उसके पूर्व एवं उत्तर क्षणवर्ती परिणामो मे घटत्व की प्रसक्ति प्राप्त हो। कारण कि ये जितने भी पूर्व उत्तरक्षणवर्ती परिणाम हैं वे प्रागभाव के प्रध्वसरूप नहीं हैं। ये सबके सब तो इतरेतराभाव-स्वरूप हैं सो इस प्रकार का कथन करना भी सुगतमत का अनुसरण जैसा है। सुगतमत में पूर्वक्षण का विनाश ही उत्तरक्षण की उत्पत्ति है। ऐसा ही यह मन्तव्य आपका है। क्योकि घट की उत्पत्ति के पहिले की अनन्तर हालत—क्षण-प्रागभावरूप है और उसका विनाश उत्तरक्षण प्रध्वसाभावरूप घट है। परन्तु इस तरह की मान्यता आपके मत के विरुद्ध पड़ती है क्योंकि आपका मत तो प्रागभाव को अनादि मानता है। जब घट की उत्पत्ति का पूर्व अनन्तर क्षण उसका प्रागभाव माना जायगा-तो वह अनादि कहां रहा-उसमें तो इस तरह की मान्यता से सादिता सिद्ध होती है। यदि प्रागभाव में अनादिता की प्रसिद्धि के लिये आप यह समाधान दें कि भाई! द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से ही हमने प्रागभाव अनादि कबूल किया है तो फिर इसका फलितार्थ क्या यही निकलता है कि मृदादि द्रव्य स्वरूप ही प्रागभाव है। यदि हां तो फिर तुम जो घट को प्रागभाव के अभाव स्वभाव कहते हो वह नहीं बन सकता। क्योंकि घट का प्रागभाव जो मृत्पिड स्वरूप है वह इस द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से शाश्वत् है। उसका कभी अभाव हो नहीं सकता है। बिना उसके अभाव हुए घट रूप कार्य कभी बन नहीं सकता। इसलिये द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से प्रागभाव को अनादि मानना ठीक नहीं है। यदि यह कहकर प्रागभाव को अनादि माना जाय कि घट से पहिले की जितनी भी उसकी अनादि सन्ततिरूप पूर्व पर्यायें हैं वे सब उसकी -घट की-प्रागभाव रूप अवस्थाए हैं अतः इस अपेक्षा से प्रागभाव अनादि पड़ जायगा सो ऐसा कहना घट मे अनादिता की प्रसक्ति का कारण बनता है-वह इस प्रकार से-जिस प्रकार घट का प्रागभाव प्रागनन्तर पर्यायरूप है और उसकी निवृत्ति होने पर जिस तरह घट की उत्पत्ति होती है उसी तरह घट के प्रागभावरूप से मान्य इन अनादि सततिरूप परिणामों में भी

पूर्व पूर्व पर्याय की निवृत्ति होने पर प्रत्येक में घट की उत्पत्ति का प्रसग होगा। इस प्रकार जब पूर्व २ पर्याय की
निवृत्तिसंतति अनादि है तो घट को भी अनादि मानना पड़ेगा। यदि पूर्वोक्त रूप से सदोष होने से प्रागभाव की इस
उपर्युक्त परिभाषा को न मानकर पुनः यदि ऐसा कहा जाय कि कथंचित् द्रव्यरूप एवं कथंचित् पर्यायरूप प्रागभाव है-
इस अपेक्षावाद मे प्रागभाव कथचित् अनादि एवं कथचित् सादि सिद्ध हो जाता है-सो ऐसा कहना भी युक्तियुक्त नहीं है
क्योकि यह कायदा है कि "प्रत्येकपक्षे भवेद्दोषो, द्वयोर्भावे कथं न स" सादि पक्ष में अथवा अनादिपक्ष मे जोर दोष
उद्भावित किये गये है वे ही दोष इन दोषो पक्षों को सम्मिलित रूप से मानने पर भी लागू पड़ते है-अर्थात् जब प्रागभाव
द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से अनादि माना जायगा तो उसमें अनतत्व की प्रसक्ति होने से कदाचिदपि कार्य की उद्भूति नहीं
हो सकती है। यदि पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जब वह सादि मान लिया जायगा तो ऐसी स्थिति में प्रागभाव के
पश्चात् जिस प्रकार विवक्षित कार्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्रागभाव के पूर्व भी विवक्षित कार्य का होना मानना
पडेगा। परन्तु ऐसी मान्यता नही है, अत प्रागभाव नाम का कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। यौगो ने जो अभाव को स्वतन्त्र
पदार्थ माना है और इसे भावस्वरूप मानने वालो के प्रति जो उन्होने यह कहा है कि " न भावस्त्वभावः प्रागभावः तस्य
भावविलक्षणत्वात् पदार्थविशेषणत्वमिद्धेः१" प्रागभाव भाव स्वरूप नहीं है क्योंकि वह भाव से विलक्षण होने से सर्वदा
पदार्थ का विशेषण होता है। मतलब कहने का इसका यह है कि विशेषणविशेष्य नाम का भी एक सन्निकर्ष नैयायिकों ने
माना है। इसके द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष होता है" ऐसा जो यौगो का अभाव के प्रति अभिमत है सो ठीक नहीं है।
कारण कि " अभाव सर्वथा भाव से विलक्षण है" इसका ग्राहक कोई प्रमाण ही नहीं है।

नयायिक (यौग)-"अभाव सर्वथा भाव से विलक्षण है" इसका ग्राहक अनुमान प्रमाण तो है फिर आप
कैसे कहते है कि ग्राहक प्रमाण नही है। वह अनुमान प्रमाण यह है " स्वोत्पत्तेः प्राग् नासीत् घटः इति प्रत्ययोऽसद्विपय
सत्प्रत्ययविलक्षणत्वात्" (अ० स०) अपनी उत्पत्ति से पहिले घट नही था इस प्रकार का जो प्रत्यय होता है वह सत्प्र-

१ अष्ट सहस्री।

त्यय से विलक्षण होने से अभाव को-प्रागभाव को—विषय करने वाला है। "यस्तु [1] सद्विषयो न सः सत्प्रत्ययविलक्षणः यथा सद्द्रव्यमित्यादिप्रत्ययः सत्प्रत्ययविलक्षणश्चायं तस्मादसद्विषयः" जो प्रत्यय सत् को विषय करने वाला होता है वह सत्प्रत्यय से विलक्षण नहीं होता है जैसे सद्द्रव्यं यह प्रत्यय। "स्वोत्पत्तेः प्राग् नासीत् घटः" यह प्रत्यय सत्प्रत्यय से विलक्षण है इसलिये असत् को विषय करने वाला है" इस अनुमान प्रमाण से प्रागभाव का सद्भाव सिद्ध होता है।

चार्वाक—यह कहना ठीक नही है। क्योंकि ऐसा एकान्ततः नियम नहीं बनता है कि जो प्रत्यय सत्प्रत्यय से विलक्षण होता है वह असद्विषयवाला ही होता है। "प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसाभावादिः" यह प्रत्यय यद्यपि सत्प्रत्यय सेविलक्षण है परन्तु फिर भी असत् विषयवाला नहीं है। यदि इस प्रत्यय को असत् विषयवाला माना जाय तो प्रागभाव एव प्रध्वसाभाव आदि में पारमार्थिक भेद का विलोप हो जाने से संकरता का प्रसग मानना पडेगा। दूसरे इस मान्यता में अप्रामाणिक अनेक अभावों की परिकल्पना करने से अनवस्था दोष का सद्भाव भी होता है। वह इस प्रकार से-यह प्रत्यय जब असत् विषय वाला होगा तो इस प्रत्यय का जो विषय असत्—अभाव होगा—वह प्रकृत—विवक्षित—प्रागभावादिक में नहीं है—प्रागभावादिक से भिन्न है—इस प्रकार का इसे विषय करने वाला जो प्रत्यय होगा वह भी असद्विषयवाला ही मानना पडेगा—सद्विषयवाला मानने पर व्यभिचार दोष की आपत्ति का सामना करना पड़ता है। अतः इस प्रत्यय का भी जो विषय अभाव होगा वह प्रागभावादिक में नही है इस विषय को प्रकट करने के लिये जो प्रत्यय होगा वह भी असद्विषय वाला होगा सत् विषयवाला तो मान नहीं सकते क्योंकि सत्प्रत्यय से विलक्षण होने पर भी यह असद्विषय वाला नहीं ठहरेगा, इसलिये व्यभिचार दोष का सामना करना पडेगा। इस प्रकार अनेक प्रत्ययों एवं तद्विषय भूत अभावों की कल्पना करने से अनवस्था दोष स्पष्ट है। अथवा—इस तरह से भी, इस प्रत्यय को असत् विषयवाला मानने पर अनवस्था दोष आता है "प्रागभावादिक में प्रध्वंसाभावादिक नहीं है" इसका भाव यह भी हो सकता है कि प्रागभाव जुदा है और प्रध्वंसाभाव जुदा है। अब इन दोनों की जुदाई को विषय करने वाले प्रत्यय

---

[1] अष्ट सहस्री।

का विषय इतरेतराभाव होगा—क्योंकि इतरेतराभाव से ही एक दूसरे में एक दूसरे का अभाव प्रख्यापित किया जाता है। तब ऐसी हालत में इस प्रत्यय का विषयभूत जो इतरेतराभाव है वह प्रागभाव से भिन्न है—प्रागभाव में नहीं है—इस प्रकार इतरेतराभाव ने प्रागभाव एव प्रध्वंसाभाव को भिन्न कर दिया उसी प्रकार यह इतरेतराभाव भी अपने आप को प्रागभावादिक से भिन्न करने के लिये अन्य दूसरे इतरेतराभाव की अपेक्षा रखेगा—दूसरा—तीसरे की तीसरा चौथे की इस प्रकार अनेक इतरेतराभाव रूप—अभाव की कल्पना करने से अनवस्था दोष स्पष्ट है। अत यह मानना चाहिये कि "प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसाभावादिः" इस प्रकार का जो प्रत्यय होता है वह प्रागभावादिकमें प्रध्वंसाभाव के अभाव का बोधक है इसलिये यह प्रत्यय सद्विषयवाला है यथार्थ है—वास्तविक है—अयथार्थ नहीं हैं। परन्तु जिस प्रकार "सद् द्रव्यं" इत्यादिक प्रत्यय सत्प्रत्यय को विषय करने वाला होने से सत्प्रत्ययस्वरूप होता है उस प्रकार से "प्रागभावादौ नास्ति प्रध्वंसाभावादिः" यह प्रत्यय नही है उससे यह विलक्षण है अत सत्प्रत्यय विलक्षणता इस प्रत्यय में रहने पर भी यह असद्विषयवाला नहीं है। अतः व्यभिचार स्पष्ट है।—यदि अनवस्था दोष को हटाने के लिये यह कहा जाय कि अभाव को विषय करने वाले प्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—एक तो मुख्य रूप से अभाव को विपय करता है और दूसरा गौणरूप से अभाव को विषय करता है।—इनमें भूभागादि में घट नहीं है यहां पर जो घट का अभाव प्रतिपादित किया गया है सो इस अभाव को विषय करने वाला प्रत्यय मुख्यरूप से अभाव को विषय करने वाला माना गया है और प्रागभावादिक में प्रध्वंसाभावादिक नहीं है इस प्रकार जो प्रागभावादिक में प्रध्वंसाभाव के अभाव को विषय करने वाला प्रत्यय है वह औपचारिक है—उपचरित रूप से अभाव को विषय करने वाला है—सो ऐसा कहना इसलिये उचित नहीं है कि प्रागभावादिक में और प्रध्वसाभावादिक में परस्पर में सकरता आजावेगी। क्योंकि उपचरित अभाव से परस्पर में वास्तविक रीति से पृथकता साबित नहीं हो सकती है। यदि इस प्रकार कल्पित अभाव से परस्पर में अभावों में भिन्नता सिद्ध होने लगे तो मुख्यरूप से अभाव की परिकल्पना करना ही व्यर्थ पड़ जाती है।

तथा पहिले जो प्रागभाव को भावस्वभावत्व निषेध करने के लिये "भावविलक्षणत्वात् सर्वदा पदार्थ

विशेषणत्व सिद्धे" यह हेतु दिया है वह पक्षाव्यापक होने से ठीक नहीं है। क्योंकि अभाव सर्वदा भाव का ही विशेषण होता है ऐसा एकान्त नियम नहीं बनता है। देखो-"न प्रागभावः प्रध्वंसादौ" इस प्रयोग में अभाव का भी विशेषण अभाव हुआ है। "जो २ सर्वदा भाव का विशेषण होगा वह भाव स्वभाव नहीं होगा" इस प्रकार से हेतु और साध्य की व्याप्ति घटित भी नहीं होती। क्योकि इस व्याप्ति में गुणादिक से व्यभिचार आता है। गुणादिक सर्वदा भाव के विशेषण होने पर भी स्वयं भावस्वरूप हैं। यदि इस पर यो कहा जाय कि "रूपपश्यामि" इस प्रकार की प्रतीति में रूप का स्वतंत्र भी प्रतिभास होता है अतः उनमें "सर्वदा भावविशेषणत्वात्" यह हेतु घटित नही होने से उनके द्वारा व्यभिचार का आपादन करना उचित नहीं है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योकि सर्वदा भावविशेषणता अभाव मे भी कहां रहती हैं। वहां पर भी "अभावस्तत्त्व" इस प्रतीति के अनुसार अभाव की भी स्वतंत्र प्रतीति होती है। यदि अभाव में भावविशेपणता प्रथित करने के लिये यह कहा जाय कि "अभाव तत्त्व है" इस प्रकार की विवक्षा मे यह आकांक्षा जब होती है कि अभाव तत्त्व किसका है तब यह वात सामर्थ्यत सिद्ध हो जाती है कि वह द्रव्यादिक का है। इस प्रकार विशेष्यभूत द्रव्यादिक का सप्रत्यय होने से अभाव में सर्वदा भावविशेपणता ही सिद्ध होती है तो यही उत्तर रूपादिकों में भी सर्वदा भाव विशेषणता प्रसिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। क्योकि "गुणादि" किसके है इस प्रकार की आकांक्षा की उपस्थिति में "गुणादिक द्रव्य के हैं" इस प्रकार सामर्थ्यतः विशेष्यभूत द्रव्यादिक गम्यमान हो जाते हैं।

किञ्च-आप लोग प्रागभाव को सादिसान्त मानते है या सादिअनंत मानते है अथवा अनादिअनत या अनादि सांतमानते हैं कैसा मानते हैं कहिये। सादिसान्त मानने पर घट की उपलब्धि प्रागभाव से पहिले भी होनी चाहिये क्योकि घट की उपलब्धि का विरोधक प्रागभाव था वह अपने अस्तित्व से पहिले है नहीं। सादि अनत मानने पर प्रागभाव काल में घट की अनुपलब्धि का प्रसग आता है। क्योंकि प्रागभाव उत्पत्ति के अनन्तर अविनाशी है। तथा इस द्वितीय पक्ष में प्रथम पक्ष गत दोष भी आता है। और जब घट का प्रागभाव उत्पन्न हो जाता है तब उस के बाद

भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि प्रागभाव का विनाश हो तो घट रूप कार्य की उत्पत्ति हो—परन्तु प्रागभाव तो अनत-अविनाशी है। तृतीय पक्ष ऐसा है कि इसमे कभी भी घट की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। क्योकि घट का प्रागभाव अनादि एव अनत है। चतुर्थ विकल्प में यह दोष आता है कि घट का प्रागभाव घट की उत्पत्ति होने पर जब सांत हो जाता है-विनष्ट हो जाता है-तो जिस प्रकार घट की उपलब्धि होती है उसी प्रकार अशेप उत्पत्स्यमान कार्यों की भी उपलब्धि होनी चाहिये—क्योकि आपके सिद्धान्तानुसार प्रागभाव एक है। यदि घटोपलब्धि काल में अशेप उत्पत्स्यमान कार्यों की उपलब्धि को निवारण करने के लिये यह कहा जाय कि जितने भी कार्य है उन सब के प्रागभाव भिन्न २ हैं-इसलिये घट के प्रागभाव के नष्ट होने पर घट की ही उत्पत्ति और उपलब्धि होगी-उत्पत्स्यमान-आगे उत्पन्न होने वाले कार्यों की नही क्योकि उनके प्रागभाव नष्ट नही हुए हैं। सो ऐसा कहना प्रागभावो मे अनंतता जाहिर करता है। यदि प्रागभाव को अनत भी हम मानले तो फिर भी इस पर यह प्रश्न होता है कि वे अनंत प्रागभाव स्वतत्र है या भावतत्र है-पदार्थो के आधीन है-यदि स्वतत्र है तो कालादिक की तरह वे भाव स्वभावभूत सिद्ध होते हैं। यदि भावतन्त्र है तो कौन से भावों के तंत्र है क्या जो उत्पन्न हो चुके हैं उनके या जो आगे उत्पन्न होने वाले है उनके, जो उत्पन्न हो चुके है उनके तो वे आधीन हो नहीं सकते क्योकि उनकी उत्पत्ति के समय मे उनके प्रागभाव का विनाश ही हो जाता है। यदि उत्पत्स्यमान भावो के आधीन उन्हे माना जाय -तो ऐसी हालत में विचारने की यह बात है कि जब पदार्थ आगे उत्पन्न होने वाले है तो ये उनके आश्रय कैसे हो सकते है। प्रध्वस्त पदार्थ अथवा अनुत्पन्न पदार्थ किसी का आश्रय नही होता है यह एक सर्वमान्य नियम है। यदि प्रागभाव में विशेषण के भेद से भेद का उपचार किया जाय -अर्थात् ऐसा कहा जाय कि भाई! प्रागभाव है तो एक ही, परन्तु घट का प्रागभाव पट का प्रागभाव चटाई का प्रागभाव इत्यादि विशेषणों के भेद से उस में भेद का उपचार किया जाता है, इस लिये हम उसे उपचार से अनेक मानते है। इस अपेक्षा उत्पन्न पदार्थ रूप विशेषण से उसका विनाश होने पर भी उत्पत्स्यमान अर्थ रूप विशेषण से वह अविनाशी होने से नित्य भी है, सो ऐसा कहना प्रागभावादिक रूप से अभाव की चतुष्टय कल्पना को धक्का पहुँचाने वाला है। इस प्रकार

की कल्पना से यह भी कहा जा सकता है कि केवल एक ही अभाव मान लिया जाय और उसे ही तत्तत् विशेषण के भेद से भेद विशिष्ट उपचरित कर लिया जाय । जैसे-कार्य की उत्पत्ति के पहिले काल से विशिष्ट जो अभाव है वह कार्य का प्रागभाव, कार्य के उत्पन्न होने पर उसके बाद के काल से विशिष्ट जो अभाव है वह उसका प्रध्वंसाभाव, नाना-पदार्थों से विशिष्ट जो अभाव है वह इतरेतराभाव एवं कालत्रय मे भी एक दूसरे रूप नहीं होने वाले ऐसे जो पुद्गल एवं आत्मादिक पदार्थों का परस्पर में सर्वथा जुदे २ रहने का जो स्वभाव है वह अत्यन्ताभाव है । मतलब कहने का यह है कि अभाव एक ही माना जाय और वह कार्य की अव्यवहित पूर्व अवस्था स्वरूप जब होता है तब उसका नाम प्रागभाव रख लिया जाय और कार्य के उत्पन्न होने पर जो उसकी उत्तर अवस्था होती है उसका नाम प्रध्वंसाभाव रख लिया जाय । घट पटादि नाना पदार्थों का जो परस्पर मे एक दूसरे में एक का अभाव है उसका नाम इतरेतराभाव एवं कालत्रय में जो पदार्थों का सर्वथा एक दूसरे रूप नहीं होने का स्वभाव है वह अत्यन्ताभाव है इस प्रकार एक ही अभाव विशेषणों के भेद से चार प्रकार का मान लेना चाहिये । जिस प्रकार सत्ता एक होने पर भी द्रव्यादिक रूप विशेषणों के भेद से भेद विशिष्ट मानी गई है । अतः ये प्रागभावादिक सब विकल्पमात्र हैं वास्तविक नहीं । यह लोक गतानुगतिक है इसलिये वह पृथिवी आदि चतुष्टय को ही प्रागभावादिक के विकल्प मात्र के वश से प्रागभावादिक रूप से व्यवहृत करता है ।

जैन—इस पूर्वोक्त प्रकार से जो आप चार्वाक-ने प्रागभाव का निराकरण किया है वह उसे सर्वथा तुच्छाभाव रूप से माननेवाले जो यौग हैं उनके प्रति ही लागू पड़ता है । परन्तु हम लोगों के द्वारा मान्य जो प्रागभाव है उसमें पूर्वोक्त दूषणों के लिये स्थान ही नहीं है । नैयायिकादि द्वारा समत प्रागभाव का तो निराकरण हमने भी किया है । जैन दार्शनिको ने प्रागभाव को भावस्वरूप माना है और वह ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से विवक्षित कार्य का अव्यवहित—अनन्तर-पर्याय स्वरूप पड़ता है " विवक्षित कार्य का प्रागभाव यदि उसका अव्यवहित-अनन्तर उपादान स्वरूप माना जायगा तो ऐसी अवस्था में उस अनन्तर परिणाम से पूर्व की जितनी भी कार्य की अनादि परिणाम सन्तति है

उन सबमें कार्य के सद्भाव का प्रसग मानना पडेगा " सो ऐसा पूर्व में कथित दोष यहां लागू नहीं पड़ता है क्योंकि प्रागभाव के विनाश को कार्य रूप माना गया है। प्रागभाव और इसके भी पहिले के प्रागभाव जो पूर्व२ की पूर्व२ पर्याय स्वरूप है तथा सन्तति की अपेक्षा जो अनादि हैं उनमें विवक्षित कार्यरूपता का अभाव हैं। इसलिये पहिले जो अनादि परिणाम सन्ततियो मे विवक्षित कार्य का इतरेतराभाव कल्पित कर दोष प्रदान किया गया है वह लागू नहीं पड़ता है। क्योंकि उनके साथ विवक्षित कार्य का इतरेतराभाव हमें इष्ट नहीं है। "विवक्षित कार्य का अनन्तर परिणाम यदि प्रागभाव माना जावेगा तो इस मान्यता में प्रागभान सादि साबित होता है अतः अनादि रूप से उसकी मान्यता को धक्का पहुँचता है " ऐसा जो आपने पहिले कहा है सो ठीक नहीं कहा है क्योंकि प्रागभाव को जो अनादि माना गया है वह सन्तान की अपेक्षा से ही समझना चाहिये। सन्तान एवं सन्तानी में कथंचित् अभेद माना गया है। संतानी के क्षण की अपेक्षा से यदि प्रागभाव में अनादिता न भी आवे तो ऋजुसूत्रनय की विचारधारा से इसमें कोई हानि भी नहीं है। क्योंकि पर्याय की अपेक्षा से उसमें सादित्व की सिद्धि निर्बाधरूप से इष्ट ही है। सन्तान की अपेक्षा प्रागभाव को अनादि मानने पर अनादि संतति स्वरूप जितने भी प्रागभाव हैं वे सब घट-विवक्षित कार्य-के प्रागभाव हैं इस प्रकार की मान्यता मे भी जो " यह दोष दिया गया है कि जिस प्रकार घट का प्रागभाव प्रागनन्त पर्याय स्वरूप है और उसकी निवृत्ति होने पर जिस तरह घट की उत्पत्ति हो जाती है उसी तरह घट के प्रागभाव रूप से मान्य इन अनादि संतति रूप परिणामो-पर्यायों-में भी पूर्व २ पर्याय की निवृत्ति होने पर प्रत्येक में घट की उत्पत्ति का प्रसग प्राप्त होगा " सो यह दोप नही आ सकता है, क्योंकि यदि प्रागनन्तरपर्यायरूप प्रागभाव की निवृत्ति नही होती है और चाहे समस्त अन्य प्रागभावो की निवृत्ति हो जाती है तो विवक्षित कार्य की उत्पत्ति के लिये यह आवश्यक है कि उन सब प्रागभावरूप से समत अनादि सततियो की निवृत्ति के साथ २ प्रागनन्तर पर्याय की भी निवृत्ति होनी चाहिये, तब ही जाकर विवक्षित घट-कार्य की उत्पत्ति स्वीकृत करने मे आई है, प्रागनन्तर क्षण की अनिवृत्ति में तदन्यतमक्षण की अनिवृत्ति की तरह समस्त तत्प्रागभावो की निवृत्ति की असिद्धि होने से घटोत्पत्ति का प्रसग असंभव है।

" मृदादिद्रव्य घटादिक का प्रागभाव है " इस मान्यता में जो तुमने यह दोष दिया है कि " घट में प्रागभाव

की अभावस्वरूपता दुर्घट हो जायगी क्योंकि द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा से मृदादि द्रव्यरूप प्रागभाव शाश्वत बन जायगा उसका कभी अभाव हो नहीं सकेगा अतः घट में प्रागभाव की अभावरूपता कैसे घट सक्ती है " सो यह दोष सभवित नहीं होता है । विवक्षित कार्यरूप पर्याय से रहित एवं कार्य के पहिले वर्तमान ऐसे मृदादिक द्रव्य को घटादिक के प्राग-भाव रूप से स्वीकार किया गया है । जब कार्य का उत्पाद हो जाता है तब पूर्वोक्त विशेषण -विशिष्ट मृदादिक द्रव्य का भी विनाश हो जाता है । जब तक कार्य रहितता का विनाश नहीं होगा तब तक कार्य सहितता का उत्पाद नहीं हो सकता है । कार्य की उत्पत्ति ही उपादानात्मक प्रागभाव का क्षय है ।

कथचित् द्रव्य रूप एवं कथंचित् पर्यायरूप प्रागभाव मानने पर जो अनादि एव सादि पक्षान्तर्गत दूषणो का उद्भावन किया गया है सो इन दोनों पक्षगत दूषणों का अनुषंग यहां नहीं होता है, क्योंकि प्रागभाव जिस तरह द्रव्य-रूप से अनादि माना गया है उसी तरह से वह पर्याय रूप से भी अनादि माना गया है । पर्यायरूप से अनादिता उसमें पर्यायसन्तति की अपेक्षा से निरूपित की गई है । "अनादि मानने पर भी अनन्तता एकांत रूप से सिद्ध मानना पडेगी" यह एकांततः नियम नहीं बनता है क्योंकि यह ससार भव्य जीवो के प्रति अनादि होने पर भी सांत माना गया है । यदि अनादि के साथ अनन्त को नियमित किया जाय तो किसी को भी मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकेगी । इसी तरह सांत के साथ सादि को भी एकान्त रूप से नियमित नही किया जा सकता, क्योंकि किसी अपेक्षा से किसी जीव के प्रति संसार को सान्त मानकर भी वह अनादि माना गया है । इसलिये प्रागभाव को द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा अनादि मानने पर उसमें अनेकत्व की प्रसक्ति होने पर कदाचिदपि कार्य की उद्भूति नही हो सकती है तथा पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से उसे सादि मानने पर जिस प्रकार उसके पश्चात् विवक्षित कार्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार प्रागभाव के पूर्व भी विवक्षित कार्य का होना मानना पडेगा । इस प्रकार जो प्रागभाव को सादि एव अनादि मानने मे दोष उद्-भावित किये है वे अभी इस प्रकार की मान्यता प्रदर्शित करने पर लागू नही हो सकते है क्योंकि पदार्थ अनादि होने पर भी सादि होता है और सादि होने पर भी अनादि होता है । अतः घट की न तो पूर्व मे भी उत्पत्ति हो सकती है

और न सर्वदा अनुत्पत्ति हो। इसलिये प्रागभाव भाव स्वरूप ही है-सर्वथा तुच्छाभावरूप नहीं है ऐसा मानना चाहिये।

नैयायिक–प्रागभाव को भावस्वरूप मानने पर " प्राग नासीत् कार्यम् " इत्यादिक नास्तित्व प्रत्यय नहीं हो सकेगा।

जैन–ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि कार्यका जो पूर्वकालवर्ती अभाव है वह भावान्तर प्रागनन्तर पर्याय स्वरूप है। उसमे " विवक्षित कार्य नहीं है। इस प्रकार का असत्प्रत्यय होने में कोई विरोध नहीं आता है घट-विविक्त-रहित-भूभाग में जैसे " घट नही है " ऐसा प्रत्यय होता है। इस प्रकार प्रागभाव प्रसिद्ध है। इस प्रसिद्ध प्रागभाव का अपलपन करना उसका निह्नव है। इस प्रकार प्रागभाव के निह्नव में कार्यद्रव्य अनादि प्रसक्त होता है।--इसीतरह प्रध्वसाभाव यदि न माना जाय—उसका अपलाप किया जाय-तो कार्य द्रव्य अनन्त–विनाश रहित ठहरता है।

चार्वाक–प्रध्वसाभाव के अस्तित्व में प्रमाण क्या है ?

जैन—प्रध्वसाभाव है इसमें यही प्रमाण है कि यदि प्रध्वसाभाव न होता तो कार्य द्रव्य का कभी भी अन्त नहीं होता। परन्तु-अन्त तो होता है-इससे प्रध्वसाभाव का अस्तित्व सिद्ध होता है घट जब बनकर निष्पन्न हो जाता है-तब उस समय घट का प्रागभाव नष्ट हो जाता है। प्रागभाव का अभाव ही तो कार्य का उत्पाद है। जब वही कार्य आगे चलकर पर्यायान्तरित होता है तो वह पर्यायान्तर ही उसका प्रध्वंसाभाव है। घट का प्रध्वंसाभाव उसकी कपाल-माला है। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा से जब इस प्रध्वंसाभाव का विचार किया जाता है तो जो उपादेयक्षण है वही उपादान का प्रध्वसाभाव है-कपालमाला उपादेय है इसका उपादान घट है। घट का प्रध्वंस ही कपालमाला है अतः उपादेय क्षण-कपालमाला ही उपादान-घट-का प्रध्वस है।

शंका–यदि उपादेय क्षण ही उपादान का प्रध्वस माना जायगा तो कपालमाला के जो और और खंड हैं उनमें घट का अस्तित्व प्राप्त होगा–क्योंकि इनमें घट के प्रध्वंसाभाव का लक्षण घटित नहीं होता है। घट के विनष्ट होने पर

कपालमाला ही उद्भूत हुई है और वही घट का प्रध्वंसाभाव है। अब उस कपालमाला के जो और २ नवीन २ टुकड़े होते हैं वे उस घट के प्रध्वंसाभाव तो है नहीं-अतः वहां विवक्षित उपादान के प्रध्वंसाभाव का अभाव होने से उनमें विवक्षित उपादानरूप घट के पुनरुज्जीवन की प्रसक्ति प्राप्त होती है ?

उत्तर----ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि उपादान कारण के नाश होने पर उत्तरपर्यायरूप कार्य उत्पन्न होता है। कार्यके नाश में कारण की उत्पत्तिका नियम नहीं है। इसी बात को "कारणस्यकार्योपमर्दनात्मकत्वाभावात् उपादानोपमर्दनस्यैव कार्योत्पत्त्यात्मकत्वात्" इन पंक्तियों मे स्पष्ट किया है कारण में कार्य के उपमर्दनात्मकत्व का अभाव है। कार्य ही कारण का उपमर्दनात्मक होता है। इसलिए उपादान का उपमर्दन ही कार्य की उत्पत्त्यात्मक अवस्था मानी गई है। मतलब कहने का यह है कि अभी जो शंकाकार ने यह शंका की है कि कपालमाला के अन्य खंडों में घट के प्रध्वंसस्वभाव का अभाव होने से घट के पुनरुज्जीवन होने का प्रसंग प्राप्त होगा। सो इसका समाधान इस प्रकार से किया गया है-जो घट के प्रध्वंस से कपालमाला हुई है वह घट रूप उपादान कारण से उद्भूत हुई है और इस कपालमाला के जो उत्तरक्षण-अन्य २ टुकड़े हैं-वे कपालमालारूप अपने उपादान से उद्भूत हुए हैं-अत. ये कार्य हैं। अब इनमें घट की उपलब्धि इसलिए नहीं हो सकती है कि घटरूप कारण में कार्य की उपमर्दनात्मकता नहीं है। कार्य में ही अपने कारण के उपमर्दनात्मकरूप धर्म की आधारता है। अतः उत्तरक्षणों में घट के पुनरूज्जीवन का प्रसंग प्राप्त नहीं होता है। इस कथन से यह बात भी पुष्ट हुई समझना चाहिये कि जिस प्रकार कपालमाला रूप उपादेय का घट उपादान है उसी प्रकार प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव में भी उपादान उपादेय रूपता है। क्योंकि प्रध्वसाभाव की उत्पत्ति प्रागभाव के उपमर्दन से होती है। इसलिए प्रागभाव उपादान है और प्रध्वसाभाव उपादेय है।

शंका—भाव में उपादान उपादेय रूपता मानी गई हं-अभाव में उपादान उपादेयरूपता कैसी ?

उत्तर—भाव में कैसी मानी गई है। कहिए-सुनो-जिसके भावमें जिसका आत्मलाभ होता है वह उसका उपादान है और जो आत्मलाभ विशिष्ट होता है वह उपादेय है। यदि इस प्रकार से भाव में उपादान उपादेय रूपता प्रगट की

जाती है तो इसी तरह से उपादान उपादेय रूपता प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव में भी बन जाती है। प्रध्वंसाभाव जो होता है वह प्रागभाव के पश्चात् होता है। बिना प्रागभाव के प्रध्वसरूप अभाव नहीं हो सकता है-जिस प्रकार घट के बिना कपालमाला नहीं होती है, अतः पूर्वक्षणवर्त्ती प्रागभाव रूप कारण के होने पर ही जब कार्यरूप प्रध्वंसाभाव आत्मलाभ करता है तो फिर इन दोनों में उपादान उपादेयभाव क्यों नहीं माना जायगा-अवश्य माना जायगा। हां प्रागभाव एवं प्रध्वसाभाव को जो सर्वथा तुच्छरूप निःस्वभाव रूप-मानते है सो उनमें परस्पर में उपादान उपादेय भाव कथमपि नहीं बन सकता हे। क्योकि तुच्छ रूप उन दोनों अभावो में उपादान उपादेय भाव का विरोध आता है। अत. ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा में उपादेयक्षण ही उपादान का प्रध्वंस है। इस प्रकार प्रध्वंसाभाव का लक्षण युक्तियुक्त है। व्यवहारनय की अपेक्षा से जव प्रध्वंसाभाव का विचार किया जाता है तब वह घटोत्तर कालवर्ती घटाकारविकल मृदादिद्रव्यस्वरूप पडता है। यह सादि अनत माना गया है। इस कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि घट से पूर्व कालवर्ती जो मृदादिद्रव्य है वह उसका प्रागभाव ही है। प्रध्वंसाभाव नहीं।

शंका—यदि प्रध्वंसाभाव का यह लक्षण व्यवहार नय से स्वीकार किया जाय कि घटाकार विकल जो घटोत्तर कालवर्ती मृदादि द्रव्य है वह घट का प्रध्वंसाभाव है तो इस लक्षणमान्यता में घटोत्तरकालवर्ती एवं घटाकार से विकल जो सन्तानान्तर रूप मृदादि द्रव्य है वह भी विवक्षित घट का प्रध्वसाभाव माना जाना चाहिये ?

उत्तर—सो ऐसी आशका नहीं करना चाहिए। क्योंकि प्रध्वंसाभाव के लक्षण कथन में "द्रव्य" पद का निवेश किया गया है। सन्तानान्तर रूप मृदाविक द्रव्य उस घट का—विवक्षित घट का—द्रव्य नहीं है। वर्तमान पर्याय का आश्रयरूप जो अन्वयी मृदादिकद्रव्य है वही उस विवक्षित पर्याय का द्रव्य माना गया है, सन्तानान्तर रूप जो मृदादिक द्रव्य है वह अपने पर्याय का अन्वयी द्रव्य है। इसलिए विवक्षित घट पर्याय का वह सन्तानान्तररूप द्रव्य द्रव्य नहीं है, इसलिए वह उसका प्रध्वंसाभाव नहीं है। इस प्रकार प्रध्वंसाभाव की प्रसिद्धि होती है। फिर भी इसे स्वीकार नहीं करना—अपलाप करना-यही इसका प्रच्यव है। इस प्रध्वंसाभाव के प्रच्यव में कार्य द्रव्य जो पृथिवी आदि भूत चतुष्टय

है वह अनंतता—अविनाशिता को प्राप्त होता है। अतः प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव का अपलाप करना कथमपि युक्ति युक्त नही हो सकता है, इस प्रकार का अभिप्राय चार्वाकों के प्रति स्वामी समंतभद्राचार्य का है, परन्तु वृत्तिकार स्वामी अकलंकदेव इस कारिका का सबंध सांख्य एवं मीमांसकों के प्रति कथित करते है। यदि कोई इस संबंध में यह चर्चा करे कि सांख्य सत्कार्यवादी है और मीमांसक नित्यैकान्तवादी है, फिर इस कारिका का संबंध उनकी अपेक्षा ठीक कैसे कहा जा सकता है ? सो ऐसा कहना यद्यपि ठीक है, परंतु इनका सत्कार्यवाद प्रमाण से बाधित है अकलंकस्वामी ने अष्टशती द्वारा यही प्रकट किया है। सांख्यो को कार्य द्रव्य मानना चाहिए। इस बात का अच्छी तरह से उनके प्रति आपादन किया गया है इसी प्रकार मीमांसको का नित्यएकांतवाद भी प्रमाण बाधित होता है। इन्ही दोनों बातों को प्रगट करने के लिए उन्होने अष्टशती में साख्यो की अपेक्षा कार्य द्रव्य घटादिक की एवं मीमांसकों द्वारा नित्य रूप से सम्मत शब्द की चर्चा की है। इसमे उन्होने यह स्पष्ट रीति से विवेचित किया है कि यदि सांख्य अथवा मीमांसक प्रागभाव एव प्रध्वसाभाव का अपलाप करते हैं- उन्हे स्वीकार नही करते हैं—तो इनमें अनादित्व एवं अनतत्व की प्रसक्ति होती है। यदि इस प्रसक्ति को स्वीकृति का रूप उनकी तरफ से दिया जाय तो यह कथमपि ठीक नहीं माना जा सकता-क्योंकि पुरुप व्यापार के बिना घटादिक कार्य होते हुए कभी भी उपलब्धि नहीं होते हैं इसी तरह मीमांसकों ने जो शब्द को नित्य मानकर उसका प्रागभाव नहीं कबूल किया है, उन्हे भी उसका प्रागभाव मानना चाहिये, नहीं तो तालु एव ओष्ठादिक का व्यापार सब व्यर्थ हो जाता है। यदि इस पर यो कहा जाय कि तात्वादिकों के व्यापार में व्यर्थता नहीं आ सकती हैं क्योंकि इनका व्यापार शब्द की अभिव्यक्ति के लिए माना गया हैं। सो ऐसा कहना उचित नहीं माना जा सकता हैं। क्योंकि अभिव्यक्ति उसी की होती है जो पहिले से मौजूद हो। ताल्वादिक व्यापार के पहले शब्द का अस्तित्व था उसका आवेदक कोई प्रमाण उपलब्ध नही होता है। जिस प्रकार अंधकार से आच्छादित शरीर वाले कलशादि पदार्थ प्रदीप के पहले स्पर्श व प्रत्यक्ष-प्रमाण आदि से जो उनके सद्भाव के आवेदक है जाने जाते हैं, अत प्रदीप से उनकी अभिव्यक्ति मानना घटित होती है, परतु इस तरह से ताल्वादिक द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति मानना घटित नहीं होती है। क्योकि ताल्वादिक व्यापार के पहले उसका अभाव है। ताल्वादिक व्यापार के पहले शब्द के सद्भाव का आवेदक प्रत्यभिज्ञानादिक

प्रमाण है। यदि ऐसा कहा जाय तो यह कहना विरुद्ध हेत्वाभास से दूषित है। कारण कि इस प्रत्यभिज्ञानादिक रूप प्रमाण की व्याप्ति शब्द की अभिव्यक्ति से पहले जो सर्वथा सत्त्वरूप साध्य है उससे विपरीत जो कथन्चित् सत्त्व है उसके साथ बनती है। सर्वथा सत्त्व के साथ नही, अत. अभिव्यग्य जो घटपटादिक है उनसे विलक्षण होने से शब्द में अभिव्यक्ति की कल्पना करना युक्त नहीं है। खैर [1] शब्द की अभिव्यक्ति मान भी ली जाय तो भी इस अभिव्यक्ति का प्रागभाव अवश्य अंगीकार करना चाहिए। अभिव्यक्ति का जब प्रागभाव अंगीकार कर लिया जाता है तो यह कहना कि ताल्वादिक सिर्फ अभिव्यक्ति को ही करते है शब्द को नहीं एक स्व दर्शन का व्यामोह है ! क्योंकि शब्द में और उसकी अभिव्यक्ति मे परस्पर में धर्मधर्मिभाव होने से कथचित् अभिन्नता है। अतः प्रागसती अभिव्यक्ति का होना इसका मतलव यह है कि ताल्वादिकों द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है।

मीमांसक—शब्द तो मीमासक सिद्धान्त की अपेक्षा से अपौरुषेय माना गया है अतः इसका प्रागभाव तो हो नही सकता। जब इसका प्रागभाव ही नहीं है तो यह असत् भी नहीं हो सकता—जव असत् नहीं है-तव शब्द को असत् मानकर ताल्वादिको द्वारा उसकी उद्भूति मानना यह युक्ति युक्त नहीं है। अभिव्यक्ति पौरुषेयी है। इसलिये यह अनित्य होने से प्रागभाव विशिष्ट मानी गई है, अत ताल्वादिक व्यापार इसके ही कर्त्ता हैं। शब्द के नहीं। फिर ऐसी स्थिति मे स्वदर्शन के प्रति व्यामोह कहना ठीक नहीं है।

जैन—जब शब्द की अभिव्यक्ति शब्द से अभिन्न मानी गई है तो इसे पौरुषेय मानकर जो आप इसे प्रागसती कहते है वह उचित नहीं है क्योकि शब्द से अभिन्न होने के कारण अभिव्यक्ति भी अपौरुषेयी मानी जायगी। यदि इस पर यो कहा जाय कि अभिव्यक्ति तो पौरुषेयी है, तो इस हालत मे तदभिन्न शब्द भी पौरुषेय मानना पडेगा-और इसी से इसमे भी प्रागसत्त्व मानना पडेगा। यदि इस दोप को हटाने के लिये यह कहा जाय कि अभिव्यक्ति शब्द से भिन्न ही है तो ऐसी स्थिति में यह शब्द की अभिव्यक्ति है क्या ? यह प्रश्न होता है। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि यह अभिव्यक्ति श्रवणज्ञानोत्पत्ति रूप है तो पुनः इस विषय में यह पूछा जा सकता है कि यह श्रवण ज्ञानो-

---

१ कल्पयित्वाऽपि तदभिव्यक्तिं तस्याः प्रागभावोऽगीकर्त्तव्य.। तथाहि सतः शब्दस्य ताल्वादिभिरभिव्यक्तिः प्रागसती क्रियते न पुन शब्दएवेतिस्वरुचिविरचितदर्शनप्रदर्शनमात्रम्। अष्टशती।

त्पत्ति रूप अभिव्यक्ति शब्द में पहिले थी या नहीं यदि नहीं थी तो इस पक्षमें शब्द में अश्रावणत्वोत्पत्ति आने से नित्यत्व का विरोध होता है । क्योंकि शब्द जब तक अपने पूर्वकालीन अश्रावणत्वस्वभाव का परित्याग नहीं कर देगा-तब तक उसमें श्रावणस्वभावता नहीं आ सकती है । अतः इस प्रकार का परिवर्तन कथचित् अनित्यता के बिना शब्द में उपपन्न नहीं हो सकता है । यदि इस दोप को परिहार करने के लिये यह कहा जाय कि श्रवणज्ञानोत्पत्ति के पहिले भी शब्द में श्रावण-स्वभावता रही हुई है । तो ऐसी स्थिति में फिर श्रवण ज्ञानोत्पत्ति रूप अभिव्यक्ति के मानने की क्या जरूरत है । जरूरत प्रदर्शित करने के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि श्रवणज्ञानोत्पत्ति रूप जो यह क्रिया है वह शब्द का धर्म नहीं है क्योंकि श्रवणज्ञानोत्पत्ति में कर्मस्थक्रियात्व का अभाव है, यह तो कर्तृस्थ क्रिया है अत यह पुरुषस्वभावरूप है, सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है । क्योंकि कर्ता आत्मा की तरह इसमें प्राक् सत्त्वापत्ति आने से ताल्वादिक व्यापारों की योजना अनर्थक सावित हो जायगी ।

यदि अभिव्यक्ति का अर्थ आवरणविगम किया जाय तो यह आवरण विगम शब्द में ताल्वादिक व्यापार के पहिले था क्या ? यदि था तो फिर ताल्वादिक व्यापार रूप प्रयत्न की आवश्यकता क्या रही । अतः यह मानना चाहिये कि ताल्वादिक व्यापार शब्द का कारक कारण है व्यंजक कारण नहीं । इस विषय पर और भी अनेक प्रकार से शका समाधान टीकाकार ने अष्टसहस्री मे किया है । वह वहां से जान लेना चाहिये । सांख्य जो सत्कार्यवाद के प्ररूपक हैं उन पर भी यही आक्षेप लागू होता है । यह कैसे माना जाय कि दण्ड चक्रादिकों के द्वारा केवल घट की अभिव्यक्ति ही की जाती है घट नहीं किया जाता । अत दण्डचक्रादिक एव ताल्वादिकों का व्यापार घट एव शब्द के कारक कारण हैं व्यंजक कारण नहीं । यदि सांख्यो का यह आक्षेप हो कि हम लोग तो कार्यद्रव्य स्वीकार ही नहीं करते फिर प्रागभाव के नहीं मानने पर जो हमारे प्रति कार्य द्रव्य में अनादिता के प्रसंग का उद्भावन किया जाता है वह ठीक नहीं माना जा सकता-तो ऐसा कहना उचित नहीं है क्यों कि प्रमाणवल से " घटादिक कार्य हैं स्वोत्पत्ति में पर व्यापार की अपेक्षावाले होने से " यह सावित होता है । जो कार्य नहीं है वह अपनी उत्पत्ति में पर व्यापार साक्षेप भी नहीं है

जैसे-आकाश, घटादिक तो गगन की तरह स्वोत्पत्ति में पर व्यापार निरपेक्ष हैं नहीं। अतः जब वे स्वोत्पत्ति में पर व्यापार सापेक्ष हैं तो वे कार्य हैं ऐसा मानना ही पडता है। घटादिक स्वोत्पत्ति में पर व्यापार सापेक्ष हैं यह साधन उनमें कदाचित्कता होने से असिद्ध नहीं है। क्योंकि जहां पर परव्यापारानपेक्षता हैं वहां पर गगन की तरह कदाचित्कता भी नहीं है। यदि इस पर यों कहा जाय कि घट अपनी उत्पत्ति में पर व्यापार की अपेक्षावाले नहीं हैं किन्तु उनका जो आविर्भाव है वही पर व्यापार की अपेक्षा वाला है क्यों कि वह कदाचित्क है। सो इस पर यह पूछा जा सकता है कि यह आविर्भाव क्या है ? यदि उत्तर रूप में यह कहा जाय कि अनुलब्ध की व्यंजक व्यापार से उपलब्धि होना यही आविर्भाव है तो यह कहना केवल कहना मात्र ही है। कारण कि ऐसा कौन चतुर होगा जो इस बात को मान लेगा कि घटादिक का आविर्भाव ही कादाचित्क होने से अपनी उत्पत्ति में पर व्यापार की अपेक्षा रखता है, घटादिक नहीं रखते। अतः यह मानना चाहिये कि घटादिक जिन्हें आपके सिद्धान्तानुसार प्रधान- प्रकृति-का परिणाम स्वरूप माना गया है कार्य द्रव्य है, कार्य-द्रव्य का यदि प्रागभाव नहीं माना जायेगा तो वह अनादि ठहरेगा-ऐसी हालत में प्रागभाव अवश्य स्वीकार करना चाहिये, ताकि कारण व्यापारों की सफलता हो सके। दूसरे जो आपके यहां तिरोभाव एवं आविर्भाव माना है-सो तिरोभाव ही प्रागभाव है और आविर्भाव ही तिरोभाव का प्रध्वंसाभाव है।

इसी तरह शब्द का जिसे मीमांसक सिद्धान्त के अनुसार नित्य माना गया है यदि प्रध्वंसाभाव स्वीकार नही किया जायेगा तो " तस्य किं कृतमश्रवणम् " जो उसका अश्रवण है उसका क्या कारण माना जायेगा। यदि इस पर यों कहा जाय " स्वावरणकृतम् " कि शब्द का जो अश्रवण है वह अपने आवरणो से कृत है। सो इस पर पुन यह प्रश्न खड़ा होता है कि " तदात्मानमखण्डयत कस्यचिदावरणत्वायोगात् " जिस आवरण की महिरबानी से शब्द का अश्रवण है वह उस शब्द के स्वरूप का खण्डन करता है या नहीं। यदि नहीं करता तो उसे उसका आवरण मानना उचित कैसे हो सकता है ? यदि करता है तो शब्दमे उसके द्वारा स्वभाव भेदका प्रसग आता है। स्वभाव भेद को हटाने के लिये जो ऐसा कहा जाय कि जिस प्रकार तमरूप आवरण घटादिक पदार्थो के स्वभाव को नहीं खडित

करते हुए भी आवारक माना जाता है उसी तरह शब्द के स्वरूप को भी नहीं खंडित करनेवाला भी उसका आवरण मान लिया जावेगा-सो ऐसी धारणा ठीक नहीं है। कारण कि तम भी घट के स्वरूप का खण्डन करने से ही उसका आवरण माना गया है। वह घट के दृश्य-स्वभाव रूप का खण्डन करता है। यदि ऐसा न हो तो आवृत और अनावृत स्वभाव में कोई भेद नहीं माना जा सकता है। यदि ऐसा न हो अर्थात्- "तमसाऽपि घटादेरखण्डने पूर्ववदुपलब्धिः किन्न भवितुमर्हति" अन्धकार घटादिक का दृश्य स्वभाव खण्डित नहीं करता है यदि ऐसा माना जाय तो अन्धकार में भी रखे हुये घट की चक्षु इन्द्रिय द्वारा पूर्व की तरह उपलब्धि होनी चाहिये। अत यह स्वीकार करना चाहिए कि शब्द "ताल्वादिकव्यापारजनित-श्रवणस्वभाव परित्यज्यविपरीतस्वभावमासादयन्नपि नित्यश्चेन्न किञ्चिदनित्यम्" (अ० श०) ताल्वादिक के व्यापार से उद्भूत अपने श्रावणस्वभाव का परित्याग करके विपरीत-अश्रावणत्व-स्वभाव को अंगीकार करता है इतने पर भी यदि वह नित्य है तो फिर अनित्य कौन कहला सकेगा। स्वभाव से स्वभावान्तरित होना इसी का नाम अनित्य है और यह अनित्यता शब्द में स्पष्ट है।

इसी तरह शब्द त्रिजगत में एक ही है। यह जो मान्यता है वह भी ठीक नहीं है। क्यों कि घटादिक की तरह शब्द में युगपत् भिन्न भिन्न देश में भिन्न २ स्वभाव की उपलब्धि होती है अतः वह अनेक हैं। भानु द्वारा यह हेतु अनैकान्तिक नहीं हो सकता है-मतलब इसका यह है कि यदि शब्द को एक मानने वाला वादी यह कहे कि जो तुम "शब्दोऽनेकः युगपद्भिन्नदेश-स्वभावोपलब्धेः घटादिवत्" ऐसा कह रहे हो सो यह हेतु अपने साध्य की सिद्धि का नियामक नही हो सकता है। क्यों कि भानु भी भिन्न २ देश में युगपत् उपलब्ध होता है फिर भी वह एक ही है अनेक नही - सो ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योकि हम यह मानते हैं कि अनेक पुरुषों की अपेक्षा भानु एक ही समय में भिन्न २ देश मे उपलब्ध होता है। परन्तु वह ऐसा उपलब्ध होने पर भी भिन्न २ स्वभाव में उपलब्ध नहीं होता है अत यह हेतु भानु द्वारा सदोष सिद्ध नहीं होता है। इसी तरह कोई यदि यों कहे कि भिन्न २ जगह-नजदीक एव पास में एक ही समय में खडे हुए मनुष्यों के लिये भिन्न २ स्वभाव से -स्पष्ट और अस्पष्ट रूप से-प्रतीत होने वाले एक वृक्ष

द्वारा आपका यह हेतु अनैकान्तिक हो जायगा-सो भी ठीक नहीं है कारण कि एक ही वृक्ष युगपत् भिन्न २ स्वभाव से उपलब्ध हो जाय उसका हम निषेध नहीं करते हैं-हम तो ऐसा कहते है कि जो एक ही समय में भिन्न २ देश में भिन्न २ स्वभाव से उपलब्ध होता है वह अनेक हैं-अब हेतु के दलों पर विचार कीजिये-तो पता पड़ेगा कि वह एक पादप भिन्न २ स्वभाव से उपलब्ध होता हुआ भी उस समय भिन्न २ देशतया उपलब्ध नही हो रहा हैं। अतः इसके द्वारा भी हमारा यह हेतु व्यभिचरित नहीं होता है। यदि फिर भी इस हेतु को व्यभिचरित साबित करने के लिये चन्द्र द्वय का दृष्टान्त दिया जाय और ऐसा कहा जाय जब आप ऐसा कहते हैं कि युगपत् भिन्नदेश भिन्न स्वभावमें जिसकी उपलब्धि होती है वह अनेक है सो देखो नयनों मे आवरण विशेष की वजह से एक ही समय में एक ही चन्द्रमा भिन्नदेश एव भिन्न स्वभाव रूप से उपलब्ध होता है परन्तु फिर भी वह अनेक नही हैं सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है। क्योकि एकचन्द्र में युगपत् भिन्नदेश भिन्न स्वभावतया जो चन्द्रद्वय का प्रतिभास हो रहा है वह भ्रान्त है अभ्रान्त नही। भ्रान्त प्रत्यय से अभ्रान्त प्रत्यय दूपित नही होता है, नहीं तो झूठे अनुमान से सच्चा अनुमान भी भ्रान्त जाहिर किया जाने लगेगा। शब्द की जो युगपत् भिन्नदेश स्वभावतया उपलब्धि होती है वह चन्द्रद्वय प्रतिभास की तरह भ्रान्त नहीं है किन्तु बाधक के अभाव से अभ्रान्त ही है। अतः "युगपत्प्रतिनियतदेशमदतारश्रुतेः कस्यचिदेकत्वे न क्वचिद-नेकत्वसिद्धि" (अ०श०), इतने पर भी जो उसे एक माना जाय तो फिर अनेकत्वकी सिद्धि कही पर भी नहीं हो सकेगी। यदि इस पर यो कहा जाय कि "सएवायमकार" यह वही अकार है इस प्रकार के प्रत्यभिज्ञानरूप प्रत्यवमर्श से अकारा-दिक वर्णों में एकत्व की सिद्धि होती है सो इस प्रकार का प्रत्यवमर्श तो अनेक रूप से मान्य अंगहारादिक क्रियाओ में भी "यह वही अंगहारादिक क्रिया है" इस रूप से होता है। अतः यहां पर भी एकत्व मानना पडेगा। यदि इसमें प्रत्यवमर्श को भ्रान्त माना जाय तो अकारादि वर्णों मे भी एकत्वप्रख्यापक प्रत्यवमर्श भ्रान्त है ऐसा ही मानना चाहिये। अत "तदेतेषां पुद्गलानां करणसन्निपातोपनिपाते श्रावणस्वभावः शब्द· पूर्वापरकोटयोरसन् प्रयत्नानन्तरीयको घटादिवत्" अष्टशती) शब्द रूप से परिणमन होने योग्य पुद्गलोका कर्ण इन्द्रियके पास उपनिपात होने पर जो शब्द योग्य परिणमन जाता है वही शब्द का श्रावणस्वभाव है। यह शब्द पूर्व एव अपर कोटि में अस्तित्व से रहित है, इसलिये घटादिक

की तरह यह प्रयत्नाविनाभावी है—ताल्वादिक प्रयत्नजन्य है। इसे इस परिस्थिति में नित्य एवं एक मानना युक्तियुक्त नहीं हो सकता है। शब्द पौद्गलिक है इस विषय को अष्टसहस्री के भावानुसार युक्त्यनुशासन के अनुवाद में मैंने अच्छी-तरहसे स्पष्ट किया है, अतः शब्द का अश्रावणत्व प्रध्वंसाभाव की वजह से है ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार कारिका-कार का यह कथन कि प्रागभाव के निह्नव में घटादिक कार्य द्रव्य अनादि एव प्रध्वंसाभाव के अपलाप में वे अनन्त हो जायेंगे सो युक्तियुक्त है।

सर्वात्मकं तदेकं स्यादन्यापोहव्यतिक्रमे।
अन्यत्र समवायेन, व्यपदिश्येत सर्वथा ॥ ११ ॥

अन्वय—अन्यापोहव्यतिक्रमे तत् सर्वात्मक स्यात्। अन्यत्र समवाये (तदेकं) सर्वथा न व्यपदिश्येत ॥११॥

अर्थ-अन्यापोह—इतरेतराभाव-के व्यतिक्रमे-लोप-करनेपर वह इष्टतत्त्व सर्वात्मक एक हो जायगा। तथा अन्यत्र समवाये—अत्यंताभाव के नहीं मानने पर वह एक इष्ट तत्त्व सर्वथा रूप मे व्यपदेश को प्राप्त नहीं कर सकेगा।

भावार्थ—कारिकाकार स्वामी समन्तभद्राचार्य इस कारिका द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि यदि इतरेतराभाव एवं अत्यन्ताभाव न माना जाय तो कौन २ सी आपत्तियों का प्रवादियों को सामना करना पड़ेगा। तथा च–कारिकागत "तत्" शब्द समस्त प्रवादियों के इष्टतत्त्व का परामर्शक है। इतरेतराभाव के न मानने पर समस्त प्रवादियों का स्वेष्ट तत्त्व सर्वात्मक हो जायगा। क्योंकि इतरेतराभाव के अभाव करने पर फिर ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो उसमें अनिष्ट रूप के व्यावर्तन की समर्थक हो। इतरेतराभाव की कृपा से ही परस्पर पर्यायों में एक दूसरे की व्यावृत्ति सिद्ध होती है। अन्यत्र समवाय का अर्थ अत्यंताभाव का अपलाप करना है। अपने समवायी से अन्य समवायी में वृत्ति होने का नाम अन्यत्र समवाय है। अन्यत्र समवाय मानने पर स्वेष्ट तत्त्व का व्यपदेश हो ही नहीं सकता है। कारण कि अनिष्ट रूप से भी उसमें व्यपदेशापत्ति का प्रसग मानना पड़ेगा। यदि अनिष्टात्मना उसे व्यपदिष्ट न माना जायगा तो स्वेष्टात्मना

भी वह व्यपदिष्ट नहीं हो सकेगा । अतः यह आवश्यक है कि अपने २ इष्ट तत्त्व की व्यवस्था एवं व्यपदेश के लिये इतरेतराभाव और अत्यंताभाव का अपलाप प्रवादियो के लिये कथमपि हितावह नहीं है ।

प्रश्न---इतरेतराभाव का क्या लक्षण है ?

उत्तर--स्वभावान्तर से स्वभाव की व्यावृत्ति होना इसका नाम इतरेतराभाव है । इतरेतराभाव और अन्यापोह का वाक्यार्थ एक ही है, इतरेतराभाव के लक्षण में जो स्वभावान्तर पद है वह इस बात का निर्देशक है कि अन्य पदार्थ के स्वभाव से अपने स्वभाव की व्यावृत्ति ही अन्यापोह है । स्व से स्वस्वभाव की व्यावृत्ति अन्यापोह नही है । यह तो स्वापोह है । स्व से स्वस्वभाव की व्यावृत्ति भी यदि इतरेतराभाव मे परिगणित की जाय तो फिर पदार्थ-स्वस्वभाव से व्यावृत्ति विशिष्ट होने के कारण सर्वथा निरुपाख्य ही हो जायगा ।

शंका---"स्वभावान्तरात् स्वभावव्यावृत्तिरन्यापोह" यदि इस प्रकार का इतरेतराभाव का लक्षण कबूल करने मे आयगा-तो यह निर्दोष साबित नहीं हो सकेगा । लक्षण के तीन दोष दार्शनिकों ने माने हैं । उनमें से इस लक्षण मे अतिव्याप्ति नाम का दोष आता है । क्योंकि प्रागभाव एव प्रध्वंसाभाव में भी इस लक्षण का समन्वय पाया जाता है । वह इस प्रकार से घट स्वभाव से स्वभावान्तर प्रागभाव एवं प्रध्वसाभाव है । प्रागभाव घट की पूर्व पर्याय है और प्रध्वसाभाव उसकी उत्तर पर्याय है, अतः स्वभावान्तर से स्वभाव की व्यावृत्ति प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव रूप अलक्ष्य में विद्यमान होने से यह इतरेतराभाव का लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दूषित होने के कारण निर्दोष नही माना जा सकता है ।

उत्तर--ऐसा नहीं है । यद्यपि प्रागभाव एव प्रध्वंसाभाव यह दोनों स्वभावान्तर है तो भी कार्य द्रव्य इन दोनो की व्यावृत्ति से विशिष्ट है । मतलब इसका यह है कि स्वभावान्तर से स्वभाव की व्यावृत्ति यह इतरेतराभाव है । इसमें व्यावृत्ति विशिष्टता नहीं है क्योकि कार्य द्रव्य में इतरेतराभाव रहता है । प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव नहीं रहते । अतः इन दोनों की व्यावृत्ति कार्य द्रव्य में है । अतः कार्य द्रव्य इन दोनों की व्यावृत्ति से विशिष्ट है । इतरेतराभाव की

व्यावृत्ति से नहीं। इसलिये इस अपेक्षा से प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव में इस लक्षण का समन्वय नहीं होता है। इसी विषय को कि कार्य द्रव्य में प्रागभाव एव प्रध्वंसाभाव की व्यावृत्ति विशिष्टता कैसे है टीकाकार ने इस प्रकार से खुलासा किया है वे कहते है कि "यदभावे नियमतः कार्यस्य उत्पत्तिः स प्रागभाव यद्भावे च कार्यस्य नियमतः विपत्ति स प्रध्वसाभावः" कि जिसके अभाव में नियम से कार्य की उत्पत्ति होती है वह प्रागभाव है और जिसके सद्भाव में नियम से कार्य की विपत्ति होती है वह प्रध्वंसाभाव है। प्रागभाव के नष्ट होने पर ही कार्यद्रव्य का प्रादुर्भाव एव प्रध्वसाभाव के सद्भाव मे ही कार्य द्रव्य का विनाश होता है यह विद्वज्जगत में प्रातीतिक है। अतः कार्यद्रव्य में इन दोनों की व्यावृत्ति विशिष्टता स्पष्टतः साबित है। इस प्रकार की व्यावृत्ति विशिष्टता इतरेतराभाव की कार्यद्रव्य में नहीं है। क्योंकि इतरेतरा भाव के अभाव में या इतरेतराभाव के सद्भाव में न तो किसी कार्य की उत्पत्ति होती है और न कार्य की विपत्ति ही होती है।

शंका—अच्छा आप जो यह कह रहे है कि इतरेतराभाव के अभाव में या सद्भाव में किसी भी कार्य की उत्पत्ति या विपत्ति नहीं होती है—सो ऐसा कहना आपका उचित है—परन्तु कहीं २ पर अंधकार के अभाव में रूपज्ञान की उत्पत्ति होती है तो क्या रूपज्ञान का अंधकार प्रागभाव हो जायगा ? इसी तरह अंधकार के सद्भाव में रूपज्ञान नहीं होता है तो क्या अंधकार रूपज्ञान का प्रध्वंसाभाव मान लिया जायगा ?

उत्तर—प्रागभाव एवं प्रध्वसाभाव के लक्षण में " नियम " इस पद का निवेश हुआ है, अत अंधकार में रूपज्ञान की न प्रागभावता आ सकती है और न प्रध्वंसाभावता ही। यदि ऐसा नियम ही होता है कि रूपज्ञान की उत्पत्ति अंधकार के सद्भाव में हो ही नहीं सकती है तो बेशक अंधकार के अभाव होने पर उद्भूत रूपज्ञान का वह प्रागभाव हो जाता परन्तु ऐसा एकान्तत नियम नहीं है। क्योकि किन्ही किन्ही जीवों को अंधकार में भी रूपज्ञान की उद्भूति हो जाती है। अतः उसमें रूपज्ञान के प्रति प्रागभावता नहीं आ सकती है। इसी प्रकार यदि ऐसा नियम एकान्ततः होता कि अंधकार के सद्भाव में रूपज्ञान हो ही नहीं सकता है तो रूपज्ञान का अंधकार प्रध्वसाभाव मान लिया जाता

परन्तु ऐसा बन नहीं सकता क्यो कि यह प्रकट है कि अंधकार के अस्तित्व में भी रूपज्ञान की प्रादुर्भूति होती हुई किन्ही किन्हीं जीवो में देखी जाती है। अतः "स्वभावान्तरात् स्वभावव्यावृत्ति" यह अध्यापोह का लक्षण निर्दोष है।

शंका—इस लक्षण की अतिव्याप्ति यद्यपि प्रागभाव एव प्रध्वसाभाव से व्यावृत होने के कारण उन द्वारा भले ही नहीं हो, परन्तु अत्यंताभाव द्वारा तो इस लक्षण की अतिव्याप्ति स्पष्ट है। क्यों कि जिस प्रकार इतरेतराभाव घट और पट को परस्पर मे भिन्न भिन्न करता है—घट मे पट का अभाव और पट में घट का अभाव बतलाता है- उसी प्रकार अत्यंताभाव भी यही भाव प्रकट करता है वह भी घट और पट परस्पर में अत्यन्त जुदे २ हैं यही बतलाता है। फिर भी आप इस इतरेतराभाव के लक्षण को निर्दोष कह रहे हैं।

उत्तर—जिस प्रकार से आपने अत्यताभाव को समझ रक्खा है वह वह उस प्रकार से नही है। घट और पट परस्पर मे सर्वथा-अत्यन्त जुदे २ हैं यह अत्यन्ताभाव का विषय नही है। यह तो इतरेतराभाव का ही विषय है। यदि अत्यन्ताभाव का विषय होता तो कालान्तर मे भी जो पट मे घटत्वरूपपरिणाम की संभवता है वह नही हो सकती है। वर्तमान मे जो परस्पर में भिन्न भिन्न है वे कालान्तर मे भी भिन्न भिन्न ही रहेगे ऐसा पौद्गलिक परिणामों मे एकान्त नियम नहीं बनता है। इतरेतराभाव अत्यताभाव की तरह कालत्रयापेक्ष नही होता है। अत्यंताभाव कालत्रयापेक्ष होता है। जिस प्रकार जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्य त्रिकाल मे भी एकमेक नही हो सकते है उस प्रकार इतरेतराभाव विशिष्ट पदार्थो मे कालत्रय मे भी एक दूसरे रूप होने की असभवता नही हैं। पट भी निमित्त कारणो की सकलता मिलने पर घट रूप परिणाम से परिणामित हो सकता है। जिस प्रकार चन्द्रकान्तमणि और जल इनमें परस्पर इतरेतराभाव है। परन्तु जब चन्द्रमण्डलका उदय होता है तब चन्द्रकान्तमणि का परिणमन जल रूप हो जाता है। अग्नि और अंजन में परस्पर इतरेतराभाव है। परन्तु दीपक रूप अग्नि का परिणमन कज्जलरूप मे होता हुआ सर्वजन—साक्षिक है। मतलब कहने का यह है कि जिन पदार्थों का परस्पर में अत्यन्ताभाव होता है - वे पदार्थ कालत्रय में भी कभी भी एक-दूसरे रूप में परिणामित नही हो सकते हैं। जीव न पुद्गल रूप से परिणमित हो सकता है और न पुद्-

गल जीव रूप से हो। परन्तु ऐसा नियम एकान्त रूप से इतरेताभाव विशिष्ट पदार्थों के साथ लागू नहीं होता है।

ज्ञानाद्वैतवादी—यह ठीक है कि इतरेतराभाव के अपलाप में चार्वाक को ऐसा कहा जा सकता है कि तुम्हारे यहां पृथ्वीतत्व सकल जलादितत्व रूप हो जायेगा तथा साख्यो को भी ऐसा ही ठपका दिया जा सकता है कि प्रकृति और महदादिको में यदि परस्पर इतरेतराभाव न माना जायेगा तो दोनों में एकमेकता हो जायेगी। अशेष महदादि
का० परिणात्मक एक प्रकृति या प्रकृतिस्वरूप अशेषमहदादिपरिणाम हो जायेंगे। परन्तु हम बौद्धो को कि जो सिर्फ एक
मी० विज्ञानमात्र ही तत्व मानते हैं आप क्या उलाहना दे सकते हैं-हमसे आप क्या कह सकते हैं कि तुम यदि इतरेतराभाव नहीं मानोगे तो अमुक वस्तु अमुक रूप हो जायेगी ?
११०

जैन—ऐसा कहना आपका उचित नहीं है " सविदोग्राह्याकारात् कथचिद्वयावृत्तावनेकान्तसिद्धिरन्यथा संबंधासिद्धि " क्योकि जब एक विज्ञानमात्र तत्त्व आप मानते हैं तब इसके आपकी मान्यतानुसार दो आकार होंगे-एक संविदाकार दूसरा ग्राह्याकार। अब सविदाकार और ग्राह्याकार में परस्पर में यदि कथंचित् व्यावृत्ति-भेद-माना जायगा तो इस हालत में दोनो में अनेकान्त-भेद की सिद्धि माननी पडेगी। यह भेद सिद्धि ही स्वभावान्तर से स्वभाव की व्यावृत्ति रूप इतरेतराभाव की साधिका होती है। यदि ग्राहकाकार-संविदाकार-और ग्राह्याकार का परस्पर में सर्वथा भेद स्वीकृत किया जायगा तो सविदाकार और ग्राह्याकार में उपकार्य और उपकारक भाव की अनभ्युपगमता में समवायादिक संबंधान्तर के न बनने से इन दोनो का संबध ही सिद्धि नही हो सकता है। मतलब इसका यह है कि विज्ञानद्वैतवादी बौद्ध का यह सिद्धान्त है- बाह्य अर्थ जितना भी है वह सब जड़ है उसका प्रतिभास नहीं हो सकता है। नीलादिक आकार के रूप में जो प्रतिभासित होता है वह सब ज्ञान रूप ही है। उनका यह आक्षेप १ है कि यदि नीलादिक पदार्थ का प्रतिभास होता है तो उसे बाह्य पदार्थ कैसे कह सकते हैं। यदि नहीं होता है तो उसे बाह्य पदार्थ कैसे कह सकते है। अर्थात् यदि नीलादिक का प्रतिभास होता है तो उसे ज्ञानरूप ही मानना चाहिये और यदि उसका प्रतिभास

१—यदि सवेद्यते नील कथ बाह्य तदुच्यते। न चेद् सवेद्यते नील कथ बाह्यं तदुच्यते।

नहीं होता है तो वह वाह्य पदार्थ कैसे कहा जा सकता है । अतः जिस प्रकार बाह्य आलबन के बिना आकाश में केश का ज्ञ न होता है अथवा स्वप्नावस्था में स्वप्नज्ञान होता है उसी तरह अनादिकाल की अविद्यावासना के कारण बाह्य-पदार्थों के आलवन विना ही घट पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है । क्योकि ज्ञान के गोचर ये जितने भी दृश्य पदार्थ हैं वे सब बुद्धि को पदार्थाकार उत्पन्न करते हैं । इसलिये बुद्धि में प्रतिभासित होने के कारण ये सब ज्ञान स्वरूप ही हैं । अत ज्ञान ही ग्राह्याकार रूप से प्रतिभासित होता है । इसके ऊपर जैन दार्शनिको का यह आक्षेप है कि वह ज्ञान

आ० मी० १११ जो स्वय ग्राह्याकार--नीलपीतादिक आकार--रूप से प्रतिभासित होता है अपने उस ग्राह्याकार से कथचित् व्यावृत्ति-विशिष्ट है या सर्वथा व्यावृत्ति विशिष्ट हैं । यदि कथंचित् व्यावृत्ति विशिष्ट है तो इससे ही यह साबित हो जाता है कि वे दोनों परस्पर मे कथचित् भिन्न है यह कथचित् भिन्नता ही उन दोनों में इतरेतराभाव की साधिका बन जाती है । यदि संविद--ज्ञान और ग्राह्याकार इन दोनों में सर्वथा भेद माना जाय तो इस संविद् का यह ग्राह्याकार है इस प्रकार का भिन्नता में संबन्ध सिद्ध नहीं हो सकता है । यदि संविद्ज्ञान--और--ग्राह्याकार ये दोनो परस्पर में अव्यावृत्ति विशिष्ट माने जायेगें तो इस हालत में अन्यतर के स्वभाव की हानि होने से न संविद्-विज्ञान की ही सिद्धि हो सकेगी और न उसके ग्राह्याकार की ही । क्योकि सर्वथा अव्यावृत्ति--अभिन्नता--मे विज्ञान का ग्राह्याकार में अनुप्रवेश हो जाने से एक ग्राह्याकार ही शेष रह जायगा--सविदाकार नही । जब संवित्--ज्ञान--की स्वतंत्र सत्ता ही नही रही तो ज्ञान को ही जो तुम ग्राह्याकार रूप से प्रतिपादित करते हो उसका योग-सद्भाव-भी कैसे घटित हो सकेगा । अथवा सर्वथा अभिन्नता से यह भी हो जायगा--कि ग्राह्याकार का ज्ञान में प्रवेश हो जाने पर एक ज्ञान ही बचा रहेगा--परन्तु विषयाकार से विकल ज्ञान की सत्ता ही सिद्ध नहीं हो सकती है, इसलिये ग्राह्याकार के अभाव मे ज्ञान का भी सद्भाव सावित नही हो सकेगा । इस अपेक्षा--ग्राह्याकार और विज्ञान इन दोनो की सर्वथा अव्यावृत्ति मानने पर अन्यतर के स्वभाव की हानि होने से किसी का भी अस्तित्व सम्पन्न नही हो सकता है । यदि इस पर यो कहा जाय कि ग्राह्य और ग्राह्याक

२--नान्योऽनुभाव्यों बुद्धयाऽस्ति तस्या नानुभवोऽपर: । ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते । बाह्यो न विद्यते ह्यर्थो यथा बालैर्विकल्प्यते । वासनालुठित चित्त अर्थाभासे प्रवर्तते ।

भावकी विधुरता से स्वयं एक ज्ञान ही प्रकाशित होता है सो ऐसा कहना भी इसलिये उचित नहीं है कि इस कथन में ज्ञान निर्विकल्पक साबित होता है। और जब यह निर्विकल्पक मान लिया जायगा तो ऐसी हालत में इस निर्विकल्पक ज्ञान के स्वभाव की व्यावृत्ति वेद्याकार रूप स्वभावान्तर की वहा अनुपलब्धि होने से उससे स्वत. सिद्ध हो जाती है। अतः स्वभावान्तर से स्वभाव की व्यावृत्ति रूप जो इतरेतराभाव है वह विज्ञानाद्वैत् तत्व मानने पर भी अपलपित नहीं हो सकता है।

इसी तरह चित्रज्ञानाद्वैतवादी को भी चित्रज्ञान में शवल विपय का प्रतिभास होने पर भी लोहितादिक आकारो की परस्पर मे व्यावृत्ति स्वीकार करना चाहिये। नहीं तो जैसे अकेले नील के प्रतिभास वाले ज्ञान में चित्रज्ञान का व्यपदेश नहीं होता है उसी तरह से लोहितादिक आकारो के युगपत प्रतिभास वाले उस ज्ञान में भी चित्रज्ञान का व्यपदेश नहीं हो सकेगा। कारण कि चित्रज्ञान के व्यपदेश का कारण चित्र–शवल विपय–का प्रतिभास है–अर्थात् लोहितादिक आकारो का भिन्न२ रूप से युगपत् प्रतिभास है। अब यदि वे लोहितादिक आकार परस्पर व्यावृत्ति विशिष्ट जो नहीं माने जायेंगे तो उनमें एकत्वापत्ति आने से उनका प्रतिभासक ज्ञान चित्रज्ञान कैसे कहला सकेगा। अतः अद्वैत पक्ष में भी इतरेतराभाव के माने विना स्वेष्टतत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है।

इसी तरह अत्यन्ताभाव के अपलाप करने पर ज्ञानादिक गुणो का सद्भाव घटादिक में और रूपादिक गुणों का सद्भाव आत्मा में भी उपलब्ध मानना पडेगा। परन्तु ऐसी उपलब्धि तो होती नहीं है। इस प्रकार की उपलब्धि नही होने देने का कारण अत्यन्ताभाव ही है। अथवा स्वरूप की तरह किसी भी वस्तु की उपलब्धि पररूप से नहीं होती है–अत किञ्चित् स्वेष्टतत्त्व क्वचित् अनिष्ट अर्थ में सत्यस्वरूप से अनुपलभमान होता हुआ कालत्रय में भी वह उस रूप से वहां पर नही है। इस तरह जाना जाता है। इस प्रतिपत्ति का कारण भी अत्यन्ताभाव ही है। अतः अत्यन्ताभाव का भी अपलाप कथमपि नही हो सकता है। इसलिये हे नाथ ! अन्यापोह के व्यतिक्रम करने पर समस्त प्रवादियों

का इष्टतत्त्व सर्वात्मक एक हो जायगा और अत्यंताभाव के अपलाप करने पर उसका किसी भी रूप से व्यपदेश नहीं हो सकेगा-यह कथन सर्वथा निर्दोष १ है ।

अभावैकान्तपक्षेऽपि, भावापह्नववादिनाम्।
बोधवाक्यं प्रमाणं न, केन साधनदूषणम् ॥ १२ ॥

अन्वय — भावापह्नववादिनां अभावैकान्तपक्षेऽपि बोधावाक्यं प्रमाणं न (स्यात् अतः) केन साधनदूषणम् ।

अर्थः—भाव—पदार्थ—का सर्वथा अपलाप करने वाले वादियो के (समत) अभावैकान्त पक्ष में भी बोध और वाक्य की असंभवता में प्रमाण की व्यवस्था नहीं बन सकती है । अतः प्रमाण के अभाव में भावापह्नववादी स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूसण—निराकरण—कैसे कर सकता है ।

भावार्थ —नौवीं कारिका से लेकर ग्यारहवीं कारिका तक भावैकान्त का पक्ष श्रेयस्कर नहीं है । यह अच्छी तरह से समर्थित किया जा चुका है । अब स्वामीजी इस कारिका द्वारा यह स्पष्ट कर रहे हैं कि वादी (माध्यमिक) ने जो सर्वथा अभावैकान्त पक्ष स्वीकार किया है सो उसका यह पक्ष भी समीचीन नहीं है । क्योंकि जिस प्रकार भावैकान्त पक्ष की मान्यता में अभावों का अपन्हव होने से स्वेष्टतत्त्व की व्यवस्था नही बन सकती है उसी प्रकार अभावैकान्त पक्ष की मान्यता में भी भावस्वरूप वस्तु का अपन्हव होने से बोध—स्व के लिए स्वपक्ष का साधन रूप एव परपक्ष का दूषण रूप ज्ञान एवं वाक्य—पर के लिए परपक्ष का दूषण रूप एव स्वपक्ष का साधन रूप वचन ये दोनों प्रमाण कोटि में नहीं आ सकते है । प्रमाण के विना स्वपक्ष का साधन एवं परपक्ष का निराकरण भी कैसे हो सकता है ! अत अभावैकान्त पक्ष ही श्रेयस्कर है यह कहना स्व वचन बाधित होता है । क्योंकि जब अभावैकान्त पक्ष ही स्वीकार किया जा रहा है

१--इस कारिका की टीका मे टीकाकार ने उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्य इनको त्रयात्मक मानकर भूत, भविष्यत् एव वर्त्तमानक ल की अपेक्षा लेकर ८१ भेद किये हैं ।-

तब उसकी प्रमाण के बल पर सिद्धि करना स्वमान्यता का बाधक साबित [1] होता है। यदि स्ववचन बाधितता को हटाने के लिए यह कहा जाय कि " सर्व एवायमनुमानानुमेय–व्यवहारो बुद्ध्यारुढेन धर्मधर्मिभावेन न बहि सदसत्व-मपेक्षते " शून्यवाद की स्थापना करने के लिए हमें प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है क्योंकि जितना भी अनुमान अनुमेय व्यवहार है वह सब बुद्धि में धर्म और धर्मी की कल्पना से ही कल्पित हुआ है वास्तव में बुद्धि के बाहर सत् असत् कोई पदार्थ नही है " सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि इस नियम को प्रमाणभूत अंगीकार करने से प्रमाण आदि की व्यवस्था वस्तविक नहीं है यह कहना मिथ्या साबित होता है। अतः यह कहना कि " भावा येन निरुप्यन्ते तद्रूपं नास्ति तत्वतः। यस्मादेकमनेक च रूपं तेषां न विद्यते " ठीक नहीं है ! क्योंकि जब स्वपक्ष का साधन एवं परपक्ष का निराकरण किया जावेगा तब अन्तः–ज्ञानादिरूप एवं बाह्यशून्यतारूप ज्ञेय की सिद्धि होने से सर्वथा शून्यता प्रसिद्ध नहीं हो सकती है ! यदि इसपर यों कहा जाय कि तुम जिस शून्यता का निषेध करना चाहते हो वह स्वय तुम्हारे " शून्यता-रूप ज्ञेय की सिद्धि होने से इस वाक्य से साबित हो जाती है फिर शून्यता का यह निराकरण करने का प्रयत्न व्यर्थ पड़ जाता है सो ऐसा कहना भी बिना विचारे जैसा है। हम शून्यता का निषेध कब करते हैं। हम तो शून्यतैकान्तवाद के निषेधक है। जिस प्रकार स्वद्रव्यादिकचतुष्टय की अपेक्षा अस्तित्व वस्तु का धर्म है, उसी–प्रकार परद्रव्यादिक चतुष्टय की अपेक्षा नास्तित्व भी वस्तु का एक धर्म है, कथंचित् नास्तित्व का नाम ही शून्यता है, इस शून्यता का अपलाप कौन कर सकता है। अतः यह स्पष्ट सत्य है कि स्वपक्ष एवं परपक्ष के साधन एव दूषण में बहिस्तत्त्व एवं अन्तस्तत्त्व परमार्थतः सत् साबित होते हैं। " बहिरन्तश्च परमार्थसत् तदन्यतरापायेऽपि साधनदूषणप्रयोगानुपपत्तेः "।

माध्यमिकः—इस अनुमान प्रयोग द्वारा साध्य की सिद्धि नहीं हो सकती है, क्योंकि इसमें हेतु अपने तीन

---

१ बिना प्रमाणं परवन्न शून्यः स्वपक्षसिद्धेः पदमश्नुवीत ।
कुप्येत्कृतान्तः स्पृशते प्रमाणं अहो सुदृष्टं त्वदसूयि दृष्टम् ॥

कारिका--स्या० मज० १७ वीं

लक्षणों से रहित है। बौद्ध सिधान्त की अपेक्षा जो हेतु पक्षधर्म वाला, सपक्ष में सत्ववाला एव विपक्ष से व्यावृत्तिवाला होता है वही अपने साध्य का गमक होता है ऐसा माना गया है। इसी बात को लेकर यह शंका उपस्थित की गई है।

जैन--यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि पक्षधर्मत्वादिक के विना भी हेतु अन्यथानुपपत्तिरूप निज लक्षण के सद्भाव में ही स्वसाध्य का गमक होता है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि पक्ष धर्मत्वादिक के अभाव में हेतु अपने साध्य का गमक नही होता है। यदि ऐसा ऐकान्तिक नियम माना जाय तो " सर्वं क्षणिकं सत्त्वात् " इस प्रयोग में सपक्षसत्व का अभाव होने पर भी बौद्ध सिद्धान्त की अपेक्षा " सत्त्वात् " यह हेतु, स्वसाध्य का गमक माना गया है ! इसी तरह पक्ष धर्मत्व के विरह मे भी हेतु स्वसाध्य का गमक शून्यवादी बौद्धसिद्धान्त में स्वीकार किया गया है--जैसे जब कोई शून्यवादी बौद्ध से इस प्रकार पूछता है कि हे सौगत ! तुम्हारे यहा प्रमाण का अस्तित्व स्वीकृत हुआ है या नहीं ! तब शून्यवादी बौद्ध कहता है कि हां " प्रमाणास्तित्वमस्ति इष्टसाधनात् " इष्ट का साधक होने से प्रमाण का आस्तित्व है " तब उस समय जैन दार्शनिक ने कहा कि भाई ! तुम्हारा यह हेतु असिद्धधर्मी का धर्म है परन्तु फिर भी आप लोगों ने इसे अपने साध्य का गमक माना है अत पक्षधर्मत्व के अभाव में भी हेतु स्वसाध्य का साधक होता है, इसका निष्कर्ष यह निकलता है। हां एक बात है और वह यह है कि यदि हेतु में अन्यथानुपपत्ति का बल नहीं है तो पक्ष धर्मत्व तथा सपक्षसत्व के सद्भाव होने पर भी हेतु स्वस्वाध्य का त्रिकाल में भी गमक नही हो सकता है,अतः त्रिलक्षणता का व्यामोह छोड़ कर अन्यथानुपपत्ति ही एक हेतु का लक्षण है यह बात अ गीकार करनी चाहिए। यह अन्यथानुपपत्ति रूप हेतु लक्षण बहिस्तत्त्व एव अन्तारतत्त्व को पारमार्थिक सत् सिद्ध करने के लिए प्रयुक्त " तदन्यतरापाये साधनदूषणप्रयोगानुपपत्ते ." इस हेतु वाक्य में है।

माध्यमिक--" तदन्यतरापाये साधनदूषणप्रयोगानुपपत्तेः " इस हेतु वाक्य को भले ही स्वसाध्य के साथ-अन्त वहिस्तत्त्व में पारमार्थिक सत् रूप साध्य के साथ-अन्यथानुपपत्तिरूपनियम लक्षण की उपस्थिति हो इससे हमें क्या मतलब। हमारा मतलब तो एक नैरात्म्यवाद की सिद्धि से है। अतः इस दृष्टि से साधन दूषण प्रयोग पारमार्थिक

रूप से नैरात्म्यवादियों के मत में सिद्ध ही नहीं है कि जिससे आपका अभिप्राय अन्तःबहिस्तत्त्व को सद्वस्तु रूप से सिद्ध करने में सफल हो सके ?

जैन—यह कहना उचित नहीं है। कारण कि जब शून्यवाद में पारमार्थिक रूप से साधन दूषण प्रयोग सिद्ध नहीं है तो फिर नैरात्म्यवाद का मडन और अनैरात्म्यवाद का खडन कैसे किया जा सकता है।

आ० मी० २१६ माध्यमिक—कल्पित साध्य साधन व्यवस्था मानकर नैरात्म्यवाद का मंडन एवं अनैरात्म्यवाद का खंडन होता है।

जैन—यह कहना कोई महत्व नही रखता। कारण कि जब आपके यहां साध्य साधन व्यवस्था ही युक्ति युक्त नही हैं तो फिर इस कल्पित साध्य साधन व्यवस्था से नैरात्म्यवाद की वास्तविक व्यवस्था भी कैसे स्थापित हो सकती है। यह एक सोचने जैसी बात है। यदि नैरात्म्यवाद को सिद्ध करने वाली साध्य-साधन व्यवस्था पारमार्थिक रूप में अगीकृत करने में आवे तो इससे नैरात्म्यवाद की एकान्ततः सिद्धि कैसे हो सकती है। यदि नैरात्म्यवाद की सिद्धि के लिये ऐसा कहा जाय कि "नैरात्म्यवाद की व्यवस्था करने के लिये हमें पारमार्थिक रूप से साध्य-साधन भाव के मानने की आवश्यकता ही क्या है। क्योंकि नैरात्म्यवाद तो वेद्यवेदकभाव से भी शून्य है। साध्य-साधन व्यवस्था मे नैरात्म्यवाद वेद्यवेदक भाव से अशून्य ठहरता है। अत इस नैरात्म्यवाद की गति-प्रतिपत्ति-स्वतः-बिना किसी प्रमाण के-ही हो जाती है। फिर भी नैरात्म्यवाद की सिद्धि के लिये जो साधन का उपन्यास किया जाता है-वह नैरात्म्यवाद विषयक समारोप के व्यवच्छेददार्थ समझना चाहिये:" सो ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि नैरात्म्यवाद विषयक समारोप व्यवच्छेदार्थ जिस किसी का भी प्रयोग किया जायगा और वह तत्त्वतः समारोप का व्यवच्छेदक होता है तो इस हालत में समारोप-व्यवच्छेद साध्य और इसका व्यवच्छेदक साधन होगा, अतः यहां पर भी साध्य-साधन की व्यवस्थिति जब तात्त्विक मानी जायगी तो फिर यह कहना कि साध्य-साधन की व्यवस्था काल्पनिक है ठीक नहीं है। तथा नैरात्म्यविषयक जिस समारोप का व्यवच्छेद हुआ है वह समारोप व्यवच्छेद भी यदि अपरमार्थभूत है तो फिर

ऐसे अव्यवच्छेद समारोप वाले नैरात्म्यवाद की क्या कीमत हो सकती है और फिर जो तुम कहते हो कि " स्वरूपस्य स्वतोगतिः " सो सोचो तो सही यह बात कहाँ तक सच निकल सकती है, तथा जो नैरात्म्यवाद में संवृत्ति से प्रत्येक पदार्थ की व्यवस्था कहने मे आई है सो संवृत्ति शब्द का अर्थ क्या है ? क्या अपनी अपेक्षा अस्तित्व-विशिष्ट होना यह है। यदि " संवृत्याऽस्तीति स्वरूपेणास्ति " यह अर्थ-मान्यता कबूल है तो इसमें स्याद्वाद के अनुकूल ही कहा गया समझना चाहिये। क्योंकि स्याद्वादसिद्धान्त यही तो मानता है कि स्वरूप की अपेक्षा से ही समस्त पदार्थों का अस्तित्व है। यदि सवृति शब्द का अर्थ पररूप से नास्तित्व ऐसा है-तो इसमें भी स्याद्वादियों के लिये कोई विवाद नहीं है। तुम जिसे " सवृति " शब्द से व्यवहृत करते हो स्याद्वादी उसे ही " नास्तित्व " इस शब्द से व्यवहृत करते हैं। इसी तरह सवृति शब्द का अर्थ उभय एव अनुभय माना जाय-अर्थात् स्व एवं पररूप से वस्तु "अस्तिनास्ति" धर्म विशिष्ट है एव अनुभय-अवक्तव्य-है - तो यह मान्यता भी स्याद्वादियो के लिये कबूल ही है।

यदि संवृति शब्द का अर्थ " विचार की अनुपपत्ति " ऐसा माना जाय तो यह कहना ठीक नही हे। क्योंकि विचार की अनुपपत्ति तो तब ही बन सकती है कि जब विचार का सद्भाव हो। नैरात्म्यवादी के लिये तो कोई निर्णीत है ही नही कि जिसके आश्रित किसी अनिर्णीत अर्थ मे विचार प्रवृत्त हो सके। अतः जब इसे सर्वत्र विवाद ही विवाद १ है तो विचार की अनुपपत्ति सवृति हे ऐसा कहना उचित नहीं है। अत अभावैकान्तरूप नैरात्म्यवाद की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसलिये अभावैकान्त पक्ष की मान्यता युक्ति युक्त नही है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति,र्नावाच्यमिति युज्यते ॥ १३ ॥

१—किञ्चिन्निर्णीतमाश्रित्य, विचारोऽन्यत्र प्रवर्तते।
सर्वविप्रतिपत्तौ तु, क्वचिन्नास्ति विचारणा ॥

अन्वय--विरोधात् स्याद्वादन्यायविद्विषां उभयैकात्म्यं न । अवाच्यतैकान्तेऽपि अवाक्यं इति उक्तिः न युज्यते ।

अर्थ—परस्परपरिहारस्थितिलक्षण विरोध आने से स्याद्वादन्याय के विरोधियों का भाव और अभाव का तादात्म्यैकान्त का पक्ष युक्तियुक्त नहीं है। इसी तरह अवाच्यैकान्त पक्ष में भी "वस्तु अवाच्य है" ऐसा वचन नहीं कहा जा सकता है।

भावार्थ—स्वामी समतभद्राचार्य इस कारिका द्वारा इस बात का स्पष्टीकरण कर रहे है कि यदि भट्टमतानुयायी यों कहे कि "भावैकान्त पक्ष की स्वीकृति मे अभावो का अपलाप होने से सर्वात्मकत्व आदि दोपो का प्रसंग आता है। एवं अभावैकान्त पक्ष की मान्यता में भावरूप वस्तु का अपह्नव होने से बोध एव वाक्य रूप प्रमाण की असभवता मे स्वपक्ष का साधन एव परपक्ष दूषण भी नहीं सध सकता है" जब यह बात है तो परस्पर निरपेक्ष भावाभावात्मक एक पक्ष स्वीकार कर लेने पर इन समस्त पूर्वोक्त दोपों का उद्धार हो जायगा। क्योकि इस परस्पर निरपेक्ष संमिलित पक्ष में न सिर्फ एक भावैकान्त की मान्यता है और न केवल अभावैकान्त की ही। भाव और अभाव इन उभय पक्षों का इस पक्ष में एकान्तत तादात्म्य है। सो इस प्रकार की भाट्ट की परस्पर निरपेक्ष भावाभावैकान्त पक्ष की मान्यता भी उचित १ नही है। क्योकि जिस प्रकार शून्यैकान्तवादी अपने स्वीकृत शून्यैकान्तसिद्धान्त की स्थापना स्वसवेदन एवं अनुमान प्रमाण से स्व और पर के लिये करते समय स्वाभ्युपेत सिद्धान्त की मान्यता से बहिर्भूत हो जाता है क्योकि ऐसा करने से प्रमाण प्रमेय की व्यवस्था सावित हो जाती है जो शून्यैकान्त सिद्धान्त की निरसक होती है। अत ऐसी हालत मे जब कि वह प्रमाण के सहारे अपने सिद्धान्त की स्थापना करता है तब अपने सिद्धान्त से बहिर्भूत हो जाता है-

---

१--"भावाभावयोरेकतरप्रतिक्षेपे एकान्तपक्षोपक्षिप्तदोपपरिजिहीर्षया सदसदात्मकं सर्वमभ्युपगच्छतोऽपिवाणी विप्रतिषिध्यते तयो परस्पसपरिहारस्थितिलक्षणत्वात्। नहि सर्वात्मना कचिदर्थं सन्त तथैवासन्तमाचक्षाणः स्वस्थ स्वाभ्युपेतेतरनिरासविधानकरणात् शून्यावबोधवत्,, अष्टशती

उसका नि'सक हो जाता है एवं अनभ्युपेत प्रमाणादिक के सद्भाव का विधेयक हो जाता है उसी प्रकार भाव और अभाव के तादात्म्यैकान्त पक्ष का अवलम्बन करने वाला भाट्ट भी अपने स्वीकृत भावाभावात्मक पक्ष का निरसक हो जाता है और अनभ्युपेत भावैकान्त एव अभावैकान्त का विधायक बन जाता है। कारण कि जब भाव और अभाव का तादात्म्यैकान्त पक्ष स्वीकृत किया जाता है तब भाव में अभाव का और अभाव में भाव का सर्वथा प्रवेश हो जाता है-भाव अभाव रूप और अभाव भाव रूप हो जाता है-ऐसी स्थिति में या तो सर्वथा भावैकान्त पक्ष की मान्यता रहेगी या सर्वथा अभावैकान्त पक्ष की। उभय की संमिलित रूप से नही। यदि उभय की समिलित रूप से मान्यता स्वीकृत की जायगी तो उनका तादात्म्यैकान्त सिद्ध न होकर परस्पर में भेद का प्रसग प्राप्त होना स्वीकृत करना पडेगा। इसलिये स्याद्वादसिद्धान्त की मान्यता से अनभिज्ञ बने हुए अथवा उससे द्वेष रखने वाले वादियो का यह उभयैकात्म्यपक्ष परस्पर परिहारस्थितिलक्षण विरोध से आघ्रात होने की वजह से युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि परस्परनिरपेक्षता में भाव अभाव का परस्पर एकत्र रहने में विरोध आता है। कथंचित् सापेक्षता में भाव और अभाव की एकत्र स्थिति होने में कोई विरोध नहीं है। कथंचित् सापेक्षवाद में वस्तु भाव एव अभाव से युक्त होकर न तो वह सर्वथा भावरूप ही रहती और न सर्वथा अभाव रूप ही किन्तु जात्यन्तर रूप से वह प्रतिपन्न होती है। इसी तरह सांख्य सिद्धान्त का यह कथन कि यह त्रैलोक्य महान एव अहंकार आदि विकार रूप से जब अभिव्यक्त होता है तब उसका तिरोभाव हो जाता है और प्रकृति रूप में रहने पर वह अपेत-विनष्ट-होने पर भी अस्तित्व रूप से रहता है इस तरह किसी रूप से उसका विनाश-तिरोभाव एवं किसी रूप से उसका अस्तित्व का कथन करना यह स्याद्वादसिद्धान्त को स्वीकृत करने के लिये अंधसर्पबिलप्रवेशन्याय के अनुसरण करने जैसा है। क्योकि इससे परस्पर निरपेक्ष भावाभावैकान्त की सिद्धि नही होती है! इससे तो उल्टा स्याद्वादसिद्धान्त का अवलम्बन ही जाहिर होता है। क्योकि स्याद्वाद सिद्धान्त में भी किसी अपेक्षा भाव और किसी अपेक्षा अभाव एक ही पदार्थ मे प्रकट करने में आये है। यही बात साख्य के सिद्धान्तानुसार यहां पर त्रैलोक्य के आविर्भाव-अवस्थान-भाव-मे और तिरोभाव-अभाव-मे प्रकट करने में आई है। व्यक्तात्मना उसका तिरोभाव

मानना एवं प्रकृतिरूप से उसका अवस्थान मानना यह अंधसर्पबिलप्रवेशन्याय[1] से स्याद्वाद का अवलम्बन नहीं है तो और क्या है ? यदि स्याद्वाद के अवलंबन करने रूप दोष को हटाने के लिये यदि सांख्य ऐसा कहें कि परमार्थ से व्यक्त और अव्यक्त ये दोनों एक ही हैं अलग २ नहीं, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस प्रकार के कथन से या तो एक व्यक्त ही सिद्ध होगा या एक अव्यक्त ही। व्यक्त और अव्यक्त ये दो नहीं। यदि इस बात को स्वीकार करने के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि वास्तव में प्रधानाद्वैत पक्ष ही हमे इष्ट है तो ऐसा कहना भी उचित नही है कारण कि फिर जो पूर्व में विश्व मे भावात्मकता एव अभावात्मकता अथवा महदादिरूप से अनित्यता एव प्रकृति रूप से नित्यता गदित करने में आई है वह इस तरह के कथन मे सिद्ध नहीं हो सकती है-और इसकी सिद्धि के अभाव में उभयैकात्म्य की मान्यता भी ठीक नहीं बैठती है, अतः एक ही वस्तु मे अपेक्षाधीन होकर भावाभावात्मकता की मान्यता स्याद्वादसिद्धान्त का अनुसरण करने वाली है ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार नित्यत्व के प्रतिषेध से विश्व का महदादिक विकार रूप से तिरोभाव मानना और प्रकृति रूप से उसका विनाश के प्रतिषेध से सद्भाव मानना विना स्याद्वाद के अनुसरण किये नहीं बन सकता है।

इस प्रकार इन भावैकान्त अभावैकान्त और उभयैकान्त पक्ष में उपक्षिप्त दोषों की परिजिहिर्षा से जो सर्वथा एक अवक्तव्य ही तत्त्व है ऐसा मानता है उसके प्रति स्वामी जी कहते हैं कि हे अवक्तव्यैकान्तवादिन् ! जब तुम एक अवक्तव्य ही तत्त्व मानते हो और यह कहते हो कि "तत्त्व यथार्थतः कैसा है" इसे हम कह ही नहीं सकते हैं सो ऐसा कहना एव मानना बिल्कुल युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि अवाच्यैकान्त में "तत्त्व अवाच्य है" यह उक्ति भी तो नहीं वन सकती है। जब इस प्रकार उक्ति की घटना इस एकान्त पक्ष में संभवित नहीं हो सकती है तो "तत्त्व अवाच्य ही है" इस प्रकार कैसे दूसरों को समझाया जा सकता है। "तत्त्व सर्वथा अवाच्य ही है" ऐसा मानने पर वह "अवाच्य है,,

१--जिस प्रकार अंधा सर्प बिल में से निकल कर किसी दूसरे बिल मे प्रवेश करने के लिये चक्कर लगाता है और घूमघाम कर फिर उसी बिल में प्रवेश कर जाता है-इसी प्रकार स्याद्वाद,अभीष्ट कथंचित् भावाभाव पक्ष की प्रक्रिया का परिहार कर सर्वथा भावाभावैकान्त पक्ष की प्रक्रिया का इस रूप से अवलम्बन करना यह स्याद्वाद की प्रक्रिया का अवलबन करना ही है। -

ऐसा कहने से भी वह वाच्य कोटि में आ जाता है। क्योंकि "अवाच्य" इस पद के द्वारा वह "अवाच्य है" इस रूप से भी वाच्य हो जाता है। ऐसा अभिप्राय कारिकाकार का है।

बौद्ध—अवाच्यतैकान्त मानने पर यह कैसे कहा जा सकता है कि वह "अवाच्य" इस शब्द के द्वारा भी नहीं कहा जा [१] सकेगा। क्योकि जिस प्रकार स्व[२]लक्षण को सर्वथा अनिर्देश्य एवं प्रत्यक्ष-निर्विकल्पक दर्शन-को कल्पना से रहित माना गया है फिर भी दूसरों को यह बात हृदयगम कराने के लिये "स्वलक्षण अनिर्देश्य है एवं प्रत्यक्ष नामजात्या-

आ० दिक कल्पना से रहित है" इन शब्दों का प्रयोग करना ही पड़ता है। नहीं तो दूसरा इस बात को कैसे समझ सकता है।

मी० एतावता न तो स्वलक्षण निर्देश्य कोटि मे आ जाता है और न प्रत्यक्ष कल्पनाश्रित ही हो जाता है। इसी तरह समस्त तत्त्व अवाच्य हैं इस प्रकार कहने पर भी अवाच्यतत्त्व वाच्य नहीं हो जाते है। इस अवाच्यता को दूसरों के प्रति जाहिर

१२१ करने के लिये "यह अवाच्य है" इस तरह के शब्द का प्रयोग तो करना ही पडेगा। बिना इसके दूसरों को समझाने का चारा ही नहीं है।

जैन—"तदप्यसत् यदसत. समुदाहृतं" ऐसा कहना भी बौद्धों का ठीक नही है। क्योकि यहां जिन्हें दृष्टान्त कोटि में रक्खा गया है वे दोनो ही असत् हैं—प्रसिद्ध नही हैं। दृष्टान्त वही होता है जो वादी एवं प्रतिवादी के लिये मान्य हो। जिसमे साध्य की निर्विवाद प्रसिद्धि हो। स्वलक्षण एवं प्रत्यक्ष ये अनिर्देश्य एवं कल्पनापोढ हैं यह प्रसिद्ध नहीं है। हां इनमे अनिर्देश्यत्व एव कल्पनापोढत्व रूप साध्य सिद्ध होता तो इनकी सहायता से प्रकृत साध्य भी सिद्ध हो

---

१ नैष दोष स्वलक्षणमनिर्देश्यं प्रत्यक्ष कल्पनापोढमित्यादिवत्सर्वमवाच्यं तत्त्वमिति वचनेऽपि विरोधाभावात्। परप्रतिपादन स्यान्यथानुपपत्तेः।

२-निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषयभूत जो नीलादिक पदार्थ हैं वे बौद्ध सिद्धान्त में स्वलक्षणशब्द के वाच्य माने गये हैं। इसे ही वौद्धसिद्धान्त ने परमाथ सत् माना है "परमार्थो ऽकृत्रिममनारोपित रूप तेनास्तीति परमार्थसत्। य एवार्थः सन्निधानासन्निधानाभ्यां स्फुट-मस्फुटच्च प्रतिभास करोति परमार्थसत् स एव। य एव च प्रत्यक्षविषयो यतस्तस्मात्तदेव स्वलक्षण न्यायबि. टीका। पृ-२३। "यदर्थक्रियासमर्थं तदेव स्वलक्षणमिति, सामान्यलक्षण च ततो विपरीतं,, प्रमाणसग्रह पृ ६। " तदेव परमार्थसतस्वनक्षणजन्य,, न्याय दीपिका पृ २,। "प्रत्यक्षं कल्पनापोढ नामजात्याद्यसयुतम्,, प्रमाण सं-पृ ८

सकता। हमारा तो यही आक्षेप है कि यदि सर्वथा अवाच्यतैकान्त तत्त्व माना जाता है तो यह "अवाच्य" है इस प्रकार का शब्द प्रयोग हो ही नहीं सकता हैं। इसी तरह स्वलक्षणता को भी यदि सर्वथा अनिर्देश्य कबूल किया जाता है तो यही आक्षेप यहां पर भी लागू होता है अर्थात् "स्वलक्षण अनिर्देश्य है,, इस वचन का ऐसी स्थिति में प्रयोग ही नहीं वहां पर हो सकता है। नहीं तो वह निर्देश्यकोटि में आ जाता है।

बौद्ध—स्वलक्षण को सर्वथा अनिर्देश्य मानने पर जो आपने आक्षेप उपस्थित किया है वह सर्वथा सत्य है। हम भी "स्वलक्षण अनिर्देश्य" इस वचन प्रयोग से स्वलक्षण को निर्दिष्ट होना कबूल नहीं करते हैं। कारण कि जब वह अनिर्देश्य है तब "स्वलक्षण" इस वचन से उसका निर्देश न होकर केवल स्वलक्षण सामान्य का ही निर्देश होता है। शब्द का अर्थ हमारे सिद्धान्तानुसार अन्यापोह रूप माना गया है। यह अन्यापोह सामान्य रूप है। इसका ही शब्दों द्वारा प्रकाशन होता है। स्वलक्षण का नही। क्योकि उसमें तो शब्द का सम्दन्ध ही नहीं हो सकता है। कारण इसका यह है कि "स्वलक्षण" यह शब्द "स्वलक्षणरूप अर्थ के साथ सम्बंधित नहीं है। क्योंकि जो शब्द अर्थ के सद्भाव में देखे जाते हैं वे ही शब्द उस अर्थ के अभाव में भी देखने में आते हैं। अतः शब्द अपने अर्थ के अभिधायक नहीं होते हैं। सिर्फ ये अन्यापोहमात्र के ही वाचक माने गये है इसलिये "स्वलक्षण" यह पद स्वलक्षणरूप अर्थ का अभिधायक न होकर केवल तदन्यव्यावृत्तिरूप स्वलक्षणसामान्य का ही बोधक होता है।

जैन—ऐसा कहना उचित नही है। कारण कि इस कथन से तो यह भी साबित हो सकता है कि जिस प्रकार स्वलक्षण में शब्द का—स्वलक्षण इस शब्द का -सम्बन्ध नहीं है किन्तु इसके अपोह के साथ में उसका सम्बन्ध है उसी प्रकार अक्षज्ञान—निर्विकल्प प्रत्यक्ष मे भी इसका सम्बन्ध-विषयरूप सम्बन्ध -नहीं मानना चाहिये। जिस तरह आप यह कहते हो कि "न[1] ह्यर्थे शब्दाः सन्ति तदात्मानो वा येन तस्मिन् प्रतिभासे तेऽपि प्रतिभासेरन्निति" अर्थ मे शब्द नहीं हैं

१—"नहि अर्थे शब्दा सन्ति तदात्मानो वा अव्युत्पन्नस्यापि प्रतीतिप्रसंगात्,, तत्त्वसग्रह प-पृ-५३१' न्याय-ता० टी० पृ-१३३। न्यायकुमुदचन्द्रे पृ-४६ की टिप्पणी।

और न शब्द अर्थात्मक ही हैं कि जिससे उस अर्थ के प्रतिभासमान होने पर वे भी प्रतिभासित हों, उसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि "यो यत्राधेयतया नास्ति तदात्मा वा न भवति स तस्मिन् प्रतिभासमानेऽपि न प्रतिभासते" जो जहां आधेयरूप से नही है अथवा तदात्म-तत्स्वरूप नहीं है वह उसके प्रतिभासमान होने पर भी प्रतिभासित नहीं होता है। अतः इस अपेक्षा से स्वलक्षण अज्ञेय भी हो जाता है। क्योंकि स्वलक्षण अक्षज्ञान में न तो आधेय रूप से ही रहता है और न वह तदात्मा ही है-अक्ष ज्ञानस्वरूप ही हैं।

बौद्ध—आपने तो यह बात खूब कही -परन्तु यह जची नहीं। कारण कि आपको क्या यह नहीं मालूम है कि अक्षज्ञान की उत्पत्ति विपय से होती है । यह सिद्धान्त है कि जो ज्ञान का कारण होता है वही उसका विषय होता है "नाकारणं विषयः" अकारण विषय नहीं होता—अतः जब स्वलक्षण निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय होगा तो वह उसका कारण भी अवश्य होगा। ऐसी स्थिति में जब कि उसकी उद्भूति ही बिषय के बल से हुई है तब उसके प्रतिभासमान होने पर वह क्यों प्रतिभासित नहीं होगा अवश्य होगा। अतः इसे अज्ञेय कहना अपनी अज्ञानता प्रकट करना है।

जैन—अज्ञानता प्रकट करने की यहां पर कोई बात नहीं है। युक्ति बल से जो स्थिर होगी बात, वही मानी जावेगी और वही कही जावेगी। यदि हम थोडी देर के लिये आपकी इस बात को मान भी लें कि "नाकारण विषय" अकारण विषय नही होता है तो इस पर एक और यह आपत्ति आपके समक्ष उपस्थित होती है कि जिस प्रकार विषय के बल से अक्षज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी तरह कारण शक्ति-के इन्द्रियशक्ति-के बल से भी अक्षज्ञान की उत्पत्ति होती है तो जिस प्रकार उस अक्षज्ञान मे विषय का प्रतिभास होता है उसी तरह कारण शक्ति[1] का भी प्रतिभास होने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसी विषय को अकलंकस्वामी ने भी अष्टशती द्वारा इस "न केवल विषयबलाद् दृष्टेरुत्पत्तिः अपि तुचक्षुरादिशक्तेश्च" (अ० श०) प्रकार कहा है।

१ कारणस्य च परिच्छेद्यत्वे करणादिना व्यभिचारः। परीक्षा मुख ३ अ० सूत्र १०

बौद्ध—अक्षज्ञान यद्यपि इन्द्रियों से उत्पन्न होता है परन्तु फिर भी इतने मात्र से वह उनका ज्ञाता नहीं होता है। क्योंकि तदुत्पत्ति के साथ तदाकारता भी चाहिये सो यह तदाकारता इन्द्रियजन्य अक्षज्ञान में नहीं है। इसलिये अक्षज्ञान में इन्द्रियाकारानुकरणता होने से उनका प्रतिभास नहीं होता है। अपने कारणरूप पदार्थ के आकार का ही उसमें अनुकरण करना होता है। अत उसका ही उसमें प्रतिभास होता है। फलितार्थ इसका यह हुआ कि अक्षज्ञान में तदुत्पत्ति और तदाकारता होने से विषयकारानुकरणता है इन्द्रियाकारानुकरणता नहीं, अत करण का उसमें प्रतिभास नहीं होता है।

जैन—अक्षज्ञान में इन्द्रियो के प्रतिभास न होने के लिये इस प्रकार का कहना कोई कीमत नहीं रखता है क्योकि "तदर्थवत्करणमनुकर्तुमर्हति न चार्थं विशेषाभावात्। दर्शनस्य कारणान्तरसद्भावेऽपि विषयाकारानुकारित्वमेव सुतस्येव पित्राकारानुकरणमित्यपि वार्त्तं स्वोपादानमात्रानुकरणप्रसगात्" (अ०श) जब यह नियम है कि "नाकारणं विषयः" तब यह स्वाभाविक बात है कि अक्षज्ञान में विषय की तरह अपनी इन्द्रियों का प्रतिभास क्यों नही होता है। यह कोई उत्तर नहीं है कि उसमें विषयाकारानुकरणता है अतः विषय का ही प्रतिभास होता है इन्द्रियाकारानुकरणता नहीं होने से इन्द्रियों का प्रतिभास नहीं होता है। हम तो यही कहते हैं कि पदार्थाकार के अनुकरण करने की तरह इन्द्रियाकार का भी उसे अनुकरण करना चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करता तो जिस प्रकार उसमें इन्द्रियो का प्रतिभास नही होता है उसी तरह अर्थ का भी प्रतिभास नहीं होना चाहिये। यदि इस पर यों कहा जाय कि दर्शन-ज्ञान-में अनेक कारणान्तरों का सद्भाव है तो भी जिस प्रकार सुत अपने पिता के आकार का अनुकरण करता हैं उसी प्रकार ज्ञान-दर्शन भी विषय के आकार का ही अनुकरण करता है अन्य कारणान्तरों के आकार का नहीं सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है, कारण कि इस प्रकार के कथन से ठीक समाधान नहीं होता है। इससे तो यही बात निकलती है कि जिस प्रकार पुत्र अपने पिता के आकार को उससे उद्भूत होने की वजह से धारण करता है उसी प्रकार दर्शन को भी स्वोपादानमात्र के अनुकरण करने का प्रसग प्राप्त होता है। दर्शन का उपादानकारण समनन्तर प्रत्यय है।

बौद्धसिद्धान्तानुसार पूर्वक्षण उत्तरक्षण का जनक माना गया है। इस पर यह आक्षेप किया गया है कि जिस प्रकार दर्शन विषय-नीलादिक्षण-के आकार का अनुकरण करता है क्योंकि वह उसका कारण है उसी प्रकार पूर्वज्ञानक्षण भी उत्तरज्ञानक्षण का समनन्तर कारण होता है। उत्तरज्ञानक्षण को उत्पन्न करके ही पूर्वज्ञानक्षण विनष्ट हो जाता है। इस अपेक्षा पूर्वज्ञानक्षण इस दर्शन का समनन्तर कारण है। अत. इसके भी आकार का अनुकरण दर्शन मे होना चाहिये। परन्तु बौद्धो ने ऐसा नहीं माना है। क्योंकि पूर्वज्ञानक्षण अपने उत्तरक्षण रूप ज्ञान को उत्पन्न करके ही जब नष्ट हो जाता है तो फिर यह उसके आकार का अनुकरण कैसे कर सकता है। नहीं कर सकता है। इसीलिये उनके प्रति यह आक्षेप है कि अर्थ के आकार की तरह स्वोपादानमात्र के आकार का अनुकरण दर्शन को करना चाहिये। यदि दोनों के आकार का अनुकरण दर्शन करता है ऐसा मान भी लिया जाय तो फिर रूपादिक १ की तरह उपादान-समनन्तर प्रत्यय-को भी उसे विषय करना चाहिये। यदि वह उसे विषय नहीं करता है ऐसा माना जाता है तो फिर रूपादिक को भी उसे विषय नहीं करना चाहिये। यदि उपादान को विषय नहीं करने में यह समाधान उपस्थित किया जावे "कि यह तो ठीक है कि तदुत्पत्ति और तदाकारता की वजह से जब दर्शन पदार्थ को विषय करता है तो समनन्तर प्रत्यय को भी उसे विषय करना चाहिये, परन्तु नही करता इसका कारण यह है कि यह निर्विकल्पक दर्शन जहां पर विकल्परूप अध्यवसाय को उत्पन्न करता है वही उसका विषय होता हैं। रूपादिक में निर्विकल्पक दर्शन विकल्परूप अध्यवसाय का जनक होता है अतः वही उसका विषय है-समनन्तर प्रत्यय नही क्योकि वहां विकल्परूप अध्यवसाय का वह जनक नही है।" सो ऐसा समाधान ठीक नही है क्योकि दर्शन जब स्वयं निर्विकल्पक रूप है तब इससे विकल्पात्मक प्रत्यय का उत्थान मानना कथमपि युक्तियुक्त नहीं हो सकता। इसलिये ऐसा कहना कि रूपादिक मे वह विकल्प का जनक है उपादान मे नहीं सो ठीक नहीं है। दूसरे बात एक यह भी है कि रूपादिक तो स्वलक्षण रूप माने गये है-इनमें अध्यवसाय भी आपके सिद्धान्तानुसार उत्थित नहीं हो सकता है क्यों

१—रूपादिवदुपादानस्यापि विषयतापत्ति अतिशयाभावात् वर्णादिर्वा तद्वदविषयत्वप्रसगात्। अष्टशती।

कि स्वलक्षण तो निर्विकल्पक दर्शन का ही विषयभूत होता है। विकल्प का विषयभूत सामान्य होता है। यदि रूपादिको में अध्यवसाय-विकल्प-को उत्पन्न करने के लिये निर्विकल्पक को अध्यवसायात्मक माना जाय तो फिर स्वलक्षण को विषय करने का उसमे विरोध आता है। स्वलक्षण को विषय करने का प्रत्यक्षज्ञान में विरोध न आवे इस ख्याल से यदि बौद्ध ऐसा कहे कि जिस प्रकार प्रदीपादिक भास्वरपदार्थ से कज्जलादि रूप अभास्वर कार्य उत्पन्न होता है उसी प्रकार स्वयं अविकल्पात्मक प्रत्यक्ष से नाम जात्यादि संश्रयात्मक विकल्प- अध्यवसाय - की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार जब विजातीय कारण से भी कार्य की उत्पत्ति होती हुई देखी जाती है तो फिर विजातीय-नाम जात्यादिक कल्पना से रहित प्रत्यक्ष से भी कल्पनात्मक विकल्प की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है" सो ऐसे कहने की अपेक्षा यही क्यों न मान लिया जाय कि उस स्वलक्षणरूप निर्विकल्पक पदार्थ से कल्पनात्मक विकल्प की उत्पत्ति होती है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष की नहीं। स्वलक्षण रूप पदार्थ स्वयं निर्विकल्प है अतः यह विजातीय है और इससे कल्पनात्मक विकल्प की उत्पत्ति होती है। ऐसा मानने से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को जो अध्यवसाय रूप विकल्प को उत्पन्न करने के लिये कल्पित करने मे परिश्रम पडता है उसका परिहार हो जाता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि जब स्वलक्षण-पदार्थ-स्वयं १ जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया एव परिभाषा-नाम इन पांच कल्पनाओं से रहित हैं तो फिर उससे जात्यादिकल्पनात्मक विकल्परूप अध्यवसाय कैसे उत्पन्न हो सकता है सो इस तर्कणा का तो यही सीधा साधा उत्तर है कि जब आप निर्विकल्प प्रत्यक्ष को स्वय नाम जात्यादि कल्पना से रिक्त मान रहे हो तब उससे यह विकल्पात्मक अध्यवसाय कैसे उत्पन्न होता है इसका जो उत्तर होगा वही हमारा होगा। मतलब कहने का यह है कि जिस प्रकार आपका हमसे यह प्रश्न है उसी प्रकार हमारा भी आपसे यही प्रश्न है। यदि इसके उत्तर में आप यों कहें

१—अथ कल्पना च कीदृशी ? चेदाह नामजात्यादि योजना। यदृच्छाशब्देषु नाम्नाविशिष्टोऽर्थं उच्यते डित्थ इति। जातिशब्देन जात्या गौरयम् इति। गुणशब्देषु गुणेन शुक्ल इति। क्रियाशब्देषु क्रियया पाचक इति। द्रव्यशब्देषु द्रव्येण दण्डी विषाणी इति। प्र० स० टी० पृ० १२ न्यायकुमुदचन्द्रे टिप्पणी पृ० ४६।

कि विकल्प मे जो नाम जात्यादि रूप कल्पनात्मकता है वह उसमें निर्विकल्पक से उत्पन्न होने से नही आई है किन्तु
वह नाम जात्यादि रूप कल्पना को विषय करने से आई है । अत प्रत्यक्ष से उद्भूत हुए इस विकल्प में नामजात्यादि
रूप कल्पना के होने मे कोई विरोध की बात नहीं है सो ऐसा कहना उचित नहीं है क्योकि प्रत्यक्ष की तरह वह विक-
ल्प नामजात्यादिक को विषय करने वाला नहीं हो सकता है कारण कि " यथैव हि प्रत्यक्षस्याभिलापससर्गयोग्यता नास्ति
तथा तत्समनन्तरभाविनोऽपि विकल्पस्य" (अ०श) जिस तरह प्रत्यक्ष मे अभिलाप के संसर्ग की योग्यता नही है उसी तरह
आ० उस प्रत्यक्ष के अनन्तर -अव्यवहितकाल में-होने वाले विकल्प में भी यह योग्यता नही आ सकती है । यह विकल्प अपने
मी० उपादान का सजातीय है ।

१२७ इसलिये यदि इस पर पुनः—यह प्रश्न किया जाय कि जब यह बात है तो इस समय जो विकल्प नामजात्या-
दिक का निश्चय करता है सो कैसे करता है सो इस पर भी यही कहना है कि तुम्हारे सिद्धान्तानुसार तो विकल्प नाम
जात्यादि का व्यवसाय करने वाला हो ही नहीं सकता है, क्योकि " किंचित् केनचिद्विशिष्टं गृह्यमाणं क्वचिद्विशेषण-
विशेष्यतत्सम्बन्धव्यवस्थाग्रहणमपेक्षते दण्डिवत् " जब कोई वस्तु किसी जात्यादि रूप से विशिष्ट ग्रहण करने में आती
है तो वह " दण्डी " इस प्रत्यय की तरह कही पर विशेष्य की और विशेषणविशेष्य रूप संम्बन्ध की व्यवस्था के ग्रहण
की अपेक्षा रखती [1] है " वह इतने व्यापारो को करने के लिये समर्थ नही है । कारण कि इसकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष से जो
हुई है । इसीलिये जिस तरह प्रत्यक्ष स्वयं अविचारक है क्योकि वह क्षणिक है इसी तरह विकल्प भी क्षणिक होने से
अविचारक है । मतलब इसका यह है कि " विकल्प नामजात्यादिक का जो व्यवसायी होता है सो कैसे होता है "
इस बौद्ध की आशका का समाधान करते हुए जैन दार्शनिक कह रहे हैं कि बौद्ध की मान्यतानुसार किसी भी तरह वह
जात्यादिक का व्यवसायी नही हो सकता है । क्योकि जात्यादिविशिष्ट वस्तु को ग्रहण करने मे विकल्प जब व्यापृत होगा

१ विशेषण विशेष्य च, सम्बन्ध लौकिकी स्थिति ।
गृहीत्वा सकलय्येतत्तथा प्रत्येति–नान्यथा ॥

तब वह पहिले विशेषण एवं विशेष्य तथा इनके सम्बन्ध ग्रहण करने की अपेक्षा अवश्य रक्खेगा–तब ही जाकर वह
जात्यादिक विशिष्ट वस्तु के ग्रहण करने में शक्तिशाली हो सकेगा अन्यथा नहीं। " दण्डी " इस प्रकार का विकल्प रूप
प्रत्यय पहिले दण्ड एवं पुरुष को तथा उनके सम्बन्ध को ग्रहण कर लेता है तब ही जाकर दण्डविशिष्ट पुरुष को देखकर
" यह दंडी है " इस प्रकार का वह प्रत्यय उत्थ होता है। परन्तु जब आप क्षणिक निर्विकल्प प्रत्यक्ष से विकल्प की
ा० उत्पत्ति मान रहे हैं तो जिस प्रकार वह क्षणिक है उसी प्रकार यह भी क्षणिक है। उसे इतने विचार करने का अवसर
ी० ही कहां है जो वह यह विशेष्य है यह इसका विशेषण है इन दोनो में परस्पर विशेषणविशेष्य संबन्ध है " इतना विचार
१२८ कर सके और तद्विशिष्ट वस्तु के ग्रहण करने मे व्यापृत हो सके। अतः क्षणिक निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से विकल्प को उत्पन्न
मानने पर वह कथमपि नामजात्यादिक विशिष्ट वस्तु का व्यवसायात्मक नही हो सकता है यह बात अंगीकार करना
चाहिये। इस प्रकार यहां तक यह स्पष्ट किया है कि इस अवाच्यैकान्त में जिस प्रकार " स्वलक्षणं अनिर्देश्यं " यह नहीं
कहा जा सकता उसी प्रकार " प्रत्यक्ष कल्पनापोढ " यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि प्रत्यक्ष में अभिलाप के
संसर्ग का अभाव होने से विकल्प की उत्पत्ति हो ही नहीं सकती है। यदि प्रत्यक्ष मे अभिलाप का संसर्ग सद्भाव–अंगी-
कार किया जाय तो उसमें सविकल्पता की सिद्धि मानना पडेगी।

इसी प्रकार यदि विकल्प की उत्पत्ति केवल निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से न मानकर शब्दार्थ विकल्पवासना से मानने में आवे तो यह पक्ष भी निर्दोष नहीं हैं। क्योंकि इस मान्यता में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में रूपादिक के विषय करने का नियम सिद्ध नहीं होता है। तात्पर्य इसका यह है कि बौद्धों का ऐसा कहना है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष जिसमें विकल्प को पैदा करता है वही उसका–निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-का विषय होता है–सो इस प्रकार की मान्यता में यह नियम ध्वस्त हो जाता है। क्योंकि यहां तो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से विकल्प रूप अध्यवसाय की उत्पत्ति नही मानने में आई है वह तो शब्दार्थ विकल्पवासना से उद्भूत होता है ऐसा माना जा रहा है। यदि इस दोष की निवृत्ति के लिये ऐसा कहा जाय कि जिस शब्दार्थ विकल्पवासना से विकल्परूप अध्यवसाय की उद्भूति हम कहरहे है उस शब्दार्थ विकल्पवासना की सह-

कारिणी मूल में वह अक्षबुद्धि–निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है। अतः अक्षबुद्धि जिस वासना विशेष की सहकारिणी है उस वासना विशेष से उत्पन्न रूपादि विकल्प से अक्षबुद्धि में रूपादिक के विपय करने का नियमत्व सिद्ध हो जायगा सो इस प्रकार के कथन से यह भी मान लेना पडेगा कि उत्तर अक्षज्ञान–निर्विकल्पक प्रत्यक्ष–अपनी उपादान रूप पूर्व अक्ष बुद्धि को विषय करता है। परन्तु बौद्धो का ऐसा सिद्धान्त नही है। क्योकि इस मान्यता में क्षणिकवाद का प्रतिषेध हो जाता है। उनकी तो यह जबर्दस्त मान्यता है कि उपादान अक्षबुद्धि अपने कार्यरूप उत्तर अक्षबुद्धि को उत्पन्न कर विनष्ट हो जाती है। इसी के ऊपर यह आक्षेप है कि जब अक्षबुद्धिसहकृत वासनाविशेष से उत्पन्न रूपादिक विकल्प से अक्षबुद्धि में रूपादिक के विषय करने का नियम माना जायगा तो इसी से यह भी मान लेना चाहिये कि जिस अक्षबुद्धि से वह वासनाविशेष सहकृत हुआ है वह अक्षबुद्धि भी उस उत्तर अक्षबुद्धि का विषय होनी चाहिये। यदि ऐसी मान्यता कबूल नही हो सकती है तो फिर रूपादिक को विषय करने का भी नियम उत्तर अक्षबुद्धि मे कैसे बन सकता है। नहीं बन सकता है। यदि रूपादिकों को विपय करने के नियम को सिद्ध करने के लिये ऐसा कहा जाय कि अक्षबुद्धि रूपादिकों को ही विषय करने के नियमवाली है अपने उपादान को नही कारण कि उपादान में विकल्प का उत्थान नहीं होता-विकल्प का उत्थान तो रूपादिको में ही होता है-अर्थात् विकल्प रूपादिकों का ही उल्लेखी होता है निर्विकल्पक ज्ञान के उपादान का नहीं सो ऐसा कहना इसलिये उचित नहीं है कि इस प्रकार के कथन से प्रत्यक्ष ज्ञान में–निर्विकल्पक प्रत्यक्षमें-अभिलाप -शब्द-का ससर्ग भी अनुमित मानना पडेगा। बौद्धों ने निर्विकल्पक दर्शन में अभिलाप का संसर्ग इप्ट नही किया है-उसका ससर्ग तो उन्होने केवल सविकल्पप्रत्यक्ष में ही माना है। इनकी मान्यतानुसार प्रत्यक्ष दो प्रकार का है एक सविकल्पक-प्रत्यक्ष और दूसरा निर्विकल्पकप्रत्यक्ष। सविकल्पकप्रत्यक्ष नामजात्यादिकरूप अभिलाप संसर्ग से युक्त माना गया है निर्विकल्पक प्रत्यक्ष नही। इस पर जैन दार्शनिको का यह आक्षेप है कि यदि रूपादिको का उल्लेख करनेवाले विकल्प के बल से यदि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में रूपादिकों को विषय करने का नियम किया जायगा-तो इसी प्रकार से विकल्प में नामजात्यादिरूप अभिलाप के ससर्ग से रूपादिकों को विषय करने के नियम की तरह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी अभिलाप का संसर्ग अनुमित करना पडेगा। नही तो विकल्प में अभिलाप ससर्ग नहीं मानना चाहिये। जब विकल्प मे अभिलाप

संसर्ग है तो विकल्प के उत्पादक निर्विकल्पकप्रत्यक्ष में भी अभिलाप संसर्ग है यह अनुमित होता है। निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में अनुमित अभिलाप के संसर्ग से उसके विषयभूत रूपादिकों में भी अभिलाप संसर्ग अनुमित करना पडेगा इस प्रकार शब्दाद्वैतवादी के मत की सिद्धि का प्रसग प्राप्त होजायगा। परन्तु इस प्रकार की मान्यता बौद्धसिद्धान्त के वहिर्भूत है। क्योकि बौद्धो ने निर्विकल्पक दर्शन में अभिलाप का संसर्ग मान्य नही किया है। अत जब दर्शन अभिलाप के ससर्ग से रिक्त है तो इस प्रकार की इस बौद्धमान्यता में बौद्ध किसी नीलादिक पदार्थ को देखकर पूर्व में देखे हुये उसके सदृश किसी दूसरे पदार्थ का स्मरण नहीं कर सकता है। क्योंकि उसके नाम विशेष का उसे स्मरण नहीं हो सकता। नाम विशेष की स्मृति में पदार्थ अभिलाप संसर्ग विशिष्ट सिद्ध हो जाता है। उस पदार्थ की जब स्मृति उसे नहीं होगी तो उसका नाम क्या है यह भी वह नही जान सकेगा। अजान अवस्था में अभिधान के साथ पदार्थ की योजना नहीं हो सकेगी। अयोजना में किसी का इसे अध्यवसाय नहीं हो सकेगा इस प्रकार किसी भी पदार्थ में न तो किसी भी जात का विकल्प जाग्रत होगा और न किसी भी तरह के शब्द का सबन्ध भी सिद्ध होगा। अतः विकल्प और अभिधान से रिक्त जगत् मानने का प्रसग प्राप्त होगा। इस विषय में और भी टीकाकार ने विशेष लिखा है-परन्तु विस्तार के भय से अधिक नहीं लिखा है। इतना ही इस बिषय में काफी है। इसलिये जिस प्रकार कोई व्यक्ति भोजन करते समय दूसरों से यह कहे कि मै भोजन करते समय बोलता नहीं हूं तो यह कहना जैसे उसका स्ववचनबाधित ठहरता है उसी प्रकार से वस्तु सर्वथा अवाच्य है—स्वलक्षण अनिर्देश्य है प्रत्यक्ष कल्पना से सर्वथा रहित है यह कहना भी बौद्धों का स्ववचन बाधित होता है। प्रत्यक्ष को कल्पना से रहित मानने पर उससे नामजात्यादिक रूप विकल्प का उत्थान नहीं हो सकता है। इसके उत्थान के अभाव में बौद्धों की व्यवस्था बिल्कुल गड़बड हो जाती है इत्यादि। इसलिये अवाच्यतैकान्त में "अवाच्य है" इस प्रकार के पद का प्रयोग हो ही नहीं सकता। क्योंकि इसमें स्ववचन से विरोध आता है।

कथंचित्ते सदेवेष्टं, कथंचिदसदेव तत्।
तथोभयमवाच्यं च, नययोगान्न सर्वथा ॥ १४ ॥

अन्वय— ते इष्टं कथचित् सदेव, कथंचित् तत् असदेव, तथा उभयं (एव) अवाच्य (एव) च । नय-योगात् न सर्वथा ।

अर्थ—हे नाथ ! आपका इष्ट तत्त्व कथचित् सत्स्वरूप ही है, कथचित् वह असत्स्वरूप ही है । तथा कथंचित् उभयस्वरूप ही है और कथंचित् अवाच्य ही है । सो यह सब नयविवक्षा से है सर्वथा नहीं ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा श्री स्वामी समन्तभद्राचार्य पूर्वोक्त भाव, अभाव आदि चार प्रकार के एकान्त-वादो का स्याद्वादशैली से समन्वय करने के अभिप्राय से कह रहे हैं कि ये भाव एवं अभाव आदि पक्ष कथचित्वाद से ही सुसंगत हो सकते हैं । एकान्त दृष्टि से नहीं । एकान्तदृष्टि से अगीकृत इन वादो में तो केवल दूषणास्पदता ही है स्याद्वाद की शैली से ही सुस्थापित करने पर इनमें निर्दोषता आती है । यही विषय इस कारिका द्वारा महान् जैन तार्किक श्री समन्तभद्राचार्य स्पष्ट कर रहे हैं । यद्यपि इन चार एकान्तवादों का निराकरण ही स्याद्वाद सिद्धान्त का सस्थापन है । परन्तु इस कारिका द्वारा जो उसका स्वतत्र रूप से आचार्यवर्य द्वारा प्रतिपादन या समर्थन किया जा रहा है । उसका कारण "परात्मपक्षनिराकरणसमर्थनायत्तं जयं" परपक्ष के निराकरणपूर्वक अपने पक्ष के समर्थनाधीन जय की प्राप्ति माना जाना है । इसलिये स्वतत्र रूप से स्याद्वादसिद्धान्त का स्वरूप इस कारिका द्वारा प्रकट किया जा रहा है ।

कथंचित् और स्याद्वाद ये दोनों पर्यायवाची शब्द हैं । इसके द्वारा अनेकान्त का व्यवस्थापन होता है । अनेकान्त व्यवस्थाप्य और स्याद्वाद उसका व्यवस्थापक माना गया है । दूसरे शब्दों में इसे यो भी कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद वस्तु-वाच्य-प्रमेयस्वरूप है और स्याद्वाद निर्णायक वाचक-तत्त्वस्वरूप है । वास्तव में अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्व को समझने-समझाने प्रतिपादन करने-कराने के लिये ही स्याद्वाद का आविष्कार किया गया है ।

जो स्याद्वादका अर्थ है वही कथंचित्का अर्थ है-स्यात् यह अव्यय निपात शब्द है । क्रिया अथवा अन्य शब्द नहीं । इस स्यात्का अर्थ-किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि, कोई एक धर्म की विवक्षा आदि है । इन अर्थों में ही इसका प्रयोग हुआ है ।

सर्वथा एकान्तवाद का त्याग कर किसी अपेक्षा से वस्तुस्वरूप का विधान करनेवाला यह स्याद्वाद-कथंचिद्वाद-है। इस लिये इसे अपेक्षावाद भी कहा गया है। जो अपनी गलत धारणा से अथवा इसके यथार्थ स्वरूप पर ध्यान न देने से एवं स्वमत के व्यामोह से इसके वास्तविक स्वरूप को न समझकर इसे संशयवाद, भ्रमवाद, अनिश्चयवाद एव संभववाद आदि नामो से संबोधित करते हैं वे (ते के न जानीमहे) कैसे दार्शनिक है यह समझ नहीं पड़ता है। स्याद्वाद-कथंचिद्वाद अविवक्षित धर्मों की गौणता एवं विवक्षित धर्म की प्रधानता को सूचित करता हुआ विवक्षित हो रहे धर्म का विधान एवं निश्चय करानेवाला है। स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली एक भाषा पद्धति है। "स्यात्" शब्द से यह अच्छी तरह से ज्ञात हो जाता है कि वस्तु केवल इस विवक्षित धर्मवाली ही नहीं है किंतु इससे अतिरिक्त और भी धर्म इस वस्तु में विद्यमान हैं। परन्तु वर्तमान में इस धर्म की विवक्षा वश मुख्यता हो रही है। एतावता अन्य अशेष विद्यमान धर्मो का इसमें अविवक्षित होने से अभाव नहीं हैं। विवक्षित धर्म यदि यह समझता हो कि मैं ही इस समय इस वस्तु में मुख्य रूप से विवक्षित हुआ हूं अत मेरा ही सर्वदा इस वस्तु पर एकच्छत्र राज्य रहेगा सो स्यात् उसे इस बात की चेतावनी देता रहता है कि भाई ! इस तरह के अभिमान में गर्क न होना-क्योंकि यहां तो अन्य अनंत धर्मों का साम्राज्य है। मै इसी बात को द्योतन करने के लिये या कहने के लिये यहां बैठा हुआ हूं। मेरा संबन्ध विवक्षित धर्म से नहीं है। क्योकि उसका उल्लेख तो उस वस्तु में उस प्रयुक्त शब्द के द्वारा हो ही रहा है। मेरा सम्बन्ध तो इस वस्तु में अविवक्षित अन्य अशेष धर्मों से है। इसलिये हे विवक्षित धर्म ! तुम अपना ही यहां एकच्छत्र आधिपत्य मत समझो। अभी थोडी ही देर में तुम किसी अन्य की विवक्षा होने पर अविवक्षा की कोटि में पहुँचा दिये जाओगे। तब तुम्हारे इस आधिपत्य का महाजना बिगड़ते देर न लगेगी।

शंका—यह तो हम आपके इस कथन से अच्छी तरह समझ चुके कि कथंचित्-स्यात्-शब्द विवक्षित धर्म की सर्वहरा प्रवृत्ति को शमित करता है और वस्तु पर सर्वदा के उसके एकाधिपत्य को नियमित करता है परन्तु आपने जो अभी कहा है कि वह स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक या वाचक है सो यह बात समझ में नहीं आई। द्योतक और

वाचक का अर्थ क्या है ?

उत्तर—जिस प्रकार अंधकार मे स्थित घटादिक पदार्थों का दीपक द्योतक प्रकाशक होता है उसी प्रकार यह शब्द-स्यात्-कथंचित्-शब्द-सदादिक पदो द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त का प्रकाशक है । यह इस बात को प्रकाशित करता है कि वस्तु में यह अनेकान्तात्मकता निसर्गत है-स्वाभाविक-है । अप्राकृतिक नहीं । घटादिक रूप वस्तुका परिवार बहुत बडा है। इतना ही नहीं है कि जितना वह विवक्षित शब्द से कहा जा रहा है । यदि विवक्षित धर्ममात्र ही उसका परिवार मान लिया जायगा । तो ऐसी हालत मे उस घटादिक वस्तु को अपने अस्तित्व-स्वरूपसत्ता-से ही हाथ धोना पड़ जायगा । वाचक पक्ष में स्यात् यह शब्द अनेकान्त का कथन करता है । विवक्षित धर्म का कथन करता हुआ अविवक्षित धर्मों की रक्षा करता है । मतलब कहने का यह है कि द्योतक पक्ष में स्यात् यह शब्द सदादिक पदों द्वारा कथित अर्थ का द्योतन करता है । तथा वाचक पक्ष में स्यात् शब्द अनेकांत का प्रतिपादन करता है ।

शका—जब यह बात है कि स्यात् शब्दार्थक कथचित् शब्द सदादि पदो द्वारा कथित अर्थ का द्योतन ही कर देता है तो फिर वाक्य मे इसके प्रयोग की आवश्यकता ही क्या रही । इससे तो उल्टा वाक्य में पुनरूक्ति दोष का सद्भाव ही प्रकट होता है । इसी तरह जब यह अनेकान्त का प्रतिपादन करता है तो फिर वाक्य में सदादिपदो के कथन करने की जरूरत ही क्या है ! क्योकि जब इससे अनेकात का कथन हो जाता है तो यह बात सुतरां ही सिद्ध हो जाती है कि सदादिक पदो द्वारा वाच्यार्थ का भी उससे प्रतिपादन हो जाता है ।

उत्तर—पूर्वोक्त शका ठीक नहीं है । कारण कि यह बात यद्यपि ठीक है कि सदादिक पदो द्वारा कथित अर्थ ही स्यात् पद द्वारा द्योतित किया जाता है परन्तु इस ख्याल से यदि वह वाक्य मे प्रयुक्त न किया जाय तो मिथ्या एकान्त की शंका का व्यवच्छेद नहीं हो सकता उसके व्यवच्छेद हुए बिना अनेकान्त की प्रतिपत्ति होना अशक्य ही हो जाय । तात्पर्य इसका यह है कि यदि हम यही मानलें कि अनेकान्त रूप अर्थ जो सदादिक पदों द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है (वही अर्थ) स्यात्पद द्वारा प्रकाशित होता है अतः स्यात्पद के प्रयोग की वाक्य में कोई जरूरत नहीं है तो ऐसी

हालत में "सन्नेव घट" यह प्रयोग जब होगा तब वहां पर जो एवकार का प्रयोग करने में आया है वह अनेकान्तान भिज्ञों की दृष्टि में एक अस्तित्व धर्म का ही घट में वोधक होगा। अतः इस प्रयोग से घट केवल एक अस्तित्व धर्म विशिष्ट ही है ऐसा वाक्यार्थ होने से इससे जो वोध होगा वह सर्वथा एकान्त का ही ग्राहक होगा। इस परिस्थिति में वस्तु अनेक धर्मात्मक है ऐसा निश्चय तो हो नहीं सकेगा। इस निश्चय के अभाव में अनेकान्त की प्रतिपत्ति का होना बहुत ही कठिन हो जायगा अतः "स्यात्" पद का जब इसके साथ प्रयोग करने मे आता है तो इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वडा विवक्षा के वश से ही अस्तित्व धर्म विशिष्ट है—वह त्रिकाल में भी इसी केवल एक अस्तित्व से विशिष्ट बना रहेगा—यह नही हो सकता। अतः अविवक्षित इतर धर्मों की भी सत्ता घट में है। इसी बात की प्रतिपत्ति इस अनेकान्त द्योतक स्यात् शब्द से होती है। जिस अनेकान्त अर्थ का कथन सदादिक शब्दों द्वारा करने में आया है वही इस स्यात् शब्द से द्योतित हो जाता है। इस अपेक्षा यह सदादिक पदो के लिये एक निष्पक्ष संवादक जेसा माना गया है!

शका—फिर आपने यही वात कही कि सदादिक पदों द्वारा जिस अनेकान्त का कथन किया गया है वही अनेकान्त अर्थ स्यात् पद द्वारा द्योतित किया जाता है। हमारा तो इसके ऊपर यही आक्षेप है कि यदि सदादिक पदों द्वारा ही अनेकान्त रूप अर्थ कथित हो जाता है तो वाक्य मे स्यात् पद के प्रयोग की आवश्यकता ही क्या रहती है? इसपर आपका यह समाधान कि यदि स्यात् पद का प्रयोग सदादिक पदो के साथ न किया जाय तो सर्वथा एकांत की शंका का व्यवच्छेद नही हो सकने से अनेकात की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती है। सो यह वात समझ मे नहीं आती है क्योकि जब आप स्वयं इस वात को कवूल (स्वीकार) करते हो कि सदादिक पद अनेकांत अर्थ के वाचक हैं तो फिर कैसे केवल इनके प्रयोग से ही सर्वथा एकान्त की शका का व्यवच्छेद नही हो सकता है, अवश्य हो सकता है। जब हो सकता है तो फिर इस स्यात् के प्रयोग की वहां क्या अनिवार्य आवश्यकता है?

उत्तर—यह शका इतनी वड़ी नहीं है जितनी बनाकर आप खड़ी कर रहे हो। हां इतनी शका अवश्य हो

सकती है कि जब सदादिक पदो द्वारा अनेकान्त का कथन हो जाता है तो उस को प्रकाशित करने के लिये फिर स्यात्पद की क्या जरूरत रहती है ? सो इसका समाधान हमने आपको दे ही दिया है कि यदि वाक्य में स्यात्पद का प्रयोग न किया जाय तो सर्वथा एकान्त की शका का व्यवच्छेद नही हो सकने से अनेकान्त की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। फिर इसपर जो आपका यह कहना है कि सदादिक पद तो अनेकान्त अर्थ के कथन करने वाले हैं हो फिर केवल इनके प्रयोग से ही सर्वथा एकान्त की शंका का व्यवच्छेद क्यो नहीं हो जायगा-अवश्य हो जायगा-सो ऐसा कहना एकान्ततः उचित नहीं है—क्योकि केवल इनके प्रयोग से जो स्याद्वाद शैली से अनभिज्ञ हैं उनकी सर्वथा एकान्त की शका का व्यवच्चेद नहीं हो सकेगा—जो स्याद्वाद शैली से विज्ञ है उनके लिये इस प्रकार की शका का व्यवच्छेद भले ही हो जाओ।

शका—तो फिर आपके इस कथन से यह बात भी क्यो न मान ली जाय कि जो स्याद्वादशैली से परिचित है उनके लिये वाक्य में स्यात्पद के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है।

उत्तर—हां ठीक है। जो स्याद्वाद शैली से अभिज्ञ है उनकी अपेक्षा वाक्य में स्यात्पद के प्रयोग की कोई खास आवश्यकता नहीं है। जो इस शैली से अनभिज्ञ हैं उनकी अपेक्षा इस पद के प्रयोग की खास जरूरत है। अरे ! अनभिज्ञो को ही तो समझाया जाता है अभिज्ञो को नही।

शंका—जब यह बात है तो व्यवहार की—बोलचाल की भापा मे " रूपवान् घटः " इत्यादि पदो का जब प्रयोग होता है तो उसमें भी " स्यात् " इस शब्द का प्रयोग करना चाहिये या किया हुआ वहा समझना चाहिये।

उत्तर—हा अवश्य करना चाहिये। तथा जहां पर इस प्रकार का प्रयोग हुआ हो या हो रहा हो तो वहां पर भी यही समझना चाहिये कि इस प्रयोग के गर्भ मे अवधारणार्थक १ एवकार की तरह " स्यात् " पद अन्तर्हित है।

---

१ वाक्येऽवधारण तावदनिष्टार्थनिवृत्तये। कर्त्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित्।

२ सोऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते।
यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः॥
—तत्त्वार्थ श्लोकवार्त्तिक

चाहे वह "स्यात्" इस रूप से उल्लिखित हुआ हो। यहां तक स्यात् शब्द को द्योतक मानने के पक्ष में शका समाधान किया। अब स्यात् शब्द को अनेकान्त का वाचक मानने में शका समाधान किया जाता है।

शका—स्यात् शब्द से ही जब अनेकान्त का बोध हो जाता है तो अस्ति—सदादिक शब्दो का प्रयोग करना व्यर्थ है—निरर्थक है। क्योंकि सदादि शब्दो द्वारा प्रतिपाद्य जो सत्त्वरूपादिक अर्थ है वह स्यात् शब्द से वाच्य हो ही जाता है।

उत्तर—शंका ठीक है। परन्तु विचार करने से यह भी निर्मूल हो जाती है। यह माना कि स्यात् शब्द के प्रयोग से अनेकान्त का बोध हो जाता है—परन्तु जो उसका बोध होता है वह सामान्य रूप से ही होता है विशेषरूप से नहीं। अत विशेष रूप से उसका बोध कराने के लिये सदादिक पदों के प्रयोग की जरूरत होती है।

शंका—जब स्यात्पद के प्रयोग से अनेकान्त का सामान्यरूप से बोध हो जाता है तो सामान्य के अन्तर्गत होने से विशेषार्थी के लिये विशेपरूप से भी उसका बोध हो जायगा। इसमें कौन सी आपत्ति है!

उत्तर—"स्यात्" यह पद सामान्य पद है। इससे सामान्य रूप से ही वह अनेकान्त का बोधक होता है। अस्तित्वादि रूप से विशेष अर्थ का बोध कराने के लिये तो सदादिक पदो का ही उच्चारण करना पडेगा। सामान्य शब्द की शक्ति तो सामान्य का ही बोध करानेवाली होगी, विशेप का नही। अत विशेष अर्थ का बोध कराने के लिये विशेष सदादिक पदों के प्रयोग की आवश्यकता होगी ही उसके लिये विशेप शब्दों का प्रयोग करना ही पडेगा। यद्यपि सामान्य रूप से अस्तित्वादिरूप का भी बोध हो सकता है परन्तु फिर भी विशेपार्थी के लिये तो विशेप शब्दों का प्रयोग करना ही पडता है। केवल सामान्य से होनेवाला बोध व्यवहारोपयोगी थोडे ही हो सकता है। जैसे "वृक्षोन्यग्रोध" यहां पर यद्यपि वृक्षत्वरूप सामान्य से तदन्तर्गत होने के कारण न्यग्रोध का भी बोध हो सकता है तो भी विशेष—न्यग्रोधरूप से उसका बोध कराने के लिये "न्यग्रोध" पद का स्वतंत्र प्रयोग करने में आता ही है।

कारिका मे " कथंचित्सदेव " इत्यादि चार पदों द्वारा पूर्वोक्त चार वादों का एक ही वस्तु में समन्वय किया
गया है। पहिले कारिका नोवीं में जिस भावैकान्त की मान्यता का विरोध किया गया है वह किसी अपेक्षा से समीचीन
है–निर्दोष है यह बात " कथंचित्सदेव " इस पद द्वारा सूचित की गई है। १२ वीं कारिका में जिस अभावैकान्त पक्ष
का निरसन करने में आया है वह भी इस कथंचित् की विवक्षा की कृपा से निर्दोष है यह बात " कथंचिद सदेव " इस
पद से सूचित किया गया है। तथा तेरहवीं कारिका में जिस परस्पर निरपेक्ष भावाभावैकान्त का एवं सर्वथा अवाच्यैकान्त
का खडन किया गया है सो ये दोनो वाद भी कथंचित् ठीक है इस बात का समर्थन " तथोभयमवाच्य " इन पदो द्वारा
किया गया है। इससे सप्तभंगी के चार भग यहां स्पष्ट रूप से कारिकाकार ने प्रदर्शित कर दिये हैं बाकी के तीन भंग
कारिकान्तर्गत "च"से गृहीत किये गये हैं। पहिले भंग को चौथे के साथ मिलाने से ५ वां भंग, दूसरे भंग को चौथे के
साथ मिलाने से ६ वां भग एवं तीसरे को चौथे के साथ मिलाने से ७ वां भग बन जाता है। "प्रश्नवशादेकत्रवस्तुन्य-
विरोधेन विधिप्रतिषेधकल्पना सप्तभंगी" ये सप्तभंगी का सामान्य लक्षण है। अर्थात् जीव अजीव आदि किसी भी एक
पदार्थ में स्थित सत्त्व असत्त्व आदि अनेक धर्मों में से, प्रत्येक धर्म सम्बन्धो प्रश्न का अवलंबन करके प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों
से अविरुद्ध विधि प्रतिषेध रूप नाना धर्म विषयक ज्ञान को उत्पन्न कराने वाले तथा स्यात् पद से चिह्नित सात वाक्यों
का जो समुदाय है वह सप्तभंगी है, मतलब यह है कि वस्तु मूलतः अनन्त धर्मात्मक है। विभिन्न दृष्टि कोणों से उसमें
अनत धर्म हैं। प्रत्येक धर्म का विरोधी धर्म भी दृष्टि भेद से उसमें मौजूद है। एक वस्तु के अनन्त धर्मों में से किसी
एक धर्म की विवक्षा वश केवल सप्तभग ही बनते हैं परन्तु वस्तु में अनन्त सप्तभंग बनते हैं। अतः अनत धर्मात्मक
वस्तु के किसी एक धर्म को किसी विवक्षा वश उसमें मुख्य करके प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से विरोध न आवे इस तरह उसके
अस्तित्व एव निषेध की कल्पना करना यही सप्तभगी है वे सात भंग इस प्रकार हैं– (१) कथंचित् सदेव, (२)
कथंचित् असदेव, (३) कथंचित् सदसदेव, (४) कथंचित् अवक्तव्यमेव, (५) कथंचित् सदेव अवक्तव्यमेव, (६)
कथंचित् असदेव अवक्तव्यमेव, (७) कथंचित् सदेव कथंचित् असदेव कथंचित् अवक्तव्यमेव।

सप्तभगी के लक्षण में जो "अविरोधेन" यह पद है वह इस बात की सूचना के निमित्त है कि जिस धर्म की कल्पना वस्तु में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध पड़ती है उस धर्म को वहां कल्पना नहीं करना चाहिये-जैसे कोई कहने लगे "स्यादस्त्येव में माताबन्ध्या,, स्यान्नास्त्येव में माताबन्ध्या । स्यादस्त्येव अग्नि: शीत: स्यान्नास्त्येव अग्नि शीत:,, स्यादस्त्येव पंचभूतात्मकजीव स्यान्नास्त्येव पंचभूतात्मकजीव:" इत्यादिक वाक्यों में प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से विरुद्ध धर्मों की विधि निषेध कल्पना करने में आई है। अत इनमें सप्तभंगी का विन्यास नहीं हो सकता है। "एकत्र वस्तुनि,, इन पदों से यह स्पष्ट किया गया है "घटः अस्ति परोनास्ति" इस प्रकार के भिन्न २ पदार्थों को आश्रित कर उनमें भिन्न २ धर्मों की विधि निषेध प्रकट करने वाला वाक्य सप्तभगी नहीं है। तथा "सप्तभगी,, यह पद इस बात की सूचना देता है कि "घटःस्यादस्ति स्यान्नास्ति" यह दो वाक्य ही सप्तभंगी नहीं हैं किन्तु जहां तक इन दोनों का अपुनरुक्त मेल होता चला जायगा-वही तक सप्तभगी है। इससे पुनरुक्त भंगों को सप्तभंगी में अन्तर्भूत नहीं किया गया है। अपुनरुक्त भंग सात ही होंगे। न कमती न बढती। इस प्रकारके सातभंग एक पदार्थमें क्यों संभवित होते हैं इस का कारण "प्रश्नवशात्" इस पद से प्रकट किया है। यह पद यह बतलाता है कि सात प्रकार के ही प्रश्न होते हैं। सात प्रकार के प्रश्नों के होने के कारण सात प्रकार की जिज्ञासा का होना है। सात प्रकार की जिज्ञासा के होने का कारण भी सात प्रकार के सशयों का होना है। सात प्रकार के सशयो के होने का कारण सशय के विषयभूत सात प्रकार के वस्तु धर्मों का होना है। वे सात प्रकार के वस्तु धर्म ये हैं-(१) कथंचित् सत्त्व, (२) कथचित् असत्त्व (३) कथंचित् क्रमार्पित उभय, (४) कथंचित् सहार्पित अवक्तव्य (५) कथचित् सत्त्वविशिष्ट अवक्तव्य, (६) कथंचित् असत्त्वविशिष्ट अवक्तव्य एवं (७) कथचित् क्रमार्पित उभयविशिष्ट अवक्तव्य। इन सात प्रकार के वस्तुगत धर्मों को लेकर सात प्रकार का संशय उद्भूत होता है। यह किस तरह होता है-सो सुनिये-कितनेक लोगों की ऐसी धारणा है कि जहां सत्त्व होगा वहां असत्त्व कैसे रह सकता है। अतः सत्त्व असत्त्व को एक ही जगह मानने पर न सत्त्व का ही निर्णय हो सकता है और न असत्त्व का ही। क्योंकि ये दोनो परस्पर विरोधी धर्म हैं। अतः इनके एकत्र अस्तित्त्व में संशय का होना स्वाभाविक

है। इसलिये वहां इस प्रकार का संशय होता है कि क्या वस्तु अस्तित्व रूप है ? क्या वस्तु नास्तित्व रूप है ? क्या वस्तु सत् असत् दोनों रूप है क्या वस्तु अवक्तव्य रूप है क्या सत् होकर भी वस्तु अवक्तव्यरूप है इत्यादि। इन सात प्रकार के संशयों के होने से उन सात प्रकार के वस्तुगत धर्मों को जानने की या उन सात प्रकार के संशयो को निराकरण करने की इच्छा होती है । इस सात प्रकार की इच्छा से सात प्रकार के प्रश्नों का आविर्भाव और इनके आविर्भाव से
आ० सात प्रकार के उत्तररूप भंगों का सद्भाव होता है। इन भगो द्वारा यह स्पष्ट कर दिया जाता है कि वस्तु किसी अपेक्षा
मी० से अस्तित्व विशिष्ट ही है। किसी अपेक्षा से नास्तित्व धर्म विशिष्ट ही है। किसी अपेक्षा मे उभय धर्म विशिष्ट ही है। किसी अपेक्षा से शब्दो द्वारा तद्गत धर्म युगपत् कथन करने में न आ सकने के कारण अवक्तव्य ही है। इत्यादि। इस
१३६ प्रकार प्रथम भंग में किसी अपेक्षा से सत्त्व धर्म की मुख्यता प्रकट की जाती है, अतः तद्विषयक सदेह की निवृत्ति हो जाती है। इस तत्त्व की प्रधानता मे तद्गत अन्यधर्मों का अभाव करने में नहीं आता है। नहीं तो यह वाक्य दुर्नय वाक्य कहलाने लगेगा -इसी बात को प्रकट करने के लिये इसके साथ स्यात् १ पद का प्रयोग करने में आता है द्वितीय भग में असत्व धर्म की प्रधानता प्रकट करने मे आई है और सत्व आदि धर्मों की गौणता। तृतीयभंग में क्रमार्पित दोनों धर्मों की मुख्यता एव प्रत्येक सत्व और असत्व की गौणता प्रकट की गई है। चतुर्थभंग में अवक्तव्य धर्म की प्रधानता है। कारण कि ऐसा कोई शब्द नही है जो अस्तित्व एव नास्तित्व धर्मों का युगपत् कथन कर सके। पचम भग में सत्त्व-अस्तित्व सहित अवक्तव्य धर्म की प्रधानता, षष्ठ भंग में नास्तित्व सहित अवक्तव्य धर्म की प्रधानता एवं सप्तमभग में क्रमार्पित अस्तित्व नास्तित्व धर्मों के साथ २ सहार्पित उन उभय धर्मों की अपेक्षा अवक्तव्य धर्म की प्रधानता प्रकट की गई है। दूसरे शब्दो में इसे यों भी कह सकते हैं कि प्रथम भंग में द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता, द्वितीयभग मे पर्यायार्थिकनय की प्रधानता, तृतीय भग में उभयनयो की क्रमश प्रधानता, चतुर्थभग में दोनों नयों की प्रधानता, पचम भंग में द्रव्यार्थिक

१–सदेव सत् स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणै'। यथार्थदर्शी तु नय-प्रमाणपथेन दुर्नीतिपथत्वमास्थ' ॥
स्याद्वाद मजरी का० २८

नय की प्रधानता, के साथ २ दोनों नयों की अप्रधानता छठवें भंग में पर्यायार्थिक नय की प्रधानता के साथ दोनों नयों की अप्रधानता एवं सप्तमभग में क्रमशः दोनों नयों की प्रधानता और युगपत् दोनों की अप्रधानता प्रकट करने में आई है। इस प्रकार विवक्षा के भेद से २ यह सप्तभगी है। कारिकागत "नययोगात्" इस पद से सूत्रकार नयवाक्य सात ही होते हैं कम अधिक नहीं इस बात की सूचना देते हैं।

शंका—आपका यह कहना ठीक नहीं है कि नयवाक्य सात ही होते हैं कमती बढ़ती नहीं। कारण कि संयोगज भंग ११ तक हो सकते हैं जैसे—(१) स्यादस्ति (२) स्यान्नास्ति (३) स्यादस्ति नास्ति (४) स्यादस्ति स्यादस्ति नास्ति (५) स्यान्नास्ति स्यादस्ति नास्ति (६) स्यादवक्तव्य (७) स्यादस्ति अवक्तव्य (८) स्यान्नास्ति अवक्तव्य (९) स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य (१०) स्यादस्ति स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य (११) स्यान्नास्तिस्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। इन भंगो में तीन भग तो पहिले की ही तरह से हैं। चतुर्थ और पञ्चम भंग में जो तृतीय भंग के साथ प्रथम और द्वितीय भग को जोड़ने में आया है दो सत्त्व और एक असत्त्व दो असत्त्व और १ सत्त्व इस प्रकार तीन२ धर्म प्रकट किये हैं। इसी तरह १० वें और ११ वें भंग में भी स्वतंत्र रूप से केवल अस्तित्व धर्म की मुख्यता एवं क्रमार्पित रूप से दोनो धर्मों की मुख्यता तथा सहार्पित रूप से अवक्तव्यता एवं स्वतंत्र रूप से केवल नास्तित्व धर्म की मुख्यता क्रमार्पित रूप से दोनो धर्म की मुख्यता एव युगपत् रूप से अवक्तव्यता प्रकट करने में आई है। अत. इन्हें सप्तभंगी न कहकर ग्यारह भगी कहना चाहिये।

उत्तर—यह सब कथन विना विचारे जैसा मालूम होता हैं। क्योंकि एक ही वस्तु के अन्दर एक धर्म के अवलम्बन से स्वपर चतुष्टय को अपेक्षा दो सत्त्व और दो असत्त्व रह ही नहीं सकते हैं। स्वचतुष्टय को अपेक्षा एक ही

२—अपर्यंय वस्तु समस्यमानमद्रव्यमेतच्च विविच्यमानम्।
आदेशभेदोदित सप्तभगमदीदृशस्त्व बुधरूपवेद्यम् ।।
स्याद्वाद मजरी का० २३

रहता है।

सत्त्व और परचतुष्टय की अपेक्षा एक ही असत्त्व रहता है।

शंका—ठीक है—स्वचतुष्टय की अपेक्षा से पदार्थ में एक ही सत्त्व एव परचतुष्टय की अपेक्षा से एक ही असत्त्व रहेगा यह हम मानते है। परन्तु अवक्तव्य भंग के साथ इस सत्त्व और असत्त्व के सबन्ध का निर्वाह कैसे हो सकेगा। ५ वें भंग में २ सत्त्व और १ असत्त्व एव ६ वे भग में २ असत्त्व १ सत्त्व तथा सातवें भंग में २ सत्त्व और दो असत्त्व किसी न किसी रूप से प्रकट करने में आये ही हैं। शकाकार का अभिप्राय यह है कि जब दो सत्त्वसहित एक नास्तित्व को एवं दो नास्तित्व—असत्त्व—सहित एक अस्तित्व—सत्त्व—को भिन्न भिन्न रूप से भग तरीके आप कबूल नहीं करना चाहते हैं—वे भिन्न रूप से भग तरीके परिगणित नही हो सकते हैं—तब अस्तित्वादि—अस्तित्व नास्तित्व एवं क्रमार्पित अस्तित्व नास्तित्व—सहित अवक्तव्य को भिन्न भंग तरीके कैसे माना जा सकेगा। क्योंकि अस्तित्व एवं नास्तित्व का युगपत् संबन्धरूप ही तो यह अवक्तव्य है।

उत्तर—ऐसा नहीं है—अर्थात् अस्तित्व एव नास्तित्व का युगपत् संबन्ध रूप यह अवक्तव्य भंग नहीं है—किन्तु अस्तित्व एव नास्तित्व धर्म जब युगपत् अर्पित होते है तब इन दोनो धर्मों को एक ही साथ अस्ति नास्ति शब्दो में प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं होने के कारण धर्मान्तर तरीके इस अवक्तव्यपने को प्रकट करने के लिये अवक्तव्य शब्द का प्रयोग करने मे आया है। इस अवक्तव्य शब्द से न तो अस्तित्व धर्म का परामर्श हुआ है और न नास्तित्व धर्म का ही किन्तु अवक्तव्यरूप धर्मान्तर का ही इससे प्रतिपादन किया गया है। अतः जब यह बात है तो पचमभंग के अन्दर दो सत्त्व एवं एक असत्त्व छठवें भंग मे २ असत्त्व १ सत्त्व और सातवें भग में दो सत्त्व और दो असत्त्व की शंका करना ठीक नहीं है।

आप वस्तु में जिस प्रकार अवक्तव्य धर्म को एक धर्मान्तर रूप से अगीकार करते हैं उसी प्रकार "वक्तव्य" को भी स्वतंत्र धर्मान्तर रूप से अगीकार करना चाहिये इस परिस्थिति में एक अष्टम धर्मान्तर होने से सप्तभंगी के विषयभूत सात प्रकार के ही धर्म होते हैं यह बात कैसे मानी जा सकती है।

उत्तर—यह शंका खास महत्त्व की नहीं है। क्योंकि प्रथम आदि भंगों में ही इस वक्तव्य का अन्तर्भाव हो जाता है। यदि वक्तव्य एव अवक्तव्य को स्वतंत्ररूप से धर्मान्तर मान भी लिया जाय तो इसमें हमें कोई आपत्ति भी नहीं है। क्योंकि सत्त्व और असत्त्व की तरह इनमें भी विधि और प्रतिषेध की कल्पना से सातभंग बन जाते हैं।

शंका—अवधारणार्थक "एव" शब्द का प्रयोग "स्यादस्त्येव अथवा कथंचित्सदेव" इत्यादि वाक्यों में किसकी निवृत्ति करने के लिये हुआ है?

उत्तर—"एव" शब्द का प्रयोग अनिष्ट १ अर्थ की निवृत्ति के लिये किया गया है। स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा वस्तु में सत्त्व का प्रतिपादन जिस प्रकार किया जाता है उसी रीति से कोई नास्तित्व का प्रतिपादन न करने लगे इस अनिष्ट अर्थ को निराकरण करने वाला "एव" यह पद है। स्वरूपादिक की अपेक्षा अस्तित्व ही है, इसका मतलब यही है कि स्वरूपादिक की अपेक्षा नास्तित्व नहीं है वह तो उसमें पररूप की ही अपेक्षा से है स्वरूपादिक की अपेक्षा से तो अस्तित्व ही है। विशेष्य संगत एवकार अन्ययोगव्यवच्छेदक २ विशेषण संगत एवकार अयोग व्यवच्छेदक एवं क्रिया संगत एवकार अत्यन्तायोग व्यवच्छेदक होता है। इनमें उद्देश्यताव्यवच्छेदक धर्म के अधिकरण में अभाव का अप्रतियोगित्व अन्य योगव्यवच्छेदक का सामान्य लक्षण है। जैसे—शंखः पांडुर एव—यहां उद्देश्यतावच्छेदक धर्म शंखत्व है उसका अधिकरण—आधार शंख है उसमे नीलादिक के अभाव का अप्रतियोगी पांडुरत्व है और प्रतियोगी नीलादिक है। विशेष्य से भिन्न के साथ तादात्म्यादि सम्बन्ध का व्यवच्छेद करना यह अन्य योग व्यवच्छेद का लक्षण है। जैसे

---

१ वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये।
कर्तव्यमन्यथाऽनुक्तसमत्वात्तस्य कुत्रचित् ॥

२ व्यवच्छेदस्त्रिधा भिद्यते—अयोग व्यवच्छेद अन्य योग व्यवच्छेद. अत्यन्तायोगव्यवच्छेदश्च। तत्रोद्देश्यतावच्छेदकसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्वमयोगव्यवच्छेद यथा शंख· पाँडुर एव इति। विशेष्यभिन्नतादात्म्यादिव्यवच्छेदोऽन्यायोग व्यवच्छेद। यथा पार्थ एव धनुर्धर.। उद्देश्यतावच्छेदकव्यापकाभावाप्रतियोगित्वञ्चात्यन्तायोगव्यवच्छेद·। यथा—नील सरोज भवत्येव। सप्त भं० त०। आप्तपरीक्षा टि-पाना १४।

" पार्थ एव धनुर्धरः " अर्जुन ही धनुर्धर है। यहां विशेष्य–अर्जुन से भिन्न दुर्योधनादिक के साथ धनुर्धरत्व के तादात्म्य-सम्बन्ध का व्यवच्छेद कराया गया है। उद्देश्यतावच्छेदक मे व्यापक अभाव का जो अप्रतियोगित्व है वह अत्यन्तायोग व्यवच्छेदक का लक्षण है। जैसे–"नीलं सरोज भवत्येव"–कमल नीला होता ही है–यहां उद्देश्यतावच्छेदक सरोजत्व है इसमे व्यापक रूप से अभाव नील का नही है पीतादिक का है इसलिये नील व्यापक अभाव का अप्रतियोगी है। पीतादिक प्रतियोगी १ है।

शका—यहां पर जो " कथञ्चित्सदेव " यह पद कारिका में आया है उसका मतलब " कथंचित् जीवादि वस्तु अस्त्येव " ऐसा होता है। जब इस प्रकार से यह माना जावेगा तो इसमें जो एवकार है वह क्रिया के साथ सगत हुआ है-अत यह भी अत्यतायोग का व्यवच्छेदक होगा-तो ऐसी स्थिति में आपको अनेक दोषो का सामना करना पडेगा। जैसे " नील सरोजं भवत्येव " इस प्रयोग में किसी २ कमल में नीलता नहीं भी होती है तो भी वह जैसे सामान्य रूप में "कमल नीला होता ही है" ऐसा कह दिया जाता है उसी तरह किसी २ वस्तु में अस्तित्व नहीं होने पर भी वह भी सामान्यरूप मे " कथंचित् वस्तुसदेव " इस प्रयोग द्वारा अस्तित्व विशिष्ट मानी जायगी। परन्तु ऐसा सिद्धान्त तो है नही। क्योकि ऐसी कोई भी वस्तु नही है जो अस्तित्व से शून्य हो। तब इस क्रिया संगत एवकार का यहां निर्वाह कैसे होगा।

उत्तर—यह एकान्त नियम नही है कि क्रिया के साथ संगत एवकार अत्यन्तायोग व्यवच्छेद ही होता है। देखो-जैसे "ज्ञानमर्थं गृह्णात्येव" यहां क्रिया के साथ संगत एवकार है परन्तु वह अत्यन्तायोगव्यवच्छेदक नहीं है। क्योकि ऐसा कोई सा भी ज्ञान नही है जो अर्थग्रहण से रहित है। इसी तरह " वस्तु स्यादस्त्येव " यहां पर भी जानना चाहिये। अत यहां एवकार अयोगव्यवच्छेदक ही है।

प्रश्न—जब एवकार से अनिष्ट अर्थ की निवृत्ति हो जाती है तो फिर साथ मे स्यात्-कथंचित्-पद के रखने की

१ यस्याभाव' स प्रतियोगी। तर्क सग्रह जिसका अभाव होता है वही प्रतियोगी है।

आवश्यकता क्या है ?

उत्तर–आवश्यकता यह है कि एवकार तो सिर्फ इतना ही प्रकट करता है कि "वस्तु जिस प्रकार स्वरूपादि-चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व विशिष्ट है उस तरह वह पररूपादिक की अपेक्षा से अस्तित्व विशिष्ट नहीं है" सो यह शिक्षा उसे स्यात् पद ने ही दी है। तथा अन्य अविवक्षित धर्मों का भी अस्तित्व इसमें है-केवल विवक्षित अस्तित्व आदि का ही नहीं-यह बतलाने वाला भी स्यात् पद है।

इस प्रकार यह सप्तभंगी सात प्रकार की होती है कमती बढ़ती नहीं तथा प्रथम द्वितीय एवं चतुर्थ भगों के परस्पर में दो दो भंगों के सयोग से तथा तीन के संयोग से जो सयोगज भंग होंगे उनका अन्तर्भाव भी इन्हीं निर्दिष्ट भंगों मे हो जायगा- जैसे अस्ति और नास्ति भंग का परस्पर जब क्रमशः सयोग होगा तब वह तृतीय भंग-स्यादस्ति नास्ति-में गर्भित हो जायगा और जब अस्ति का संयोग अवक्तव्य के साथ होगा तब वह पंचम भगमें परिगणित हो जायगा। एवं नास्ति का जब संयोग अवक्तव्य के साथ होगा तब वह छटवें भंग में अन्तर्हित हो जायगा - और जब इन तीनों का संयोग कर दिया जायगा तो वह संप्तमभंग में बिलीन हो जायगा। इस प्रकार से सयोगजभगों का अन्तर्भाव इन भगो में होता है। अब रहे तृतीय पचन षष्ठ एवं सप्तम भंग सो इनके बीच में दो दो के संयोग से तीन अथवा चार के सयोग से अथवा किसी अन्य तीन के साथ इनके यथायोग्य सयोग से जो भंग उद्भूत होंगे वे पुनरुक्त की कोटि मे सम्मिलित होने से परिगणित नहीं किये जायेंगे। जैसे तृतीय भग " स्यादस्ति नास्ति " यह है इसे पंचमभंग स्याद् अस्ति अवक्तव्य के साथ एव षष्ठ भग " स्यान्नास्ति अवक्तव्य" इसके साथ संयुक्त करने से पुनरुक्तता आती है। इसी तरह आगे भी समझ लेना चाहिये। इन सातभगों मे सत् असत् एवं अवक्तव्य ये तीन एक२ हैं। सत् असत् अवक्तव्य सद्अवक्तव्य असद् अवक्तव्य ये तीन द्विसयोगी हैं। सप्तम भंग त्रिसयोगी है–

" जीवादिक द्रव्य कथंचित् सत् ही है " यह बात असिद्ध है क्योंकि " दर्शनावग्रहादि विशेषव्यतिरेकेण तस्यानुपलमात् " दर्शन एवं अवग्रह आदि विशेष के बिना उसकी स्वतंत्र द्रव्य रूप से उपलब्धि ही नहीं होती है।

ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योकि "अवग्रहेहादेरन्योन्य स्वलक्षणविविक्तैकान्ते जीवान्तरवत् स्वात्मन्यपि सन्तानभेदप्रसगात्" अवग्रह एवं ईहा आदि के अपने अपने लक्षणो में जब सर्वथा—एकान्तरूप से परस्पर में भेद ही है तो ऐसी परिस्थिति मे जीवान्तर की तरह अपने आप में भी उनकी अन्वयरूप संतान के भेद का प्रसंग प्राप्त होता है। इस प्रसग में जिस वस्तुको मुझ दर्शन ने विषय और विषयी की सन्निपात अवस्था में यह कुछ है इस प्रकार से आलोकित
आ० मी० १४५ किया, उसी वस्तु को वर्ण एव सस्थान आदि सामान्याकार से अवग्रह ज्ञान ने जाना, पुनः प्रतिनियत विशेषाकार से ईहा ज्ञान ने विषय किया, तथा आकाक्षित विशेषाकार से अवायज्ञान ने उसका निश्चय किया, पश्चात् कालान्तर में स्मृति के हेतु स्वरूप धारणाज्ञान ने उसी को अवधारित किया स्मृतिज्ञान ने कालान्तर में "तत्" इस आकार से उसीका स्मरण किया, प्रत्यभिज्ञान ने उसी का "यह वही है" इस रूप से संकलन किया, पश्चात् तर्क ने "जो इस प्रकार से कार्य को करने वाली वस्तु होती है वह सर्वत्र सर्वदा इसी प्रकार की होती है" इस रूप से उसे ही तर्कित किया। पश्चात् अनुमान ने उसके कार्य का अवलोकन करने से उसे अपना विषय बनाया एवं श्रुतज्ञान ने उसे ही शब्द योजना एवं विकल्पनिरूपणा से अपने व पर के निमित्त निरूपित किया, इस प्रकार अनुसंधान प्रत्यय की तरह मैं एक ही ज्ञान ज्ञाता द्रष्टा अवग्रहीता एवं ईहिता आदि रूप से हूं इस प्रकार की अनुसधान बुद्धि भी दर्शन अवग्रहादिकों में स्थान नहीं पा सकती है। मतलब कहने का यह है कि "जीवादिक द्रव्य कथचित् सत् ही है" इस कथन पर बौद्धो की तरफ से यह शका उपस्थित की गई है, क्योंकि उनके सिद्धान्तानुसार १ "बुद्धि क्षणपरम्परा ही आत्मा है, जिस प्रकार एक सूत का डोरा बहुत से मोतियो में प्रविष्ट होकर सब मोतियो की एक माला बनाता है उस तरह बौद्धों के मत मे बुद्धि के सम्पूर्ण क्षणो के साथ सम्बन्ध रखने वाली किसी एक वस्तु को आत्मा अगीकार नहीं किया गया है। इसके ऊपर यह आक्षेप है कि जब तुम बुद्धिक्षण परम्परा को ही आत्मा मानते हो तो उनकी यह सतानपरम्परा चल भी कैसे सकती है। क्योंकि तुम्हारा सिद्धान्त तो

---

१ "बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनति न पुनर्मौक्तिककणनिकरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयिनमेकम्,, स्याद्वादमजरी पृ-२४१

क्षणिकवादी है। अत. जिस बुद्धि क्षण ने-निर्विकल्पक दर्शन ने-जिस पदार्थ को पहिले सामान्याकार से जाना वह पदार्थ एव वह ज्ञान उसी समय विनष्ट हो गया। अब इस ज्ञान की जो सताने अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि रूप से चलेंगी उन्हे यह कैसे भान होगा कि जिसे दर्शन ने पहिले "कुछ है" इस रूप से जाना है उसे ही मै अवग्रह वर्ण एवं संस्थान आदि रूप से अवग्रहीत कर रहा हूं। तथा उत्पन्न होकर जब यह ज्ञान भी विनष्ट हो जायगा-तब इहाज्ञान यह कैसे कह सकता है कि जिसे अवग्रह ने वर्ण सस्थान आदि रूप से अवग्रहीत किया है उसे ही मैं प्रतिनियत विशेषाकार से जानने की चेष्टा कर रहा हूं इत्यादिरूप से एक ही ज्ञान की यह विशेष २ रूप में सतानरूप परम्परा एक ही पदार्थ मे कैसे चल सकती है, तथा यह वही पदार्थ है जिसे दर्शन ने सामान्यरूप से जाना था अवग्रह ने अवग्रहीत किया था इत्यादि रूप से एक ही पदार्थ मे उन ज्ञानों को अनुसधानात्मक बुद्धि भी कैसे हो सकती है। एक ज्ञान का एक ज्ञान मे अन्वय जावे तभी जाकर ज्ञानों मे इस प्रकार की अनुसंधानात्मक बुद्धि हो सकती है एवं पदार्थ की क्षणपरम्परा चलती रहे तो ही वहां पर अनुसंधानात्मक प्रत्यय हो सकता है। अन्यथा नहीं।

बौद्ध—दर्शन एव अवग्रहादिक ज्ञानों मे जो आप परस्पर मे संतान भेद का प्रसग आपादन कर अनुसंधानात्मक प्रत्यय का अभाव प्रतिपादन करना चाहते हैं सो यह कहना ठीक नहीं है। कारण कि पूर्व २ ज्ञान उत्तर २ ज्ञानक्षणों को ही उत्पन्न करके विनष्ट होता रहता है। अत. वर्तमान ज्ञान की तरह एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से सम्बद्ध रहता है। इस अपेक्षा एक ज्ञान का विचार दूसरे ज्ञानों के साथ सवद्ध होता रहेगा। इससे आत्मा न मानने पर भी अनुसंधान प्रत्यय होने मे बाधा ही कौनसी आ सकती है।

जैन—ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि आपके सिद्धान्त मे पूर्व पूर्व ज्ञान का सर्वथा विनाश माना गया है। ऐसी हालत मे एक ज्ञान दूसरे उत्तर ज्ञान के साथ सवद्ध कैसे हो सकता है। अतः इन दोनों पूर्व और उत्तर ज्ञानों मे सम्बन्ध कराने वाला कोई अवश्य होना चाहिये कि जिसके बल पर अनुसधान प्रत्यय हो सके। अन्यथा संबन्ध के अभाव मे अनुसंधान प्रत्यय नहीं हो सकेगा। इन पूर्व और उत्तर ज्ञान क्षणों का सम्बन्ध कराने वाला एक आत्मा ही हो सकता

है । अतः अष्टशतीकार का "जीवान्तरवत् स्वात्मन्यपि संतानभेदप्रसंगात् अनुसंधानप्रत्ययो न स्यात्" यह कहना सर्वथा ठीक है । क्योंकि जिस प्रकार कोई एक जीव विषय और विषयी की सन्निपात अवस्था में किसी पदार्थ की "यह कुछ है" इस प्रकार से आलोचना करता है, कोई दूसरा जीव उसी पदार्थ को वर्ण एव संस्थान आदि सामान्याकार से अवग्रहीत करता है तीसरा उसे प्रतिनियत विशेषाकार से ईहित करता है चौथा उसे आकांक्षित विशेषाकार से अवेत करता है पांचवा उसे धारण का विषय करता है--तो इन सब भिन्न व्यक्तियो को उस एक ही विषय के जानने पर भी ऐसा अनुसधानात्मक प्रत्यय उस पदार्थ मे नही हो सकता है कि यह वही पदार्थ है जिसे दर्शन ने पहिले जान लिया है । ईहा ज्ञान वाला यह नहीं कह सकता कि मैं अवग्रह से ग्रहीत हुए पदार्थ को ही ईहित कर रहा हूं आदि २ । जिस प्रकार अन्य के द्वारा देखे हुए पदार्थ को अन्य दूसरा कोई व्यक्ति स्मरण नही कर सकता है उसी प्रकार यहां पर भी अन्य ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ को अन्य अवग्रह ज्ञान आदि अनुसधान रूप से नहीं जान सकते हैं । अनुसधान रूप से जानने के लिये स्मरण की खास आवश्यकता है । क्योंकि वर्तमान में पदार्थ के देखने से प्राक्तन संस्कार जाग्रत होता है और तभी जाकर "यह वही है" इस रूप से अनुसंधानात्मक १ प्रत्यय होता है । परन्तु ये सब ज्ञान परस्पर में अत्यन्त भिन्न २ हैं । अत एक ज्ञान के द्वारा जाना हुआ पदार्थ अन्यज्ञान के द्वारा भिन्न संतान की तरह स्मृत नहीं हो सकता । स्मृति के अभाव में अनुसंधान प्रत्यय उत्थित नहीं हो सकता । इसलिये पूर्व और उत्तर क्षणों को जोड़ने के लिये एक अनुसंधाता अवश्य २ मानना चाहिये ।

बौद्ध--- अनुसंधानप्रत्यय, विना अनुसंधाता के नहीं हो सकता यह बात समझ में नहीं आती है क्योंकि अनुसंधानप्रत्यय का कारण पूर्व और उत्तर ज्ञान क्षण का परस्पर सम्बन्ध नहीं है । कारण कि ये सब क्षणिक हैं फिर इनमें सम्बन्ध हो ही कैसे सकता है । परन्तु फिर भी जो अनुसंधान प्रत्यय होता है वह अनुसंधान वासना के बल से ही

१ "पदार्थप्रेक्षणप्रबुद्धसंस्कारस्य हि प्रमातु: स एवायमित्याकारेण इयमुत्पद्यते,,

स्याद्वाद म० पाना-२४५

होता है। इसलिये इस अनुसधानवासना से अनुसधान प्रत्यय सिद्ध हो जायगा एक अनुसंधाता के मानने की क्या आवश्यकता है !

जैन —हम आपसे इस पर यह पूछना चाहते है कि वह अनुसंधान वासना अनुसंधीयमानदर्शनादिको से भिन्न है या अभिन्न है। यदि भिन्न है तो सन्तानान्तर में वर्तमान अवग्रहादिको की तरह स्वसतान में रहे हुए अवग्रहादिकों
आ० मे भी वह अनुसंधान प्रत्यय कैसे उत्पन्न कर सकती है। यदि अनुसंधान वासना को दर्शन एवं अवग्रहादिकों से अभिन्न
मी० माना जाय तो उसे स्वयं भी दर्शन एव अवग्रहादिकों की तरह अनेक मानना पडेगा। ऐसी स्थिति में अनेक रूप से वर्तमान वह दर्शन अवग्रहादिको में एक अनुसंधान ज्ञान की उत्पादक कैसे हो सकेगी। यदि इस वासना को उन दर्शन
१४८ अवग्रहादिको से कथंचित् अभिन्न माना जाय और फिर यह कहा जाय कि वह उनमें एक अनुसंधानप्रत्यय की उत्पादक है सो ऐसी उक्ति मे जिसे तुम वासना कहते हो उसे ही हम जैन लोग आत्मा-जीव कहते १ है। यह अनादि निधन है। परिणमनशील होकर भी नित्य है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने २ अनुभव से यह गम्य है। परस्पर जुदे २ रहने वाले फिर भी आत्मभूत ऐसे सहभावी गुण एवं क्रमभावी नाना पर्यायो को यह अपने में आत्मसात् करने वाली है। जिस प्रकार एक चित्र ज्ञान में परस्पर विभिन्न नीलादिक विशेषो का निर्भास होता है परन्तु वह निर्भास उससे जुदा नहीं है उसी प्रकार चित्रज्ञान जैसी एक ही इस आत्मा मे नीलादिक विशेषो की तरह परस्पर भिन्न २ रूप से रहे हुए गुण और पर्यायों का सदा अधिष्ठान रहा करता है। अतः परिणमन शील होकर भी आत्मा कथचित् नित्य ही है। एव दर्शन और अवग्रह आदि ज्ञानो से किसी अपेक्षा भिन्न है। एवं सदादिस्वभाव से अभिन्न भी है। इस प्रकार "कथंचित्ते सदेवेष्टं" जीवादिक वस्तु किसी अपेक्षा सत् ही हैं। यह प्रकट किया। अब "कथंचिदसदेव तत्" जीवादिक वस्तु किसी अपेक्षा असत् ही हैं यह प्रकट किया जाता है—कारण कि समस्त पदार्थों में परस्पर में असंकरता की प्रतिपत्ति होती है। यदि पर

---

१ अहमहमिकया विवर्तानुभवन्ननादिनिधनः स्वलक्षणप्रत्यक्ष· सर्वलोकानां क्वचिच्चित्रवित्तिक्षणे नीलादिविशेषनिर्भासवदात्मभूतान् परस्परतो विविक्तान् सहक्रमभाविनो गुणपर्यायानात्मसात् कुर्वन् सन्नेव सिद्धः। अष्ट शती—

रूप की अपेक्षा इनमे असत्त्व न माना जाय तो स्व स्वभाव की व्यवस्था ही नही वन सकती है। अतः जीव और अजीव के जितने भी भेद एवं प्रभेद हैं वे सब सजातीय एवं विजातीय से व्यावृत्तिलक्षण वाले हैं। क्योकि एक स्वभाव का दूसरे स्वभाव के साथ कभी मिश्रण नहीं हो सकता है। जब तक पदार्थ मे पर का असत्त्व न होगा-तब तक उसमें स्वतंत्र रूप से सत्त्व का प्रतिभास एवं प्रतिपादन नहीं हो सकता है। अतः पदार्थ स्वरूपादिक की अपेक्षा सत्त्व विशिष्ट जिस तरह माना गया है उसी प्रकार वह पर रूपादिक की अपेक्षा से असत्व विशिष्ट भी माना गया है।

इसलिये कारिकाकार ने "कथंचिदसदेव तत्" ऐसा कहा है। स्वरूप और पररूप आदि चतुष्टय क्या है यह बात सूत्रकार स्वयं आगे प्रकट करेंगे। तीसरा " स्यादस्ति स्यान्नास्ति " यह भग उनको समझाने के लिये है जो इस प्रकार की शका करते हैं कि प्रत्येक सत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा क्रमिक सत्त्वासत्त्व को स्वतंत्र भग तरीके मानने में कोई फायदा नही है। कारण की उन दोनो की अपेक्षा इसमें कोई भिन्नता नही दीखती है। प्रथम और द्वितीय भंग मे अस्तित्व एव नास्तित्व धर्म की स्वतत्र २ रूप से प्रधानता एव अप्रधानता है। जवकि इस तृतीय भग में इन दोनों धर्मो की क्रमश एक ही जगह प्रधानता प्रकट की गई है। स्वतत्र सत्त्व और असत्त्व की अपेक्षा प्रधानतया क्रमार्पित सत्त्वासत्त्व की विवक्षा मे अनन्तर माना गया है। प्रथम भग मे केवल अस्ति पद के उच्चारण से अस्तित्त्व रूप अर्थ का द्वितीय भंग में नास्ति पद के उच्चारण से केवल नास्तित्व रूप अर्थ का जब बोध होता है तव तृतीय भग मे क्रमशः प्रधानतया दोनो का बोध होता है। जो इस प्रकार से व्यवस्था न मानी जाय तो केवल अस्तिपद के उच्चारणमात्र से ही अस्तिनास्ति दोनो का बोध मानना पडेगा। तथा च नास्ति पद का उच्चारण व्यर्थ हो जायगा, इसी तरह नास्ति पद के उच्चारण से दोनो का जब बोध हो जायगा, तो इसलिये ये व्यर्थ न हो इस खयाल से क्रमार्पित सत्त्वासत्त्व रूप तीसरा भंग माना गया है। इस भंग मे द्रव्य और पर्याय नय की प्रधानता की अपेक्षा से वस्तु कथंचित् सदसदात्मक प्रतिपादित की गई है। जिस प्रकार दही, गुड एवं चातुर्जातिकादि द्रव्यसे निष्पन्न पानक-ठडाई आदि-में उसके अंशभूत दधि, गुड़ आदि की भी विशेष प्रतिपत्ति होती है उसी प्रकार अस्तित्त्व एव नास्तित्त्व धर्मों के सम्बन्ध से जात्यन्तर रूप इस भग में भी सत्

एवं असत् इन दोनों अंशों की प्रतिपत्ति होती है। जिस प्रकार यह पानक बड़ा सुरभी है बड़ा मीठा है इस प्रकार से पानक रूप जात्यन्तर वस्तु की प्रतीति होती है उसी प्रकार दोनों धर्मों के सम्बन्ध से निष्पन्न इस भंग में जात्यन्तर रूप वस्तु की भी प्रतिपत्ति होती है। यदि जात्यन्तर वस्तु की प्रतिपत्ति न मानी जावे तो इसमें अनवस्था, प्रतिज्ञाविरोध, वैयधिकरण, संकर एव व्यतिकर आदि अनेक दोषोंका प्रसंग दुर्निवार होता है। इसलिये कारिकाकारने कथचित् वस्तु उभयात्मक है इस रूप से प्रतिपादन किया है। यदि वस्तु को सर्वथा अनभिलाप्य ही माना जाय तो इसमें मूकता ही श्रेयस्कर है। क्योंकि ऐसी अवस्था में विधि प्रतिषेध का व्यवहार ही नहीं प्रतिपादित हो सकता है। दूसरे वस्तु सर्वथा सर्वात्मना अनभिलाप्य है यह किसी ज्ञान से भी साबित नहीं होती है, कथंचित् अनभिलाप्य का मतलब यह है कि वस्तुगत सदसदरूप धर्म युगपत् किसी भी शब्द द्वारा प्रतिपादित नहीं हो सकते हैं। सांकेतिक शब्दो में भी यह शक्ति नहीं है जो अनेक धर्मों को एक साथ प्रतिपादित कर सके। इत्यादि इस विषय के ऊपर टीकाकर ने बहुत कुछ लिखा है-अतः विशेषार्थी इस विषय को टीका से ज्ञात करलें। इसलिये कारिकाकार ने इस चतुर्थ भंग को कथचित् अवक्तव्य माना है। इस प्रकार इन चारो भगों का स्पष्ट उल्लेख कारिकाकार ने इस कारिका में किया है। बाकी के ३ भगों का संग्रह चकार से किया है। इन्हीं सात भंगो का विशेष वर्णन कारिकाकार आगे कह रहे हैं।

सदेव सर्व को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासात् न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ १५॥

अन्वय—स्वरूपादिचतुष्टयात् सर्वं सदेव (च) विपर्यासात् (सर्वं) असदेव (इति) कः न इच्छेत् (अपितु सर्व इच्छेत्) न चेत् न व्यवतिष्टते।

अर्थ—स्वरूपादिक चार से समस्त इष्ट वस्तु सत् ही है एव पररूपादिक चार से समस्त इष्ट वस्तु असत् ही है इस सिद्धान्त को कौन सा लौकिक जन अथवा परीक्षक जन अंगीकार नही करेगा, अपितु सब ही इसे अंगीकार

करेंगे। यदि इस तरह से स्वेष्ट तत्त्व न माना जायगा तो उसकी व्यवस्था ही नही हो सकती है।

भावार्थ---कारिकाकार प्रथम और द्वितीय भग मे इस कारिका द्वारा १४ वी कारिकान्तर्गत " नययोगात् " इस पद से प्रदर्शित नययोग का प्रदर्शन कर रहे हैं। वे स्पष्ट शब्दों मे कह रहे हैं कि प्रत्येक इष्ट तत्त्व स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव इन चार की अपेक्षा से ही सत् है चाहे वह चेतन रूप हो चाहे अचेतन रूप हो, पर्यायरूप में हो चाहे द्रव्यरूप में हो, भ्रान्त हो चाहे अभ्रान्त हो, स्व को इष्ट हो चाहे अनिष्ट हो कैसा भी क्यो न हो। इसी तरह प्रत्येक इष्ट तत्त्व पररूपादिचतुष्टय की अपेक्षा असत् हैं। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ विवक्षावश सत् एवं असत् स्वरूप है फिर भी यदि कोई की जिसकी कुनय से विपर्यासित मति हो रही है इस प्रकार की वस्तु में व्यवस्था अंगीकार न करे तो आचार्य उसके लिये कहते हैं कि " न व्यवतिष्ठेत " उसकी तात्त्विक व्यवस्था बन ही नहीं सकती है। कारण कि वस्तु में वस्तुत्व की व्यवस्था अपने स्वरूप के उपादान पूर्वक पर के स्वरूप के अपोहन की व्यवस्था के आधीन होती है। वस्तु में जिस प्रकार स्वरूप की अपेक्षा सत्त्व अंगीकार किया जाता हैं उसी प्रकार से वह सत्त्व उसमें पररूप की अपेक्षा से भी यदि माना जाय तो चेतन को भी अचेतन मानने का प्रसग प्राप्त होगा। पररूप की तरह स्वरूप से भी यदि असत्त्व वस्तु मे अंगीकृत करने मे आवेगा तो सर्वथा शून्य की आपत्ति का प्रसग उपस्थित होगा। स्वद्रव्य की अपेक्षा की तरह परद्रव्य से भी यदि सत्त्व कबूल किया जायगा तो द्रव्य के प्रतिनियम का विरोध होगा-यह अमुक द्रव्य है इस तरह की मान्यता का कोई नियम ही सिद्ध नही हो सकेगा। यदि कोई यहां पर इस प्रकार की आशका करे कि संयोग और विभाग ये दोनो अनेक द्रव्यो के आश्रयी हैं तो भी इनके द्वारा द्रव्य का प्रतिनियम विरूद्ध नही पडता है सो ऐसा कहना ठीक नही है क्योंकि सयोग एव विभाग ये अनेक द्रव्यो के ही गुण है इसलिये अनेक द्रव्य ही इनका स्वद्रव्य है।

इस स्वद्रव्य के अतिरिक्त जो इनका अनाश्रयभूत द्रव्यान्तर है वह परद्रव्य है। अतः संयोग एव विभाग ये दोनों स्वद्रव्य की अपेक्षा से ही सत्त्व विशिष्ट हैं परद्रव्य की अपेक्षा से नही। नहीं तो इनके द्रव्य का प्रतिनियम ही नही बन सकता है। इसी तरह परद्रव्य की अपेक्षा से असत्त्व की तरह स्वद्रव्य की अपेक्षा से भी किसी का असत्त्व

कल्पित किया जायगा तो उसमें इष्ट द्रव्य के आश्रयत्व का विरोध आयगा। इसी तरह क्षेत्र और काल में भी यही बात समझ लेना चाहिये। इसी विषय को दृष्टान्त द्वारा यों समझना चाहिये १ जैसे–घट अपने स्वरूप से है पररूप से नहीं है–इसका मतलब यह है कि "अयं घट" इस प्रकार के ज्ञान में जो उसका घटपना प्रतिभासित होता है वही उसका निज रूप है, और इस निज रूप से भिन्न जो पटादिपना है वह उसका पररूप है। इस स्वरूप और पररूप को लेकर ही घट में अस्तित्व एव नास्तित्व व्यवस्था करने में आई है। अब यहां यह विचारना चाहिये कि घट में जो अस्तित्व का विधान करने मे आया है वह अपना रूप जो घटत्व–घटपना है उसकी अपेक्षा से ही है। यदि यह अस्तित्व उसमें पटत्व को लेकर जो व्यवस्थित किया जाय तो घट में पटरूपता की प्रसक्ति आने से जलार्थी पुरुष की जो घट में प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है और शरीर को ढाकने वालों की जो पट में प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है उसका समूलत ही विनाश हो जाने का प्रसग प्राप्त होगा। तथा जगत या तो घट रूप ही हो जायगा या पटरूप ही। इसी तरह पटरूप की तरह जो घट मे स्वरूप–घटत्व की अपेक्षा से भी असत्त्व कल्पित किया जाय तो शशविषाण की तरह जगत् मे शून्यता की आपत्ति प्रसक्त होती है। क्योंकि घट जिस तरह पररूप से नहीं है उसी तरह वह स्वरूप से भी नहीं होगा–तो फिर वह किस रूप से अस्तित्व विशिष्ट माना जा सकेगा? अत शशविषाण की तरह उसका अपना कोई अस्तित्व नहीं होने से उसके सर्वथा अभाव की तरह जगत में भी सर्वथा अभाव मानने का दुर्निवार प्रसंग उपस्थित होता है। इसलिये व्यवहार का विलोप न हो और वस्तु का स्वरूप भी यथार्थ रूप से समझा जा सके इस ख्याल से प्रत्येक पदार्थ स्वरूप की अपेक्षा सत्त्वविशिष्ट एवं पररूप की अपेक्षा असत्त्व विशिष्ट माना गया हैं। इसी तरह स्वरूप और पररूप की कल्पना करने के और भी कई प्रकार हैं—जिनसे विवक्षित वस्तु मे सत्त्व एवं असत्त्व सध जाता है—यथा—रूप, रस, गंध और स्पर्श इनका समुदाय स्वरूप ही घट है। घट में जो नेत्र इन्द्रिय द्वारा ग्राह्यता है वह रूप की अपेक्षा से ही है रसादिक की अपेक्षा से नहीं। अतः रूप की अपेक्षा से चक्षुः ग्राह्यपना घट का निजरूप माना जायगा और रसनादि से अग्राह्यपना

१ गुजराती "सप्तभंगीप्रदीप" की सहायता से।

उसका पररूप। चक्षु से ग्राह्यपने की तरह जो रसना से अग्राह्यपने की अपेक्षा से भी उसका सत्व माना जाय तो घडे में सर्व इन्द्रियो से ग्राह्यता मानने का प्रसग प्राप्त होगा। उसी तरह रसना से अग्राह्यपने की तरह चक्षु से ग्राह्यपने की अपेक्षा भी यदि उसका असत्व माना जाय तो किसी भी इन्द्रिय से घडे में ग्राह्यता आ ही नहीं सकती। वस्तु का स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, एवं स्वभाव क्या है इसे भी दृष्टान्त द्वारा खुलासा किया जाता है—जब यह कहा जाता है कि "स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेणास्त्येव सर्वं कुम्भादि, न पुनः परद्रव्यक्षेत्रकालभावरूपेण" तो इसका मतलव यह है कि घड़ा जिस द्रव्य से निष्पन्न हुआ है वह उसका स्वद्रव्य है। यदि घड़ा मृत्तिका से निष्पन्न हुआ है तो वह मृत्तिका उस घडे की स्वद्रव्य है, यदि घड़ा सुवर्ण से बनाया गया है तो वह सुवर्ण उस अपने घडे का स्वद्रव्य है। इससे अवशिष्ट जितने और भी द्रव्य हैं वे सब उस घडे के पर द्रव्य हैं। घड़ा जितने आकाश प्रदेशो को व्याप्त कर रहा है—अथवा जितनी जगह में रक्खा हुआ है वह उसका स्वक्षेत्र है। बाकी इसके सिवाय जितना और अनधिष्ठित क्षेत्र है वह उसका परक्षेत्र है। जिस काल में घट की सत्ता है वह उसका स्वकाल है इससे भिन्न अन्य काल उसका परकाल है। घड़ा जिस रंग आदि भाव रूप में वर्त रहा है वह उसका स्वभाव है। अन्य रक्त आदि रंग उसके परभाव हैं। इस प्रकार घट स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव की अपेक्षा सत्त्व विशिष्ट ही है, पर द्रव्य, परक्षेत्र, पर काल और पर भाव की अपेक्षा वह असत्त्व विशिष्ट ही है। इसका निष्कषार्थ केवल इतना ही है कि यदि घटभिन्न पदार्थों का नास्तित्व घट मे न पाया जाय तो घट और अन्य पदार्थ मिलकर एक हो जावेंगे "तथा चेतररूपापत्या स्वरूपहानिप्रसंगः" इससे विवक्षित घट में इतर पटादिक-रूप की प्राप्ति से अपने निज स्वरूप की हानि होने का प्रसग प्राप्त होगा। परन्तु ऐसा तो है नहीं-प्रत्येक पदार्थ अपने २ निज स्वरूप से स्थितिमापन्न है, अत पर रूप का उनमें अभाव है ऐसा अवश्य २ मानना चाहिये। यदि इस प्रकार से घट की व्यवस्था-अस्तित्व नास्तित्व आदि विशिष्टता- न मानी जाय तो क्या आपत्ति आ सकती हैं-इसे खुलासा किया-जाता है—स्वद्रव्य की तरह घट का अस्तित्व यदि परद्रव्य की अपेक्षा से भी माना जाय तो घट में सर्वद्रव्यात्मकता

का प्रसंग प्राप्त होता है । इस प्रसंग में यह घड़ा मिट्टी का है पत्थर का नहीं इत्यादि रूप से जो उसमें अन्य द्रव्य के होने का निषेध रूप व्यवहार होता है इसका सर्वथा विलोप ही मानना पड़ेगा । घट जिस प्रकार पर द्रव्य—कांसा-तांबा आदि की अपेक्षा से नास्तित्व विशिष्ट जाहिर किया जाता है उसी तरह यदि उसे स्वद्रव्य की अपेक्षा से भी नास्तित्व विशिष्ट स्वीकृत किया जायगा तो घड़ा का कोई भी इष्ट निजद्रव्य वन नहीं सकता। स्वक्षेत्र की अपेक्षा की तरह यदि परक्षेत्र से भी घड़ा में अस्तित्व माना जाय तो घट में व्यापकता माननी पडेगी—इस व्यापकता के प्रसग में अन्य मूर्तिक वस्तुओ को लोक मे रहने के लिये स्थान ही नहीं प्राप्त होना चाहिये। सर्वत्र घट २ ही दृष्टिपथ होते रहना चाहिये। परक्षेत्र की अपेक्षा की तरह यदि स्वक्षेत्र से भी घट मे नास्तित्व माना जायगा तो घट की सत्ता कहीं भी उपलब्ध नही होना चाहिये ।

जिस कालमें घट रूप पर्याय की सत्ता विद्यमान है वह काल घटका काल है, बाकी का काल घटका काल नहीं, अतः इसकाल की अपेक्षा की तरह अन्यकाल से भी यदि घट की सत्ता मानने में आवे तो सर्वकाल मे भी घट की सत्ता मानना पडेगी, ऐसी हालत में घट का कभी विनाश ही नहीं हो सकेगा तथा च घट उत्पन्न हुआ घट नष्ट हुआ—घट उत्पन्न होगा घट नष्ट होगा इत्यादिक व्यवहार ही विनष्ट हो जायगा। अन्य काल की अपेक्षा की तरह यदि स्वकाल से भी घट में असत्त्व माना जाय तो ऐसी परिस्थिति में घट की सत्ता किसी भी काल में सिद्ध नहीं हो सकती। अपने वर्ण रूप भाव की तरह यदि पर वर्ण पर रूप पर भाव से भी घड़ा का सत्त्व माना जाय तो यह घड़ा लाल रंग का है यह घडा पीलारंग का है इत्यादि भिन्न२ व्यवहार जो होता है वह नही हो सकेगा। पर वर्ण पर रूप पर भाव की तरह यदि स्ववर्ण स्वरूप स्वभाव से भी घट में असत्त्व मान्य किया जायगा तो घट मे से पुद्गलपना ही नष्ट हुआ मानना पड़ेगा। कारण कि पुद्गल विना रूपादिक के होता नही है। और घड़ा रूप पुद्गल में पर वर्ण की तरह स्ववर्ण से भी असत्ता मानी जा रही है, ऐसी परिस्थिति मे उसका निज वर्ण कुछ भी नहीं होने से उसमें पुद्गलता कैसे आ सकेगी। अतः इस समस्त पूर्वोक्त कथन से यही मानना चाहिये कि घट स्वद्रव्यादिचतुष्टय की अपेक्षा से ही अस्तित्व विशिष्ट है पर द्रव्यादिक

चतुष्टय की अपेक्षा से नहीं। इस प्रकार एक ही घट में विवक्षा के वश से अस्तित्व एवं नास्तित्व सिद्ध हो जाते [1] हैं। इसी तरह सर्वत्र जीवादिक वस्तुओ मे वे सुघटित जानना चाहिये।

शंका—इस प्रकार स्वरूपादिक चतुष्टय को लेकर जो आपने पदार्थ में अस्तित्व एव नास्तित्व धर्म की व्यवस्था प्रदर्शित की है सो इस पर हमारी यह शका है कि इन व्यवस्थापक स्वरूपादिक चतुष्टय की व्यवस्था भी कैसे
आ० मी० १५५ होती है--क्या अन्य स्वरूपादिचतुष्टय से या विना इन के हो। यदि इनके व्यवस्थापक अन्य स्वरूपादि चतुष्टय मानें जावेंगे तो इस प्रकार की कल्पना सदोष है क्योंकि इसमें अनवस्था दोष आता है। यदि अनवस्था दोष के भय से ऐसा कहा जाय कि हम इनकी व्यवस्था विना अन्य स्वरूपादिक के ही मानते हैं-सो ऐसा कथन अपने पक्ष का ही घातक साबित होता है। कारण कि यहां पर भी यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक पदार्थ की व्यवस्था भी यथाप्रतीति अपने आप ही हो जायगी—इनकी व्यवस्था के लिये स्वगृह मान्य इस स्वरूपादिक चतुष्टय की प्रक्रिया से क्या मतलब ?

उत्तर—इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है। क्योकि वस्तु की अबाधित प्रतीति ही उसके स्वरूप की व्यवस्था में कारण होती है। कारण कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणाधीन मानी गई है। यह अबाधित प्रतीति स्वयं प्रमाणरूप है अत इसके आधीन ही पदार्थ की व्यवस्था रही हुई है। स्वरूप को माने विना पदार्थ की व्यवस्था हो ही नहीं सकती-जब यह नियम है तो फिर यह कहना कि स्वरूप को माने विना ही पदार्थ की व्यवस्था हो जायगी उचित नहीं है। क्योकि इस प्रकार की मान्यता में अनेक निरङ्कुश विप्रतिपत्तियो का निवारण करना बड़ा अशक्य जैसा

---

१ "कु भो द्रव्यत· पार्थिवत्वेनास्ति नाप्यादिरूपत्वेन। क्षेत्रतः पाटलिपुत्रकत्वेन न कान्यकुब्जादित्वेन। कालतः शैशिरत्वेन न वासन्तिकादित्वेन। भावत. श्यामत्वेन न रक्ता-दित्वेन।'

स्याद्वाद मजरी 'पृ० २७९

२ नन्वेव स्वरूपादीना स्वरूपाद्यन्तरस्याभावात्कथं व्यवस्था स्यात् भावे वा अनवस्थाप्रसगात्। सुदूरमपि गत्वा स्वरूपाद्यन्तराभावेऽपि कस्यचिल् व्यवस्थायां किमनया प्रक्रियया स्वगृहमान्यया यथाप्रतीतिवस्तुव्यवस्थोपपत्तेरिति कश्चित्सोऽपि वस्तुस्वरूपपरीक्षानभिमुखः।

अष्ट सह० १३१ पा०

हो जाता है। यह तो मानी हुई बात है कि जब तक वस्तु के स्वरूप की पूरी जानकारी हासिल नहीं हो जाती है तब तक उसमें पूर्णरूप से प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। घटार्थीपुरुष के लिये जब तक घड़े के पूर्ण रूप से स्वरूप का भान न हो तब तक उसकी प्रवृत्ति उसे लाने की ओर कभी होती ही नहीं है। अत: हर एक पदार्थ का स्वरूप हर एक प्रवृत्ति में कारणभूत है तभी जाकर उसमें क्रियार्थी पुरुष की प्रवृत्ति होती है अन्यथा प्रवृत्ति हो नहीं सकती ऐसा मानना चाहिये। यह जो अबाधित प्रतीति स्वरूप वस्तु का स्वरूप है वह अपनी वस्तु से जुदा नहीं है कि जिसकी प्रतीति के लिये स्वरूपान्तर की मान्यता की आवश्यकता पड़े। अतः स्वरूप की प्रतीति के लिये जो स्वरूपान्तर की कल्पना करने में अनवस्था दोष का आपादन किया गया है वह उचित नहीं है। इस अवस्था में वहां अनवस्था दोष आता ही नहीं है। यदि च-स्वरूप की प्रतिपत्ति के लिये स्वरूपान्तर की कल्पना की भी जाय तो भी इनकी अनंतता में अनवस्था दोष बीजाङ्कुर न्याय की तरह आ नहीं सकता है। स्वरूप का भी स्वरूप शास्त्रों में वर्णित हुआ है। जैसे-जीव का स्वरूप सामान्य रूप से उपयोगात्मक है, "उपयोगो लक्षणं" इस सूत्र के अनुसार। क्योंकि उपयोग ही जीव का लक्षण है, अतः उपयोग जीव का स्वरूप हुआ और इससे भिन्न-जुदा अनुपयोग उसका पर स्वरूप हुआ। इन स्वरूप और पर स्वरूपों को लेकर जीव में सत्त्व और असत्त्व प्रतीत होते हैं।

ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग के भेद से यह उपयोग दो प्रकार का है। जिसमें वस्तु का विशेष रूप से भान होता है वह ज्ञानोपयोग एवं वस्तु का सामान्य रूप से ज्ञान होना दर्शनोपयोग है। इस तरह स्वपर व्यवसायात्मक बोध का होना यह ज्ञानोपयोग का स्वरूप है और पदार्थ का अनाकार रूप से ग्रहण करना यह दर्शनोपयोग का स्वरूप है। ज्ञानोपयोग एवं दर्शनोपयोग भी क्रमश: प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का तथा चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधि दर्शन एवं केवलदर्शन के भेद से ४ प्रकार का है। अवैशद्य प्रतिभास परोक्ष का और वैशद्य प्रतिभास प्रत्यक्ष का स्वरूप है। चक्षु-द्वारा वस्तु का सामान्य ज्ञान होना चक्षुदर्शन, चक्षुसिवाय अन्य इन्द्रियों एवं मन से पदार्थ का सामान्य ज्ञान होना अचक्षु दर्शन है। अवधिदर्शनावरण कर्म के क्षयोपशम से रूपी पदार्थ का मर्यादा लेकर सामान्य ज्ञान होना सो अवधिदर्शन का

एवं सकल द्रव्य और पर्याय का सामान्य रूप से युगपत् साक्षात्कार होना सो केवल दर्शन का स्वरूप है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान ये दो ज्ञान परोक्ष हैं। पांच इन्द्रिय और मन की सहायता से जो स्वपर व्यवसायत्मक ज्ञान होता है उसका नाम मतिज्ञान है। सिर्फ अनिन्द्रिय के निमित्त से जो स्वपर प्रकाशक ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। विकल प्रत्यक्ष और सकल प्रत्यक्ष के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान के भेद से विकल प्रत्यक्ष दो प्रकार का है। केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। ज्ञान में सकलता और विकलता का मतलब यह है कि अवधिज्ञान और मन पर्यय ज्ञान द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा लेकर बिना इन्द्रिय और मन की सहायता से रूपी पदार्थो को स्पष्टरूप से जानते है। सकल प्रत्यक्ष समस्त द्रव्यों एवं उनकी त्रिकालवर्ती समस्त पर्याय को विना किसी मर्यादा के इन्द्रिय और मन की सहायता से रहित होकर युगपत् हस्तामलकवत् जानता है। सामान्य उपयोग का नाम दर्शन और विशेष उपयोग का नाम ज्ञान है। दर्शन मे और ज्ञान में तफावत यही १ है कि दर्शन वस्तु का नाम जात्यादिक कल्पना से रहित होकर जानता है। ज्ञान उसे नाम जात्यादिक कल्पना विशिष्ट गृहीत करता है।

इस प्रकार यहां पर जिन जिन का जो जो लक्षण वतलाया गया है वही उनका स्वरूप है। इसके विपरीत पररूप समझना चाहिये। अतः पहिले जो यह शका उपस्थित की गई थी कि स्वरूप का भी स्वरुपान्तर मानने मे अनवस्था दोष का भाजन बनना पडेगा सो यह कथन इस कथन से निराकृत हो जाता है। कारण कि " यत्राप्रतिपत्तिस्तत्र व्यवस्थोपपत्ते " जहा पर जिस स्वरुप की अप्रतिपत्ति होगी वहां पर उस स्वरुप की व्यवस्था बन जायगी। जैसे जीव का स्वरुप उपयोगात्मक है। उपयोग का स्वरूप ज्ञान, दर्शनात्मक है। इत्यादि रूप से जहां तक स्वरूपान्तर की प्रतिपत्ति होती जायगी वहा तक उसका प्रतिपादन होता चला जायगा—आगे जब स्वरूपान्तर की कोटिकल्पना खत्म (समाप्त)

---

१ ज सामण्ण गहण भावाण णेव कट्टुमायार।
अविसेस दूण अट्ठे, दसणमिदि भण्णए समये।. द्रव्यसग्रह

हो जायगी–तब वहां व्यवस्था सिद्ध हो जायगी–इसमें अनवस्था¹ की कौनसी बात है। हां अनवस्था दोष की आपत्ति तो तब लागू हो सकती है कि जब उपयोग आदि की सिद्धि ज्ञान दर्शन आदि के आधीन होती। यहां आधीनता नहीं है। वस्तु का विवेचन है। जहां तक स्वरूप के स्वरूप का कथन होते चला जायगा वहां तक उसका प्रतिपादन होते चला जायगा। जब अन्तः सार स्पष्ट हो जायगा–तब वस्तु स्वरूप का यथार्थ रहस्य हाथ में आजाने से स्वरूपान्तर की कोटि कल्पना बंद हो जायगी–क्योंकि कोटि कल्पना में आकांक्षा काम करती है। जब वस्तु का यथार्थ रहस्य स्पष्ट हो जायगा–तब आगे आकांक्षा के लिये स्थान ही नहीं रहता है। फिर अनवस्था दोष की आपत्ति कैसी। अनवस्था दोष में तो छानते २ भी रहस्य हाथ में नहीं आता। इस प्रकार स्वरूप में स्वरूप एवं पररूप से सदसदात्मकता की सिद्धि शास्त्रकारों के सिद्धान्त से सिद्ध हुई है। और भी इसी तरह से विशेष रूप से उत्तरोत्तर स्वरूप एवं पररूप की विचारणा बुद्धिमान् पुरुषों को कर लेना चाहिये। क्योंकि इनमें अनन्तता प्रकट करने में आई है।

शंका—जब आप स्वरूप में भी स्वरूप एवं पररूप को लेकर कथंचित् सदसदात्मकता कबूल कर रहे हैं तो हम पूछते हैं कि प्रमेय रूप स्वरूप में सदसदात्मकता कैसे घटित हो सकेगी? कारण कि दुनियां में जितने भी पदार्थ हैं वे सब प्रमेय के ही अन्तर्गत हो जाते हैं तब ऐसी हालत में प्रमेय में पररूपता का अभाव होने से असदात्मकता कैसे आसकती है।

उत्तर—प्रमेय में भी सदसदात्मकता घटित होती है–और वह इस प्रकार से–प्रमाण का विषय होनारूप स्वरूप प्रमेय का है। इस अपेक्षा से प्रमेय में सदात्मकता एवं घटत्वरूप पररूप से प्रमेय में असदात्मकता स्पष्टरूप से घटित हो जाती है यह माना कि दुनिया के जितने पदार्थ हैं वे सब प्रमेय हैं परन्तु इन पदार्थों को लेकर कोई ही "इदं प्रमेयं" ऐसा व्यवहार होता है। इस व्यवहार का कारण तो प्रमाण का विषय होना रूप प्रमेयत्व है। यह प्रमेयत्व व्या-

१ अप्रामाणिकपदार्थपरंपरापरिकल्पनाविश्रान्त्यभावश्चानवस्था।

पक धर्म है। घटत्व ये व्याप्य धर्म है। जहां घटत्व होगा वहा माना नियम से प्रमेयत्व रूप धर्म होगा-परन्तु जहां प्रमेयत्व होगा वहा घटत्व हो भी और न भी हो-यह नियम नही कि वहा घटत्व होगा ही-अतः यह मानना चाहिये कि प्रमेय का प्रमेयत्व यह स्वरूप है और घटत्व आदि पररूप हैं इस अपेक्षा से वहां सदसदात्मकता घटित होने में कोई भी बाधा नहीं है।

अथवा—प्रमाण का विषय होना रूप प्रमेय का स्वरूप है और अप्रमेय यह प्रमेय का पररूप है। अप्रमेय शशशृग १ एव वध्यापुत्रादिक हैं ही इस अपेक्षा से भी प्रमेय में कथंचित् सदसदात्मकता सिद्ध होती है। साधक प्रमाणो का अभाव होने से ही शशशृगादिको में अप्रमेयता स्थापित करने में आई २ है। जीवादिक पद्द्रव्यो का स्वरूप एवं पररूपपना क्या है यह स्पष्ट किया जाता है। इसे स्पष्ट करने की आवश्यकता इसलिये है कि कोई इस प्रकार की आशंका कर सकता है कि जव ६ द्रव्यों से अतिरिक्त और कोई दूसरा द्रव्य है ही नही तो जीवादिक द्रव्यो में स्वपर रूपता कैसे सिद्ध हो सकती है।

जीवादिक षट्द्रव्यों मे जैन दार्शनिको ने शुद्ध और व्यवहार के भेद से द्विप्रकारता प्रतिपादित की है। अत. शुद्ध सद्द्रव्य की अपेक्षा से जीवादिक षट्द्रव्यों मे स्वरूप की एव इसके प्रतिपक्षी भूत असद्द्रव्य व्यवहार-की अपेक्षासे वहां पररूप की मान्यता स्वीकृत करने मे आई है। व्यवहार का दूसरा नाम अशुद्ध द्रव्य-असद्द्रव्य भी है। इस अपेक्षा से स्वद्रव्य एव परद्रव्य को लेकर जीवादिक पद्द्रव्यों मे स्वपररूपता घटित हो जाती है और इसको लेकर वहां अस्तित्व नास्तित्व धर्मों की भी व्यवस्था बन जाती है। यदि इस पर कोई " यह आशंका करे कि शुद्ध द्रव्य तो महासत्ता स्वरूप पडता है इसमे सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव रूपता आ जाती है तव भला इसमें स्वपररूपता की व्यवस्था कैसे हो सकती है। इनके अतिरिक्त और कोई द्रव्य तो है नही कि जिसको लेकर पररूपता मानी जा सके। " सो ऐसा कहना

१—एष वध्यासुतो याति, खपुष्पकृतशेखर'।
मृगतृष्णाभसिस्नात्वा, शशशृगधनुर्धर ॥
२—**गुजराती सप्तभंगी प्रदीप से।**

एकान्ततः उचित नहीं है क्योंकि महासत्ता रूप शुद्ध द्रव्य में भी सकल द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से सत्त्व और अवान्तर सत्ता के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से असत्त्व मानने में आया १ है। कहने का तात्पर्य यह है कि सत्ता के दो भेद शास्त्रकारों ने किये हैं-एक महासत्ता और दूसरी अवान्तर सत्ता-समस्त पदार्थों में जो एकत्व का बोध करानेवाली शक्ति है उसका नाम महासत्ता है। इसी को समस्त पदार्थ सार्थ व्यापिनी कहा है। इससे भिन्न प्रत्येक पदार्थ की जो अपनी अपनी सत्ता है वह अवान्तर सत्ता है। इसे ही प्रत्येक पदार्थसार्थव्यापिनी कहा है, महासत्ता की प्रतिपक्ष भूत अवान्तर सत्ता है। इसकी अपेक्षा से ही महासत्ता में पररूपता घटित होती है। इस प्रकार स्वरूप और पररूप के सद्भाव होने से इनकी अपेक्षा लेकर महासत्ता में भी अस्तित्व नास्तित्व धर्मों की सिद्धि होती है। इसी प्रकार सकल क्षेत्र, आकाश एवं अनादि अनत स्वरूप काल मे भी प्रतिनियत क्षेत्र कालादिक की अपेक्षा स्वपररूपता घटित कर लेनी चाहिये।

कारिका में जो "स्वरूपादिचतुष्टयात्" यह पद आया है सो इसमें ल्यप् के लोप में पंचमी विभक्ति हुई है। इसका अर्थ "स्वरूपादिचार को आश्रय करके" ऐसा होता है। अर्थात् स्वरूपादिक चतुष्टय की अपेक्षा करके समस्त जीवादिक वस्तुएं सत् ही हैं ऐसा कौन नहीं मानेगा-अपितु सब ही मानेंगे। इसी प्रकार "विपर्यासात्" यहां पर भी समझ लेना चाहिये।

शका—वस्तु को अस्तित्व एव नास्तित्व धर्म विशिष्ट मानना तभी उचित हो सकता है कि जब इन दोनो धर्मों की सिद्धि उसमें स्वतन्त्र रूप से हो। परन्तु ऐसा तो है नहीं, कारण कि वस्तु का अस्तित्व ही पर के असत्त्वस्वरूप है-अर्थात् अपना अस्तित्व ही अपने मे पर का नास्तित्व है। अतः स्वपररूपता को लेकर जो आप उसमें अस्तित्व नास्तित्व

१—सत्ता सव्वपयत्था, सविस्सरूवा अणतपज्जाया।
उप्पादवयधुवत्था, सप्पडिवक्खा हवदि एक्का॥ —प्रवचनसार
किञ्चैवंभूताऽपि च, सत्ता न स्यान्निरकुशा किन्तु। सप्रतिपक्षा भवति हि, स्वप्रतिपक्षेण नेतरेणेह॥ पञ्चाध्यायी श्लो० १५।

में भेद मानकर उनकी सिद्धि करना चाहते है सो इस प्रकार के कहने से वह कैसे सिद्ध हो सकती है ? जब इन दोनों भंगों की स्वतन्त्र रूप से सत्ता सावित नहीं हो सकती है तो फिर आगे के ओर जो इनके क्रमिक एव युगपत् संयोग से भंग बने हैं वे कैसे घटित हो सकते हैं ? इनकी अघटता में सप्तभंगी भी कैसे बन सकती है ?

उत्तर--इस प्रकार की स्वकपोलकल्पना से सप्तभंगी का अभाव नहीं हो सकता है। कारण कि स्व एव
आ० पर के चतुष्टय की अपेक्षा से अस्तित्व एव नास्तित्व के स्वरुप में भेद माना गया है। ऐसा नहीं है कि स्व का सत्त्व
मी० ही पर का असत्त्व है। यदि यही मान्यता अंगीकार करी जाय तो सत्त्व और असत्त्व में कोई भी मौलिक भेद नहीं
१६१ हो सकता है। वस्तु मे स्व की अपेक्षा से ही सत्त्व माना गया है एवं पररूप की अपेक्षा से ही असत्त्व माना गया है। वस्तु में सत्त्व और असत्त्व अपेक्षा १ भेद से ही प्रतिपादित किये गये हैं-अतः एक वस्तु में इनका भेद मानना अनौचित्य पूर्ण नहीं है। यदि सत्त्व और असत्त्व मे भेद न हो तो जिस प्रकार स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से वस्तु में सत्त्व माना जाता है उसी प्रकार पररूपादिक चतुष्टय की अपेक्षा से भी उसमें सत्त्व मानने का प्रसग प्राप्त होगा। तथा जिस प्रकार पररूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से भी उसमें वस्तु मे असत्त्व माना जाता है, उसी प्रकार स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से भी उसमें असत्त्व मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। परन्तु ऐसी मान्यता किसी भी वादी प्रतिवादी को इष्ट नही है। अतः अपेक्षा के भेद से धर्मों में भेद की प्रतीति बाधित नहीं होती है। देखो--बदर की अपेक्षा से बिल्व में स्थूलता एवं मातुलिङ्ग-बिजौरे-की अपेक्षा बिल्व में सूक्ष्मता यह प्रतीति प्रसिद्ध ही है। यदि आपेक्षिक धर्म को अवास्तविक माना जाय तो नील एवं नीलतरादि सुख एव सुखतरादि ये सब बातें अवास्तविक ही माननी पडेंगी। तथा प्रत्यक्ष में भी जो विशद विशदतरादि धर्म की प्रतीति होती है वह भी अवास्तविक ही होगी। परन्तु ऐसा नहीं है- यह सब

१ उपाधिभेदोपहित विरुद्धं, नार्थेष्वसत्त्वं सदवाच्यते च ।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता, जडास्तदेकांतहताः पतंति ।।

प्रतीति वास्तविक ही है । अतः १ जितने भी पदार्थ हैं वे सब कथंचित् सद्सदात्मक हैं । घटादि की तरह पटादिकों द्वारा न तो क्षीरादिकों के आनयन की क्रिया ही होती है और न वे घट ज्ञान के उत्पादक ही होते हैं, अत घट मे पट का अभाव मानना ही पड़ता है । प्रतिवादियों ने भी अपने इष्ट तत्त्व को जो सत्त्वस्वरूप माना गया है वह स्वरूप की अपेक्षा से ही माना है पररूप की अपेक्षा से नही, अतः इस विषय में किसो को विवाद होने जैसी बात हो नहीं है ।

शंका--विवाद होने जैसो बात क्यो नहीं है, अवश्य है । एक ही वस्तु मे सत्त्व और असत्त्व मानना यह युक्ति से विरूद्ध है । कारण कि सत्त्व और असत्त्व ये दोनो परस्पर विरूद्ध धर्म है इनमे एकाधिकरणता बन ही नहीं सकती हैं । शीत और उष्ण स्पर्श की तरह इन दोनों धर्मों में भिन्नाधिकरणता की प्रतीति होती है ।

उत्तर--यह बात स्वसत्त्व ही परासत्त्व है इसके उत्तर मे प्रकट की जा चुकी है । उसमे यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्त्व एव नास्तितत्व मे शीत और उष्ण स्पर्श की तरह विरोध नहीं है ! वस्तु में ये दोनों धर्म किसी अपेक्षा से ही अर्पित किये गये हैं ! ऐसा नहीं है कि जिस अपेक्षा से अस्तित्व वहां अर्पित हुआ है उसी अपेक्षा से नास्तित्त्व अर्पित हुआ है । अत इसमें कोई विरोध नहीं है । मतलब कहने का यह है कि स्याद्वाद सिद्धान्त मे एक वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व का कथन अपेक्षाविशेष को लेकर किया गया है । इसलिये शीत और उष्ण स्पर्श की तरह अस्तित्व और नास्तित्व मे विरोध नहीं आ सकता है और न विरोध कहा ही जा सकता है । प्रत्येक पदार्थ मे स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा अस्तित्व एवं परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एव परभाव की अपेक्षा नास्तित्व माना गया है । अतः दोनों को एक ही जगह कथंचित् भिन्न २ रूप से मानने में कोई विरोध नहीं आता २ है । विरोध अनेक प्रकार का है--जिस प्रकार शीत और उष्ण एक दूसरे के विरोधी होने से एक साथ नही रहते हैं अत उनमें

---

१ स्यात्मदसदात्मकाः पदार्थाः सवस्य सर्वाकरणात्, नहि पटादयो घटादिवत् क्षीराद्याहरणलक्षणामर्थक्रियां कुर्वन्ति घटादिज्ञानं वा । तदुभयात्मनि दृष्टान्तः सुलभः ।

अष्टशती ।

२ कथंचिदर्पितयोर्विरुद्धत्वासिद्धेः

अष्टशाहस्री० ।

सहानवस्था लक्षण विरोध माना जाता है उस प्रकार से अस्तित्व और नास्तित्व में परस्पर में इस प्रकार का विरोध नहीं है। ये दोनो एक साथ वस्तु मे अविष्वग्भाव से -अभेदभाव से-रहते हैं। घट आदि वस्तुओं में सत्त्व असत्त्व को हटाकर नहीं रहता १ है। यदि सत्त्व असत्त्व को हटाकर रहे तो पट को अपेक्षा भी घट को घट मानने का प्रसंग प्राप्त होगा-इस प्रसंग मे घट के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की स्थिति मानना बिल्कुल ही निरर्थक होगी कारण कि एक घट को ही तीनों लोकों के समस्त पदार्थ स्वरूप मानकर उसी से सम्पूर्ण प्रयोजन सिद्ध हो जाया करेंगे। इसी तरह असत्त्व भी सत्त्व को छोड़कर नहीं रहता है। यदि सत्त्व को छोड़कर असत्त्व का रहना कबूल किया जाय तो वस्तु में स्वरूप से भी सत्त्व का अभाव मानना पडेगा। तथा च-वस्तु में निरुपाख्यता आने से सर्वशून्यता का प्रसग दुर्निवार हो जावेगा। मतलब यह है कि जब वस्तु मे असत्त्व का सद्भाव सत्त्व धर्म के विना माना जायगा—तो वस्तु में केवल एक असत्त्व ही रहेगा-इस परिस्थिति में वस्तु के निज स्वरूप सत्त्व का भी अभाव हो जाने से उसमें सर्वशून्यता ही मानना पड़ेगी। अतः इस कथन से यह साबित हो जाता हैं कि वस्तु में सत्त्व को छोड़कर असत्त्व और असत्त्व को छोड़कर सत्त्व कथमपि नहीं रहते है। ये दोनो धर्म किसी विवक्षा वश ही एक वस्तु में एक ही साथ रहते हैं अत इनमें शीत उष्ण क तरह सहानवस्था लक्षण विरोध नहीं माना जा सकता है। सहानवस्थालक्षणविरोध तो तब ही माना जा सकता कि जब वस्तु में अस्तित्व एव नास्तित्व अपेक्षाकृत न होकर एकोपाधिक होते। परन्तु ऐसा तो है नहीं-स्वरूप से सत्त्व एव पररूप से वहां असत्त्व १ है। दूसरे-विरोध अनुपलम्भसाध्य२ हुआ करता है। ऐसा तो है नहीं कि जिस समय वस्तु में

---

१ न हि घटादौ सत्त्वमसत्त्व परिहृत्य वर्तते पररूपेणापि सत्त्वप्रसंगात् तथा च तद्व्यतिरिक्तार्थान्तराणां नैरर्थक्य तेनैव त्रिभुवनार्थसाध्यक्रियाणां सिद्धे । न चासत्त्वं सत्त्व परिहृत्य वर्तते स्वरूपेणाप्यसत्त्वप्रसक्ते. तथा च निरुपाख्यात् सर्वशून्यता -स्याद्वाद-म जः

१ न च स्वरूपादिना वस्तुनि सत्त्वोपलंभे पररूपादिना असत्त्वस्यानुपलभोऽस्ति इति। तत्र उपलभ्यमानयोरपि अनयोः विरोधाऽभ्युपगमे स्वस्वभावेनापि वस्तुनोविरोधानुषगात् नि स्वभावतापत्ति. स्यात्। यदि चैकत्र विधिप्रतिषेधात्मकत्व विरुध्यते तदा कथं अनुवृत्त-व्यावृत्तप्रत्ययहेतुशक्तिद्वयात्मकत्व सामान्यविशेषस्य स्यात् । एकाऽनेकस्वभावात्मकत्व मेचकस्य वा ? कथ च एकस्य नरसिंहत्व उमेश्वरत्वं वा स्यात् । जात्यन्तरत्वान्न दोषः इति अन्यत्रापि समान-न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ३६९।

२ विरोध. सर्वत्र अनुपलभसाध्यो भवति। 'विरोधोऽनुपलभो हि यतो जैनमते मतः ॥ न्या.कु. च ३६९।

स्वरूपादिक की अपेक्षा से सत्त्व की उपलब्धि होती है उस समय पररूपादिक की अपेक्षा से उसमें असत्त्व की उपलब्धि न होती हो। शीत १ और उष्ण में परस्पर विरोध इस लिये मालूम होता है कि वे अपने २ अविकल कारणों के होने पर भी एक दूसरे की मौजूदगी में उपलब्ध नहीं होते हैं। परन्तु ऐसी कोई बात सत्त्व और असत्त्व में नहीं है कि जिससे उन दोनों में परस्पर विरोध ज्ञात हो सके। कारण कि सत्त्व के सन्निधान में असत्त्व का एवं असत्त्व के सन्निधान में सत्त्व का अभाव अनुभवित नहीं होता है। अत महानवस्थालक्षणविरोध इसमें नहीं माना जा सकता। परस्परपरिहारस्थितिस्वभावरूप विरोध तो इन दोनों की एकत्र संभवता में ही हो सकता है असंभवता अथवा संभव असंभवता में नहीं। जिस प्रकार आम्र में रूप और रस एक साथ परस्पर परिहार कर रहते हैं। ऐसा नहीं है कि रस रूपात्मक हो जाय रूप रसात्मक हो जाय, अतः इन दोनो की एक आम में परस्पर परिहार करके ही जैसे स्थिति स्वभावता है उसी प्रकार इन दोनों धर्मों की भी एक ही पदार्थ में परस्पर परिहार करके स्थितिस्वभावता है इसमें विरोध की कौन सी बात है। परस्पर परिहार करके स्थितिस्वभावता में एकाधिकरणता मातुलिंग में रूपादिक की तरह इन दोनों में विरुद्ध नहीं होती है। परस्पर परिहार करके स्थितिस्वभावता को आप भले ही विरोध तरीके मानों-पर हम लोग तो इसमें कोई दोष १ नहीं मानते हैं। कारण कि परस्परपरिहारस्थितिस्वभावता धर्म और धर्मो में होने पर भी वहां कोई विरोध नहीं माना गया है। अन्यथा धर्मी में धर्मों की प्रतीति ही नही हो सकती है। परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि उनकी उसमें निर्बाधरूप से प्रतीति होती है। वध्यघातक विरोध तो नकुल और सर्प की तरह कमजोर और बलिष्ठो में हुआ करता है। सत्त्व और असत्त्व समान बलवाले हैं -अतः इनमें यह विरोध भी नहीं। इस प्रकार जब सत्त्व एवं

---

१ विरोधः अविकलकारणस्य एकस्य भवतः द्वितीयसन्निधानेऽभवात् अवसीयते शीताग्निवत्।

न्यायकुमुद ३७० प्रमेयकम० मा १५८

१"अस्मिन् विरोधे सति दोषो नास्तीत्यर्थः"

प्रमेयकमल टिप्पणी पृ० १५८।

असत्त्व में किसी भी प्रकार के बिरोध की गंध तक भी नही आ सकती है-तब सप्तभंगीवाद में वैयधिकरण, अनवस्था, संकर, व्यतिकर, संशय, अप्रतिपत्ति एव विषयव्यवस्थाहानि आदि दोषों का उद्भावन करना कथमपि युक्तिसह्य नहीं हो सकता है। अतः स्वरूपादि चतुष्टय की अपेक्षा से प्रत्येक वस्तु सदात्मक एवं पररूपादिचतुष्टय की अपेक्षा से असदात्मक हैं। ऐसा मानना चाहिये।---

क्रमार्पितद्वया द्द्वैतं, सहावाच्यमशक्तितः।
अवक्तव्योत्तराः शेषास्त्रयो भंगाःस्वहेतुतः ॥ १६ ॥

अन्वय — क्रमार्पितद्वयात् (कथंचित्) द्वैत (एव) । सह (वक्तुं) अशक्तितः-अवाच्य (एव) अवक्तव्योत्तराः शेषा त्रयः भंगाः स्वहेतुतः (निर्देष्टव्याः) ।

अर्थ — क्रम से अर्पित दोनों धर्मों की विवक्षा से वस्तु कथचित् द्वैत-उभय स्वरूप ही है। एक साथ दोनों धर्मों को कहने की शक्ति न होने से वस्तु कथंचित् अवाच्य ही है। इसी प्रकार अवक्तव्योत्तर वाले शेष भंग अपनी २ विवक्षा के अनुसार निर्दिष्ट कर लेना चाहिये ।

भावार्थ---कारिकाकार इस कारिका द्वारा तृतीय चतुर्थ आदि भगों की उत्पत्ति का क्रम निर्दिष्ट कर रहे हैं। इसमें प्रथम और द्वितीय भंग को जिनका प्रतिपादन १५ वीं कारिका में स्पष्ट रूप से किया जा चुका है क्रम से अर्पित करने पर " कथचित् अस्ति नास्ति " यह तृतीय भंग बन जाता हे। यद्यपि प्रथमभग और द्वितीय भंग स्व और पर के चतुष्टय की अपेक्षा से एक २ धर्म की विवक्षा मे क्रमिक है, परन्तु वे सामूहिक नही हैं। यहां ये दोनो क्रमश. स्व पर चतुष्टय की अपेक्षा से प्रधानतया विवक्षित होते हुए सामूहिक है। "स्यादस्ति वस्तु" इस प्रकार के कथन में द्रव्यार्थिक नय की प्रधानता से एक अस्तित्त्व धर्म की ही विवक्षा है। "स्यान्नास्ति" इस प्रकार के कथनमें पर्यायार्थिक नय की प्रधानरूप से विवक्षा है। अतः वहा नास्तित्व धर्म की प्रधानता है, "स्यादस्ति नास्ति" इस प्रकार के तृतीय भंग में द्रव्यार्थिक

एव पर्यायार्थिक दोनों नयो की क्रमिक सामूहिक रूप से प्रधानता है। इस भग में वस्तु जात्यन्तररूप से प्रतिपन्न होती है। न उसे एकदम अस्ति रूप ही कह सकते हैं और न नास्ति-रूप ही। किन्तु ठंडाई की तरह वह एक जात्यन्तर स्वरूप में हो जाती है। इस विषय को १४ वीं कारिका के भावार्थ में स्पष्ट किया जा चुका है।

जिस समय वस्तु में सत् और असत् ये दोनो धर्म युगपत् विवक्षित होते हैं उस समय इन दोनों धर्मों को युगपत् कहने वाले शब्द का अभाव होने से वह वस्तु किसी अपेक्षा वश अवक्तव्यकोटि में आ जाती है। कारण कि स्वाभाविक योग्यता के वश वृद्धव्यवहार के द्वारा सकेतग्रहण पूर्वक बोला गया शब्द एक समय मे एक ही अर्थ का वाचक १ होता है। कोई भी दुनियां में ऐसी शक्ति नही है जो शब्द के इस स्वभाव में परिवर्तन कर सके। "सत्" शब्द के उच्चारण करने पर उसके वाच्य सदर्थ का ही बोध होगा असदर्थ का नहीं- "असत्" शब्द के उच्चारण करने पर असदर्थ का ही बोध होगा सदर्थ का नहीं। यदि एक पद में युगपत् अनेकार्थ प्रतिपादकता मानी जाय तो " तदन्यतरपदप्रयोगसशयात् " सत् और असत् इन पदो में से किसी एक पद के प्रयोग करने पर सशय का होना स्वाभाविक हो जायगा। कारण कि श्रोता जब सत् या असत् पद का श्रवण करेगा तब उसे यह कैसे निश्चय हो सकेगा कि इस शब्द का अमुक ही अर्थ है। क्योकि सत् और असत् इन दोनो पदो मे उभयार्थ प्रतिपादकता आपके मन्तव्यानुसार जो रही हुई है। परन्तु सद् या असत् शब्द के श्रवण करने पर श्रोता को उनके वाच्य अर्थ मे संशय तो होता नही है। अत यह मानना चाहिये कि शब्द मे एक ही अर्थ को प्रतिपादन करने की शक्ति स्वभावतः है।

शंका—एक पद मे युगपत् अनेक अर्थों को प्रतिपादन करने की योग्यता नहीं है यह आपका कथन यदि सत्य माना जाय तो दिशा आदि अनेक अर्थों को एक ही साथ प्रतिपादन करनेवाले गो आदि पदो का उच्छेद ही होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

१—निष्पर्याय भावाभावावभिधान नाञ्जसैव विषयीकरोति शब्दशक्तिस्वाभाव्यात्। अष्टशती

उत्तर—ऐसी बात नहीं है। कारण कि दिशा आदि अनेक अर्थों को प्रतिपादन करनेवाला अकेला एक ही गो शब्द नहीं है किन्तु अनेक गो शब्द है। गाय अर्थ को प्रतिपादन करनेबाला गो शब्द और दिशा, आत्मा आदि को प्रतिपादन करने वाले गो शब्द वास्तविक रीति से भिन्न २ ही है। इनमे जो एकत्व का प्रतिभास या एक रूप से व्यवहार होता है वह सादृश्य के उपचार से ही होता है। यदि ऐसा न माना जाय तो समस्त पदार्थों में एक शब्दवाच्यता का प्रसंग प्राप्त होगा। तथा च-प्रत्येक पदार्थों को स्वतंत्र रूप से प्रतिपादन करने के लिये प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्दो का प्रयोग विफल ही मानना पडेगा। समभिरूढनय की अपेक्षा से जितने अर्थ है उनके प्रतिपादन करनेवाले उतने ही शब्द है तथा जितने शब्द है उतने ही उनके अर्थ हैं। अतः जिस प्रकार शब्द के भेद से निश्चित अर्थ का भेद होता है उसी प्रकार अर्थ के भेद से भी शब्द का भेद सिद्ध माना गया है। जो ऐसा न हो तो वाच्य वाचक सम्बन्ध का ही अभाव हो जायगा।

शंका—जिस प्रकार एक शब्द एक साथ अनेकार्थ को प्रतिपादन नहीं करता है उसी प्रकार यह भी मानना चाहिये कि एक पद भी युगपत् अनेक अर्थ को प्रतिपादित नहीं कर सकता है। जब यह बात है तो फिर तीसरा भंग कैसे घटित होगा। क्योकि तृतीय भंग एक पदरूप है इसमें सत् और असत् इन दोनो धर्मो का युगपत् रूप से प्रतिपादन हुआ है अत इस अपेक्षा से इसमें युगपत् अनेकार्थ विषयता आ जाती है।

उत्तर—शका को ठीक है परन्तु जब इसका विचार किया जाता है तब समाधान भी हो जाता है। "स्यात् सदसदेवसर्वं स्वपररूपादिचतुष्टयाभ्याम्" यह जो सप्तभंगी का तृतीय भंग है कि जिसमें क्रमशः सामूहिक रुप से सत् और असत् धर्म स्वचातुष्टय एवं पर चतुष्टय की अपेक्षा से अर्पित हुए है वह सत् और असत् इन दो धर्मों को एक साथ प्रतिपादित नही करता है। " यह एक साथ इन दोनो धर्मो को कहता है " यह तो सिर्फ उसमें उपचार से ही कहा गया समझना चाहिये। काल की अपेक्षा प्रत्यासत्ति इस एकत्व के उपचार का निमित्त है। अत तृतीय भग भी अपने अर्थ का क्रमश ही प्रतिपादन करता है। युगपत् नही।

शंका—तृतीयभंग में जो "सदसद्" शब्द आये हैं उनमें द्वन्द समास है, द्वन्द समास में उभय पदार्थ की प्रधानता होती है। अत ऐसा कहना कि तृतीय भंग क्रमशः अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है ठीक नहीं मालूम देता। कारण कि उभय पदार्थ की प्रधानता में यह अपने अर्थ का युगपत प्रतिपादक हो जाता है।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि उभय पदार्थ की प्रधानता होने पर भी उनका प्रतिपादन तो शब्दो द्वारा क्रमशः ही होता है। प्रथम भग में मुख्यतया सत्त्व विवक्षित है। द्वितीय भंग में प्रधानतया असत्त्व विवक्षित है। इस तृतीय भंग मे क्रमश. सत्त्व और असत्त्व ये दोनों ही धर्म मुख्यतया विवक्षित हुए हैं। अत. सत्त्व अपने अर्थ का एवं असत्त्व अपने अर्थ का क्रमशः प्रधानरूप से प्रतिपादन करता है। इससे यह अभिप्राय कैसे निकल सकता है कि द्वन्द्व समास में एक साथ ही अनेक अर्थो का प्रतिपादन होता है। यदि ऐसी ही बात होती तो " अभ्यर्हितं पूर्वं " इस सूत्र के निर्माण की क्या जरूरत थी। इसलिये द्वन्द्व समास को दृष्टान्त कोटि में रखकर जो एक शब्द में अनेकार्थ प्रतिपादकता प्रकट करना चाहते हैं सो उनका ऐसा कहना उचित नहीं है, दूसरे " एकतिङ्वाक्यं " इस नियम के अनुसार एकक्रिया प्रधान होने से वाक्य एक ही अर्थ को विपय करने में प्रसिद्ध है। अनेकार्थ को नही। इसलिये यह तृतीय भंगरूप वाक्य सत् असत् इन दो धर्मों को प्रधानतया युगपत् प्रकाशित न कर क्रमशः प्रकाशित करता है ऐसा मानना चाहिये। अतः शब्द स्वभावत एक ही अर्थ को निवेदन करने की शक्ति वाला है वह सिद्ध १ होता है। " सत् " इस शब्द को सत्त्व मात्र के कहने में ही सामर्थ्य विशेप है असत्त्वादिक अनेकधर्मों के कहने में नहीं, अनेकान्त वाचक " स्यात् " इस शब्द की अनेकान्त मात्र के कथन में शक्ति है एकान्त के कहने मे नही, अनेकान्त द्योतक स्यात् शब्द की अविवक्षित समस्त धर्मों के सूचन करने में शक्ति है। विवक्षित धर्म के सूचन करने में नहीं, अन्यथा वाक्य में तद्वाचक शब्द का प्रयोग व्यर्थ पड़ता है। इस तरह प्रत्येक शब्द अपने २ नियत अर्थ को सूचन करने की सामर्थ्य से युक्त है। वह इस सामर्थ्य का उल्लंघन कर जगत के व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। और न इस तरह से वह प्रवृत्ति करता हुआ व्यवहार में ही उपलब्ध होता है। इसलिये युगपत् शब्द भाव और अभाव इन दो धर्मों को कहता है यह आग्रह छोड़ देना चाहिये।

क्योंकि उसमें ऐसी शक्ति ही नहीं है।

शंका—यह तो आपका कहना ठीक है। परन्तु जिस प्रकार शतृ और शानच् प्रत्यय का युगपत् बोध कराने के लिये " संज्ञा " यह शब्द सकेतित हुआ है उसी प्रकार सत्त्व और असत्त्व इन दोनों धर्मों का भी युगपत् बोध कराने वाले किसी एक शब्द को सकेत के रूप मे रख लेना चाहिये। क्योंकि सकेत के अनुसार शब्द की प्रवृत्ति अपने अर्थ को प्रतिपादन करने में देखी जाती है।

उत्तर—सो ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण १ कि सकेत भी वाच्य एव वाचक शक्ति का अनुसरण करके ही किया जाता है। इसका उल्लंघन करके नहीं। जिस प्रकार लोहे की काष्ठ के भेदने में शक्ति है उस प्रकार वज्र के भेदने में नहीं है तथा जिस प्रकार वज्र के भेदने में उसकी अशक्ति है उस प्रकार काष्ठ के भेदने में नहीं। इसी प्रकार शब्द भी प्रधानतया एक बार एक ही अर्थ को प्रतिपादन करने की शक्तिवाला है अनेकार्थ को प्रतिपादन करने की शक्ति-वाला नहीं। अत प्रतिपादनशक्ति की अपेक्षा से ही संकेत की शब्द में प्रवृत्ति मानी गई है। इस कथन से इसका भी निराकरण हुआ समझ लेना चाहिये कि जो लोग इस बात को कहते हैं कि सेना एवं वन आदि शब्दो की युगपत् अनेक अर्थों के प्रतिपादन करने में प्रवृत्ति है। कारण कि करि, तुरग, रथ एवं पदाति का समूह रूप जो एक अर्थ है उसका ही सेना शब्द द्वारा अभिधान कथन—किया जाता है। इसी तरह वन शब्द भी वृक्षो का समूहरूप एक अर्थ का प्रतिपादक होता, हैं मालाशब्द पुष्पों के समूह रूप अर्थका ग्रामशब्द घरों के समुदाय रूप एक अर्थका तथा पानकशब्द अनेकपेय योग्य वस्तुओं के अवस्थान्तरविशेषसमूहरूप एक अर्थ का प्रतिपादन करता है। अकेक अर्थों का नहीं।

शका—यदि शब्द में अनेक अर्थों को युगपत् प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं है ऐसी आपकी बात मानी जाय तो फिर " वृक्षौ वृक्षाः " इस द्विवचन एवं बहुवचन वृक्ष शब्द से जो दो एव अनेक वृक्षो की युगपत् प्रतिपत्ति—ज्ञान-होती

---

१ " सकेतानुविधानेऽपि कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरन्यतरव्यपदेशाहृतवादयोदारुवज्रलेखनवत् " अष्टशती

है सो कैसे हो सकेगी ? मतलब इसका यह है कि व्याकरण प्रसिद्ध सूत्रों के अनुसार एकत्व की विवक्षा में एक वचन द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन एवं बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है। " वृक्षौ " यह द्विवचन का प्रयोग है इससे दो वृक्षों का युगपत् बोध होता है। " वृक्षाः " यह बहुवचन का प्रयोग है। इससे अनेक वृक्षो का युगपत बोध होता है इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक शब्द युगपत् अनेक अर्थों का बोधक होता है, फिर आप यह कैसे कहते हैं कि एक शब्द अनेक अर्थों का युगपत् वाचक नहीं होता है।

उत्तर—शंका तो ठीक है, परन्तु जब इन शब्दों के प्रयोग के ऊपर व्याकरण के नियम का विचार किया जाता है तब इस शंका का निवारण बहुत सरल रूप से हो जाता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार "वृक्षौ वृक्षाः" ये एक शेष शब्द है,। यहा अन्य और वृक्ष शब्दों का लोप हुआ है। वृक्ष शब्द से औ, एवं जस्-प्रत्यय जब लाते हैं तब वहां "वृक्ष वृक्ष औ,, एव वृक्ष वृक्ष वृक्ष जस् ऐसा कहना पड़ता है,,—बाद में "सरूपाणामेकशेषविभक्तौ" इस सूत्र द्वारा एक वृक्ष के सिवाय अन्य वृक्षों का लोप हो जाता है। यह एक शेष—वृक्षशब्द—लुप्त हुए वृक्ष शब्दों के अर्थ का कथक होता है। अतः यह समझना चाहिये कि "वृक्षौ" यहां पर दो-वृक्ष शब्दों से ही दो वृक्ष रूप अर्थ का भान होता है एवं "वृक्षा" यहां पर अनेक वृक्ष शब्दों से ही अनेक वृक्ष रूप अर्थ का भान होता है। अर्थात् वृक्षौ में दो वृक्ष शब्द वृक्षा में अनेक वृक्ष शब्द हैं और वे ही दो एवं अनेक वृक्षों के अभिधायक हैं। अतः एक शब्द युगपत् अनेक अर्थों का प्रतिपादक नहीं होता है। यह सिद्धान्त अटल है।

जैनेद्रव्याकरण के कर्त्ता के मतानुसार द्विवचनान्त एवं बहुवचनान्त वृक्ष स्वभावतः ही स्वाभिधेय अर्थ को द्वित्व एव बहुत्व विशिष्ट प्रतिपादित करता है। क्योकि इन शब्दों में द्वित्व एव बहुत्व विशिष्ट अर्थ के कहने की शक्ति जो रही हुई है। जो ऐसा न माना जाय तो शब्द व्यवहार ही नही बन सकता है।

शंका—एक शब्द एक ही अर्थ को एकबार कहता है यह आपको कहना आपके ही सिद्धान्त से दूषित होता

है। क्योकि आपके सिद्धान्त में पद के वाच्य एक और अनेक ये दोनों अर्थ माने गये १ हैं। जैसे वृक्ष यह शब्द एक--सामान्य, और अनेक-विशेष-को कहता है। मतलब कहने का यह है कि पदार्थ सामान्य एवं विशेपात्मक है अतः उसके वाचक शब्द या पद स्वयं एक और अनेक के वाचक होते हैं। फिर यह कहना कि शब्द युगपत् एक ही स्वाभिधेय का वाचक होता है ठीक नही हैं।

उत्तर— पद या शब्द अनेक एवं एक अर्थ के वाचक होते हैं इसका निषेध हम कब करते हैं। हम तो सिर्फ इतना ही कहते हैं कि शब्द या पद मुख्यतया अपने एक ही अर्थ के वाचक होंगे। अनेक के नहीं। वृक्ष शब्द पहिले मुख्यतया स्वाभिधेय वृक्ष रूप अपने अर्थ का ही कथन करेगा १ वाद में गौण रूप से उसके लिग एवं द्वित्व वहुत्व आदि संख्या का। अतः वृक्ष इस शब्द से प्रधानभाव से तो वृक्ष रूप अपने अर्थ की ही प्रतीति होगी वाद में गौण रूप से लिग एवं बहुत्व आदि संख्या की। वाक्य या पद के साथ जो स्यात् पद का प्रयोग करने में आता है वह इसी अभिप्राय को लेकर तो किया जाता है। यह स्यातपद जिस धर्म के साथ प्रयुक्त किया हुआ होता है उसे वह वहां मुख्यरूप से बतलाता है और बाकी के धर्मो को गौण २ रूप से। इसलिये स्याद्वादियों का जो यह सिद्धान्त है कि शब्द अपने अर्थं को प्रधान रूप से एव बाकी के धर्मों को गौण रूप से कहता है बिल्कुल निर्दोष है। अर्थात् पद का वाच्य जो एक और अनेक है वह प्रधान गुण भाव से ही है, ऐसा मानना चाहिये। सर्वथा प्रधानभाव से है ऐसा नही मानना चाहिये। वाच्य भी इसी तरह प्रधान एवं गौण की अपेक्षा से एक और अनेक रूप प्रकट किया गया हैं। अतः जब वाच्य ऐसा है तो उसका जो वाचक शब्द या पद होगा वह भी प्रधान एव गौणभाव को लेकर उसका वाचक होगा। अत सकृत्प्रधान

' अनेकमेक च पदस्य वाच्यं, वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणानपेक्षेऽनियमेऽपवादः॥

बृहत्स्वयभू०श्लोक ४४

१ स्वार्थमभिधाय शब्दो, निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेत।
समवेतस्य तु वचने, लिङ्ग सख्यां विभक्तीश्च।

२ गुणप्रधानार्थमिद हि वाक्य, जिनस्य ते तद द्विषतामपथ्यम्। वृह-स्व-४५।

भाव से शब्द अनेक अर्थों का वाचक नहीं हो सकता यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है ।

शंका—ठीक है । परन्तु आपके सिद्धान्तानुसार जो प्रमाण वाक्य है वह तो प्रधानभाव से अशेष धर्मात्मक वस्तु का प्रकाशक माना गया है । अब वह आपके इस कथन से कैसे समन्वय रूप में अवतरित हो सकेगा । शंकाकार की शका इस प्रकार है कि जब यह नियम आप बना रहे है कि शब्द एकबार प्रधानभाव से एक ही अपने अर्थ का वाचक होता है एकबार में अनेक अर्थों का नहीं—तो फिर जैन सिद्धान्त की दृष्टि में जो प्रमाण वाक्य को युगपत्—एक साथ अनेक धर्मात्मक वस्तु का प्रकाशक माना गया है वह इस नियम के आगे मिथ्या साबित होता है । वस्तु में अनन्त धर्म है । उन धर्मों में से किसी एक धर्म को मुख्य रूप करके उसका कथन करने वाला ज्ञान नयवाक्य १ है एवं समस्त धर्मों का युगपत् कथन करने वाला ज्ञान प्रमाणवाक्य २ है । अतः इस नियम के आगे प्रमाण वाक्य का निभाव कैसे हो सकता है ? नही हो सकता है ।

उत्तर—शका तो उचित है—पर इसका जब बिचार किया जाता है तो समाधान भी बहुत अच्छी तरह से मिल जाता है । वह समाधान १ इस प्रकार है—जिस समय वस्तु में काल आदि की अपेक्षा अभिन्न रूप से रहने वाले सम्पूर्ण धर्मों एवं धर्मी में अभेद भाव की प्रधानता रखकर अथवा काल आदि से भिन्न धर्म और धर्मी में अभेद का उपचार मानकर सम्पूर्ण धर्म और धर्मी का एक साथ कथन किया जाता है उस समय सकलादेश होता है । इस सकलादेश से काल आदि की अभेददृष्टि अथवा अभेदोपचार की अपेक्षा वस्तु के समस्त धर्मों का एक साथ ज्ञान होता है । मतलब इसका यह है कि गुणों २ के समुदाय को द्रव्य कहते हैं इसलिये गुणों को छोड़कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नही है ।

---

१ विकालोदेशो नयाधीन. ।

२ सकलादेशः प्रमाणाधीन । सर्वार्थ सिद्धौ

१ कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्यपर्यायार्पितेन सकलस्य वस्तुनः कथनादिति ब्रूम. । अष्टसहस्री । प्रमाणप्रतिपन्नानतधर्मात्मकवस्तुन. कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यात् अभेदोपचारात् वा यौगपद्येन प्रतिपादक वच सकलादेश. । स्याद्वादरत्नाकर. स्याद्वादमजरी ।

२ 'तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्य स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्त ' इति पचाध्यायी ।

अतएव द्रव्य का निरूपण गुणवाचक शब्द के बिना नहीं हो सकता। इसलिये अस्तित्व आदि अनेक गुणों के समुदाय रूप द्रव्य का निरंश रूप समस्तपने से अभेदवृत्ति (द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सम्पूर्ण धर्म अभिन्न हैं) और अभेदोपचार (पर्यायार्थिक नय से समस्त धर्मों के परस्पर भिन्न होने पर भी उनमें एकता का आरोप किया जाता है) से एक गुण के द्वारा प्रतिपादन होता है, इसलिये एक गुण के द्वारा अभिन्न स्वरूप के प्रतिपादन करने को सकलादेश कहते हैं। यह सकलादेश प्रमाणाधीन होता है। (१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणिदेश (७) संसर्ग (८) शब्द। ये आठ कालादिक १ हैं। इन सबका विवेचन युक्त्यनुशासन की भाषाटीका करते समय किया जा चुका है। फिर भी उपयोगी समझकर यहां पर भी संक्षेप से इसका खुलासा किया जाता है, सप्तभंगी प्रमाणसप्तभंगी और नयसप्तभंगी के भेद से दो प्रकार की है। इनमें पूर्वोक्त प्रकार से द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता और पर्यायार्थिकनय की गौणता एवं पर्यायार्थिकनय की मुख्यता तथा द्रव्यार्थिकनय की गौणता लेकर प्रमाण सप्तभंगी घटित होती है। द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता एवं पर्यायार्थिक नय की गौणता करने का यह मतलब है कि वस्तु में अनेक धर्मों का काल आदि द्वारा अभेद सिद्ध करना होता है। कारण कि विवक्षित एक शब्द से वस्तु के एक ही धर्म का ज्ञान होता है, परन्तु फिर भी उस विवक्षित एक शब्द से एक धर्म के द्वारा ही पदार्थ के अनेक धर्मों का ज्ञान हो जाता है। इसी का नाम एक साथ पदार्थ का ज्ञान होना है। और यह ज्ञान सकलादेश के आधीन है। इस सकलादेश की विवक्षा में जब इस प्रकार कहा जाता है कि "स्यात् जीवादिवस्तु सदेव" जीवादिक वस्तुए कथञ्चित् सत् ही है तब इस प्रकार कहने पर जीवादिक वस्तुओं में जिस समय अस्तित्व धर्म मौजूद है उस समय जीव मे और भी अनंत धर्म मौजूद है। अतः अस्तित्व इस एक धर्म के साथ अन्य अविवक्षितधर्मों की काल की अपेक्षा लेकर अभेदवृत्ति मान ली जाती है। जिस प्रकार अस्तित्व जीव का गुण है—स्वभाव है—उसी प्रकार और भी अविवक्षित धर्म उसके स्वभाव-आत्म-

---

१ कालात्मरूपसबन्धाः ससर्गोपक्रिये तथा।
गुणिदेशार्थशब्दाश्चेत्यष्टौ, कालादयः स्मृताः ॥

रूप–हैं, इस प्रकार अस्तित्व के साथ आत्मरूप को लेकर अन्य धर्मों की अभेदवृत्ति मान ली जाती है। जिस प्रकार जीवादिक वस्तुएं अस्तित्व धर्म के आधार हैं उसी प्रकार वे अन्य धर्मों के भी आधारभूत है इस अपेक्षा आधार को लेकर उस अस्तित्व के साथ अन्य अनत धर्मों की अभेदवृत्ति मान ली गई है। जीवादिक द्रव्यों के साथ अस्तित्व धर्म का जो तादात्म्य रूप सम्बन्ध है वही सम्बन्ध अन्य धर्मों का भी जीवादिक द्रव्यों के साथ है–अतः इस विवक्षा से सम्बन्ध को लेकर अस्तित्व के साथ अन्य धर्मों की अभिन्नता मान ली जाती है। जिस प्रकार अस्तित्व धर्म स्वानुरक्तत्वकरणरूप उपकार करता है इसी तरह अन्य धर्म भी करते हैं अतः उपकार की अपेक्षा अस्तित्व धर्म के साथ अन्य धर्मों की अभेदवृत्ति मान ली जाती है। जो गुणी–जीवादिकद्रव्यो–का सम्बन्धी क्षेत्रस्वरूप देश अस्तित्व का है वही क्षेत्र अन्य धर्मों का भी है अर्थात् जो क्षेत्र द्रव्य मे सम्बन्ध रखनेवाले अस्तित्व का है वही क्षेत्र अन्य धर्मों का भी है अतः इस अपेक्षा से अस्तित्व धर्म के साथ अन्यधर्मों की अभेदवृत्ति मान ली जाती है। एक वस्तु की अपेक्षा से जो ससर्ग अस्तित्व का है वही ससर्ग अन्य धर्मों का भी है इसलिये ससर्ग की अपेक्षा मे अस्तित्व आदि धर्मों में अभेद मान लिया गया है। जिस "अस्ति" शब्द से अस्तित्व धर्मात्मक वस्तु का ज्ञान होता है, उसी अस्तिशब्द से शेष अनतधर्मात्मक वस्तु का भी ज्ञान होता है। इसलिये शब्द की अपेक्षा से अस्तित्व धर्म के साथ अन्यधर्मों की अभेदवृत्ति मान ली जाती है। द्रव्यार्थिकनय की गौणता और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होने पर काल आदि की अपेक्षा अभेदवृत्ति नहीं बनती है कारण कि एक समय मे एक स्थान पर अनेक गुण नहीं रह सकते। यदि अनेक गुण एक समय में एक वस्तु में रहें तो उन गुणो के आश्रित द्रव्यो के उतने ही भेद मानना पडेगें।

---

१ तत्र स्याज्जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषा अनन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः। यदेवास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीति आत्मरूपेणाभेदवृत्तिः। य एवाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः। य एव चाविष्वग्भावः कथंचित् तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एव शेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः, य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः, य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य ससर्गः स एव शेषधर्माणामिति ससर्गेणाभेदवृत्तिः, य एव नास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः. पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्यादुपपद्यते।

–स्याद्वादमंजरी पाना २८४

अनेक गुणो का (आत्मरूप) स्वरूप परस्पर भिन्न है क्योंकि वह एक दूसरे गुणो मे नहीं रहता इसलिये गुणो मे अभेद नहीं हो सकता। यदि गुणो में परस्पर मे भेद न हो तो गुणों को भिन्न २ नहीं मानना चाहिये। गुणों के आश्रित आधार भी नाना हैं यदि गुणों के आधार अनेक न हो तो वे नाना गुणो के आश्रित नहीं कहे जा सकते। सम्वन्ध की अपेक्षा भी गुणो मे अभिन्नता सभव नहीं क्योकि एक सम्बन्ध से अनेक सम्बन्धियो के साथ सबध नहीं बन सकता। उपकार की अपेक्षा भी गुण परस्पर अभिन्न नहीं हैं क्योकि प्रत्येक गुण का उपकार जुदा २ है कारण कि अनेक गुणो का उपकार अनेक रूप होता है। गुणिदेश की अपेक्षा से भी गुण अभिन्न नही हैं क्योकि गुण और गुणिदेश एक हों तो सम्पूर्ण गुणो को एक मानना चाहिये। इसी प्रकार ससर्ग की अपेक्षा भी गुण भिन्न २ है यदि गुण ससर्ग की अपेक्षा अभिन्न हों तो सम्पूर्ण गुणो मे एकत्वापत्ति मानना पडेगी। तथा एक शब्द की अपेक्षा से भी गुण भिन्न हैं यदि एक शब्द से सब गुणो का ज्ञान होने लगे तो समस्त पदार्थों में भी एक शब्द द्वारा वाच्यता की आपत्ति होने से उनके वाचक भिन्न भिन्न शब्दो का अस्तित्व ही दुनिया से मिट जाना चाहिये। इस प्रकार काल आदिकों द्वारा अस्तित्व आदि गुणो की एक वस्तु में अभेदवृत्ति असंभव है। अत· पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा काल आदि से भिन्न २ इन अस्तित्व आदि गुणों में अभेद का उपचार किया जाता है। वास्तव में तो पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से इनमें भेद ही है। इस[1] प्रकार द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से अभेदवृत्ति और पर्यायार्थिक नय की मुख्यता से अभेदोपचार द्वारा अनत धर्मवाले पदार्थ को एक साथ कहने वाले वाक्य को सकलादेश अथवा प्रमाण वाक्य कहा गया है। तथा एक देश से जानी हुई वस्तु को भेदवृत्ति एवं भेदोपचार से क्रम से कहने वाले वाक्य को विकालदेश या नय वाक्य कहा गया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण वाक्य में भी द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक नयो की मुख्यता एवं गौणता रही हुई है। अभेदवृत्ति मे पर्यायार्थिक की गौणता एव अभेदोपचार में द्रव्यार्थिक की गौणता प्रकट है। इस

१—तदेनाभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्या कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन· समसमय यदभिधायक वाक्य स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्याय ॥

स्याद्वादमजरी पृष्ठ २८६

प्रकार से इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं समझना चाहिये। शास्त्रकारों ने इन दोनों नयो में प्रमाण वाक्य में मैत्री प्रदर्शित १ की है इसलिये प्रमाण एक विकल्प रूप न होकर उभयविकल्परूप होता २ है। इस तरह वादि ने जो शब्द को प्रधान रूप से एक अपने अर्थ का वाचक मानने पर प्रधानरूप से अशेष धर्मात्मक वस्तु का प्रकाशक प्रमाण वाक्य कैसे बन सकता है ऐसी जो शंका की थी उसका उस पूर्वोक्त कथन से समाधान हो जाता है। अतः पद की तरह प्रत्येक वाक्य गुण प्रधानार्थ है सकृत् अनेक प्रधानार्थ नहीं है। अत जब ऐसा कोई वाक्य नहीं है कि जो एक बार मे ही अनेक अर्थों का प्रधान भाव से कथन कर सके तो यह मानना ही पड़ता है कि शब्द या पद एक बार में प्रधानभाव से एक ही अपने अर्थ को प्रतिपादन करने की शक्तिवाला है, एक बार में अनेकार्थों को प्रतिपादन करने की शक्तिवाला नहीं है। शब्द इस अपने स्वभाव को संकेत सहस्त्र से भी परित्याग नहीं कर सकता है। कार्य में कार्यता अपने कारण की अपेक्षा से ही है अन्य कारणों की अपेक्षा से नहीं। इसी तरह कारण भी अपने कार्य की अपेक्षा से माना जाता है अन्य कार्य की अपेक्षा से नहीं। यदि अपेक्षाकृत शक्ति और अशक्ति वाच्य और वाचक में न मानी जाय तो अचाक्षुषत्व आदि शब्दादि के धर्म सिद्ध ही नहीं हो सकते हैं। शब्द में अचाक्षुपता इसीलिये तो है कि वह रूप की तरह चाक्षुष ज्ञानजननशक्ति से विकल है, अर्थात् जिस तरह रूप चाक्षुष ज्ञान जनन शक्ति युक्त है अतएव वह चक्षु इन्द्रिय का विषय है उस तरह शब्द में यह शक्ति नहीं है अत॰ वह चाक्षुष नहीं है। इसी तरह वह रसना इन्द्रिय का विषय नहीं है क्योंकि यदि उसमें रस की तरह रसज्ञानजननसमर्थता होती तो वह रसना इन्द्रिय का विषय होता। परन्तु ऐसी उसमे शक्ति नहीं है। इसी तरह वह गन्ध आदि की तरह घ्राणादि ज्ञान जनन पटु भी नहीं है, अत वह घ्राण इन्द्रिय आदि का विषय

---

१ विधिपूर्वः प्रतिषेध प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयो.
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥

२ अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्प॰ प्रमाणमिति बोधः ॥

पंचाध्यायी प्रथम अ० ६६५। सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः। परीक्षामुख अ० ४ सूत्र १

भी नहीं होता है। इस तरह शब्द में भिन्न २ इन्द्रियों द्वारा अविषय होने की शक्ति की अपेक्षा अचाक्षुषत्व, अरासनत्व, एवं अघ्राणीयत्वादि धर्म सिद्ध होते हैं । तथा कर्णेन्द्रियज्ञानजननशक्ति की अपेक्षा उसमें कर्णविषयपना सिद्ध होती है। इस तरह जब शब्द मे शक्ति और अशक्ति को उल्लघन न करके अचाक्षुषत्वादिक एवं चाक्षुषत्व धर्म सिद्ध होते हैं, तब यह भी मानना चाहिये कि सदादिक पदों में सत्त्वादिक एक ही धर्म को प्रतिपादन करने की शक्ति रही हुई है वह इस शक्ति का उल्लंघन नहीं कर सकता है। तथा एक ही वार में प्रधानभाव से अर्पित अनेक धर्मों को कथन करने की उस
आ० सदादिक पद की शक्ति नहीं है सो वह इस अपनी अशक्ति का भी अतिक्रम नहीं कर सकता है -इसलिये वह प्रधानभाव
मी० से अर्पित अनेक धर्मों को एक बार में विषय नहीं करता है। इस प्रकार सत् एव असत् शब्दो के द्वारा युगपत् अनेक
१७७ धर्मों का एव उन विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता है। इस अपेक्षा कथंचित् जीवादिक वस्तुएं अवक्तव्य हो हैं यह चतुर्थ भग बन जाता है।

इस प्रकार यहां तक प्रथम, द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ भंगों का निरूपण किया गया है। इनमें प्रथम भंग में द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता, द्वितीय भग में पर्यायार्थिक नय की मुख्यता, तृतीय में क्रमशः उभय नयों का मुख्यता एवं चतुर्थ में युगपत् इन दोनों नयों की प्रधानता हुई है।

कारिकास्थ "अवक्तव्योतरा,, पदका अर्थ ऐसा है कि "अवक्तव्य" यह पद जिनके आगे है ऐसे अवशिष्ट "त्रयो भंगाः" तीन भंग "स्वहेतुतः" अपनी २ विवक्षा के वश से समझ लेना चाहिये। वे [१] तीन भंग इस प्रकार हैं— स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य एवं स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। इनमें जो चतुर्थ भंग स्यादस्ति अवक्तव्य है उसमें द्रव्य और पर्याय की व्यष्टि और समष्टि रूप में विवक्षा हुई है अर्थात् जब यह कहा जाता है कि जीजादिक

१ द्रव्यपर्यायौ व्यस्तसमस्तौ समाश्रित्य चरमभङ्गत्रयव्यवस्थानं, अष्टशती, २ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिप्राधान्येन युगपद्विधिनिषेधानिवर्चनीयत्यापनाकल्पनाविभजनया पचमो भग स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधप्राधान्येन युगपद्विधिनिषेधानिर्वचनीय कल्पनाविभजनया षष्ठो भग.।

द्रव्य हैं और अवक्तव्य भी हैं तब इस प्रकार के कथन में द्रव्यार्थिक नय की प्रधान विवक्षा से तथा युगपदुभयनयों को विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथचित् सत्स्वरूप है और अवक्तव्य ही है ऐसा चतुर्थभंग वन जाता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि स्वद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा से तथा स्वद्रव्यादि एवं परद्रव्यादि चतुष्टय की युगपत् विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् सत् स्वरूप और कथचित् अवक्तव्य स्वरूप ही है। स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव इस छठवें भंग मे पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से एवं युगपत् द्रव्य और पर्याय नयों की विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् असत्स्वरूप हैं एव कथंचित् अवक्तव्य स्वरूप है। इसे यों भी कह सकते हैं कि परद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् नास्तित्व विशिष्ट हैं एवं युगपदुभय धर्मों की विवक्षा में कथंचित् अवक्तव्य ही हैं। इसी तरह स्यादस्त्येव[१] स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव इस सप्तमभंग की विवक्षा में क्रमार्पित द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से तथा सहार्पित द्रव्यपर्याय की अपेक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् सत् स्वरूप कथंचित् असत् स्वरूप एवं कथचित् अवक्तव्य स्वरूप ही है। इसे यों भी कह सकते हैं कि क्रम से अर्पित स्वचतुष्टय एव परचतुष्ट से एव युगपत् अर्पित स्वपरचतुष्ट की विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् सत् स्वरूप है कथचित् असत्स्वरूप एव कथंचित् अवक्तव्य स्वरूप ही है। इस तरह यह सप्तभंगी है। इसके प्रत्येक भग सकलादेश एवं विकलादेश स्वरूप हैं। यह पीछे वता दिया गया है कि सकलादेश प्रमाणवाक्य है और विकलादेश नयवाक्य है। नय वस्तु के एक धर्म को लेकर भेद वृत्ति या भेदोपचार से उसका कथन करता है। इस तरह क्रमार्पित दोनों धर्मों की अपेक्षा से वस्तु कथंचित् द्वैत, सहार्पित दोनों धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् अवाच्य, सत्व की एवं सहार्पित दोनों धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् सत् एवं कथंचित् अवक्तव्यादि रूप सिद्ध होती है। [१]

---

१ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति सवशासदशप्राधान्यकल्पनया युगपद्विधिनिषेधानवंचनीयत्वापनाकल्पनाविभजनया च सप्तमो भगः।

१ नोट—इसमें (सोलहवीं कारिका के अर्थ मे) प्रमाण की जो चर्चा की गई है उसमें कुछ सदेह है। वर्तमान में उसकी यहां निवृत्ति का उपाय न मिलने से वह निवृत्ति नहीं हो पाई है। ग्रन्थकार एवं अन्य टीकाओ के अभिप्राय मे उसे यहा ज्यो का त्यो लिख दिया गया है। अ०

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात् साधर्म्यं, यथाभेदविवक्षया ॥ १७ ॥

अन्वय—भेदविवक्षया यथा साधर्म्यं (तथा) विशेषणत्वात् अस्तित्वं (अपि) एक धर्मिणि प्रतिषेध्येन अविनाभावी ।

अर्थ—जिस प्रकार साधर्म्य-अन्वय-भेदविवक्षा के-व्यतिरेक के-साथ अविनाभावी होता है उसी तरह विशेषण होने से अस्तित्व भी एक धर्मी मे प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी है ।

भावार्थ–कारिकाकार इस कारिका द्वारा वह प्रदर्शित कर रहे हैं " कि जो इस बात को कहते हैं कि केवल अस्तित्व ही वस्तु का स्वरूप है, नास्तित्व नहीं । क्योंकि वह पराश्रयी है । पराश्रयी इस नास्तित्व को यदि वस्तु का स्वरूप माना जाय तो ऐसी हालत में अतिप्रसग नाम का दूषण आता है-पटादि के आश्रित रहे हुए रूपादिकों को भी विवक्षित घट का स्वरूप मानना पडेगा,,–। सो उनका यह कथन ठीक नहीं है कारण कि "अस्तित्वं एकधर्मिणी प्रतिषेध्येन अविनाभावि विशेषणत्वात्" इस अनुमान द्वारा विशेषण होने से अस्तित्व एव नास्तित्व ये दोनों धर्म परस्पर अविनाभावी सिद्ध होते हैं । अस्तित्व को छोड़कर नास्तित्व एवं नास्तित्व को छोड़कर अस्तित्व एक धर्मी मे स्वतंत्र रूप से नहीं रहते है । "एकधर्मिणि" इस पद से कारिकाकार ने इसी बात की पुष्टि की है । भिन्नाधिकरणवाला अस्तित्व नास्तित्वाविनाभावी नहीं होता है । यह तो प्रत्यक्ष से ही प्रतीति में आता हैं कि घटादिक रूप एक धर्मी में स्वरूप की अपेक्षा जो अस्तित्व है वह पटादिरूप से घट के नहो होने के कारण नास्तित्व के साथ वहां अविनाभावी है । "यह घट है,, जैसी घट में यह अस्तित्वमुखेन अबाधित प्रतीति होती है उसी तरह से यह घट पट नहीं है इस प्रकार की नास्तित्व प्रतीति भी उसमें अवाधित रूप से होती है । अतः अस्तित्व के साथ नास्तित्व भी वहां रहा हुआ है ।

शका—अस्तित्व को नास्तित्वाविनाभावी सिद्ध करने के लिये जो आपने अन्वय एव व्यतिरेक को दृष्टान्त

कोटि में रक्खा है वह ठीक नहीं है। कारण कि जो केवलान्वयी १ हेतु होता है उसमें व्यतिरेकाविनाभाविता नहीं होती है। शंकाकार की शंका का अभिप्राय यह है कि जैसे अदृष्ट आदि किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमेय है, जैसे अग्नि आदि पदार्थ। इस अनुमान प्रयोग में "यत्र २ अनुमेयत्वं तत्र २ कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं,, इस प्रकार का अन्वय २ तो है कारण कि अन्वय व्याप्ति का प्रदर्शक अग्न्यादि दृष्टान्त है। परन्तु "यत्र कस्यचित्प्रत्यक्षत्व नास्ति तत्र अनुमेयत्वं नास्ति" इस प्रकार का व्यतिरेक ३ यहां नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और सपक्ष के अन्तर्गत हो चुके हैं। अत जब यहां विपक्ष नहीं है तव ऐसी हालत में यह कैसे माना जा सकता है कि अन्वय व्यतिरेकाविनाभावी होता है?

उत्तर–ऐसा कहना उचित नही है। कारण कि "तत्रापि तदुभयसद्भावात्" केवलान्वयी हेतु में भी साधर्म्य और वैधर्म्य इन दोनो का सद्भाव रहा हुआ है। इसी तरह नित्य और अनित्य के साधक जो भी हेतु है उनमें भी साधर्म्य वैधर्म्याविनाभावी है। जैसे–जव यह कहा जाता है कि जीव अथवा शब्दादिक, चेतन वा अचेतन जितने भी पदार्थ हैं वे सब परिणामी ४ हैं क्योकि वे सब प्रमेय हैं, सत्त्व विशिष्ट है, वस्तु स्वरूप हैं, अथवा अर्थक्रियाकारी हैं। इस प्रकार शब्दादिकों को पक्ष करके परिणामी रूप साध्य को सिद्ध करने के लिये दिये गये इन प्रमेयत्वादिक हेतुओं में "यत्र २ प्रमेयत्वादिः तत्र २ परिणामी यथा घट" जहां २ प्रमेयत्वादिधर्म हैं वहां २ परिणामित्व साध्य है जैसे घट "इस अन्वय की तरह" यत्र २ न परिणामित्वं तत्र २ न प्रमेयत्वं यथा खपुष्पमिति 'जहां परिमाणित्व नही है वहां प्रमेयत्वादिक हेतु भी नहीं रहते हैं जैसे "आकाशपुष्प,, यह व्यतिरेक भी मौजूद है। मतलब कहने का यह है कि हेतु का साध्य के अधिकरण में रहना यह साधर्म्य है एवं साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का नहीं रहना यह वैधर्म्य है।

---

१ पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहितः केवलान्वयी-यथा अदृष्टादय कस्यचित्प्रत्यक्षा. अनुमेयत्वात् अग्न्यादिवत्। न्यायदीपिका पृ० ८६

२ यत्सत्त्वे यत्सत्त्व अन्वय।

१ यदभावे यदभावो व्यतिरेक:। २ सर्वमित्यमनित्य वेति प्रतिज्ञायाऽभिप्रेत्य वा प्रमेयत्वादि हेतूपादानेऽपि व्यतिरेकोऽस्त्येव प्रमेयत्वस्य वस्तुधर्मत्वात्। अष्टशती।

आ० मी० १८१

प्रकृत में 'जीवः परिणामी प्रमेयत्वात्" इस उदाहरण में साध्य परिणामी का जो अधिकरण जीव है उसमें हेतु प्रमेयत्व के रहने का निश्चय है तथा साध्य के अभाव–अपरिणामित्व का अधिकरण जो खपुष्पादिक हैं उसमें उसका नहीं रहना रूप वैधर्म्य है, अत साधर्म्यं वैधर्म्यविनाभावी है यह नियम बिल्कुल ठीक है। इसी तरह अस्तित्व भी एक धर्मी में नास्तित्व के साथ विशेषण होने से अविनाभूत है।

——आपने साधर्म्याविनाभावी सिद्ध करने के लिये जो खपुष्प को दृष्टान्त कोटि में रक्खा है वह ठीक नहीं है। कारण कि वहां प्रमेयत्व का अभावरूप वैधर्म्य आता नहीं है। यदि वही प्रमेयत्व का अभावरूप वैधर्म्य मान्य किया जाय तो " खपुष्प " इस तरह का वहां व्यवहार ही नही हो सकता। अतः जब इस प्रकार का व्यवहार होता है तो प्रमेयत्व का अभाव दिखला कर जो आप प्रमेयत्व हेतु को वैधर्म्याविनाभावी सिद्ध कर रहे है वह १ ठीक नहीं।

उत्तर——ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि खपुष्पादिक को " खपुष्पादयोऽप्रमेयाः " इस प्रकार के व्यवहार होने से यदि प्रमेयत्वादिक हेतुओ का सपक्ष माना जाय-प्रमेय स्वरूप अंगीकार किया जाय-तो फिर इस प्रकार से प्रमाण की कोई कीमत ही नही रहती। कारण कि तुम्हारी मान्यतानुसार प्रमेयाभाव भी प्रमाण का जो विपय-प्रमेय हो जाता है। तथा च " अय प्रमेय असौ प्रमेयाभाव " यह प्रमेय है यह प्रमेयाभाव है इस प्रकार की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार " स्वलक्षणमनिर्देश्य कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्ष " स्वलक्षण अनिर्देश्य है, प्रत्यक्ष कल्पनापोढ है इस प्रकार से स्वलक्षण में अनिर्देश्यता एव प्रत्यक्ष में कल्पनापोढता मानने पर भी स्वलक्षण अनिर्देश्य है प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है इस प्रकार का व्यवहार होता है -इसमें कुछ भी विरोध नही आता है- उसी प्रकार " खपुष्पादयोऽप्रमेया " इस प्रकार का खपुष्पादिक में व्यवहार होने पर भी उसमे अप्रमेयता का कुछ भी विरोध नही आता है। खपुष्पादिक अप्रमेय इसलिये है कि उनकी परिच्छित्ति करने में प्रमाण का अभाव है जिस प्रकार

१——खपुष्पादयोऽपि तत्र व्यवहारमिच्छता प्रमेयाः प्रतिपत्तव्या इति न किञ्चित् प्रमाण प्रमेयाभावस्यापि तथाभावानुषंगेणाव्यवस्थानुषगात्। न चैतद्विरुद्ध स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यर्थादिवत्। अष्टशती०

प्रमेयाभाव की परिच्छित्ति किसी भी प्रमाण से नहीं होती है उसी प्रकार खपुष्पादिक भी किसी भी प्रमाण से प्रमित नहीं होते हैं। प्रमाण के अभाव में भी यदि खपुष्पादिको को प्रमेय माना जायगा तो प्रमेयाभाव को भी प्रमेय मानाना पडेगा-तथा च प्रमेय एवं प्रमेयाभाव की व्यवस्था कैसे बन सकेगी। अतः खपुष्पादिक अप्रमेय हैं ऐसा ही मानना चाहिये। इस कथन से " घटादिक की तरह शब्द विकल्प के विषय होने से खपुष्पादिक प्रमेय है " ऐसा जो किसी का कथन है वह भी निरस्त समझ लेना चाहिये। क्योंकि इस अनुमान का हेतु प्रमेयाभाव से व्यभिचरित हो जाता है। यदि इसपर यो कहा जाय कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान से प्रमीयमान होने से खपुष्पादिक प्रमेय हैं सो ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि इस अनुमान मे हेतु असिद्ध है। खपुष्पादिक प्रत्यक्ष से प्रमेय इसलिये नहीं हो सकते हैं कि वे उसमे स्वाकार के अनर्पक हैं। प्रत्यक्ष मे जो प्रमेय अपने आकार का अर्पक होता है वही उसका विषय होता माना गया है। खपुष्पादिक अभाव स्वरूप होने से अपने आकार का अर्पण प्रत्यक्ष में नहीं करते है इसलिये वे उसके विषय नहीं हो सकते हैं। अनुमान द्वारा भी खपुष्पादिक इसलिये नहीं जाने जाते हैं कि उनका उसके साथ न कार्य रूप से प्रतिबन्ध है और न स्वभाव रूप से। स्वभाव लिङ्गरूप प्रतिबन्ध तथा कार्य लिङ्ग रूप प्रतिबन्ध भावात्मक पदार्थों का होता है अभावात्मक पदार्थों का नहीं। यदि खपुष्पादिको का संबध किसी स्वभाव रूप हेतु से माना जायगा तो उनमें निस्स्वभावत्व का विरोध होगा। यदि कार्य हेतु के साथ उनका प्रतिबंध स्वीकार किया जायगा-तो उनमे अर्थ क्रियाकारित्व का सद्भाव होने से उन्हें सत् स्वरूप पदार्थ मानना पडेगा-तथा च "खपुष्पादयोव्यवह्रियेरन् सन्त" खपुष्पादिक भावस्वरूप-पदार्थ रूप-से व्यवहृत होने लगेंगे। यदि इस पर यो कहा जाय कि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषयभूत न होने पर भी खपुष्पादिको को प्रमेय मानने में क्या आपत्ति है भले ही वे प्रत्यक्ष में अपने आकार को अर्पित न करें और स्वभावलिङ्ग रूप एवं कार्यलिङ्ग उनका कुछ भी लिङ्ग न हो। सो ऐसा कहना भी ठीक नही। कारण कि इस प्रकार का कथन स्वीकृत प्रमाणो की सख्या का विघातक १ होता है। मतलब इसका यह है कि जब खपुष्पादिक स्वीकृत प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण के विषयभूत नहीं

---

१ दर्शने स्वाकारमनर्पयतां स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावेप्रमेयत्वं प्रमाणान्तरमवश्यमाकर्षति। ततो विप्रतिषिद्धमेतत् खपुष्पादीनां प्रमेयत्व प्रमाणद्वयानियमविरोधात्।

होते हैं और फिर भी उन्हे बौद्ध सिद्धान्त प्रमेय प्रमाण का विषय-स्वीकार करता है तो ये जिस प्रमाण के विषय माने जावेंगे वह प्रत्यक्ष एवं अनुमान से अतिरिक्त एक तीसरा ही प्रमाण होगा। जो बौद्धो की मान्य दो प्रमाणो की संख्या का विघातक सिद्ध होगा। दूसरे–जिस तृतीय प्रमाण की कल्पना इन्हे प्रमेय मानने के लिये करना पडेगी उससे लाभ भी कुछ नहीं होगा। कारण कि खपुष्पादिको में प्रमाण द्वारा विषयभूत होने रूप धर्म की अनाश्रयता है। अर्थात् इनमें इतनी योग्यता ही नहीं है जो ये प्रमाण के विषयभूत हो सकें। यदि इन्हे प्रमाण के विषयभूत होने की योग्यता वाले माना जाय तो फिर इनमे वस्तुता की आपत्ति आने से ये सत् हैं ये असत् हैं इस प्रकार जो सत् एवं असत् पदार्थों की व्यवस्था है वह नहीं बन सकेगी और इस प्रकार की व्यवस्था की अनुपपत्ति में सत् असत् के व्यवहार का अभाव मानना पडेगा।

शंका—सत् और असत् का व्यवहार क्यों नही बन सकेगा-अवश्य बन जायगा। खपुष्पाभाव का मतलब तो यही है कि "पुष्परहितं खमेव खे पुष्पाभावः" पुष्प रहित जो आकाश है वही आकाश में पुष्प का अभाव है। अतः आकाश स्वरूप जो स्वलक्षण है वही खपुष्पाभाव है। इस अपेक्षा सत् और असत् की व्यवस्था बन जाने से सत् असत् का व्यवहार बन जायगा।

उत्तर—ऐसा कहना १ उचित नहीं है। कारण कि इस प्रकार के कथन में विधि और प्रतिषेध में एक विषयता आती है। जब पुष्प रहित आकाश ही खपुष्पाभाव स्वरूप माना जायगा तो पुष्प रहित आकाश की उपलब्धिविधि स्वरूप होने से सत् स्वरूप है और वही अपने में पुष्प का अभाव नियम-प्रतिषेध स्वरूप होने से असत् स्वरूप है। इस अपेक्षा विधि ही प्रतिषेध स्वरूप पडने से विधि और प्रतिषेध में एक विषयता का संभव होता है। परन्तु इन दोनों में सर्वथा एक विषयता तो मानी नही जा सकती। क्योंकि विधि का विषय दूसरा है और प्रतिषेध का विषय दूसरा है। विधि आकाश-भावस्वरूप एव प्रतिषेध खपुष्पभाव–अभावस्वरूप है। इस लिये इन दोनों का विषय भिन्न है। अतः इनमें

१ न च स्वलक्षणमेवान्यापोहः सर्वथा विधिनियमयोरेकतानत्वासभवात्। अष्टशती

भाव और अभाव की अपेक्षा स्वभाव भेद की उपलब्धि स्पष्ट है। अत प्रमेयत्वादिक हेतुओं में साधर्म्य वैधर्म्याविनाभावी है यह कथन सर्वथा निर्दोष है।

शका—संकेतविशेष की अपेक्षा लेकर शब्दविकल्पविशेष से एक ही विषय में विधि और नियम का संभव हो जायगा—तब स्वभाव भेद मानने की क्या आवश्यकता है। शंकाकार की इस शंका का अभिप्राय यह है कि जब विधि और प्रतिषेध मे एक विषयता हटाने के लिये आप उनमे जो स्वभावभेद प्रतिपादित कर रहे हैं सो ऐसा ही क्यों न मान लिया जाय कि विधि और निषेध को प्रकट करने के लिये एक शब्द हो और उसमें इस प्रकार का संकेत विशेष कर दिया जाय जो विधि और निषेध को प्रकट कर दे—जैसे कल्पना करो—कि " ख " यह शब्द है यह आकाशपदार्थ के कहने में संकेतित हुआ है। अब यही एक शब्द अपने आकाशरूप अर्थ का विधान करता हुआ वहीं पर पुष्प का अभाव भी प्रकट करता है। इस प्रकार विधि और निषेध में स्वभावतः भेदमानने की जरूरत ही नहीं रहती है। संकेतित शब्द से ही विधि और निषेध एक विषय में विना किसी स्वभाव भेद के सभव हो जाते हैं।

उत्तर—स्वभावभेद के विना सकेत विशेष नहीं हो सकता है। वस्तु के स्वभावभेद निबन्धनक ही संकेत विशेष होता है। यदि विधि और निषेध में वस्तुतः स्वभाव भेद न माना जाय तो उस प्रकार का संकेतविशेष वहां पर हो ही नहीं सकता है। इसलिये विधिस्वरूप आकाशादि एवं निषेधस्वरूप खपुष्पादि मे स्वभाव माने बिना काम नहीं चल सकने के कारण उनमें स्वभावभेद १ मानना ही चाहिये। नहीं तो " विधि निषेध " इस प्रकार का शब्दविशेष और इसी प्रकार का विकल्प प्रत्ययविशेष वहां उत्पन्न नहीं हो सकता।

शंका—यह बात आपने खूब कही कि स्वभाव भेद के विना सकेत विशेष और संकेतविशेष के विना अभिधान एवं प्रत्यय विशेष नही हो सकते, हम देखते है कि जिस पत्थर आदि में इन्द्र की स्थापना की जाती है वह पत्थर यद्यपि

१ तत्स्वभावभेदाभावे च सकेतविशेषानुपपत्तेरभिधानप्रत्ययविशेषोऽपि माभूत्तवन्यतरवत। अष्टशती।

इन्द्र के स्वभाव जैसा नहीं होता है तो भी उसमें व्यवहारी जन के सकेतविशेष से " इन्द्र " इस प्रकार का अभिधान विशेष एव " इन्द्र " इसप्रकार का प्रत्ययविशेष होता है। इसलिये हम यह बात कैसे कबूल करें कि वस्तु के स्वभाव भेद विना सकेतविशेप नहीं हो सकता है। अर्थात् जब इस प्रकार से स्वभाव भेद विना भी तत्प्रकार का—उस तरह का-संकेतविशेप होता हुआ देखा जाता है तब यह कहना कि वस्तु के स्वभाव भेद के अभाव में वहां संकेतविशेप की अनुप-
आ० पत्ति है कोई महत्त्व नहीं रखता । तथा संकेत विशेष की अनुपपत्ति में " ख अस्ति तत्पुष्प नास्ति " इस प्रकार का अभिधान विशेष एवं प्रत्यय विशेष भी उत्पन्न नहीं हो सकता ऐसा जो कहा गया है सो वह भी अब ठीक नहीं
मी० जचता अर्थात् " खं अस्ति तत्पुष्प नास्ति " इस प्रकार का अभिधान विशेष एव प्रत्यय विशेष भी हो सकता है। कारण
१८५ कि ये अभिधान एव प्रत्ययविशेष संकेतविशेष के ऊपर निर्भर थोडे ही हैं—जो उसके नहीं होने पर न हों। ये तो अनादिकालीन वासना से उद्भूतविकल्प के आधीन हैं अत उससे ही ये होते हैं।

उत्तर—इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है। कारण कि समस्त शब्दों में समस्त अर्थों को प्रतिपादन करने की विचित्र शक्तियां हैं। अर्थात् हरएक शब्द हरएक अर्थ को प्रधान गुणभाव से प्रतिपादन करने की शक्तिस्वभाव-वाला है। इसी तरह समस्त पदार्थों मे ऐसी नाना शक्तियां है—कि जिनके कारण वे प्रधान एव गुण भाव से समस्त शब्दों द्वारा वाच्य हो सकते हैं। यह पहिले प्रमाण की चर्चा में प्रकट किया जा चुका है। मतलब कहने का यह है कि शब्द सहज योग्यता के होने पर ही सकेत के वश से वस्तु का प्रतिपादन किया करता है। शब्द में और अर्थ मे स्वाभाविक रूप से वाच्य वाचक सम्बन्ध रहा हुआ है। शब्द वाचक हैं और पदार्थ वाच्य हैं। पदार्थ शब्द के द्वारा प्रधान गुण भाव से वाच्य होता है। इसी तरह शब्द भी प्रधान गुण भाव से पदार्थ का वाचक होता है। पदार्थ अनिन्द्रस्वभाव भी हो परन्तु इन्द्र शब्द द्वारा वहां वाच्यत्व शक्ति का सद्भाव रहा हुआ है। इसीलिये तो उसमें व्यवहारीजन इन्द्र शब्द के द्वारा इन्द्र अर्थ का संकेत कर लिया करते हैं। इससे वहां " इन्द्र " यह अभिधान और " इन्द्र " इस प्रकार का प्रत्यय बन जाता है। अनिन्द्र स्वरूप पदार्थ में जब अनिन्द्र शब्द की प्रवृत्ति होगी उस समय अनिन्द्र यह शब्द अपने अर्थरूप

२

इन्द्राभाव को प्रधानरूप से कहेगा परन्तु फिर भी उस पदार्थ में उस समय भी इन्द्र शब्द द्वारा वाच्यत्व शक्ति का अभाव नहीं होगा वह भी रहेगी इसीलिये उसमें " इन्द्र " इस प्रकार का व्यवहारी जनों द्वारा संकेत किया जा सकता है। नहीं तो इस प्रकार का सकेत वहां हो ही नहीं सकता। अतः यह मानना ही पड़ता है कि वस्तु के अन्दर इन्द्र स्वभाव और अनिन्द्र स्वभाव ये दोनों धर्म हैं और उन दोनों में भेद है। यदि यह भेद नही होता तो " इन्द्र " इस प्रकार का वहां सकेत ही नहीं हो सकता और इस संकेत के अभाव में इन्द्र इस प्रकार का अभिधान एवं प्रत्यय ये दोनो वहां नहीं हो सकते। अतः सकेत, वस्तु का स्वभाव भेद है कारण जिसका ऐसा ही है।

इसके बिना वह वस्तु में कथमपि नहीं हो सकता है। संकेत के अभाव में अभिधान एवं प्रत्यय विशेष भी नहीं हो सकते हैं। यदि वस्तु स्वभाव भेद के विना भी वहां सकेत विशेष होने लगे और संकेत विशेष के बिना प्रत्यय विशेष होने लगे तो जिसप्रकार खपुष्प में " नास्ति " यह प्रत्यय विशेष होता है उसी प्रकार आकाश में भी यह क्यों नहीं हो सकेगा, अवश्य हो सकेगा। अथवा जिस प्रकार आकाश मे " अस्ति " यह प्रत्यय होता है उसी प्रकार ख पुष्प में भी अस्ति यह प्रत्यय होने लगेगा कारण कि सकेत को तो आप सर्वथा वस्तुस्वभाव भेद के विना ही होता हुआ मान रहे हैं। अत इन समस्त दोषों को दूर करने के लिये यही मानना चाहिये कि विधि और प्रतिषेध ये दोनों प्रत्यय प्रति-नियत विषयवाले हैं। क्योंकि इनमें किसी प्रकार का बाधक प्रतीत नहीं होता है। इसलिये स्वलक्षण ही अन्यापोह है यह बात ठीक नहीं है। क्योंकि स्वलक्षणभावस्वरूप और अन्यापोह प्रतिषेध स्वरूप है। पदार्थ के जितने भी पर रूप है उतने उन से परावृत्तिस्वरूप स्वभाव भेद प्रतिक्षण जब उन पदार्थों में हैं तब यह कहना कि स्वलक्षण ही अन्यापोह है व्यवस्थित नहीं माना जा सकता कारण कि अन्यापोह संबन्ध्यन्तरापेक्ष है और वे सबन्ध्यन्तर उस स्वलक्षण के स्वरूप-भूत नहीं हैं। क्योंकि वे संबन्ध्यन्तर उसके पररूप हैं। यदि वे संबन्ध्यन्तर उसके पररूप नहीं माने जाय तो उनसे उस स्वलक्षण की परावृत्ति–व्यावृत्ति–नहीं बन सकती है। संबन्ध्यन्तर रूप पररूप भी यदि स्वलक्षणरूप भाव के स्वभाव के भेदक नहीं हो तो फिर बौद्धसिद्धान्त में " नित्यपदार्थ के मानने में क्रमशः अर्थ क्रिया नही बन सकती है इस प्रकार

का जो निषेध किया गया है" वह ठीक नहीं बैठता है। कारण कि नित्य पदार्थ के मानने पर भी जो उसके संबन्ध्यन्तर होंगे वे ही सब कादाचित्क होंगे और उनसे क्रमशः अर्थक्रिया निष्पन्न होती रहेगी।

इसलिये नित्यवादियों के ऊपर जो यह अनित्यवादी बौद्धों द्वारा आक्षेप किया जाता है कि वह अप्रच्युत, अनुत्पन्न एवं स्थिरैकरूप नित्य पदार्थ जो अर्थक्रिया करेगा वह क्रमसे करेगा या अनुम से करेगा। वह क्रम से अर्थ क्रिया
आ० करता है तो ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि नित्य पदार्थ समर्थ है इसलिये कालान्तर में होने वाली क्रियाओं
मी० को भी वह प्रथम क्षण में होनेवाली क्रियाओं के साथ२ ही कर देगा क्योंकि "समर्थस्य कालाक्षेपायोगात्" समर्थ के
१८७ लिये ... की आवश्यकता जो नहीं होती है। यदि वह अर्थक्रिया करने में विलम्ब—कालक्षेप—करता है तो वह सामर्थ्यवान् नहीं कहा जा सकता। यदि इस पर यों कहा जाय कि नित्य पदार्थ तो समर्थ है पर वह विना सहकारी के कार्य नहीं कर सकता—अतः सहकारी कारणों के क्रमशः मिलने पर वह भी क्रमश ही अर्थ क्रिया करेगा—सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार के कथन से नित्य पदार्थ की अर्थक्रिया करने के प्रति असमर्थता ही प्रकट होती है। जो असमर्थ होता है वही परापेक्षा वाला होता है। समर्थ नहीं। "सापेक्षमसमर्थं" ऐसा न्याय का वचन है। यदि फिर भी इस पर यों कहा जाय कि कार्य ही सहकारी कारणो की अपेक्षा रखता है नित्य नही सो यह भी कहना युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता हैं। क्योंकि यहां पर भी यही प्रश्न होता है कि वह नित्य पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ है या असमर्थ। समर्थ यदि है तो सहकारी कारणों के मुख की तरफ उसे देखना उचित नहीं हैं। शीघ्र ही उसे अपना कार्य कर डालना चाहिये।

यदि इसके समाधान में यह कहा जाय कि जिस प्रकार बीज के समर्थ होते हुए भी वह बीज पृथिवी, जल, वायु आदि के सहकार से ही अंकुर को उत्पन्न करता है उनके विना नहीं, उसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होते हुए भी सहकारियों के विना कार्य नहीं कर सकता तो प्रश्न होता है कि वे सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ का कुछ उपकार करते हैं या नहीं? यदि वे सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ का उपकार करते है तो वह कृत उपकार उस नित्य

पदार्थ से भिन्न है या अभिन्न है। यदि वह कृत उपकार उस नित्य पदार्थ से भिन्न है ऐसा माना जावे "कथं तस्योपकारः किं न सह्यविन्ध्याद्रेरपि" तो यह उपकार नित्य पदार्थ का ही है सह्य अथवा विंध्याद्रि का नहीं है इसमें नियामक क्या। कारण कि जिस प्रकार सहकारी कारणों द्वारा संपादित उपकार नित्य से जुदा है उसी प्रकार वह सह्य एवं विन्ध्याद्रि से भी है। अत. भिन्नत्व की अविशेपता में यह उसी का है इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। यदि कृत उपकार को नित्य के साथ सम्बन्धित करने के लिये उन दोनों का सम्बन्ध स्वीकार कर यह कहा जाय कि "तस्यायं" यह उपकार इसी का है सह्यविन्ध्याद्रि का नहीं–सो इस पर भी यह पूछा जा सकता है कि उपकार और उपकार्य का सम्बन्ध परस्पर में क्या है। क्या संयोग सम्बन्ध है या समवाय सम्बन्ध है? संयोग तो दो द्रव्यों का ही होता है। द्रव्य और क्रिया का नहीं। उपकार्य नित्य पदार्थ द्रव्य है और उपकार क्रिया है। समवाय सम्बन्ध भी इन दोनो में नियमित इसलिए नहीं हो सकता कि "तस्यैकत्वात् व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वात् न नियतै. सम्बन्धिभिः सम्बन्धोयुक्तः" वह एक और व्यापक माना गया है। इसलिये वह न किसी पदार्थ के पास है और न उससे दूर ही वह तो सबके साथ समान है। अत वह नियत सम्बन्धियों के साथ कैद कैसे हो सकता है। यदि कृत उपकार को नित्य से अभिन्न माना जावे तो "स एव कृतः इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरयाता" नित्यपदार्थ में कृतकता आ जाती है। इस प्रकार लाभ की इच्छा के बजाय उल्टी मूल में ही क्षति आ जाती है।

नित्य पदार्थ यदि अक्रम--युगपत्--अर्थ क्रिया करता है ऐसा माना जाय तो यह भी समझ में आने जैसी बात नहीं है। कारण कि इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। यदि मान भी लिया जाय कि वह अक्रम से समस्त काल में होने वाली अर्थक्रिया को एक ही समय में कर देता है तो फिर यह तो कहो कि वह द्वितीय क्षण में क्या करेगा। कहा जाय यदि वह द्वितीय क्षण में भी अर्थक्रिया करता रहेगा-तो इसपर फिर यही प्रश्न होगा कि वह क्रमशः अर्थक्रिया करेगा या युगपत्। नित्य पदार्थ क्रमश या अक्रम से अर्थ क्रियाकारी नहीं हो सकता हैं यही तो प्रकट किया जा रहा है। मान लिया जाय यदि वह द्वितीय क्षण में कुछ भी अर्थक्रिया नहीं करता है-तो इस हालत में उसमें अनर्थक्रियाका-

रिता आने से अवस्तुत्वापत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है कारण कि अर्थक्रियाकारी पदार्थ ही सत् वस्तुस्वरूप-माना गया है। अनर्थक्रियाकारी नहीं" सो १ यह आक्षेप बौद्धो का नित्य वादियो के ऊपर ठीक नहीं बैठता है। कारण कि जिस प्रकार सम्बध्यन्तररूप रूपरप जब स्वलक्षण रूप क्षणिक पदार्थ के स्वभाव भेदक नहीं होते है उसी प्रकार हम भी यह कहते हैं कि नित्य पदार्थ के मानने पर भी जो सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ को कार्य के उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करेंगे वे भी उसके स्वभाव भेदक कैसे हो सकेंगे। फिर नित्य पदार्थ से क्रमशः अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी ऐसा कहना उचित प्रतीत नहीं होता। कारण कि नित्य का जो स्वभाव कार्य करने का है वह तो उसका वही रहेगा। अब रही कालान्तर में होने वाली अर्थक्रियाओ को, प्रथमक्षण में होनेवाली अर्थक्रिया के साथ करने की बात सो वह उनको प्रथमक्षण में इसलिये नहीं करता है कि उसे सहकारी कारण प्रथम क्षण में नहीं मिलते हैं। वे सब क्रमश. ही मिलते है। अत क्रमशः वह अर्थक्रिया करता है।

इससे नित्य पदार्थ के कार्य करने के स्वभाव मेँ कोई फर्क नही आता। यद्यपि नित्य अर्थक्रिया करने में समर्थ कारण है। तो भी उससे युगपत् अर्थक्रिया इसलिये नहीं होती है कि जिन सहकारी कारणों की सहायता से कार्य बनता है—उत्पन्न होता है-वे सहकारी कारण कदाचित्क हैं क्रमवर्ती हैं। जिस प्रकार क्षणिक मान्यता मे कोई एक क्षणिक कारण क्षणिक सामग्री रूप सहकारी कारणों के बीच में पतित होकर कार्य करने के अपने स्वभाव का परित्याग नही करता है उसी प्रकार तत्तत्कार्यनिर्वर्तनात्मक एवं क्रमवर्ती सहकारी कारणों की सहायता लेकर अर्थक्रिया रूप कार्य करने वाला नित्य पदार्थ भी कार्य करने के अपने स्वभाव का परित्याग नही करता है। इसीलिये यह मानना

---

१ पररूपाण्यपि यदि सबध्यन्तराणि भावस्वभावस्याभेदकानि न स्युस्तदा नित्यत्वेऽपि कस्यचित्सवंध्यन्तरेषु कादाचित्केषु क्रमशोऽर्थक्रिया न वै विप्रतिषिध्येत। शक्यं हि वक्तुं क्रमवर्तीनि कारणानि तत्तन्निर्वर्तनात्मकानि इति नित्य स्वभाव न वै जहाति क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैकतमवत्। तदेसदा तत्तत्कर्तुं समर्थमेकं स्वभाव मविचलित बिभ्राणं सहकारिकारणानि स्वभावस्याभेदकानि नामाकार्यनिबंधनानि कादाचित्कानि प्रतीक्षत इति।

अष्टशती।

चाहिये कि कि वे सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ के स्वभावभेदक नहीं होते है। बौद्धों ने स्वयं इस बात को सिद्ध माना है कि यवाङ्कुर आदि रूप कार्य की उत्पादक क्षिति, उदक, बीज, एवं आतप आदि रूप अनेक क्षणिक सामग्री है इनमें से यव रूप कारण जब अन्त्यक्षण को प्राप्त हो जाता है तब ही वह यवाङ्कुर आदि कार्य के निर्वर्त्तनात्मक अन्य कारणो के होने पर भी अपने कार्य का उत्पादक होता है। इसमें उन्होने स्वाभाव भेद अंगीकार नहीं किया है। भिन्न २ कार्यों को करने का ही नित्य का एक समर्थ एव अविचलित-अखड़-स्थिरस्वभाव है। इस स्वभाव का भेद सहकारी कारणों से नहीं होता है। वे सहकारी कारण उस नित्य के स्वभाव के अभेदक नाना कार्यों के करने में मददगार, एवं कदाचित्क हैं। इसलिये वह नित्य उनकी अपेक्षा कार्य करने के समय रखता है। मतलब कहने का यह है कि नित्यवादी ने सर्वथा अनित्य वादी बौद्ध से जब इस प्रकार का प्रश्न किया कि तुम्हारा अनित्य पदार्थ अर्थक्रिया क्रम से करता है या अक्रम से। देशकृत क्रम एव कालकृत क्रम इस अनित्य पदार्थ में बनता ही नहीं है। कारण कि क्षणिक पदार्थ मे पूर्वक्रम एव अपर क्रम असभव है। नित्य पदार्थ में ही अनेकदेशो मे रहने वाला देश क्रम एवं अनेक कालों मे रहने वाला कालक्रम सभव हो सकता है। सर्वथा अनित्यपदार्थों १ मे नहीं। सन्तान की अपेक्षा यद्यपि क्रम बन सकता है। परन्तु बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार सन्तान कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होती है।

यदि सतान को वस्तुस्वरूप मान भी लिया जाया तो भी उसे क्षणिक ही अंगीकार करना पडेगा, नहीं तो क्षणिक वाद का विध्वस होने का प्रसंग प्राप्त होगा। अक्रम से क्षणिक पदार्थ अर्थक्रिया करते हैं यदि यह बात अंगीकार की जाय तो हम यह पूछते है कि बीजपूरादि पदार्थ जो रसादिकों को एक साथ उत्पन्न करता है वह एक ही स्वभाव से करता है अथवा नाना स्वभाव से करता हैं। यदि एक स्वभाव से उसे एक साथ अनेक रसादिरूप उत्तर क्षणों का

१ यो यत्रैव स तत्रैव, यो यदैव तदैव स।
न देशकालयो र्व्याप्ति, र्भावानामिह विद्यते॥

स्याद्वाद मजरी पा० ३३

उत्पादक माना जायगा तो ऐसी हालत मे उन समस्त रसादि रूप उत्तर क्षणो में एकस्वभाव से जन्य होने के कारण एकरूपता की आपत्ति आयगी। यदि यह कहा जाय कि वह बीज पूरादिरूप कारण जो उन उत्तरक्षण रूप रसादिकों का जनक होता है सो एकस्वभाव से नहीं होता है किन्तु अनेक स्वभावो से होता है, रूपादिक को उपादान भाव से एव रसादिक को सहकारी भाव से उत्पन्न करता है-सो इस पर हम यह पूछते हैं कि ये स्वभाव उस बीज पूर रूप कारण के निजस्वभाव हैं या पर स्वभाव हैं। यदि उपादानादिभाव बीजपूर कारण के परस्वभाव हैं ऐसा कहा जाय तो उस बीजपूर रूप कारण में स्वभावत्व की हानि होने का दोष आता है। यदि उन्हें आत्मभूत माना जाय-निज स्वभाव माना जाय तो ऐसी हालत में उस बीजपूर रूप कारण में स्वभाव भेद की वजह से अनेकता की आपत्ति आती है। अथवा स्वभावों मे एकत्वापत्ति आती है। यदि इस एकत्वापत्ति अथवा अनेकत्वापत्ति को दूर करने के लिये ऐसा कहा जाय कि जो कारण मे एकत्र उपादान भाव है वही दूसरी जगह सहकारीभाव है इस अपेक्षा स्वभावभेद उसमे नहीं आ सकता-तो फिर इस प्रकार के कथन से यह बात जो बौद्धों ने नित्यवादियों के ऊपर आक्षेप रूप मे कही है "कि नित्य पदार्थ जो सदा एक रूप ही रहता है वह क्रम से नाना कार्यों को कैसे कर सकता है—यदि करता है तो उसमें स्वभावभेद का प्रसंग आता है—यदि नित्य सदार्थ एक स्वभाव से क्रमशः अर्थक्रिया करता है तो वह एक ही समय में अपने सब कार्य कर लेगा इसलिये कार्य सकरता हो जायगी और अनेक स्वभावों से यदि अर्थक्रिया करता है तो स्वभाव का भेद हो जाने के कारण नित्य पदार्थ क्षणिक हो जायगा" सो ठीक नहीं बैठ सकती, कारण कि तुम बौद्ध भी एक क्षणिक पदार्थ से उपादान और सहकारी भावो द्वारा कार्य की उत्पत्ति मानकर उसमे स्वभाव का भेद नहीं मानते हो। यदि कहा जाय कि नित्य पदार्थ एकरूप होने से क्रम रहित है अतः अक्रम से रहने वाले इस नित्य पदार्थ से क्रम २ से होने वाली अर्थक्रियाओ की कैसे उत्पत्ति हो सकती है तो यह तुम बौद्धो का केवल स्वसिद्धान्त के प्रति एक व्यामोह-पक्षपातमात्र-है। क्योकि आपलोग एक निरंश रूप क्षणिक कारण से एक साथ अनेक कार्यों की उत्पत्ति होना स्वीकार करके भी नित्य वस्तु मे क्रम २ से नाना कार्यों की उत्पत्ति मानने मे जो विरोध उपस्थित करते हो।

निरंश एक क्षणिक पदार्थ से अनेक कार्यों की उत्पत्ति तो हो सकती है ऐसा तो तुम स्वीकार करते हो पर एक नित्य पदार्थ से क्रम २ से अनेक कार्यों की उत्पत्ति होने में दोष प्रदर्शित करते हो सो इस तुम्हारी बात को कौन बुद्धिमान् युक्तियुक्त मान सकता है।

इस प्रकार यहां जो सर्वथा नित्यवादी एवं सर्वथा अनित्यवादी के विषय की चर्चा प्रकट करने में आई है वह " यदि सम्बन्ध्यन्तराणि " इस अष्टशती को स्पष्टरूप से खुलासा करने के लिये की गई जाननी चाहिये। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पक्षो में सम्बन्ध्यन्तरो का सम्बन्ध एक दूसरे के द्वारा स्वभावभेद का कारक बतलाया गया है। ऐसी हालत में जब कि सम्बन्ध्यन्तर स्वभावभेद के कारण होते हैं तब यह बात कैसे निर्विवाद मानी जा सकती है कि स्वलक्षण ही अन्यापोह है। अतः जब वह संबन्ध्यन्तर रूप अन्यापोह स्वलक्षण का स्वरूपभूत न होकर पररूप है तो खपुष्पादिक रूप अन्यापोह प्रमेयकोटि में नहीं आ सकते है। इसलिये अस्तित्व को नास्तित्वा-विनाभावी सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया गया यह कथन कि " जैसे साधर्म्य वैधर्म्या विनाभावी है " सर्वथा निर्दोष है। अतः प्रमेयत्वादिक जितने भी हेतु हैं उन सब में साधर्म्य वैधर्म्याविनाभावी है ही। और विशेष चर्चा टीका से ज्ञात कर लेनी चाहिये।

प्रश्न—"सर्वे पदार्थाः परिणामिनः प्रमेयत्वात्" इस प्रकार प्रमेयत्व हेतु अथवा और भी किसी हेतु द्वारा जब समस्त पदार्थों को पक्ष बनाकर उनमें परिणामित्व साध्य किया जाता है तो उस समय हेतु का सपक्ष में अन्वय सभवित ही नहीं होता है। क्यों कि जो भी दृष्टान्त कोटि में रक्खा जायगा वह पक्ष में ही अन्तर्भूत हो जायगा। ऐसी हालत में जब हेतु में साधर्म्य ही नहीं बनता है तब साधर्म्य वैधर्म्याविनाभावी होता है ऐसा मानना या कहना उचित नहीं हो सकता।

उत्तर—इस प्रकार का कथन तो उस समय ठीक माना जा सकता था कि जब हेतु में साधर्म्य एव व्यतिरेक दृष्टान्तधर्म के बल पर प्रकट करने में आते। परन्तु ऐसी मान्यता तो है नहीं। यदि एकान्तत इसी मान्यता को स्थान

विधेयप्रतिषेध्यात्मा, विशेष्यः शब्दगोचरः ।
साध्यधर्मो यथा हेतु, रहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥ १९ ॥

अन्वय---शब्दगोचरः विशेष्यः विधेयप्रतिषेध्यात्मा यथा साध्यधर्मं अपेक्षया हेतुः अहेतुश्चापि भवति ।

अर्थ--शब्द का विषयभूत विशेष्य--जीवादिक समस्तपदार्थ--विधि एव प्रतिषेध इन दोनो धर्मस्वरूप है । जैसे साध्य का धर्म अपेक्षा से हेतु एव अहेतु भी होता है ।

भावार्थ--१ किन्हीं २ वादियों का ऐसा कहना है कि अस्तित्व एवं नास्तित्व तो विशेषण ही हैं विशेष्य नहीं । इसलिये इन दोनो को अविनाभूत सिद्ध करने के लिये जो अनुमान प्रयोग स्वरूप १७ वीं और १८ वीं कारिकाएं कहीं गई हैं वे ठीक नहीं जचती हैं, कारण कि विशेषण तो पारमार्थिक साध्य एवं साधन धर्म का अधिकरण होता ही नहीं है । विशेष्य ही इनका अधिकरण बनता है ।

२ किन्हीं २ का ऐसा कहना है कि वस्तु का जो यह अस्तित्व एव नास्तित्व स्वरूप है वह वचन से कहा ही नहीं जा सकता है । क्योंकि वह सर्वथा अनभिलाप्य है ।

३ कोई २ वादी ऐसा कहते हैं कि प्रतिभास के भेद से जिस प्रकार घट और पटादिक में सर्वथा भेद है उसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व का भी जीवादिक वस्तुओं से सर्वथा भेद है । इसलिये " जीवादिक वस्तुएं इन स्वरूप हैं" यह कहना युक्ति युक्त नहीं है । यदि जीवादिक वस्तुएं इन स्वरूप मानी जायें तो धर्म ओर धर्मी में जो भेद व्यवहार होता है वह लुप्त हो जायगा । कारण कि धर्म और धर्मी में परस्पर में संकर-एक मेक हो जाने का--प्रसंग इस तरह की मान्यता में प्राप्त होता है ।

इस प्रकार की इन समस्त विप्रतिपत्तियों को दूर करने के लिये कारिकाकार ने इस कारिका का निर्माण किया है । इसमें जितने भी पद हैं वे इन्हीं भिन्न २ प्रकार को विप्रतिपत्तियों का निरसन करते हैं- यथा- 'विधेयप्रति-

है। परन्तु नास्तित्व धर्म एक धर्मी में अस्तित्व के साथ अविनाभावी कैसे हो सकता है कारण कि खपुष्प आदि में रहा हुआ नास्तित्व किसी भी तरह से अस्तित्व का अविनाभावी जो नहीं हो सकता है" सो ऐसा आक्षेप युक्तियुक्त नहीं है। कारण कि जिस प्रकार शब्द १ को अनित्य सिद्ध करनेवाले कृतक हेतु में वैधर्म्य २ साधर्म्य ३ के साथ अविनाभावी माना जाता है उसी प्रकार नास्तित्व भी अस्तित्व के साथ अविनाभूत माना गया है। अतः जीवादिक एक धर्मी में पर रूपादिक की अपेक्षा रहा हुआ नास्तित्व स्वरूपादिक की अपेक्षा वर्तमान अस्तित्व के साथ अविनाभूत सिद्ध होता है। इस प्रकार "एक धर्मिणि नास्तित्वं अस्तित्वाविनाभावि विशेषणत्वात्" यह अनुमान प्रयोग सर्वथा निर्दोष है। कारण कि असिद्ध; विरुद्ध एवं अनैकान्तिक जो हेतु के दोष हैं वे यहां पर संभवित नहीं होते हैं। विशेषणत्वरूप हेतु पक्षीकृत नास्तित्व में रहता है इसलिये यह असिद्ध नहीं है। तथा अपने साध्य से विरुद्ध के साथ इस हेतु की व्याप्ति न होने से यह विरुद्ध एवं अनैकान्तिक भी नहीं है। यदि अपने साध्य से विरुद्ध—स्वप्रतिषेध्याविनाभावरहित—के साथ इस हेतु का रहना माना जाय तो ऐसी हालत मे वह विशेषण ही नहीं माना जायगा।

शका—नास्तित्व को अस्तित्व के साथ अविनाभूत सिद्ध करने के लिये आपने जो "जैसे व्यतिरेक अन्वय के साथ अविनाभूत है" यह दृष्टान्त कहा है सो यह ठीक नहीं है। कारण कि जो केवल व्यतिरेकी हेतु होता है वह अन्वय के साथ अविनाभूत नहीं है। जैसे "सात्मकं १ जीवच्छरीर भवितुमर्हति प्राणादिमत्वात्" इस अनुमान में प्राणादिमत्व हेतु केवलव्यतिरेकी है। यह साधर्म्य के साथ अविनाभावी नहीं है।

---

१ शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्। यो य· कृतक· स सोऽनित्यः यथा घट. यन्नानित्य तन्न कृतकं यथा गगनमिति।

टिप्पण अष्टसह०

२ साध्याधिकरणवृत्तित्वेन निश्चितत्व साधर्म्यं, साध्याभावाधिकरण वृत्तित्वेना निश्चितत्व वैधर्म्यं।

सप्तभगीतरगिणी पृ० ५३

१ पक्षवृत्ति· विपक्षव्यावृत्त सपक्षरहितः हेतु केवलव्यतिरेकी। यथा जीवच्छरीर सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्वात् यद्यत्सात्मक न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठ इति। अत्र लोष्ठादिर्व्यतिरेकदृष्टान्तः। सपक्ष पुनरत्रनास्त्येव सर्वस्यापि पक्षविपक्षान्तर्भावात।

न्यायदीपिका पृष्ठ ९०

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि यहां पर भी व्यतिरेक साधर्म्य के साथ अविनाभूत है। सात्म-कत्वरूप साध्य के अधिकरण—अन्यजीव—में प्राणादिमत्व हेतु का सद्भाव पाया ही जाता है। साध्य के अधिकरण में हेतु का रहना यही साधर्म्य है। यह यहां पर अक्षतरूप से विद्यमान है। ऐसा तो कोई नियम है ही नहीं कि पक्ष से भिन्न में ही साधर्म्य होना चाहिये—पक्ष[१] में नही। इसलिये पक्ष में भी साधर्म्य जाने से कोई हानि नहीं है। इसो प्रकार "पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात्" इस केवल व्यतिरेको हेतुवाले अनुमान में भी गन्धवत्त्व व्यतिरेको हेतु का साधर्म्य घटादिकरूप पृथिवी में जान लेना चाहिये।

शंका—अस्तित्व नास्तित्व का अविनाभावी भले रहो इसमें तो विवाद जैसो कोई बात नहीं है। परन्तु यह बात समझमें नहीं आती कि नास्तित्व अस्तित्व के साथ अविनाभावी कैसे होता है? क्योंकि शशविषाण आदि में नास्तित्व तो है पर वह अस्तित्व के साथ अविनाभूत नहीं है।

उत्तर—शका तो ठीक है परन्तु विचार करने से इसकी निवृत्ति भी हो जाती है। देखो-गोमस्तक पर जो शृंग समवायसम्बन्ध से "अस्ति" इस रूप से प्रसिद्ध है वह शृंग शश आदि के मस्तक पर नहीं है। इस अपेक्षा यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिन, शृंग, रोम तथा पुष्प आदि वस्तुओं का गौ, मेष तथा चंपा आदि वृक्ष में अस्तित्व है उन्हीं का नास्तित्व शश, कूर्म एवं आकाश आदि मे है। इस तरह नास्तित्व अस्तित्व का अविनाभावी सिद्ध होता है। अतः कारिकाकार का यह कथन कि नास्तित्व अस्तित्व के साथ अविनाभूत है सर्वथा निर्दोष है।

---

१ पक्षभिन्न एव साधर्म्यं न पक्षे इति नियमाभावात्"

—सप्तभंगीतरंगिणी पृ०५३।

१—अथ—शशविषाणादौ नास्तित्वमस्तित्वेन विनाऽपि दृश्यते इति चेत्वदाम :-गोमस्तकसमवायित्वेन यदस्तीति प्रसिद्ध विषाणं तच्छशादिमस्तकसमवायित्वेन नास्तीति निश्चीयते। मेषादिसमवायित्वेन यानि रोमाणि सन्तीति प्रसिद्धानि तान्येव कूर्मादिसमवायित्वेन न सन्तीति निश्चीयन्ते। वनस्पतिसम्बन्धित्वेन यदस्तीति प्रसिद्ध तदेव गगनसम्बन्धित्वेन नास्तीति निश्चीयते तथा चास्तित्वं नास्तित्व च परस्परमविनाभूतमेव वर्तते। सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ५४।

विधेयप्रतिषेध्यात्मा, विशेष्यः शब्दगोचरः ।
साध्यधर्मो यथा हेतु, रहेतुश्चाप्यपेक्षया ।। १९ ।।

अन्वय---शब्दगोचरः विशेष्यः विधेयप्रतिषेध्यात्मा यथा साध्यधर्म. अपेक्षया हेतु. अहेतुश्चापि भवति ।

अर्थ–शब्द का विषयभूत विशेष्य–जीवादिक समस्तपदार्थ–विधि एवं प्रतिषेध इन दोनों धर्मस्वरूप है । जैसे साध्य का धर्म अपेक्षा से हेतु एव अहेतु भी होता है ।

भावार्थ–१ किन्हीं २ वादियों का ऐसा कहना है कि अस्तित्व एवं नास्तित्व तो विशेषण ही हैं विशेष्य नहीं । इसलिये इन दोनो को अविनाभूत सिद्ध करने के लिये जो अनुमान प्रयोग स्वरूप १७ वी और १८ वीं कारिकाएं कहीं गई हैं वे ठीक नहीं जचती हैं, कारण कि विशेषण तो पारमार्थिक साध्य एवं साधन धर्म का अधिकरण होता ही नहीं है । विशेष्य ही इनका अधिकरण बनता है ।

२ किन्हीं २ का ऐसा कहना है कि वस्तु का जो यह अस्तित्व एव नास्तित्व स्वरूप है वह वचन से कहा ही नहीं जा सकता है । क्योंकि वह सर्वथा अनभिलाप्य है ।

३ कोई २ वादी ऐसा कहते हैं कि प्रतिभास के भेद से जिस प्रकार घट और पटादिक में सर्वथा भेद है उसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व का भी जीवादिक वस्तुओं से सर्वथा भेद है । इसलिये " जीवादिक वस्तुएं इन स्वरूप हैं" यह कहना युक्ति युक्त नहीं है । यदि जीवादिक वस्तुएं इन स्वरूप मानी जायें तो धर्म और धर्मी में जो भेद व्यवहार होता है वह लुप्त हो जायगा । कारण कि धर्म और धर्मी में परस्पर में संकर-एक मेक हो जाने का–प्रसंग इस तरह की मान्यता में प्राप्त होता है ।

इस प्रकार की इन समस्त विप्रतिपत्तियों को दूर करने के लिये कारिकाकार ने इस कारिका का निर्माण किया है । इसमें जितने भी पद हैं वे इन्हीं भिन्न २ प्रकार की विप्रतिपत्तियों का निरसन करते हैं- यथा- 'विधेयप्रति-

षेध्यात्मा" यह पद इस बात का समर्थन करता है कि प्रत्येक पदार्थ चाहे वह चेतनात्मक हो चाहे अचेतनात्मक हो स्वद्रव्यादिक एवं परद्रव्यादिक की अपेक्षा से विधेय-अस्तित्व स्वरूप और प्रतिषेध्य-नास्तित्वस्वरूप है, इससे "जो पहिले यह कहा गया है कि प्रतिभास के भेद से घट पटादिक की तरह अस्तित्व एवं नास्तित्व जीवादिक वस्तुओं से सर्वथा भिन्न ही हैं" इस मान्यता का निरसन हो जाता है। "शब्दगोचरः" इस पद से कारिकाकार ने यह प्रकट किया कि वस्तु का अस्तित्व एवं नास्तित्व स्वरूप सर्वथा वचन के अगोचर नहीं है' किन्तु अभिलाप्य है। इसी तरह "विशेष्यः" इस पद द्वारा उन्होंने यह बात समर्थित की है कि अस्तित्व एवं नास्तित्व विशेषण ही नहीं है किन्तु विशेष्य भी हैं। समस्त जीवादिक पदार्थ अस्तित्व एवं नास्तित्वधर्मात्मक हैं इस पक्ष की सिद्धि करने में "विशेष्य" यह प्रथमान्त पद हेतु स्थानीय समझना चाहिये। जिस प्रकार "गुरवो राजमाषा न भक्षणीया,, ऐसा कहने पर "गुरव." यह प्रथमान्त पद हेतु परक बन जाता है। अर्थात्'-राजमाषा न भक्षणीय गुरुत्वात्" उसी प्रकार "सर्वो जीवादिः विधेय प्रतिषेध्यात्मा विशेष्यत्वात्,, ऐसा समझ लेना चाहिये। "साध्यधर्म." यहां पर साध्यपद से धर्मी का ग्रहण १ हुआ है। क्योंकि वही साध्यरूप धर्म का आधार होता है। इसलिये उपचार से साध्यरूप धर्म का आधार होने के कारण धर्मी भी साध्य मान लिया जाता है।

आ० मी०, १९७

इस उपचार का कारण दृष्टान्तधर्मी का व्यवच्छेद करना है। अर्थात् दृष्टान्त रूप धर्मी किसी भी तरह साध्य नहीं माना जाता है। अनुमान प्रयोगकाल की अपेक्षा केवल साध्यविशिष्ट धर्मी साध्य मान लिया जाता है। इस साध्यरूपधर्मी का जो उत्पत्तिमत्त्वादिक विवर्त है वह साध्य धर्म से गृहीत हुआ है। जिस प्रकार यह साध्यधर्म--उत्पत्तिमत्त्वादिक अनित्यसाध्य की अपेक्षा हेतु माना जाता है और नित्यसाध्य की अपेक्षा अहेतु माना जाता है क्योंकि जब ऐसा कहा जाता है कि "शब्दोऽनित्य उत्पत्तिमत्त्वात्–कृतकत्वात्,,–शब्द अनित्य है क्योंकि वह उत्पन्न होता है

१ "साध्यधर्मं क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मीति" परीक्षा मुख सूत्र २५। "ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे पक्षो धर्म्यभिधीयते, व्याप्तिकाले भवेद्धर्मं साध्यसिद्धौ पुनर्द्वयम्" प्रमेयरत्नमाला टिप्पणी पृ० ९३

तब इस प्रकार के कथन में साध्य धर्म जो उत्पत्तिमत्व है वह अपने अनित्य साध्य की अपेक्षा ही हेतु माना जाता है नित्य साध्य की अपेक्षा नहीं—अतः वह नित्य साध्य की अपेक्षा तो अहेतु माना जायगा। क्योंकि वह अपने साध्य का ही जो गमक होता हैं। अन्य-अपने साथ अविनाभाव सबंध से रहित -साध्य का नहीं। हेतु मे स्वसाध्य की गमकता विधिस्थानीय एवं अन्य साध्य की अगमकता प्रतिषेध स्थानीय मानना चाहिये। तात्पर्य कहने का यह है कि जिसप्रकार हेतु में अपेक्षाकृत विधि प्रतिषेधात्मकता है उसी प्रकार समस्त जीवादिक पदार्थों में भी अपेक्षाकृत विधि प्रतिषेधात्मकता है। जीवादिक पदार्थ विशेष्य है इस बात को भी सिद्ध करने वाला "शब्दगोचरः" यह प्रथमान्त पद है। "जीवादि पदार्थ विशेष्य शब्दगोचरत्वात्" इस प्रकार अनुमान प्रयोग जानना चाहिये।

शंका—आपने जीवादिक पदार्थो में विशेष्यता सिद्ध करने के लिये शब्दगोचरत्व हेतु दिया-सो ठीक, परन्तु जीवादिक पदार्थ शब्द गोचर हैं इसे असिद्ध मानने वालो के प्रति इस बात को सिद्ध करने के लिये आपके पास क्या हेतु है। कहिये—

उत्तर—सुनो—"शब्दगोचरो जीवादिः विशेष्यत्वात्" जीवादिक पदार्थ विशेष्य होने से हेतु की तरह शब्द के विषयभूत है इस प्रकार के प्रमाणभूत हेतु से उनमे शब्दगोचरता सिद्ध हो जाती है।

शका—आप तो बडे होशि-ार मालूम पड़ते हैं-वहां विधेयप्रतिषेधात्मकता सिद्ध करने के लिये विशेष्य को, विशेष्यता सिद्ध करने के लिये शब्दगोचरत्व को एवं शब्द गोचरत्व सिद्ध करने के लिये पुनः विशेष्यत्व को जो आप हेतुरूप मे रखते है सो विशेष्यता सिद्ध करने के लिये शब्दगोचरत्व तक तो विवाद जैसी कोई बात नही उठती-परन्तु जव शब्दगोचरत्व सिद्ध करने के लिये पुनः विशेष्यत्व को हेतु बनाया जाता है वहां परस्पराश्रयता-इतरेतराश्रयता-नामक दोष आने से विवाद खड़ा हो जाता है। क्योकि जीवादिक धर्मी में विशेष्यता की सिद्धि शब्द गोचरत्व के आधीन और शब्दगोचरत्व की सिद्धि विशेष्यता के आधीन जो हो जाती है।

उत्तर—कथन शैली को नहीं ध्यान में देने से यह शका उपस्थित की गई है-जब यह बात समझ में आ जाती

है कि जो सर्वथा अनभिलाप्यवस्तुवादी हैं उनके प्रति शब्दगोचरत्व को साध्य बनाते समय विशेष्य को हेतु रक्खा गया है और जो सर्वथा अविशेष्यवादी हैं उनकी अपेक्षा विशेष्य को साध्यकोटि मे रखकर शब्द गोचर को साधन कोटि मे रखा गया है तब यह शका ही उपस्थित नहीं होती। इसी तरह जो जीवादिक धर्मो मे शब्दगोचरता एवं विशेष्यता भी अंगीकार नहीं करते हैं उनकी अपेक्षा इन दोनों को साध्यकोटि में स्थापित कर वादिप्रतिवादी उभय के लिये मान्य वस्तुत्व १ को हेतु कोटि मे रखा गया है। और इसी से उनके प्रति जीवादिक वस्तुओं में विधेय प्रतिषेधात्मकता भी

आ० सिद्ध की गई है।

मी० शका---प्रत्यक्ष बुध्दि मे तो स्वलक्षणरूप वस्तु का ही प्रतिभास होता है। अस्तित्वादि विशेषणों का नहीं।

१९९ कारण कि स्वलक्षण वस्तु सम्पूर्ण प्रकार के विकल्पों से रहित मानी गई है अस्तित्वादि विशेषणो का तो व्यवहार केवल एक विकल्प बुद्धि मे ही प्रसिद्ध माना गया है।

उत्तर---ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि अस्तित्वादि अनेक विकल्पात्मक सांश वस्तु की ही प्रत्यक्षबुद्धि में प्रतीति होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो उस प्रत्यक्ष-बुद्धि के अनन्तर होने वाली विकल्प बुद्धि में भी अस्तित्व एवं नास्तित्व आदि विशेषणो का प्रतिभास नहीं होना चाहिये। जब निर्विकल्पक दर्शन की सत् असत् स्वभाव से शून्य वस्तु विषय होगी तो यह बात स्वाभाविक है कि उस निर्विकल्पक ज्ञान के पीछे होने वाले सविकल्पकात्मक ज्ञान से भी सत् और असत् का अध्यवसाय नहीं हो सकेगा। पीत का दर्शन होने पर तत्पृष्ठभावी विकल्प से पीत का ही अध्यवसाय होगा नील का नही। अतः वस्तु स्वभावतः सत् असत् स्वभाववाली है। तथा ये सत् असत् स्वभाव ही वस्तु में सांशता की सिद्धि करते हैं ऐसा मानना चाहिये। सकल विकल्पों से रहित केवल विशेष मात्र वस्तु स्वलक्षण नहीं मानी गई है और न केवल सामान्य मात्र वस्तु या परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेषमात्र वस्तु स्वलक्षण मानी गई है किन्तु सामान्यविशेषात्मक वस्तु ही स्वलक्षण मानी गई है। यही वस्तु का अपना लक्षण है। इसी लक्षण से समन्वित वस्तु

१--"जीवादिः शब्दगोचरो विशेष्यश्चवस्तुत्वात्।"

प्रमाता द्वारा यथाक्षयोपशम प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से बिना किसी बाधा के जानी जाती है। इससे विपरीत स्वरूप वाली वस्तु की किसी भी प्रमाण से प्रतीति नहीं होती है। अतः ऐसा कहना कि प्रत्यक्ष बुद्धि में स्वलक्षण-सकलविकल्पातीत केवल विशेषमात्र वस्तु का ही भान होता है ठीक नहीं है। चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे परोक्ष हो कोई भी प्रमाण क्यों न हो, उसमें सामान्य एव विशेषरूप अपने निज धर्मों से समन्वित होने के कारण जात्यन्तररूप वस्तु का ही भान होता है। यही सिद्धान्त ठीक है । "सामान्य विशेषात्मक वस्तु है" इसका मतलब भी यही है कि वस्तु विधेयप्रतिषेधात्मक है। अतः जिस प्रकार साध्य धर्म अपेक्षा से हेतु और अहेतु माना जाता है उसी प्रकार जीवादिक वस्तु भी किसी अपेक्षा से विधेय प्रतिषेध्यात्मक मानी गई है।

शेषभंगाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगातः।
न कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र ! तवशासने ॥ २० ॥

अन्वय---यथोक्तनययोगतः शेषभंगाश्च नेतव्या । मुनीन्द्र ! तवशासने कश्चिद्विरोधो नास्ति।

अर्थ---पूर्व ३ कारिकाओं मे कथित विशेषणत्वादिक हेतु एव दृष्टान्त रूपनय के योग से अवशिष्ट भगो को भी अपने २ प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी साधित कर लेना चाहिये। हे मुनीन्द्र ! इस प्रकार के साधन करने में आपके अनेकान्तशासन में किसी भी प्रकार का विरोध नही आता है।

भावार्थ----कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि जिस प्रकार एक धर्मी में अस्तित्व नास्तित्व के साथ, नास्तित्व अस्तित्व के साथ विशेषणत्व हेतु एव साधर्म्य तथा वैधर्म्य दृष्टान्त द्वारा अविनाभूत सिद्ध करने में आया है तथा अस्तित्वनास्तित्वात्मक तृतीय भंग कि जिसमें क्रमश दोनों धर्म मुख्य रूप से अर्पित-विवक्षित हुए हैं अपने प्रतिषेध्य प्रथम एवं द्वितीय भंग के साथ अविनाभूत १९ वीं कारिका द्वारा साधित हो जाता है। उसी प्रकार एकत्र जीवादिक वस्तु में अवक्तव्य धर्म वक्तव्य के साथ -पहिले के तीन भगों के-साथ अविनाभूत समझना चाहिये

और इसी तरह सद् अवक्तव्य असद् अवक्तव्यके साथ, असद् अवक्तव्य सद् अवक्तव्य के साथ एवं सद् असद् अवक्तव्य पंचम षष्ठ भंगरूप अनुभय अवक्तव्य के साथ भी अविनाभूत जानना चाहिये, इस प्रकार विवक्षाधीन कथनमें इस अनेकान्त शासन में कोई विरोध नहीं आसकता है। विरोध तो वहीं आता है जो विशेषण रूप इन धर्मों को प्रतिपक्षी के साथ अविनाभूत नही मानते है। इन समस्त धर्मों को अपने से प्रतिपक्षी धर्म के साथ अविनाभूत सिद्ध करने के लिये पूर्वोक्त विशेषणत्वादिक हेतु एवं उदाहरण यहां योजित कर लेना चाहिये। मतलब इसका यही है कि ये प्रत्येक भंग अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभूत होने के कारण विधिनिषेध स्वरूप हैं। इस प्रकार यह इस कारिका का संक्षिप्त भाव है। इसमें जो "न कश्चिद्विरोधोऽस्ति" यह "विरोध" शब्द आया है वह वैयधिकरण्य, अनवस्था, सकर, व्यतिकर संशय, अप्रतिपत्ति एवं अभाव इन दोषों का उपलक्षक १ है। स्याद्वाद सिद्धान्त में ये आठ दोष नहीं आते हैं। इसी तरह यह स्याद्वाद न छल स्वरूप है और न संशय स्वरूप ही। क्योंकि छल और संशय का लक्षण भी स्याद्वाद में घटित नहीं होता है। इन सव वातों को जानने के लिये सप्तभगतरगिणी पाना ८० से ८९ तक देखना चाहिये।

शिष्य—आपही कृपाकर इस विषय को सक्षेप मे समझा दीजिये तो अच्छा होगा। क्योंकि जवतक अन्य वादियों ने स्याद्वाद पर किस तरह आक्षेप किये और उनका उत्तर किस तरह से दिया गया यह वात समझ में नहीं आ जाती तब तक स्याद्वाद का ज्ञान अधूरा ही माना जा सकता है। अतः जो हम संस्कृत के परिज्ञान से रहित हैं उनके लिये आपका यह सक्षिप्त विवेचन बडे काम का हो जायगा।

गुरु—ठीक है यदि तुम्हारी भावना इस विषय को समझने की है तो समझो—मैं समझाता हूं। एकान्तवादियों का इस प्रकार कहना है कि स्याद्वादियों द्वारा स्वीकृत किया गया स्याद्वाद सिद्धान्त छल २ रूप है जो छल रूप होता है

१ विरोधोऽपि न कश्चित् उपलक्षणमेतत् विरोध इति संशयविरोधवैयधिकरण्योभयदोषप्रसंगसकरानवस्थाभावानाक्षिपति। वसुनन्दिसैद्धान्तिकविरचितवृत्ति।

२ परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्। स्या० म० १११।

वह प्रमाणिक पुरुषों की दृष्टि में प्रमाणकोटि से मान्य नहीं होता है । स्याद्वाद सिद्धान्त छलरूप इसलिये है कि जो पदार्थ अस्ति रूप से स्वीकृत करने में आया है वही पदार्थ नास्तिरूप से माना गया है जो नित्य है वही अनित्य है । सो छल वादियों का ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि अनेकान्तवाद में छल का लक्षण घटित नहीं होता है । अन्य अभि-प्राय से कहे हुए शब्द का अन्य अर्थ कल्पित कर दूसरे का वचन दूषित करना छल है । जैसे किसी ने कहा कि " नवकम्बलोऽयं पुमान् " यह पुरुष नव कम्बलवाला है । यहां नव शब्द का अर्थ नवीन है । और नवीन अर्थ के अभि-प्राय से ही यह शब्द यहां प्रयुक्त किया गया है । परन्तु छलवादी नव शब्द का अर्थ नौ की सख्या में कल्पित कर कहता है कि " कुतोऽय नवकम्बल. एककम्बलत्वात् " यह नौ कम्बल वाला कहां से आया-यह तो एक कम्बलवाला ही है । अनेकान्त वाद में छल का यह लक्षण इसलिये घटित नहीं होता कि यहां पर अन्य अर्थ में प्रयुक्त शब्द की अन्य अर्थ में कल्पना करने का अभाव है ।

किन्हीं २ वादियों का ऐसा कहना है कि अनेकान्तवाद-स्याद्वाद-संशयरूप है । क्योंकि एक ही पदार्थ के भीतर वह अस्तित्व नास्तित्व, आदि परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन करता है । परस्पर विरोधी धर्म एक वस्तु में संभवित नहीं होते हैं और उन्हे यह अनेकान्त एकत्र संभवित स्वीकार करता है, अतः जैसे सम्मुख स्थित यह पदार्थ स्थाणु है या नहीं यह ज्ञान एक पदार्थ विशेष्यक तथा स्थाणुत्व एवं उसके अभाव विशेषणक होने से संशय कहा जाता है उसी प्रकार अस्तित्व नास्तित्व आदि रूप विरुद्ध नाना धर्म विशेषण युक्त, घट आदि पदार्थ विशेष्यक ज्ञान का जनक होने से अनेकान्तवाद भी सशय का हेतु है । सो इस प्रकार का कथन ठोक नहीं है कारण कि अनेकान्त में विशेप लक्षण की उपलब्धि होती है । सामान्य अ श के प्रत्यक्ष, विशेष अंश के अप्रत्यक्ष एवं विशेष की स्मृति होने से संशय होता [1] है । जैसे " अय स्थाणुर्वा पुरुषोवा " यह स्थाणु है कि पुरुष है । यहां स्थाणु तथा पुरुष के उचित प्रदेश में कि जहां अत्यन्त

[1] सशयो हि सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च जायते ।

सप्तभगीतरगिणी पा० ८० ।

आ० श्री० २०३

प्रकाश एव अत्यन्त अन्धकार का अभाव हो रहा है केवल उर्ध्वता सामान्य का अवलोकन करने वाले पुरुष को स्थाणु एवं पुरूषगत विशेषधर्मों का अप्रत्यक्ष होने से तथा स्थाणु एवं पुरुषगत विशेषधर्मों की स्मृति आने से सशय होता है। इस प्रकार अनेकांतवाद मे सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष एवं विशेषधर्मों का अप्रत्यक्ष नहीं है कि जिससे इसे सशयस्वरूप माना जा सके। यहां तो स्वपररूप की अपेक्षा विशेप धर्मों की उपलब्धि निर्बाधरूप से हो रही है। अपेक्षा से विरोधी धर्म भी एकत्र संभवित होते हैं। एक ही खुशालचन्द्र अपने भाई नरेश की अपेक्षा भ्राता, पिता की अपेक्षा पुत्र एवं मांई की अपेक्षा भानेज आदि अनेकरूप माना जाता है। एक ही सुरेश में अपने पुत्र की अपेक्षा पितृत्व एव अपने पिता की अपेक्षा पुत्रत्व धर्म रहा हुआ है। इसे कौन निषेध कर सकता है! जो अन्वय व्यतिरेकी होता है उसमें सपक्ष महानस की अपेक्षा से अस्तित्व-सत्व-तथा विपक्ष -महाह्लदादिक की अपेक्षा से -नास्तित्व-असत्त्व प्रत्यक्षसिद्ध बात है। इसी तरह परस्पर विरुद्ध सत्त्व असत्त्व आदि धर्म भी एक ही वस्तु में अविरुद्ध रूप से रहते हैं यह मानना चाहिये।

शिष्य---ठीक है अनेकान्त वाद में सशय एवं छलरूपता नहीं है -यह तो समझ में आ गया परन्तु जो आठ दोष आपने अभी बतलाये हैं और यह कहा है कि ये आठ दोष अनेकान्तवाद में संभवित नहीं होते सो कैसे, इसे और समझा दीजिये।

गुरू--ठीक है-सुनो-लोगों का ऐसा कहना है कि जहां शीत होता है वहां उष्ण नहीं होता और जहां उष्ण होता है वहां शीत नही होता क्योंकि ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं छाया आतप की तरह। इसी तरह अस्तित्व नास्तित्व धर्म भी परस्पर विरोधी हैं। इनका एकत्र रहना कैसे संभव हो सकता है। भाव अभाव एक जगह रह ही नहीं सकते। अतः इनका एकत्र निवास स्वीकार करना विरोध दोष से दूषित है। १

अस्तित्व का अधिकरण भिन्न एवं नास्तित्व का अधिकरण भिन्न है। इसलिये दोनों का अधिकरण भिन्न

होने से इन्हें एकाधिकरण मानने में वैयाधिकरण १ नाम का दोष आता है। २

जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व नास्तित्व धर्म रहते हैं उसी तरह अस्तित्व नास्तित्व में भी अन्य और स्वपररूप की अपेक्षा अस्तित्व नास्तित्व मानने चाहिये- उनमें अन्य। इस प्रकार अप्रामाणिक अनत अस्तित्व नास्तित्व की कल्पना की अविश्रान्ति से अनवस्थादोप २ आता है। ३

आ० स्याद्वादियो के मत में अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों एक ही जगह रहते हैं। इसलिये अस्तित्व के अधि-
मी० करण में अस्तित्व और नास्तित्व के रहने से और नास्तित्व के अधिकरण में अस्तित्व नास्तित्व के रहने से स्याद्वाद में
२०४ सकर ३ दोष आता है। (४)

अस्तित्व नास्तित्व के एक साथ रहने से अस्तित्व रूप से नास्तित्व भी मानना पडेगा और नास्तित्वरूप से अस्तित्व। इस प्रकार व्यतिकर ४ दोष आता है। (५)

जब वस्तु को सत्त्वासत्त्वात्मक माना जाता है तब यह निश्चय नहीं हो सकता है कि यह वस्तु इसी धर्म से युक्त है अत इसमें संशय दोष आता है ५। (६)

संशय होने से वस्तु का ठीक २ ज्ञान नहीं हो सकता अतः अप्रतिपत्ति ६ नाम का दोष आता है।

---

१ अस्तित्वस्याधिकरणमन्यन्नास्तित्वस्याधिकरणमन्यदित्यस्तित्वनास्तित्वयोर्वैयधिकरण्यं।

२ येन रूपेणास्तित्व येन च रूपेण नास्तित्व तादृशरूपयोरपि प्रत्येकमस्तित्वनास्तित्वात्मकत्व वक्तव्य तच्च स्वपररूपाभ्यां तयोरपि प्रत्येकमस्तित्वनास्तित्वात्मकत्व स्वपररूपाभ्यामित्यनवस्था।

३ येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणासत्त्वम्यापि प्रसग' येन रूपेण चासत्त्व तेन रूपेण सत्त्वस्यापि प्रसगः इति संकरः।

४ येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणासत्त्वमेव स्यान्न तु सत्त्वं येनरूपेण चासत्त्व तेन सत्त्वमेवस्यान्न त्वसत्त्वं इति व्यतिकरः। परस्परविषयगमन व्यतिकर'।

५ सत्त्वासत्त्वात्मकं च वस्तुनः इदमित्थमेवेति निश्चेतुमशक्तेस्संशयः।

६ ततश्चानिश्चयरूपाप्रतिपत्ति ।

वस्तुविषयक यथार्थ ज्ञान के अभाव मे उस वस्तु की व्यवस्था नहीं बन सकती अतः विषयव्यवस्था की हानि-अभाव १-नाम का दोष आता है।

इस तरह से स्याद्वाद सिद्धान्त की मान्यता मे ८ दोप अन्यवादियो द्वारा प्रकट किये गये हैं। सो स्याद्वाद सिद्धान्त मे ये दोष इसलिये नही आते हैं कि स्याद्वादियो ने अस्तित्व एव नास्तित्व को अपेक्षा विशेष के आधीन वहां
आ० माना है। दोष प्रदान करने वालो ने यही समझकर इसमे दोप प्रदर्शित किये हैं कि जिस रूप से वस्तु में अस्तित्व धर्म
मी० स्वीकार किया गया है उसी रूप से नास्तित्व। परन्तु ऐसा नही है। अस्तित्व अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा
२०५ से वस्तु में है और नास्तित्व अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा से है। अत दोनो को एक अपेक्षा से न मानने के कारण स्याद्वाद मे विरोध नाम का दूषण नहीं आता है। वध्यघातक, सहानवस्था और प्रतिबंध्य प्रतिबन्धक के भेद से विरोध ३ प्रकार का है। यह विरोध यहां नहीं आता यह बात पीछे "सदेव सर्वं" इस १५ वीं कारिका मे स्पष्ट कर दी गई है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि एक ही वृक्ष मे चचलता और स्थिरता, एक घट में लाल और कालापन आदि विरोधी धर्मों के रहते हुए भी विरोध नहीं कहा जाता उसी प्रकार एक वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व के रहने से विरोध नही कह सकते। अस्तित्व और नास्तित्व में जब कोई विरोध नहीं है तब उनका अधिकरण भिन्न २ कैसे हो सकता है। इसलिये वैयधिकरण नाम का दोश भी यहा नहीं आता है। प्रत्येक वस्तु मे अनेक धर्म प्रमाण से सिद्ध होते है। माता पिता की परम्परा जिस प्रकार प्रमाण से सिद्ध है उसी प्रकार यह सप्तभंगीवाद भी प्रमाण प्रसिद्ध है।

इसलिये केवल कल्पना के अनन्त होने से अनवस्था दोष नहीं आ सकता। एक धर्म में द्वितीय धर्म का रहना मानना युक्तियुक्त नही है। घटत्व मे जिस प्रकार घटत्व नही रहता उसी प्रकार अस्तित्व आदि में भी अन्य अस्तित्व आदि धर्म नही रहते हैं। इसलिये अनवस्थादोष का इस प्रकार की कल्पना करके उद्भावन करना ठीक नहीं है।

---

३ ततस्सत्त्वासत्त्वात्मनो वस्तुनोऽभाव ।

अस्तित्व और नास्तित्व के अविरोधी सिद्ध होने पर अस्तिरूप को नास्ति नहीं कह सकते इसलिये संकर तथा अस्ति को नास्ति और नास्ति को अस्ति नहीं कह सकते इसलिये व्यतिकर दोष नहीं आते। क्योंकि वस्तु स्वचतुष्टय से अस्ति रूप और परचतुष्टय से नास्तिरूप है। अनेक धर्मों के अनिश्चित ज्ञान को संशय कहते हैं। यह अस्ति है या नास्ति यह संशय है। परन्तु वस्तु में अपेक्षा भेद से अस्तित्व एव नास्तित्व का प्रतिपादन करने में संशय नहीं कहा जा सकता। सशय के अभाव में वस्तु का निश्चित ज्ञान हो जाता है इसलिये अप्रतिपत्ति का अभाव होने से वस्तु व्यवस्था का अभाव भी नहीं माना जा सकता १। अतः स्याद्वाद सिद्धान्त सर्वथा निर्दोष है। ऐसा मानना चाहिये। इसी बात को सूचित करने के लिये कारिकाकार ने कारिका में "न कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र! तव शासने" ऐसा कहा है।

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत्।
नेति चेन्न यथा कार्यं वहिरन्तरुपाधिभिः॥ २१॥

अन्वय—एव विधिनिषेधाभ्यामनवस्थित (जीवादिवस्तु) अर्थकृत्। नेति चेत् यथा (अभ्युपगत) कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः (निर्वर्त्यं) न (स्यात्)

अर्थ—पूर्वोक्त पद्धतिरूप नीति के अनुसार सप्तभंगी विधि में सर्वथा विधि एवं निषेध से अनवधृत जीवादिक वस्तु अर्थक्रियाकारी होती है। इससे विपरीत नहीं। कारण कि सदादिक एकान्त में अर्थक्रियाकारिता युक्ति से घटित नहीं होती है। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकृत न किया जाय और सदादि एकान्तात्मक ही वस्तु मानी जाय तो अन्तरग–उपादान–एव वहिरंग–निमित्त–कारणो द्वारा जिस रूप से कार्य की उत्पत्ति मानी गई है वह उस रूप से घटित नहीं हो सकती।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस वात की पुष्टि कर रहे हैं कि समस्त जीवादिक वस्तुएँ विधि एवं

१ स्याद्वादमजरी के हिन्दी अनुवाद के आधार से।

निषेध कर अनवस्थित हैं। सर्वथा जीवादिक वस्तुऐं सत् ही हैं अथवा सर्वथा असत् ही हैं इस प्रकार एकान्त रूप से जीवादिक पदार्थों मे सदसदात्मकता का कथन करना इसका नाम अवस्थित है इससे भिन्न-जीवादिक वस्तुऐ कथंचित् सत् हैं कथंचित् असत् हैं-इस प्रकार की मान्यता का नाम अनवस्थित है। इस प्रकार के कथन से यह फलित होता है कि कथंचित् सदसदात्मक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी है यही स्वपक्ष का समर्थन-साधन-है एव इससे भिन्न मान्यता में वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं है-यह परपक्ष का दूषणवचन है।

प्रश्न---अन्य वादियो ने वस्तु को एकान्तरूप से सदात्मक अथवा असदात्मक मान कर किस प्रकार से अर्थक्रियाकारी माना है और कथंचित् सदसदात्मक वाद ने इसका किस प्रकार से निषेध किया है इस विषय को स्पष्ट रूप से समझा दीजिये

उत्तर—ठीक है। यद्यपि यह विषय पीछे खुलासा किया जा चुका है परन्तु तुम्हारे प्रश्नानुसार फिर भी इस पर प्रकाश डाला जाता १ हैं, यह तो मानी हुई बात है कि कार्य निमित्त और उपादान कारणो से होता है। जो सर्वथा नित्यवादी हैं अथवा सर्वथा अनित्यवादी हैं उनका परस्पर में एक दूसरे की मान्यता के प्रति इस प्रकार का आक्षेप है-बौद्ध जो सर्वथा असत् वादी है वह भावैकान्तवादी के प्रति इस प्रकार आक्षेप करता है कि पदार्थ जब सर्वथा नित्य माना जायगा तो वह स्वयं समर्थरूप उपादान कारण होता हुआ सहकारी कारणों की अपेक्षा कार्य की उत्पत्ति मे क्यो रक्खेगा यदि अपेक्षा रखता है तो वह असमर्थ माना जायगा। जब नित्य स्वय अर्थक्रिया करने में समर्थ है तो यह स्वाभाविक बात है कि उसे कार्य की उत्पत्ति मे कारणों की अपेक्षा रखने की आवश्यकता ही क्या है। इस प्रकार वह नित्य पदार्थ अक्रम से ही कार्यकारी होगा—क्रम से नहीं। यदि इस पर यों कहा जाय कि नित्य पदार्थ सहकारी कारणों की अपेक्षा नही रखता किन्तु कार्य ही सहकारी कारणो के विना उत्पन्न नही होता इसलिये उनकी अपेक्षा रखता है—सो इस पर भी यही पूछा जा सकता है कि वह नित्य उपादान रूप कारण समर्थ है कि असमर्थ? समर्थ के लिये अपर सहकारी

---

१ प्रमेयकमलमा पाना १४७ के आधार से।

कारणों की अपेक्षा नहीं होती है। यदि इस पर फिर भी यह कहा जाय कि जिस प्रकार बीज के समर्थ होनेपर वह अपने अंकुर रूप कार्य को बिना सहकारी पृथिवी जल वायु आदि के उत्पन्न नहीं करता है उसी प्रकार नित्य पदार्थ भी अपने कार्य को उत्पन्न करने के लिये सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता है। तो इस पर यह प्रश्न होता है कि वे सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ का कुछ उपकार करते हैं या नहीं। अनुपकार मे इनकी उसे आवश्यकता क्यो पड़ेगी।
आ० उपकार पक्ष मे वह कृत उपकार उस नित्य से भिन्न है या अभिन्न? भिन्न में सम्बन्ध की असिद्धि आती है। अभिन्न
मी० में नित्य स्वयं कृतक बन जाता है। अतः एकान्त नित्य में कथमपि अर्थक्रिया सभवित नहीं होतो।

२०८ नित्यवादी क्षणिकवादी बौद्ध के ऊपर इस प्रकार आक्षेप करता है कि जब पदार्थ मूल में ही क्षणिक है-प्रतिक्षण विनाशी है-तो उसमे क्रम२ से अर्थ क्रिया करने की योग्यता ही सभवित नही होती। कारण कि देशक्रम और कालक्रम इस अवस्था मे सङ्गत नहीं बैठता। सन्तान बौद्ध सिद्धान्त की अपेक्षा वस्तुभूत तत्व नहीं माना गया है अक्रम से भी क्षणिक मे अर्थ क्रिया नहीं वनती है क्योकि एक बीजपूर आदि क्षण जब अपने कार्य को करेगा तो वहां यह प्रश्न होगा कि वह अनेक रस आदि क्षणो को एक स्वभाव से करेगा या अनेक स्वभावों से। एक स्वभाव से करने में रस आदि पदार्थो मे एकत्वापत्ति का प्रसग प्राप्त होगा। अनेक स्वभाव से करने मे किसी रूप आदि को उपादान भाव से और रस आदि को सहकारी भाव से उत्पन्न करने मे-यह प्रश्न होता है कि ये नाना स्वभाव उस बीजपूर के आत्मभूत हैं या अनात्मभूत। अनात्मभूत मानने मे बीजपूर में स्वभाव की हानि प्राप्त होती है। आत्मभूत मानने में बीजपूर में अनेकता का प्रसंग प्राप्त होता है-जो क्षणिकवाद का घातक होता है। इस प्रकार सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य पदार्थ से सहकारी एव उपादानभावों द्वारा कार्य की उत्पत्ति घटित नहीं होती है। इसी का नाम अर्थ क्रिया का अभाव है। इसी बात को अष्टशतीकार ने यों लिखा है-"सत्त्वाद्यन्यतममात्रे एवभंगे समवस्थित कुतो नार्थकृत्" अर्थात् कोई प्रश्न करता है कि सत्त्व आदि किसी एक भंग में एकान्तरूप से अवस्थित वस्तु अर्थक्रियाकारी क्यों नही हो सकती है!

उत्तर-" सप्तभगीविधौ स्याद्वादे विधिप्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु सदसदात्मकं अर्थक्रियाकारि कथचित् सत

एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वभावातिशयोत्पत्तेः सुवर्णस्येव केयूरादिसंस्थानम् " सप्तभंगी की विधिवाले इस स्याद्वाद में विधि एव प्रतिषेध से युक्त वस्तु सदसदात्मक होती हुई अर्थक्रियाकारी मानी गई है। जिस प्रकार सुवर्ण सुवर्णत्व आदि द्रव्यार्थ की विवक्षा से विचारित होकर सत् ही माना जाता है। परन्तु जब उस का केयूर आदि पर्याय की दृष्टि से विचार किया जाता है तो वह असत् हो जाता है। इस तरह सुवर्णद्रव्य किसी अपेक्षा सत् और किसी अपेक्षा असत् है। इसे जब सुवर्णकार के व्यापार आदि स्वरूप बहिरंग कारण का मिलाप होता है तब वह केयूरादिरूप पर्याय से परिणमित होने की योग्यतारूप अन्तरंग कारण के सद्भाव से केयूर आदि पर्याय से उत्पन्न हो जाता है। इससे यही बात स्पष्ट होती है कि सदसदात्मक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी है। तात्पर्य इसका यह है कि स्याद्वादसिद्धान्त में पूर्व आकार का त्याग, उत्तर आकार का ग्रहण और पूर्वोत्तर दोनो अवस्थाओ में पदार्थ के ध्रुव रहने के कारण पदार्थों में अर्थक्रिया मानने में कोई विरोध १ नहीं आता है। इस पर इस प्रकार की शंका नहीं हो सकती कि एक ही पदार्थ में परस्पर दो विरुद्ध धर्म कैसे रह सकते हैं कारण कि स्याद्वाद में एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य से विलक्षण तीसरा ही पक्ष स्वीकार किया गया है। प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से नित्य एवं किसी अपेक्षा से अनित्य मानी गई है। यह पक्ष प्राय प्रत्येक वादियों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार २ ही किया है—एकभाग में सिंह दूसरे भाग में नर इस प्रकार दो भागों को धारण करने से भाग रहित नृसिंहावतार को नरसिंह कहा जाता है। मतलब कहने का यह है कि जिस प्रकार नृसिंहावतार एक भाग में सिंह और दूसरे भाग में मनुष्य इस प्रकार दो विरुद्ध आकृतियों को धारण करता है और इसी से वह नृसिंह कहा जाता है इसी तरह स्याद्वाद में नित्य अनित्य दो विरुद्ध धर्मों के रहने पर भी उस सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं आता है।

" १ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च" चतुर्थअ. सूत्र १ परीक्षामुख। स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थिति लक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा आदीपमाव्योमसम स्वभाव स्याद्वाद मुद्रानतिभेदिवस्तु नित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः—स्या० म० कारिका ५।

२ भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः, तमभाग विभागेन नरसिंह प्रचक्षते।

वैशेषिक मतवालों ने इसी स्याद्वाद की शैली के अनुसार एक चित्ररूप अवयवी में तथा एक ही पट में चल और अचल, रक्त और अरक्त, आवृत एव अनावृत आदि विरुद्ध धर्मों को अंगीकार किया है। बौद्धों ने भी एक ही चित्रपटज्ञान में नील और अनील में कोई विरोध नहीं माना है। पातञ्जल योग को मानने वालो ने भी वस्तु को नित्यानित्यात्मक स्वीकार किया है—उनका कहना है कि धर्मी का परिणाम धर्म, लक्षण और अवस्था के भेद से तीन प्रकार का है। सुवर्णरूप धर्मी का धर्म परिणाम वर्धमान रुचक वगैरह है। धर्म के आगामीकाल में होने को लक्षण परिणाम कहा है। जिस समय सुनार वर्धमानक को तोड़कर रूचक बनाता है उस समय वर्धमानक वर्तमान लक्षण को छेड़ कर अतीतलक्षण को प्राप्त करता है तथा रुचक अनागत लक्षण को छोड़कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त करता है। वर्तमान दशा को प्राप्त हुआ वह रुचक नये तथा पुरानेपन को धारण करता हुआ धर्मी का अवस्था परिणाम कहा जाता है। यह धर्म लक्षण एवं अवस्थारूप धर्मी का त्रिविध परिणाम उस अपने धर्मी से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। और इसी अपेक्षा से ये नित्य और अनित्य भी हैं। अनित्यता में उत्पत्ति एव विनाश कारण है। इस प्रकार प्रत्येक जीवादिक पदार्थ उत्पत्ति व्यय एव ध्रौव्यात्मक सिद्ध होते हैं। अतः किसी को सर्वथा नित्य मानना किसी को सर्वथा अनित्य मानना यह मान्यता सर्वथा युक्ति शून्य है। इसीलिये अष्टशतीकार ने "सप्तभंगविधौ स्याद्वादे विधिप्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि" ऐसा कहा है। क्योंकि कथंचित् सत्—उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त पदार्थ—के अन्तरंग एवं बहिरंगसामग्री के सन्निपात होनेपर स्वभाव में अतिशय की उत्पत्ति हो सकती है। इसी का नाम परिणामी नित्य है। इस परिणामी नित्य पदार्थ से भिन्न एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य पदार्थ में अर्थक्रियाकारिता नहीं आती

१ त्रिविध खल्वय धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः इत्युभयमुपपन्नमिति। योगसूत्र ३–१३ व्यासभाष्य। सुवर्णं धर्मि तस्य धर्मपरिणामो वर्धमानरुचकादि, धर्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादि यदा खल्वय हेमकारो वर्धमानकं भंक्त्वा रुचकमारचयति तदा वर्धमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वा अतीततालक्षणमापद्यते रुचकस्तु अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतालक्षणमापद्यते वर्तमानतापन्न एव तु रुचको नवपुराणभावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति। सोऽय त्रिविधः परिणामो धर्मिणः। धर्मलक्षणावस्थाश्च धर्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च।

है इस बात को कारिकास्थ " नेति " इस पद द्वारा प्रकट किया गया है। अर्थात् कथंचित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य पदार्थ ही अर्थक्रियाकारी होता है।

जब इस प्रकार कहा जाता है तो इस पर एकान्त नित्यवादी और एकान्त अनित्यवादी संमत नहीं होते हैं और कहते हैं कि सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य में ही अर्थ क्रियाकारिता आती है। इस पर सिद्धान्त कहते हैं
आ० कि तुम्हारा इस प्रकार का मन्तव्य युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि प्रदर्शित पद्धति के अनुसार सर्वथा नित्य में एवं सर्वथा अनित्य में अर्थक्रियाकारिता उपादान एवं सहकारी भावों की कल्पना द्वारा प्रकट करने में आई है वह ठीक नहीं बैठती
मी० है। यह बात पीछे स्पष्ट कर दी गई है। नित्यवादी एव सर्वथा अनित्यवादी के यहां उपादान एव सहकारी कारणों
२११ की सिद्धि किस प्रकार नहीं हो सकती है इसे और स्पष्ट करने के लिये न्यायकुमुदचन्द्रोदय में कारकसाकल्य एवं द्वितीय-कारिका की व्याख्या देखनी चाहिये। अष्टशतीकार ने इसी विषय को "नेति चेदित्यादिनैकान्तेऽर्थक्रियां प्रतिक्षिपति" इस अष्टशती द्वारा प्रकट किया है। वे आगे चलकर कहते हैं कि " न तावत् सतः पुनरुत्पत्तिः अस्ति न चानुत्पन्नस्य स्थिति-विपत्ती खपुष्पवत्" कि जो एकान्तरूप से नित्य है-कूटस्थ नित्य है, उसमें उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्य सभवित ही नहीं होते है। क्योकि अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एकरूप नित्य माना गया है। इसलिये नित्य पदार्थ किसी भी रूप से उत्पन्न-परिवर्तित-नहीं हो सकता। यदि किसी रूप से वह परिवर्तित हो जाता है तो वह सर्वथा नित्य नहीं माना जा सकता। यदि इस पर कोई इस प्रकार कहे कि परिवर्तन द्रव्य में नहीं होता है, किन्तु उसकी अवस्थाओं में होता है। जिस प्रकार सर्प की कुण्डलाकार अथवा सरल अवस्थाओं में भेद होने से सर्प में भेद होना कहा जाता है उसी प्रकार द्रव्य की अवस्थाओ में भेद होने से द्रव्य में भी भेद होना मान लिया जाता [1] है। सो ऐसा कहना उचित नहीं है

---

१ अथ अवस्थाभेदादय व्यवहार', न चावस्थासु भिद्यमानासु अपि तद्वतो भेदः। सर्पस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्थासु। इति चेन्न तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा, व्यतिरेके तास्तस्येति सम्बन्धाभावः, अप्रतिप्रसगात् अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैक रूपताहानिः।
स्या० मज० पृ० ३०२।

कारण कि द्रव्य अपनी अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न थोडे ही है। यह अटल सिद्धान्त है कि द्रव्य पर्याय विना और पर्याय द्रव्य विना कभी रह ही नही सकती हैं। दोनो मे अविष्वग्भावसबन्ध माना गया १ है।

अवस्थाओं का परिवर्तन ही कथंचित् द्रव्य का परिवर्तन कहा गया है। अतः एकांत नित्य में पदार्थ में उत्पाद नहीं हो सकता-जब उसमें उत्पाद नहीं है तो उत्पाद के विरह में स्थिति (ध्रौव्य) और विनाश भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ये तीनों एकाधिकरण हैं और परस्पर अविनाभावी हैं। तथा एककालभावी हैं। इसलिये उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्यात्मक जो वस्तु का लक्षण है वह एकान्त नित्य में नहीं रहता है। अत इस सत् में अर्थक्रियाकारिता नहीं आ सकती है। इसी प्रकार जो सर्वथा असत् है उसमें भी उत्पादादिक धर्म संभवित नहीं होते हैं अतः सर्वथा असत् में भी अर्थक्रियाकारिता नहीं घटती है। यदि अपनी उत्पत्ति से पहिले अविद्यमान का सामग्री—अन्तरग तथा वहिरंग कारणों—से जन्म माना जायगा तो सर्वथा नित्य एव सर्वथा अनित्य की मान्यता का अभाव प्रसक्त होगा। क्षणिक मान्यता में कार्य की उत्पादिका जो सामग्री होगी वह भी क्षणिक ही मानना पड़ेगी। तथा च निष्कारण कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी। मृत्तिका रूप उपादान कारण के रहने पर ही निमित्त कारण के सम्बन्ध से मृत्तिका का परिणाम घट रूप होता है। तथा इस घटरूप उत्पत्ति में मृत्तिका के पूर्वाकार का विनाश होता है, अतः उत्पत्ति और विनाश साधार हैं। जब निरन्वय विनाश पदार्थ का माना जायगा तो उत्पत्ति और विपत्ति रूप क्रियाएं किसके आधार रह सकेंगी। स्थिति क्रिया की तरह ये निराधार तो रह नहीं सकती, यदि इस पर यों कहा जाय कि हम क्षणिक में उत्पत्त्यादिक क्रियाएं मानते होते तभी आपका ऐसा कहना युक्तियुक्त था-परन्तु हम तो क्षणिक पदार्थ में उत्पत्त्यादिक क्रियाएं मानते ही नहीं हैं कारण कि उसमें उनकी असंभवता है अतः आप जो उत्पत्त्यादिक क्रियाओं को साधार

---

१ द्रव्यं पर्यायवियुतं पर्यायाः द्रव्यवर्जिताः।
क्व कदा केन किं रूपा दृष्टा मानेन केनचित् ॥

सन्मति तर्क १ । १३

मानकर उनके आश्रयभूत पदार्थ मे अक्षणिकता की सिद्धि करना चाहते हैं सो ठीक नहीं है, सो ऐसा कहना भी प्रत्यक्षादि प्रमाणो से विरुद्ध पड़ता है । क्योकि प्रत्यक्षादि प्रमाणो में उत्पत्त्यादिक विशिष्ट पदार्थ का प्रतिभास होता है ।

यदि ऐसे पदार्थ का प्रतिभास न होता तो "उत्पत्यादि विशिष्ट यह पदार्थ है" इस प्रकार का उत्पत्त्यादिक विशिष्ट विकल्प प्रत्यक्ष बुद्धि के उत्तर काल में पदार्थों मे नहीं होना चाहिये । जब तक दंड और पुरुष का सम्बन्ध दृष्टिगत नहीं हो लेता है तब तक " यह दंडी है" इस प्रकार का विकल्प उद्भूत नहीं होता । अतः कारिकाकार ने यह ठीक कहा है कि जो एकान्त से सद् अथवा असत् है वह उत्पन्न होने के योग्य ही नहीं हो सकता है । जैसे एकान्त से सद्रूप व्योम और असत्रूप वध्यासुत । " यत् एकान्तेन सत् असत् वा तन्नोत्पत्तुमर्हति व्योमवन्ध्यासुत वत्" इस प्रयोग में जो व्योम एव वध्यासुत को दृष्टान्त कोटि में रक्खा गया है वह दूसरों की इस प्रकार की मान्यता को लेकर ही समझना चाहिये । स्याद्वाद की मान्यतानुसार नहीं । नही तो उसकी स्थिति मानने में विरोध पडेगा, यह अभी कहा ही जा चुका है कि जो अनुत्पन्न होता है उसकी स्थिति और विपत्ति नहीं होती हैं । अतः स्याद्वाद की दृष्टि में द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ही आकाश आदि पदार्थ नित्य माने गये हैं । तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से वे ही आकाश आदि समस्त पदार्थ अनित्य भी माने गये है । पदार्थों में उत्पाद व्यय यह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से एवं स्थिति-ध्रौव्य-यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जानना चाहिये । इसलिये जो अर्थक्रियाकारी है वह विधि एवं प्रतिषेध की कल्पना से कल्पित सप्तभगीविधि मे समारूढ है अथवा सदादि एकान्त में सर्वथा अर्थक्रिया का विरोध होने से विध्यैकान्त आदि में अनवस्थित है इस प्रकार का कारिकाकार का मत है । सुनयार्पित विध्यंश को तथा निषेधांश को अर्थक्रियाकारी होने से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वह विध्यंश एवं निषेधांश सप्तभगीविधि में असमारूढ है । क्योंकि सुनयार्पित विध्यंश अथवा निषेधांश सप्तभगीविधि में समारूढ ही माने गये हैं । कारण कि वे अपने से भिन्न भङ्गान्तर का प्रतिक्षेप नहीं करते हैं । इस प्रकार के कथन में अर्थात् विध्यादि अंशो को सप्तभगी विधि में समारूढ मानने में-अनवस्था दोष का अवतार नहीं हो सकता है । कारण कि विधि आदि भंगों में अन्यविधि आदि भगो की कल्पना का अभाव है । नयवाक्य

में और प्रमाण वाक्य में यही तो विशेषता है कि प्रमाण वाक्य युगपत् प्रधानरूप से अर्पित समस्त भङ्गात्मकवस्तु का विवेचन करता है और नय वाक्य इतर धर्मों का व्यवच्छेद न करता हुआ वस्तु में एक ही धर्म का प्रधानतया कथन करता है। जैसे विधि भंग में नास्तित्व आदि भंगान्तर की गौणता है एव अस्तित्व की प्रधानता है। प्रतिषेधभग में अस्तित्वादि भगान्तर की गौणता एव प्रतिषेधभग की मुख्यता है । यह नय वाक्य है। नयवाक्य सुनयार्पित होने से इतर धर्मों का व्यवच्छेदक न होने से-सप्तभंगीविधि में समारूढ माना गया है। अतः सुनयार्पित विध्यश अथवा प्रतिषेधांश एकान्तवादान्तर्गत न होने से अर्थक्रियाकारी होते हैं। सर्वथा विधिवाद अथवा सर्वथा असद्वाद अर्थक्रियाकारी नहीं होते है। यह कथन सर्वथा निर्दोष है।

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।
अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गिता ॥ २२ ॥

अन्वय—अनन्तधर्मणः धर्मिण. धर्मे धर्मे अन्य एव अर्थ । अन्यतमान्तस्य अ गित्वे शेषान्तानां तदङ्गिता (जायते) ।

अर्थ—अनंतधर्म विशिष्ट जीवादिक एक धर्मी के प्रत्येक धर्म में भिन्न २ ही प्रयोजनादिरूप अर्थ रहा हुआ है। किसी एक धर्म द्वारा जब धर्मी का वर्णन किया जाता है तब वह धर्म धर्मी में मुख्य हो जाता है और अवशिष्ट धर्म उसमें गौण हो जाते हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार ने वादी के आक्षेप का समाधान करते हुए स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा मान्य धर्म एव धर्मी की क्या कैसी व्यवस्था है इस बात पर प्रकाश डाला है। आक्षेप वादी का इस प्रकार है—"जब जीवादिक धर्मी अनंत धर्मात्मक है तब स्यादस्त्येव जीवादि" इस प्रकार से अस्तित्वमुखेन उसका प्रतिपादन होने पर इस प्रथम भंग से ही सत्त्व द्वारा उसका ज्ञान हो जाता है तब फिर द्वितीयादिक भंगो का प्रतिपादन करना

व्यर्थ ही है। कारण कि असत्त्वादि इतर धर्मों का कि जो उस वस्तु स्वरूप से परिणत हो रहे हैं उस सत्त्वात्मक प्रथम-भग से ही ज्ञान हो जायगा। यदि प्रथम भग से उनका ज्ञान न माना जायगा और यही माना जायगा कि सत्त्वमुखेन केवल वस्तु का ही ज्ञान होगा तो फिर इस स्थिति में वस्तु से उनकी भिन्नता ही माननी पडेगी। इस भिन्नता में वे धर्म वस्तु के हैं यह व्यपदेश उनमें कैसे हो सकेगा। क्योकि "ये इसके हैं" इस प्रकार के व्यपदेश का कारण तो सम्बन्ध माना जाता है। भिन्नता में सम्बन्ध बनता नही है। यदि सम्बन्ध स्थापित करने के अभिप्राय से ऐसा कहा जाय कि सत्त्वादिक धर्मों का धर्मी के साथ उपकार्य उपकारक सम्बन्ध है तो फिर भी यहां यह प्रश्न होता है कि कौन किसका उपकार करते हैं? क्या धर्मी धर्मों का अथवा धर्म धर्मी का। यदि यह कहा जाय कि धर्मी धर्मों का उपकार करता है तो इस स्थिति मे "धर्मी एक शक्ति से धर्मों का उपकार करता है अथवा अनेक शक्तियों से" यह प्रश्न खडा होता है। धर्मी एक शक्ति द्वारा अनेक सत्त्वादिक धर्मों का उपकारक होता है यह प्रथम पक्ष अ गीकार किया जाय तो इस पक्ष में "समस्त धर्मों का युगपत् ग्रहण होने का दोष आता है। कारण कि धर्मी उस एक ही अपनी शक्ति से जो उस धर्मी से पृथक् नहीं है उन समस्त सत्त्वादिक धर्मों का उपकार करता है तो नाना धर्मों के उपकार करने में निमित्तभूत उस एक ही शक्तिस्वरूस धर्मी के एक धर्म द्वारा प्रतिपन्न-ज्ञात-होने पर उस धर्मी द्वारा उपकार्य सकल धर्मों की भी प्रतिपत्ति प्रथम भंग से ही हो जायगी। कारण कि वह धर्मी उन अनेक धर्मात्मक है। अन्यथा उपकारक रूप धर्मी की भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। यदि धर्मी अनेकशक्तियों से जो अपने से जुदी नहीं हैं धर्मों का उपकार करता है यह द्वितीय पक्ष अंगीकार किया जाय तो इसमें भी यही पूर्वोक्त दोष आता है, कारण कि वह धर्मी उन अपनी अनेक शक्तियों से अलहदा तो है नहीं किन्तु नाना धर्मों के उपकार करने में निमित्तभूत जो वे नाना शक्तियां है तदात्मक हैं- उन स्वरूप है, अतः ऐसे धर्मी का जब एक सत्त्व द्वारा बोध होगा तो उस नाना शक्त्यात्मक धर्मी के बोध होने से उसमें रहे हुए अनत धर्मों का-नास्तित्व आदि अनेक धर्मों का —भी बोध हो जायगा—अत इस पक्ष में भी वही सकलग्रह होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

आ०
मी०
२१६

धर्मी का उपकार धर्म करते हैं यदि यह पक्ष माना जाय तो हम यह पूछते है कि वह धर्मी एक उपकार्य शक्ति आत्मक है या अनेक उपकार्य शक्त्यात्मक है। यदि वह एक अथवा अनेक उपकार्य शक्ति-आत्मक माना जाय और यह कहा जाय कि नाना धर्म उस एक धर्मी का उपकार करते हैं तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि जब तक उपकारक सकल धर्मों की प्रतिपत्ति नहीं होगी तब तक धर्मों द्वारा उपकार्य जो एकानेक शक्ति आत्मक धर्मी है उसकी प्रतीति कैसे हो सकती १ है।

यदि ऐसा कहा जाय कि शक्तियां धर्मी की उपकारक भी हैं और उपकार्य भी हैं और वे धर्मी से भिन्न ही हैं तो इस पर हम यह पूछते है कि इन शक्तियों द्वारा उस धर्मी का अथवा धर्मी द्वारा उन शक्तियों का कोई उपकार किया जाता है या नहीं ? यदि यह कहा जाय कि कोई भी उपकार परस्पर में नहीं किया जाता है तो ऐसी स्थिति में ये शक्तियां धर्मी की हैं अथवा धर्मी इन शक्तियो का है इस प्रकार का व्यपदेश ही नही बन सकता है। यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय और यह कहा जाय कि वे शक्तियां शक्तिमान्-धर्मी का उपकार करती हैं तो इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह शक्तियो द्वारा किया गया उपकार शक्तिमान् धर्मी-से भिन्न है कि अभिन्न है ? उपकार को अभिन्न मानने पर-अर्थात् जो शक्तियों द्वारा शक्तिमान् का उपकार किया गया वह उससे अभिन्न किया गया—इस प्रकार की मान्यता में उस कृत उपकार से अभिन्न होने के कारण वह शक्तिमान्-धर्मी-ही किया गया ऐसा मानना पडेगा। अतः शक्तियों का कार्य होने से यह स्वय शक्तिमान् नहीं कहला सकेगा।

यदि शक्तियों द्वारा किया गया उपकार शक्तिमान् से भिन्न है ऐसा पक्ष स्वीकार किया जायगा तो इसमें अनवस्था नाम का दूषण आता है क्योकि जब शक्तियों द्वारा उपकार शक्तिमान् से भिन्न किया जाता है तो फिर यह

१ नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे।
सर्वात्मनोपकार्यस्य कोभेद' स्यादनिश्चितः ॥
एकोपककारके ग्राह्ये, नोपकारास्ततोऽपरे ।
दृष्टे यस्मिन्नदृष्टास्ते, तद्ग्रहे सकलग्रह. ॥

उपकार शक्तिमान् का है इस तरह का व्यपदेश नहीं हो सकता। यदि इस प्रकार के व्यपदेश को सिद्धि के लिये उपकारान्तर की कल्पना की जाय तो फिर यही पूर्वोक्त प्रश्न उपस्थित होगा- अतः भिन्न पक्ष में अनवस्था का उद्धार हो ही नहीं सकता। शक्तिमान् के द्वारा शक्तियो का उपकार किया जाता है यदि यह पक्ष स्वाकार किया जाय तो यहां पर भी यही पूछा जायगा कि वह उपकार उनसे भिन्न किया गया या अभिन्न किया गया। अभिन्न पक्ष में शक्तियां स्वयं कृतक माननी पडेगी। भिन्न पक्ष मे व्यपदेशाभाव होगा। व्यपदेश के लिये शक्त्यन्तरों की कल्पना में अनवस्था, एवं
आ० शक्त्यन्तरो की अकल्पना में प्राच्य शक्तियो की अव्यवस्था होगी। अतः यह शक्ति है और यह शक्तिमान् है इस प्रकार
मी० के व्यवहार का ही विच्छेद हो जायगा १। इस पूर्वोक्त कथन से वादी ने यह साबित करना चाहा है कि न कोई धर्मी
२१७ है और न कोई धर्म है। वादी की इस आशका का उत्तर देते हुए कारिकाकार कहते हैं कि जोवादिक पदार्थरूप धर्मी है और वह अनंत धर्म विशिष्ट है। यदि अनत धर्म विशिष्ट वह नहो होता तो वह प्रमाण का विषयभूत नहीं हो सकता अतः " धर्मी तावदनन्तधर्मा जीवादिः प्रमेयत्वान्यथानुपपत्ते " इस अनुमान द्वारा धर्मी और धर्म इन दोनो का अस्तित्व सिद्ध होता है।

शका—आपने प्रमेयत्वान्यथानुपत्तिरूप हेतु से जो अनंत धर्म विशिष्ट धर्मी की सिद्धि करना चाही है वह ठीक नही है कारण कि यह अनुमान धर्म द्वारा व्यभिचरित हो जाता है और वह इस प्रकार से—धर्म प्रमेय तो है पर वह अनंत धर्म विशिष्ट नहीं है। यदि धर्म को भी अनत धर्म विशिष्ट माना जायगा तो वह धर्म न होकर धर्मी हो जायगा। धर्म स्वतंत्र कोई सिद्ध नहीं हो सकेगा—ऐसी परिस्थिति में न तो कोई धर्मी ही बन सकेगा और न धर्म ही। अतः दोनों का अभाव प्राप्त होता है। दूसरे—प्रमेयत्व रूप हेतु धर्म जो स्वयं अनंतधर्म शून्य है उससे भी यह हेतु व्यभिचरित हो जाता है। क्योंकि वह प्रमेय तो है पर उसमें अनंत धर्म विशिष्टता नही है। यदि व्यभिचार को वारण करने के लिये प्रमेय-

१ धर्मोपकारशक्तीनां भेदे तास्तस्य किं यदि।
नोपकारास्ततस्तासां तथा स्यादनवस्थितिः॥

त्वरूप हेतु धर्म अनंतधर्म विविष्ट अंगीकार किया जाय तो इस कथन से वह धर्मी ही साबित हो सकेगा, तथा च पक्षान्तःपाती होने से वह हेतुकोटि में नहीं आ सकता ।

उत्तर–इस प्रकार का उपालम्भ देना ठीक नहीं है । कारण कि यह धर्मी ही है और यह धर्म ही है ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है । जो अपने धर्मी की अपेक्षा धर्म माना जाता है वही अपने अन्य धर्मान्तर की अपेक्षा से धर्मी वन जाता है इसलिये जब धर्म भी अपने धर्मान्तर की अपेक्षा से धर्मी वन जाता है तो फिर पूर्वोक्त अनुमान व्यभिचरित कैसे हो सकता है । कारण कि उसमे प्रमेयता होने से अनंतधर्म–विशिष्टता सिद्ध होती है । हां यदि ऐसा कोई नियम ही होता कि अमुक अमुक सर्वथा धर्म ही हैं और अमुक २ सर्वथा धर्मी हैं तो व्यभिचार का प्रदर्शन लागू हो सकता परन्तु ऐसा कोई एकांत नियम बांधने में नहीं आया हैं, अतः पूर्वोक्त अनुमान सर्वथा निर्दोष है ।

शंका–इस प्रकार कहकर आपने व्यभिचार दोष का वारण तो कर दिया पर इस वारण में एक नई आपत्ति और आपको आती है उसका आपने विचार ही नहीं किया । जव धर्म अपने धर्मान्तर की अपेक्षा धर्मी माना जायगा तो जिस धर्मान्तर से वह धर्मी बना है उस धर्मान्तर को भी धर्मी बनने के लिये अन्य धर्मान्तर की अपेक्षा होगी इस प्रकार अनेक धर्म धर्मी की कल्पना करना पडेगी और ऐसा करने से अनवस्था दोष उपस्थित होगा । अथवा यह धर्म है यह धर्मी है इस प्रकार की धर्म को ही अनन्त धर्मात्मक धर्मी रूप से प्रतिपादन करने पर कोई इन दोनों की नियमित व्यवस्था नहीं बन सकेगी ।

उत्तर–धर्म और धर्मी में स्वभाव भेद का व्यवहार वलय एवं अभव्य के ससार की तरह अनादि अनंत माना गया है । जिस प्रकार भ्रमण काल में वलय का जो पूर्वभाग होता है वही अपर भाग भी हो जाता है । इसी तरह जो धर्म होता है वही किसी अपने अन्य धर्म की अपेक्षा धर्मी वन जाता है । जीवादिक धर्मी से पृथक् किया गया धर्म प्रमेय नहीं होता है कि जिससे व्यभिचार दोष आसके । वह तो नय का विषय माना गया है । अत पहिले जीवादिक पदार्थों को अनन्त धर्मविशिष्ट सिद्ध करने के लिये प्रदत्त प्रमेयत्व हेतु को जो धर्म द्वारा व्यभिचरित प्रगट किया गया है वह ठीक

नहीं है। इसी प्रकार प्रमेयत्व रूप साधन धर्म में भी यही बात समझना चाहिये। अर्थात् प्रमेयत्व यह एक धर्म है। यह प्रमाण का विषय नहीं है किन्तु नय का विषय है। अतः इसके द्वारा भी प्रमेयत्वान्यथानुपपत्ति रूप हेतु व्यभिचारी नहीं होता है। दूसरे--प्रमाण का विषयभूत जो प्रमेयत्व है वह भले ही अपने धर्मान्तर की अपेक्षा अनन्त धर्मवाला होने से धर्मी हो जाय और इस कारण पक्ष के अन्तर्भूत भी हो जाय तो भी उसमें हेतुत्व का व्याघात नहीं हो सकता है, कारण कि स्व एव पर जीवादिक पदार्थों में जब इसके द्वारा अनंत धर्मात्मकता साध्य की जाती है तब इसमें अन्यथानुपपत्ति का सद्भाव पाया जाता है। मतलब इसका यह है कि प्रमाण का विषयभूत प्रमेयत्व हेतु अपने धर्मान्तर की अपेक्षा से जब धर्मी होकर पक्ष के अन्तर्भूत होगा, तब उस धर्मीरूप प्रमेय में भी अनंत धर्मात्मकता साध्य की जानेपर प्रमेयत्वान्यथानुपपत्तिरूप हेतु वहा योजित होगा। क्योकि इसके द्वारा ही वहां अनन्तधर्मात्मकता साध्यकोटि में आयगी।

शका—धर्मी को हेतु मानने पर अनन्वय १ नाम का दोष आता है--सो आप इसका उद्धार कैसे कर सकोगे।

उत्तर—यह कहना उचित नहीं है कारण कि विशेष प्रमेय को धर्मी की कोटि मे रखकर सामान्य प्रमेय को हेतु कोटि में रखने से यह दोष नहीं आता है।

अतः पूर्वोक्त निर्दोष अनुमान से अनंत धर्मात्मक धर्मी की सिद्धि होती है। इस धर्मी के जो भिन्न २ अस्तित्व आदि धर्म हैं उनका प्रयोजन भिन्न२ है। अस्तित्व धर्म उसमे सत्ता की सिद्धि अथवा उस विषयक अज्ञान की निवृत्ति करता है। यही उसका प्रयोजन है। नास्तित्व धर्म वस्तु मे पर द्रव्यादिक की अपेक्षा पर पदार्थों का अभाव प्रकट करता है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म में प्रयोजन भिन्न२ रूप से वर्तते है। अत भिन्न२ प्रयोजनों को प्रकट करने के लिये भिन्न२ धर्मों--भङ्गों--का प्रयोग करना स्वाभाविक है। एक ही प्रयोजन तो है नहीं कि जिससे प्रथम भंग के कहने से ही अनंत धर्मात्मक वस्तु का बोध हो जाय और शेष धर्मों का कथन निरर्थक हो जाय। धर्म न तो अपने धर्मी से सर्वथा भिन्न*

१ धर्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयदोषः इति चेन्न विशेषस्य धर्मित्वात् सामान्यस्य हेतुत्वात्। प्रमेयरत्नमाला पृ० ४१।

* संज्ञासख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥

आप्तमीमाँसा कारिका ७२

ही हैं और न सर्वथा अभिन्न ही हैं, किन्तु वे किसी अपेक्षा उससे भिन्न भी हैं और किसी अपेक्षा अभिन्न भी हैं । अतः
पहिले जो यह बौद्धों द्वारा कहा गया है कि " धर्मी से धर्मों को भिन्न मानने में व्यपदेश-ये धर्म इस धर्मी के हैं इस
प्रकार का कथन—नहीं हो सकेगा, तथा अभिन्न मानने में एक धर्म के प्रतिपादन से अन्य धर्मों का भी प्रतिपादन हो
जायगा अतः अन्य धर्मों को प्रतिपादन करने के लिये नास्तित्व आदि शब्दों का प्रयोग करना निरर्थक ही हो जायगा "
आ० सो उचित नहीं है । कारण कि अपने धर्मों से कथंचित् भिन्नाभिन्नात्मक धर्मीरूप वस्तु को जैन दार्शनिकों ने जात्यन्तर
रूप से अंगीकार किया है । इसमें विरोध आदि दोषों का अवतार नहीं होता है । यह बात पीछे स्पष्ट की जा चुकी है ।
मी० इस अनत धर्मात्मक वस्तु का कथन जिस धर्म को मुख्य लेकर किया जाता हैं वह धर्म उस वस्तु में मुख्य हो जाता है
२२० और अवशिष्ट धर्म उसमें गौण हो जाते हैं । वस्तु को कहने वाले की विवक्षा भी इसी तरह की होती है । इसलिये
भगान्तर—दूसरे नास्तित्व आदि भंगों—का प्रयोग अयुक्त नहीं है । क्योकि प्रत्येक धर्म को लेकर धर्मी के स्वभाव में कथं-
चित् भेद होता है । बौद्ध मान्यतानुसार यदि प्रत्येक धर्म की अपेक्षा धर्मी मे कथचित् स्वभावभेद परमार्थतः न हो तो
प्रत्यक्ष से—श्रावण प्रत्यक्ष से—गृहीत शब्दादिक विषयो मे बौद्ध धर्म की अपेक्षा क्षणिकत्व सिद्ध करने के लिये जो "सर्वं
क्षणिक सत्त्वात् " इस प्रकार का स्वार्थानुमान अपने निमित्त करता हैं वह नहीं वन सकता । कारण कि शब्द रूप
धर्मी की प्रतिपत्ति होने पर वहां ऐसा और कोई अव स्वभाव ही नहीं वचता है जो अनुमान से जानने के लिये साध्य-
कोटि में रक्खा जा सके । क्योकि बौद्धो का तो स्वय ऐसा कहना कि धर्मी में भिन्न२ धर्मों की अपेक्षा स्वभाव भेद
होता ही नही है । कारण कि उनके सिद्धान्तानुसार वस्तु निरंश मानी गई है । अत इस पर जैनदार्शनिकों की तरफ
से उनपर यह आक्षेप किया गया १ है । इसी तरह जो वस्तु शब्द द्वारा अभिहित हो चुकी है—अर्थात् क्षणिकत्व सिद्ध
करने के लिये जो शिष्यों के प्रति " सर्वं क्षणिक सत्त्वात् " ऐसे परार्थानुमान रूप अनुमान का प्रयोग किया जाता है

१ यदि पुनः प्रत्युपाधि परमार्थतः स्वभावभेदो न स्यात् तदा दृष्टेऽभिहिते वा प्रमाणान्तरं युक्त्यन्तरं वा निरर्थकं स्यात् गृहीतग्रहणात् पुनरुक्तेश्च । —अष्टशती ।

सो वस्तु के स्वभावातिशय नही मानने मे उचित नहीं माना जा सकता। कारण कि शब्दरूप धर्मी के कथन से ही साध्य
एव साधन के निर्देश की सिद्धि हो जाती है। फिर भी शब्द द्वारा परार्थानुमान रूप- अनुमान द्वारा-उनके कथन करने
से लाभ क्या। इससे उल्टा वहां गृहीत ग्रहण एवं पुनरुक्ति दोष आते है। यदि इन दोपो को हटाने के लिये ऐसा कहा
जाय कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष से देख--जान--लिया जाता है उसके समस्त गुण भी प्रत्यक्ष से जान लिये जाते हैं। फिर भी
आ० वहां उनकी निश्चिति के लिये जो साधन की (अनुमान की) प्रवृत्ति होती है उसका कारण यह है कि भ्रान्ति जो उनका
निश्चय नही होने देती है सो अब साधन द्वारा उनका निश्चय कर लिया जाता है इसलिये साधन की वहां प्रवृत्ति १ होती
मी० हैं। सो ऐसा कहना भी बौद्धो का ठीक नही हैं। कारण कि जब दृष्ट पदार्थ का स्वभावातिशय ही नही माना जाता है-
२२१ प्रथम जिसरूप में पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय हुआ है उसी रूप मे वही पदार्थ बाद मे साधन--अनुमान--का भी विषय होता
है--इस प्रकार पदार्थ मे जब कोई स्वभावातिशय--स्वभावभेद--नही होता मान्य किया गया है तब उसमें और कौन से
गुण हैं जो " अखिल " इस पद के वाच्य हों। प्रथम स्वभाव से द्वितीयादिक स्वभावो मे भेद हो तो ही वहां अनेक गुण
कहे जा सकते हैं जब पूर्वोत्तर स्वभाव मे कोई भेद ही नही माना जाता है तो ऐसे कथन मे दृष्ट पदार्थ के अखिल गुण
प्रत्यक्ष से जान लिये जाते विरोध आता है। कारण कि इस प्रकार के कथन से पदार्थ के स्वभाव में भिन्नता कथित होती
है जो वस्तु मे निरंशता की मान्यता की बाधक बनकर उसमें सांशता की साधक होती है।

यदि फिर भी यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष से मात्र धर्मी मे ही अभ्रान्ति ज्ञात होती है उसके स्वभाव में नहीं अतः स्वभाव मे अभ्रान्ति सिद्ध करने के लिये अनुमान की आवश्यकता पड़ती है सो ऐसा कहना भी उचित नहीं हो सकता कारण कि स्वभाव भेद के अभाव में यह तुम्हे अवश्य २ मानना पडेगा कि जब धर्मीमात्र का भी निश्चय हो जाता है तो उसके साध्यरूप स्वभाव का भी निश्चय है—वहां भ्रान्ति नही हो सकती है। यदि उसमे भ्रान्ति मानी

---

१ तस्मात् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधन सम्प्रवर्तते॥

जायगी तो शब्द के सत्त्व मे भी भ्रान्ति माननी पडेगी । जिस प्रकार शब्द का स्वभाव क्षणिकत्व है उसी प्रकार उसका स्वभाव सत्त्व भी है । अतः उसमे भी भ्रान्ति की प्रसक्ति होने से अर्थ—पदार्थ का निश्चय उसके द्वारा कैसे हो सकता है । यदि कहा जाय कि शब्द में सत्त्व का निश्चय मानकर उसके अर्थ का निश्चय कर लेंगे सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं—कारण कि जिस प्रकार शब्द का धर्म सत्त्व है और उसका निश्चय तुम उसमें मान रहे हो तो इसी प्रकार उसमें अनित्यत्व-क्षणिकत्व-का भी निश्चय मान लेना चाहिये । फिर अनित्य का अनिश्चय क्यों । यदि इसका उसमें अनिश्चय माना जाता है तो स्वभाव भेद का प्रसंग मानना ही पड़ता है । बिना इसके शब्द में एक का निश्चय और एक का अनिश्चय नहीं हो सकता है । निश्चय और अनिश्चय ये दो भिन्न २ स्वभावजन्य धर्म हैं । इनमे पट और पिशाच की तरह भिन्नता है । अतः प्रत्येक धर्म में धर्मी का स्वभाव भेद हो जाता है यह बात मानना चाहिये । इसलिये यह कहना कि धर्मी का एक अस्तित्वमुखेन प्रथमभग से प्रतिपादन होने पर ज्ञान हो जायगा-तब फिर द्वितीयादिक भंगों के कहने की क्या आवश्यतका है- सो इस कथन से निरस्त हो जाता है। कारण कि प्रत्येक भंग की अपेक्षा वस्तु के स्वभाव मे भेद माना गया है । अतः उस अनत धर्मात्मक वस्तु के स्वभावो को कथन करने के लिये भिन्न २ रूप से भगों का प्रतिपादन कार्यकारी है । इसमे जो जिस भग द्वारा वह वस्तु प्रतिपादित की जायगी वह वस्तु प्रधानतया उस स्वभाव विशिष्ट मानी जायगी-अत वह स्वभाव उसमे प्रधान एवं शेष स्वभाव उसमें अप्रधान—गौण हो जाते हैं । इसलिये कारिकाकार ने ऐसा कहा है कि वह धर्म उसमे मुख्य और अवशिष्ट स्यात् शब्द सूचित धर्म गौण हो जाते हैं । ऐसा ही कथंचित् वस्तु का स्वभाव है ।—

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत् ।
प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नयविशारदः ॥ २३ ॥

अन्वय——नयविशारद उत्तरत्र एकानेकविकल्पादौ अपि एनां भगिनीं प्रक्रियां नयै योजयेत् ॥

अर्थ—नयो की योजना करने में प्रवीण स्याद्वादी को आगे इसी तरह एक और अनेक आदि धर्मों मे भी इस सप्तभगाश्रय प्रक्रिया की द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक नयो के अनुसार योजना कर लेना चाहिये ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि जिस तरह अस्तित्व और नास्तित्व धर्म एक जीवादिक पदार्थ मे द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयो की विवक्षा के आधीन हैं उसी तरह द्रव्यो मे एक और अनेक जो धर्म हैं वे भी इन्हीं दोनो नयो की विवक्षा के आधीन हैं । "नयविशारदः" पद से कारिकाकार का यह अभिप्राय है कि जो नय विवक्षा से अनभिज्ञ हैं जिनकी मति एकान्त की विवक्षा की ओर ही अग्रसर हो रही है वे इस नयवाद अथवा स्याद्वाद को युक्त नहीं जान सकते हैं । इन्हें तो इस प्रकार के कथन मे विरोध जैसा प्रतिभासित होता रहता है । परन्तु जैनी नीति के जानने वालो को इस प्रकार के कथन मे जरा सा भी विरोध नहीं ज्ञात होता है । जीवादिक पट् पदार्थों—द्रव्यो—मे जो एकत्व की विवक्षा की गई है वह सद्द्रव्यनय की अपेक्षा से ही जाननी चाहिये । अष्टशतीकार अकलंकदेव ने भी "स्यादेक सद्द्रव्यनयापेक्षया" इस अष्टशती द्वारा इसी बात की पुष्टि की है । इस सद्द्रव्य नय के अष्टशतीकार के अभिप्रायज्ञ विद्यानदिस्वामी ने दो प्रकार से अर्थ किया है—१ सदेव द्रव्यं सद्द्रव्य तद्विपयो नयः सद्द्रव्यनय अर्थात् सत् ही द्रव्य है-इस सत् रूप द्रव्य को विषय करने वाले नय का नाम सद्द्रव्यनय है और वह द्रव्यार्थिकनय का प्रभेद जो परमसंग्रह नय है वह है । २ नीयमानत्वात् सद्द्रव्यमेव नयः इसके द्वारा भी उन्होंने द्रव्यार्थिक नय के इसी प्रभेद को प्रकट किया है क्योकि उस सद्द्रव्य के अनुगत सम्बन्ध से ही जीवादिक वस्तुए एकत्वरूप से जानी जाती है अत वह स्वय नय है । इन दोनों की अपेक्षा जीवादिक छह द्रव्यों मे एकत्व का आरोप हो जाता है ।

सद्द्रव्यनय के पूर्वोक्त दो अर्थों के करने का अभिप्राय यह है कि किसी ने जीवादिक छह द्रव्यो मे एकत्व की अर्पणा करने पर इस प्रकार की शका उपस्थित की कि सद्द्रव्य नय की अर्पणा से भी जीवादिक छह द्रव्यो में भिन्न२ रूप से सत्ता रहने से वे भिन्न रूप में ही एक सिद्ध होते हैं जैसे त्रस स्थावर जीव एक सत्त्व के सम्बन्ध से एक पुद्गल

के भेद अणु और स्कंध एक सत्व की विवक्षा से एक सिद्ध हो सकते हैं—परन्तु नानाद्रव्य जो जीव, पुद्गल, धर्म एवं अधर्मादिक द्रव्य हैं वे एक कैसे सिद्ध हो सकते है कारण कि सपूर्णवस्तुगत एक सत्व का अंगीकार जैनसिद्धान्त के विरुद्ध १ है। कारण कि जैन सिद्धान्त के अनुसार सदृश परिणाम रूप सत्व माना गया है और वह एक एक व्यक्ति गत होने से अनेक २ सिद्ध होता है। इस प्रकार की इस शंका का समाधान इस सद्द्रव्यनय के मतानुसार हो जाता है। यद्यपि एक तथा अनेक सत्तासामान्य जिनसिद्धान्त में स्वीकृत हैं तो भी वह प्रतिव्यक्ति रूप से अनेक होने पर भी स्वकीय रूप से एक ही हैं। इसी बात की पुष्टि इस सद्द्रव्यनय से की गई है। इसकी विवक्षा में सर्वत्र एकता का एकच्छत्र राज्य जमा हुआ दृष्टिपथ होता है। कारण कि एक सत्व की पर्याय होने से ये जीव, पुद्गल आदि षट् द्रव्य एवं इनके अनतानत पर्यायरूप भेद और प्रभेद एक उस सत्ता में ही केन्द्रित मान लिये जाते हैं। इसलिये "एकंद्रव्यमनन्त पर्याय" अनंतपर्यायविशिष्ट एक द्रव्य है इस प्रकार का आगम मे संक्षेपतः कथन किया गया है। चाहे जीव द्रव्य हो, चाहे पुद्गल द्रव्य हो अथवा इनकी अनंतानंत पर्यायें हों इन सब में इसी दृष्टि से "सदेवेदं" इस अबाधित प्रत्यभिज्ञान की प्रवृत्तिमानी गई है। अभाव भी सद्रूप की एक पर्याय है। इसलिये उनमें भी "सदेवं" इस तरह की एकत्व प्रतीत होने मे कोई बाधा नहीं है। जीवादिक सद्द्रव्य अपने सद्रूप से कभी भी किसी भी तरह से पृथक नहीं किये जाते हैं अतः ये सब द्रव्यें इस सद्रूप से कथंचित् एक हैं ऐसा माना जाता है। यदि सद्रूप से इनको पृथक्ता मानी जाय तो इनके निज स्वरूप का भी अस्तित्व साबित न हो सकने के कारण उनका अभाव प्रसक्त होता है।

शंका—सद्रूप से इन्हें पृथक् मानने पर इनके निज स्वरूप का-स्वरूपसत्ता का-भी अभाव हो जायगा ऐसा आपका कथन ठीक नहीं है कारण कि समवाय सामान्य एवं विशेष इन तीन पदार्थों में एवं प्रागभावादिक चार अभावों

---

१ सत्वस्यापि सकलवस्तुव्यापिन एकस्य सिद्धान्तविरुद्धत्वात् सदृशपरिणामस्यैवैकव्यक्तिगतस्य तत्तद्व्यक्त्यात्मकस्य प्रतिव्यक्तिभिन्नस्यैव सिद्धान्तसिद्धत्वात्। सप्तभंगी त० पृ-७७

२ सदृशपरिणामात्मकमनेक तिर्यक्सामान्य

—प्रमेयकमल मा०।

में वैशेषिक सिद्धान्तानुसार समवाय सम्बन्ध से सत्ता नही रहती है तो भी इनमें स्वरूप सत्ता मानी गई है, उसी तरह जीवादिक द्रव्यो मे सत्ता का सम्बन्ध न मानने पर भी स्वरूप सत्ता का अभाव प्रसक्त नहीं हो सकता है । १

उत्तर—— ऐसा कहना उचित नहीं है । कारण कि सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव ये सब भी सत्ता के विवर्त माने गये है । ऐसा नही है कि इनमे सत्ता नहीं रहती हैं और समवाय सम्बन्ध से वह इनमे रहती हैं । यदि ऐसा न माना जाय-ये सब सत्ता के विवर्त न माने जायें-तो इनमें प्रमेयता नहीं आ सकती है । प्रमेयता के अभाव में वस्तुता भी इनसे विदा हो जाती है । जो सत्त्व से सर्वथा भिन्न होता है उसमें जैन दार्शनिकों ने असत्त्व का निर्णय किया है । इसलिये जीवादिक द्रव्य भले ही द्रव्य क्षेत्र एवं कालादिक की अपेक्षा परस्पर भिन्न २ हों तो भी एक सत्ता रूप से अविशिष्ट होने के कारण वे सब कथंचित् एकत्व धर्म से विशिष्ट माने गये है २ -कथंचित् वे एक द्रव्य माने गये हैं—। इस प्रकार प्रथमभंग साधित होता है ।

इसी तरह पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से वे जीवादिक विशेष कथंचित् अनेक हैं । क्योंकि भेद रूप से ये सब सख्या और सख्याविशिष्ट पदार्थ की तरह न्यारे २ देखे जाते हैं । यदि एकान्त रूप से जीवादिक वस्तु में एकत्व माना जावेगा तो वहां पर विशेषण विशेष्यभाव ३ नही बन सकता है । विशेषण विशेष्यभाव कथंचित् भेद में बनता है । अरे भला जो कुण्डल और कुण्डली में भेद भाव की दृष्टिवाला नहीं होता है उसे यह कुण्डली कुण्डलवाला है इस प्रकार का विशेपणविशेष्यभाव सम्बन्धी विकल्प उद्भूत नही होता है । इसलिये पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जीवादिक छह द्रव्य और और उनकी अनंतानंत पर्यायें परस्पर भिन्न२ होने से कथंचित् अनेक है । इस प्रकार द्वितीय भग सिद्ध

१ युक्त्यनुशासन के अनुवाद मे इस विषय को विशेषस्पष्ट किया जा चुका है -अत. इसे स्पष्ट करने के लिये वह अवश्य २ देखना चाहिये ।

१ यद्यपि ते विशेषा परस्परव्यावृत्तपरिणामा कालादिभेदेऽपि सद्रूपाविशिष्टाश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासवत्' अष्टशती

१ नहिं सख्या सख्यावतो भेदेनादृष्टौ विशेषणविशेष्यविकल्पः कुण्डलिवत् क्षीरोदकवदतद्वेदिनि ।

होता है। क्रम२ से अर्पित एकत्व और अनेकत्व की विवक्षा से जीवादिक वस्तुएं कथंचित् एकानेकस्वरुप हैं। युगपत् अर्पित इन दोनों धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् अवक्तव्य हैं। इस चौथे भंग के साथ पहिले के तीन भगो के और जोड़ने से एकत्व और अनेकत्व विषयक ७ भंग हो जाते हैं। यहां पर भी पहिले जिस प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व को अविनाभूत सिद्ध किया गया है उसी प्रकार एकत्व और अनेकत्व को भी विशेषणत्व आदि हेतुओ द्वारा अविनाभूत सिद्ध कर लेना चाहिये। अर्थात् १७ वीं कारिका से लेकर २२ वी कारिका तक का समस्त विधान अस्तित्व नास्तित्व धर्मों की तरह इन एकत्व और अनेकत्व धर्मों में भी उसी तरह ज्ञात करना चाहिये। इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व की सप्तभंगी वन जाती है। इस सप्तभंगी युक्त जीवादिक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी होती है इससे विपरीत नहीं।

प्रथमपरिच्छेद समाप्त

प्रथम परिच्छेद का संक्षिप्त भावार्थ--

देवागम, नभोगान एव चामरादिक विभूतियां प्रभु में महत्व की साधक नहीं हैं। दोष और आवरण का सर्वथा अभाव ही प्रभु में महत्त्व का साधक है। इन दोनों के अभावसे ही आत्मा में सकल पदार्थों को युगपत् साक्षात्कार करने वाले केवलज्ञान की उद्भूति होती है। इसकी प्राप्ति होते ही आत्मा सर्वज्ञपद से विभूपित हो जाता है। यह सर्वज्ञता अन्य एकान्तवादियों द्वारा सम्मत आप्तों में नहीं है कारण कि वे सदोष हैं। यही कारण है कि उनके उपदिष्ट इष्ट तत्त्वों में युक्ति एवं आगम प्रमाण से बाधा आती है। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु द्वारा उपदिष्ट इष्ट तत्त्व सर्वथा निर्बाध हैं उसमें किसी भी प्रमाण से वाधा कल्पित नहीं हो सकती है। भावैकान्त एव अभावैकान्त आदि परस्पर निरपेक्ष सप्तभंगो की मान्यताएं कथमपि सदोष होने से युक्ति संगत नहीं है। कथचित् भावात्मकता, कथचित् अभावात्मकता आदि रूप से प्रदर्शित सप्तभग प्रक्रिया ही निर्दोंप है इसमें विरोध आदि दूषणो का अवतार लेशमात्र भी नहीं है एवं ये सातों भंग परस्पर अविनाभावी हैं। प्रत्येक भंग का अनतधर्मात्मक वस्तु के साथ भिन्न २ रूप से प्रयोजन रहा हुआ है

इत्यादि समस्त विषयों का विवेचन इस परिच्छेद मे स्वामिसमतभद्राचार्य ने किया है। इस परिच्छेद की समाप्ति २३ कारिकाओं में हुई है।

ओं शांति -

अष्टसहस्रीभावं ह्यादाय मया कृतोऽनुवादोऽयं,
प्रथमपरिछेदस्यात्र यात्रुटिर्धीधनैः शोध्या-१।

इस प्रकार मूलचन्द्र जैन शास्त्रिकृतं यह प्रथम परिच्छेद का अनुवाद समाप्त हुआ

द्वितीयपरिच्छेद

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरूध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैके स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥

अन्वय—अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि कारकाणां क्रियायाश्च दृष्टः भेदः विरुध्यते एकं स्वस्मात् न जायते।

अर्थ—अद्वैत एकान्त पक्ष की मान्यता में भी कारकों एव क्रियाओं का प्रमाणसिद्धभेद साधित नहीं होता है। कारण कि इस पक्ष में भी उनकी मान्यता विरुद्ध-विरोधरूप-पडती है। जो सर्वथा एक रूप होता है वह अपने आप कर्ता कर्म आदि रूप नहीं हो सकता है-एक ब्रह्म अपने आप से उत्पन्न नहीं होता है-।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा अद्वैतैकान्त पक्ष का विचार किया गया है। विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, शून्याद्वैत, शब्दाद्वैत के भेद से अद्वैत के अनेक प्रकार हैं, ब्रह्म दो प्रकार का है-एक शब्द ब्रह्म शब्दाद्वैत और दूसरा परमब्रह्म ब्रह्माद्वैत। यहां परमब्रह्मरूप अद्वैत का विचार किया जा रहा है। इस परमब्रह्म रूप अद्वैत सिद्धान्त को मानने वाले वेदान्ती हैं। उनकी यह मान्यता है कि एक परम ब्रह्म ही सत् है। यह दृश्यमान जगत् रूप प्रपच मिथ्या है, क्योकि वह

मिथ्या प्रतीत होता है। जो मिथ्या प्रतीत होता है वह मिथ्या है जैसे सीप के टुकडों में चांदी। १ तथा-समस्त पदार्थ एक ब्रह्म की ही पर्यायें हैं क्योंकि समस्त पदार्थों में एक सत्ता रूप का अन्वय विद्यमान रहता है। जो जिसके रूप से अन्वित होता है वह उसी स्वरूप होता है जैसे घड़ा आदि मिट्टी के वर्तन मृत्तिकारूप से विद्यमान रहते हैं इसलिये वे सब एक मिट्टी की ही पर्यायें मानी जाती है। इसी तरह पदार्थ एक सत्ता रूप से विद्यमान हैं इस लिये वे सव एक परम ब्रह्म की ही पर्यायें २ है।

इस प्रकार एकान्तरूप से एक ब्रह्माद्वैत तत्त्व को ही यथार्थ मानने वाले वेदान्तियों के प्रति कारिकाकार का यह आक्षेपरूप कथन है। वे इसमें यह प्रदर्शित कर रहे है कि यदि वेदान्तसिद्धान्त मान्य रखकर एक परमब्रह्मतत्त्व-रूप अद्वैतैकान्त पक्ष स्वीकार किया जाय तो कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों एवं परिस्पंदरूप-हलन चलन रूप-तथा निष्परिस्पंदरूप-बैठना शयन करना-आदि रूप क्रियाओ का प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध भेद इस मान्यता के आगे विरोधरूप पड़ता है– लुप्त हो जाता है-कारण कि एक स्वरूप रहना यह अद्वैत शब्द का अर्थ है। दो से युक्त होने का नाम द्वीत-द्वैत है। द्वैत मे ही क्रिया कारक आदि के भेदो की सत्ता अविरोधरूप से सिद्ध होती है।

वेदान्ती—आपका यह कहना ठीक नही मालूम देता है कि अद्वैतैकान्त पक्ष में कारकों एवं क्रियाओ का प्रत्यक्ष से साक्षात्कृत एवं अनुमान से गोचरित हुआ भेद विरुद्ध पड़ता है, कारण कि एकत्व-अद्वैत-में भी क्रमशः अथवा

---

१ अय प्रपचो। मिथ्यारूप. प्रतोयमानत्वात् यदेव तदेव यथा शुक्तिशकले कलधौतम् तथा चायं तस्मात्तथा। स्या० म-पृ-१५४

१ सर्वं वै खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन।
छान्दोग्य उ- ३- १४

विवादाध्यासितं विश्वमेककारणपूर्वकं एकरूपान्वितत्वात् घटघटी शरावोदञ्चनादीनांमृद्रूपान्विनानां यथा मृदेककारणपूर्वकत्व सद्रूपणान्वितं च निखिलं वस्त्विति।
-प्रमेयरत्न मा० पृ-७६।

तस्मादेकस्यापि विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवत् विचित्रपरिणाम उपपद्यते।
ब्रह्मसूत्रशां भा० न्यायकुमुद की टिप्पणी पृ- १४७

युगपत् कर्ता कर्म आदि कारकों की एवं क्रियाओ की भिन्नता सध जाती है। देखो-एक ही वृक्ष में कर्ता कर्म आदि अनेक कारकात्मककता की तथा एक ही देवदत्त में देशादिक की अपेक्षा लेकर उठने वैठने चलने सोने आदि नाना क्रियाओं की प्रतीति होती है। तथा जिस प्रकार प्रतिभास की विचित्रता होने पर भी चित्रज्ञान मे एकत्व का व्याघात नहीं माना जाता है उसी प्रकार प्रतिभास की विचित्रिता होने पर भी परम ब्रह्म मे एकत्व का व्याघात नही हो सकता तीनों कालों और तीनो लोको मे रहने वाले पदार्थों के आकार होने वाली जो चित्र (अनेकरूप) बुद्धि है उसका नाम चित्रबुद्धि है यह एक मानी गई है। क्योंकि उसमे प्रतिभासित आकारो का विवेचन-विश्लेषण अशक्य है। उसी प्रकार घट पटादि रूप से प्रतिभास की विचित्रता होने पर भी परमब्रह्म की एकता मे कोई बाधा नही आ सकती है।

जैन—इस प्रकार कहकर जो तुम हमारे कथन को अन्यथा सिद्ध करना चाहते हो वह ठीक नहीं है। कारण कि इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि क्रियाकारक का जो यह भेद प्रपंच-है वह अजन्मा है या जन्म वाला है ? कादाचित्क-उत्पत्ति विनाश वाला होने से यह अजन्मा तो माना नहीं जा सकता है। क्योंकि जो अजन्मा होता है वह आत्मा परमपुरुष -की तरह कादाचित्क नही होता है। यदि क्रिया कारक आदि को जन्म वाला माना जावेगा तो पुनः यह पूछा जा सकता है कि यह किससे उत्पन्न हुआ है ? यदि कहो कि परमपुरुष-ब्रह्म-से यह उद्भूत हुआ है तो फिर इस प्रकार की मान्यता मे एक अद्वैत की सिद्धि कैसे हो सकती है ? क्योंकि इस प्रकार के कथन से कार्य और कारणरूप द्वैत का सद्भाव २ स्थापित होता है। यदि इस द्वैतापत्ति को हटाने के लिये ऐसा कहा जावे कि ये क्रियाकारक आदि ब्रह्म से जुदे नही है किन्तु ब्रह्म स्वरूप हैं सो ऐसे कहने मे जब कि ये क्रियाकारक ब्रह्म स्वरूप है अथवा ब्रह्म क्रियाकारक स्वरूप है अपने से अपना जन्म मानना पडेगा अथवा उनसे अभिन्न होने से ब्रह्म में भी कार्यत्व मानना पडेगा। परन्तु अपने से अपना जन्म मानना युक्तिसगत नही है और न ब्रह्म को अनित्य मानना वेदान्तियो को इष्ट है।

ब्रह्म मे नित्यता प्रतिपादन करने के अभिप्राय से जो ऐसा कहा जाय किये क्रिया कारक ब्रह्म सिवाय अन्य से उत्पन्न होते है तो ऐसे कथन से अद्वैततत्त्व सिद्ध न होकर द्वैत की ही सिद्धि होती है। क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त

आ० मी० २३०

क्रियाकारकों के भेद का हेतु अन्य इस कथन से स्वीकृत किया गया मानने में आ रहा है। यदि इस पर यों कहा जाय कि ये भेद अनादिकालीन अविद्या से उत्पन्न हुए हैं सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कारण कि अविद्या में भी दो विकल्प उठते हैं-वहां ऐसा पूछा जा सकता है-कि वह अविद्या स्वयं वस्तु स्वरूप है या अवस्तुस्वरूप है ? अवस्तु में कार्य कारणभाव बनता नहीं है। जैसे खरविषाण और अश्वविषाण में नहीं बनता है। वस्तु स्वरूप अविद्या मानने में द्वैतापत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। यदि द्वैतापत्ति को हटाने के अभिप्राय से ऐसा कहा जाय कि यह क्रियाकारक का भेद न स्वतः उत्पन्न होता है और न पर से उत्पन्न होता है किन्तु फिर भी उत्पन्न हुआ माना गया है सो ऐसा कहना अद्वैतवादी का सोनेवाले की चेष्टा करने जैसा है कारण कि जो न अपने से उत्पन्न होता है और न दूसरे किसी और से उत्पन्न होता है वह न तो जन्मवाला-उत्पत्तिवाला-माना गया है और न ऐसा देखा ही गया है। इसलिये "जो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है वह ठीक नहीं होता है" इस पद्धति के अनुसार यह अद्वैतसिद्धान्त क्षणिक सिद्धान्त की तरह क्रियाकारकों में भेद ग्राहक होने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से विरुद्ध पड़ता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि भेदों का प्रतिभासक जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण है वह स्वप्न मे होने वाले प्रत्यक्ष की तरह मिथ्या ही है-जिस प्रकार स्वप्न में अनेक पदार्थों के भेदों का ग्राहक प्रत्यक्ष असत्य होता है उसी प्रकार यह जाग्रद्दशासवन्धी भेद ग्राहक प्रत्यक्ष भी सर्वथा असत्य है-सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है कारण कि "विवादापन्न प्रत्यक्षादि मिथ्यैव भेदप्रतिभासित्वात् स्वप्नप्रत्यक्षादिवत्" इस अनुमानप्रयोग मे पक्ष, हेतु, और दृष्टान्त मे जो भेद का (पक्ष अलग है हेतु अलग है एवं दृष्टान्त अलग है इस प्रकार के भेद का) प्रतिभास होता है वह मिथ्या स्वरूप है कि अमिथ्यास्वरूप है ? मिथ्यास्वरूप मानने पर इस अनुमान से साध्य-मिथ्या-विवादापन्न प्रत्यक्ष मे असत्यता-सिद्ध नहीं होती है।

यदि इसे सत्य माना जाय-मिथ्यास्वरूप न माना जाय-तो इसी के द्वारा ही "भेदप्रतिभासित्व" हेतु व्यभिचारी हो जाता है। कारण कि 'जो २ भेद प्रतिभास वाला होता है—वह मिथ्या होता है" यह नियम स्वयं इस पक्षादि के भेद प्रतिभास को अमिथ्या मानने से टिकता नहीं है-भेदप्रतिभासित्व होने पर भी वह मिथ्या नहीं माना गया है।

यदि इस पर यो कहा जाय कि अन्य वादियो ने भेद प्रतिभास को मिथ्या नहीं माना है इसलिये उनकी अपेक्षा हम भी भेद प्रतिभास को अमिथ्यात्व-सत्य-मान लेंगे-सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है कारण कि इससे द्वैत की सिद्धि होती है। स्व और पर का भेद प्रतिभास होने से दो बातें यहा सत्य साबित हो जाती हैं-यही द्वैत है। यदि फिर भी यह कहा जाय कि यह ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त स्वतः सिद्ध है इसमें क्रियाकारक के भेद ग्राहक जो प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं वे इसके द्वारा बाधित हो जाते हैं अतः ये सब भ्रान्त है सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है कारण कि इस प्रकार की मान्यता से वाध्यबाधक भाव की सत्ता सिद्ध होती है। बाध्यबाधक भाव मे परस्पर भेद है-इस भेद प्रसिद्धि में द्वैत की सिद्धि आ जाती है। अतः एकान्त से पुरुषाद्वैत सिद्धान्त प्रत्यक्षादि प्रमाण से सर्वथा विरुद्ध ही है। अतः उसकी मान्यता ठीक-युक्तियुक्त-नही है। इस प्रकार अद्वैतैकान्त पक्ष की मान्यता मे प्रत्यक्षादि प्रमाणो से साधित कारक और क्रियाओं के भेद का विरोध प्रदर्शित कर दूपणान्तरो के सद्भाव का प्रसग जो कि वेदान्तियो के लिये अनिष्ट है आपादित दिया जाता है।

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतंच नो भवेत्।
विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बंधमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

अन्वय—कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्। विद्याविद्या द्वय तथा बधमोक्षद्वय न स्यात्।

अर्थ—दो कर्म, दो फल, एवं दो लोक इस अद्वैतैकान्त पक्ष के समक्ष घटित नही हो सकते है। इसी तरह विद्या और अविद्या ये दोनों तथा बंध और मोक्ष ये दोनों भी नहीं घटित होते हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह बात स्पष्ट कर रहे है कि यह अद्वैत सिद्धान्त प्रसिद्ध प्रमाणों से सर्वथा विरुद्ध पडता है। कारण कि इसमें जो जगत मे नानारूपता प्रमाणित हो रही है एवं कर्मादिक कारकों तथा परिस्पंदात्मक और धात्वर्थात्मक क्रियाओ का प्रमाण प्रसिद्ध जो भेद देखने मे आ रहा है यह सब जिस प्रकार विरोध

को–विलीनता को–प्राप्त हो जाता हैं उसी तरह लौकिक एवं वैदिक–वेदविहित–नित्यनैमित्तिककर्म–अथवा कुशल और अकुशल रूप शुभ तथा अशुभ कर्मों का अनुष्ठान, अथवा पुण्य और पाप रूप जो ये दो प्रकार के कर्म हैं इनका भी सद्भाव सिद्ध नहीं होता है। क्यों कि अद्वैत और द्वैत का परस्पर में सर्वथा जो विरोध है। जब ये दोनो प्रकार के कर्म इसमें नहीं साबित होते हैं–सद्भाव भी जब इनका साबित नही हो सकता है--तब ऐसी दशा में इनके फलस्वरूप जो इस-लोक और परलोक मे श्रेय एवं प्रत्यवाय रूप सुख और दु:ख फल हैं वे कैसे बन सकते हैं--अर्थात् नहीं बन सकते हैं कारण कि अपने कारणों के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती है। इसीलिये पुण्य और पापके फल को भोगने के लिये आधारभूत इहलोक और परलोक इन दोनों लोकों की भी सत्ता सिद्ध नही हो सकती है। अर्थात् इन-का भी अभाव ठहरता है। जब धर्म और अधर्म का भी अभाव हो जाता है तो विद्या और अविद्याद्वय का भी संभव नही होता है। इन दोनो की असंभवता में बंध और मोक्ष की कथा भी अस्तगमित हो जाती है। यदि कर्मादिक द्वैत अविद्या कल्पित माना जाय तो धर्म अधर्म के अभाव में विद्या और अविद्या का द्वैत संभवित नहीं होता है। इनकी असंभवता मे बंध और मोक्षका भी अभाव मानना पड़ता है। यदि बंध मोक्ष एवं विद्या अविद्या भी अनादिकालीन अविद्या के उदयाधीन मानी जावें परमार्थत न मानी जावें क्योंकि इस अद्वैत सिद्धान्त मे इनकी असंभवता है "न बन्धोऽस्ति नवै मोक्ष इत्येपापरमार्थता" इस प्रवचन के अनुसार एक प्रभासमात्र परब्रह्म में परमार्थता है सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं–कारण कि यदि केवल प्रवचन की मान्यता से ही इसमें तात्त्विकता मानी जाय तो शून्यैकान्त में भी तात्त्विकता मान लेनी चाहिये वह भी तो अपने प्रतिपादक प्रवचन की मान्यता-कल्पना-से स्थापित किया गया है, यदि कहो कि उसकी कल्पना निष्फल है तो अद्वैत की कल्पना भी युक्ति के अभाव में निष्फल क्यो न मानी जायगी। जिस प्रकार पुण्य पाप, सुख दु:ख, इहलोकपरलोक, विद्या अविद्या एव बंध मोक्ष इन विशेषोंसे रहित शून्य सिद्धान्त हैं उसी तरह यह अद्वैत एकान्त भी है। अतः यह भी बुद्धिमानो द्वारा ग्राह्य कोटि मे नैरात्म्यदर्शन की तरह नही आता है। इसलिये उसकी जिज्ञासा तक भी कल्याणवहा नहीं है।

देखो—सब ही प्राणी अपनी२ बुद्धि के अनुसार प्रमाण विरुद्ध दर्शन की रचना कर सकते हैं चाहे वह अद्वैत हो चाहे अद्वैत से इतर द्वैत हो। परन्तु उसके रचने में उनका किसी न किसी फल के प्रति लक्ष्य तो अवश्य२ रहता है। यदि उसकी रचना किसी फलविशेष के लक्ष्य से विहीन है तो उसकी तरफ प्रेक्षापूर्वकारी पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होती है—साधारण लोगो तक का भी झुकाव जब उस ओर नहीं होता है तो फिर सोच समझकर प्रवृत्ति करने वाले पुरुषों की तो बात ही क्या कहनी—वे तो उस ओर झुकेंगे ही कैसे। अत जब यह अद्वैत सिद्धान्त पुण्य पाप आदि विशेषों से विरहित है तो यह स्वयं सोचने जैसी बात है कि इसकी ओर उनकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है--यह उनके द्वारा आश्रणीय कैसे हो सकता है--नही हो सकता। प्रयोग--"ब्रह्माद्वैतं स्वमनीपिकाभिरारचित प्रमाणप्रत्यनीकत्वात्" यह ब्रह्माद्वैत सिद्धांत प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण केवल वेदान्तियो की कोरी कल्पनामात्र से रचित हुआ है अतः विद्वज्जनों द्वारा परीक्षाप्रधानी जनों-द्वारा आदरणीय नहीं हो सकता है। जैसे सर्वथा शून्य सिद्धान्त।

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम् ॥ २६ ॥

अन्वय–चेत् हेतो अद्वैतसिद्धिः हेतुसाध्ययोः द्वैतं स्यात्। चेत् हेतुना विना सिद्धिः वाङ्मात्रतः द्वैतं किं न (भवेत्)।

अर्थ–यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि मानी जाय तो हेतु और साध्य का द्वैत सिद्ध होता है। हेतु के विना यदि अद्वैत की सिद्धि मानी जाये तो वचन--मात्र से द्वैत की सिद्धि ही क्यों न मान ली जाय।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार ने अद्वैतवादी के कथन का निरसन किया है जो उसने इस प्रकार कहा है कि "यह अद्वैत सिद्धान्त प्रमाणप्रत्यनीक--प्रमाणविरुद्ध--नहीं है इसलिये इसे जो जैनों ने स्वकपोलकल्पित केवल अपनी बुद्धि की चतुराई से ही वेदान्तियों द्वारा रचित--प्रकट किया है सो यह बात ठीक नहीं है कारण कि इस अद्वैत-

सिद्धान्त के पुष्टि कारक--समर्थक--अनुमान एवं आगम ये दो प्रमाण हैं। इन दो प्रमाणों से उसकी सिद्धि होती है। अनुमान प्रमाण तो यह कहता है " यत्प्रतिमाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्त प्रविष्टमेव यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभास-समानाधिकरण च सर्वं " कि जो भी प्रतिभास का समान रूप से अधिकरण होता है वह प्रतिभास के स्वरूप की तरह प्रतिभास के अन्त प्रविष्ट ही है —उससे वाहिर नहीं है—दुनिया के जितने भी ग्राम आराम आदिक पदार्थ हैं वे सब ही प्रतिभास के समानरूप से अधिकरण हैं अतः उसके ही अन्तः प्रविष्ट हैं। इस हेतु से एक परब्रह्म की सिद्धि होती है। प्रतिभास शब्द का अर्थ परब्रह्म है। अन्तर्वाह्य पदार्थों में प्रतिभास-समान-अधिकरणता की असिद्धि इसलिये नहीं है कि "सुख प्रतिभासते रूप प्रतिभासते" सुख प्रतिभासित होता है रूप प्रतिभासित होता है" इस प्रकार से सर्वत्र प्रतिभास की समानरूप से अधिकरणता की प्रतीति हो रही है। यदि सुखादिकों में प्रतिभास समानाधिकरणता न मानी जाय तो उनके सद्भाव की सिद्धि ही नहीं हो सकती है।

अप्रतिभासित पदार्थ का भी यदि सद्भाव माना जाने लगे तो फिर क्या है सबके मनोरथों की सिद्धि का प्रसंग होने से कोई भी पदार्थ असत् नहीं माना जा सकेगा। यदि इस हेतु को यो कहकर भागासिद्ध किया जाय कि ये जो अन्तर्बाह्यः पदार्थ हैं कि जो प्रतिभास्य-प्रतिभास के विषय होने के योग्य -हैं और प्रतिभास से व्यतिरिक्त -भिन्न है-उनमे प्रतिभाससमानाधिकरणत्व हेतु का सद्भाव उपचार १ से मान लिया जाय और प्रतिभास के स्वरूप में उसका सद्भाव मुख्य रूप से मान लिया जाय क्योकि ये प्रतिभास से व्यतिरिक्त पदार्थ मुख्य रूप से प्रतिभास स्वरूप नहीं हैं वे तो प्रतिभास्य-प्रतिभास के विषय हैं प्रतिभास स्वरूप तो प्रतिभास का स्वरूप है अत. वहीं पर इस हेतु की मुख्यतया उत्पत्ति होती है, अन्य ग्रामारामादिक प्रतिभास्य पदार्थों मे नहीं, अतः इस प्रकार से यह हेतु भागासिद्ध है

---

१ "सत्ता प्रतिभासते इति तु विषये विषयिधर्मस्योपचारात्। प्रतिभासन हि विषयिणो ज्ञानस्य धर्मः स विषये सत्तासामान्येऽध्यारोप्यते। अध्यारोपनिमित्तं प्रतिभासनक्रियाधिकरणत्व" इस प्रकार का यह कथन जैन का है। उसका समाधान यह वेदान्तियों की ओर से हैं। देखो आप्तपरीक्षा भाषाटीका पृ-१९८।

सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है, कारण कि इस प्रकार के कथन से प्रतिभास्य और प्रतिभास में प्रतिभास्य प्रतिभासक भाव नहीं बन सकता, यदि प्रतिभास्य प्रतिभासक भाव सिद्ध करने के लिये ऐसा कहा जावे कि जो प्रतिभास का हेतु होगा वह प्रतिभास्य कहलावेगा सो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं माना जा सकता कि प्रतिभासमात्र प्रतिभास सामान्य-अहेतुक-हेतुरहित-उत्पत्तिकारण विना का-है इसलिये किसी भी प्रतिभास्य में प्रतिभास के प्रति हेतुता नहीं आ सकती है। प्रतिभास मात्र अहेतुक इसलिये है कि वह अकादाचित्क-नित्य-है। अकादाचित्क यह इसलिये है कि कभी भी इसका अभाव नहीं होता है। नहीं तो कभी न कभी इसके अभाव होने का प्रसंग प्राप्त हो सकता है। इसलिये प्रतिभास का हेतु होने से अर्थ-पदार्थ-प्रतिभास्य है यह कहना तो ठीक नहीं बनता। यदि कहो कि अर्थ में प्रतिभासालंबनता-प्रतिभास का विषय होनापना-है इसलिये अर्थ प्रतिभास्य हो जायगा सो इस प्रकार के कथन से परस्पराश्रयता आती है, और वह इस प्रकार से अर्थ में प्रतिभासालंबनता है यह आप कैसे जानते हैं, यदि उत्तर में कहा जाय कि अर्थ अतिभास्य है इसलिये उसमे प्रतिभासालवनता है तो फिर यही प्रश्न होता है कि अर्थ प्रतिभास्य है इसका निर्णायक आपके पास क्या है, यदि कहो कि उसमें प्रतिभासालंबनता निर्णायक है तो यही परस्पराश्रय नाम का दूषण है।

प्रतिभासालम्बनत्व का निर्णय पदार्थ मे प्रतिभास्यत्व के आधीन एवं उसमे प्रतिभास्यता का निर्णय प्रतिभासालंबनत्व के आधीन हुआ है। यदि पदार्थ में प्रतिभास्यता लाने के लिये ऐसा कहा जाय कि पदार्थ में प्रतिभास के द्वारा आलम्बन विपयभूत होने की योग्यता है इसलिये वह प्रतिभास्य है तो ऐसा प्रतिभास्य तो प्रतिभास का स्वरूप ही है क्योकि प्रतिभास का स्वरूप ही प्रतिभास के द्वारा बिपय होने की योग्यता वाला होने के कारण उसका बिषय होता है। और इसी से सर्वत्र प्रतिभास अपने ही स्वरूप को विषय करता है। इसलिये प्रतिभाससमानाधिकरण हेतु को जो बिषय-पदार्थों में उपचरित कहकर भागासिद्ध प्रकट करने का प्रयास किया गया है वह ठीक नहीं है। जब विषय में उपचरितप्रतिभाससमानाधिकरणता नहीं है तो इसी से यह हेतु अनैकान्तिक अथवा विरुद्ध भी नहीं हो

सकता है। क्योंकि जिसमें प्रतिभास समानाधिकरणता रहेगी वह नियमत प्रतिभासान्तः प्रविष्ट ही होगा। जिसमें प्रतिभासान्तः अप्रविष्टता होगी उसमें प्रतिभाससमानाधिकरणता भी नहीं होगी। इस प्रकार इस हेतु में विपक्षवृत्ति का अभाव है। समस्त धर्मी का आश्रय परब्रह्म होने से यह हेतु आश्रयासिद्ध भी नहीं है। "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इस प्रकार का छान्दोग्यउपनिषत् का यह वाक्य है। अतः इस आगम वाक्य से भी एक ब्रह्माद्वैत की सिद्धि होती है।" मतलब इसका यही है कि यह ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त आगम और अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। प्रतिभास स्वरूप की तरह समस्त अन्तर्बहिः पदार्थ प्रतिभासस्वरूप हैं। यदि ये प्रतिभास स्वरूप न होते तो इनका प्रतिभास नहीं हो सकता। यही मान्यता अद्वैतवादी ने इस अवतरण से पुष्ट की है। इसके ऊपर कारिकाकार का यह कहना है-कि हे अद्वैतवा-दिन्! यदि तुम अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि साध्य एव हेतु द्वारा करते हो तो अद्वैत सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो सकता है कारण कि हेतु और साध्य इस तरह से दो चीजें सिद्ध होती हैं। "सर्वे पदार्था प्रतिभासान्त प्रविष्टाः प्रतिभाससमाना-धिकरणत्वात्" अद्वैतवादी जब इस प्रकार के अनुमान से समस्त पदार्थों को प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट साध्य करेगा तो "साध्यरूप,, एक वस्तु स्वतंत्र सिद्ध हो जाती है और "प्रतिभाससमानाधिकरणत्वात्" यह हेतु भी एक स्वतंत्र वस्तु सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार द्वैत की सिद्धि होने से मूलत अद्वैत सिद्धान्त सिद्ध ही नहीं होता है।

वेदान्ती — "प्रतिभाससमानाधिकरणत्वात्" इस हेतु से समस्त ग्रामारामादिक पदार्थों को प्रतिभास के अन्त. प्रविष्ट होने के कारण पुरुषाद्वैत—ब्रह्माद्वैत की सिद्धि होने पर भी हेतु और साध्य में द्वैत नहीं हो सकता है। कारण कि हम अद्वैतवादियो ने साध्य और साधन में तादात्म्यसम्बन्ध माना है। तादात्म्य मानने पर साध्य और साधन भाव का विरोध थोडे ही हो सकता है। जैसे बौद्ध सिद्धान्त सत्त्व और अनित्य इन दोनो मे तादात्म्य मानकर भी साध्य साधन भाव मानता है। यदि साध्य साधन में तादात्म्य मानने पर साध्य साधन भाव का विरोध होता तो बौद्ध सिद्धान्त भी सत्त्व (हेतु) और अनित्य -क्षणिक (साध्य) इन दोनों मे साध्य साधन भाव कैसे मानता- यहां पर भी विरोध होना चाहिये था। यदि इस पर यों कहा जाय कि कल्पना के भेद से साध्य साधन धर्म में भेद मान लिया

जाता है तो फिर इसी तरह से अविद्या के उदय से कल्पित किये गये प्रकृत साध्य और साधन में साध्य साधन भाव का विघात कैसे माना जा सकता है। यहां पर भी साध्य साधन भाव बन जाता है।

जैन—ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि हम तो यही कहते हैं कि सर्वथा साध्य साधन मे तादात्म्य मानने पर साध्य साधन भाव नही बनता हैं। यदि बौद्ध सिद्धान्त भी सत्त्व हेतु और अनित्य साध्य में सर्वथा तादात्म्य मानता हैं तो वहां पर भी साध्य साधन भाव नहीं बन सकता है। साध्य साधन में साध्य साधन भाव कथंचित् तादात्म्य में बनता है। इसलिये सत्त्व और अनित्य में कथचित् तादात्म्य की सिद्धि होने से सर्वथा तादात्म्य की असिद्धि है। उदाहरण तो आपको ऐसा ही देना चाहिये—जो उभय संमत हो। असिद्ध उदाहरण नही होता है, सत्त्व और अनित्य में सर्वथा तादात्म्य होने पर साध्य साधन भाव है इस प्रकार का यह उदाहरण हमारी दृष्टि में असिद्ध है। इसलिये यह कहना हमारा बिल्कुल ठीक है कि यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि मानी जाय तो हेतु और साध्य में द्वैत सिद्ध होता है। अद्वैत नही। यदि इस प्रकार द्वैतापत्ति को वारण करने के अभिप्राय से ऐसा कहा जाय कि हम अद्वैतवादी इस अद्वैत की सिद्धि बिना हेतु के केवल-आगम मात्र से मान लेंगे-तो ऐसा कहना भी इसलिये उचित नही है कि अद्वैत और अद्वैतसाधक आगम में द्वैत का प्रसग प्राप्त होता है।

वेदान्ती—अद्वैत और अद्वैत साधक आगम में आप द्वैत का प्रसंग कैसे प्रकट कर सकते हैं। कारण कि आगम भी तो अद्वयपुरुष स्वभाव ही है—आगम भी ब्रह्म स्वभाव ही है—अतः ब्रह्म और तत्प्रतिपादक आगम में कोई भेद नहीं है। इसलिये ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण आगम से द्वैत की प्रसक्ति नहीं हो सकती है। यही बात गीता के १५ वें अध्ययनके इस प्रथम श्लोक से प्रदर्शित करने मे आई है, वह श्लोक यह है—" उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थप्राहुरव्ययम्, छन्दांसि तस्य पर्णानि यस्तं वेत्ति स वेदवित् १।"

---

२ कठोपनिषत्षष्ठवल्ली में भी इसी प्रकार का एक श्लोक है जो इससे कुछ हेर फेर में है—उर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः तदेवशुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।

जैन—इस प्रकार अद्वैत और अद्वैत प्रतिपादक आगम मे अभिन्नता प्रतिपादन करने से ब्रह्म की तरह आगम में भी असिद्धता आ जायगी। अतः असिद्ध आगम से ही ब्रह्म की सिद्धि मानना संगत नहीं बैठती है। इसलिये जो असिद्ध है वह हितेप्सु मनुष्यों द्वारा अथवा अहित को परिहार करने की अभिलाषा करनेवाले मानवों द्वारा उपादेय नहीं होता है। जैसे शून्यैकान्त। अद्वैत की सिद्धि विधायक न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है और न आगम प्रमाण ही, अतः अपनी सिद्धि विधायक प्रमाणों के विरह से यह एकान्त अद्वैतसिद्धान्त प्रमाणप्रत्यनीक ही जानना चाहिये। अद्वैत की सिद्धि में जो पहिले हेतु दिया गया है वह साध्य से विपरीत का साधक होने से विरुद्ध हेत्वाभास से दूषित होता है। इस हेतुका साध्य "सर्वथा प्रतिभासान्तः प्रविष्ट" है उससे विरुद्ध कथंचित् प्रतिभासान्तः अप्रविष्ट है, इसकी सिद्धि इसलिये होती है कि प्रतिभास और प्रतिभास्य में कथचित् भेद होने पर ही समानाधिकरणत्व की प्रतीति मानी गई है, सर्वथा भेद में जिस तरह समानाधिकरणता नहीं बनती है उसी तरह सर्वथा अभेद मे भी वह नहीं बनती है। 'शुक्लः पट' इत्यादि स्थलों मे गुण और द्रव्यका सर्वथा अभेद मानने पर समानाधिकरणता नही हुई है किन्तु कथंचित् भेदमें हुई है, "प्रतिभास-स्वरूप प्रतिभासते" यहा पर भी प्रतिभास और उसके स्वरूप मे सर्वथा तादात्म्य-अभेद-नहीं माना गया है लक्षण लक्षण भाव की अपेक्षा इनमें कथंचित् भेद स्थापित किया गया है। अतः यहां पर इसी अपेक्षा से समानाधिकरण बनता है। इसलिये जो प्रतिभास समानाधिकरण होगा वह प्रतिभाससे कथचित् भिन्न होगा जैसे प्रतिभासका स्वरूप, प्रतिभास समानाधिकरण सुख नील आदि समस्त पदार्थ है अत वे सब प्रतिभास से कथचित् भिन्न है, इस तरह प्रतिभास समानाधिकरण हेतु से साध्य विपरीत अर्थ की सिद्धि होने के कारण इस अनुमान से अद्वैत की सिद्धि नही होती है, 'सर्वं वैखल्विद ब्रह्म' इत्यादि उपनिषद् वाक्य से जो ब्रह्मकी सिद्धि प्रदर्शित करने मे आई हैं वह भी ठीक नही है, कारण कि इससे भी द्वैतकी है सिद्धि होती है, क्योंकि इस आगम से ग्रामारामादिरूप से प्रसिद्ध पदार्थों मे अप्रसिद्ध इस ब्रह्मवाद का जो विधान किया गया है यदि समस्त चेतनाचेतनात्मक पदार्थोंमे ब्रह्मरूपता सर्वथा प्रसिद्ध होती तो उनमे इसके विधान करनेकी आवश्यकता ही क्या थी। जिस प्रकार अप्रसिद्ध का विधान नही होता उसी प्रकार प्रसिद्ध का भी विधान नहीं होता है। यदि इसके

समाधान निमित्त अद्वैतवादी इस प्रकार कहे कि तुम्हारा यह कथन ठीक है परन्तु हम जो समस्त चेतनाचेतनात्मक पदार्थों मे इस अद्वैतवाद का-ब्रह्मरूपता का-विधान कर रहे हैं सो उसका कारण यह है कि उनमे द्वैत के प्रपच का आरोप होता चला आ रहा है-अत उसके व्यवच्छेद के लिये किसी आत्मव्यक्ति मे प्रसिद्ध यह जो एकात्म रूप ब्रह्म है उसका चेतनाचेतनात्मक रूप से अभिमत समस्त पदार्थों मे इस आगम वाक्य से विधान किया गया है। सो इस प्रकार ब्रह्मत्व साधक आगम से व्यवच्छेद और व्यवच्छेदक भाव का सद्भाव सिद्ध होता है।

क्योकि इस तरह से द्वैत प्रपंचारोप व्यवच्छेद्य और आगम उसका व्यवच्छेदक जब सिद्ध हो जाता है तब सर्वथा अद्वैत की सिद्धि कैसे हो सकती है। भले आप अद्वैत वादो आगम को पर ब्रह्मस्वभाव मानो इसमें कोई हमें आपत्ति नहीं यह तो अपनी इच्छा की बात है- पर इससे सर्वथा एक अद्वैत का विधान हो जायगा यह बात नहीं बनती है। कारण कि जब आगम अद्वैतस्वभाव-ब्रह्मस्वभाव-माना जायगा तो यह जिस स्वभाववान् का स्वभाव होगा उसमें और इसमें स्वभाव और स्वभाववान् की अपेक्षा कथंचित् भेद माना ही जायगा, इस स्थिति में सर्वथा अद्वैत की सिद्धि न होकर कथचित् द्वैत की सिद्धि होती है इसी तरह यदि पुरुषाद्वैत की सिद्धि स्वसवेदन से साध्य मानी जाय तो इस स्थिति में भी साध्य साधन के सद्भाव से द्वैत का विधान होता है। इन समस्त दोषों से बचने के लिये यदि सर्वथा अद्वैत की सिद्धि स्वत सिद्ध मानी जाय तो द्वैत भी स्वतः सिद्ध होगा-फिर उसका वारण कैसे हो सकता है। आप्त परीक्षा में " हेतुना विना-उपनिषद्वाक्यविशेषात् पुरुषाद्वैतसिद्धौ वाङ्मात्रात्कर्मकाण्डादिप्रतिपादकवाक्यात् द्वैतसिद्धिरपि किं न भवेत् " ऐसा लिखा है। इसका मतलब यह है कि हेतु के बिना केवल उपनिषद्वाक्य से पुरुषाद्वैत की सिद्धि मानने पर वचनमात्र से-अर्थात् कर्मकाण्ड आदि के प्रतिपादक वाक्य से द्वैत की सिद्धि भी क्यो न हो जाय ? अत सर्वथा पुरुषाद्वैत-ब्रह्माद्वैत-सिद्ध नहीं होता है।

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥

अन्वय–हेतुना (विना) अहेतुः इव द्वैतात् विना अद्वैतं न (सिद्धयति)। प्रतिषेध्यात् ऋते क्वचित् सञ्ज्ञिनः प्रतिषेधः न स्यात्।

अर्थ–हेतु के विना अहेतु की तरह द्वैत के विना यह अद्वैत सिद्ध नहीं होता है। प्रतिषेध्य के विना कहीं पर संज्ञी–पदार्थ–का प्रतिषेध नहीं हुआ करता है।

भावार्थ–इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह स्पष्ट करते हैं कि " अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवत्" जैसे अहेतु यह शब्द नञ् पूर्व अखंडपद होने से स्वाभिधेय से प्रत्यनीक परमार्थ की अपेक्षा वाला है उसीतरह अद्वैत यह शब्द भी अपने अर्थ का प्रतिपक्षी जो परमार्थ स्वरूप द्वैत है उसकी अपेक्षा वाला है कारण कि यह भी नञ्–निषेध पूर्वक अखंड पद है। एक अर्थ का वाचक जो एक पद होता है वह अखंड पद कहलाता है। नञ् का मतलब यह है कि अद्वैत यह पद " न द्वैतं अद्वैतं " इस प्रकार नञ् तत्पुरुष समास से युक्त है। स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्ष का शब्दार्थ इस प्रकार है "स्व" शब्द से अद्वैत का ग्रहण हुआ है। इसका अभिधेय-वाच्यार्थ–द्वैत का निषेध रूप समझना चाहिये। इस द्वैत के निषेध का अर्थात अद्वैत का प्रत्यनीक प्रतिपक्षी–द्वैत। वह परमार्थ स्वरूप है–मायोपकल्पित नही है। उसकी अपेक्षा वाला यह अद्वैत शब्द है। इसलिये यह अद्वैत अपने प्रतिपक्षी द्वैत के अभाव मे नहीं हो सकता है।

शका वेदान्ती — जिस तरह आप अद्वैत पद को नञ् पूर्व अखंड पदत्व हेतु से स्वाभिधेय से प्रत्यनीक परमार्थ की अपेक्षा वाला सिद्ध करते हैं उसी तरह अनेकान्त यह पद भी नञ् पूर्वक अखड पद है अत यह भी स्वाभिधेय से प्रत्यनीक जो एकान्तरूप परमार्थ है उसकी अपेक्षा वाला माना जायगा–तथा च एकान्त मे इस अपेक्षा परमार्थ रूपता वास्तविकता–सिद्ध होगी। परन्तु इस प्रकार की मान्यता अर्हतशासन को मानने वालों की नहीं है। क्योकि वे तो एकान्त का निरसन करते हैं। अतः " नञ् पूर्वाखंडपदत्वात् " यह हेतु " अनेकान्त " इस शब्द से व्यभिचरित साबित होता

है। कारण कि अनेकान्त में इस हेतु के सद्भाव में भी " साध्य—स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षत्व " नहीं रहता है। अर्थात् अनेकांत शब्द एकान्ताविनाभावी नहीं है।

उत्तर जैन–ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि " अनेकान्त " शब्द भी सम्यक् एकान्त के विना नहीं बन सकता है। अतः यह भी सुनयार्पित एकान्त की अपेक्षावाला है। इसलिये उसके अभाव में निष्पन्न नहीं हो सकने वाले अनेकान्त शब्द के द्वारा यह हेतु व्यभिचरित नहीं हो सकता है। अत सुनयार्पित एकान्त के साथ यह अनेकान्त अविनाभावी ही है। इसी तरह माया आदि के साथ अविनाभावी होने से अमायादि शब्दो द्वारा भी इस हेतु में व्यभिचार सिद्ध नहीं होता है।

शंका वेदान्ती—" अखरविषाण" यह शब्द भी नञ्पूर्व अखड पद है। अतः इसे भी स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्ष होना चाहिये। परन्तु ऐसा तो है नही, कारण कि खरविषाण कोई चीज नही है। वह तो अवस्तु है। इसलिये इसमें हेतु का सद्भाव होने पर भी साध्य का सद्भाव नहीं रहने से यह हेतु व्यभिचरित ही है। अर्थात् अखरविषाण शब्द खरविषाण का अविनाभावी नही है।

जैन-उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि " अखर विषाण" यह शब्द नञ्पूर्व अखंड पद नही है। "अखर" यह पद नञ्पूर्व अखड पद है। अतः यह स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थ की अपेक्षा रखने वाला है। परन्तु "अखर विषाण" यह पद नहीं-कारण कि इसमें नञ्पूर्वता होने पर भी अखडपदता नहीं है। यहां एक तो खर और दूसरा विषाण इस तरह दो पद हैं। "न खरविषाणं अखरविषाण" इस प्रकार यहां नञ्तत्पुरुष समास है फिर भी यह अखड पद का विशेषण नहीं है किन्तु खड पद का ही विशेषण है इसलिये इस नञ् मे अखडपद की विशेषणता नहीं है। "अखंड" इस विशेषण से पदांश और अनेकपद समुदाय की व्यावृत्ति हुई है। इसलिये जो नञ्पूर्व अखंड पद होगा वही स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थ की अपेक्षा वाला होगा। जैसे-अहेतु यह शब्द होता है। अखड पद का विशेषण रूप जो नञ् होता है वह अवस्तु के प्रतिषेध निबधनक नहीं होता है-किन्तु वस्तु के ही प्रतिषेध निबंधनक होता है।

हां—जो नञ् पदान्तरोपहित पद का-खडपद का—विशेषण होगा वही अवस्तु प्रतिषेध निबन्धनक देखा जायगा। जैसे अखरविषाण अवन्ध्यास्तनंधय आदि का नञ् । खरविषाण वन्ध्यास्तधय ये अवस्तु हैं इन का प्रतिषेध अखरविषाण अवन्ध्यास्तनंधय है । अत यहां पर 'नञ्पूर्व अखंडपदत्व" यह हेतु नहीं रहता है। इसलिये साध्य भी नही रहता है । अतः साध्याभाव प्रतिपादित कर जो इस हेतु में अखरविषाण द्वारा व्यचिभार प्रकट करने का प्रयास किया गया है वह ठीक नहीं है । -दूसरे-"अद्वैत" यह शब्द अखरविषाण की तरह तो है नही, कि जिससे वह भी स्वाभिधेय प्रत्यनीकपरमार्थ की अपेक्षा वाला न हो। यह ओ नञ्पूर्व अखंडपद है अत इसका नञ वस्तु के प्रतिषेध निबंधनक ही माना जायगा। इसलिये अद्वैत द्वैताविनाभावी सिद्ध होता है। द्वैत के सर्वथा अपलाप करने में अद्वैत का विधान नहीं हो सकता है। यही वात "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्" इस सामान्य नियम द्वारा प्रकट की गई है। संज्ञी प्रतिषेध्य द्वैत अपने अस्तित्व के विना प्रतिषेध कोटि में कैसे आ सकता है कि जिससे अद्वैत का विधान हो सके। संज्ञी का विधिसापेक्ष ही प्रतिषेध होता है। मतलव इसका यह है कि जिस प्रकार अहेतु शब्द की वस्तुभूत संज्ञीपदार्थ जो हेतु है उसके प्रतिषेध पूर्वक ही प्रवृत्ति होती है क्योकि प्रतिषेध्य जो हेतु है वह वास्तविक संज्ञी पदार्थ है तव ही तो जाकर उसका अहेतु शब्द से प्रतिषेध होता है उसी प्रकार अद्वैत यह शब्द भी वस्तुभूत सज्ञी द्वैत पदार्थ के प्रतिषेध पूर्वक ही प्रवृत्त हुआ मानना चाहिए क्योंकि यहां पर भी प्रतिषेध्य जो द्वैत है वह वास्तविक संज्ञी पदार्थ है तब ही जाकर उसका अद्वैत इस शब्द द्वारा प्रतिषेध हो सकता है अन्यथा नहीं। अखरविषाण शब्द द्वारा जो खरविषाण का प्रतिषेध किया जायगा वह प्रतिषेध्य-खरविषाण-वस्तुभूत संज्ञी पदार्थ ही नही है कि जिससे उसके प्रतिषेध पूर्वक उसकी प्रवृत्ति मानी जा सके। अतः जव खरविषाण मूल में ही वास्तविक सज्ञी पदार्थ नहीं है तो उसका प्रतिषेधक जो अखरविषाण शब्द है वह भी अवस्तुभूत ही है-कुछ नही है-अपने प्रतिषेध्य के विना भी हुआ है । अद्वैत कब्द ऐसा नहीं है उसमें तो वस्तुभूत द्वैत का प्रतिषेध करने मे आया है। अत द्वैत के नहीं मानने पर उसका प्रतिषेधक अद्वैत यह शब्द निष्पन्न ही नहीं हो सकता है और न संज्ञी द्वैतरूप प्रतिषेध्य के विना

उसका प्रतिषेध ही हो सकता है कि जिससे सर्वथा अद्वैतैकान्त की सिद्धि हो सके।

यदि अद्वैतवादी की तरफ से ऐसा कहा जाय कि इस अद्वैतवाद में परमार्थतः निषेध का व्यवहार है ही नहीं। क्योंकि इस प्रकार का व्यवहार वहां संभवित नहीं होता है फिर भी अद्वैत की स्थापना में जो द्वैत का निषेध किया जाता है वह इसलिये कि यह द्वैत दूसरो ने माना है। अतः उन्हीं के प्रसिद्ध अनुमान आदि प्रमाण द्वारा हम उसका निषेध करते है। यद्यपि इस तरह कहने से स्व और पर का विभाग हो आता है तो भी यह विभाग भी तात्त्विक नहीं है। यह भी तो अविद्याकल्पित है। सो ऐसा कहना भी अद्वैतवादी का ठीक नही है। कारण कि उनके सिद्धान्तानुसार अविद्या की व्यवस्था ही नहीं हो सकती है। इस पर यदि अद्वैतवादी ऐसा कहे कि ठीक है हमलोग अविद्या को वस्तुभूत तो मानते नही है-कि जिससे प्रमाण से उसकी व्यवस्था करने की आवश्यकता प्रतीत हो। यह तो अवस्तुभूत है। अवस्तु में प्रमाणो का व्यापार माना नहीं गया है। १ वस्तु की स्थापना में ही प्रमाणों का व्यापार होता माना गया है। अविद्या वस्तुभूत इसलिए नहीं है कि वह अपनी प्रमाण द्वारा विहित परीक्षा के सहन करने में समर्थ नहीं है। यही अविद्या का असाधारण लक्षण माना गया है। जो इस अविद्या में अविद्यात्व की सिद्धि का विधायक हो जाता है। अतः प्रमाण द्वारा स्थापित न होकर यह अविद्या केवल कल्पना का विषय है-अर्थात् अप्रमाणिक उस अविद्या का अस्तित्व केवल कल्पना से ही माना गया है। "अविद्या है" यह प्रत्येक संसारी जीवो को भी अपने२ अनुभव से सिद्ध बात है। इस अविद्या की कल्पना करने पर द्वैतवाद का अवतार होगा ऐसा जो द्वैतवादियो की तरफ से दोष दिया जाता है सो वह अब कैसे लागू पड सकता है कारण कि यदि विद्या प्रमाण प्रसिद्ध वस्तु होती और उसे हम मानते तो द्वैत का प्रसंग होता—वह तो एक काल्पनिक वस्तु हैं। उसके मानने में द्वैत का प्रसंग कैसे हो सकता है। अतः

१ वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृति र्न हि युज्यते।
अविद्या च न वस्त्विष्ट मानाघातासहिष्णुतः॥
अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम्।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते॥

अद्वैतवाद की मान्यता सर्वथा निर्दोष है। द्वैतवाद की ही मान्यता ऐसी है कि जिसमें दृष्ट और अदृष्ट पदार्थों का प्रपंच -जो प्रमाण से बाधित है कल्पित करने में आया है -अतः उसमें ही अनेक प्रकार के दोषों का अवतरण होता है। सो ऐसा कथन अद्वैतवादी का उचित नहीं है, कारण कि जो प्रेक्षावान् हुआ करते हैं वे विद्या एव अविद्या को समस्त प्रमाणों से अतिक्रान्तरूप वाली नही मानते हैं। जिस प्रकार विद्या प्रमाण का विषय मानी गई है उसी प्रकार अविद्या भी कथचित् वस्तु का स्वरूप होने से प्रमाण का विषय मानने में आई है। प्रमाण का विषयभूत मानने पर उसमें अविद्यात्व कैसे रहेगा वह तो विद्या स्वरूप हो जायगी-सो ऐसा आक्षेप हमें इष्ट है। क्योंकि अन्तः प्रमेय की अपेक्षा से कोई अविद्या है ही नहीं। समस्त ज्ञान प्रमाणभूत माने गये हैं। बहिः प्रमाण की अपेक्षा से ही विद्या और अविद्या की व्यवस्था मानने में आई है, जहां पर विसवाद होता है वह अविद्या एवं जहां अविसंवाद है वह विद्या। इसलिये किसी अपेक्षा से अविद्या को वस्तुभूत माननी चाहिये-सर्वथा प्रमाणातिक्रान्त-तुच्छाभावस्वरूप नहीं। अत. इस अविद्या के अस्तित्व स्वीकार करने से अद्वैतवादियों के अद्वैत एकान्त का सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता है। इसी तरह जितने और भी अद्वैत पक्ष हैं जैसे शब्दाद्वैत-ज्ञानाद्वैत आदि वे सब द्वैताविनाभावी ही सिद्ध होते है। बिना प्रमाण के इनकी सिद्धि नहीं, प्रमाण का कथन करना द्वैत का साधक बनता है।

आ० मी० २४४

पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ।
पृथक्त्वे नपृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः॥ २८॥

अन्वय—पृथक्त्वैकान्तपक्षे अपि पृथक्त्वात् पृथक्त्वे तौ तु अपृथक् (स्याताम्) पृथक्त्व (गुणः) न स्यात् हि असौ गुण अनेकस्थः।

अर्थ—पृथक्त्व गुण के योग से समस्त द्रव्यादिक पदार्थ, एव प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ बिल्कुल भिन्न २ ही हैं इस प्रकार की मान्यता रूप इस पृथक्त्वैकान्त पक्ष मे भी पृथक्त्वगुण से पदार्थों को भिन्न मानने पर

पृथक् २ रूप में रहे हुए पदार्थ अथवा गुण और गुणी सब अपृथक्-अभिन्न- हो जायेंगे । अतः इस अभिन्नता मे पृथक्त्व गुण की सिद्धि नही हो सकती है । कारण कि यह गुण अनेक द्रव्य—पदार्थों—में रहने वाला माना गया है ।

भावार्थ—२७ वीं कारिका द्वारा अद्वैतैकान्त का निरसन किया जा चुका है । इसे सुनकर वैशेषिको एवं नैयायिकों तथा बौद्धो ने जो सर्वथा पृथक्त्वैकान्तवादी हैं कहा कि आपका यह कथन सर्वथा सत्य है । भला अद्वैतैकान्त पदार्थों के अस्तित्व में हो भी कैसे सकता है । कारण कि जितने भी पदार्थ हैं वे सब भिन्न २ ही है । जिस प्रकार सह्य और विन्ध्य पर्वत पृथक् प्रतीति के विषय होने से परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं उसी प्रकार पृथक् प्रतीति के विषय होने से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इनमें ९ प्रकार का द्रव्य, २४ प्रकार का गुण, ५ प्रकार का कर्म, २ प्रकार का सामान्य, अनंत प्रकार का विशेष, एक समवाय और ४ प्रकार का अभाव ये सात प्रकार के पदार्थ एवं प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान् ये नैयायिक संमत १६ पदार्थ—भी परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न,२ ही हैं । २४ प्रकार के गुणों में एक पृथक्त्व नाम का गुण है-जो इन समस्त पदार्थों को भिन्न २ करता है । "पृथक्व्यवहारकारण पृथक्त्व" यह उससे अलग है ऐसा ज्ञान जिस के आधार पर होता है वह पृथक्त्व गुण है" (भारतीय दर्शन परि० ६८ वैशेषिक दर्शन) अर्थात् जिस गुण के कारण वस्तुओ की भिन्नता निरूपित होती है उसी का नाम पृथक्त्व पार्थक्य-गुण है । इसी तरह बौद्धों का भी यही कहना है कि जितने भी घट पटादिकरूप बाह्य पदार्थ एवं ज्ञानादिक रूप अन्तस्तत्त्व हैं वे सब निरन्वय विनश्वर-मूलतः नाशशील—हैं एव सजातीय और विजातीय ये सर्वथा व्यावृत्त—जुदे २—हैं । इस प्रकार यह भिन्नैकांत पक्ष ही पृथक्त्वैकान्त पक्ष है ।

इस पर कि जिनकी ऐसी मान्यता है कि पृथक्त्व गुण के योग से पदार्थ पृथक्—परस्पर भिन्न ही हैं-इस प्रकार

का निश्चय [illegible]

[illegible]

किया जा [illegible]

प्रथम: [illegible]

वह [illegible]

आ० प्रत्यक्ष होता [illegible]

नी० [illegible]

२२६ [illegible]

[illegible]

[illegible]

है वह [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

माना गया है इसी का नाम कथंचित् तादात्म्य है। गुण और गुणी पदार्थों-में यही सम्बन्ध होता है। परन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध वैशेषिक एवं नैयायिक दोनो को मान्य नहीं है।

यदि इस प्रकार की मान्यता हो जाय तो पृथक्त्वैकान्त का विरोध होता है। गुण और गुणी का जो सम्बन्ध है उसी का नाम तादात्म्य सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध गुण और गुणी को सम्बन्धित रखता है। अन्य समवाय १ सम्बन्ध आदि नहीं। कारण कि कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध से अतिरिक्त अन्य समवाय सम्बन्ध का जैन दार्शनिकों ने प्रतिक्षेप किया है। अतः इस प्रकार की मान्यता कि पृथक्त्व गुण अथवा अन्य सयोगादिक गुण, पदार्थों से पृथक् हैं तथा स्वय अंश कल्पना से रहित निरंश-है फिर भी अनेक द्रव्यो मे युगपत् रहते है सो ठीक नहीं है। कारण कि कोई भी गुण
आ० मी० २४७ अनेकवृत्ति युगपत् नहीं माना गया है। ऐसा तो कहीं देखने मे नहीं आता है कि एक निरंश परमाणु अनेक देशस्थ हिमवान् और विन्ध्यादिको में युगपत् रहता हो। वह तो एक काल में एक ही जगह रहेगा—अनेकवृत्ति वह युगपत् कैसे माना जा सकता है। यदि वह अनेकवृत्ति युगपत् होता है तो वह निरंश नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अनंश भी परमाणु एककाल मे अनेक देशस्थ हिमवद्विध्यादिको मे आकाश की तरह रहता है सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है कारण कि आकाश को सर्वथा अनंश मानता भी कौन है। वह तो अनत प्रदेशी होने के कारण से स्वयं सांश है। तथा वह स्वयं अनाश्रय--किसी के आश्रय नहीं-है इसलिये उसकी समवाय सम्बन्ध से कहीं वृत्ति भी नहीं मानी गई है। यदि पुनः निरंश को युगपत् अनेकत्र वृत्ति सिद्ध करने के ख्याल से ऐसा कहा जाय कि देखो सत्ता नामक जाति जो एक है, अंश कल्पना से रहित है तथा अपनी पर्यायो से सर्वथा भिन्न है फिर भी वह समवाय सम्बन्ध से युगपत् अनेकवृत्ति वाली

---

१ नैयायिक आदि सिद्धान्तकारो ने गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध माना है—"अवयवावयविनो गुणगुणिनो क्रिया तद्वतोः सामान्यतद्वतोश्च य सम्बन्धः स समवाय ।

घटादीना कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणो ।
तेषु जातेश्च सम्बन्ध समवाय परिकीर्तित ॥

भषापरिच्छेद ।

आ०
मो०
२४८

मानी गई है सो ऐसा कथन भी नि:सार है। कारण सत्ता सर्वथा एक है अंशकल्पना से रहित है और अपने पर्यायो से सर्वथा जुदी है ऐसी मान्यता जैन दार्शनिको की नहीं है।

उन्होने सत्ता को अनंत पर्याय वाली सिद्ध किया[1] है और उन अनंत पर्यायो से सत्ता सर्वथा जुदी है इसका निराकरण किया है। मतलब इसका यह है कि पर सत्ता और अपरसत्ता के भेद से नैयायिक आदिकों ने सत्ता के दो भेद माने हैं। जो सामन्य अधिक व्यापक होता है अर्थात् जिसकी वृत्ति अधिकतर विषयों में रहती है उसे पर सत्ता सामान्य-और जो सामान्य कम व्यापक होता है अर्थात् जिसकी सीमा संकुचित होती है उसे अपर सत्ता सामान्य [2] कहते हैं। इनमे केवल सत्ता मात्र ऐसी जाती है जो सामान्य ही कही जा सकती है विशेष नहीं। अपर-सामान्य स्वविविषयों से सयोजक होने से सामान्य और विपयान्तरो से व्यवच्छेद होने के कारण विशेप दोनो समझे जा सकते [3] हैं। जाती-सामान्य [4]-का लक्षण भी नैथायिक आदिको ने यही माना है कि जो नित्य, एक, और अनेक समवेत होता है वह सामान्य है इस प्रकार के कथन से सत्ता युगपत् अनेकत्र वृत्तिवाली और एक उन्हो के द्वारा स्वीकृत करने में आई है यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसे लेकर ही इस कारिका की टीका में टीकाकार विद्यानंद स्वामी ने "सत्तैका युगपदनेकत्र वर्तते" इस पक्ति द्वारा पूर्वपक्ष स्थापित किया है। परन्तु यह मान्यता नैयायिक आदिको की ठीक नही है कारण कि जैन दार्शनिको ने सत्ता-परसामान्य-को न तो सर्वथा एक माना है और न उसे अपने व्यक्तियो-पर्यायो-में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली ही माना [5] है।

(१ सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया उप्पादवयधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एक्का। पचास्तिकाय।

(२) परत्वमधिकदेशवृत्तित्व अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्व। —सिद्धान्त मुक्तावली।

(३) द्रव्यगुणकर्मत्वादि अपर अनुवृत्तिव्यावृत्ति हेतुत्वात् सामान्य विशेषश्च भवति। तत्र द्रव्यत्व परस्परविशिष्टेषु पृथिव्यादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यं गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् विशेषः —प्रशस्तपाद भाष्य।

(४) नित्यमेकमनेकानुगत सामान्य। तर्क सग्रह। नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्वं (जातित्वम्) —सिद्धान्त मुक्तावली। सामान्य न यमनेक समवेतत्व च —सप्तपदार्थी।

(५) इसके लिये देखो पचाध्यायी के प्रथम अध्याय की १५ वीं कारिका से लेकर २२ वीं कारिका तक।

प्रत्युत सत्ता को अनंतपर्याय वालि होने से अनेक एवं अपनी पर्यायों से कथंचित् अभिन्न माना है। इसलिये
अपनी पर्यायों से सत्ता का अत्यन्त भेद सिद्ध नहीं होता है कि जिससे वह उनमें समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली मान्य
की जा सके। इसी तरह अपरसामान्य जो द्रव्यत्वादिक हैं वे भी एक और अनंश तथा युगपत् अनेकस्वव्यक्तिवृति
वाले नहीं प्रसिद्ध हो सकते हैं कारण कि इन द्रव्यत्वादिक सामान्यों में स्वाश्रयात्मक होने से कथंचित् सांशता-अनेकता
--की प्रतीति होती है। संयोग, विभाग, परत्वापरत्व इन गुणां को नैयायिक आदिकों ने एक होते हुए भी युगपत् अने-
आ० कानुगत--अनेकवृति--माना है। अतः नैयायिक या वैशेषिक यदि इन गुणों को लेकर ऐसा कहे कि जैसे ये गुण एक होने
मी० से स्वय निरश और युगपत् अनेकानुगत हैं उसो प्रकार पृथक्त्व गुण भी निरश होकर युगपत् अनेकानुगत मान लिया
२४९ जायगा सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण कि ये गुण भी प्रत्येक द्रव्य निष्ठ हैं। क्योकि संयोग, विभाग एवं परत्वा-
परत्व रूप से प्रत्येक द्रव्य का परिणमन होता है। "प्रतियोग्यादिसंयोगादिपरिणामप्रतीते" इस पक्ति का भाव यही
है कि जो गुण जिनका होता है वे उसके प्रतियोगी--जिनका संयोग वे संयोग के प्रतियोगी जिनका विभाग वे विभाग के
प्रतियोगी, जिसका अभाव वह अभाव का प्रतियोगी, जिनमें परत्वापरत्व का विचार वे परत्वापरत्व के प्रतियोगी होते
है। अत घट पट संयोग स्थल में घट संयोग का परिणमन पट में होगा और पटसंयोगरूप परिणमन घट में दोनों
प्रतियोगियों में संयोग आदि गुणो का परिणमन होगा। द्वित्व या भिन्न आदि संख्याएं भी दो या तीन पदार्थों में नहीं
रहती किन्तु प्रत्येर पदार्थ में एक दो तीन चार आदि अनत सख्या रूप परिणमन होने की शक्ति है, उसकी व्यक्ति अन्य
एक की अपेक्षा दो, अन्य दो की अपेक्षा तीन, अन्य तीन की अपेक्षा चार आदि व्यवहार से होती है। जिन चार में
चार संख्या का व्यवहार होता है, उन प्रत्येक में चार संख्या का परिणमन हुआ है अन्यथा वे प्रत्येक चार के घटक
नहीं हो सकते। अतः जितने पदार्थ जिस सख्या के घटक होते हैं उन सब प्रत्येक मे उस सख्या का परिणमन मानना ३२
चाहिये। इसलिये कोई गुण युगपत् अनेकवृत्ति नहीं हो सकता। जिस प्रकार गुण होने से रूपादिक युगपत् अनेक--
वृति वाले नहीं माने गये है उसी प्रकार यह पृथक्त्व गुण भी युगपत् अनेकवृत्ति नहीं माना जा सकता है। नैयायिका-

दिकों ने भी रूपादिक गुणों को एकद्रव्याश्रित होने से युगपत् अनेकवृत्ति नहीं माना है। अत जब यह पृथक्त्वगुण पृथक्त्वगुण वाले दो पदार्थों से पृथक माना जायगा तो यह स्वाभाविक बात है कि उन पृथक्भूत पदार्थों में परस्पर में अपृथक्त्व-अभिन्नता-ही सिद्ध मानना पडेगी। इस हालत में अनेकता के अभाव मे इस पृथक्त्वगुण की सिद्धि कैसे हो सकती है। क्योंकि यह गुण युगपत् अनेकद्रव्यवृत्ति मानने में आया है अनेक द्रव्यों की पृथक्त्वगुण से भिन्न होने के कारण अनेकता सिद्ध ही नही होती है। एक एक द्रव्यवृत्ति तो वैशेषिक आदि ने इसे स्वीकृत किया नही है। इसलिये पृथक्त्व गुण सिद्ध नही होता है। इसके अभाव में पृथक्त्वैकान्त पक्ष की मान्यता घटित नही हो सकती है। मतलब इसका यह है कि वैशेषिक आदि ऐसा कहते हैं कि संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व ये चार गुण जिस प्रकार एक साथ अनेकों में रहते हैं उसी प्रकार पृथक्त्व गुण भी एक साथ अनेको में रहता है इसके ऊपर जैनदार्शनिकों की तरफ से ऐसा कहा गया है कि ये चार गुण भी एक साथ अनेको में नहीं रहते हैं क्योंकि प्रत्येक आधार के संयोगादिक जुदे २ प्रतीत होते है। कारण, सयोगादिक जिनमें रहते हैं वे परिणामी हैं और संयोगादिक उनके परिणाम हैं अतः यदि परिणामी एक है तो उसका परिणाम भी एक होगा। क्योंकि अनेक परिणामियों के अनेक और एक परिणामी का एक परिणाम होता है। चूंकि संयोगी आदि परिणामी अनेक हैं अतः उनके सयोगादिक परिणाम भी अनेक होगे। अतएव संयोगादिक एक होकर अनेक में एक साथ नहीं रहते। किन्तु वे स्वयं अनेक होते हुए अनेक में एक साथ रहते हैं। सयोग, विभाग परत्व एवं अपरत्व में जो एकपने का व्यवहार होता है वह औपचारिक है वास्तविक नही और उस उपचार मे निमित्त सदृशता है। सदृशता से ही वे एक कहे जाते हैं।

इसी तरह द्वित्व त्रित्व आदि (गुण) भी एक साथ अनेको मे रहते हुए प्रतीत नहीं होते, क्योकि प्रतिव्यक्ति में समस्त संख्याए सिद्ध हैं। जो वस्तु एक है उसमें एकत्व संख्या के अलावा द्वित्वादिक समस्त सख्याएं भी सिद्ध हैं और जो वस्तु एक नही है-अनेक हैं उनमें द्वित्वादिक संख्याओं के सिवाय एकत्व संख्या भी सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि द्वित्वादिक सख्याओं के आधारभूत व्यक्तियों में प्रत्येक व्यक्ति में वह द्वित्वादिक सख्या विद्यमान रहती है। यदि

वह एक २ में न हो तो दो आदि में वह दो आदि की अपेक्षा से भी नही रह सकती है। मतलब यह है कि जो जहां स्वभावतः नहीं है वह परापेक्ष से भी वहां नहीं रह सकता। जैसे खरविषाण में स्वाभाविक और आपेक्षिक दोनो ही तरह की सख्या नहीं है। अत स्पष्ट है कि पृथक्त्व गुण एक साथ अनेक जगह नहीं रहता क्योकि वह गुण है जो गुण होता है वह एक साथ अनेक जगह नहीं रहता जैसे रूपादिक गुण। यहां प्रतियोगी का अर्थ "यस्याभावः स प्रतियोगी" नहीं है, अपि तु "यन्निरूपणाधीन निरूपण यस्य तत्तत्प्रतियोगी" है संयोगादिक का निरूपण संयोगियों आदि के अधीन

आ० मी० २५१ है। अत सयोगी आदि जो सयोगादिक के आधार हैं, संयोगादिक के प्रतियोगी हैं। जिसका आशय है "प्रत्येक प्रत्येक आधार" और "संयोगादिक परिणाम" पद का अर्थ है जुदे २ सयोग, विभाग आदि। जितने सयोगादिक के आधार हैं उतने ही संयोग, उतने ही विभाग, उतने ही परत्व और उतने ही अपरत्व हैं। अतः संयोगादिक एक २ अनेक में एक साथ रहते हैं यह नैयायिक का सिद्धान्त युक्त नहीं है।

संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः।
प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ २९ ॥

अन्वय—एकत्वनिह्नवे निरङ्कुश सतान समुदायश्च साधर्म्यं च प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यात्।

अर्थ—एकत्व के अपलाप करने पर निरङ्कुश-सकल बाधक रहित होने से प्रमाण प्रसिद्ध-संतान, समुदाय, साधर्म्य एवं परलोक तथा दत्तग्रहादिक ये सब सिद्ध नही हो सकते हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार बौद्ध संमत पृथक्त्वैकान्त का निरसन कर रहे हैं। बौद्ध निरन्वय-क्षणिकलक्षण पृथक्त्व पक्ष स्वीकृत करते हैं। इस पक्ष में उनकी मान्यता इस प्रकार है कि जो भी सत् पदार्थ हैं चाहे वे अन्तस्तत्त्व ज्ञान रूप हों चाहे बहिस्तत्त्व घटादिक रूप हों सब ही निरन्वयक्षण विनश्वर हैं। सजातीय और विजातीय से सर्वथा भिन्न हैं। किसी भी रूप से इनमें एकत्व नहीं हैं। जिस द्रव्य की जो भी पर्यायें है उनमें उस द्रव्य का अन्वय

नहीं रहता है, पूर्वक्षण उत्तरक्षण को उत्पन्न कर निरन्वयरूप से नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार बहुत से मोतियों में पिरोये गये डोरे का सम्बन्ध प्रत्येक मोती के साथ रहता है उस प्रकार का सम्बन्ध उत्तर क्षणों में पूर्वक्षण-द्रव्य का नहीं रहता है। कर्ता भोक्ता आदि का जो व्यवहार होता है वह संतान १ की अपेक्षा से होता है। इस पर कारिकाकार का यह कहना है कि इस निरन्वयक्षणिक लक्षण पृथक्त्व पक्ष में संतान की सिद्धि ही नहीं हो सकती है। जिस प्रकार मृत्तिका द्रव्य की घट, घटी, शराव एवं उदंचन आदि पर्यायें संतान कहलाती हैं क्योंकि उन सब में एक मृत्तिका द्रव्य का अन्वय देखा जाता है इसी तरह जीव द्रव्य की उत्तरकालीन तद्भवसम्बन्धी समस्त पर्यायें संतान तब ही कहला सकेंगी कि जब उन समस्त पर्यायों में उसका अन्वयरूप से सम्बन्ध माना जायगा। नहीं तो भिन्न २ द्रव्य की अन्य २ पर्यायों की तरह उनमें एक संतानता नहीं आ सकती है। इस एक संतान के अभाव में कर्ता भोक्ता आदि व्यवहार वहां घटित ही नहीं हो सकता है। इसी तरह "तत्सर्वं" इस पद से सूचित कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग, भवभंग, प्रमोक्षभंग एवं स्मृतिभंग इत्यादि और भी अनेक दोष आते २ हैं। जब अपने समस्तक्षणों के साथ सम्बन्ध रखने वाला कोई एक द्रव्य मूल में ही नहीं है और जितने भी उत्तरक्षण रूप वे पर्यायें हैं वे सब एक दूसरे से सर्वथा भिन्न २ हैं और क्षणिक हैं तो यह स्वाभाविक है कि जिस पूर्वक्षण ने भी जो सत् असत् कर्म किया वह तो क्षणिक होने से उसी समय नष्ट हो गया और उसके बाद जो उत्तरक्षण उत्पन्न हुआ उस विचारे को उसका फल भोगने वाला मानना पड़ेगा। इससे यह फलित होता है कि जो शुभ अशुभ कर्मों का कर्ता है वह तो फल भोगता नहीं है और जो नहीं

---

१ संतानमेकमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशितं
यथैव कदलीस्तम्भो न कश्चिद्भागशः कृतः
तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो विचारतः ॥

-बोधिचर्यावतारे ८-७३-७५

१ कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभंगमिच्छन् अहो महासाहसिकः परस्ते ॥

-स्याद्वाद मंजरी १८ वीं कारिका।

करता उसे बाध्य होकर उसका फल भोगना पड़ता है। तथा निरन्वव क्षणिक रूप इस पृथक्त्व पक्ष में संसार का सद्भाव भी सिद्ध नही होता है कारण कि पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों के अनुसार ही परलोक मिलता है-क्षणिकवादियों के मत में कर्म करने वाले पूर्वक्षण का सर्वथा विनाश हो जाता है तथा पूर्वक्षण और उत्तरक्षण का कोई सम्बन्ध भी नहीं है क्योकि वे दोनों परस्पर मे अत्यंत व्यावृत्त हैं अतः पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का फल दूसरे जन्म मे कैसे मिल सकता है। क्योकि पूर्व जन्म मे कर्मों को करने वाले का सर्वथा जब नाश ही हो जाता है तो जन्मान्तर में कृत कर्म के अनुसार प्राप्त होने वाले ससार को कौन भोगने वाला हो सकता है। इसी तरह निरन्वय क्षणिक रूप इस पृथक्त्व पक्ष मे मोक्ष का सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकता है। कारण कि ससार पूर्वक ही मोक्ष होता है। संसार का ही जब अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है तो फिर मुक्ति की बात रहती ही कहां है। कर्मों का बध नहीं होने का नाम मोक्ष है।

बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार आत्मा कोई वस्तु नहीं है—आत्मा का अस्तित्व बौद्ध सिद्धान्त नही मानता है—अतः जब आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नही है तो फिर परलोक में सुखी होने के लिये कौन प्रयत्न करेगा। एकत्व के अपलाप में सतान सिद्ध नहीं होती है। इसी तरह स्मृतिभग नाम का दूषण भी इस सिद्धान्त में आता है। एक का अन्वय यदि आगे की बुद्धियो के साथ रहे तो पूर्व में अनुभूत वस्तु की स्मृति भविष्यत्काल में हो सकती है। पूर्वकालीन एक बुद्धि देखकर जब नष्ट हो जाती है तो धारणारूप संस्कार का अभाव होने से आगे की बुद्धि द्वारा उस दृष्ट पदार्थ की स्मृति नहीं हो सकती है। जिस प्रकार खुशहाल के द्वारा देखा गया पदार्थ नरेश के लिये स्मृत नहीं होता है। इस तरह कृतप्रणाश आदि पदो का यह सक्षिप्त भाव प्रकट किया गया है। समुदाय भी इसीलिये नहीं बन सकता है। कारण अपने अवयवों का जब तक एकत्व परिणाम रूप से परिणमन नहीं होगा तब तक समुदाय उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार नाना स्कंधों के भिन्न २ अवयवों में समुदाय का व्यवहार नही होता है। सदृशपरिणाम रूप एकत्व के अभाव मे विसदृश अर्थ की तरह साधर्म्य भी घटित नहीं हो सकता है। गो, महिष, एवं अश्व में विसदृश

परिणमन रूप भिन्नता है अतः इनमे साधर्म्य धर्म की प्रतीति नहीं होती है। इसी प्रकार गो और गवय में भी जब तक किसी अपेक्षा से सदृश परिणाम रूप एकत्व का सद्भाव नहीं माना जायगा तब तक गाय के समान गवय होता है इस प्रकार साधर्म्य की प्रतोति कैसे हो सकेगी। मरकर पुनः जन्म लेना इसका नाम प्रेत्यभाव है। यह प्रेत्यभाव भी इसीलिये नहीं बन सकता है कि जब तक मरण और जन्म रूप उभयदशा का अनुभव करने वाला एक आत्मा नहीं मान जायगा। क्योंकि यह ससार दशा एककर्तृक अवस्था है।

पूर्व आत्मक्षण और उत्तर आत्मक्षणों में सर्वथा भिन्नता मान्य की जाने पर यह प्रेत्यभाव संभवित ही नहीं होता है। इसी प्रकार एकत्व के अपलाप में दत्तग्रहादि एवं एककर्तृक क्रिया आदि का भी सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता है। जिसने पहिले किसी व्यक्ति को अपने पास से कोई वस्तु दी और वह व्यक्ति बाद में उमसे अपनी वस्तु याद कर मांग लेता है और देने वाला भी बिना ननु नच किये दे देता है। क्योंकि दाता और गृहीता दोनों अपने अन्दर समय २ पर परिणमन होने पर भी किसी अपेक्षा एक हैं। यदि दाता को देने के समय के क्षण मे अन्य माना जाय और गृहीता को भी लेने के समय सर्वथा दूसरा माना जाय तो उत्तर काल में दोनों को पर्यायान्तरिता होने पर अपनी दी हुई वस्तु को लेने की स्मृति और गृहीता को देने की स्मृति कभी नहीं होनी चाहिये। जिस प्रकार नरेश के देने पर खुशहाल को उस चीज के लेने की स्मृति नहीं होती है-जो देता है उसे ही यह स्मृति होती है। अतः एकत्व के अभाव मे दत्तग्रहादिरूप स्मृति नहीं बन सकती है। उसी तरह "भुक्त्वा व्रजति" इत्यादि एककर्तृक वाक्यों में खाने वाला दूसरा माना जाय और जाने वाला दूसरा माना जाय तो जिसने खाया वही जाता है ऐसा एककर्तृक क्रिया वाक्य का उच्चारण ही नहीं बनता है। इस प्रकार एकत्व का सर्वथा अपलाप करना युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है। यदि इस पर एकत्व निह्नववादी-क्षणिकवादी-बौद्ध इस प्रकार कहे-हम पूर्वोत्तर क्षणों मे कार्य कारण भाव मान कर संतान की सिद्धि कर लेंगे-एकत्व मानने की क्या आवश्यकता है। एकत्व के अपलाप में भी कार्यकारण भाव मानने से पूर्वोत्तर क्षणो में संतानत्व का सद्भाव बन जाता है—तो इस प्रकार की बौद्ध की इस आशका का समुचित समाधान

अष्टसहस्री मे दिया गया है। जिसका भावार्थ यही है कि एकत्व के अपलाप मे कार्य कारण भाव ही नही बन सकता है। अतः यदि कार्य कारण भाव माना जायगा तो एकत्व का भी सद्भाव मानना पडेगा।

सदात्मना च भिन्नं चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाप्यसत्।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥ ३० ॥

अन्वय—सदात्मना च ज्ञान ज्ञेयात् भिन्नं चेत् (तर्हि) द्विधा अपि असत् (प्राप्तं) (अतः) ते द्विषां ज्ञानाभावे बहिरन्तश्च ज्ञेय कथ (प्रतीयेत)

अर्थ—सत्स्वरूप की अपेक्षा से भी यदि ज्ञान ज्ञेय से भिन्न ही माना जाय तो ज्ञान और ज्ञेय ये दोनो प्रकार भी असत्स्वरूप ठहरते हैं। इसलिये हे नाथ ! आप से द्वेष रखने वाले एकान्तवादियो की ज्ञान के अभाव मे अन्तस्तत्त्व एवं बहिस्तत्त्व प्रतीतिकोटि मे कैसे आ सकता है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार पुनः पृथक्त्वैकान्त पक्ष मे दूषणान्तर प्रदर्शित कर रहे है। वे कहते हैं कि यदि यही बात एकान्तरूप से मानी जाय कि ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न २ हो हैं वे किसी भी अपेक्षा किसी भी स्वरूप करि एक हो ही नहीं सकते चाहे वह स्वरूप सत्सामान्य भी क्यो न हो। प्रत्येक पदार्थ चाहे वह ज्ञेय रूप हो चाहे ज्ञान रूप हो अपने २ स्वरूप के भीतर ही सीमित हो रहा है, कोई भी एक सामान्य स्वरूप ऐसा नहीं है जो इन्हे अपने सीमित स्वरूप मे रहते हुए भी एकरूप कर सके। अत जिस प्रकार चैतन्य स्वरूप की अपेक्षा ज्ञान ज्ञेय से सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार वह अपने अस्तित्व स्वरूप को लेकर भी ज्ञेय से भिन्न है इस प्रकार सर्वथा ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों अपने २ स्वरूप की अपेक्षा परस्पर में सर्वथा जुदे २ होने के कारण पृथक्त्वैकान्त पक्ष ही सिद्ध होता है। इस पर कारिकाकार का यह कहना है कि यदि सत्सामान्य की अपेक्षा भी ज्ञान को ज्ञेय से सर्वथा भिन्न कथंचित्-एकरूप न-माना जायगा तो दोनों मे अस्तित्वात्मक सामान्य स्वरूप के अभाव होने से अपने २ विशेष स्वरूप का भी अभाव प्रसक्त

होगा-तथा च ज्ञान और ज्ञेय जो अपने २ विशेष-सद्विशेषस्वरूप-कर अस्तित्व विशिष्ट माने जाते हैं उसका भी अभाव प्रसक्त होगा अर्थात् ज्ञान मे सामान्य सत्‌रूपता नही रहने से वह अपने सत्‌विशेष स्वरूप से भी सत् नहीं माना जा सकता, ज्ञेय भी सामान्य सत् स्वरूप से निर्मुक्त होने से वह भी अपने सद्विशेषस्वरूप से सत् नही माना जा सकता। इस प्रकार सामान्य सत्स्वरूप के अभाव मे विशेष स्वरूप का भी अभाव होने से ज्ञान और ज्ञेय ये दोनो ही असत् ख्यापित इस पृथक्त्वैकान्त पक्ष की मान्यता में होते है, यदि प्रतिपक्षी ऐसा कहे कि नहीं दोनों का असत्त्व नहीं है किन्तु ज्ञान का ही असत्त्व है-तो इसका समाधान यही है कि यदि ज्ञान को असत्स्वरूप माना जायगा तो ज्ञान के अभाव में अन्तस्तत्त्व एव बहिस्तत्त्व का सद्‌भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है। इनके सद्‌भाव का ख्यापन ज्ञान के आधीन है। उसके अभाव में इनका ख्यापन नही हो सकता। इसी तरह ज्ञान को ही सत् मानकर ज्ञेय को असत् माना जाय तो ज्ञेय के अभाव मे ज्ञान का सद्भाव ख्यापित नही हो सकता क्यो कि ज्ञेय के होने पर ही उसका परिच्छेदक होने के कारण ज्ञान का सद्भाव ज्ञात होता है। अत ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों सद्-भाव-स्वरूप हैं। इनमे अस्तित्वस्वरूप करके कथंचित् एकता है। इसलिए सर्वथा पृथक्त्वैकान्तपक्ष अंगीकार ही नही हो सकता है।

बौद्ध-सत् सामान्य यदि वस्तुभूत-परमार्थ सिद्ध होता और उसका स्वतंत्र अनुभव न होता तो वह अवश्य मन्तव्य होता परन्तु ऐसा तो वह हैनहीं। समस्त सद्विशेषो में जो असत्त्व की व्यावृत्ति है वही तो सत्सामान्य है। इस असत्वव्यावृत्तिरूप सत्सामान्य को लेकर जो आप ज्ञान का ज्ञेय से भेद मानने पर "द्विष्यसत्" इस प्रकार का उपालभ-उलाहना देरहे हैं सो ठीक नहीं है। कारण कि इस असत्त्व व्यावृत्तिरूप सामान्य की अपेक्षा से न तो किसी का किसी के साथ भेद का विचार होता है और न अभेद का ही विचार होता है। विचार तो वस्तु को आश्रित करके होता है। सत्सामान्य वस्तु रूप इसलिये नहीं है कि वह असत् की व्यावृत्ति मात्र है। अत अभाव स्वरूप है। इस प्रकार के सामान्य-सत्वसामान्य-को लेकर ज्ञेय से ज्ञान यदि भिन्न माना जाता है तो ज्ञान अथवा ज्ञेय में परमार्थ सत्त्व का विरोध-असत्त्व-कैसे आसकता है नहीं आ सकता है। अपने सद्विशेषों की अपेक्षा कि जिनमें असत्त्व व्यावृत्ति रूप सत्सामान्य रहा हुआ है ज्ञान और ज्ञेय परस्पर में सर्वथा भिन्न भिन्न ही हैं।

जैन---ऐसा कहना उचित नहीं है । कारण कि सत्सामान्य को विशेष-सद्विशेष-से भिन्न यदि नहीं माना जायगा अथवा सद्विशेषो मे केवल उसे असत्त्वव्यावृत्तिरूप या काल्पनिक माना जायगा तो या तो सद्विशेषों का भी अभाव प्रसक्त होगा या उन मे भी काल्पनिकता की आपत्ति आयेगी । दूसरे-सद्विशेषो में जो असत्त्वव्यावृत्तिरूप सामान्य है वह अवस्तुभूत नहीं है किन्तु वस्तु का स्वभाव रूप है-वास्तविक है-काल्पनिक नहीं है । बौद्ध सिद्धान्त में प्रत्येक पदार्थ अन्य-व्यावृत्तिरूप-अन्य के अपोहरूप-माना गया है इसीलिये वे सत् को असत् व्यावृत्तिरूप, घट को अघट-व्यावृत्तिरूप, पट को अपट व्यावृत्तिरूप, अश्व को अनश्वव्यावृत्तिरूप इस प्रकार इन शब्दों द्वारा कहते हैं । इस पर जैनों को तरफ से समाधान रूप मे यह कहा जा रहा है कि ठीक है सत् असत् व्यावृत्ति रूप हो भले रहे परन्तु यह सत् मे जो असत्व्यावृत्तिरूपता है वह अवस्तु अभाव रूप--तुच्छाभावरूप--नहीं है किन्तु वास्तविक--परमार्थभूत है । असत् की व्यावृत्ति जो सत् मे रहेगी वह काल्पनिक नहीं मानी जा सकती--नहीं तो असद्रूप खरविषाणादिक में भी इस असत्त्वव्यावृत्ति के सद्भाव के प्रसंग से सत्त्व का प्रसंग मानना पडेगा । मतलब इसका यह है--ज्ञान और ज्ञेय को सद्विशेष होने से अवान्तर सत्ताविशिष्ट होने से--उनमे जो असत् की व्यावृत्ति है वह वास्तवि है १ । जिसमे यह असद्व्यावृत्ति वास्तविक नहीं है वह सद्विशेष-अवान्तर सत्ता से युक्त-भी नहीं है जैसे वन्ध्या का सुत, ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों अपनी२ विशेषसत्ता से युक्त सद्विशेष-हैं इसलिये इनमें जो असद्व्यावृत्तिरूप सामान्य है वह वास्तविक है । अत सत्सामान्य वास्तविक है । इस सत्सामान्य की अपेक्षा से भी यदि ज्ञेय से ज्ञान का सर्वथा भेद जो माना जायगा तो सद्विशेष निजस्वरूप की अपेक्षा से भी उसका उससे भेद मानना पडेगा । ऐसी हालत में ज्ञेय की अपेक्षा से जो ज्ञान में सत्त्वरूपता मानी जाती है वह उससे सर्वथा भिन्न होने के कारण सिद्ध नहीं हो सकती है, इसलिये ज्ञान मे असत्ता प्राप्त होगी । ज्ञान ज्ञेय का अविनाभाव परस्पर सापेक्ष है । ज्ञान की असत्ता मे अन्तरग और बहिरग पदार्थ ज्ञेय का सद्भाव सिद्ध कैसे हो सकता है । नही हो सकता है, इसलिये ज्ञान और ज्ञेय मे ग्राह्य ग्राहक भाव की अपेक्षा कथचित् स्वभाव भेद होने पर भी अस्तित्वादिक सामान्य स्वरूप की अपेक्षा से उन दोनो मे कथंचित् अभिन्नता मानना चाहिये । इस अपेक्षावाद में सर्वथा पृथक्त्वैकान्त सिद्ध

आ० मी० २५७

१ ज्ञानज्ञेययोरसद्व्यावृत्तिर्वास्तवी सद्विशेषात् यस्य तु न सा वास्तवी स न सद्विशेषः यथा वन्ध्यासुत. । सद्विशेषौ च ज्ञान-ज्ञेयौ इति केवलव्यतिरेकी हेतु· (-अष्टसहस्री)

नहीं होता है ।

सामान्यार्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाभिलप्यते ।
सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः ॥ ३१ ॥

अन्वय—अन्येषां गिरः सामान्यार्था (ताभि.) विशेषः न अभिलप्यते । तेषां सामान्याभावतः सकलाः गिरः मृषा एव (स्यु.) ।

अर्थ—बौद्धों के सिद्धान्त में वचन–शब्द सामान्य को ही विषय करने वाले माने गये हैं । कारण कि उनके द्वारा विशेष–स्वलक्षण वाच्य नहीं होता है । इस प्रकार मानने वाले बौद्धों के मत में वास्तविक सामान्य का अभाव होने से स्वयं सत्यरूप से माने गये वचन भी झूठ ही ठहरते है ।

भावार्थ—तीसवीं कारिका में यह प्रकट किया जा चुका है कि यदि सत्ता सामान्य स्वतत्ररूप से न माना जाय केवल विशेष--सद्विशेष--ही माना जाय तो सत्सामान्यस्वरूप के अभाव मे सद् विशेष स्वरूप का अस्तित्व भी सिद्ध नही हो सकता है तथा च--ज्ञान और ज्ञेय की इन दोनों में सत् सामान्यस्वरूप के अभाव में सद्विशेष की अपेक्षा से स्वतंत्र सत्ता सिद्ध नही हो सकने के कारण असत्ता की प्रसक्ति प्राप्त होती है । क्योंकि सामान्य के विना विशेष और विशेष के विना सामान्य का अनुभवन नहीं होता है और न उन दोनों की स्वतत्र सत्ता ही साबित होती है । ये दोनों परस्पर सापेक्ष है । एक के अभाव में दूसरे का सद्भाव कथमपि नहीं हो सकता है । अतः ज्ञान के अभाव में अन्तर्बहिः ज्ञेय का और ज्ञेय के अभाव मे ज्ञान का सद्भाव ख्यापित नहीं हो सकता है । इस पर बौद्धों का यह कहना है कि हमलोग सामान्य को नहीं मानते हैं यह बात तो नही है। सामान्य को तो मानते हैं-परन्तु वह शब्द द्वारा वाच्य होने से अवस्तु है-विशेष की तरह वस्तुभूत नहीं है । प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण हैं–इनमें विशेष–स्वलक्षण प्रत्यक्ष--निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-का विषय होने से वास्तविक-यथार्थ-परमार्थभूत- माना गया है एवं सामान्य शब्द एवं अनुमान १

१ "आपोह. शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते,' स्याद्वाद मजरी पृ-१८०

का विपय है अतः वह अपरमार्थभूत-अवास्तविक माना गया है। शब्दो में यह शक्ति नहीं है जो वे विशेपों का कथन कर सकें। शब्दों द्वारा जो भी कहा जाता है वह सव सामान्यरूप अर्थ ही कहा जाता है। वह सामान्य-अन्यव्यावृत्तिरूप पड़ता है। "घट" इस प्रकार के शब्द के उच्चारण करने से उससे कंबुग्रीवादि वाले घटरूप अर्थ की साक्षात् प्रतीति नहीं होतो है किन्तु अघट व्यावृत्तिमात्र की ही उससे साक्षात् प्रतोति होती है। घट से अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं वे सव अघट हैं और इनको व्यावृत्ति उस घट में है, अत· घट शब्द का वाच्य अघट व्यावृत्ति मात्र है। बाह्य अर्थ के अविषय होने पर इस अन्य व्यावृत्ति से फिर घड पदार्थ के आनयन आदिमें श्रोता की प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? सो ऐसी आशंका यहां नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह तो निश्चित सिद्धान्त है कि "घट" पद के उच्चारण से श्रोता की जो घट पदार्थ के आनयन आदि में प्रवृत्ति होती है वह दृश्य और विकल्प्य में एकत्व के अध्यवसाय होने से ही १ होती है, वैसे तो शब्द अन्यव्यावृत्ति मात्र का ही अभिधायक होता २ है। इस प्रकार की बौद्धो की मान्यता चित्त में धारण कर कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह कह रहे हैं कि यदि केवल सामान्य ही शब्द का विषय माना जावे और उस सामान्य को अवास्तविक -झूठ-अपरमार्थभूत कहा जावे तो इस अवस्था में कोई वचन सत्यार्थ नहीं हो सकने के कारण सत्यत्वेन अभिमत वचन भी असत्यार्थ ही मानना पड़ेंगे। तथा च यह वचन-कथन-भी कि "वचन सामान्य मात्र को विपय करने वाले हैं और वह सामान्य अवास्तविक है स्वलक्षण ही वास्तविक है उसमें संकेत न होने के कारण वह शब्द का विषय नहीं होता है" तुम्हारा मृषा हो जाता है।

निर्विकल्पक ज्ञान में प्रमाणता नहीं आती है किन्तु सविकल्पक ज्ञान में ही आती है यह बात युक्तियों द्वारा

---

१ ननु वाह्यार्थाविषयत्वेकथमतः प्रत्ययात् तत्र प्रवृत्तिः इत्यप्यचोद्यम्-दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायात् तदुपपत्तेः।
न्यायकुमुद चन्द्र पृ-२८९।

२ तेनान्यापोहविषया शब्दाः सामान्यगोचरा·। शब्दाश्च बुद्धयश्चैव वस्तुन्येषामसंभवात्।
-प्रमाणवार्तिक टीका पृ-२६२।

तस्मादपोहविषयमिति लिङ्गप्रकीर्तितम्। प्रमाणवर्तिक टीका पृ-१२७।

जैन दार्शनिकों ने अन्यत्र स्थापित की है अतः उसे यहां प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है कि निर्विकल्पक ज्ञान का ही विषय विशेष—स्वलक्षरण—है और शब्दबुद्धि-सविकल्पक ज्ञान-का विषय सामान्य। सामान्य और विशेष ये दोनों धर्म एक वस्तु में युगपत् रहते हैं। इनमें परस्पर कोई विरोध भी नहीं है। अतः सामन्य और विशेष ये दोनो ही प्रमाणभूत सविकल्पक ज्ञान के विषय माने गये हैं। सामान्य को अन्यव्यावृत्ति रूप मानकर जो किसी की शंका के समाधान निमित्त ऐसा कहा है कि दृश्य और विकल्प्य में श्रोता की एकत्व के अध्यवसाय होने से, अन्यव्यावृत्तिरूप अर्थ में प्रवृत्ति न होकर, घटादि रूप, बाह्य अर्थ मे प्रवृत्ति होती है सो इस बिषय में केवल इतना ही पूछना है कि इन दोनों का एकत्व अध्यवसाय किस ज्ञान के द्वारा होता है। क्योंकि इन दोनो की स्वरूप संवित्ति स्वतत्र अलग २ रूप से हो तो हो एक का दूसरे में आरोप होने से एकत्वाध्यवसाय युक्त माना जा सकता है। जैसे—अग्नि और गरम मिजाजवाले किसी व्यक्ति की स्वतंत्र रूप से अलग २ प्रतिपत्ति होती है। तभी जाकर अग्नि का उपचार उस गर्म मिजाजवाले व्यक्ति मे किया जाता है। विकल्प और दृश्य की किसी एक ज्ञान द्वारा स्वरूप सवित्ति इस प्रकार नहीं होती है। कारण कि निर्विकल्पक ज्ञान अपने ही विषय को जानने वाला आपके द्वारा माना गया है विकल्प्य को नहीं। विकल्प्य विकल्प ज्ञान का विषयभूत माना गया है। निर्विकल्पक का नहीं। १ यदि मात्र अन्यव्यावृत्ति का ही वाचक शब्द माना जावे तो "गौ गौ" इत्यादि शब्दों की जो विधिप्रधानतया गवादिरूप अर्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है वह नहीं होनी चाहिये। दूसरे-शब्द सामान्य को ही विषय करते हैं इसका कारण क्या ? यदि इस पर

---

१ किञ्च उभयोर्भेदेन स्वरूपसवित्तौ अन्यस्य अन्यत्र एकत्वाध्यवसायोयुक्त. अग्निमाणवकवत्। न च विकल्पाविकल्पयो क्वचित्कदाचित् कस्यचित् संवित्तिरस्तिइत्युक्तम् एकत्वाध्यवसायश्चानयो अन्यतरस्मात् अन्यतो वा स्यात्। अन्यतरस्मात् चेत् किं विकल्पात् निर्विकल्पात् वा। न तावन्निर्विकल्पात् तस्य परामशून्यतया एकत्वाध्यवसायाऽसमर्थत्वात्। नापि विकल्पात् तस्य निर्विकल्पाविषयत्वात्- यत् यद्विषय न भवति न तत्तस्य केनचित् एकत्वमध्यवस्यति यथा घटविषय विज्ञानं परमाणवविषयत्वात् न तस्य घटादिना एकत्वमध्यवस्यति निर्विकल्पाविषय चेदं विकल्पज्ञानं तद्विषयत्वे वा स्वलक्षणविषयत्व विकल्पानामपि स्यात्,

इत्या० पाठ न्यायकुमुदचन्द्र पृ-४६।

कहा जाय कि विशेष तो अनत हैं। अतः उनमे संकेत हो नहीं सकता है-इसलिये बिना सकेत के शब्द उन्हें विषय नही करता है। जिस प्रकार निर्बिकल्पक ज्ञान मे संकेतनिरपेक्ष विशेष-स्वलक्षण-का प्रतिभास होता है उस तरह उसका प्रतिभास विकल्पक ज्ञान मे नही हो सकता है। कारण कि विकल्पज्ञान सकेत सापेक्ष है तथा निर्विकल्पक ज्ञान स्वलक्षण अर्थ सनिधान की अपेक्षावाला नहीं है।

आ० मी० २६१ यदि वह उसकी अपेक्षा वाला माना जाय तो अतीत एवं अनुत्पन्न आदि पदार्थों में सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति ही नही हो सकती है। क्योकि उस समय अतीत एवं अनुत्पन्न अर्थ का संनिधान नही है इसलिये शब्द सामान्य को ही विषय करता हैं, सो बौद्धों के इस प्रकार के कथन से यह बात फलित होती है कि स्वलक्षण—विशेष-अनभिधेय-शब्द द्वारा वाच्य नही-है एव जो सविकल्पक ज्ञान का विषय सामान्य है वह अवस्तु है तब ऐसी स्थिति मे शब्द के उच्चारण से अथवा उसका किसी अर्थ में संकेत करने से लाभ ही क्या हैं। क्योकि जिस प्रकार अश्व शब्द गो रूप पदार्थ का प्रतिपादक नही होता है उसी प्रकार गो यह शब्द भी अपने गवादिरूप अर्थ का कथन करने वाला नही होता है मात्र वह तो अन्यव्यावृत्तिरूप सामान्य का अभिधायक होता है, अतः गो शब्द का उच्चारण करना और उसका सास्नादि वाले गो पदार्थ में सकेत करना यह सब व्यर्थ पड़ता है। इसलिये जब शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ रूप स्वलक्षण का कथन नहीं होता है तो फिर सबसे अच्छा तो यही मार्ग है कि या तो मौन रहा जाय या जो मन में आवे सो ही अनर्थप्रलाप किया जाय। क्योंकि दोनो प्रकार की स्थिति में यथार्थ अर्थ को प्रतिपादन करनेरूप विशेषता तो है ही नहीं अर्थात् जब गवादिक शब्द अपने यथार्थ अर्थ को नहीं कहते हैं तो ऐसी स्थिति में मौन रहना या यत्किञ्चित् शब्दों का उच्चारण करना या विवक्षित गवादिपदों का कहना क्या मूल्य रखता है। अपने यथार्थ अर्थ का प्रतिपादन करना यही तो सत्य शब्द में असत्य शब्द से विशेषता है। यत्किञ्चित् शब्द यथार्थ अर्थ के अभिधायक नही होते हैं और सत्य शब्द यथार्थ अर्थ के प्रतिपादक होते हैं। यदि ऐसा न माना जाय और केवल यही माना जाय कि शब्द सामान्य को ही विषय करने वाले होते हैं और वह सामान्य अवास्तविक है

तो ऐसी हालत मे क्षणिकत्वादिक साधक परार्थ अनुमान एव नित्यपक्ष के दूषक वचन कभी सत्यार्थ नहीं माने जाने के कारण प्रसिद्ध झूठ वचनो की तरह सत्य नहीं माने जा सकते है, अत. समस्त पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि करना और नित्यपक्ष का खंडन कर बौद्ध मत की स्थापना करना कैसे संगत कहा जा सकता है। इसलिये सामान्य को वास्तविक मानकर उसकी अपेक्षा एकत्व मानना चाहिये-तथा च इस कथंचित् एकत्ववाद में पृथक्त्वैकान्तवाद सिद्ध नहीं होता है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ३२ ॥

अन्वय — स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्य न (युज्यते) अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यमिति" उक्तिः अपि न युज्यते ॥

अर्थ—स्याद्वाद नीति से द्वेष रखने वाले एकान्त वादियों के यहां परस्पर में विरुद्ध स्वभाव से युक्त होने के कारण पृथक्त्वैकान्त एवं अपृथक्त्वैकान्त की एक धर्मी में एकरूपता घटित नहीं होती है, इसी प्रकार इन दोनों का अवाच्यतैकान्त मानने पर भी उसमें "तत्त्व अवक्तव्य है" इस तरह का कथन भी नहीं हो सकता है।-

भावार्थ —प्रतिवादी का ऐसा कहना है कि जब अद्वैत एकान्त की तरह इस पृथक्त्वैकान्त का भी विधान स्थापित नहीं हो सकता है तो फिर अब भलाई इसी में है कि इन दोनो का ऐकात्म्य मान लिया जाय। इस पक्षमें दोनों की स्थिति हो जाती है। यह एक तीसरा प्रकार है जो भिन्न २ रूप से माने गये पृथक्त्व एकान्त और अपृथक्त्व एकान्त से भिन्न है। प्रथम प्रकार में केवल अपृथक्त्वैकान्त की ही मान्यता प्रदर्शित की गई है और पृथक्त्वैकान्त का प्रतिविधान किया गया है। द्वितीय प्रकार मे पृथक्त्वैकान्त की मान्यता समर्थित हुई है और प्रथम प्रकार का निराकरण किया गया है। परन्तु ये दोनो प्रकार ठीक नही हैं-युक्ति युक्त नहीं हैं—क्योंकि इनमें एक दूसरे का तिरस्कार

किया गया हैं। इस तीसरे प्रकार मे किसी भो पक्ष का तिरस्कार नहीं हुआ है—बल्कि उन दोनों को क्रमशः प्रधानता दी गई है। और इसलिये इन दोनो में परस्पर में एक रूपता मानी गई है।

इस प्रकार इस तृतीय प्रकार की मान्यता वालो के प्रति आचार्य महाराज कारिकाकार का यह कथन है कि जिस प्रकार अस्तित्वैकान्त एवं नास्तित्वैकान्त में तथा एकत्व और अनेकत्व के एकान्त में एकरूपता नही बन सकती है कारण कि ये सब परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा विरुद्धस्वभाववाले हैं और इसलिये इनका किसी एक धर्मी में प्रधानरूप से क्रमशः सभव भी नहीं होता है-उसी प्रकार परस्पर में सर्वथा एक दूसरे से विरुद्ध स्वभाव वाले इन दोनों में—पृथक्त्वैकान्त अपृथक्त्वैकान्त में -भी एकरूपता नही बन सकती है, कारण कि ये दोनो भी परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध स्वभाव वाले है। अत इनका प्रधानरूप से किसी एक धर्मी में क्रमशः संभव मानना भी ठीक नहीं है। यदि इस पर प्रतिवादी ऐसा कहे कि जिस प्रकार वन्ध्या और उसके पुत में विरुद्ध धर्माध्यास होने पर भी एक रूपता बन जाती है उसी प्रकार इन दोनो में भी एकरूपता घटित हो जायगी इसमें आपको क्या आपत्ति है-- अर्थात् जिस प्रकार वंध्या और तत्सुत ये दोनो विधि प्रतिवेध स्वरूप हैं—इनमें परस्पर में विधि प्रतिषेध स्वरूपता घटित हो जाती है -जैसे- वन्ध्या का विधान ही उसके सुत का प्रतिविधान—अभाव है अथवा वंध्या के सुत का अभाव-प्रतिषेध ही वंध्या का विधान है-यहां परस्पर में विरुद्ध धर्माध्यासता होने पर भी विधि प्रतिषेधात्मकता वनने से एक रूपता घटित हो जाती है—जो विधि है वही प्रतिषेध रूप हो जाता है और जो प्रतिषेध स्वरूप है वही विधि रूप हो जाता है।

इसी प्रकार पृथक्त्वैकान्त और अपृथक्त्वैकान्त भी विरुद्ध धर्माध्यासता वाले है तो भी इनमें एक रूपता मानने में भी कोई आपत्ति नही हो सकती है। पृथक्त्वस्वभाव की विधि ही सर्वथा एकत्व का प्रतिषेध है अथवा सर्वथा एकत्व का प्रतिषेध ही पृथक्त्व स्वभाव की विधि है। इस प्रकार इनमे परस्पर में एक रूपता अच्छी तरह से घटित हो जाती है। सो इस प्रकार का कहना भी प्रतिवादी का युक्तिसंगत नही है। कारण कि स्याद्वादनीति को माने विना इस तरह

से एकात्मता इनमें घटित नहीं हो सकती। इस तरह से इन दोनों में एकात्मता—एकस्वरूपता--घटित करना यही स्याद्वादनीति है, परस्पर विरोधी धर्मों का किसी अपेक्षा एकत्र समन्वय करने का नाम ही स्याद्वाद है। यह समन्वय बिना स्याद्वादनीति के अन्य से साध्य नही होता है। जब एकत्वैकान्त और अनेकत्वैकान्त परस्पर एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध स्वभाववाले हैं तो एकात्मता इनमे इसके माने बिना नहीं बन सकती है। इस प्रकार का कथन ही स्याद्वाद की मान्यता का परिचायक हो रहा है। अतः उसका निषेध करना या उससे विद्वेष रखना यह कथमपि मान्य नहीं हो सकता है। मतलब स्याद्वादनीति के माने विना उभयैकात्म्य तत्त्व की स्वीकृति सिद्ध नहीं हो सकती १।

इसी प्रकार इन दोनो धर्मों की एक धर्मी में सर्वथ युगपत् सत्ता मानने में अवाच्यतैकान्तता आती है जिसका अभिप्राय यह है कि इस मान्यता में धर्मी को न हम सर्वथा पृथक्त्व विशिष्ट कह सकते हैं और न सर्वथा अपृथक्त्वविशिष्ट ही। कारण कि ऐसा कोई एक शब्द नही है जो इन दोनों धर्मों से विशिष्ट वस्तु का युगपत् प्रतिपादन कर सके। अतः तत्त्व सर्वथा अवक्तव्य है ऐसा ही मानना पड़ता है। सो इस मान्यता वालों के प्रति आचार्य देव का यह कथन है कि जब सर्वथा अवाच्यैकान्त तत्त्व माना जायगा तो इस अवस्था में "तत्त्व सर्वथा अवाच्य है" इस प्रकार का कथन ही नही हो सकता। अन्यथा सर्वथा अवक्तव्यता वहां नहीं आसकती। इसलिये इस एकान्त में मौन रखना ही श्रेयस्कर है। इस विषय को और भी अच्छी तरह से पूर्वोत्तर पक्ष सहित १३ वी कारिका में स्पष्ट कर दिया गया है। वहां से देख लेना चाहिये।

अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः।
तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥ ३३ ॥

अन्वय— हि द्वयहेतुतः अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये अवस्तु (प्रतिपादिते) "तत" "द्वयहेतुतः" तदेवैक्यं पृथक्त्वं

१ अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्ववत् पृथक्त्वेतरपरस्परप्रत्यनीकस्वभावद्वयसंभवोऽपि माभूत् विप्रतिषेधात्। न खलु सर्वात्मना विरुद्धधर्माध्यासोऽस्ति तदन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वाद्वन्ध्यासुतवत्। (अ० श०)

च (वस्तु अवसीयते) यथा स्वभेदै साधनम्

अर्थ—कारिकाकार द्वारा जिस कारण से परस्पर निरपेक्ष रूप दो हेतुओं को लेकर परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखने वाले पृथक्त्व एव ऐक्य--अपृथक्त्व--ये दोनों अवस्तुरूप प्रतिपादित किये गये हैं। इस कारण परस्पर सापेक्षरूप दो हेतुओं से वे ही दोनों पृथक्त्व और एकत्व वस्तुरूप हैं यह बात निश्चित हो जाती है। जैसे अपने भेदों से निरपेक्ष अवस्था में जो साधन अवस्तुरूप होता है वही साधन उनकी सापेक्षावस्था में वस्तुभूत हो जाता है

भावार्थ--वैशेषिक पृथक्त्वैकान्तवादी है, वेदान्ती एव कोई एक बौद्ध अद्वैत--अपृक्त्वैकान्तवादी है। परस्पर निरपेक्ष पृथक्त्व और अपृथक्त्व का एकान्त मानने वाले मीमांसक हैं। इन दोनो का अवाच्यतैकान्त माननेवाले बौद्ध हैं। इन्ही प्रतिवादियों का यहां पर इस प्रकार का कहना है कि २४ वीं कारिका से लेकर ३२ वीं कारिका तक इन परस्पर निरपेक्ष दोनों एकान्तों मे जब कारिकाकार ने निरपेक्ष हेतु द्वारा अवस्तुरूपता सिद्ध कर दी है तो इससे आपाततः यह सिद्ध हो ही जाता है कि इन दोनों में सापेक्षावस्था में वस्तुरूपता है। इस वस्तुरूपता का नाम ही अनेकान्त तत्त्व की। सिद्धि है। फिर इस कारिका द्वारा इनके परस्पर सापेक्षरूप अनेकान्त की स्वतत्ररूप से इस कारिका द्वारा व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता है। उनकी इस आशका के समाधान निमित्त कारिकाकार कहते हैं कि यद्यपि यह आशका ठीक है। परन्तु फिर भी वादी का कर्तव्य है कि वह दोनो काम करें। परपक्ष का निराकरण और स्वपक्ष का सस्थापन।

दूसरे—इस प्रकार का जो प्रतिपादन किया गया है उसका कारण उनके प्रति अनेकान्त की प्रतिपत्ति का दृढ करना तथा उसमें उद्भूत अन्यथारूप की आशंका का निराकरण करना है। इसी अभिप्राय से इस कारिका द्वारा उस एकत्व एवं अनेकत्व की परस्पर सापेक्षा में उद्भूत अनेकांत की सप्तभंगात्मक प्रक्रिया के मूलभूत दो भंगो को जीवादिक वस्तुओ पर घटित करते है। इसमे वे सर्व प्रथम यह प्रकट कर रहे हैं कि पृथक्त्व और अपृथक्त्व ये दोनो धर्म परस्पर कथंचित् सापेक्ष है। क्योकि पृथक्त्व की अपेक्षा विना अपृथक्त्व धर्म और अपृथक्त्व की अपेक्षा विना पृथक्त्व धर्म

की स्वतन्त्ररूप से क्वचिदपि उपलब्धि नहीं होती है। जिस प्रकार अवस्तुरूप व्योम कुसुम की एकत्व अनेकत्व निरपेक्षहोने से उपलब्धि नही होती है उसी प्रकार एकत्व निरपेक्ष होने से पृथक्त्व की और पृथक्त्व निरपेक्ष होने से एकत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती १ है, क्योंकि ये दोनो इस परिस्थिति में व्योम कुसुम की तरह अवस्तुरूप ठहरते हैं। इस प्रकार परस्पर निरपेक्ष इन दोनों की "एकत्वनिरपेक्षत्वात् एवं पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात्" इन दो हेतुओं द्वारा उपलब्धि का अभाव कथित होता है।

इन दोनों में परस्पर सापेक्षदशा में वस्तुभूतता सिद्ध करने के लिये जो "साधन" को दृष्टान्तकोटि में रखा गया है उसका अभिप्राय यह है कि बौद्ध सत्त्वादि साधन के पक्ष धर्मत्व, सपक्षेसत्त्व एव विपक्ष से व्यावृत्ति होना ये तीन रूप मानता है। परन्तु इन तीन रूप लक्षणों से वह भिन्न न होकर एक माना गया है। यदि वह साधन अपने इन तीन रूपों की अपेक्षा विना का हो तो वह अवस्तुरूप ही ठहरता है। क्योंकि उसमें साधन लक्षण का सद्भाव नहीं घटित होता है। इसी तरह उस साधन के अन्वय और व्यतिरेक ये दो भेद भी वस्तुरूप-वास्तविक-तब ही कहला सकते हैं कि जब इनमे परस्पर सापेक्षता हो। अतः धर्म और धर्मी की अपेक्षा परस्पर में कथंचित् भिन्नता होने पर भी उनमें वस्तुरूपता परस्पर की अपेक्षा विना घटित नहीं हो सकती है।

यद्यपि पृथक्त्व एवं ऐक्य के एकान्त का निषेध पहिले इसी अध्याय की कारिकाओं द्वारा किया जा चुका है फिर भी जो इस कारिका द्वारा उनके एकान्त का निषेध किया जा रहा है उसका कारण उन्हें अनुमान का विषय वनाना है। अर्थात्-"एकत्वपृथक्त्वे नैकान्ततः स्तः प्रत्यक्षादिविरोधात्" इस अनुमान द्वारा यह विशेप स्पष्ट हो जाता

१ पृथक्त्वैकत्वे तथाभूते न स्ताम् एकत्वपृथक्त्वरहितत्वात् व्योमकुसुमवत् अ० श०। सर्वथापृथक्त्व नास्ति एकत्वनिरपेक्षत्वात् व्योमकुसुमवत्। सर्वथा एकत्व नास्ति पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात् तद्वदिति। अ० सह०

जीवादिवस्तु सापेक्षं सत् एक भवति कथंचित् एकत्वेन प्रतीयमानत्वात् सत्त्वादिसाधनवत्। जीवादिवस्तु सापेक्षं सत् पृथक् भवति कथंचित् पृथक्त्वेन प्रतीयमानत्वात् सत्त्वादिसाधनवत् टिप्पणी

है कि सर्वथा न पृथक्त्व है और न सर्वथा अपृथक्त्व ही है क्योंकि इस प्रकार की मान्यता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध पड़ती है। यहां ऐसी भी शंका नहीं करनी चाहिये कि "जिस विषय का प्रतिपादन पहिले कर दिया गया है उसे अनुमान का विषय बनाना अनुमान में अप्रमाणता लाना है। क्योंकि इस तरह से अनुमान गृहीतग्राही होता है और जहां गृहीतग्राहिता है वहां अप्रमाणता है।" कारण कि विशेप प्रतिपत्ति के निमित्त एक ही विषय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को गृहीतग्राहक दशा में अप्रमाण नहीं माना गया है। अतः परस्पर सापेक्ष अवस्था में ही पृथक्त्व एवं ऐक्य में वस्तुरूपता आती है। सर्वथा अनपेक्ष अवस्था में नहीं। समस्त दार्शनिकों ने साधन को अन्वय व्यतिरेकस्वरूप माना है। साधन अपने इन रूपो से निरपेक्ष अवस्था में कभी भी वस्तुरूप नहीं सिद्ध हो सकता है। इसलिये स्वभेदों के साथ सापेक्ष साधन की तरह ये पृथक्त्व और ऐक्य परस्पर सापेक्ष हैं तभी वस्तुरूप है। जब यह बात पुष्ट हो जाती है तो इससे कारिकाकार ने इन के यहां दो भंग प्रकट किये जानना चाहिये। अर्थात् जीवादिक वस्तुएं किसी अपेक्षा से एकत्व-विशिष्ट हैं और किसी अपेक्षा से वे एकत्वविशिष्ट नहीं है-पृथक्त्व विशिष्ट हैं। स्यादैक्यं स्यादनैक्यमिति।

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः।
भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥३४॥

अन्वय-भेदाभेदविवक्षायां असाधारणहेतुवत् सत्सामान्यात् सर्वैक्य द्रव्यादिभेदतः पृथक्।

अर्थ-भेद और अभेद की विवक्षा में असाधारण हेतु की तरह सत्ता सामान्य की अपेक्षा से समस्त जीवादिक पदार्थों में एकता है-अपृथक्त्व है। एवं द्रव्यादिक पदार्थों के भेदों की अपेक्षा से उनमें परस्पर में भिन्नता है।

भावार्थ-इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस बातका समाधानकर रहे है जो बात३३ वीं कारिकामें कथंचित् एकत्व और कथंचित् अनेकत्व के मानने में प्रकट नहीं की गई है अर्थात् परस्पर सापेक्षएकत्व और अनेकत्व ही वस्तुरूप हैं यह जो

विषय ३३ वीं कारिका में उत्तरार्ध में कहा गया है उस विषय को इस कारिका द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। इसमें वे यह बतला रहे हैं कि जिस प्रकार पक्ष धर्मत्व आदि विशेष की विवक्षा में हेतु अनेक रूप तथा हेतुत्वरूप सामान्य की विवक्षा में वही एक रूप माना जाता है उसी प्रकार सत्‌रूप सामान्य की अपेक्षा से समस्त जीवादि पदार्थ कथंचित् एकरूप और पृथग् २ द्रव्यादि के भेद की विवक्षा से वे ही पदार्थ कथंचित् अनेकरूप माने जाते हैं। ये एकत्व और अनेकत्व इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा लिये विना वस्तुरूप सिद्ध नहीं हो सकते हैं। ये दोनों परस्पर अविनाभावी हैं। एक के अपलाप में दूसरे का अभाव और एक की स्वीकृति में दूसरे का सद्भाव अवश्यंभावी होता है। पक्षधर्मत्व आदि के भेद से अथवा अन्वय एवं व्यतिरेक के भेद से हेतुओं में जो असाधारणता-विशेषता-अनेकता-आती है वह हेतुत्वसामान्य के अपलाप करने से सिद्ध नहीं हो सकती है। यह कई बार कहा जा चुका है कि सामान्य के अपलाप में विशेष का और विशेष के अपलाप में सामान्य का अस्तित्व हो ही नहीं सकता है। अत. हेतु जिस प्रकार अपने अंगो की अपेक्षा विविधरूप में अंगीकार किया जाता है उसी प्रकार मे वह सामान्य की अपेक्षा से एकरूप भी माना जाता हैं। उसी प्रकार सत्तासामान्य रूप विशेषण का आश्रय कर जीवादिक समस्त पदार्थों में एकत्व प्रत्यय जाग्रत होता है। इसलिये जो प्रतिवादी इस बात को कहता है कि "एकत्वप्रत्यय से अथवा पृथक्त्वप्रत्यय से जीवादिक पदार्थों में एकत्व एवं पृथक्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है—क्योकि ये दोनों ही प्रत्यय निर्विषय हैं" सो यह निराकृत हो जाता है। कारण कि इन दोनो प्रत्ययों का विषय क्रमशः एकत्व और अनेकत्व माना गया है और ये दोनों प्रत्यय अपने २ कारणरूप सत्तासामान्य एवं पृथक् पृथक् द्रव्यादिक भेदों-अवान्तर सत्ता-को लेकर उत्थित होते हैं। कारिका में हेतु शब्द से कारक हेतु और ज्ञापक हेतु इन दोनों हेतुओं का ग्रहण हुआ है। अनुमान प्रकरण के हेतुओं को ज्ञापक हेतु कहा जाता है।

जैसे अग्नि को सिद्ध करने में धूम और मुहूर्त के पहिले भरणिनक्षत्र का उदय सिद्ध करने में कृत्तिका नक्षत्र का उदय। तथा कार्य करने वाले साधनों को कारक हेतु कहते हैं। जैसे धूम का कारक हेतु अग्नि है एवं घट का

कुलाल, मिट्टी, दड, चक्र आदि । कहीं २ कारक हेतु साध्य हो जाता है। उस कारकहेतु का कार्य ज्ञापक हेतु बन जाता है। जैसे-"पर्वतो वह्निमान् धूमात्" यहां कारक हेतु वह्नि को साध्य बनाया है। और वह्नि के कार्य धूम को ज्ञापक हेतु बनाया है। इन दोनों हेतुओ में से पक्षधर्म, सपक्ष सत्व एव विपक्षव्यावृत्तिरूप अपने भेदों की विवक्षा में ज्ञापक हेतु एवं घटारम्भक जो द्व्यणुक त्र्यणुकादिक अवयव हैं उनकी भेद विवक्षा मे कारक हेतु पृथग्-भिन्न २- -अनेक- ही माने गये हैं । तथा हेतुत्व सामान्य की विवक्षा मे अथवा घटावयवी आदि रूप से (अवयवित्व रूप से) अभेद विवक्षा में वे हेतु अपृथक्-एक -ही हैं । मतलब इसका यही है कि हेतु विशेषरूप से भेद विवक्षा में अनेक ही और सामान्य रूप से अभेदविवक्षा में एक ही जैसे माना जाता है उसी प्रकार सत्ता सामान्यरूप विशेषण की अपेक्षा जीवादिक द्रव्य एक ही माने गये हैं और अपने २ भेदरूप विशेष की अपेक्षा से वे अनेक ही माने गये हैं।

कारिका मे "तु" शब्द विशेषण के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसी पृथक्त्व और अपृथक्त्व विषय को अष्टशतीकार ने एवं अष्टसहस्रीकार ने युक्तिपुरस्पर, इस श्लोक की टीका करते समय स्पष्ट किया है । जिसका भावार्थ यही है कि सत्ता सामान्य की अपेक्षा से जीवादिक समस्त पदार्थों में एकता होने पर भी उनमें संकरता नहीं आ सकती है। क्योकि उनका अपना २ विशेष स्वरूप भी उनमें रहा हुआ है। पदार्थो का यही स्वस्वभाव है कि सदात्मना उनमे एकता और अपने २ भिन्न २ स्वभाव की अपेक्षा उनमे अनेकता का होना। इसी का नाम पदार्थों में सामान्य विशेषात्मकता है। ऐसा एकान्त नही है कि पदार्थ सामान्यात्मक ही हैं अथवा विशेषात्मक ही, इसलिये यह ध्रुव सत्य हैं कि सत्सामान्य की विवक्षा में समस्त जीवादिक पदार्थों में एकता और द्रव्यादिक के भेदो की अपेक्षा उनमे अनेकता है। इस प्रकार जीवादिक द्रव्य कथंचित् (सत् सामान्य की अपेक्षा से) एक ही हैं और द्रव्यादिक के भेदो की (विशेष की) अपेक्षा से अनेक ही है ऐसे ये दो भंग प्रकट किये गये है ।

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि ।
सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः ॥ ३५ ॥

अन्वय—अत्र अनतधर्मिणि विशेष्ये सतः विशेषणस्य विवक्षा अविवक्षा च तदर्थिभिः तै (क्रियते) असत (विशेषणस्य) न।

अर्थ—इस अनंत धर्मात्मक जीवादिक पदार्थ रूप विशेष्य में सत्स्वरूप विशेषण की ही विवक्षा और अविवक्षा एकत्व एव पृथक्त्व विशेषणों के इच्छुक प्रतिपत्ताओ द्वारा की जाती है। असत्स्वरूप विशेषण की नही।

भावार्थ—कारिकाकार इस कारिका द्वारा " जीवादिक पदार्थो मे सत्स्वरूप ही एकत्व और अनेकत्व की विवक्षा व अविवक्षा प्रदर्शित की जाती है " इस बात की पुष्टि कर रहे हैं। इससे जो प्रतिवादी का ऐसा कहना है कि " विवक्षा एव अविवक्षा ये दोनो ही असद्विषयवाली है अत इनके वश से एकत्व और अनेकत्व की व्यवस्था नही बन सकती हैं " निरस्त हो जाता है। कारण कि विवक्षा और अविवक्षा इन दोनों का विषय सत्स्वरूप ही है असत् स्वरूप नहीं है। एकत्व और पृथक्त्वरूप विशेषण ही यहां विवक्षा और अविवक्षा के विषय हैं। अतः वस्तु में जो इन दोनो के अभिलाषी हैं वे ही उसमें इन दोनों की विवक्षा और अविवक्षा करते हैं अनभिलाषी नहीं। जो सर्वथा असत् होता है उसकी वहा न विवक्षा होती है और न अविवक्षा ही। कारण कि असत् सकल अर्थक्रिया शक्तियो से खरविषाण की की तरह विकल होता है। इसीलिये उसमे न कोई अर्थी होता है और न अनर्थी ही। जीवादिक पदार्थ अनंत धर्मात्मक है। अतः अनंत धर्मो मे से जो जिस धर्म का अभिलाषी होता है वही उसे अपनी विवक्षा का विषय बनाता है। शेष धर्मों को अविवक्षा की कोटि मे रख देता है। अतः जो धर्म जीवादिक पदार्थों मे विवक्षित होता है वह वहां मुख्य और अन्य अविवक्षित उनके धर्म वहां अविवक्षित होने के कारण गौण हो जाते हैं। प्रकृत में जीवादिक पदार्थों में जब किसी अपेक्षा-सत्सामान्य की अपेक्षा-लेकर एकत्व धर्म विवक्षित होता है तब वह वहां मुख्य हो जाता है और पृथक्त्व धर्म अविवक्षित होने से वहा गौण हो जाता है। गौण होने से उसका अपलाप किया गया नहीं समझना चाहिये और न विवक्षित धर्म की मुख्यता होने से उसे ही सब कुछ समझना चाहिये अर्थात् उस एक विवक्षित धर्म का ही उस समस्त वस्तु पर एकाधिपत्य नहीं मान लेना चाहिये।

आ०
मी०
२७१

यह सब विपय पीछे स्पष्ट किया जा चुका है । अतः विवक्षा और अविवक्षा इन दोनों का विषयभूत सत् ही होता है असत् नही । यदि इस पर यो कहा जाय कि " मनोराज्यादि विकल्प भी विवक्षा के विपयभूत होते हैं पर वे तो सत्त्व विशिष्ट नहीं हैं । कही मन मे अपने को राजा मान लेने से कोई राजा थोडे ही हो जाता है । उस प्रकार के विकल्प से विकल्प करने वाले मे राजपर्याय मौजूद थोडे ही देखी जाती है । इसी प्रकार विवक्षा के विषयभूत इन दोनो में भी असत्त्व मान लेना चाहिये " सो इस प्रकार किसी (बौद्ध) का यह आक्षेप उचित नहीं है । कारण कि ऐसा तो है ही नहीं कि विवक्षा का विपयभूत यदि कोई पदार्थ असत् है तो सब ही असत् हो जावेंगे । नहीं तो प्रत्यक्ष के विषयभूत केशोण्डुक मे असत्त्व आने से और भी उसके जितने विषयभूत पदार्थ हैं उनमे भी असत्त्वापत्ति का प्रसंग प्राप्त हो जायगा । यदि इस समाधान के निमित्त ऐसा कहा जाय कि जिस प्रत्यक्ष में केशोण्डुक का भान होता है वह प्रत्यक्ष ही नही है प्रत्यक्षाभास है । अतः प्रत्यक्षाभास का विषय असत् होने से सत्यप्रत्यक्ष के विषय में असत्त्व नहीं आ सकता, तो इसी प्रकार का समाधान हमारी ओर से भी जान लेना चाहिये । जो सत्त्व विवक्षा का विषय होगा उसमे असत्त्वापत्ति कभी नहीं आ सकती है । असत्यविवक्षा के विषयभूत पदार्थ मे ही असत्त्व आता है । यदि इस पर यों कहा जाय कि विकल्परूप होने से मनोराज्यादिक विकल्प की तरह कोई भी विवक्षा सत्यरूप नहीं होती है तो हम पूछते हैं कि तुम ऐसा जो कह १ रहे हो सो यह भी तो विकल्परूप ही है । अतः यह सत्य है कि असत्य है । यदि इस कथन को असत्य माना जाय तो " कोई भी विवक्षा सत्य नही होती है " यह सत्य ही साबित होता है अर्थात् " कोई भी विवक्षा सत्य नहीं है " यह तुम्हारा कथन असत्य होने से यही साबित होता है कि कोई २ विवक्षा सत्य भी होती है । यदि इस अपने कथन को सत्य मानते हो तो इसमे विकल्परूपता रहने पर भी साध्य जो सत्याभाव है वह नही रहता है अतः तुम्हारा यह कथन सदोप-व्यभिचरित हो जाता है ।

---

१ न, काचिद्विवक्षा सत्या विकल्परूपत्वान्मनोराज्यादिविकल्पवत्" ।

यदि फिर भी इस पर यों कहा जाय कि जिस विकल्पज्ञान से अर्थ को जानकर अर्थक्रियार्थी व्यक्ति उस विषय द्वारा साध्यभूत अर्थक्रिया में विसवादी-संदिग्ध-नहीं होता है वह विषय सत्य ही है। तो फिर इस पर हमारा भी यही कहना है कि विवक्षाविशेष-से अर्थ को विवक्षित कर उसमें प्रवर्तमान व्यक्ति संदिग्ध नही होता है अतः विवक्षाविशेष का विषय असत् कैसे हो सकता है। इसी तरह अविवक्षा का भी विषय असत् नही मानना चाहिये। क्योकि स्वयं बौद्धो ने सकलवाग्गोचरातिक्रान्त होने पर भी स्वलक्षणरूप अर्थ को सत् माना है। उनका ऐसा सिद्धान्त है कि " स्वलक्षणमनिर्देश्यं " स्वलक्षण-विशेष-किसी भी शब्द के द्वारा निर्दिष्ट नहीं होता है। अतः अविवक्षा का विषय होने पर भी वह सत् ही माना गया है। इसी प्रकार जो अविवक्षा का विषय होता है वह एकान्ततः असत् ही होगा यह नियम सिद्ध नहीं होता है। इसी तरह विवक्षा और अविवक्षा का विषय अन्य व्यावृत्तिमात्र है ऐसा भी बौद्ध कथन उचित नही है। कारण कि शब्दों से अन्यव्यावृत्ति रूप अर्थ में श्रोता की प्रवृत्ति उपलब्ध नहीं होती है किन्तु जिस समय 'घटमानय' इस प्रकार के शब्दों का उच्चारण होता है उस समय कम्बुग्रीवादिमान्‌रूप घट पदार्थ का ही श्रोता द्वारा आनयन होता है। अतः शब्दो द्वारा वस्तु में ही प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है अन्यव्यावृत्तिरूप अपोह अर्थ में नहीं। इसलिये विवक्षा और अविवक्षा का विषय सत्स्वरूप ही है असत् स्वरूप नहीं यह मानना चाहिये। जिस प्रकार विवक्षित धर्म वस्तु का परिणाम विशेष है उसी प्रकार जैन दार्शनिकों ने अविवक्षित अन्यव्यावृत्ति को भी वस्तु का एक धर्मविशेष माना है। अतः अनत धर्मात्मक वस्तु में सत् विशेषण की ही अविवक्षा होती है असत् की नहीं यह कथन सर्वथा निर्दोष है। इस प्रकार यहां जीवादिक पदार्थों में " स्यादेकत्वमेव स्यात्पृथक्त्वमेव " इस प्रकार दो भग प्रकट किये गये जानाना चाहिये।

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राविरूद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ३६

अन्वय—प्रमाणगोचरौ भेदाभेदौ सन्तौ, सवृती न। ते तौ गुणमुख्य विवक्षया एकत्र अविरुद्धौ।

अर्थ—प्रमाण से प्रसिद्ध होने के कारण भेद और अभेद वास्तविक हैं। काल्पनिक नहीं। आपके शासन में ये दोनों गौण और मुख्य को विवक्षा से एक पदार्थ मे विरूद्ध नहीं पड़ते है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस बात की पुष्टि कर रहे हैं कि भेद और अभेद ये दोनों पारमार्थिक हैं काल्पनिक नही अत प्रतिवादी का ऐसा कहना कि "भेद ही वास्तविक है अभेद नहीं क्योंकि वह तो औपचारिक है, तथा अभेद ही वास्तविक हैं भेद नहीं क्योंकि वह औपचारिक-संवृतिसत्य-है" निरस्त हो जाता हैं। इसी तरह परस्पर सापेक्ष-भेदाभेद पक्ष भी काल्पनिक नही है वास्तविक हैं क्योंकि उसका भी अनुग्राहक प्रमाण है। हां परस्पर निरपेक्ष भेदाभेद पक्ष ही काल्पनिक-अपरमार्थभूत माना गया है, कारण कि इसका अनुग्राहक प्रमाण नहीं है इसलिये जब इनका अनुग्राहक प्रमाण है तो तीनों ही पक्ष कथंचित् परमार्थभूत सिद्ध होते हैं। काल्पनिक नही। तथा परमार्थ सत् ये भेद और अभेद एक वस्तु में रहते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। कारण कि वहां विरोध की परिहारिका मुख्य गौण विवक्षा है। भेद की विवक्षा मे भेद मुख्य हो जाता है और अभेद गौण हो जाता है। अभेद की विवक्षा में अभेद मुख्य हो जाता है भेद गौण हो जाता है। इसी प्रकार क्रमार्पित भेद और अभेदो की मुख्य गौण विवक्षा से कथंचित् भेदाभेदात्मक वस्तु भी सिद्ध होती है। यह तृतीयभग है। अनधिगत अर्थ को निश्चय करने वाला जो अविसंवादिज्ञान है उसका नाम प्रमाण है यह प्रमाण केवल भेद को या केवल अभेद को तथा परस्पर निरपेक्ष भेदाभेद को विषय नही करता है। क्योंकि पदार्थ न तो सर्वथा भेदात्मक ही है और न सर्वथा अभेदात्मक ही है और न परस्पर निरपेक्ष भेदाभेदात्मक ही है।

सत्ता सामान्य की अपेक्षा ही वह अभेदात्मक एव द्रव्यादिक भेदो की अपेक्षा वह भेदात्मक तथा क्रमार्पित दोनों की अपेक्षा समूहरूप मे वह कथंचित् भेदाभेदात्मक भी है। इसी रूप से प्रमाण उन्हे विषय करता है। वह सर्वथा एकान्तरूप में किसी भी पक्ष को विषय नहीं करता है। इसी तरह सर्वथा स्थूलाकार निरपेक्ष सूक्ष्माकार-परमाणुओं-का और सर्वथा सूक्ष्माकार निरपेक्ष स्थूलाकार-घटपटादिकों-का प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण में प्रतिभास नहीं

होता है। हां; मुख्य गौण विवक्षावश इनका प्रतिभासन होता है । जिस समय घटार्थी घट की विवक्षा करता है उस समय प्रत्यक्ष प्रमाण में घट रूप स्थूलाकार का ही प्रतिभासन होता है बाकी सूक्ष्माकार जो उसके परमाण्वादिक है वे अविवक्षित होने से वहां अनुमेय हो जाते हैं एवं प्रत्यक्ष के विषय जो रूपादिक हैं वे भी अविवक्षित होने से गौण हो जाते हैं, गौण व अनुमेय ये दोनों इसलिये होते हैं कि घटार्थी उनका अर्थी नही है घट का ही अर्थी है। इसीलिये

आ० वे अविवक्षा की कोटि में आ जाते हैं । जिस समय व्यक्ति इनका अर्थी होता है तब वह इनकी विवक्षा करता है।

मी० अत उस दृष्टि से वे ही प्रधान हो जाते हैं घटरूप अवयवी प्रधान नहीं होता। यहां पर इस प्रकार की शंका नहीं करना चाहिये कि जब घटरूप एव परमाणु इन सव का एकत्र अस्तित्व समान रूप से है तो फिर क्या कारण है

२७४ कि व्यक्ति एक ही में अर्थी माना जाय अन्य अपने (घट से) अग्नि परमाणु रूपादिक में नहीं। क्योंकि जब सत्ता की दृष्टि से उन सव में भिन्नता नहीं है तो घट में अर्थी होने पर तदभिन्न रूपादिकों में भी इसे अर्थित्व होने का प्रसग प्राप्त हो जाता है फिर जिसका अर्थी व्यक्ति होता है वह उसकी विवक्षा करता है अन्य की नहीं ऐसा कहना उचित कैसे माना जा सकता है।

सो इस प्रकार की यह आशका ठीक नहीं है कारण कि व्यक्ति को अपने ऊपर अर्थी होना या अनर्थी होना यह रूपादिकों की सत्तामात्र पर निर्भर नहीं हैं किंतु किसी धर्म में अर्थी होना किसी में नहीं होना इसमें अर्थी के अन्दर रहा हुआ मोहविशेष का उदय ही कारण है । उस मोहविशेष के भी उदय के कारण मिथ्यादर्शन आदि तथा काल आदिक हैं। इसलिये ऐसी जो किन्हीं २ प्रतिवादियों की मान्यताएं हैं कि प्रत्यक्ष में स्थूलाकार निरपेक्ष केवल परमाणु लक्षणरूप स्वलक्षण (सूक्ष्माकार) का ही प्रतिभास होता है स्थूलाकार रूप घटादिक अवयवी का नहीं। घटादिक अवयवीरूप से जो स्थूलाकार प्रतिभास होता है वह जिस प्रकार केशों के समूह में एकत्व का प्रतिभास होता है पर वह वहां वास्तविक नहीं है इसी तरह से वास्तविक नहीं है, सो ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि कभी भी प्रत्यक्ष बुद्धि में स्थूलाकार निरपेक्ष केवल परमाणूओं का प्रतिभासन नहीं होता है। किन्तु

स्थूलाकार सापेक्ष ही परमाणुओ का प्रतिभासन होता है। स्थूलाकार निरपेक्ष परमाणु अवस्तुरूप माने जाते हैं क्योकि उनसे कुछ भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। अर्थक्रिया उनसे परस्पर सापेक्षता में ही होती है। परस्पर सापेक्षता ही इनमें स्थूलाकारता है। इसी तरह सूक्ष्माकार निरपेक्ष केवल स्थूलाकार अवयवी द्रव्य भी प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है। सूक्ष्माकार निरपेक्षता में स्थूलाकार की संभवता ही नहीं मानी जा सकती। सूक्ष्माकारों की परस्पर सश्लिष्ट जो जात्यन्तर रूप स्थिति है वही स्थूलाकारता है। यह स्थूलाकारता विना सूक्ष्माकारो के कैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो का विषय हो सकती है। इसलिये न केवल अवयव का और न केवल अवयवी का प्रतिभासन होता है किन्तु इनके अनेकान्त का ही प्रतिभासन होता है। अर्थात् सूक्ष्माद्यनेकांत का ही प्रतिभासन होता है, इसलिये वस्तु न तो एकान्तरूप से सूक्ष्माकार है और न एकान्तरूप से स्थूलाकार ही, किन्तु सूक्ष्म स्थूलाकारात्मक है। जब सूक्ष्माकार का विवेचन किया जाता है उस समय वही विवक्षित होने से वह प्रधान हो जाता है अन्य आकार अविवक्षित होने से गौण। इस प्रकार कथंचित् अभेद-अद्वैत और कथंचित्-द्वैत-पृथक्त्व-ये दो मूल भग एक वस्तु में विधि और प्रतिषेध की कल्पना का आश्रय कर अविरोध रूप से प्रश्नवशात् प्रकट किये गये हैं। शेष भगों की प्रक्रिया "एकनेक विकल्पादौ" इत्यादि कारिका के अनुसार नियोजित कर लेनी चाहिये।

सल्लोद्भवेन विदुषा मनवा–वरेण, मूलेन्दुना विरचितो बहुचर्चितोऽनु-
वादः समाप्तिमगमच्च द्वितीय कस्य सोऽयं तनोतु विदुषां मनसः प्रमोदम्

द्वितीयपरिच्छेद समाप्त

तृतीयपरिच्छेद

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलं॥ ३७॥

अन्वय—नित्यत्वैकान्तपक्षे अपि विक्रिया न उपपद्यते। प्रागेव कारकाभाव। क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्॥-

अर्थ—नित्य एकान्त पक्ष में भी परिणाम स्वरूप एवं परिस्पंदरूप विविध क्रियाएं घटित नहीं हो सकती

हैं। क्योकि उसमें पहिले से कारकत्व का अभाव है। कारकत्व के अभाव में प्रमाण और उसके फल का अस्तित्व वहां कैसे बन सकता है।

भावार्थ—कूटस्थ -सदा एकसा रहना-इसी का नाम नित्य है। इसकी एकान्त रूप से मान्यता ही नित्यत्वैकान्त पक्ष है। कूटस्थनित्य पक्ष मानने वाला सांख्य सिद्धान्त है। इस कारिका द्वारा उसी की समालोचना की जा रही है। सांख्यों ने २५ तत्त्व माने हैं। इनमें प्रकृति १ और पुरुष कूटस्थ नित्य माने गये हैं। "अप्रच्युतानुत्पन्न स्थिरैकरुपो नित्यः" ऐसा नित्य का लक्षण है। प्रकृति जड़ और पुरुष-आत्मा-चेतन है। कूटस्थनित्य पक्षमान कर भी सांख्य वहां क्रिया का सद्भाव और कारकता मानता है। इस पर कारिकाकार का यह कहना है कि जब कूटस्थ नित्य पक्ष स्वीकार किया जायगा तो यह ध्रुव सत्य है कि न उसमें कोई अवस्था प्रकट हो सकती है, न किसी अवस्था का विनाश हो २ सकता है। अत "प्रकृति ३ को ही बध और मोक्ष होता है,, ऐसा सांख्यों का कथन युक्ति युक्त नहीं माना जा सकता। कूटस्थनित्य में विक्रिया का अभाव इसलिये कहा जाता है कि वह कूटस्थ नित्य पहिले से ही अकारक-कारक नहीं है। "क्रियां निर्वर्तयतीति कारकः" (कातंत्र व्या० ७० पेज)। क्रिया का निर्वर्तक ही कारक होता है। अतः कूटस्थ नित्य मे न परिणमन ४ रूप-उत्पाद, व्ययरूप—क्रिया बन सकती है और न परिस्पद रूप-क्षेत्र से क्षेत्रान्तर में प्राप्त होने रूप-क्रिया—बन सकती है। अन्यथा नित्यता का व्याघात मानना पडेगा। जब कारक ही का अभाव इस पक्ष में है तब प्रमाण और प्रमाण के फलस्वरूप प्रमिति की संभावना भी कैसे हो सकती है।

---

१ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष ॥ सांख्य का० ३।

२ न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तं।
स्वायभूस्तोत्र सुमितितीर्थः स्तु० २४ वां काव्य

३ "नानाश्रयाया.प्रकृतेरेवबवमोक्षौ संसारश्च न पुरुषस्य" स्या० म० पृ-१९०

४ परिणाम परिस्पन्द लक्षणा क्रिया नोपपद्यते अ० स०

कारण कि अकारक तो प्रमाता होता नही है। प्रमिति क्रिया के प्रति साधन रूप जो स्वतंत्र कारक विशेष होता है वही प्रमाता-कर्ता माना जाता है। प्रमिति क्रिया का जो स्वतत्ररूप से कर्ता होता है वही प्रमाता-कर्ता कारक-होता है। अतः प्रमाता-कर्ता के होने पर ही प्रमाण और प्रमाण के होने पर ही प्रमिति होती है। जब कूटस्थनित्य में क्रिया ही नही बनती है तो उस क्रिया के प्रति स्वतत्रता से साधन होने रूप जो कर्तृकारकता है वह उसमें कैसे बन सकेगी। कर्तृकारक के अभाव मे आत्मा की भी सिद्धि नहीं हो सकती। (सांख्यसिद्धान्त में उत्पाद और विनाश नहीं मान्य किये गये हैं क्योकि ये सत्कार्यवादी १ हैं। इनका इस प्रकार कहना है कि कार्य अनादि से ही कारण में

आ० मी० २७७ विद्यमान है कार्य नष्ट हो जाता है इसका मतलब यह है कि कारण में कार्य छिप जाता है कार्य उत्पन्न हो गया इसका अभिप्राय यह हुआ कि कारण मे से कार्य प्रकट हो गया। अत वे आविर्भाव और तिरोभाव को ही परिणाम मानते हैं। परन्तु यह सब कथन नामान्तर से उत्पाद और व्यय रूप क्रिया का ही द्योतक है। ऐसा समझना चाहिये। टीकाकार ने भी विक्रिया शब्द की व्याख्या करते समय "विविधा क्रिया परिणापरिमस्पंदलक्षणा" ऐसा लिखा है। अतः आविर्भाव एव तिरोभाव ये सब क्रिया स्वरूप हैं और ये कूटस्थ नित्य मे कारकत्व का अभाव होने से घटित नहीं हो सकते है।)

साख्य—आत्मा की सिद्धि चेतना से होती है। क्योकि वह उसका स्वरूप है। अब रही वहां क्रिया के सद्-भाव की बात-सो परिणाम-उत्पाद, व्ययरूप क्रिया तथा परिस्पंदात्मक क्रिया कूटस्थ नित्य में नहीं हो सकती है ऐसा जो आपका कहना है सो हम मान लेते हैं परन्तु इस कथन से यह बात साबित नहीं हो सकती है कि कूटस्थ नित्य-आत्मा में क्रिया का अभाव ही है। क्योकि आत्मा को कूटस्थ नित्य मानकर भी उसे क्रियारहित नहीं माना है। कारण कि धात्वर्थरूप होने से चेतना ही उसकी क्रिया मानी गई है। चेतना से व्यतिरिक्त सकल कार्यो की उत्पत्तिरूप अथवा उसको

१ असदकरणादुपादान ग्रहणात्सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्यशक्यकारणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥
साख्यकारिका-प्रमेयरत्नमाला टिप्पणी १५३ पाना मे।

ज्ञप्तिरूप क्रियाएं आत्मा की क्रियाएं नही है–अर्थात् इन अर्थक्रियाओं के प्रति आत्मा साधन न भी बनें तो भी उसमें अनर्थक्रियाकारित्व नहीं आ सकता है। इसलिये सकल कार्यों की उत्पत्ति एवं परिच्छित्ति क्रियाओं के प्रति सर्वथा असाधन बने हुए पदार्थ में सत्त्व की असंभवता से जो अवस्तुत्वापत्ति का आपादन किया गया है सो ठीक नहीं है। इन अर्थक्रियाओ का हेतु प्रधान है । अतः अर्थक्रियास्वभाव होने से आत्मा में वस्तुता माननी चाहिये। अर्थक्रियाहेतुता से नहीं। यदि यही नियम एकान्ततः अगीकार किया जाय तो अर्थक्रिया में स्वयं अनर्थक्रियाकारिता होने से-अन्य अर्थक्रिया के प्रति हेतुना नही होने से-अवस्तुत्वापत्ति का प्रसंग दुर्निवार हो जायगा। इसलिये जिस प्रकार अर्थक्रिया स्वयं अर्थक्रिया स्वभाववाली होने से वस्तुस्वरूप मानी जाती है उसी प्रकार पुरुष-आत्मा भी शश्वत् अर्थक्रियारूप चेतना स्वभाव वाला होने से नित्यवस्तु स्वरूप मान लेना चाहिये।इस तरह उसमें विक्रिया-विविध क्रियाओं-के अभाव में भी नित्यकारकता की भी घटना बन जाती है।

जैन—इस प्रकार आपका कहना प्रमाण से सावित नहीं होता है। कारण कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से यह बात नही जानी जाती है कि नित्यचेतना अर्थक्रियारूप है। यदि "नित्यचेतना अर्थक्रिया स्वरूप है" इस बात को जाननेवाला स्वसवेदन प्रत्यक्ष है ऐसा कहा जाय तो यह कथन भी ठीक नही है कारण कि स्वसवेद प्रत्यक्ष इस नित्यचेतनारूप अर्थक्रिया को तब ही जान सकता है कि जब वह बुद्धि के द्वारा पहिले अध्यवसित हो जाय–जान ली जाय-। बिना बुद्धि द्वारा अध्यवसित हुए वह नित्य चेतनारूप अर्थक्रिया स्वसवेदन प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती। कारण कि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा बुद्धि द्वारा अध्यवसित पदार्थ को ही जानती है अनध्यवसित पदार्थ को नहीं यदि इसके समाधान निमित्त ऐसा कहा जाय कि "नित्य चेतनारूप अर्थक्रिया को बुद्धि द्वारा अध्यवसित होने की आवश्यकता तो तब ही हो कि जब वह आत्मा से भिन्न हो। परन्तु ऐसा तो है नहीं क्योकि वह तो उसका निजस्वरूप है तथा स्वयं प्रकाशित है" सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि अर्थक्रियावान् का स्वरूप सदा अवस्थायी अर्थक्रियारूप से प्रसिद्ध नहीं है। चाहे वह अर्थक्रिया आत्मा मे हो या घटपटादि पदार्थों मे हो परन्तु होगी वह पूर्वाकार के

परित्यागरूप और उत्तराकार के उपादानरूप। मतलब इसका यह है कि जो सांख्य ने चेतना को आत्मा का निज स्वरूप मानकर उसे बुद्धि द्वारा अध्यवसित होने की आवश्यकता नही बतलाई है उस पर यह कहा गया है कि भाई ! जब आत्मा नित्य है और उसकी चेतना भी नित्य है -तो आप इस चेतना को अर्थक्रिया का रूप कैसे दे सकते हो कारण कि अर्थक्रिया तो वही कहलाती हैं जिसमे पूर्वाकार का त्याग और उत्तराकार का उपादान हो। कोई भी अर्थक्रिया सदा अवस्थायी नही होती है। इस प्रकार उत्पाद व्यय स्वभाव वाली अर्थक्रिया को कूटस्थ नित्य में मानने वाला व्यक्ति स्वस्थ कैसे माना जा सकता १ है। कारण कि कूठस्थ नित्यमें अर्थक्रिया मानने में आवेगी तो यह निश्चित सिद्धान्त है कि वहां पर उत्पाद व्ययरूप परिणाम मान्यता दुर्निवार होगी,जो कूटस्थ नित्य मान्यता ही एकान्ततः अगीकृत है तो अर्थक्रिया का वहां अवश्य अभाव है यह मानना ही पडेगा, कूटस्थ नित्य भी पदार्थ माना जाय और उसमें अर्थक्रियाकारिता भी मानी जाय यह तो एक तरह का उन्मत्त का प्रलाप जैसा हैं।

किञ्च-आत्मा को चेनना स्वभाव होने से उस चेतना को ही उसकी अर्थक्रिया यदि मानी जाती है तो ऐसी स्थिति में आत्मा में परिणाम की सिद्धि का प्रसग प्राप्त २ होता है। क्योंकि परिणाम का लक्षण वहां घटित होता है। पूर्वाकार का त्याग और उत्तराकार का उपादान यह परिणाम का लक्षण है। जब चेतना ही आत्मा की क्रियामानी जायगी तो यह बात अभी २ प्रकट की जा चुकी है कि सदा अवस्थायी कोई भी क्रिया नहीं होती है। अर्थक्रिया का लक्षण भी यही है कि पूर्वाकार का त्याग होना और उत्तराकार का उपादान होना। इस पर यदि यह आशंका की जाय कि यह परिवर्तन तो चेतना मे हुआ—चेतना के परिवर्तन से पुरुष में परिणामत्व की सिद्धि का प्रसंग कैसे प्राप्त होगा-सो ऐसा कहना इसलिये उचित नही है कि पुरुष स्वयं चेतना स्वभाव है। अतः जब चेतना परिवर्तन

१ पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येऽपिब्रुवाण कथमनुन्मत., तत्र कारणज्ञापकहेतुव्यापारासभवात् (अ० श०)

२ स्यान्मत "न पुरुषस्य लक्षणस्यार्थस्य क्रिया चेतनाख्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, किं तर्हि स्वभाव एव तस्य सर्वदा तत्स्वभावत्वात् इति तदप्यसत् पु सः परिणामसिद्धिप्रसंङ्गात् (अ० स०)

शील प्रकट की गई तो तदभिन्न होने से या तत्स्वरूप होने से पुरुषमें भी परिणामत्व का सद्भाव आ जाता है। चेतनामें पूर्वाकारका त्याग और उत्तराकार का उपादान इस प्रकार आता है-चेतनारूप स्वभाव एकान्तरूप से सतत अवस्थित नहीं हो सकता-कारण कि ऐसा कोई स्वभाव ही नही है जो इस प्रकार का हो, इस प्रकार का स्वभाव इसलिये नही है कि इसकी व्यवस्था करने वाला कोई प्रमाण नही हैं। अतः प्रमाणातिक्रान्त वस्तु की प्रतिष्ठा नही हो सकती है। यदि इस प्रकार का स्वभाव प्रमाणो से परिच्छिद्यमान होता है तो वह सर्वथा नित्य एक स्वरूप नही माना जा सकता-कारण कि उसमें अपरिच्छिद्यमान अवस्था के परिहार से परिच्छिद्यमान अवस्था का सद्भाव होता है। अतः यह निश्चित सिद्धान्त स्वीकृत करना चाहिये कि सतत अवस्थित एकरूप जो कूटस्थ नित्य है उसका परिच्छेदक कोई भी प्रमाण नही हो सकता है। कथंचित् नित्य का ही व्यवस्थापक प्रमाण होता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि इसमे उत्पाद और व्ययरूप परिणमन कैसे हुआ कारण कि अपरिच्छिद्यमान अवस्था का उसमें तिरोभाव हुआ और परिच्छिद्यमान अवस्था का आविर्भाव हुआ। आविर्भाव तिरोभाव नित्य में होते हैं अनित्य में नही। सो ऐसी भी मान्यता ठीक नही है —कारण कि १ आविर्भाव और तिरोभाव ही नामान्तर से उत्पाद और विनाश है। इन स्वभावों से रहित कोई भी वस्तु नही है। समस्त पदार्थ इसी मर्यादा वशवर्ती होकर अपना अस्तित्व कायम किये हुए हैं। इसलिये यह मानना चाहिये कि आत्मा आदि पदार्थ कूटस्थ नित्य नहीं है। कारण कि इस प्रकार की मान्यता में कारक का अभाव होने से उनमें क्रिया का अभाव आता है। क्रिया एवं कारक के अभाव में प्रमाण और प्रमिति का भी सद्भाव सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार यह इस कारिका का सक्षिप्त भाव है।

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत्।
ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहिः ३८

---

१ परिणामविवतधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात् अ॰ श

अन्वय–इन्द्रियार्थवत् (इन्द्रियैः अर्थवत्) प्रमाणकारकै व्यक्त व्यक्त चेत् (तर्हि) ते च नित्ये । (अत) साधो ते शासनात् बहिः किं विकार्य ।

अर्थ— जिस प्रकार इन्द्रियों द्वारा अर्थ की-अपने अपने विषयरूप पदार्थ की -अभिव्यक्ति की जाती है उसी प्रकार प्रमाण और कारको द्वारा व्यक्त पदार्थों की-महान् अहंकार आदि तत्त्वों की-अभिव्यक्ति की जाती है इस प्रकार
आ० यदि सांख्य [1] कहते हैं (तो ऐसा कहना उनका उचित नहीं है) कारण कि प्रमाण और कारकरूप अभिव्यञ्जक
मी० सर्वथा नित्य हैं इसलिये हे नाथ ! अनेकान्तवादी आप साधु के शासन से बहिर्भूत सांख्यमत में अभिव्यक्ति-अवस्था परिणमन-पलटने रूप विकार इन सर्वथा नित्य प्रमाण कारको द्वारा नहीं बन सकती है । क्योंकि वहां कोई तत्त्व
२८१ विकार्य ही नहीं बनता है ।

भावार्थ–इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि यदि सांख्य ऐसा कहें कि हम प्रकृति को सर्वथा नित्य मानते हैं एवं कार्य रूप व्यक्त तत्त्वो को अनित्य मानते हैं इसलिये विक्रिया वहां बन जायगी । मतलब इसका यह है कि सांख्यो ने २५ तत्त्व माने हैं । उनमें प्रकृति और पुरुष-आत्मा-ये दो तत्त्व सर्वथा नित्य माने हैं । प्रकृति को कारणरूप एवं पुरुषतत्त्व को प्रकृति विकृति रहित माना गया है । प्रकृति से महान्-बुद्धि बुद्धि से अहंकार, अहंकार से ५ ज्ञानेन्द्रियां-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, ५ कर्मेन्द्रियां –वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ५ तन्मात्रा-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, -मन ये १६ गण उद्भूत होते हैं । ५ तन्मात्राओं से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पांच महाभूत पैदा होते हैं । इनमें बुद्धि अहंकार एवं ५ तन्मात्राए ये कुल सात कारणरूप भी हैं और कार्यरूप भी हैं । ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ भूत एव मन ये १६ तत्त्व केवल विकार-कार्यरूप [2] ही

१ अथ मत प्रमाणकारकाणि व्यवस्थितमेव भाव व्यञ्जयान्ति चक्षुरादिवत् स्वार्थम् ।

१ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः ।। सांख्य कारिका ३

हैं। इस प्रकार सांख्याभिमत तत्त्व २५ हैं। इनमें महान्-बुद्धि, अहंकार पांच तन्मात्रा, ११ इन्द्रियां-५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और १ मन-तथा ५ महाभूत ये २३ तत्त्व व्यक्त कहे गये १ हैं।

जिस प्रकार इन्द्रियों द्वारा अपने २ विषयरूप पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार प्रमाण और कारकरूप अभिव्यंजकों द्वारा व्यक्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। प्रमाण द्वारा उनकी प्रमितिरूप अभिव्यक्ति एवं कारकों द्वारा उनकी उत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार व्यक्त पदार्थों की अभिव्यक्ति मानने पर इनकी अपेक्षा विक्रिया का-विविध क्रियाओं का--अभाव प्रसक्त नहीं होता है। नित्य होने पर भी उनके द्वारा अभिव्यक्ति के घटित होने में कोई विरोध नहीं है। कारण कि अभिव्यक्ति मे नवीन पदार्थ की उत्पत्ति तो है नहीं कि जिससे नित्यता का विरोध आ सके। इस प्रकार सांख्य के इस अभिमत पर कारिकाकार का यह कहना है कि प्रमाण एवं कारकों द्वारा यह अभिव्यक्तिरूपता व्यक्त पदार्थों मे घटित नहीं हो सकती है। कारण कि प्रमाण और कारकों को सांख्यों ने सर्वथा नित्य माना है। इस एकान्त नित्यता में प्रमाण और कारक व्यक्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति कैसे कर सकते हैं। कारण कि उनकी अभिव्यक्ति करने में प्रमाण, कारकों एवं व्यक्त तत्त्वों में सर्वथा नित्यता नहीं २ रहती है। जिस प्रकार चक्षुरादिक इन्द्रियां अपने अनभिव्यञ्जक स्वभाव का परित्याग करके ही रूपादिकों की व्यंजिका ३ होती हैं तथा रूपादिक विषय भी जब उनके द्वारा अभिव्यक्त होते हैं तब वे भी अपने अनभिव्यक्त स्वभाव का परित्याग कर देते हैं। अन्यथा वे न उनके द्वारा अभिव्यक्त हो सकते हैं और न ये उनकी अभिव्यंजिका हो सकती हैं। इसी तरह प्रमाण और कारक भी जब व्यक्त पदार्थों के अभिव्यंजक होते हैं तो यह मानना ही पड़ता है कि इनके द्वारा अपना

१ महदहंकारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतभेदात् त्रयोविंशतिविधं व्यक्तम्।

२ सर्वथा नित्यत्वेन भावस्याव्यवस्थितत्वात् कथञ्चिन्नित्यस्यैव प्रमाणकारकव्यापारविषयत्वनिश्चयात् अ० स०

३ चक्षुरादयो हि स्वार्थं रूपादिकमनभिव्यक्तस्वभावपरिहारेणाभि व्यक्तस्वभावोपादानेन च व्यञ्जयन: स्वयम व्यञ्जकादि रूपत्यागेन व्यजकत्वस्वीकरणेन च व्यञ्जकव्यपदेशभाजोदृष्टा:। नचैवं प्रमाणकारक च परैरिष्ट तयोर्नित्यत्वा भ्युपगमात्। अ० स०।

अनभिव्यञ्जक स्वभाव परित्यक्त अवश्य किया गया है । यदि ऐसा न होता तो ये अभिव्यञ्जक हो ही नहीं सकते । पूर्व में अनभिव्यक्त को ही व्यञ्जक व्यापार से अभिव्यक्ति की प्रतीति होती है । यदि ये सर्वथा नित्य हैं तो व्यक्त की अनभिव्यक्ति के पहिले जो इनमे अनभिव्यञ्जक स्वभावता है वह अपरिवर्तनीय होने से सदा कायम ही रहेगी फिर अनभिव्यक्त व्यक्त की इनके द्वारा अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है । अतः अनभिव्यक्त की अभिव्यक्ति करते समय वह अनभिव्यजकस्वभावता इनकी परिवर्तित हो जाती है, यह मानना ही पड़ता है । इसी का नाम उनमें कथंचित् अनित्यता है । इसी तरह व्यक्त भी अपने अनभिव्यक्त स्वभाव का परित्याग और अभिव्यक्त स्वभाव का उपादान करने पर ही उनके द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

इसका फलितार्थ केवल इतना ही है कि सर्वथा नित्य स्वभाव से कोई भी पदार्थ व्यवस्थित नहीं है । कथंचित् अनित्य मे ही प्रमाण एवं कारकों के व्यापार की विषयता आती है । प्रमाण और कारक भी सदा सर्वथा नित्य नहीं माने जा सकते । क्योंकि प्रमाण के द्वारा होने वाली जो महान् अहंकार आदि व्यक्त तत्त्वों की प्रमितिरूप अभिव्यक्ति है उसमे नित्यता का प्रसग प्राप्त होगा । कारण कि प्रमाण से ही प्रमिति होती है और जब वह प्रमाण नित्य है तो महान् अहकार आदि व्यक्त की सदा प्रमिति ही होते रहना चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं होता है । क्योंकि लय के बाद इनकी प्रमिति नहीं होती, जब ये अभिव्यक्त होते हैं तब ही प्रमाण के विषय माने गये हैं । इसी तरह कारकों को यदि नित्य माना जायगा तो उसके द्वारा जो आविर्भावरूप उत्पत्ति व्यक्त तत्त्वों की मानी जाती है वह नहीं बन सकती है । इससे उनका सदा आविर्भाव ही बना रहेगा । तथा च प्रलय का जो विधान सांख्यशास्त्र में वर्णित है उससे इसका मेल नहीं बैठ सकता । अतः प्रमाण और कारक अपने पूर्व स्वभाव के परिहारक एवं उत्तर स्वभाव के ग्राहक होने से सर्वथा नित्य नहीं माने जा सकते । तथा यह जो महान् आदि व्यक्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति है वह उनकी एक नवीन अवस्था है । प्रमाण कारकों के व्यापार से ही यह उनमें हुई है । अतः अवस्था पलटनेरूप इस विकार के सद्भाव से ही व्यक्त तत्त्वों को विकार्य माना जा सकता है । परन्तु अवस्था पलटनेरूप यह विकार प्रमाण एवं

कारकों के सर्वथा नित्य मानने पर घटित ही नहीं हो सकता है। यह अवस्था का पलटनारूप विकार अपूर्व उन व्यक्त तत्त्वों मे पहिले नहीं था ऐसा है। अतः इसके सद्भाव में प्रमाण और कारक सर्वथा नित्य नहीं हो सकते है। सर्वथा नित्य मानने पर कोई भी व्यक्त अथवा कार्य विकार्य नहीं हो सकता। कारण कि सर्वथा नित्य पक्ष में अर्थक्रियाकारिता नहीं आती है। कथंचित् अनित्य पक्ष में ही यह संभवित है। क्योंकि वहीं पर कार्यकारण भाव की सिद्धि होती है। इसी बात को कारिकाकार ने "साधोस्ते शासनाद्बहिः" इस पद द्वारा प्रकट किया है। अनेकांत शासन मे ही आविर्भावरूप अपूर्वोत्पत्ति बनती है। इसलिये एकान्त नित्य में विक्रिया नहीं बन सकती है। यह कथन सर्वथा निर्दोष है। मतलब इस कारिका का यही है कि सांख्यों ने व्यक्त तत्त्वों में प्रमाणकारकों द्वारा अभिव्यक्ति को लेकर विक्रिया होना साबित करना चाहा है उसके ऊपर कारिकाकार की ओर से ऐसा कहा गया है कि प्रमाण और कारक नित्य है। इनसे अभिव्यक्ति रूप-विकार व्यक्तों में नहीं किया जा सकता। यदि ये करते हैं तो सर्वथा नित्य नही हो सकते। विना अवस्था परिवर्तित हुए व्यक्त तत्त्व विकार्य [1] नहीं हो सकते। विकार -अभिव्यक्ति रूप विकृति-हो तो ही ये विकार्य कहे जा सकते हैं। प्रमाण कारकों के नित्य होने से ये विकार वहां हो नहीं सकता अतः ये विकार्य कैसे कहे जा सकते है। इसलिये व्यक्तों को लेकर विक्रिया मानना एकान्त नित्य में सर्वथा असभव है।

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।
परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥ ३९ ॥

अन्वय—यदि कार्यं सर्वथा सत् (तर्हि) पुंवत् उत्पत्तुं न अर्हति। परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी (भवति)।

---

१ "तदभावे विकार्यानुपपत्तेः" अ० श०।

अर्थ—यदि कार्य सर्वथा सत्स्वरूप माना जाय तो वह पुरुष तत्त्व की तरह उत्पत्ति के योग्य नहीं हो सकता है। यदि अवस्थान्तर की वहां कल्पना की जाय तो वह सर्वथा नित्यत्व की बाधिका होती है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह बात स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रकृति तत्त्व एव महदादि तत्त्वों में परस्पर कार्य कारण भाव नहीं बन सकता है।

सांख्यों का ऐसा कहना है कि एकान्त नित्य पक्ष मानने पर भी "न किंचिद्विरुद्धं कार्यकारणभावाभ्युपगमात्" अर्थक्रियाकारिता का वहां विरोध नहीं आता है। कारण कि प्रकृति तत्त्व कारण माना गया है और महदादि तत्त्व कार्यरूप माने गये हैं। प्रकृति से महान् तत्त्व उत्पन्न होता है और महान् से अहंकार एव अहंकार से १६ गण एवं तन्मात्राओं से पाच महाभूत इस प्रकार महान् तत्त्व की उत्पत्ति में प्रकृति साक्षात्कारण हैं तथा अहंकार आदि की उत्पत्ति में परम्परा कारण हैं। इस प्रकार व्यक्ततत्त्वों एवं प्रकृति में कार्यकारण भाव बन जाता है। कार्यकारण भाव का नित्य मे बनना यही वहां अर्थक्रियाकारिता है।

इस पर कारिकाकार "इति अनालोचितसिद्धान्तं" यह कहते हैं कि ऐसा सांख्य का मन्तव्य अनालोचित सिद्धान्त वाला है। कारण कि हम यहां यह पूछते हैं कि जिन महदादि कार्यों की उत्पत्ति आप प्रकृति तत्त्व से मानते है वे स्वय सत् स्वरूप है कि असत्स्वरूप है? यदि कार्य सर्वथा सत् स्वरूप है तो "न तावत्सत कार्यत्वं चैतन्यवत्" तो कूटस्थ नित्य होने की वजह से वह उत्पन्न होने योग्य नही हो सकता। जैसे पुरुष—आत्मा तत्त्व—कूटस्थ नित्य माना गया है अतः वह कार्य स्वरूप नहीं हो सकता है। मतलव इसका यह है कि सांख्य सिद्धान्त सत्कार्यवादी है। उसका कहना है कि कोई कार्य असत् होकर उत्पन्न नही होता। जिस प्रकार कार्य शक्त्यात्मना विद्यमान होता है-उसी प्रकार वह व्यक्तात्मना भी विद्यमान है। कार्य अनादि से अपने कारण में विद्यमान है। कार्य नष्ट हो गया इसका मतलब यह है कि कार्य अपने कारण में छिप गया। कार्य उत्पन्न हो गया इसका अभिप्राय यह है कि कारण में छिपा हुआ कार्य प्रकट हो गया।

इस पर कारिकाकार का यह कहना है कि जब कार्य सर्वथा सत् है तो जिस प्रकार सर्वथा सत् पुरुष आत्मा-तत्त्व-सांख्यसिद्धान्त में माना गया है और इसी से वह कार्यरूप नहीं माना गया है इसी तरह महदादिक व्यक्त तत्त्व भी कार्यरूप नहीं माने जा सकते। यदि असत् को कार्यरूप माना जाय तो सिद्धान्त विरोध आता है। क्योंकि सांख्य सिद्धान्त में असत् को कार्यरूप से स्वीकार करने में नहीं आया १ है। तथा जो सर्वथा असत् होगा वह खरविषाण की तरह उत्पन्न ही नही हो सकता। इसी तरह जब कार्य को भी सर्वथा असत्स्वरूप माना जायगा तो वह भी उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अनुमान २ से असत् को कार्य मानने में भी विरोध आता है। यदि सर्वथा सत् और सर्वथा असत् इन दो प्रकारो को छोड़कर कार्य को केवल वस्तु विवर्त्त स्वरूप माना जाय-अर्थात् महदादिक कार्य केवल प्रकृति के ही अवस्थान्तर हैं ऐसा एकान्ततः स्वीकृत किया जाय-तो इस कथन से उनमे परिणाम की सिद्धि होने से सांख्य के लिये अनेकान्त के आश्रयण करने का प्रसंग प्राप्त होता है। मतलव कहने का यह है कि जब महदादिक कार्य केवल प्रकृति के विवर्त स्वरूप माने जावेंगे तो ये प्रकृति के अवस्थान्तर भूत कहलावेंगे। क्योंकि प्रकृति स्वयं इन रूप परिणमित होगी। इस परिणमन मे पूर्व स्वभाव का प्रध्वंस एव उत्तर स्वभाव की उत्पत्ति प्रकृति मे माननी पडेगी। जब तक वह महदादिरूप अवस्था मे परिणमित नहीं हो रही होगी तब तक उसमे अमहदादिरूप स्वभावता रहेगी और जब वह इन रूप परिणमन करेगी तो पूर्व स्वभाव का प्रध्वस हो जायगा और इनरूप परिणमन करने के स्वभाव की उसमें उत्पत्ति हो जावेगी। इसी का नाम परिणामी नित्य है और यह परिणमी नित्यता अनेकान्त शासन के सिवाय एकान्त नित्य शासन में सधती नहीं है। इसलिये कारिकाकार ने "परिणामप्रलृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तवाधिनी" ऐसा कहा है।

---

१ असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यं।

सांख्यकारिका।

२ यत्सर्वथाऽप्यसत् तन्नोत्पद्यते यथा गगनकुसुम।

इस प्रकार नित्य एकान्तवादी साख्य के मत मे भी कार्य की उत्पत्ति होने का अभाव आता है। इसलिये सर्वथा नित्य में अर्थक्रियाकारिता न बन सकने के कारण वहां कार्यकारणभाव घटित ही नही होता है।

पुण्यपापक्रिया न स्यात्प्रेत्यभावः फलं कुतः।
बंधमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ॥ ४० ॥

अन्वय—पुण्यपापक्रिया न स्यात् (तदभावे) प्रेत्यभाव फल कुत स्यात् । बंधमोक्षौ च तेषां न, येषां त्वं नायकः न असि।

अर्थ—सर्वथा नित्य पक्ष में पुण्य ओर पाप रूपक्रिया घटित नही होती है। उसके अभाव में परलोक एव सुख दुःखादिक फल भी कहां से हो सकते हैं। इसी तरह बंध एव मोक्ष भी हे नाथ! उनके यहां-उनके सिद्धान्तानुसार-नहीं सध सकते हैं कि जिनके अनेकान्तवादी आप नायक नहीं हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रकट कर रहे हैं कि जब नित्यत्वैकान्त में कार्य करने की-अर्थ क्रियाकारिता की - सभावना का ही अभाव है तो फिर वहां पुण्य पाप क्रिया-मन वचन काय की शुभ अशुभ प्रवृत्तिरूप क्रिया तथा इस प्रवृत्ति से पुण्य एवं पाप की उत्पत्तिरूप क्रिया कैसे बन सकती है। सांख्यों के मन्तव्यानुसार यह क्रिया पुरुषतत्त्व-आत्मा-में तो होती नहीं है क्योकि वह सर्वथा नित्य-कूटस्थ नित्य-एव अक्रिय मानने में आया [1] है। रही प्रकृति सो वह भी पुरुष की तरह सर्वथा नित्य मानी गई है। अतः उसमें भी विक्रिया नही घटित होती है। यह पहिले बतलाया ही जा चुका है कि कूटस्थ नित्य में अर्थ क्रियाकारिता नहीं आ सकती है। मन वचन एव काय का शुभ अशुभ रूप प्रवर्तन ही पुण्य और पाप का उत्पादक कारण माना गया है। इस उत्पादक कारण के अभाव में पुण्य पापरूप

१ अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने ॥

कार्यों का संपादन नहीं हो सकता है, । पुण्यपापरूप क्रिया के अभाव से परलोक की सत्ता एवं उसके फलस्वरूप सुख दुःख आदि का अनुभवन भी नही बन सकता है। इसी तरह बध और मोक्ष भी नही सध सकते हैं। कारण कि पुण्य और पाप का अस्तित्व हो तो ही उनका बध हो और बध के अभाव से फिर मुक्ति का लाभ हो। परन्तु ऐसा तो है नहीं। अत सांख्य सिद्धान्त का यह प्रवचन कि " प्रकृति और विकृति से भिन्न पुरुष के बध और मोक्ष नही होता प्रकृति के ही वंध और मोक्ष होता १ है सो सुसगत नही माना जा सकता। इस प्रकार हे नाथ ! " नैतत्प्रेक्षापूर्वकारिभिराश्रयणीयं पुण्यपापप्रेत्यभावबंधमोक्षविकल्परहित्वात् नैरात्म्यादिवत् (अ० श०) " सर्वथा नित्य मे विक्रिया का अभाव होने से पुण्य, पाप प्रेत्यभाव-परलोक -बंध, एवं मोक्ष नही सध सकने के कारण नैरात्म्यादिदर्शन की तरह–सर्वथा शून्यैकान्त आदि मत की तरह-वह परिक्षाप्रधानी व्यक्तियो द्वारा आश्रयणीय नहीं हो सकता है । केवल आपका ही एक शासन ऐसा है कि जहां पर इन सब की अबाध साधना होती है। अत यही उपादेय है।

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलं ॥ ४१ ॥

अन्वय—क्षणिकैकान्तपक्षे अपि प्रत्यभिज्ञाद्यभावात् न कार्यारम्भ फल कुतः। प्रेत्यभावाद्यभाव.।

अर्थ—क्षणिकैकान्त पक्ष में भी अन्वित एक प्रत्यभिज्ञाता द्रव्य के अभाव होने से प्रत्यभिज्ञान, स्मृति एवं इच्छादिकों का सद्भाव नही बन सकता है। प्रत्यभिज्ञानादिक के अभाव से कार्य का आरंभ नहीं हो सकता हैं। कार्य के आरभकत्व के अभाव मे पुण्य पाप लक्षण फल संभवित नहीं होता है। पुण्यपाप लक्षण फल के अभाव में प्रेत्यभाव, बध एव मोक्ष कहां से हो सकते हैं।

---

१ तस्मान्न वध्यते नापि मुच्यते नापि ससरति कश्चित् ।
ससरति वध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ सांक्य कारिका ६१ ।

भावार्थ—सर्वथा नित्यत्वैकान्त पक्ष जब निराकृत हो चुका तब बौद्ध कहते हैं कि यह बिलकुल ठीक है। सर्वथा नित्यैकान्त पक्ष मे अर्थक्रियाकारिता जो आती ही नही है, इसलिये आपकी तरफ से जो उसमें दूषण प्रकट किये गये है वे सर्वथा सत्य है। अतः प्रतीतिप्रसिद्ध होने से क्षणिकैकान्त पक्ष ही श्रेयस्कर है। क्योकि उसमें अर्थ क्रिया-कारिता आने से पुण्यपाप प्रेत्यभाव बंध एव मोक्ष की व्यवस्था स्थापित होती है। इस प्रकार कहने वाले बौद्ध के प्रति कारिककार इस कारिका द्वारा यह कह रहे हैं कि केवल नित्यैकान्तपक्ष में ही पुण्यपापादिकों का अभाव नहीं आता है, किन्तु क्षणिकैकान्त पक्ष मे भी इन सबका अभाव आता है, कैसे आता है यही विषय इस सूत्रस्वरूप कारिका द्वारा स्पष्ट किया गया है। कारिकाकार कहते हैं कि जिस १ प्रकार सूत का एक डोरा बहुत से मोतियो में प्रविष्ट होकर उन सबकी एक माला बनाता है उस तरह बौद्धों के मत मे विचार-ज्ञान-के सपूर्णक्षणों के साथ संबध रखने वाली किसी एक वस्तु को आत्मा तो स्वीकार किया नही गया है। किन्तु बुद्धिक्षण परम्परामात्र को ही उन्होने आत्मा माना है और ये बुद्धिक्षण क्षण विनश्वर माने गये हैं, ऐसी स्थिति में किसी भी बुद्धिक्षण से कार्य का आरंभ नहीं हो सकता है—अर्थात् उनमे किसी मे भी अर्थक्रिया-कारिता नहीं आ सकती है। इसी विषय को अष्टसहस्री में टीकाकार ने "क्षणिकैकान्तपक्षे चेतस कार्यारम्भो नास्ति प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात् सन्तान्तरचित्तवत्" इस अनुमान द्वारा प्रकट किया हैं। अपनी उत्पत्ति के बाद ही पदार्थ कार्य का आरंभक होता है। उत्पत्ति के समय नहीं क्योकि वह तो उसकी आत्मनिष्ठा का समय है। कार्यकाल तक उसका अस्तित्व मानना यह बौद्ध परम्परा के विरुद्ध है। क्योंकि उनका कहना है कि पदार्थ एक क्षण के बाद समूल नष्ट हो जाता है। अतः इस क्षणिक एकान्त पक्षमे चित्तरूप आत्मा से कार्य का आरंभ नहीं हो सकता है। क्योकि वहां प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, आदि का अभाव है। जैसे सन्तानान्तर के चित्त से एक दूसरे द्वारा अवधृत

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महामाहसिकः परस्ते स्याद्वादमजरी।

१ बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति न पुनर्मौक्तिककणनिकरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयिनमेक। तन्मतेन येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा कृत तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः इत्यादि पाठः। स्या० मजरी पृ २४१

कार्य प्रत्यभिज्ञान आदि के अभाव में नहीं होता है। चित्तरूप आत्मा में प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव इसलिये आता है कि वहां अन्वितरूप से एक कोई प्रत्यभिज्ञाता है ही नहीं। प्रत्यभिज्ञान एवं स्मृति आदि ज्ञान एकाधिकरण वाले है। ऐसा नहीं है कि पदार्थ का प्रत्यक्ष किसी दूसरी आत्मा को हो एवं स्मरण किसी तीसरी आत्मा को हो और प्रत्यभिज्ञान--उनदोनों ज्ञान को सकलन करने वाला ज्ञानविशेष--किसी और को हो। जिस आत्मा में पहिले पदार्थ का साक्षात्काररूप ज्ञान धारणा के द्वारा स्थिर किया जा चुका है पश्चात् वही पदार्थ कालान्तर में जब किसी आत्मा द्वारा साक्षात्काररूप से गृहीत होता है तब उसी आत्मा में ऐसा उस समय बोध जाग्रत होता है कि यह वही पदार्थ है जिसे मैंने अमुक स्थान मे देखा था। इसी बोध का नाम प्रत्यभिज्ञान है। इस प्रत्यभिज्ञान ज्ञान के कारण दर्शन और स्मरण हैं। वर्तमान में गृहीत पदार्थ का दर्शन और पहिले गृहीत उसी पदार्थ का स्मरण इन दोनों के सकलन से-यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इसका अन्तर्भाव न प्रत्यक्ष में होता है और न स्मरण में। उन दोनों से यह सर्वथा स्वतत्र १ ज्ञान है। दर्शन एव स्मरण ये दोनों इसके कारण हैं और सकलन २ करना इसका स्वरूप है, प्रत्यभिज्ञान का अभाव इस चित्तरूप आत्मा में इसलिये आता है कि ये सब बुद्धि-चित्त-क्षणों की परम्परा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न२ हैं। किसी का किसी के साथ अन्वय रूप सम्बन्ध तो है ही नहीं। सब स्वतत्र हैं। ऐसी स्थिति में उन दोनो ज्ञानों का विवक्षित चित्तक्षण से संकलन कैसे हो सकता है।

क्योकि जो विवक्षित चित्तक्षण है वह तो अनुभविता है स्मर्ता तो है नहीं। अतः पूर्व चित्तक्षण से अनुभूत अर्थ मे उत्तर बुद्धियों को स्मृति नहीं हो सकने के कारण "यह वही है जिसे मैंने मालथौंन में देखा था" इस प्रकार का संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। इसीतरह स्मरण ज्ञान भी नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्व मे देखे हुए पदार्थ को याद करना इसका नाम स्मरण-स्मृति-है। अब जब वह कि जिसने पूर्व में पदार्थ देखा है सर्वथा नष्ट हो चुका

१ इसके लिये देखो प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ ९७ को

२ बिवक्षितधर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शनं संकलन। प्रमेयकमलमार्तण्ड पाना ९७ वे।

है तो फिर उस देखे हुए पदार्थ का स्मरण किसे कैसे हो सकता है ऐसा तो है नहीं कि देखे कोई और उसका स्मरण होवे किसी दूसरे को, यदि ऐसा होने लगे तो फिर क्या है एक के द्वारा देखा गया पदार्थ सबकी स्मृति का विषय हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा तो होता नही है। अतः यह मानना ही पड़ता है कि जव पूर्वबुद्धि से उत्तर बुद्धि सर्वथा भिन्न है तो उसके द्वारा दृष्ट पदार्थ उत्तर बुद्धि का स्मृति द्वारा विषय नही बन सकता है। जैसे खुशालचन्द्र के द्वारा देखा गया

आ० पदार्थ नरेश के लिये स्मृत नहीं हो सकता है। क्यों कि ये दोनों परस्पर स्वतन्त्र हैं। अतः यह "क्षणिकैकान्तपक्षे न

मी० कार्यारम्भः प्रत्यभिज्ञानाद्यभावात्" कथन सर्वथा निर्दोष है। प्रत्यभिज्ञा आदि के अभाव होने का कारण यह है कि बौद्ध सिद्धान्त मे अन्वित-पूर्वोत्तर बुद्धिक्षणो के साथ अन्वयरूप से सम्वन्धित एक प्रत्यभिज्ञाता स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना गया

२९१ है। किन्तु बुद्धि क्षणरूप ही वह माना गया है।

सन्तान कार्य की आरम्भक इसलिये नहीं हो सकती है कि वह बौद्ध सिद्धान्त मे अवस्तु मानी गई है। अवस्तु कार्य की आरंभक होती नही है। यदि संतान कार्य की आरभक मानी जाय तो उसमें वस्तुरूपता की प्रसक्ति आती है। जो बौद्ध सिद्धान्त से विरूद्ध पड़ती है। कारण कि जो अर्थक्रियाकारी होता है वही परमार्थतः सत् माना गया है। ऐसा बौद्धसंमत सिद्धान्त है। दूसरे यदि सतान को अर्थक्रियाकारी-कार्य आरंभक माना जायगा तो चित्तक्षणों में अवस्तुता की आपत्ति आवेगी क्योंकि वे तो अर्थक्रिया करनेवाले हैं नहीं। जब चित्तक्षण किसी भी शुभ अशुभ कार्य का आरंभक नहीं हो सकता है तो यह विचारने जैसी बात है कि पुण्य और पाप लक्षणरूप जो उसका फल है वह उसमें कैसे संभवित हो सकेगा। शुभ अशुभ कार्य के करने से ही पुण्य पाप लक्षणरूप फल संभवित होता है। पुण्यपाप रूप फल की असभवता मे प्रेत्यभाव-परलोक, बंध और मोक्ष ये एक भी नहीं बनते हैं। मतलब इसका यह है कि जब परलोकी-आत्मा ही नहीं है तो परलोक की सिद्धि कैसे हो सकती है। परलोक पूर्वजन्म में कृतकर्मों के अनुसार होता है। क्षणिकवादियो के मत में पूर्व विचार क्षणों-चित्तक्षणों-का सर्वथा विनाश हो जाता है अतएव उत्तर विचारक्षण के साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। इसलिये पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का उत्तर जन्म में-दूसरे जन्म में-फल नहीं मिल

सकता। इस कारण परलोकी के अभाव होने के कारण परलोक की सिद्धि नहीं होती है। यदि भव की सिद्धि निमित्त बौद्ध ऐसा कहे "यच्चित्तं १ तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते यथेदानीन्तनं चित्त, चित्तं च मरणकालभावि" कि वर्तमान विचार (ज्ञान-बुद्धि-चित्त) की तरह एक विचार दूसरे विचार से सबद्ध रहता है। मरणकाल में रहनेवाला विचार भी विचार है, अतः वह भी दूसरे विचार से सबद्ध रहता है। इससे संसार की सिद्धि हो जाती है। सो ऐसा कहना बौद्ध सिद्धान्त के विपरीत है। क्योकि वहां पर वस्तु का सर्वथा–निरन्वय-विनाश माना गया है। अतएव एक विचार दूसरे विचार से सबद्ध नहीं हो सकता है। जो इन दोनों का सम्बन्ध करानेवाला है वह तो बौद्धों ने माना ही नहीं है।

इसी तरह वध भी सिद्ध नही होता है। कर्म के आरंभक होने से ही बंध होना माना गया है। क्षणिक पक्ष में कार्य का आरंभक होना बनता नहीं है। अत वंध के अभाव पूर्वक जो मोक्ष का विधान है वह कैसे बन सकता है। यदि बौद्ध इसके ऊपर यो कहें कि हम लोग वंध के अभाव पूर्वक मोक्ष नहीं मानते किन्तु "निखिलवासनोच्छेदे विगत विषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्ष २" सम्पूर्ण वासनाओं के नष्ट हो जाने पर ज्ञान जब विषयाकाररूप उपद्रव से रहित होकर विशुद्ध हो जाता है तब इसी विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति का नाम मुक्ति है ऐसा मानते हैं सो ऐसा कहना भी ठीक नही बैठता है कारण कि सकल वासनाओ का उच्छेद उन्होने इन चार भावनाओं के उच्छेद प्रकर्ष से माना है। "सर्व क्षणिकं, सवक्षणिक, दुख दुख, स्वलक्षण स्वलक्षणं, शून्यं शून्य" ये चार भावनाए ३ हैं। परन्तु बौद्धों ने इन भावनाओं का कोई एक नित्य आश्रय नहीं माना है तथा प्रत्येक क्षण में ये नवीन २ उत्पन्न होकर निरन्वयरूप से विनष्ट हो जाती है इसलिये इनसे नवीन २ उत्पन्न होने वाले चित्तक्षणों में कोई विशेषता आ नहीं सकती है। अर्थात् पूर्व समलचित्तक्षणो से उत्तरोत्तर समलचित्तक्षण ही उत्पन्न होते रहेंगे उनमें विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति इन नवीन २

१ स्याद्वादमजरी पृ--२४१
२ स्याद्वादमजरी पृ० ४४।
३ स्याद्वादमजरी टिप्पणी २४४ पृ०।

निरन्वय विनाशी भावनाओं से नहीं हो सकती है। यदि इनका कोई एक नित्य आधार होता कि जिसमे इनका संस्कार बैठता जाता तो विशुद्धज्ञान की वहा जागृति हो सकती। परन्तु ऐसी मान्यता तो बौद्धो की है नही। दूसरे बौद्धो ने विनाश को निर्निमित्त माना है। अत अशुद्धज्ञान क्षण जब अपने स्वरूप से पहिले ही सर्वथा विनष्ट हो जाता है तो ऐसी स्थिति में विशुद्धज्ञान क्षणरूप मुक्ति का उत्पाद कोई अपूर्व ही हुआ मानना पडेगा।

ऐसी मान्यता मे बंध और मोक्ष मे एकाधिकरणता नही बन ससती है। परन्तु हैं तो ये एकाधिकरण वाले। क्योकि मुक्ति उसी के घटित होती है जो पहिले बद्ध होता है। क्षणक्षयवाद मे विशुद्धज्ञान की उत्पत्तिरूप मुक्ति मानने मे जो ज्ञानक्षणरूप आत्मा बद्ध है वह अन्य है एवं जिसे मुक्ति हुई है वह अन्य है। इस प्रकार भिन्नाधिकरणता आने से मुक्ति का अभाव प्रसक्त होता है १। इसलिये " क्षणक्षयैकान्तदर्शनमहितम् असंभवत्प्रेत्यभावादित्वात् उच्छेदैकान्तवत् ध्रौव्यैकान्ताभ्युपगमवद्वा (अ० श०)। " शून्यैकान्त अथवा नित्यैकान्त की तरह यह क्षणक्षयैकान्त दर्शन प्रेत्यभाव आदि की असभवता मे जीवों का हित विधायक नहीं होता है। अतः इसका आश्रयण करना प्रेक्षावान् व्यक्तियो के लिये ठीक नही है। यदि बौद्ध ऐसा कहे कि चित्तक्षणो के क्षणिक होने पर भी उनमे प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव नहीं हो सकता है। कारण कि वासना के वश से " वही यह सुख का साधन है " इस प्रकार का स्मरण पूर्वक प्रत्यभिज्ञान चित्तक्षण को हो जाता है। उससे उसे सुख के साधन में प्रवृत्त होने की अभिलाषा जग जाती है और इस अभिलाषा के जगते ही चित्तक्षणरूप व्यक्ति की प्रवृत्ति उसमे हो जाती है। अत आप-जैन का ऐसा कहना है कि चित्तक्षणो को क्षणिक मानने पर प्रत्यभिज्ञानादिक के अभाव से उनमें कार्य आरम्भकता नही आ सकती है सो ठीक नही है। अतः जब वे कार्य के आरम्भक है तो पुण्य और पापरूप क्रिया का भी सद्भाव वहा है और इससे प्रेत्यभाव आदि का भी अस्तित्व उनमें घटित होता है। सो इस तरह का यह बौद्ध कथन युक्तियुक्त नही ज्ञात होता है। कारण कि " भिन्नकालक्षणानाम-

१ कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्यसाक्षात्क्षणभंगमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥ स्या० म०।

संभवद्वासनत्वादकार्यकारणवत् (अ० श०) " जिस प्रकार कार्यकारणसम्बन्ध से विहीन घट और पट में भिन्न २ कालता होने से वासना की संभावना नहीं है उसी प्रकार पूर्वचित्तक्षण और उत्तरचित्तक्षण में भी भिन्न २ कालता होने से वासना की संभावना नहीं हो सकती है।

इसका अभिप्राय यह है कि बौद्धों ने " क्षणिकैकान्तपक्षे कार्यारम्भः न, प्रत्यभिज्ञानाद्यभावात् " इस अनुमान में प्रदत्त " प्रत्यभिज्ञानाद्यभावात् " इस हेतु को वासना की आड़ लेकर असिद्ध करना चाहा है। उनका कहना है कि प्रथम ज्ञानक्षण उत्तर ज्ञानक्षण को उत्पन्न करके ही विनष्ट होता है अतः यह प्रथम ज्ञानक्षण अपनी शक्ति १ को उत्तर ज्ञानक्षण में निहित कर जाता है। इसी तरह की आगे आगे के समस्त ज्ञानक्षणों में यही परम्परा चलती रहती २ है। इसी का नाम वासना है। इस वासना के बल पर उत्तर ज्ञानक्षणो में पूर्व २ के ज्ञानक्षणों का संस्कार जमता चला जाता है अतः उससे वहां प्रत्यभिज्ञान आदि की उत्पत्ति हो जाती है। सो इसके ऊपर जैन की तर्फ से यह समाधान रूप में कहा गया कि जब पूर्व ज्ञानक्षण और उत्तर ज्ञानक्षण में परस्पर में भिन्न कालता है—भिन्न २ समय वर्तिता है—तो ऐसी स्थिति मे पूर्व-ज्ञान ही उत्तर ज्ञान की वासना है इसमें नियामक क्या है। क्योकि भिन्नकालता में इस रूप से वासना की सभवता नहीं है। यदि कहा जाय कि उत्तरज्ञानक्षण का पूर्वज्ञानक्षण कारण है इसलिये वही उत्तरज्ञान क्षण की वासना स्वरूप है सो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं है कि पूर्व ज्ञानक्षण का तो निरन्वय विनाश ही हो जाता है तो उसमें उसके प्रति कारणता बनती ही नहीं है। असत्त्वविशिष्ट होने से विनष्ट किसी का कारण नहीं होता है। दूसरे उत्तर ज्ञानक्षण भी पूर्व ज्ञानक्षण का कार्य नहीं बन सकता है कारण कि पूर्व ज्ञानक्षण के सर्वथा अभाव होने पर

---

१ पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहु: वासनेति। स्याद्वाद मं० पृ० ३४३।

१ तल्लक्षणं हि पूर्वक्षणेनोत्तरक्षणस्य वास्यता। अथ पूर्वचित्तसहजात् चेतनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्ट चित्तमुत्पद्यते सोऽस्य शक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना -तथाहि-पूर्वचित्तं रूपादिविषयप्रवृत्तिविज्ञान, यत्तत् षड्विध पचरूपादिविज्ञानान्यविकल्पानिषष्ठं च विकल्पविज्ञान-तेन सह जात समानकालश्चेतनविशेषोऽहंकारास्पदमालयविज्ञान तस्मात् पूर्वशक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना इति।

—स्याद्वादमंजरी पृष्ठ २५३।

ही उसका सद्भाव होता है ।

यदि ऐसा कहा जाय कि इन दोनो का अन्वय व्यतिरेक है इसलिये उत्तर ज्ञानक्षण पूर्व ज्ञानक्षण का कार्य है सो यह भी ठीक नहीं है कारण कि इन दोनो का अन्वय व्यतिरेक सम्वन्ध ही असिद्ध है । जब समर्थकारण स्वरूप पूर्व ज्ञानक्षण रहता है तब तो उत्तर ज्ञानक्षण रूप कार्य उत्पन्न नहीं होता है और जब वह सर्वथा विनष्ट हो जाता है तब ही वह होता है ऐसी बौद्धो की मान्यता है तब इस मान्यता के समक्ष अन्वय व्यतिरेक इनमें कैसे सिद्ध हो सकता है । इसलिये वासना का सहारा लेकर वहां प्रत्यभिज्ञान आदि की उत्पत्ति का कथन करना युक्ति युक्त नहीं माना जा सकता । दूसरे यह वासना नित्य तो मानी नहीं जा सकती, क्योकि ऐसी मान्यता से सिद्धान्त में विरोध आता है । अतः इसे भी क्षणिक मानना पडेगा । तब वासना भी क्षणिक होने से प्रत्यभिज्ञान की हेतु नहीं बन सकती है । अतः यह निश्चित है कि क्षणिकैकान्त मे प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने से कार्य का आरभ नहीं हो सकता है । कार्य आरंभकत्व के अभाव मे पुण्य पाप लक्षणरूप फल का अभाव, उसके अभाव से प्रेत्यभाव, बंध, एवं मोक्ष का सद्भाव स्थापित नहीं हो सकता । अत "प्रत्यभिज्ञानाद्यभावात्" यह हेतु असिद्ध नहीं है । किन्तु सिद्ध ही है । और विशेष जानने के लिये अष्टसहस्त्री देखना चाहिये ।

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत् ।
मोपादाननियामोभून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥

अन्वय—यदि कार्यं सर्वथा असत् तत् खपुष्पवत् मा जनि । उपादाननियामो मा भूत् । कार्यजन्मनि आश्वासः मा भूत् ।

अर्थ—यदि कार्य को सर्वथा असत् माना जाय तो वह खपुष्प की तरह उत्पन्न नही हो सकता है तथा उपादान कारण का नियम भी वहां नहीं बन सकता है । उपादान कारण के नियम के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का कोई

विश्वास नहीं हो सकता है।

भावार्थ—कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह प्रदर्शित करते हैं कि क्षणिकपक्ष मे सत्स्वरूपकार्य की उत्पत्ति तो होनी नहीं है। क्योंकि ऐसी मान्यता में क्षणिक पक्ष का विरोध एव कार्य की उत्पत्ति का अनुपरम प्राप्त होता है। अतः यदि इसपर बौद्ध कहें कि सर्वथा असत् स्वरूप ही कार्य उत्पन्न होता है तो यह कहना इसलिये युक्त नही माना जा सकता कि विवक्षित पर्यायाकार से जिस प्रकार कार्य सर्वथा असत् है उसी प्रकार वह यदि द्रव्याकार से भी सर्वथा असत् माना जायगा तो सर्वथा असत् खपुष्प की तरह वह उत्पन्न नहीं हो सकेगा। क्योकि "यत्सर्वथाऽपि असत् तन्न जायमानं दृष्टं यथा खपुष्प" (अ० स०) जो सर्वथा असत् होता है वह उत्पन्न होता हुआ नही देखा गया है। जैसे खपुष्प। बौद्ध संमत कार्य भी इसी प्रकार का है अत वह भी उत्पन्न नहीं हो सकता। कार्यत्व की व्याप्ति सर्वथा असत्त्व के साथ न होकर कथंचित् सत्त्व के साथ है। कथचित् सत्त्वविशिष्ट द्रव्य ही कार्यरूप से परिणमित होता है। सर्वथा असद्भूत द्रव्य नही। अतः कथचित् सत्त्व ही कार्यत्व का व्यापक है। इससे विरुद्ध जो सर्वथा असत्त्व है वह खपुष्प की तरह कार्यत्व का व्यापक नही होता है। क्योकि यह बात सर्वसाधारण जन विदित है कि "कथंचित्सतः कार्यत्वमुपादानस्योत्तरीभवनात्" (अ० श०) मिट्टी रूप उपादान द्रव्य ही घटरूप से परिणमित होता है, यह मिट्टी रूप उपादान द्रव्य सर्वथा न सत्रूप है और न सर्वथा असत्रूप हैं। किन्तु कथचित् सद्रूप है। कथंचित् सद्रूप का यह मतलब है कि वह किसी अपेक्षा—अपनी विवक्षित पर्याय की दृष्टि से—असद्रूप भी है। द्रव्यरूप सामान्य की अपेक्षा से ही प्रत्येक द्रव्य सत्स्वरूप विशिष्ट माने गये हैं पर्याय—विशेष—की अपेक्षा से नही। यहां पर यह शंका नही करना चाहिये कि "सत्स्वरूप द्रव्य असत् कैसे माना जा सकता है क्योंकि सत् और असत् का परस्पर मे विरोध है।" कारण कि जिस प्रकार चित्र-ज्ञान में ज्ञानसामान्य की अपेक्षा एकत्व माना जाता है और पीतादिक अपने विषयो के निर्भास की अपेक्षा अनेकत्व माना जाता है उसमे कोई विरोध नही आता है उसी प्रकार किसी अपेक्षा सत्त्व और किसी अपेक्षा असत्त्व ये दोनो धर्म भी कि जिनमे विना विचारे ही स्थूलरूप से विरोध सा ज्ञात होता है एकत्र द्रव्य मे अविरोधरूप से रहते हैं। हम देखते है

कि एक ही पुरुष अपेक्षा की विवक्षा में पितृत्व धर्म विशिष्ट, पुत्रत्वधर्मविशिष्ट, पतित्वादिधर्म विशिष्ट माना जाता है। यद्यपि ये धर्म परस्पर में एकत्र विरुद्ध जैसे ज्ञात होते हैं परन्तु फिर भी विवक्षावश विरुद्ध भी उन धर्मों में एकत्र रहने में कोई विरोध नहीं है। यही बात प्रकृत में भी जानना चाहिये।

किं च—यदि सर्वथा असत् को ही कार्यरूप से परिणमित माना जायगा तो वहां पर कार्य कारण भाव ही नहीं
आ० बन सकेगा। क्योकि कार्यकारणभाव की व्यवस्था का हेतु अन्वय और व्यतिरेक की प्रतीति हुआ करती है। वह यहां
मी० बनती नही है। कारण कि असत्कार्यवादी बौद्धों का ऐसा कहना है कि जब कारण का सर्वथा विनाश हो जाता है तब ही जाकर कार्य का प्रादुर्भाव होता है। तथा कारण के सद्भाव मे कार्य का सद्भाव नहीं होता है इस प्रकार यहां अन्वय
२६७ व्यतिरेक का व्यभिचार स्पष्ट प्रतीत होता है। "यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः यदभावे यदभावो व्यतिरेक.।" जिसके सद्भाव में जिसका सत्व हो और जिसके अभाव में जिसका अभाव हो वहां अन्वय व्यतिरेक घटित होता है। परन्तु यह बात यहां नहीं है। इसलिये असत्स्वरूप ही कार्य होता है यह मान्यता ठीक नहीं है। दूसरे—असत् ही कार्यरूप में परिणत होता है यही मान्यता अंगीकार की जावे तो असत्स्वरूप खपुष्प की तरह कार्य का कभी भी उत्पाद नहीं हो सकता है। तथा च मृत्तिकारूप द्रव्य से जो घट का उत्पाद होता हुआ देखा जाता है वह अब इस मान्यता के आगे नहीं हो सकेगा, इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि सर्वथा असत् मे और कार्य में परस्पर व्याप्य व्यापक भाव न होकर कथचित् सत्व और कार्यत्व मे ही व्याप्य व्यापक सम्बन्ध बनता है क्योंकि ऐसी ही प्रतीत होती है। तथा जो सर्वथा असत्कार्य होगा वह वन्ध्यासुत की तरह कारण वाला ही नहीं हो सकता है। मतलब इसका यह हैं कि जिस प्रकार सर्वथा असत्स्वरूप होने से वन्ध्यासुत कारण विहीन होता है उसी प्रकार जब कार्य अपने द्रव्यरूप से भी सर्वथा विहीन है तो वह कारण वाला

उपाधिभेदोपहित विरुद्ध नार्थेष्वसत्त्व सदवाच्यते च।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहता पतन्ति॥ २४॥

स्याद्वाद मजरी पृ० २८९

कैसे माना जा सकता है। क्योंकि यदि वह शक्तिरूप से अपने कारणरूप द्रव्य में रहा हुआ होता तो उस कारण से उसकी सभवता हो जाती परन्तु बौद्ध सिद्धान्त में तो वह जिस प्रकार विवक्षित पर्यायरूप से सर्वथा अभाव विशिष्ट है, उसी प्रकार वह द्रव्यरूप से भी अभाव विशिष्ट है। फिर ऐसी हालत में यह नियम भी कैसे बन सकता है कि मिट्टी ही घडे का उपादान कारण है तन्त्वादिक १ नहीं। क्योंकि जिस प्रकार घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी का निरन्वय विनाश हुआ है उसी प्रकार तत्वादिक का भी वहां निरन्वय विनाश मान लिया जायगा। यदि संवृत्तिमात्र से उपादान का नियम कल्पित किया जायगा तो कार्य की उत्पत्ति मे अनाश्वास का प्रसंग प्राप्त होता है। अत असत् कार्य उत्पन्न होता है यह कथन क्षणिकवादी बौद्ध का ठीक नहीं है।

न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात्।
सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥ ४३ ॥

अन्वय—(क्षणिकैकान्तपक्षे) सन्तानान्तरवत् (पूर्वोत्तरक्षणानाम्) हेतुफलभावादिः न (सर्वथा) अनन्वयात् अन्यभावात्। तद्वतः पृथक् एकः संतान न।

अर्थ—इस क्षणिक एकान्त पक्ष में अन्य संतान को तरह पूर्वक्षण एवं उत्तरक्षणों में हेतुभाव एवं फलभाव आदि कुछ भी घटित नहीं होता है। क्योंकि इनमें सर्वथा अनन्वय होने से भिन्नता है। संतानी से भिन्न एक संतान पर मार्थभूत कोई वस्तु नहीं है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार क्षणिक एकान्त पक्ष में और भी क्या२ दूषण आते हैं यह बात स्पष्ट कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जब पूर्वक्षण और उत्तरक्षण में अन्वयरूप कोई सम्बन्ध न होने से सर्वथा भिन्नता है तो फिर उनमें हेतुभाव एव फलभाव कैसे बन सकता है। जिस प्रकार भिन्न२ संतान में—खुशालचद नरेशचद्र आदि भिन्न

तदत्यन्तासत' कार्यस्योत्पत्तेस्तन्तुभ्य' पटादिरेव न पुनः कुटादिरिति निर्हेतुको नियमः स्यात्। अ० स०

व्यक्तियो में–अन्वय रूप सम्बन्ध नहीं बनने से हेतुभाव–कारणता एवं फलभाव–कार्यता आदि कुछ भी नहीं बनता है, इसीतरह अन्वयरूप सम्बन्ध के सर्वथा अभाव में वास्यवासकभाव कर्म कर्मफल सम्बन्ध एवं प्रवृत्ति आदि भी संभवित नही होते हैं। क्योकि ये सब बाते अन्वयरूप सम्बन्ध के सद्भाव में ही घटित होती हैं। सर्वथा क्षणिकत्व का समर्थन-यदि बौद्ध इस पर यो कहे कि पदार्थों की क्षणिकता जब प्रमाण से प्रसिद्ध है तो फिर अन्वय रूप सम्बन्ध की सत्ता कैसे सिद्ध हो सकती है। पदार्थ क्षणिक–क्षणविनश्वर–है इसमे यह प्रमाण है कि " समस्त सत्–सत्स्वरूप पदार्थ–क्षणिक हैं " क्योकि सम्पूर्ण घटादिक-सत्स्वरू। पदार्थ-मुद्गर आदि का संयोग होने पर नाश हो जाते है। जिस स्वरूप से अन्त अवस्था में घट आदि का नाश होता है वही स्वरूप घट आदि समस्त पदार्थों का उत्पन्न होने के समय में भी रहता है। अतएव जिस समय मुद्गर से घड़ा नष्ट हो जाता है उस समय मुद्गर घडे में कोई नया स्वरूप उत्पन्न नही करता क्योंकि घडे का विनाश स्वभावतो अन्त और आरम्भ दोनो अवस्थाओं मे एकसा होता है अतएव घड़ा आदि पदार्थ उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाते हैं इसलिये सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं। मतलब यह है कि बौद्ध सिद्धान्त में नाश को अहेतुक माना है " क्षणिकस्य क्षणादूर्ध्वमस्थान स्वप्रकृतिर्विनश्वरत्वादन्विष्यते विनाशस्वभावनियतत्वं च विनश्वरत्व, न पुनः कालान्तरावस्थायिन कदाचिन्नाशित्व अहेतुकत्वाद्विनाशस्य " अष्टसहस्री पाना १८५ में इसी बात की उन्होने स्थापना इन पक्तियो मे की है। क्षणिक पदार्थ की यह अपनी निज की प्रकृति है कि एक क्षण के बाद नही रहना। विनाश स्वभाव नियतता ही विनश्वरता है। कालान्तर तक रहकर द्वितीयादिक क्षणो तक विद्यमान होकर फिर पदार्थ का कदाचित् नाश होना यह विनश्वरता नहीं है। क्योंकि विनाश का कोई दूसरा कारण ही नही है। यदि पदार्थों को उत्पन्न होने के बाद नाशमान न माना जाय तो पदार्थों का अपने किसी भी विरोधी कारण से नाश नहीं हो सकता, इसलिये " यद्यद्भावं

---

१ सौगता· किल इत्थ प्रमाणयन्ति सर्वं सत् क्षणिक यतः सर्वं तावत् घटादिक वस्तु मुद्गरादिसन्निधौ नाश गच्छत् दृश्यते तत्र येन स्वरूपेण अन्त्यावस्थायां घटादिक विनश्यति तच्चैतत्स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन विनष्टव्यम् इति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम्।

प्रत्यनपेक्षं तत् तद्भावनियतं (अ० श०) जो जिसके प्रति–विनाश स्वभाव के प्रति–अन्य की-मुद्गरादिक विरोधी कारणों की-अनपेक्षा वाला होता है वह घट पटादिक पदार्थ–उस स्वभाव से नियत होता है ।

" यथाऽन्त्यकारणसामग्री स्वकार्योत्पादन प्रत्य नपेक्षा तत्स्वभावनियता विनाश प्रत्यनपेक्षश्च भावः इति स्वभावहेतुः " (अ० श०) जैसे समर्थ कारण–अन्त्य कारण–सामग्री–अपने कार्य को उत्पन्न करने में अन्य कारणों की अपेक्षा रखने वाला नही होता है अतः वह स्वकार्य करणरूप स्वभाव से नियत माना गया है । इस प्रकार स्वभाव [1] हेतु से पदार्थो मे विनश्वर स्वभावता प्रसिद्ध हो जाती है । इसलिये नैयायिक आदि ने जो ऐसा माना [2] है कि पदार्थ अपनी उत्पत्ति के कारण भूत सहायको से " कुछ समय तक ठहर कर बाद में नष्ट हो जाना " ऐसे स्वभाव वाला ही उत्पन्न किया जाता है सो उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है, कारण कि यदि इसी प्रकार का पदार्थ का स्वभाव माना जायगा तो वह विनाश के कारणरूप मुद्गरादिक के सम्बन्ध होने पर भी कभी विनष्ट ही नहीं हो सकेगा । जब जब बिनाश के कारणरूप मुद्गरादिको का घडे के साथ सम्बन्ध होता रहेगा तब तब उसका तो " कुछ काल तक ठहर कर नष्ट होना " यही स्वभाव बना रहेगा । अतः पदार्थ क्षणविनश्वर है यही सिद्धान्त निर्दोष है । दूसरे-यदि विनाश को सहेतुक माना जाय–तो यहां यह प्रश्न होता है कि वह विनाश घट से भिन्न है या अभिन्न है । यदि वह विनाश मुद्गरादिक हेतुओ से घट से भिन्न किया जाता है ऐसी मान्यता अंगीकार की जाय तो इसमें दोष यह आता है कि घट का विनाश होने पर भी घट की उपलब्धि होनी चाहिये । तथा च " विनष्टो घटः " इत्याकारक प्रत्यय जो उस समय होता हैं वह नहीं होना चाहिये ।

१ बौद्धसिद्धान्त मे अनुपलब्धि, स्वभाव एवं कार्य इस प्रकार ये तीन प्रकार के लिङ्ग माने हैं न्यायावतार कारिका ५वी की टीका ।

२ अथेदृश एव स्वभावस्तस्य हेतुतो जातो यत्कियन्तमपि कालं स्थित्वा विनश्यति । एव तर्हि मुद्गरादिसन्निधानेऽपि एष एव तस्य स्वभावः इति पुनरप्येतेन तावन्तमेव कालं स्थातव्यमिति नैव विनश्येत् । सोऽय अदित्सोः वणिज प्रतिदिनं पत्रलिखितश्वस्तनदिनभणनन्यायः । तस्मात् क्षणद्वयास्थायित्वेनाप्युत्पत्तौ प्रथमक्षणवत् द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थायित्वात् पुनरपर क्षणद्वयमवतिष्ठेत एव तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावत्वान्नैव विनश्येत् । स्याद्वाद मजरी पृ० २०२

यदि इसपर यो कहा जाय कि घट का और विनाश—घट विनाश-का परस्पर में सम्बन्ध है इसलिये "विनष्टो घट " इत्याकारक प्रत्यय हो जायगा सो ऐसा कहना भी इसलिये युक्ति युक्त नहीं है कि घट और उसका विनाश इन दोनों का कोई सा भी सम्बन्ध नहीं है। घट और उसके विनाश का तादात्म्य सम्बन्ध इसलिये नहीं माना जा सकता हैं कि यह भिन्नपक्ष चल रहा है। भिन्नता मे यह सम्बन्ध नहीं होता है। तदुत्पत्ति सम्बन्ध इसलिये नही है कि यह नाश बौद्ध सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्यसिद्धान्तकारो ने मुद्गरादिक हेतु से माना है। अपना नाश—अपने से होता तो ही तदुत्पत्ति सम्बन्ध बनता। यदि विनाश--घट विनाश--को मुद्गर एव घट इन दोनो से जन्य माना जाय तो इसमें यह दोष आता है कि जिस प्रकार घट विनाश के बाद मुद्गर का उपलम्भ होता है उसी तरह घट का उपलम्भ होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। अत यह विनाश उभय निमित्तक नही माना जा सकता। इसी तरह घट का विनाश मुद्गरादिक हेतुओं द्वारा घट से अभिन्नरूप मे किया जाता है ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है। कारण कि विनाश अहेतुक है। अतः अन्य मुद्गरादिक उसके हेतु न होकर घट ही उसका हेतु है। घट हेतुक विनाश मानने पर उसमें सहेतुता इसलिये नहीं आती है कि उसका अन्य मुद्गरादिक हेतु नहीं है। विनाश भले ही सहेतुक रहे इसमें बौद्धो को कोई विवाद नहीं है। अष्टसहस्री मे भी " कार्यजनकहेतुव्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वमिति " इस पत्तिद्वारा यही बात कही गई है। इसलिये यह "यद्यद्भाव प्रत्यनपेक्ष तत्तद्भावनियतं " यह कथन सर्वथा सुसगत है। अतः जब वस्तु क्षन२ में नष्ट हो रही है तो उसका दूसरे क्षण मे अन्वय मानना ठीक नहीं है। यदि इस क्षणिकता के ऊपर कोई यह आक्षेप करे कि जब पदार्थ प्रत्येक क्षण मे नाश होते रहते हैं तो प्रथमक्षण से लगाकर अन्तिम क्षणतक पदार्थ मे एकता विषयक जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह कैसे हो सकेगा सो ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि प्रत्येक पदार्थ क्षण२ में नाश होते रहते है। जो पदार्थ हमे स्थायीरूप से दिखाई देता है वह भी प्रतिक्षण नाश हो रहा है। पदार्थ का प्रत्येक पूर्वक्षण प्रत्येक उत्तरक्षण को उत्पन्न करता है। ये सब पूर्व और उत्तरक्षण इतने परस्पर में समान हैं कि एक क्षण से द्वितीयक्षण की उत्पत्ति होने के समय अंतर होने पर भी पदार्थ की एकता मे अंतर नहीं आता है, कल्पना करो " स एवायं घंट " यह वही घट

है इस प्रकार का जो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है वह घट के पूर्वक्षण के नष्ट होते ही उसके समान दूसरा उत्तरक्षण उत्पन्न हो जाता है अतएव पूर्व आकार का नाश न दीखने से पूर्वक्षण के नाश और उत्तरक्षण की उत्पत्ति मे व्यवधान नही मालूम होता। इसलिये घट के पूर्वक्षण का सर्वथा नाश होने पर भी अविद्या के कारण " यह वही घट है " ऐसा एकत्व परामर्शक प्रत्यभिज्ञान होता है। जैसे पहले काटे गये और फिर से उत्पन्न हुए कुश और केश आदिको के पूर्व और उत्तरक्षण मे सर्वथा भिन्नता होने पर भी " यह वही घास है ये वही केश हैं " ऐसा ज्ञान १ होता है। अतः " एकत्व प्रत्यभिज्ञान के बल से भी क्षणिकता का विध्वस नहीं हो सकता है। इसलिये पूर्वोत्तर क्षणों में अन्वयरूप एकत्व के अभाव में फलभाव एवं हेतुभाव बनने मे कोई बाधा नहीं आती है। पूर्वक्षण हेतु है और उत्तरक्षण उसका फल है।

बौद्धों ने इस प्रकार जो क्षणिक पक्ष का समर्थन करते हुए वहां हेतुभाव एवं फलभाव की मान्यता प्रदर्शित की है वह ठीक नहीं २ है। कारण कि जब पूर्व क्षण और उत्तरक्षण-सर्वथा-भिन्न २ ही हैं तो यह विचारने की बात है कि उनमें एक में हेतुभाव तथा दूसरे में फलभाव कैसे सभवित हो सकता है। हेतुभाव और फलभाव को प्रकट करने वाला कोई आधार तो होना चाहिये। वह आधार अन्वय है। उसे आप मानते नहीं हैं। जब पूर्वक्षण निरन्वय विनाशी हैं तो ये अपने से उत्तरक्षण को उत्पन्न कर भी कैसे सकते हैं। और कैसे यह बात समझ में आ सकती है

---

१ यदि क्षणक्षयिणो भावा कथ तर्हि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा स्यात्। उच्यते–निरन्तरसदृशापरापरोत्पादात् अविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणविनाशकाल एव तत्सदृश क्षणान्तरमुदयते तेनाकारविलक्षणत्वाभावादव्यवधानाच्चात्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमितिअभेदाध्यवसायी प्रत्यय· प्रसूयत। अत्यन्तभिन्नेष्वपि लूनपुनरुत्पन्नकुशकाशकेशादिषु दृष्ट एवाय स एवायमितिप्रत्यय·।

स्याद्वादमंजरी पृ० २०३

१ " नैवास्ति हेतु· क्षणिकात्मवादे " तथा- " तथा न तत्कारणकार्यभावाः निरन्वया· केन समानरूपा " युक्त्यनुशासन श्लोक १३ वें १४ वें के पाद। " न तुल्यकाल· फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भाव. "

स्याद्वाद मजरी श्लोक १६ वे का पूर्वार्ध।

आ० मी० ३०३

कि ये उत्तरक्षण पूर्वक्षण हेतुक है । क्योकि उसकी इनमे कोई निशानी तो है नहीं । घडा का कारण मृत्तिका है यह इसलिये माना जाता है कि घडे मे मृत्तिकारूप अन्वय का सद्भाव पाया जाता है । उत्तरक्षण मे इस प्रकार का अन्वय पूर्वक्षण का आपके सिद्धान्तानुसार नही पाया जाता । तथा इस पर कोई यह भी पूछ सकता है कि पूर्वक्षण जो उत्तर-क्षणो को उत्पन्न करते हैं सो क्या वे उन्हें अपनी उत्पत्ति के समय मे उत्पन्न करते हैं या दूसरे क्षण मे । प्रथम पक्ष यदि कबूल किया जाय तो वह इसलिये युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता कि जो समकाल में उत्पन्न होते है उनमें युवति के कुचों की तरह परस्पर में उपादान उपादेयभाव–हेतुफलभाव नही बनता है । पितृत्व पुत्रत्व धर्म को लेकर यहां व्यभिचार प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है, क्योकि ये कथंचित् भिन्नकालवर्ती है । यदि द्वितीय पक्ष अंगीकार किया जाय सो भी उचित नहीं है । क्योकि पूर्वक्षण सर्वथा विनाशी है, अतः उसके अभाव में उत्तरक्षणरूप कार्य नहीं हो सकता है । यदि इस पर यो कहा जाय कि बादलो के अभाव से जैसे सूर्य का प्रकाश होता है उसी प्रकार प्रथमक्षण के अभाव से द्वितीयक्षण हो जायगा-सो ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है क्योकि बादलो का अभाव प्रकाश का उपादानरूप कारण नही है उसका उपादान रूप कारण तो सूर्य है । इसी तरह मिथ्यात्व के अभाव से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उस का भी उपादान कारण मिथ्यात्व का अभाव नही है किन्तु आत्मा ही उसका उपादान कारण है और वह कथंचित् नित्य है । क्षणिक नही । अतः उपादान कारण के सर्वथा अभाव में पूर्वक्षणरूप उपादेय कैसे उत्पन्न हो सकता है । पदार्थ का स्वरूप ही क्षण २ मे नाश होना है ऐसा जो बौद्धो का कथन है उस पर हमे किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है । पर्याय की अपेक्षा विनाश प्रतिक्षण होता रहता है यह तो स्याद्वादियों ने भी स्वीकार किया है । परन्तु बौद्ध जो निरन्वय विनाश मानते हैं वैसा विनाश जैनो को अभीष्ट नहीं है । द्रव्यरूप से किसी भी पदार्थ का सर्वथा विनाश नहीं होता हैं ।

तथा—"क्षणिकोऽर्थ विनाशस्वभावनियतो भवितुमर्हति नाश प्रत्यन्यानपेक्षत्वात्" जिस प्रकार इस अनुमान द्वारा क्षणिक पदार्थ मे विनाश स्वभावता अन्यानपेक्ष सिद्ध की जा रही है उसी प्रकार " नित्योऽर्थः स्थितिस्वभावनियतो

भवितुमर्हति तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वाविति (अ० स० टिप्पणी) " इस अनुमान द्वारा पदार्थ में स्थिति स्वभावता अन्यानपेक्ष क्यो न सिद्ध की जा सकेगी। स्वभाव हेतु जिस प्रकार " नाश प्रत्यन्यानपेक्षत्वात् " यह है उसी प्रकार " तद्भाव प्रत्यन्यानपेक्षत्वात् " यह भी है। विनश्वर स्वभावता सिद्ध करने के लिये जैसे यह कहा गया है कि मुद्गरादिक हेतुओं द्वारा विनाश पदार्थ से भिन्न किया जाता है या अभिन्न किया जाता है इसी प्रकार स्थितिशील पदार्थ से स्थिति भी स्थिति के कारणों द्वारा भिन्न की जाती है या अभिन्न की जाती है। यदि भिन्न की जाती है तो पदार्थ में अस्थास्नुता की आपत्ति आती है। यदि अभिन्न की जाती है तो फिर उस स्थिति को करने के कारणो में व्यर्थता आती है। क्योकि पदार्थ जब स्वय स्थिति स्वरूप है तो वहां स्थिति करने वाले कारणों की जरूरत ही क्या है। दूसरे यह भी कोई कह सकता है कि स्थिति स्वभाव वाले पदार्थ में कारणों द्वारा स्थिति की जाती है या अस्थिति स्वभाव वाले पदार्थ में स्थिति की जाती है। जिस प्रकार अनुत्पत्ति स्वभाव वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है उसी तरह स्वय अस्थितिशील पदार्थ मे भी स्थिति करने का अयोग आता है। स्वयं स्थितिशील परार्थ में स्थिति करने की आवश्यकता ही क्या है। इस प्रकार पदार्थ स्वयं स्थिति स्वभाव नियत सिद्ध होता हैं। यह स्थिति स्वभावता पदार्थ में द्रव्य की ही अपेक्षा जानना चाहिये। पर्याय की अपेक्षा विनाशशीलता। अत पदार्थ का निरन्वय विनाश मानना सर्वथा युक्तिरिक्त है। इसलिये पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा-कथंचित्-नित्य और पर्याय की अपेक्षा कथंचित्-अनित्य है। सर्वथा न नित्य है और न अनित्य है, इसलिये सर्वथा निरन्वय विनाश मानने पर हेतुफलभाव आदि कुछ भी नही बन सकता है । यह कथन सर्वथा तर्क संगत है।

यदि संतान की अपेक्षा सर्वथा क्षणिक में हेतुफल भाव आदि की मान्यता स्वीकृत की जाय तो यह भी कथन ठीक नही है, क्योकि पूर्वोत्तर क्षणरूप जो सन्तानी हैं उनसे भिन्न कोई सन्तान है और वह परमार्थभूत है ऐसी बौद्धों की मान्यता नहीं है। उनका तो ऐसा कहना है कि परस्पर में अपरामृष्टभेदवाले संतानी ही संतान स्वरूप हैं अतः इस उनके कथन से संतान संतानियो से पृथक्भूत सिद्ध नहीं होती है । तो जिस प्रेकार भिन्न २ सतानों में अन्वय का अभाव है

और इसीलिये वहां हेतुफल भाव आदि कुछ भी नहीं बनता है इसी प्रकार पूर्व क्षण और उत्तरक्षण में भी एक संतान के अभाव होने से हेतुफल भावादि नहीं बन सकते हैं। संतानियो से स्वतत्र संतान यदि बौद्ध सिद्धान्त मान लेता है तो क्षणिकवाद का अस्तित्व ही नहीं बन सकता है। इस प्रकार क्षणिक एकान्तपक्ष में संतान के अभाव से न हेतुफल भाव बनता है और न वास्यवासक भाव तथा कर्मफल सम्बन्ध ही बनता है। ये सब सम्बन्ध अन्वयरूप एक सन्तान के ही सद्भाव में बनते हैं। उसका अभाव क्षणिक एकान्त मे है।

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्नमृषा कथम्।
मुख्यार्थः संवृति र्न स्याद्विनामुख्यान्नसंवृतिः ॥ ४४ ॥

अन्वय—अन्येषु अय अनन्यशब्दः सवृतिः (इति चेत्तर्हि) कथं (सा) मृषा न (भवेत्)। मुख्यार्थः संवृति न स्यात्। (तस्या उपचाररूपत्वात्) विना मुख्यात् न संवृतिः।

अर्थ—अन्यो मे-पृथग्भूतक्षणों में-अनन्य इस प्रकार का जो शाब्दिक व्यवहार एवं विकल्पात्मक ज्ञान होता है वह सवृति स्वरूप है -काल्पनिक है-उपचार से ही होता है-यदि बौद्ध ऐसा कहें तो उन्हें उसे असत्य ही मानना पड़ेगा। यदि उस व्यवहार को वे परमार्थभूत मानें तो फिर वह काल्पनिक नहीं हो सकता। यदि काल्पनिक हो उसे अंगीकार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि कल्पना भी मुख्य अर्थ के बिना नहीं होती है।

भावार्थ—कारिका कार इस कारिका द्वारा यह निराकरण करते हैं कि जो बौद्धों ने इस प्रकार कहा है कि पूर्व एवं उत्तरक्षणों मे परस्पर कार्य कारण भाव एक संतान होने से बन जायगा। यद्यपि बौद्ध सिद्धान्त की अपेक्षा सन्तान नाम की कोई स्वतंत्र परमार्थभूत वस्तु नहीं है वह तो सिर्फ अभेद परामर्श के विषयभूत बने हुए सन्तानीरूप ही है। सन्तान शब्द से सन्तानी—जो क्षण विनश्वर क्षण परम्परा है उसका ही बोध होता है—इनसे भिन्न उनमें किसी अनवयरूप वस्तु का नही। बौद्ध समत तत्त्वसग्रह में १८७७ कारिका में " नैव, सन्ततिशब्देन क्षणाः सतानिनो हिते।

आ० मी० ३०६

"सामस्त्येन प्रकाश्यन्ते लाघवाय वनादिवत्" यही बात प्रदर्शित की है। जिस प्रकार व्यवहार लाघव के लिये वन शब्द से धवादिरूप सन्तानियो का युगपत् प्रकाशन होता है उसी प्रकार सन्ततिरूप संतान शब्द से वस्तुभूत सन्तानी क्षण ही समस्तरूप से युगपत् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः बौद्धों का यह कथन "परमार्थसन्त. कार्यकारणभाव प्रबन्धेन प्रवर्त्तमाना. पूर्वोत्तरक्षणाः प्रतिक्षणविशराखोऽपरामृष्टभेदाः सन्तान शब्दवाच्याः" कार्य कारण सम्बन्ध की परम्परा से प्रवर्त्तमान जो पूर्वोत्तरक्षण हैं वे ही सतान शब्द के वाच्य हैं। कब ? जब ये अभेद परामर्श के विषय होते हैं तब। तथा ये समस्त ही पूर्वोत्तर क्षण क्षणविनश्वर हैं" इस बात की पुष्टि करता है कि क्षण परम्परा से स्वतंत्र तथा उसमें अनुगतरूप से रहने वाला सतान नाम का कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। मतलब इसका यही है कि क्षणों के प्रवाह की परिपाटी का नाम ही सतान है। क्योंकि "यह क्षणों का संतान है ऐसा जो व्यवहार होता है उससे वह सतान अपने सतानी जो क्षण हैं उस स्वरूप ही पड़ता है। अत परस्पर भिन्न पूर्वोत्तार क्षणों में जो अनन्य शब्दरूप संतान है वह वहां वास्तविक कोई उनसे भिन्न स्वतंत्र चीज नहीं है केवल काल्पनिक हैं।

दूसरे—क्षणों से अतिरिक्त सतान माना जावे–तो वहां वह नित्य है या अनित्य है इस प्रकार के विकल्प होते हैं। यदि सतान नित्य है तो वह अनित्य संतानियो में व्यापकरूप से कैसे रह सकता है। यदि वह उनमें व्यापकरूप से रहता है यह मान भी लिया जाय तो भी वहां फिर भी यह प्रश्न होता है कि वह अनेक स्वभाव से उन्हें व्याप्त करेगा या एक स्वभाव से व्याप्त करेगा। यदि अनेक स्वभाव से वह उन्हे व्याप्त करता है ऐसा माना जाय तो संतान में अनित्यता आती है। क्योंकि उसके नित्य एकरूप का विरोध होता है। यदि वह एक स्वभाव से उन्हे व्याप्त करता है तो इस मान्यता में क्षणो में एकत्व का प्रसंग प्राप्त होता है अतः संतान की सिद्धि कैसे हो सकेगी। क्योकि जो क्रमश

१ सन्तान· समुदायश्च पक्ति सेनादिवन्मृषा। सतानो नाम न कश्चिदेक. परमार्थसन् सभवति। किं तर्हि ! कार्यकारणभाव-प्रवृत्तक्षणपरम्पराप्रवाहरूप एवायम् ततो व्यतिरिक्तस्यानुपलभात्। तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय सकेतः कृतो बुद्धैः व्यवहारार्थसंतान. इति बोधत्रयी पृ० ३३४। न्यायकुमुदच० की टिप्पणी पृ० ६

अनेक व्यापी होता है वही तो सतान है। यदि यह कहा जाय कि संतान अनित्य है तो वह संतानो जैसा हो भेद विशिष्ट माना जायगा—फिर उसको लेकर जो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होना माना जाता है वह नहीं हो सकता इसलिये यही मानना चाहिये कि क्षण विनश्वर क्षणों में अनन्य शब्द का व्यवहार केवल काल्पनिक है। इस प्रकार बौद्धो की सतान के विषय मे मान्यता है। इसपर कारिकाकार का यह कहना है कि यदि संतान को सर्वथा काल्पनिक ही माना जावेगा तो पूर्वोत्तर क्षणो में कार्यकारण भावरूप सम्बन्ध के नियम का अभाव प्रसक्त होता है। अतः सकल संतानियों में सकर नाम का दोष आता है। वह इस प्रकार से जानना चाहिये--जिस[1] प्रकार हम जैनों के यहां एक अखण्ड आत्म द्रव्य रूप सन्तान की या पुद्गल द्रव्यरूप संतान की नियत अनादि अनंत पर्यायरूप संतानियों में धारा बहती रहती है उस प्रकार की धारा बौद्ध सिद्धान्त मे मानने मे नहीं आई है। यहां तो अपनी२ क्षण सततिरूप ही संतान है उससे स्वतंत्र वह नहीं है। जिस प्रकार मृत्तिका द्रव्य की उसकी समस्त स्थाश, कोश, कुशरत्न आदि पर्यायो में अन्वयरूप से धारा बहती चली आती है। आत्म द्रव्य की अपनी अनेक पर्यायों में उस प्रकार बौद्ध सिद्धान्त में पूर्वोत्तर क्षणों में उपादान कारण की धारा बहती हुई नहीं मानी गई है। क्योंकि क्षणिकवादी अनादि अनंतकालीन द्रव्य को मानते नहीं हैं। इस परिस्थिति में वह पर्याय रूप जो क्षण सन्तति है वह अमुक की है अमुक की नहीं है इस प्रकार के सम्बन्ध का नियम कैसे बन सकता है सुरेश की पर्यायें महेश की पर्यायें मानली जावेंगी और महेश की पर्यायें सुरेश की मानली जावेंगी--स्थास, कोश, कुशरत्न आदि पर्यायें तन्तु की मान ली जावेंगी और तन्तु की पर्यायें मृतिका की मानली जावेंगी—यह इसका कारण है यह इसका कार्य है। इस प्रकार अव्यभिचरित कार्यकारण सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकेगा। क्षेत्र प्रत्यासत्ति या काल प्रत्यासत्ति नियामक नहीं हो सकती है क्योंकि भिन्न २ सतानियों मे ये दोनों प्रकार की प्रत्यासत्तियां हैं। जैसे देवदत्त की आगे पीछे होने वाली पर्यायरूप सन्तानिए जिस स्थान में हैं उसी देश में यज्ञदत्त जिनदत्त की पर्यायरूप सन्तानिएं चल रही हैं एवं जिस समय में देवदत्त की सतातिरूप पर्यायें उत्पन्न हो रही हैं उसी समय जिनदत्त इन्द्रदत्त नरेशदत्त सुरेशदत्त आदि की पर्यायें

१ श्लोक वार्तिक के आधार से यह लिखा गया है।

परू सन्तानिएं चल रही हैं ।

अतः क्षेत्रकाल की प्रत्यासत्ति नियामक न होकर उल्टी इनमें संकरता लाती है । जिस प्रकार एक ही समय मे जौहरी की दुकान में आये हुए मोती चाहे जिस किसी भी माला में पिराये जा सकते हैं उसी प्रकार ये विवक्षित पर्याय रूप मोती एक द्रव्य प्रत्यासत्ति के अभाव में चाहे जिस अविवक्षित संतानी मे ढुलकाये जा सकते हैं । अतः ये इसी की पर्यायें हैं इसकी नहीं, यह सम्बन्ध का नियम नहीं बन सकता है । अत संतान अपनी सतानी रूपपर्याय से कथंचित् भिन्न है यह माने बिना कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध सिद्ध नही हो सकता । तथा इस संतान को यदि उपचरित माना जाय और उसके बल पर यह कहा जाय कि विवक्षित क्षणरूप सन्तति अमुक सतान की ही है अमुक की नहीं सो ऐसा भी नियम उपचरित संतान से नही वन सकता है । इसलिये सतान काल्पनिक नहीं है वास्तविक है ऐसा मानना चाहिये । इस मान्यता मे सर्वथा सांवृतत्त्व का उसमें अभाव आता है । दूसरे बात यह है कि जब संतान काल्पनिक मानी जायगी तो कल्पना भी तो विना मुख्यार्थ के नही होती है । संतान को लेकर ही तो प्रत्यभिज्ञानादिक कार्य प्रसूत होते हैं । वे सन्तान को काल्पनिक मानने में कैसे हो सकेंगे । माणवक में अग्नि का उपचार भी तभी तो होता हैं कि जब सत्यार्थ अग्नि है । तथा जिस प्रकार माणवक—बच्चे—में उपचरित अग्नि दाहपाकादिक कार्य में उपयुक्त नही होती है उसी प्रकार उपचरित सतान भी एकत्व आदि प्रत्यभिज्ञान को उत्पादक नहीं हो सकती है और न सन्तानियों में प्रति नियम का हेतु हो सकती है । अतः संतानियों में संकरदोष के परिहार निमित्त तथा एकत्व प्रत्यभिज्ञानादिक कार्योत्पत्ति के निमित्त संतान वास्तविक है ऐसा मानना चाहिये ।

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः ।
तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः संतानतद्वतोः ॥ ४५ ॥

अन्वय — सर्वान्तेषु चतुष्कोटेर्विकल्पस्य उक्त्ययोगतः तयोः संतानतद्वतोः तत्त्वान्यत्वं अवाच्यं (इति) चेत् —

अर्थ — समस्त धर्मों मे चतुष्कोटिरूप विकल्प के कहने का अयोग होने से उन संतान और सतानी के एकत्व और अनेकत्व धर्म अवाच्य हैं। यदि बौद्ध ऐसा कहते हैं तो—

भावार्थ——बौद्ध परपरा सतान नाम की कोई परमार्थभूत वस्तु है ऐसा नहीं मानती है। वह तो केवल उसे कल्पना का ही विषय अ गीकृत करती है। सतान मानने वालो के प्रति उसके ये चार विकल्प हैं संतान नाम का कोई यदि पदार्थ वास्तविक है तो वह कैसा है—क्या वह अपने संतानी से भिन्न है ? या अभिन्न है ? या उभयरूप है ? या अनुभयरूप है ? इस चतुष्कोटि विकल्प से उसकी वास्तविक स्थिति का पता नहीं पड़ता है। इस प्रकार संतान के अस्तित्व धर्म में ये चतुष्कोटि विकल्प उद्भूत होकर उसे आवच्यता के स्थान पर ला रखते हैं। संजयवेलट्ठिपुत्र का ऐसा यही अभिप्राय ज्ञात होता है। उसने भी आत्मा एव परलोक आदि परोक्ष तत्त्वों के ऊपर इसी प्रकार के प्रश्नोत्तर के रूप में चतुष्कोटि विकल्प उद्भूत करके उनका कोई निश्चयात्मक रूप से विवेचन नहीं किया है—राहुल सांकृत्यायन ने " दर्शन दिग्दर्शन " के पृ० ४९६ वें में लिखा है कि संजयवेलट्ठि पुत्र का यह मन्तव्य है——(१) है ! नहीं कह सकता। (२) नहीं है—(असत् है) —नहीं कह सकता। (३) है भी नही भी—नहीं कह सकता। (४) न है और न नहीं है·--नहीं कह सकता। ये चतुष्कोटि विकल्प है। इसी तरह यहां भी यही कहा जाता है कि समस्त वस्तुधर्म सत्रूप है या असत् रूप हैं या उभयरूप है या अनुभयरूप है ? इन चार विकल्पों द्वारा भी इन धर्मों का कोई निश्चित कथन सिद्ध नहीं होता है-क्योंकि यदि इन्हे सत्रूप ही माना जाय तो वस्तु से अभिन्न होने के वजह से वस्तु मे सर्वथा अस्तित्व ही रहेगा-अत त्रिकाल मे भी उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी और न उसका विनाश ही हो सकेगा। यदि वस्तु धर्म को सर्वथा असत् ही माना जाय तो इस पक्ष में शून्यता का प्रसग प्राप्त होगा। तथा च शून्यैकान्त की सिद्धि मानना पड़ेगी यदि वस्तुधर्म उभयरूप अंगीकार किया जाय तो इस परिस्थिति में " प्रत्येकपक्षे भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथ न सः " इस नीति के अनुसार उभयपक्ष प्रदत्त दोषों का अवतार यहां होगा। वस्तुधर्म को अनुभयरूप मानने पर किसी भी तरह का वहां विकल्प ही नहीं हो सकेगा। इसी तरह सत्त्व एकत्व आदि समस्त धर्म वस्तु से भिन्न है ? या अभिन्न है ? या

भिन्नभिन्न उभयरूप हैं ? या न भिन्न है न अभिन्न हैं-अनुभयरूप हैं ? यदि वस्तु के धर्मों को वस्तु से भिन्न मानने में आवे तो ये धर्म वस्तु के है इस प्रकार व्यपदेश ही नहीं हो सकता है। यदि उन्हें अभिन्न माना जाय तो ये इसके धर्म हैं और यह इन धर्मों का धर्मी है इस प्रकार की व्यवस्था नहीं बन सकती है। केवल वस्तुमात्र का या धर्ममात्र का ही सद्भाव सिद्ध हो सकेगा। उभय की मान्यता में उभय पक्ष के दोषों का अवतार होगा। तथा अनुभय पक्ष में वहां निरूपाख्यता आवेगी। इसलिये जो जो धर्म है वहां चतुष्कोटिरूप विकल्पों के कहने का अयोग है (योयो धर्मस्तत्रतत्र चतुष्कोटेविकल्पस्य वचनायोग) जिस प्रकार सत्त्व एकत्व आदि धर्मों मे इस चतुष्कोटी रूप विकल्प के कहने का अयोग है। सतान और सतानी में भी एकत्व और अनेकत्व ये धर्म हैं इसलिये वे भी, चतुष्टकोटि विकल्प वहां अकथनीय होने से कहे नहीं जा सकते हैं। अतः वे भी अवाच्य हैं। जब तत्त्व-एकत्व-और अन्यत्व की ये चतुष्कोटियां उनमें अवाच्य हैं तो इनको लेकर संतान और सतानी भी अवाच्य सिद्ध होते है।

मतलब इसका यह है कि बौद्ध कहते है कि प्रत्येक सत्त्व एकत्व आदि धर्म का विचार उनके चतुष्कोटिरूप विकल्पों से होता है। जैसे किसी वस्तु को एकत्व धर्म विशिष्ट या अनेकत्व विशिष्ट सिद्ध करना है तो इस पर चतुष्कोटि विकल्प इस प्रकार होगे--वस्तु का यह एकत्व धर्म सत् स्वरूप है या असत्स्वरूप है या उभय स्वरूप है या अनुभय स्वरूप है ? अथवा यह एकत्व धर्मवस्तु से भिन्न है या अभिन्न है या भिन्नाभिन्न--उभयरूप है ? इन चार विकल्पों का इस एकत्व धर्म की सत्ता स्वीकृति में कोई विवेचन नहीं हो सकता है। अतः यह एकत्वधर्म क्या है यह स्वयं अवाच्य कोटि में आ जाता है। जब यह एकत्वधर्म अवाच्य कोटि में आ गया तो इस एकत्व धर्म को लेकर जो विवक्षित पदार्थ का विवेचन करना होता है वह पदार्थ भी अवाच्य हो जाता है क्योकि जब धर्म अवाच्य है तो उसका धर्मी उसको लेकर वाच्य कैसे हो सकता है। यही वात प्रकृत संतान और संतानी के बारे में भी प्रकट की गई है। जब सतान और संतान के धर्म एकत्व और अनेकत्व चतुष्कोटि विकल्प की अकथनीयता में अवाच्य है तो इनको लेकर सतान और संतानी एक

अनेकरूप से वाच्य वैसे हो सकते १ हैं। अतः वे सर्वथा अवाच्य हैं उनके विषय मे कुछ कहा ही नहीं जा सकता है। इस प्रकार इस कारिका का यह बौद्धाभिमत अभिप्राय मुझे समझ मे आया है। तथा और भी कोई अभिप्राय हो तो विशेषज्ञविद्वान् जानें।

अवक्तव्य चतुष्कोटि विकल्पोऽपि न कथ्यताम्।
असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्य विशेषणम् ॥ ४६ ॥

अन्वय—अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्प अपि न कथ्यताम्। (एव सति) असर्वान्तं अविशेष्यविशेषण अवस्तु स्यात्।

अर्थ—अवक्तव्य मानने पर "चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है" ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार पदार्थ समस्त धर्मों से रहित होकर विशेषण विशेष्यभाव से भी रहित होता हुआ अवस्तु रूप ठहरता है।

भावार्थ-कारिकाकार इस कारिका द्वारा ४५ वी कारिका में कथित एकान्त बौद्धाभिप्राय का निराकरण करते हैं वे कहते हैं कि जब तुम्हारी यह एकान्तरूप से मान्यता है कि प्रत्येक धर्म को चतुष्कोटि का उसमें सर्वथा कथन करने का अयोग है (यो यो धर्मस्तत्र तत्र चतुष्कोटेर्विकल्पस्य वचनायोग अ० श०) अर्थात् चतुष्कोटिरूप विकल्प सर्वथा अवक्तव्य है तो ऐसी परिस्थिति मे "चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है" ऐसा वचन भी नहीं कहा जा सकता २। क्योंकि इस प्रकार से कहने पर उसमें सर्वथा अवक्तव्यता नही रहती है किन्तु वक्तव्यता आजाती है। जैसे कोई मौनी व्यक्ति भोजन करते हुए दूसरों को अपना मौनभाव समझाने के लिये ऐसा कहे कि मै भोजन में मौनव्रत रखता हूं। इस प्रकार सर्वथा-अवक्त-

---

१ सत्त्वैकत्त्वादिषु सर्वधर्मेषु सदसदुभयादि चतुष्कोटेरभिधातुमशक्यत्वात् सतानतद्वतोरपि भेदाभेदोभयानुभयचतुष्कोटे रनभिलाप्यत्वम् (अ० श०)

२न हि सर्वथाऽनभिलाप्यत्वेऽनभिलाप्यचतुष्कोटेऽभिधेयत्वयक्त कथचिदभिलाप्यत्व प्रसगात्। अष्टशती।

व्यता में जब " चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है " ऐसा वचन ही नहीं कहा जा सकता है तब दूसरों को यह बात समझाई भी कैसे जा सकेगी। अतः इस हालत में सर्वथा मौन रखना ही उपयुक्त होगा। " अपिचैवं सति सर्वविकल्पातीतं अवस्त्वेव स्यात् (अ० श०) जब परप्रत्यायन ही नही होगा तो वस्तु के स्वरूपादिक का बोध पर को कैसे हो सकेगा। अतः वह सर्वविकल्पो से अतीत होती हुई खरविषाण की तरह अवस्तुरूप ही हो जायगी। यद्यपि अवक्तव्य स्वरूप वस्तु का आर्हत दर्शन ने भी स्वीकार किया है। परन्तु वह उसमें एकान्तरूप से नहीं माना गया है, किसी अपेक्षा से ही माना गया है। इस प्रकार सर्वथा अवक्तव्य मानने पर वस्तु किसी भी प्रकार के विकल्प की विषय नहीं हो सकती है। विकल्पातीत होने पर " वह क्या है कैसी है " इत्यादिरूप से निर्णीति के अभाव में वहां खरविषाण की तरह अवस्तु स्वरूपता ही प्रसक्त होगी। इस अवस्तुरूपता की प्रसक्ति मे सर्व धर्मों से रहित होती हुई वह विशेषण विशेष्य भाव से भी रहित हो जायगी। विशेषण विशेष्य भाव से रहित वस्तु है इस प्रकार का प्रतिभासन प्रत्यक्ष में तो होता नहीं है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी विकल्पबुद्धि में विशेषण विशेष्य भाव से युक्त ही प्रतिभासित होता है। इससे रहित नहीं। अत सर्वथा असत् वस्तु विशेषण विशेष्य भाव से भी रहित होती है यह मानना ही चाहिये। वहां विशेषण विशेष्य भाव का प्रतिषोध नही किया जाता है। किन्तु वह तो स्वभावत ही उससे रहित होती है। जहां विशेषण विशेष्य भाव का प्रतिषेध किया जाता है। वहा अवस्तु रूपता नहीं है किन्तु वस्तुस्वरूपता है।

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः।
असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥ ४७ ॥

अन्वय—सतः संज्ञिनः द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः (क्रियते) असद्भेद भावस्तु विधिनिषेधयो स्थान न (भवति)

अर्थ—सत्ताविशिष्ट १ संज्ञी—पदार्थ—का ही द्रव्यान्तर आदि की अपेक्षा लेकर निषेध किया जाता है। असत्

---

१ द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरैः प्रयिषेधः संज्ञिन सत. क्रियते न पुनरसत तद्विधिप्रतिषेधाविषयत्वात् (अष्ट शती)।

पदार्थ का नहीं क्योंकि वह तो विधि और निषेध का स्थान ही नहीं होता है।

भावार्थ—कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह बात घोषित कर रहे हैं कि जो सर्वथा असत् होता है उसमें विशेषण विशेष्यत्व के प्रतिषेध का अयोग है। विशेषण विशेष्य भाव का प्रतिषेध तो सत्ताविशिष्ट पदार्थ के ही होता है। प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव की अपेक्षा से ही सत् माना गया हैं परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एव परभाव की अपेक्षा से नहीं। उसकी अपेक्षा से वह असत्माना जाता है। इसलिये स्वद्रव्यादिरूप विशेषण की अपेक्षा से सत्ता विशिष्ट विशेष्य--पदार्थ--ही पर द्रव्यादिरूप विशेषणों द्वारा प्रतिषेध का विषय होता है। जो सर्वथा असत् स्वरूप है उसकी न विधि होती है और न प्रतिषेध ही होता है। विधि एव प्रतिषेध सत्पदार्थ में हुआ करते हैं। विधिपूर्वक ही प्रतिपेध होता है। पर द्रव्यादिक की अपेक्षा से जिस प्रकार पदार्थ का प्रतिषेध किया जाता है उसी प्रकार यदि स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा से भी असत्व पदार्थ मे माना जायगा तो पदार्थ की विधि ही नहीं हो सकती। जब विधि नहीं है तो फिर निषेध कैसा। इसलिये जिस की स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा विधि है उसी का परद्रव्यादिक की अपेक्षा निषेध होता है। जब यह निश्चित सिद्धान्त है तो न कोई सर्वथा अनभिलाप्य है और न कोई सर्वथा विशेषण विशेष्यभाव से रहित है। जो किसी अपेक्षा अभिलाप्य है वही किसी दूसरी अपेक्षा उसके प्रतिषेध से अनभिलाप्य हो जाता है। जो स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा से विशेषण विशेष्यात्मक है वही परद्रव्यादिक की अपेक्षा से विशेषण विशेष्यात्मक है वही परद्रव्यादिक की अपेक्षा से अविशेष्य विशेषणात्मक है। इसलिये जब समस्त सत्ता विशिष्ट पदार्थ कथचित् अभिलाप्य और कथंचित् विशेष्य विशेअण सहित हैं, तब एकान्त से न कोई अनभिलाप्य है और न कोई विशेषण विशेष्यभाव से रहित ही है। इस पर यों नहीं कहा जा सकता कि जो अभिलाप्य है वह अनभिलाप्य कैसा और जो विशेषण विशेष्य भाव से सहित है वह उससे रहित कैसा (न चैतद्विरुद्धं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् (अ० श०) " क्योंकि ऐसा कहना तो विरुद्ध है। कारण कि जिस तरह स्वलक्षण अपने असाधारण स्वरूप की अपेक्षा अनिर्देश्य होकर भी " अनिर्देश्य इस शब्द के द्वारा अनिर्देश्य नहीं माना गया है इसके द्वारा तो वह निर्देश्य हो जाता है, नहीं तो वह स्वरूप की तरह यदि वचन से भी

अनिर्देश्य माना जाय तो " स्वलक्षणमनिर्देश्यं " इस प्रकार का उसमें शाब्दिक व्यापार ही नहीं हो सकता । उसी तरह " प्रत्यक्ष को स्वरूप की अपेक्षा से कल्पना से रहित होने पर भी कल्पना पोढ इस कल्पना की अपेक्षा उसे कल्पना से रहित नहीं माना गया है अन्यथा " प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् " इस प्रकार की वहां कल्पना नहीं हो सकती है । उसी तरह जो किसी अपेक्षा अभिलाप्य एवं विशेषण विशेष्यभाव वाला है वही किसी दूसरी अपेक्षा से अनभिलाप्य एव अविशेषण विशेष्य भाववाला हो जाता है । इसमें विरोध होने जैसी बात ही क्या है । भाव वाची शब्दों द्वारा अथवा अभाववाची शब्दों द्वारा एकान्ततः भाव और एकान्ततः अभाव ही कहा जाता है ऐसा एकान्त नियम नहीं बन सकता—अन्यथा शाब्द व्यवहार का विरोध हो जायगा । इसीलिये प्रत्येक भावाभावात्मक शब्द प्रधानगुण भाव से स्व अर्थ के अभिधायक माने गये हैं और इसी रूप से ही प्रवृत्ति निवृत्ति मे अविसवाद की सिद्धि होती है । इसलिये यह मानना चाहिये कि कथंचित् सद्विशेषात्मक पदार्थ ही विधि और निषेध का अधिकरण होता है । सर्वथा असत् पदार्थ नहीं । इसलिये आचार्य महाराज कारिकाकार का यह "असर्वान्तमवस्तु स्याददिशेष्य विशेपणम्" कथन सर्वथा समीचीन है । क्योकि समस्तधर्मों से रहित पदार्थ सर्वथा अवस्तुरूप है ।

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात् सर्वान्तैः परिवर्जितम् ।
वस्त्वेवा वस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

अन्वय—सर्वान्तैः परिवर्जितं अवस्तु अनभिलाप्यं स्यात् । प्रक्रियायाः विपर्ययात् वस्तु एव अवस्तुतां याति ।

अर्थ—समस्त धर्मों से जो रहित है वह अवस्तु है और वही आनभिलाप्य है । प्रक्रिया के विपर्यय से वस्तु ही अवस्तु रूपता को प्राप्त हो जाती है ।

भावार्थ—जो समस्त धर्मों से रहित होता है वह धर्मिस्वभाव नहीं हो सकता है इसलिये वह अवस्तु रूप ही माना जाता है । क्योकि ऐसा पदार्थ किसी भी प्रमाण का विपय नहीं होता है । इसीलिये वह अनभिलाप्य है जो प्रमाण

आ० मी० ३१५

से परिनिष्ठित होता है वह सर्वथा अनभिलाप्य नहीं होता है यदि बौद्ध यहां पर ऐसा कहें कि " स्याद्वादियों ने तो कोई ऐसी वस्तु मानी ही नहीं है जो समस्त धर्मों से रहित होकर अवस्तु स्वरूप हो और फिर वह अवक्तव्य हो अतः ऐसा कहना कि " सर्वान्तों--समस्त धर्मों--से परिवर्जित तत्व अवस्तु है और वह अनभिलाप्य है ठीक नहीं है " इसके समाधान निमित्त टीकाकार कहते हैं कि " तदपि सर्वान्तैः परिवर्जितमवस्तु परपरिकल्पनामात्रादभिधीयते (अ० स०) हम जो ऐसा कहते हैं वह अपनी तरफ से नहीं कहते हैं किन्तु दूसरों की कही हुई बात को लेकर कहते हैं। हमने तो अवस्तु मानकर भी उसे सर्वधर्मों से परिवर्जित नही माना है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र स्वकाल एवं स्वभाव की अपेक्षा जो तत्त्व वस्तु स्वरूप है वही परद्रव्य परक्षेत्र परकाल एव परभाव की अपेक्षा अवस्तु स्वरूप हो जाता है। इसी का नाम प्रक्रिया की विपरीतता है। समस्त धर्मों से परिवर्जित वस्तु अवस्तु हो जाती है ऐसा कथन तो हमनें पर वादियों की मान्यता को लेकर किया है। क्योकि जब समस्त धर्मों से रहित वस्तु मानी जायगी तो वह सकल विकल्पातीत होने से अभिलाप्य नहीं हो सकती है ऐसा परवादियों का कहना है उसी को लेकर यह बात यहां कही गई है "न पुनः प्रमाण-सामर्थ्यात् " (अ० स०) प्रमाण की सामर्थ्य से नहीं। प्रमाण की सामर्थ्य से तो जो वस्तु होती है वह अवस्तु हो जाती है और जो अवस्तु होती है वह वस्तु हो जाती है। वस्तु १ अवस्तु हो जाती है इसका मतलब यह है कि जैसे स्वरूपतः स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा से--अस्तित्वविशिष्ट घट अन्य दूसरे घट की अपेक्षा अघट मानलिया जाता है उसी तरह स्वरूपत- सिद्ध सत् असत् आदि अनेक धर्मविशिष्ट विवक्षित वस्तु भी अन्य किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से अवस्तु स्वरूप कह दी जाती है इस प्रकार द्रव्य क्षेत्रादिक की अपेक्षा प्रक्रिया के विपर्यय से वस्तु को ही अवस्तु मान लिया गया है। शून्य स्वरूप को नहीं। इसी तरह पररूपादिक की अपेक्षा जिसे अवस्तु कह दिया जाता है वही स्वरूपादिक की अपेक्षा वस्तु हो जाता है।

बौद्ध यदि इस पर यों आक्षेप करें कि वाह ! आपने अवस्तु को साबित करने के लिये यह मार्ग खूब निकाला

---

१ "भावाभिधानैरपि कथंचिदभावाभिधानात्"—अष्टशती। पाना १९७ वें

कि जो किसी अपेक्षा वस्तु है वही अन्य दूसरी अपेक्षा अवस्तु हो जाता है भला जब वस्तु और अवस्तु परस्पर परिहार स्थिति लक्षण विरोध वाले हैं तो जो वस्तु स्वरूप होगा वही अवस्तु स्वरूप कैसे तथा जो अवस्तु स्वरूप होगा वह वस्तु स्वरूप कैसे हो सकता है सो इस प्रकार का आक्षेप भी ठीक नहीं है कारण कि एक वाक्यता को प्राप्त हुए अभाववाची शब्दों के द्वारा भी भाव–पदार्थ–का कथन किया जाता है। जैसे किसी ने कहा कि " अब्राह्मणं आनय " अब्राह्मण को लाओं इस वाक्य में ब्राह्मण पदार्थ के अभाव को कहने वाला अब्राह्मण शब्द अपने अर्थ से भिन्न जो क्षत्रियादिक भावात्मक पदार्थ हैं उनका वाचक होता है उसी प्रकार अवस्तु यह शब्द भी वस्तु के अभाव का कथन करने वाला है फिर भी अपने से भिन्नभाव स्वरूप अन्यवस्तु का वाचक होता है। जैन सिद्धान्त में अभाव को तुच्छाभावस्वरूप नहीं माना गया है किन्तु भावान्तर स्वरूप माना है। इसलिये कारिकाकार का यह कथन कि जो सर्व धर्मों से रहित होता है वह अवस्तु है एवं जो " अवस्तु तदनभिलाप्यं यथान किञ्चित् यत्पुतरभिलाप्य तद्वस्त्वेव यथा खपुष्पाभावः " (अ० श०) अवस्तु है वह सकल विकल्पातीत होने से अनभिलाप्य है। जैसे शून्य। तथा जो अभिलाप्य होता है वह वस्तु स्वरूप ही है जैसे खपुष्पाभाव। आकाश में पुष्प का अभाव स्वयं आकाश स्वरूप होने से खपुष्पाभाव यह उदाहरण साध्य[१] विकल नहीं है। क्योंकि लोक मे यह सुप्रतीत है कि किसी की केवलता अन्य की विकलता है। इस नियम के अनुसार आकाश की केवलता ही पुष्पाभाव–पुष्प की विकलता स्वरूप है। अत खपुष्पाभाव यह दृष्टान्त साध्य विकल कैसे हो सकता हैं। पदार्थ में भावात्मकता और अभावात्मकता रूप उभय स्वरूपता स्वभाव और परभाव से युगपत् स्थितरही हुई है। पदार्थ न तो केवल भावात्मक ही है और न केवल अभावात्मक ही। यदि केवल पदार्थ में भावात्मकता ही मानी जायगी तो पररूप–अन्य अविवक्षित पदार्थ की अपेक्षा भी उसमें भावात्मकता का प्रसग मानना पड़ेगा तथा च एक ही पदार्थ सर्वात्मक हो जायगा। यदि उसमें पररूप की अपेक्षा केवल अभावात्मकता ही मानी जायेगी तो स्वरूप की अपेक्षा भी उसमें अभावात्मकता मानने का प्रसंग उपस्थित होगा–परन्तु ऐसा होता नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अपना

---

१ अनुमान प्रयोग इसप्रकार है स्याद्वाद्यभ्युपगतोऽभावः वस्तु अभिलाप्यत्वात् खपुष्पाभाव. (अ० स० टि)

अस्तित्व ही पररूपका अभावस्वरूप है अथवा पररूप से अभाव ही स्वात्मना अस्तित्वस्वरूप है क्योंकि अपेक्षणीय निमित्तकी अपेक्षा भाव और अभाव में भेद माना गया है। समस्त पदार्थ स्वद्रव्यादिकरूप निमित्त की अपेक्षा करके भावप्रत्यय के तथा परद्रव्यादिकरूप निमित्त की अपेक्षा करके अभाव प्रत्यय के जनक होते हैं। अत एक ही वस्तु में भाव और अभाव का भेद अवस्थित माना जाता है इसलिये स्वरूप से भाव ही पररूप की अपेक्षा आभाव तथा पररूप की अपेक्षा अभाव ही स्वरूप से भाव है ऐसा कहना उचित नहीं है। क्योंकि जव भाव और अभाव के निमित्त भिन्न२ हैं तो पदार्थ गत भाव और अभाव धर्म भी भिन्न२ हैं।

आ० मी० ३१७

अत· पदार्थ स्वभाव--स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा भावस्वरूप--अस्तित्व विशिष्ट एवं परद्रव्यादिक की अपेक्षा अभाव स्वरूप है जब यह व्यवस्था है तो जो वस्तु है वही प्रक्रिया की विपरीतता से अवस्तुस्वरूप मानी जाती है। एतावता वह सब धर्मों से रहित नहीं हो सकती। जो सब धर्मों से रहित होगी वह अवस्तु है और अवक्तव्य है। इस प्रकार यह कारिकोक्त अर्थ है।

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः।
संवृतिश्चेत्मृषैवैषा परमार्थ विपर्ययात ॥४९॥

अन्वय—(परेषां) चेत् सर्वान्ता अवक्तव्या तेषां पुनः वचनं किम् चेत् सवृतिः परमार्थ विपर्ययात् एषा मृषा एव (अभ्युपगन्तव्या)।

अर्थ—क्षणिकैकान्त बौद्धों को मान्यता अनुसार यदि समस्त धर्म सर्वथा अवक्तव्य हैं ऐसा स्वीकार किया जाय तो ऐसी स्थिति में उनका धर्म देशनारूप वचन तथा परार्थानुमानरूप साधनदूषण वचन कहना निरर्थक हो जाता है। यदि कहा जाय कि धर्म देशनारूप अथवा परार्थानुमानरूप वचन संवृतिस्वरूप है तो यह सवृति परमार्थ से विपरीत होने के कारण झूठी ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिये।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार बौद्धमत की मान्यता का ही विचार कर रहे हैं जैसा कि उन्होंने ४५ वीं कारिका द्वारा यह कहा था कि प्रत्येक धर्म का उनकी चतुष्कोटियों द्वारा विचार नहीं हो सकता अतः वे सर्वथा अवक्तव्य हैं । इसी के ऊपर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि जब धर्म सर्वथा अवक्तव्य -सकलवागगोचराति-क्रान्त-हैं तो फिर उन धर्मों का कथन करना तथा उनके द्वारा स्वपक्षका साधन करना या परपक्ष का दूषण करना यह बात कैसे हो सकती है क्षणिक सिद्धिके लिये जो 'सत्त्वात्' इत्यादिरूप से तर्कका प्रदर्शन किया जाता है कि और यह कहा जाता है कि "सर्वथा नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्" कि सर्वथा नित्य पदार्थ में क्रम से अथवा यौगपद्य रूप से अर्थक्रिया-कारिता नहीं आती है सो यह सब कथन स्ववचन बाधित होता है । कारण कि जब धर्म सर्वथा अवक्तव्य हैं तो इस प्रकार से उनका कथन नहीं हो सकता है । अतः इस हालत में तो यही श्रेयस्कर है कि मौन ही रक्खा जाय कुछ भी न कहा जाय । यदि इस पर यों कहा जाय कि यह कहना तुम्हारा इसलिये उचित नहीं है कि इस हालत में फिर दूसरों को समझाना नहीं बनता है । अतः पर प्रत्यायन के लिये ऐसा करना ही पड़ता है जैसे कोई मौनी ऐसा कहे कि मेरे मौन है यद्यपि उसका ऐसा कहना मौन से विरुद्ध पड़ता है फिर भी पर प्रत्यायन के लिये ऐसा कहना ही पड़ता है । इसी प्रकार धर्मों की सर्वथा अवक्तव्यता में भी पर प्रत्यायन अथवा स्वपर पक्ष का साधन दूषण रूप कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता इसलिये उसको सम्पन्नता निमित्त उनका प्रयोग रूप वचन करना ही पड़ता है इसी का नाम उपचार संवृति-है । अतः इस संवृति द्वारा अवक्तव्य भी धर्म वचन द्वारा वक्तव्य हो जाते हैं । सो इस पर कारिकाकार का उनसे यह कहना है कि यह संवृतिरूप उपचार परमार्थ से विपरीत होने के कारण मृषा स्वभाव ही माना जाता है । कल्पना -संवृति-उपचार वहीं किया जाता है जहां वास्तविकता नहीं होती । अतः जब धर्मों में सर्वथा अवक्तव्यता ही है तो उनमें कल्पना से-संवृति से-वक्तव्यता नहीं आ सकती है । ऐसी स्थिति में कहे जाने पर भी वे अनुक्तसम होने से उनसे न तो पर प्रत्यायन हो सकेगा और न स्वपर का साधन दूषण ही । अतः मौन ही ऐसी स्थिति में श्रेयस्कर

माना जायगा। कुछ भी नही बोलना चाहिये। इसलिये धर्म सर्वथा अवक्तव्य ही है ऐसा दुरभिनिवेश युक्तियुक्त [1] नहीं हैं।

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात् किमबोधतः।
आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्योजनोच्यतां स्फुटं॥ ५० ॥

अन्वय-किं अशक्यत्वात् अवाच्यं (आहोस्वित्) अभावात् किं अबोधत। आद्यन्तोक्तिद्वय न स्यात् व्याजेन किं स्फुटं उच्यताम्।

अर्थ--"पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य है" ऐसा जो कहा जाता है सो क्यों? क्या वक्ता में उसके प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं है इसलिये, या उसका अभाव है इसलिये, अथवा उसका ज्ञान नहीं है इसलिये। इन तीन विकल्पों में से आदि और अन्त के पक्ष तो बनते नही हैं। इसलिये छल से काम चलने का नहीं यह स्पष्ट रूप से कहो कि पदार्थ का अभाव है। इसलिये वह अवक्तव्य है।

भावार्थ--अवक्तव्यवादी बौद्ध से कारिकाकार यह पूछ रहे है कि जो तुम सर्वथा एकान्त अवक्तव्य पक्ष मानते हो उसका कारण क्या? क्या वक्ता में पदार्थ प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं इसलिये। सो यह बात तो मानी नहीं जा सकती कारण कि सुगत में क्षमा, मैत्री, ध्यान, दान, वीर्य, शील, प्रज्ञा, करुणा, उपाय, एवं प्रमोद, ये दश बल माने गये हैं। अतः अशक्ति की बात तो वहां सभवित होती नही है। यदि कहा जाय कि पदार्थों का उन्हे अबोध है-अज्ञान है-सो यह बात भी नहीं बनती है। क्योकि बुद्ध सर्वज्ञ हैं ऐसी मान्यता उनके अनुयायियों की है। इसलिये इन दो पक्षों की अपेक्षा तो पदार्थों में अवक्तव्यता घटित होती नहीं है। रहा अब बीच का तीसरा पक्ष सो यदि उसको लेकर ऐसा कहा जाय कि "अर्थस्याभावादेवा वाच्यत्वं" पदार्थ के अभाव से ही वहां अवाच्यता है तो ऐसो कथन

---

१ सवृत्ति का क्या अर्थ है इस बात का विचार टीकाकार ने किया है। अतः यह विषय वहा से देख लेना चाहिये।

"नैरात्म्यान्न विशेष्येत" नैरात्म्यवाद से भिन्न नहीं पड़ता है-इस कथन से नैरात्म्यवाद की ही पुष्टि होती है। चाहे तो ऐसा कहा जाय कि पदार्थ के अभाव से वह अवाच्य है और चाहे ऐसा कह दिया जाय कि शून्य होने से पदार्थ अवाच्य है। इस प्रकार अवक्तव्य पक्ष और शून्य पक्ष में कोई भेद नही रह जाता है। यदि शून्यता प्रसक्ति दोष को वारण करने के अभिप्राय से बौद्ध ऐसा कहे कि "अशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थरूपमिति (अ० श०)" कि पदार्थ का स्वरूप ऐसा
आ० है कि उसमें सकेत नहीं हो सकता है इसलिये वह अनभिलाप्य शब्द का विषय होता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कारण कि किसी अपेक्षा वहां संकेत होता है। अर्थ रूप दृश्य और विकल्प्य के भेद से बौद्ध सिद्धान्त में दो प्रकार का
मी० माना गया है निर्विकल्पक ज्ञान के विषयभूत स्वलक्षण को दृश्य-विशेष्यरूप एवं विकल्प के विषयभूत सामान्य को
३२० को विकल्प्य रूप बौद्धो ने माना है। इनमें क्षण क्षण रूप जो स्वलक्षण अर्थ है उसमें यद्यपि सकेत शक्य नहीं है। तो भी सामान्य रूप की अपेक्षा पदार्थ मे सकेत किया जा सकता है।

जिस प्रकार पदार्थ का रूप विशेष है उसी प्रकार सामान्य भी है। वस्तु का स्वरूप ही सामान्य विशेषात्मक है। वस्तु न केवल सामान्यात्मक है और न केवल विशेषात्मक, किन्तु कथंचित् उभयात्मक जात्यन्तर रूप है। इसलिये किसी अपेक्षा पदार्थ रूप मे सकेत शक्य होने से वहां सर्वथा अवक्तव्यता नहीं मानी जा सकती। यदि इस पर बौद्ध यों कहें कि शब्द का विषयभूत जो सकेतित अर्थ है वह क्षणिक होने से व्यवहार काल तक तो रह नहीं सकता है अतः उस समय उस अर्थ को कहने वाले शब्द में संकेतित काल के अर्थ की वाचकता कैसे मानी जा सकती है क्योंकि जिस समय जिस पदार्थ मे सकेत किया था वह पदार्थ तो एक क्षण बाद विनष्ट हो चुका और जो पदार्थ शब्द द्वारा कहा जा रहा है वह ऐसा है कि जिसमें सकेत किया नहीं गया है सो बौद्ध द्वारा इस प्रकार की भिन्नकालता का प्रदर्शन प्रत्यक्ष के विषय में भी समान माना जा सकता है। यदि इस पर यो कहा जाय कि प्रत्यक्ष और पदार्थ में भिन्नकालता होनेपर भी प्रत्यक्ष मे कोई विवाद नहीं आता है क्योकि प्रत्यक्ष से पदार्थ को जानकर उस ज्ञान अर्थ में प्रवृत्ति करने वाला प्रतिपत्ता जब उस अर्थ की ओर प्रवृत्ति करता है तो उस समय उसे वहां ज्ञान पदार्थ से भिन्न पदार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती

है अतः इस अविपरीत प्रतिपत्ति से वह प्रत्यक्ष में प्रमाणता जान लेता है तो इसी प्रकार प्रतिपत्ता शब्द से अर्थ को जान कर उसमें प्रवर्तमान होता हुआ अविपरीत प्रतिपत्ति वाला होने से यह जान लेता है कि शब्द अपने अर्थ को यथार्थ रूप में कहता है। भिन्न अर्थ—असंकेतित अर्थ—को नहीं। यदि किसी २ विकल्प बोध से कभी २ विपरीत भी प्रतिपत्ति हो जाती है तो इसका मतलब यह नहीं होता कि यावन्मात्र विकल्प से विपरीत प्रतिपत्ति ही होती है। किसी २ प्रत्यक्ष से भी कभी २ विपरीत प्रतिपत्ति हो जाती है तो क्या इससे समस्त प्रत्यक्षों को दूषित ठहराया जा सकता है। अतः शब्द जब अर्थ का प्रतिपादक है तो फिर उसे अवाच्य मानना न्याय संगत नहीं है। यदि फिर भी सर्वथा अवाच्य पदार्थ माना जाता है तो इसका मतलब भी यही होता है कि नैरात्म्यवाद में और इस अवक्तव्यवाद में कोई भी अन्तर नहीं रहता है। यही बात कारिका द्वारा प्रदर्शित की गई है।

हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत् ।
बद्धयते तद्द्वयापेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥ ५१ ॥

अन्वय—अभिसंधिमत् चित्तं न हिनस्ति अनभिसंधिमत् हिनस्ति। तद्द्वयापेतं वध्यते, बद्धं न मुच्यते।

अर्थ—जिस चित्त ने दूसरों को मारने का अभिप्राय किया है वह तो क्षणिक होने के कारण उन्हें मारता नहीं है। जिसने मारने का अभिप्राय नहीं किया वह मारता है। इन दोनों से भिन्न तीसरा ही चित्त बंधता है और जो बंधा है वह बध से छूटता नहीं है कोई और ही चित्त छूटता है। इस प्रकार यह कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषों की दुर्निवार प्रसक्ति इस निरन्वय क्षणिक एकान्त पक्ष में बनती[1] है।

---

१ कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगौ स्यातामसञ्चेतितकर्म च स्यात् ।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥ —युक्त्यनु शा० १४।
कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥ —स्याद्वाद मंजरी १८।

भावार्थ-कारिकाकार निरन्वय क्षणिक एकांत पक्ष का ही विचार करते चले आ रहे हैं । वे कहते हैं कि जब क्षणिक एकान्तपक्ष की मान्यता मे पदार्थ का समूल विध्वस हो जाता है तो यह स्वाभाविक बात है कि जिस चित्तने जिस क्षण में किसी दूसरे को मारने का सकल्प किया वह चित्त सकल्प करने के साथ ही उसी क्षणमें मूलतः विनष्ट हो गया अब उत्तरक्षण में जो द्वितीय चित्त हुआ है उसने पहिले मारने का संकल्प तो किया नहीं है अत विना संकल्प के ही उसने दूसरे को मारा है । यदि इस पर बौद्ध यों कहें कि पूर्वचित्त और उत्तरचित्त में वास्यवासक भाव माना गया है इसलिये पूर्वचित्त उत्तरचित्त की वासना माना गया है इससे पूर्वचित्त की वासना उत्तरचित्त में चली जाती है अथवा पूर्वचित्त की संतान उत्तरचित्त माना जाता है, इस अपेक्षा कृतनाश और अकृत अभ्यागम जैसे दोषों का संभव यहां नहीं हो सकता है । सो ऐसा बौद्धों का कथन ठीक नहीं माना जा सकता है । कारण कि निरन्वयविनाश पक्ष में न तो परमार्थत संतान की सिद्धि होती है और न वासना का ही सद्भाव साबित होता है ।

यदि इनकी सिद्धि या सद्भाव माननेमे आजावे तो फिर एकान्त क्षणिकपक्ष का आग्रह नहीं ठहरताहै । अतः यह मानना ही पडेगा कि जिसने मारने का विचार किया वह तो नष्ट हो गया इसी का नाम कृतप्रणाश है एवं जिसने उसे मारने का सकल्प ही नहीं किया इसका नाम अकृत अभ्यागम है । इस प्रकार कृतप्रणाश और अकृत अभ्यागम ये दोष इस क्षणिक एकान्त पक्ष से उद्धरित नहीं हो सकते । इसी तरह जिसने -तृतीयचित्त ने-न मारने का संकल्प किया और न न मारने का संकल्प किया है-इन दोनों चित्तों से जो सर्वथा जुदा है-उस विचारे को हिंसा जन्य पापका बधक मानना पडेगा, क्योंकि मारने वाला और न मारने वाला -केवल संकल्प करने वाला-ये दोनों ही क्षण २ मे विनष्ट हो चुके हैं तृतीय क्षण में जो तृतीयचित्त हुआ है हिंसा का बध उसे होगा । अब जिसने हिंसाजन्य पाप का बध किया है वह चित्त भी क्षण में विनष्ट हो गया अब चतुर्थक्षण मे जो चतुर्थचित्त उत्पन्न हुआ हैं उसके उस पाप की निर्विमुक्ति होगी इस प्रकार "इति कर्तव्यतासु चिकीर्षोर्विनाशात् कर्तुरचिकीर्षत्वात् तदुभयविनिर्मुक्तस्य बन्धात्तद्-विनिर्मुक्तेश्च यमनियमादेरविधेयत्वं, कुर्वतो वा यत्किचनकारित्वं प्रत्येतव्यं अ० श०" हिंसा करने का परिणाम जिसने किया है वह विनष्ट हो गया जिसने नहीं किया उसने हिंसा करी, इन दोनों से भिन्न के बध हुआ और छूटा और

ही चौथा चित्त । इस प्रकार कृतनाश अकृताभ्यागम रूप दोषों की प्रसक्ति का वारण कथमपि नहीं हो सकता १ है। अनेकान्तवादियो के ऊपर ये दोष लागू इसलिये नहीं होते है कि यद्यपि अनेकान्तवाद में भी प्रतिक्षण वस्तु का स्वभाव परिवर्तनशील माना गया है परन्तु मूलतः द्रव्य का विनाश नहीं माना है। पर्यायो में प्रतिक्षण उत्पाद एव व्यय होने पर भी द्रव्य का ध्रौव्य रूप अंगीकार किया है। इसलिये चाहे जितने भी उत्पाद व्यय होते रहें सब में द्रव्य का अन्वय

आ० बना रहता है । इस अपेक्षा जो हिंसा की अभिसंधिवाला होगा उसी के हिंसा कर्म करने से हिंसा जन्य पाप का बंध

मी० होगा और कालान्तर में वही उस वध से मुक्त होगा।

३२३ बौद्ध--जिस प्रकार अनेकान्तवाद में एक द्रव्य का अन्वय उसकी उत्तरोत्तर पर्यायों में मानकर इन दोषों का अभाव दिखलाया जाता है उसी प्रकार हम क्षणिकवादियों के मत में भी एक संतान नाम की वस्तु मानी गई है इसकी वजह से पूर्व पूर्व की वासना से उपहित उत्तरोत्तर चित्तविशेष की उत्पत्ति होती रहती है इसलिये यहां भी कैसे इन दोषों का प्रसंग प्राप्त हो सकता है।

जैन--ऐसा कहना बौद्धों का उचित नहीं है। कारण कि बौद्ध सिद्धान्त में संतान मानकर भी उसे वास्तविक नहीं माना गया है। सतान की अवास्तविकता मे वास्यवासक भाव भी पूर्वोत्तर क्षणों में नहीं सभवित होता है। पूर्वोत्तरचित्त क्षणों में वास्यवासक भाव को अथवा सतान को नियमित करने के लिये जो वहां व्यभिचार विनिर्मुक्त

---

१ कृतनाश और अकृताभ्यागम इन दोनो जगह में 'कर्म' पद लगा देने की सूचना स्याद्वादमजरीकार ने दी है-वह पाठ इस प्रकार है -येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठान असदनुष्ठान वा कृत तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः, यस्य च फलोपभोगः तेन तत्कर्म न कृतम् इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य अकृतकर्मभोग· स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः फलोपभोगादिति अत्र कर्म शब्द उभयत्रापि योज्यः तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः बन्धानुलोम्याच्चेत्थमुपन्यास. ।

स्याद्वाद मंजरी पृ० २४१ गा० १८ वीं ।

कार्यकारणभाव बौद्धों ने माना है वह भी नहीं बनता [1] है। कारण कि इस प्रकार का कार्य कारण भाव तो सुगत और अन्य साधारण संसारी जनो के ज्ञान क्षणों में भी विद्यमान रहता है। क्योंकि बौद्धों का मन्तव्य है कि जो ज्ञान का कारण होता है वही ज्ञान से जाना जाता है। बुद्धदेव सबको जानने वाले हैं। बुद्ध के ज्ञान में साधारण संसारी जीवों की अनेकज्ञान सतानिएं भी विषय हो रही हैं। अतः बुद्ध ज्ञान की साधारण ससारी जीवों की ज्ञानसंतति भी कारण हुई। जैसे बुद्ध देव के पूर्व काल में होने वाले अपने परिणाम कारण हैं वैसे ही साधारण संसारी जीवों के ज्ञान परिणाम भी बुद्धज्ञान में कारण हैं। इस प्रकार अव्यभिचार रूप से यहां कार्य-कारण भाव बन जाता है इसलिये सुगत और संसारी जीवों के ज्ञानक्षणों में भी वास्य वासक भाव या एक संतानता माननी पडेगी।

इसी प्रकार निरन्वय क्षणिक विनाश पक्ष में बंध का जो कर्ता होगा वही उससे छूटेगा ऐसा भी नियम नही बन सकता है। बंधेगा और छूटेगा और। इस प्रकार भिन्नकर्तृकता आने से बंध और मोक्ष की कुछ व्यवस्था ही नही बन सकेगी। अतः यह मान्यता ही उचित है कि जो हिंसा का परिणाम करता है वही उसे मारता है और वही हिंसाजन्य पाप का बंध करता है। एवं वही उस पाप से छूटता है। ऐसी व्यवस्था मानने से वस्तु सर्वथा क्षणविनश्वर है यह एकान्तपक्ष साबित नही होता है। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु ध्रौव्य रूप एवं पर्याय की अपेक्षा वस्तु क्षण विनश्वर रूप है यह मान्यता ही सर्वथा निर्दोष एवं उपादेय है।-

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः।
चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टांगहेतुकः॥ ५२॥

१-'व्यभिचारविनिर्मुक्त कार्यकारणभावत।
पूर्वोत्तरक्षणानां हि सतानानियमो मत.॥,
स च बुद्धेतरज्ञानक्षणानामपि विद्यते।
नान्यथा सुगतस्य स्यात् सर्वज्ञत्वं कथचन॥ श्लोक वार्तिक २६०।

अन्वय—नाशस्य अहेतुकत्वात् हिंसाहेतु हिंसक न (स्यात्) चित्तसततिनाशः मोक्षश्च अष्टांगहेतुकः न (स्यात्)।

अर्थ—नाश अहेतुक होने से हिंसा के हेतु को हिंसक नहीं मानना चाहिये। तथा चित्त संतति निरोधरूप जो मोक्ष है उसे भी अष्टांग हेतुक नहीं स्वीकार करना चाहिये।

भावार्थ—बौद्धों की ऐसी मान्यता है कि पदार्थ का विनाश किसी दूसरे विरोधी कारण से नहीं होता है किन्तु स्वत. होता [1] है। यह विषय सक्षेप से पीछे स्पष्ट किया गया है। अतः पुनः उसे यहां लिखना उचित नहीं समझा। इस प्रकार की बौद्धों की मान्यता को हृदयगम कर कारिकाकार उनसे यह कह रहे हैं कि जब नाश का कोई कारण ही नहीं है–नाश अपने आप होता रहता है तो ऐसी स्थिति में कोई भी हत्यारा नहीं माना जाना चाहिये। जिसके विनाश करने से "यह हिंसक है" इस प्रकार का जो व्यपदेश होता है वह निरर्थक है, क्योंकि उसके द्वारा तो वह विनष्ट किया नहीं गया है उसका विनाश तो स्वयमेव हो गया है। इसी तरह चित्तसंतति का उत्पादरूप जो ससार उस संसार से सर्वथा भिन्न जो चित्तसंतति का निरोधरूप मोक्ष है कि जिसे बौद्ध सम्प्रदाय में सम्यक्त्व, सज्ञासंज्ञी, वचन काय कर्म, अन्तर्व्यायाम, अजीव, स्मृति, ध्यान और समाधि दस अष्टांग हेतुक माना गया है सो वहां अष्टांग हेतुता भी सिद्ध नहीं हो सकती है। बुद्ध धर्म का अगीकार करना सम्यक्त्व, वस्तु का नाम जानना संज्ञा सज्ञी, वचन एवं शरीर का व्यापार वचन काय कर्म, श्वासोच्छ्वास का निरोध करना अन्तर्व्यायाम, जीव का अभाव अजीव, पिटकत्रय शास्त्र की चिन्ता स्मृति, एकाग्र होना ध्यान एवं लय होना समाधि [2] है।

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र का क्षणभगवाद का पूर्व पक्ष पाना ३७५ से ३७८ तक तथा अष्टसहस्री का पाना १८५ इसके लिये देखना चाहिये।

२ प० जयचद जी कृत आप्तमीमांसा के अनुवाद के आधार से इन शब्दो का यह अर्थ लिखा है। अष्टसहस्री की टिप्पणी में भी यही अर्थ लिखा है।

विरूपकार्यारंभाय यदि हेतुसमागमः।
आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ॥ ५३ ॥

अन्वय—यदि विरूपकार्यारभाय हेतुसमागमः (तर्हि) असौ आश्रयिभ्यां अनन्य. (एव) अविशेषात्। अयुक्तवत्।

अर्थ—यदि विसदृश कार्य के प्रारंभ के लिये हेतु का व्यापार माना जाय तो यह हेतु व्यापार अपने आश्रयियों से भिन्न नही माना जा सकता, क्योंकि उन आश्रयियो में परस्पर में कोई भेद नहीं है। जैसे अपृथक् सिद्ध पदार्थों का कारण अपने आश्रयियो से भिन्न नहीं होता है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रकट कर रहे हैं कि बौद्ध यदि ऐसा कहें " हम केवल उत्पत्ति को ही सहेतुक मानते है विनाश को नहीं। विनाश को निर्हेतुक मानने में हिंसक कोई नहीं कहलावेगा तथा चित्त संतति नाशरूप मोक्ष अष्टांगहेतुक नहीं हो सकता है ऐसा जो हमसे कहा जाता है सो हम हेतुओ का समागम नाशरूप १ कार्य की उत्पत्ति के लिये नहीं मानते हैं क्योकि नाश होना तो पदार्थों का अपना निज का स्वभाव है इसलिये नाश तो निर्हेतुक ही है। हेतुओ से सिर्फ समागम होने पर विसदृश कार्य उत्पन्न होता है। हिंसक के समागम से विरूपकार्य हिंसा और अष्टांग हेतुओ के समागम से विरूप कार्य मोक्ष इनका प्रारंभ हो जाता है। हमारे सिद्धान्त मे सदृश कार्य तो कोई होता ही नहीं है क्योकि अन्वय के सद्भाव मे ही सदृश कार्य होता है। अन्वय का सद्भाव हमने कहीं पर भी माना नही है। क्योंकि निरन्वय विनाश का हमारा पक्ष है " सो ऐसा कहना उनका उचित नहीं है। कारण कि यह बात तो उनकी तब मानी जा सकती थी कि नाश और उत्पाद मे समय का व्यवधान पडता अथवा नाश और उत्पाद में कोई अन्तर होता जो उत्पाद का कारण है वही नाश का कारण है। यदि उत्पत्ति सहेतुक है तो विनाश भी सहेतुक है। यदि विनाश निर्हेतुक है तो उत्पाद भी निर्हेतुक माना जायगा। यह क्या बात कि एक सहेतुक माना जाय और उससे अभिन्न दूसरा

१ विसभागसतानोत्पादनाय हेतुसन्निधिर्नप्रध्वसाय पूर्वस्य स्वरसतो निवृत्तेरिति। अष्टशती।

निर्हेतुक माना जाय, यदि इस पर यों कहा जाय " स्वरसोत्पन्नमपि तदनन्तरभावित्वात्तन व्यपदिश्यते " (अ० श०) कि उत्पाद भी स्वरसत.--अपने आप उत्पन्न होता है परन्तु हेतु व्यापार के अनन्तर भावी होने से वह उनसे हुआ है ऐसा कहा जाता है तो इसके ऊपर हम भी यो कह सकते हैं कि कार्यक्षण कपालमाला की तरह पूर्वक्षण-घट का प्रध्वस भी मुद्गरादिक हेतुओ के अनन्तर हुआ है इसलिये वह मुद्गरादिक हेतु से जन्य है ऐसा मान लेना चाहिये। मतलब इसका यह है कि कपालमाला का उत्पाद ही घट का विनाश है ऐसा तो नही कि कपाल का उत्पाद भिन्न समय मे और घट का विनाश भिन्न समय मे हो। इसलिये यह मानना ही चाहिये कि जो कपालमाला का उत्पादक-कारण होगा वही घट के विनाश का भी कारण होगा। इसलिये उत्पाद और विनाश मे अभेद होने से दोनों का एक ही कारण होने से दोनो में सहेतुकता सिद्ध होती है।

दूसरे—जब बौद्ध सिद्धान्त में अन्वय का सत्त्व ही नहीं माना गया है तब यह सदृश कार्य है यह विसदृश कार्य है इस तरह का विभाग ही कैसे हो सकता है। कारण कि यह विभाग परस्पर की सापेक्षता में होता हैं। " न च निरन्वयविनाशवादिनः सभागविसभागविवेकः श्रेयान् (अ० स०) " सर्वदा विरूपकार्यत्वात् (अ० श०) " परन्तु जब सर्वदा विरूप ही—विसदृश—ही कार्य है तब इस तरह का विवेक अपने अवधिभूत सदृश कार्य के अभाव में कैसे माना जा सकता है। अमीर है तब उनकी अपेक्षा ही गरीब माने जाते है। और जब गरीब ही गरीब हों तब गरीब और अमीर का विवेक कैसे हो सकता है। यदि इस पर बौद्ध की तरफ से ऐसा कहा जाय कि बात बिलकुल ठीक है—परन्तु इस तरह का जो विवेक होता हैं वह प्रतिपत्ता के अभिप्राय के वश से होता है, तो फिर यह भी क्यों न उन्ही के अभिप्राय से मान लिया जावे कि नाश और उत्पाद भी सहेतुक हैं। " न च समनतरक्षणयो नाशोत्पादौ पृथग्भूतौ मिथ स्वाश्रयतो वा यौ समं सहेतुकेतरौ स्तां (अ० श०) " पूर्वक्षण घट और उत्तर क्षणरूप जो कपालमाला है उनके नाश और उत्पाद ऐसे तो हैं नहीं जो परस्पर में अथवा अपने आश्रय से भिन्न—अलहदा—हो कि जिससे साथ होने पर भी एक सहेतुक माना जाय और दूसरा निर्हेतुक माना जाय। नाश और उत्पाद का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। इसका भी कारण

यह है कि इनमें न तो परस्पर में कार्य कारण सम्बन्ध है और न विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध है।

तथा अपने आश्रयभूत जो कपालमाला एवं घट हैं इनके साथ भी इनका कार्य कारणभाव नहीं है। ऐसी स्थिति मे पूर्वक्षण रूप जो घट उसका विनाश ही अनन्तर क्षण रूप जो कपालमाला है उसका उत्पाद है। अतः इस तरह से इनमें स्वभाव प्रतिबध-तादात्म्य सम्बन्ध-सिद्ध माना गया है। इस सम्बन्ध के मानने पर भी वहां प्रतिपत्ति एवं अभिधान का भेदाभाव प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। जिस प्रकार बौद्ध सिद्धान्त में एक ज्ञान के ग्राह्याकार और ग्राहकाकार ये दो आकार माने जाते हैं इन दोनों आकारों का अपने आश्रय भूत ज्ञान के साथ तादात्म्य है तो ऐसी स्थिति में वहां प्रतिपत्ति और अभिधान का भेद माना ही गया है। तादात्म्य सम्बन्ध में प्रतिपत्ति और अभिधान का भेद विरोध को प्राप्त नहीं होता है। अतः विनाश और उत्पाद एक हेतुक ही मानना चाहिये। जिस प्रकार शिंशपात्व एवं वृक्षत्व चित्रज्ञान एव नीलादिनिर्भास इनमे तादात्म्य सम्बन्ध है अत. ये अयुक्त-अपृथक् सिद्ध हैं। इनका जो कारण व्यापार है वह भिन्न नहीं है—क्योंकि इनका आत्म लाभ एक ही कारण कलाप से होता है उसी प्रकार उत्पाद और विनाश में भी तादात्म्य सम्बन्ध है अतः ये भी अपृथक् सिद्ध हैं। इसलिये इनका भी कारण भिन्न २ नहीं माना जा सकता है। इसलिये जो उत्पाद का कारण होगा वही विनाश का कारण होगा ऐसी स्थिति में उत्पत्ति को सहेतुक और विनाश को निर्हेतुक मानना युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। तथा च-हेतुसमागम-मुद्गरादि रूप व्यापार-अपने आश्रयी जो उत्पाद व्यय हैं इनसे अभिन्न है-उत्पाद व्यय इन दोनों का मुद्गरादिरूप कारण एक ही है। क्योंकि उत्पाद व्यय में-अविशेष-अभेद है, इसलिये इस प्रकार यह कारिका का संक्षिप्त अर्थ है।

स्कंधसन्ततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः
स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खरविषाणवत्। ५४ ।

अन्वय—संवृतित्वात् स्कंधसततय असस्कृता. एव। खरविषाणवत् तेषां स्थिति उत्पत्ति—व्ययाः न स्युः।

अर्थ—काल्पनिक होने से स्कधसतति असंस्कृत ही है। इसलिये खरविषाण की तरह इसमें स्थिति एवं व्यय नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा "विरूप कार्य की उत्पत्ति के लिये हेतु का व्यापार होता है" इसी बौद्ध की मान्यता का विचार किया जा रहा है। इसमें सर्वप्रथम उनसे यह पूछा है कि तुम्हारे यहां उत्पन्न क्या होता है-परमाणु या स्कधसंतति ? यदि यह कहा जाय कि परमाणु उत्पन्न होते हैं तो इस पक्ष में स्थाप्य स्थापक, विनाश्य विनाशक भाव की तरह हेतुफल भाव भी विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि बौद्धो ने परमाणुओं को सर्वथा निरंश माना हैं, अतः वहां उत्पाद, स्थिति एवं व्यय ये धर्म नही रह सकते हैं, पूर्वक्षण स्थापक है और उत्तर क्षण स्थाप्य है पूर्वक्षण विनाश्य एवं उत्तरक्षण विनाशक हैं। स्थाप्य स्थापक भाव वहा इसलिये विरुद्ध पड़ता है कि पूर्वक्षण और उत्तरक्षण में विना अन्वय के परस्पर मे कोई भी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है। पूर्वक्षण स्थापक है और उत्तर क्षण स्थाप्य है यह बात तो वहां तभी मानी जा सकती है कि जब उत्तरक्षण में पूर्वक्षण का कुछ न कुछ सम्बन्ध रहता। जब पूर्व क्षण का निरन्वय विनाश माना जाता है तो उत्तरक्षण मे पूर्वक्षण का सम्बन्ध ही कैसे आ सकता है। इसी तरह वहां विनाश्य विनाशक भाव भी नही बनता है। तथा हेतु भाव एव फल भाव भी नहीं बनने से वहां उत्पाद भी नहीं बनता है। उत्पाद, व्यय और स्थिति ये तीनो एक ही जगह रहते हैं और एक ही काल में होते हैं। इस प्रकार परमाणु क्षणों में स्थाप्य स्थापक के अभाव में स्थिति का अभाव, विनाश्य विनाशक के अभाव मे व्यय का अभाव एवं हेतुफल के अभाव में उत्पाद का अभाव आ जाता है।

बौद्धो ने उत्पाद को सहेतुक माना है। तब हेतुफल भाव के अभाव मे परमाणुओं की उत्पत्ति सहेतुक कैसे हो सकती है। अतएव जिस प्रकार उन्होने विनाश को निर्हेतुक माना है उसी प्रकार उत्पाद भी निर्हेतुक माना जाना चाहिये। इसलिये उनका यह " न तस्य किञ्चित् भवति न भवत्येव केवलं " कथन १ कि विनाश के हेतुओं से- मुद्ग-

१ स्वतोऽपि भावेऽभावस्य विकल्पश्चेदय सम.।
न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम् ॥ -प्रमाणवार्तिक निर्हेतुक विनाश प्रकरण, पृ० ५२२ कारिका २८०।

रादिक से-घट का विनाश नही होता है किन्तु घट तो स्वयं नष्ट हो जाता है उत्पाद को निर्हेतुक मानने के लिये भी पर्याप्त है। वहां पर ऐसा ही कहा जा सकता है 'न कारणात् कार्यस्य किञ्चिद्भवति भवत्येव केवलं,, (अष्टशती) कि कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है कार्य स्वयं अपने आप उत्पन्न हो जाता है। अत परमाणु की उत्पत्ति सहेतुक नहीं मानी जा सकती।

आ० यदि कहा जाय रूपस्कंध, वेदनास्कंध, विज्ञानस्कध, सज्ञास्कंध, सस्कारस्कंध इन पांच स्कंधों की सतति
मी० की हम उत्पत्ति मानते हैं। सो ऐसा कहना भी बौद्ध का ठीक नहीं है कारण कि ये असंस्कृत अकार्यस्वरूप है। बौद्ध
३३० सिद्धान्त मे परमाणुओं को सजातीय एवं विजातीय परमाणुओं से सर्वथा व्यावृत्त–भिन्न–एव परस्पर मे असंबद्ध माना गया है। अतः रूपादिक स्कंधो मे कार्य स्वरूपता कैसे आ सकती है। उन्होंने स्वयं इन स्कंधों को काल्पनिक माना है। तथा क्षणिकवाद में संतान समुदाय आदि विना अन्वय के बन नहीं सकते हैं यह बात पीछे भी स्पष्ट की जा चुकी है। अत यह स्कंध संतति काल्पनिक होने से असस्कृत ही है। अर्थात् न कार्यस्वरूप हो सकती है और न कारण स्वरूप १ ही। अतः यह स्कंध सन्तति परमार्थसत् नहीं हो सकती है। खरविषाण आदि में सांवृतत्त्व असंस्कृत के साथ व्याप्त देखा जाता है उसी प्रकार इस स्कधसन्तति में वह असस्कृतत्व के साथ व्याप्त है अतः हेतु और साध्य की व्याप्ति में कोई फर्क नहीं है-निर्दोष है। जब यह स्कंध संतति असंस्कृत है तो इसलिये वह खरविषाण की तरह स्थिति उत्पत्ति

---

१ रूपवेदनाविज्ञानसज्ञासस्कार स्कधसंततय असंस्कृताः सवृतित्वात् यत्पुनः सस्कृत तत्परमार्थसत् यथा स्वलक्षणं न तथा स्कधसन्ततय· (अष्टशती) पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यह रूप उपादान स्कध है वस्तुओं या उनके विचार के सम्पर्क मे आने पर जो सुख दु·ख या न सुख दु ख के रूप मे अनुभव करते हैं इसे ही वेदना स्कध कहते हैं। वेदना के बाद मस्तिष्क पर पहिले से ही अंकित संस्कारों द्वारा जो हम पहिचानते हैं कि यह वही देवदत्त है इसे सज्ञा कहते है। रूपों को वेदनाओ और सज्ञाओ का जो सस्कार मस्तिष्क पर पडा रहता है और जिसकी सहायता से कि हमने पहिचाना-'यह वही देवदत्त है' इसे सस्कार कहते हैं। चेतना या मन को विज्ञान कहते हैं। ये पाच उपादान स्कध है। दर्शन दिग्दर्शन पृ० ५०५ अध्याय १५। ये पाचो ही स्कध जब व्यक्ति की तृष्णा के विषय होकर पास आते हैं तो इन्हें ही उपादान स्कध कहते हैं। बुद्ध ने इन पाचो ही उपादान स्कधो को दु ख रूप कहा है।

एवं व्यय से रहित है। अवस्तु में स्थित्यादिक संभवित नहीं होते है। जहां २ संस्कृतत्व होगा वहीं २ स्थित्यादिक होंगे। असंस्कृत में नहीं। इसलिए विरूपकार्य के आरंभ के लिये हेतु का व्यापार होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि स्कंध संतति वास्तविक नहीं है-काल्पनिक है। अत उस काल्पनिक की उत्पत्ति के लिये हेतु व्यापार की क्या आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त और तो कोई है ही नहीं कि जिसके लिये हेतु व्यापार माना जाय। अत कल्पनिक होने से खरविषाण की तरह स्कंध संतति उत्पत्ति विनाश एव स्थिति से रहित है ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार कारिका में सवृतत्व हेतु से स्कंध सन्तति में असस्कृतत्व एवं असस्कृतत्व हेतु से स्थिति उत्पत्ति एव विपत्ति से रहितपना सिद्ध किया गया है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद न्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ५५ ॥

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्य (अंगीकर्तुं युक्त) न। अवाच्यतैकान्ते अपि अवाच्यं इति उक्ति न युज्यते।

अर्थ—स्याद्वाद की नीति से विद्वेष रखने वाले के यहां, विरोध होने से नित्यत्वैकान्त अनित्यत्वैकान्त को एकरूपता अंगीकार करने के लिये युक्त नहीं मानी जा सकती। तथा अवाच्यतैकान्त में भी " यह अवाच्य है " इस प्रकार का वचन भी नहीं कहा जा सकता।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस बात का समर्थन कर रहे हैं कि जिस प्रकार जीवन और मरण को परस्पर में विरोध होने से एक स्वरूप नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार सर्वथा नित्यत्व पक्ष को और सर्वथा अनित्यत्व पक्ष को भी परस्पर मे जबर्दस्त विरोध होने की वजह से एक स्वरूप नहीं माना जा सकता है। यदि विरोध के भय से इन दोनों की समिलितता को सर्वथा अवक्तव्यकोटि में रखा जाय तो उस समय वहां " अवक्तव्य " इस शब्द

का भी प्रयोग नहीं कर सकते-क्योंकि इस प्रकार के कहने से सर्वथा वहां अवक्तव्यता नहीं रहती है। अत यदि इन परस्पर विरोधी बातों का भी जो एकत्र समन्वय करना है तो स्याद्वाद नीति से विद्वेष करने की जरूरत नहीं। क्योंकि वही एक ऐसी नीति है कि जिसके बल से परस्पर विरोधी धर्म एकत्र निर्विरोधरूप से रह सकते है। नित्य भी किसी अपेक्षा अनित्य और अनित्य भी किसी अपेक्षा नित्य हो जाता है। इसी तरह अवाच्य होने पर भी वस्तु वाच्य हो सकती है, इस लिये स्याद्वादन्याय को अपनाने में ही भलाई है। इसके बिना चारा नहीं।

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानात् नाकस्मात्तदविच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः॥ ५६॥

अन्वय—ते प्रत्यभिज्ञानात् तत् नित्यं तत् अकस्मात् न अविच्छिदा। बुद्ध्यसंचरदोषतः कालभेदात् क्षणिकम्।

अर्थ—हे नाथ-अनेकान्त शासक! आपके सिद्धान्त में प्रत्यभिज्ञान ज्ञान के द्वारा जानी गई होने से समस्त जीवादिक वस्तु कथचित् नित्य है। यह प्रत्यभिज्ञान ज्ञान निर्विषय नहीं है। क्योंकि बाधक के अभाव से इसका अविच्छेद रूप से अनुभव होता है। इसी तरह समस्त जीवादिक वस्तु यदि कथंचित् क्षणिक न मानी जाय तो बुद्धि का वहां संचरण नहीं हो सकता। इसलिये कालभेद की अपेक्षा लेकर उसमे कथचित् क्षणिकता आ जाती है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार "नित्यैकान्त एव अनित्यैकान्त के निरसन से सामर्थ्यंत उनका अनेकान्त सिद्ध हो जाता है फिर भी जो इस कारिका द्वारा सामर्थ्यलभ्य उस अनेकान्त की सिद्धि की जा रही है वह तत्त्वोपप्लववादी के दुराशय को ध्वस्त करने के लिये एवं उस अनेकांत की प्रतिपत्ति को दृढ करने के लिये है" यह बात प्रकट करते हैं और इसीलिये स्याद्वादन्याय के अनुसार नित्यत्वादि अनेकांत को वे दिखलाते हैं।—

कारिकाकार कह रहे हैं कि हे अनेकान्त के शासक नाथ! आपके सिद्धान्तानुसार न तो कोई पदार्थ सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य-क्षणिक है। किसी अपेक्षा नित्य और किसी अपेक्षा अनित्य है। किसी अपेक्षा नित्य

ही है इसका मतलब यह है कि वह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का विषय होता है। यदि वस्तु सर्वथा अनित्य-क्षणिक होती तो "यह वही वस्तु है" इस प्रकार उसमे एकत्व अवमर्शक यह प्रत्यभिज्ञान कैसे हो सकता -वहां तो "यह उसके सदृश है" ऐसा सादृश्य ज्ञान होना चाहिये था। पूर्व दशा एवं उत्तर दशा मे व्याप्त जो वस्तुगत एकत्व है वही नित्यता है। यह प्रत्यभिज्ञान निर्विषय-एकत्व के अभाव मे होने वाला-इसलिये नहीं माना जा सकता है कि प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण इसके बाधक नहीं हो सकने के कारण उसका वहां अस्खलितरूप से अनुभव होता है। प्रत्यक्ष इस एकत्व अवमर्शक प्रत्यज्ञिान का बाधक इसलिये नहीं हो सकता है कि वह वर्तमान पर्याय से ही युक्त वस्तु को जानता है। पूर्वोत्तर दशा द्वय व्यापी एकत्व को नही जानता है। इसी तरह अनुमान भी अन्यापोह मात्र को विषय करने वाला बौद्धों ने माना है अतः वह भी इस एकत्व को विषय नहीं कर सकता है। इसलिये पूर्व पर्याय एव उत्तर पर्याय में रहनेवाले एकत्व को विषय करने वाला यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान ही है। और उसी से जीवादिक वस्तुओ में कथचित् नित्यता सिद्ध होती है। यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान अकस्मात्-निर्विषय-हुआ तो जब माना जाता कि यह यदि भ्रान्त होता। जैसे सादृश्य की जगह एकत्व को विषय करने वाला तथा एकत्व की जगह सादृश्य को विपय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होता है। यदिबौद्धों की तरफ से ऐसा कहा जाय कि यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान भी भ्रान्त है क्योकि जीवादिक वस्तु में जो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है वह जैसे दीपक की लौं में यह वही लौं है इसकी तरह होता है अर्थात् जिस प्रकार दीपक की लौ के प्रत्येक क्षण में बदलते रहने पर भी लौं के पूर्व और उत्तार क्षणों मे परस्पर सदृश्यता होने के कारण यह वही लौं है ऐसा ज्ञान होता है उसी प्रकार जीवादिक पदार्थों के प्रत्येक क्षण मे बदलते रहने पर भी पदार्थों के पूर्व और उत्तार क्षणो में सदृशता होने के कारण यही वही पदार्थ है ऐसा ज्ञान होता है। इसलिये सादृश्य प्रत्यभिज्ञान ही सम्यक् है। और वही इस अनादिकालीन अविद्या के प्रभाव से उदित एकत्व प्रत्यभिज्ञान में भ्रान्तता साधक होता है सो ऐसा कहना उनका उचित नही है कारण उत्तरोत्तर क्षणों में सदृश पदार्थ उत्पन्न होता रहता है इसका निर्णायक कोई प्रमाण नही है।

बौद्ध——निर्णायक इस बात का कोई प्रमाण नहीं है ऐसा जो आप कहते हैं सो ठीक नहीं है। निर्णायक

प्रमाण है और वह यह है-कि जो नित्य पदार्थ होगा उसमें क्रम क्रम अथवा युगपत् रूप से अर्थ क्रियाकारिता नहीं होगी। क्षणिक पदार्थ में ही इस प्रकार से अर्थक्रियाकारिता आती है। अतः पदार्थ में एकत्व ग्राहक प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है।

जैन--ऐसा कहना ठीक नही है। कारण कि सर्वथा क्षणिक में अर्थक्रियाकारिता नहीं आती है। अर्थक्रियाकारिता तो कथंचित् नित्य में ही आती है। अतः पदार्थ मे कथचित् नित्यता ग्राहक प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भ्रान्त नहीं हो सकता। यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण स्मृति और प्रत्यक्ष इन दोनों से सर्वथा स्वतत्र प्रमाणान्तर है। क्योंकि पूर्वोत्तार दशा द्वय में रहनेवाला जो एकत्व है वह न तो प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है और न स्मरण से हो। इसलिये पूर्वोत्तर-दशाद्वयव्यापी एकत्व को सकलन करने मे समर्थ यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण ही है।

यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण निर्विषय इसलिये नहीं माना जा सकता है कि ऐसा मानने से बुद्धि के असंचार का दोप आता है। यदि इस प्रत्यभिज्ञान का विषय एकत्व न होवे तो जो वहां -पदार्थों-में अविच्छेदरूप अनुभव होता है वह नही हो सकता-और इस अविच्छेदरूप अनुभव के हुए विना वहां "यह वही है" इस प्रकार से बुद्धि का सचार नहीं हो सकता है। निरन्वय विनाश में "यह है" इस रूप से हो बुद्धि का सचार हो सकेगा। यह वही है जिसे पहले देखा था इस प्रकार से नहीं। क्योकि निरन्वय विनाश मानने पर प्रत्येक पदार्थ का क्षण २ में विनाश होता रहेगा और अपूर्व की उत्पत्ति होती रहेगी-तब उनमे "यह वही है जिसे पहिले देखा था" इस प्रकार का संकलनात्मक ज्ञान कैसे हो सकता है। दूसरे इस प्रत्यभिज्ञान का प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष और स्मरण रूप कारणो से होता है। संकलन करना इस का निज स्वरूप है। तव जिस पदार्थ को पहिले ज्ञान ने देखा है वह ज्ञान भी तो निरन्वयरूप से विनष्ट हो जायगा। -अतः स्मरण के अभाव मे केवल एक प्रत्यक्ष ही अवशिष्ट रहेगा-तव् "यह वही पदार्थ है जिसे पहिले देखा था" इस प्रकार का दोनों ज्ञानों का संकलनरूप प्रत्यय-प्रत्यभिज्ञान-केवल प्रत्यक्ष से कैसे उत्पन्न हो सकेगा। अत "पूर्वोत्तरपरिणामयोरेकद्रव्यात्मकत्वेनगमनासभवात् (अ० स०)" जिसे मैंने पहिले देखा था उसी को मैं अब देख रहा हूं अथवा स्पर्शकर रहा हूं इस प्रकार से बुद्धि का सचार कथंचित् एकत्व विना नहीं हो सकता है। इसलिये यह मानना चाहिये

कि पदार्थों मे अविच्छेदरूप अनुभव से प्रत्यभिज्ञान निर्विषय नहीं है और यह अविच्छेदरूप अनुभव बुद्धि के संचरण से सिद्ध है । अतः पदार्थों में इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान कथंचित् एकत्व का साधक है ।

इसी प्रकार समस्त जीवादिक वस्तुएं कथचित् क्षणिक हैं । क्योकि इनमे कथंचित् क्षणिकता प्रत्यभिज्ञान हेतु द्वारा ही सिद्ध होती है । ऐसा नहीं है कि " क्षणिकत्व के विना भी इनमें प्रत्यभिज्ञान उदित होता है अत वह निर्विषय हो जायगा । " क्योकि प्रत्यभिज्ञान का विषय जो कथचित् क्षणिकत्व है उसका इन वस्तुओं मे विच्छेद उपलब्ध नही होता है । वस्तुओ में क्षणिकत्व है-क्षणिकत्व के विच्छेद का उपलभ नहीं है यह बात वहां काल के भेद से सिद्ध होती है । यदि काल का भेद न माना जाय तो वहां बुद्धि का सचरण नही होने रूप दोष आता है । पूर्व एवं उत्तररूप काल के भेद विना स्मरण एवं दर्शनरूप बुद्धियो का संचार नहीं हो सकता है । इनके संचार के अभाव में प्रत्यभिान भी उदित नही हो सकता है । क्योकि पूर्व और उत्तर पर्यायो में स्मरण एवं प्रत्यक्ष रूप बुद्धियो के संचार से ही यह प्रत्यभिज्ञान होता है । इस प्रकार इस कारिका द्वारा प्रत्यभिज्ञान हेतु द्वारा जीवादिक वस्तुओ में कथचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यता सिद्ध करने में आई है । कथंचित् अनित्यता प्रत्यभिज्ञान द्वारा इस प्रकार सिद्ध की गई है । कि यदि वस्तु कथचित् अनित्य नहीं होती तो उसमें प्रत्यभिज्ञान उदित नही हो सकता । क्योकि यह प्रत्यभिज्ञान दर्शन और स्मरण इन दोनो से उत्पन्न होता है, दर्शन और स्मरण का काल पूर्वोत्तर पर्यायरूप भिन्न २ है । अतः इन दोनो अवस्थाओ में रहनेवाली वस्तु भी कथंचित् भिन्न २ है यह भिन्नता ही क्षणिकता है ।

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

अन्वय — ते "वस्तु" सामान्यात्मना न उदेति न व्येति व्यक्तं अन्वयात् । विशेषात् व्येति उदेति सह एकत्र उदयादि सत् ॥

अर्थ—हे नाथ ! आपके अनेकान्त शासन के अनुसार समस्त जीवादिक वस्तु सामान्य स्वरूप की अपेक्षा न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है। क्योंकि सामान्य स्वरूप अन्वय स्पष्टरूप से देखा जाता है। विशेष की अपेक्षा वस्तु उत्पन्न होती है तथा विनष्ट होती है। युगपत् एक वस्तु मे उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्य ये तीनों होते हैं क्योंकि उत्पादादि त्रयात्मक सत् १ है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा इन तीनों प्रश्नों का समाधान किया गया है-वे तीन प्रश्न ये हैं-वस्तु उत्पाद, विनाश, रहित स्थिति स्वरूप कैसे हैं ? तथा विनाश उत्पाद स्वरूप कैसे है ? एव उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य स्वरूप कैसे है ?

कारिकाकार इन तीनों प्रश्नो का उत्तर दे रहे हैं -वे कहते हैं कि जिस समय सामन्यस्वरूप से वस्तु का विचार किया जाता है तो वह वस्तु उस स्वरूप की अपेक्षा से न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है केवल ध्रौव्य स्वरूप रहती है। पूर्व पर्याय एव उत्तर पर्याय में जो साधारण स्वभाव है उसी का नाम सामान्यात्मा है। घट उत्पन्न हुआ और नष्ट हो गया इन पूर्वोत्तर परिणामों में सामान्य रूप से वर्तमान द्रव्य मृत्तिका है यही सामान्यात्मा है। इस अपेक्षा यदि विचार किया जाय तो मृत्तिकारूप वस्तु में न उत्पाद हैं और न विनाश है। इसी का नाम स्पष्ट रूप से अन्यव का दर्शन है। स्पष्ट रूप से अन्वय देखा जाता है इस कथन से इस आशंका का परिहार किया गया है जो बौद्धों ने ऐसा कहा है कि "लून पुनर्जातनश्व के-शादिकों में भी तो अन्वय देखा जाता है अत "वस्तु न उत्पद्यते न विनश्यति व्यक्तमन्वय दर्शनात् (अ० श०)" व्यक्तमन्वयदर्शन रूप जो हेतु है सो साध्यभाव में वर्तमान होने से व्यभिचरित हो जाता है।" कारण कि लून पुनर्जात नखादिकों में जो अन्वय देखा जाता है वह व्यक्त-प्रमाण से अबाधित-

¹ प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते य. स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ॥ २१ ॥

—स्याद्वाद मञ्जरी ।

-नहीं है । किन्तु बाधित है । "त एवैते नखादय. इत्येकत्वान्वयो बाध्यते प्रमाणेन, ततश्च तत्सदृशा इमे नखादयः इति वक्तुं शक्यते (अ० सहस्री टि०)" क्योकि वहां ऐसा प्रत्यय होना चाहिये कि ये नखादिक पहिले के नखादिकों के समान हैं। सो ऐसा प्रत्यय वहां न होकर "ये वही नखादिक हैं" ऐसा जो प्रत्यय होता है वह असत्य है । इसीलिये यह प्रमाण से बाधित है । जीवादिक वस्तुओ मे यह अन्वय इस प्रकार से प्रमाण बाधित नहीं होता है क्योकि वह वहां सत्य प्रत्यभिज्ञान से प्रसिद्ध है इसलिये इस अन्वितात्मा से वहां स्थिति ही सिद्ध [1] होती है ।

विशेष–पर्याय–की अपेक्षा से वस्तु उत्पन्न भी होती है तथा विनष्ट भी होती है । "विनश्यति उत्पद्यते च सर्वं वस्तु विशेषानुभवात् (अ० श०)" "मृत्तिकाद्रव्य से घट विशेष उत्पन्न हुआ और नष्ट हो गया" यहां मृत्तिका के विशेष नाश और उत्पाद हैं । इस अपेक्षा मृत्तिका रूप वस्तु कथचित् उत्पन्न भी होती है और नष्ट भी होती है । इस दृष्टि में द्रव्य मुख्य नही है पर्याय ही मुख्य हैं । पहली दृष्टि में द्रव्य मुख्य है पर्याय गौण है । पर्याय का स्वभाव ही प्रतिक्षण उत्पाद व्ययात्मक है । "विशेशानुभवात्" इस हेतु के साथ भी " व्यक्त " इस पद को लगा लेना चाहिये नहीं तो शुक्लशख मे पीताद्याकाररूप जो भ्रान्तदर्शन विशेष है उसके द्वारा व्यभिचार हो जायगा । क्योकि वहां पर पीताद्याकार रूप भ्रान्तदर्शन विशेष का अनुभव होने पर भी शंख का शुक्ल विशेषरूप से न विनाश है और न पीताद्याकार विशेष रूप से उत्पाद ही है । अतः मात्र "विशेषानुभावात्" रखने से साध्यभाव में व्यभिचार स्पष्ट है । इसलिये इस व्यभिचार को हटाने के लिये व्यक्त पद विशेपानुभव के साथ जोड़ देने से यह बात स्पष्ट हो

१ सर्वंव्यक्तिषु नियत क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ।।

स्या० म० पा० २६४।

ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुन॰ । पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च । अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैव शुक्ले शखे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचार तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूप येन पूर्वाकार विनाशाजहद्वृत्तोत्तराकाराविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूप कथ्यचिद् वाधकस्याभावात् ।

स्याद्वाद मंजरी पृ० २६५ ।

जाती है कि वह जो शुक्लशख में पीताद्याकाररूप दर्शन विशेष है वह भ्रान्त है-व्यक्त नहीं है-अव्यक्त है-प्रमाण बाधित है।

मतलब इसका यह है कि नेत्र में रोग होने के कारण सफेद शख पीतवर्ण का मालूम पड़ता है वास्तव मे वह पीत है नही। इसलिये शख में यह पीताकाररूप ज्ञान सत्य नहीं है। कारण कि रोग दूर हाने पर ऐसा ही अनुभव
आ० में आता है। अतः "भ्रान्त विशेपदर्शनं न व्यक्तं येन तदपि पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकाराविनाभावि स्यात्
मी० (अ० स०) यह भ्रान्त विशेष दर्शन व्यक्त नहीं है—प्रमाण से अबाधित नहीं है। इसीलिये यह पूर्वाकार विनाश के साथ
३३८ अजहद्वृत्तोकारा विनाभावी नही है। अर्थात् इसमे जो पीताकार का अवभास हो रहा है वह उसमें पूर्वाकार के विनाश से अविनाभूत होकर नहीं हो रहा है—उत्पाद और विनाश का एक ही समय है—यह सिद्धान्त है इसलिये पीताकार का अवभासरूप जो उत्पाद है वह पूर्वाकार जो शुक्लाकार है उसके विनाश का अविनाभावी नहीं है। इसीलिये यह भ्रान्त है। और इसीलिये शुक्लाकाररूप जो पूर्वाकार है उसके साथ यह पीताकार का अवभास जहद्वृत्तिवाला है। शुक्लाकार के सद्भाव में भी शंख में हो रहा है। यदि यह पीताकार का अवभास शंख में शुक्लाकार के विनाश पूर्वक आता तो ही यह पीताकार का अवभास अजहद्वृत्ति वाला कहा जाता। यह तो उसमें रोगादिक के निमित्त से प्रतिभासित हो रहा है। अत यह प्रातिभासिक है। पारमार्थिक नहीं। इस प्रकार का जीवादिक वस्तुओं में जो विशेपदर्शन है वह अव्यक्त प्रमाण बाधित—नहीं है क्योंकि इसमे कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है। जीव आदि पदार्थों मे हर्ष, क्रोध, उदासीनता आदि पर्यायों की परम्परा मिथ्या नहीं कही जा सकती क्योंकि हमें उन पर्यायों के मिथ्या होने का अनुभव नहीं होता है। यदि इस पर यो कहा जाय कि नित्यैकान्तग्राही प्रमाण वस्तु मे उत्पाद और विनाशरूप विशेष दर्शन का बाधक हो जायगा सो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं है कि यह बात पहिले कई वार प्रकट की जा चुकी है कि वस्तु सर्वथा नित्य है ही नहीं। यदि कोई इस पर यों कहे कि जब वस्तु स्थितिमात्र या उत्पाद विनाश मात्र मानी जावेगी तो स्थिति एव उत्पाद विगम स्वयं भिन्न२ प्रत्यय—सामान्य प्रत्यय एवं विशेष प्रत्यय—के विपयभूत होने के कारण वस्त्वन्तररूप से

प्रतिष्ठित हो जायेंगे, सो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं माना जा सकता है कि वे स्वय वस्तु नहीं हैं किन्तु द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक नय के विषयभूत होने से वे वस्तु के एकदेश हैं । समुदितस्थित्यादित्रय को ही वस्तु माना गया है। क्योंकि वही प्रमाण का विषय है । यही बात " सहैकत्रो दयादि सत् " इस कारिकांश द्वारा प्रकट की गई है। समुदित होने पर इनमे एक वस्तुत्व मानना कोई विरोधादि दोप से युक्त साबित नहीं होता है । यहां पर इस प्रकार की शंका भी नहीं करना चाहिये कि जिस प्रकार सदादिसामान्य स्वभाव से सत् मृत्तिका द्रव्य है उसी प्रकार सदादिसामान्य स्वभाव से सत् तन्तु आदिक द्रव्य भी हैं तो फिर इस प्रकार का प्रतिनियम कैसे बन सकता है कि मृत्तिका से घट ही उत्पन्न होगा वस्त्र नहीं तथा तन्तु आदिक से वस्त्र ही होगा घट नहीं । क्योंकि कारिका में " सामान्यात्मना " ऐसा पद आया है जिसका मतलब है सामान्य स्वभाव—सत् आदि सामान्यस्वरूप । जिस स्वभावभूत होकर सदादिसामान्य-घट का उपादान द्रव्य मृत्तिका द्रव्य— परिणमित होता है वह सत् घटरूप से परिणमित होगा—वस्त्रादिरूप से नहीं । तथा जो सत् वस्त्रादिक के उपादानभूत तन्तु आदि स्वभावरूप से परिणमित होगा वह सत् वस्त्रादिरूप से परिणमित होगा घट आदिरूप से नहीं । इस प्रकार जीवादिक पदार्थ सामान्य स्वरूप से न उत्पन्न होते हैं और न विनष्ट होते हैं । उत्पाद विनाश वहां पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है । इन तीनों के—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य—के समुदाय स्वरूप ही सत् है । इस प्रकार इसकारिका का अर्थ है ।

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

अन्वय—कार्योत्पाद (एव) नियमात् हेतोः क्षयः । लक्षणात् (पुनः) पृथक् । जात्याद्यवस्थानात् न तौ (भिन्नौस्तः) । अनपेक्षाः (ते) खपुष्पवत् ।

अर्थ—कार्य का उत्पाद ही नियम से अपने उपादान कारण का विनाश है । उत्पाद और विनाश ये दोनों अपने अपने लक्षण से ही भिन्न२ हैं । जात्यादिक के अवस्थान से नहीं । परस्पर की अपेक्षा से रहित उत्पाद, विनाश और

ध्रौव्य ये तीनो खपुष्प के समान हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि सत् नित्यानित्यात्मक कैसे है, तथा उत्पादादित्रय परस्पर सापेक्ष कैसे है। घटरूप उपादेय का उत्पाद ही उसके उपादान कारण का पूर्वाकाररूप से क्षय है। अर्थात्—उपादान का पूर्वाकार से क्षय कार्य का उत्पाद ही है क्योंकि उत्पाद और विनाश का एक ही हेतु है। मुद्गरादिक के संनिधान से जो कपाल माला का प्रादुर्भाव हुआ वही तो घट का विनाश है। अत कपाल माला की उत्पत्ति में उपादान जो घट है सो उस घट का विनाश हो कपालरूप कार्य है। ऐसी बात तो है नहीं कि कपालमाला का उत्पादक कारण भिन्न हो और घट का विनाश कारण भिन्न हो। इस उत्पाद और विनाश को एक कारण मानने से यौगों का जो ऐसा कहना है कि उपादानरूप घट विनाश का कारण दूसरा है और उपादेय रूप कपालमाला के उत्पाद का कारण दूसरा है सो इससे निरस्त हो जाता है।

यौगों की उत्पाद विनाश प्रक्रिया इस प्रकार से है-वे कहते १ हैं कि जब बलवत्पुरुष द्वारा प्रेरित मुद्गरादिक का व्यापाररूप सम्बन्ध घट से होता है तब उसके अभिघात से घट के अवयवों मे कपालों में-क्रिया की उत्पत्ति होती है उससे अवयवो का परस्पर मे विभाग हो जाता है इस विभाग से सयोग का विनाश होता है। इससे घट के विनाश की प्रतीति होती है। तथा उपादेय जो कपालमाला है उसके उत्पाद की प्रतीति इस प्रकार से होती है कि—कपालमाला के आरभक जो अवयव हैं उनमें क्रिया होती है उस क्रिया से सयोग विशेष का उत्पाद होता है।

सो इस प्रकार से उत्पाद विनाश की इस प्रक्रिया का उद्घोषण करना ठीक नहीं है। कारण कि यह आप्रीतिक है। प्रतीति में तो केवल यही आता है कि बलवत्पुरुष द्वारा प्रेरित मुद्गरादिक के व्यापार से ही घट विनाश और कपाल का उत्पाद होता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि मुद्गरादिक के व्यापार से घटावयवरूप कपालों में क्रिया

१ ननूपादातघटनविनाशस्य बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविभागात्सयोगविनाशादेव प्रतीतेरुपादेयकपालोत्पादस्य तु इत्यादि [अ० स०)

आ० मी० २४१

ही उत्पन्न होती है सो इस प्रकार के कथन मे भी हमें कोई विरोध नही है—क्यो कि इस तरह से वह क्रिया ही घटविनाश और कपाल के उत्पाद मे एक कारणक सिद्ध हो जाती है। यदि कहा जाय कि क्रिया से अवयव विभाग की ही उत्पत्ति होती है तो यहां भी वहीं बात आती है कि कपाल उत्पाद और घट विनाश का यह अवयव विभागरूप एक ही कारण है। भिन्न २ कारण नहीं। यदि फिर भी ऐसा कहा जाय कि विभाग से घट के अवयव के सयोग का विनाश ही होता है तो यह कथन भी हमारे ही कथन की पुष्टि करता है। यदि इस पर भी संतोष न हो और ऐसा कहा जाय कि अवयव सयोग के विनाश से अवयविरूप घट का विनाश होता है तो इससे साफ यही बात जाहिर होती है कि घट के अवयवभूत कपालों का प्रादुर्भाव होता है। अत किसी भी तरह से उत्पाद विनाश का विचार क्यो न किया जाय इन दोनो में भिन्न हेतुता आती ही नहीं है। महास्कंधो के अवयव सयोग के विनाश से भी तो लघुस्कधो की उत्पत्ति देखने मे आती है। यदि इस पर भी यह तर्क किया जाय कि उत्पाद और विनाश एक कारणक नही हो सकते कारण कि जो कपालमाला उत्पन्न हुई है उसका कारण वह नहीं है जो घट विनाश का कारण है किन्तु "कपालानि स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धानि कार्यत्वात् पटवत् (अ० स०)" जिस प्रकार कार्यरूप वस्त्र अपने परिमाण से अणुपरिमाण वाले कारणरूप तन्तुओं से आरब्ध होता है उसी प्रकार कार्यरूप कपाल भी अपने परिमाण से अणुपरिमाण वाले कारण से आरब्ध हुए माने जायेंगे। इसलिये कपालमाला रूप कार्य का उत्पादक कारण अन्य और घट विनाश का कारण अन्य मानना चाहिये। सो इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है कारण कि इस अनुमान में साध्य विकलता आती है—वह इस प्रकार से—हम पूछते हैं कि तन्तु जो पट के समवायी[1] कारण यौगो ने माने हैं सो वे अपटाकार परिणत होकर पट के समवायिकारण होते है या पटाकार परिणत होकर पट के समवायिकारण[2] होते हैं। पहिला

---

१ समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के भेद से यौगो ने ३ कारण माने हैं।

२ समवायिकारणत्व द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्। गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसवायिहेतुत्वम्। समवायि कारण द्रव्य भी होता है जैन परिभाषा मे इसे उपादान कारण कहा जाता हे। गुण और कर्म असमवायिकारणहोते हैं। पट के समवायिकारण तन्तु हैं और असमवायिकारण तन्तु सयोग हैं। "स्वसमवेत कार्योत्पादक समवायिकारणम्। केवल उपादान ही समवायिकारण नहीं होते किसी द्रव्य में जो कर्म उत्पन्न होता हे वह अपने आधारभूत द्रव्य मे ही समवेत रहता है। यहा द्रव्य कर्म का उपादान अथवा अवयव नहीं होते हुए भी उसका समवायि कारण है। इसी प्रकार घट अपने रूप का समवायिकारण है। तन्तु पट के समवायि कारण हैं।

वैशेषिक दर्शन भारतीयदर्शन परिचय पृ० १२५

पक्ष तो इसलिये ठीक नहीं है कि पटाकार अपरिणत तन्तुओं में पट इस प्रकार का प्रत्यय नहीं होता है । द्वितीय पक्ष में पट परिमाण से अणुपरिमाण वाले तन्तु पट के कारण नहीं बनते हैं क्योकि पटाकार परिणत जो तन्तु हैं उनमें पट समान परिमाणता प्रतीत होने लगती है । क्योकि आतान वितानीभूत जो तन्तु हैं उनमे ही पट रूप परिणाम के लिये आश्रयता आती है । यदि ऐसा न माना जाय तो जो कंडे मे तन्तु लपटे हुए है उनमे भी पट परिणामाश्रयता मानना पड़ेगी । इस प्रकार से परिमाण और परिणामी में सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता है । क्योकि प्रत्यय के भेद से परिणामी में कथचित् भेद भी सिद्ध है । अत यह वात ऐकान्तिक नहीं मानी जा सकती है कि कार्य अपने से अल्प-परिमाणवाले कारण से ही आरब्ध होता है । द्रव्य एवं भाव इन दोनो निमित्तक उपादान उपादेय भाव होता है । इस लिये ऐसा कहना कि पट अपने अल्पपरिमाण वाले उपादान रूप कारण से उत्पन्न होता है ठीक नहीं है । अत यह पट का दृष्टान्त साध्य शून्य है । इस अनुमान में जो हेतु " कार्यत्वात् " यह दिया है वह अनैकान्तिक है । देखो—विखरा हुआ जव कपास रहता है तव उस महा परिमाणवाले कपास पिंड से अल्प परिमाण वाला निविड कपास पिंड उत्पन्न होता देखा जाता है । अतः कार्यत्व के सद्भाव में भी स्वपरिमाणात् अणुपरिमाणकारणारब्धत्वरूप साध्य का यहां अभाव देखा जाने से हेतु में अनैकान्तिकता स्पष्ट है । और इसी से यह हेतु विरुद्ध भी है क्योंकि साध्य से विपरीत के साथ इस हेतु की व्याप्ति है - यथा संभव सूक्ष्मरूप अथवा स्थूलरूप पर्याय से वर्तमान जो महापरिमाण वाला पुद्गलादिक द्रव्य है उसमें अपने कार्य की आरभकता देखी जाती है इससे यह व्याप्ति सिद्ध होती है कि कार्य अपने से महापरि-माण वाले कारण से आरब्ध होता है । अत स्वपरिमाण से अल्पपरिमाणवाले कारण से कार्य निष्पन्न होता है इस साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती । इसलिये साध्य से विरुद्ध साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति सिद्ध होने से यह कार्यत्व हेतु स्पष्टरूप से विरुद्ध हेत्वाभास की कोटि मे आ जाता है । इस कपालोत्पाद एव घट विनाश इन दोनों का एक हेतु है—निमित्त कारण इन दोनों का मुद्गरादिक का व्यापार तथा उपादान कारण मृत्तिका है । इसलिये कार्य का उत्पाद ही पूर्वाकार का विनाश है । क्योकि उत्पाद और विनाश का एक ही हेतु है । भिन्न २ नहीं ।

इस प्रकार होने पर भी उत्पाद और विनाश मे सर्वथा अभेद मान्य नहीं है। क्योकि इनका लक्षण भिन्न २ है। उससे इनमे भिन्नता आती है। "कार्यकारणयो उत्पादविनाशौ कथचित् भिन्नौ भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वात् सुख-दुःखवत् (अ० श०)" जिस प्रकार सुख और दु ख लक्षण की भिन्नता से कथचित् भिन्न है उसी प्रकार ये उत्पाद विनाश भी लक्षण की भिन्नता से कथचित् भिन्न हैं। उत्पाद का लक्षण है स्वरूप का लाभ होना तथा विनाश का लक्षण है स्वभाव की प्रच्युति होना। इसी तरह उन दोनो का सर्वथा भेद ही नहीं है क्योकि कथचित्–द्रव्य की अपेक्षा–इन दोनो में अभेद भी माना गया है। यही बात कारिकाकार ने "जात्याद्यवस्थानात्" इस पद द्वारा स्पष्ट की है। सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जाति की अपेक्षा, तथा एकत्व सख्या की अपेक्षा एव शक्ति विशेष के अन्वय की अपेक्षा से इन दोनो मे अभेद भी है। इस प्रकार होने पर भी वस्तु में त्रयात्मकता की सिद्धि कैसे हो सकेगी, सो ऐसी आशंका नही करनी चाहिये-क्योकि "उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं स्यादि्भन्न अस्खलन्नानाप्रतोतेः रूपादिवत्" जिस प्रकार रूप रसादिक के अपने लक्षण कथचित् भिन्न २ हैं उसी प्रकार उत्पाद व्यय एव ध्रौव्य के अपने २ लक्षण भी कथचित् भिन्न २ है। अतः रूप रसादिक की तरह ये भी कथंचित् भिन्न २ है। असत् पर्याय की अपेक्षा अविद्यमान-की उत्पत्ति का नाम उत्पाद सत् का विनाश व्यय एव द्रव्य का दोनो हालत मे अपने स्व-रूप से वर्तमान रहना ध्रौव्य है। इस प्रकार ये भिन्न २ लक्षणो से युक्त हैं तो भी परस्पर एक दूसरे से निरपेक्ष नही हैं। यदि इनको एक दूसरे से निरपेक्ष माना जाय तो आकाश पुष्प की तरह इनका अभाव मानना पड़ेगा। इसलिये "उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात् वियत्कुसुमवत् तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ (अ० श०)" स्थिति विगम रहित होने से केवल उत्पाद, स्थिति उत्पत्ति से रहित होने से केवल विनाश, एव विनाश एवं उत्पाद से रहित होने से केवल स्थिति कही पर भी नहीं बन सकती है–अर्थात् परस्पर निरपेक्षत्व में इनकी स्वरूपसत्ता भी साबित नही हो सकती है। इस कथन से यह भी समझ लेना चाहिये कि जब प्रत्येक उत्पादादिको मे परस्पर निरपेक्ष अवस्था में सत्त्व नही बन सकता है तो फिर इनमे प्रत्येक मे सत्त्व मानकर जो कोई त्रयात्मकत्व के प्रसग से अनवस्था का आपादान

करते है वे ठीक नहो है। क्योकि निरपेक्ष अवस्था में इनमें खपुष्प को तरह असत्व हो माना गया है। इस प्रकार इस कारिका का यह संक्षिप्त अर्थ है।

घटमौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकं ॥ ५६ ॥

अन्वय—घट–मौलि–सुवर्णार्थी अयं जन नाशोत्पाद स्थितिषु सहेतुकं शोक–प्रमोद–माध्यस्थ्यं याति।

अर्थ—घट मौलि एवं सुवर्ण के अर्थी ये तीन व्यक्ति नाश उत्पाद एवं ध्रौव्य में सहेतुक ही शोक, प्रमोद एवं माध्यस्थ्य भाव को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—कारिकाकार इस कारिका द्वारा दृष्टान्त को लेकर इस बात का समर्थन करते है कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय एव ध्रौव्य स्वभाव वाली है। वह इस प्रकार से–कल्पना करो–तीन व्यक्ति मिलकर बाजार में गये। इनमें एक सुवर्ण के घट का अर्थी था, दूसरा सोने के मुकुट का अभिलाषी था। तथा तीसरा मात्र सोनेका अर्थी था। ये चलते चलते एक सुनार की दुकान पर पहुँचे ही थे कि इतने में वह सुनार सोने के घट को तोड़कर मुकुट बना रहा था। जिस व्यक्ति को उस सोने के घट की कामना थी वह व्यक्ति उस सोने के घट को टूटता हुआ देखकर शोक में डूब गया। तथा जिसे मुकुट की इच्छा थी उसे मुकुट बनता हुआ देखकर प्रमोद भाव जाग्रत हो गया। और जो केवल मात्र सोने का इच्छुक था उसे घट को टूटता हुआ देखकर न विषाद हुआ और न मुकुट बनता हुआ देखकर हर्ष ही हुआ। प्रत्युत दोनों अवस्थाओं मे वह मध्यस्थ रहा, इस प्रकार इन व्यक्तियो मे जो ये शोक प्रमोद एव माध्यस्थ्यभाव उत्पन्न हुए हैं इनका कारण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। मूलद्रव्य यहां सुवर्ण है घट विनाश और मुकुट का उत्पाद ये दो उसकी पर्यायें है इसीलिये द्रव्य उत्पाद व्यय एव ध्रौव्य इन तीन धर्म विशिष्ट सिद्ध होता है। जिसे सुवर्ण के घट की आवश्यकता थी वह उसे विनष्ट देखकर दुःखी हो रहा है। इस दुःख का कारण घट का विनाश है। दूसरे व्यक्ति को हर्ष का कारण

मौलिका उत्पाद है। तथा तीसरे व्यक्ति को माध्यस्थ्यभाव का कारण ध्रौव्य है। क्योंकि इसकी दृष्टि में घटावस्था में भी सुवर्ण था और मुकुट अवस्था मे भी सुवर्ण है। अतः न इसे हर्ष है और न शोक ही। इस प्रकार शोक, प्रमोद और माध्यस्थभाव के कारण सुवर्णरूप द्रव्य गत उत्पादादित्रय ही हैं। पूर्व विषादि वासना नहीं। ये उनके बहिरंग कारण हैं अन्तरङ्ग कारण मोहनीय प्रकृति का विशेषोदय है।

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

अन्वय—पयोव्रतः दधि न अत्ति,दधिव्रत. पय न अत्ति अगोरसव्रत. उभे न (अत्ति) तस्मात् तत्वं त्रयात्मकम्।

अर्थ—पयोव्रत वाला व्यक्ति दही नहीं खाता है तथा दही खाने का व्रतलिया हुआ व्यक्ति दूध नहीं खाता है। इसी तरह अगोरसव्रती न दूध खाता है और न दही ही खाता है। इससे मालूम होता है—यह बात मानना चाहिये-कि प्रत्येक तत्त्व उत्पादादित्रयात्मक है।

भावार्थ—पूर्व कारिका द्वारा कारिकाकार ने लौकिकजनो की अपेक्षा लेकर वस्तु में उत्पादादि त्रयात्मकता प्रकट की है। इस कारिका द्वारा वे व्रतिजीवों की अपेक्षा लेकर उसे उत्पादादित्रयात्मक सिद्ध कर रहे हैं। वे कहते हैं देखो जो व्रती ऐसा नियम लेता है कि मै दूध ही खाऊगा वह दूध के सिवाय गोरस से निष्पन्न दही को नहीं खाता है। यद्यपि गोरस की अपेक्षा दूध और दही एक ही हैं फिर भी पर्याय की अपेक्षा इनमें परस्पर में भिन्नता है। इस तरह दूध खाने का नियम लिया हुआ व्यक्ति दूध में दही का अभाव मानता है और इसीलिये उसे स्वतंत्ररूप से नहीं खाता है। इस अपेक्षा दूध खाने वाले की दृष्टि में गोरस का दूधरूप से उत्पाद है और दधिरूप से व्यय है। इसी तरह जिसने दही ही खाने का नियम लिया है वह दही के सिवाय दूध को नहीं खाता है। उसकी दृष्टि में दही में दूध का अभाव है। अत यहां गोरस का दही रूप से उत्पाद है और दूधरूप से व्यय है। इसी प्रकार जिसने दूध दही दोनों को नही खाने

का नियम लिया है वह न दूध खाता है और न दही ही। उसकी दृष्टि में दोनों ही गोरस है। इस अपेक्षा गोरस में ध्रौव्यता सिद्ध होती है। इस प्रकार गोरस रूप तत्त्व उत्पादादित्रयात्मक सिद्ध हो जाता है।

इसी तरह प्रत्येक वस्तु उत्पादादित्रयात्मक है। ध्रौव्य की अपेक्षा वस्तु कथंचित् नित्य एव पर्याय की अपेक्षा कथंचित्-अनित्य सिद्ध हो जाती है। इन्ही धर्मों को लेकर सप्तभंगी घटित कर लेना चाहिये।

अष्टसहस्रीभाव ह्यादाय मया कृतोऽनुवादोऽयम्।
तृतीयपरिच्छेदस्य भवेत्त्रुटिः काऽपि संशोध्या ॥

इस प्रकार तृतीय परिच्छेद समाप्त हुआ।

चतुर्थ परिच्छेद

कार्यकारणनानात्वं गुण गुण्यन्यताऽपि च
सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते ॥ ६१ ॥

अन्वय—कार्यकारणनानात्व, गुणगुण्यन्यता अपि च सामान्यतद्वदन्यत्व च एकान्तेन यदि इष्यते।

अर्थ—कार्य कारण में सर्वथा भिन्नता, गुण गुणी में सर्वथा अन्यता तथा सामान्य और सामान्यवालों में जाति व्यक्ति में–सर्वथा भिन्नता यदि एकान्त से मानी जाती है।

भावार्थ—वैशेषिक सिद्धान्त "क्रियातद्वतोरवयवावयविनोर्गुणगुणिनोर्विशेषतद्वतोः सामान्यतद्वतोरभावत द्विशेष्ययोश्चान्यतैव भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवत् (अ० स०) इस अनुमान द्वारा यह सिद्ध करता है कि जिस प्रकार सह्य और विंध्य पर्वत भिन्न२ रूप में प्रतिभासित होने के कारण सर्वथा परस्पर में जुदे२ हैं उसी प्रकार क्रिया

और क्रियावान् पदार्थ, अवयव और अवयवी, गुण और गुणी सामान्य और व्यक्ति, विशेष और विशेष युक्त पदार्थ, एवं अभाव एवं अभाव विशिष्ट विशेष्य–पदार्थ ये सब परस्पर में सर्वथा भिन्न२ हैं–अलग२ हैं। क्योंकि इनका भी प्रतिभास जुदा२ होता है। कारिका मे कार्यपद १ के ग्रहण से कर्म, अवयवी, अनित्यगुण तथा प्रध्वंसाभाव इनका ग्रहण किया गया है। एवं कारण के ग्रहण से समवायी समवाय तथा प्रध्वंस के निमित्त का ग्रहण हुआ है। गुण शब्द से नित्य द्रव्यवर्ती गुणों का तथा गुणी से गुण के आधारभूत द्रव्य का, सामान्य से पर और अपर सामान्य रूप जाति का तथा "तद्वत्" पद से द्रव्य गुण और कर्म का ग्रहण किया गया है।

यहा इन सब में भिन्नता–पृथक् पृथक्पना सिद्ध करने के लिये दिया गया जो भिन्नप्रतिभासत्व रूपहेतु है वह असिद्ध इसलिये नही है कि साध्य विशिष्ट धर्मी में इस हेतु के सद्भाव का निश्चय है। इसलिये यह हेतु संदिग्धा सिद्ध अथवा अज्ञातासिद्ध भी नहीं हो सकता है। अन्यतरासिद्ध भी इसलिये नहीं है कि वादी और प्रतिवादी को इसमें विवाद नही है। यदि कोई इस प्रकार से इस हेतु में व्यभिचार दोष देवे कि "भिन्न २ पुरुषों को एक ही विषय भिन्न २ रूप से प्रतिभासित होता है एतावता भिन्न २ प्रतिभास का विषय होने पर भी वह पदार्थ अनेक नहीं माना जाता है।" अत भिन्न प्रतिभासत्व रूप से जो आप अनेकत्व सिद्ध करना चाहते हो वह ठीक नहीं है–सो ऐसा कहना ठीक नहीं है कारण कि इस प्रकार से यहां व्यभिचार नही आता है क्योंकि यहां जो भिन्न प्रतिभासत्व हेतु है वह नाना पुरुषों की अपेक्षा भिन्न प्रतिभासत्व रूप से विवक्षित नहीं हुआ है किन्तु एक पुरुष की अपेक्षा से ही वह विवक्षित हुआ है। अर्थात् जहां एक प्रतिपत्ता की अपेक्षा भिन्न २ प्रतिभास होता है वह प्रतिभासित विषय अनेक–भिन्न २–ही होता है। यदि इस पर फिर भी इस प्रकार की आशका की जाय कि एक ही प्रतिपत्ता को क्रम २ से एक ही वस्तु भिन्न २ रूप से प्रतिभासित होती है परन्तु ऐसा होने पर भी वह वस्तु अनेक नहीं मानी जाती वह तो एक ही रहती

---

१ कार्यग्रहणात्कर्मणोऽवयविनोऽनित्यस्य गुणस्य प्रध्वंसाभावस्य च ग्रहणं कारणवचनात् समवायिनस्तद्वतः प्रध्वंसनिमित्तस्य च। गुणशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिः गुणिशब्दात्तदाश्रयस्य सामान्याभिधानात्परापरजातिप्रत्ययः तद्वत्ताद्वर्थप्रत्यय (अ० स०)

है जैसे एक ही वस्तु को प्रतिपत्ता जब समीप से देखता है तो वह स्पष्ट प्रतिभासित होती है और उसे ही जब वह दूर से देखता है तो वही अस्पष्टरूप से प्रतिभासित होती है। इस प्रकार क्रमशः एक ही प्रतिपत्ता के भिन्न २ प्रतिभास के विषय बनी हुई वह वस्तु अनेक थोडे ही मानी जाती हैं। अतः इससे हेतु–भिन्न प्रतिभासत्व में अनैकान्तिकता आती ही है सो इस प्रकार का कहना भी ठीक नहीं है कारण कि यहां जो भिन्न प्रतिभासत्व हेतु है वह भिन्नलक्षण सम्बन्धी भिन्न प्रतिभासत्व समझना चाहिये। इससे यह शका निरस्त हो जाती है कि एक ही प्रतिपत्ता के लिये जो क्रमशः एक ही वस्तु भिन्न २ रूप से प्रतिभासित होती है वह यद्यपि भिन्न २ प्रतिभास की विषय भूत है तो भी वह भिन्न २ लक्षण सम्बन्धी भिन्न २ प्रतिभास की विषयभूत नहीं है। भिन्न २ लक्षण संबंधी भिन्न २ प्रतिभास के विषयभूत कार्य कारण, गुण, गुणी, सामान्य व्यक्ति आदि हैं। क्योंकि इन सबके लक्षण भिन्न २ हैं। अतः इनका प्रतिभास भी भिन्न २ है। ऐसा प्रतिभास एक वस्तु में नहीं होता है। इसलिये-भिन्न लक्षण सम्बन्धी जो भिन्न प्रतिभास होता है और उस का जो विषय होता है वह अनेक ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार के प्रतिपादन से यह हेतु सर्वथा निर्दोष साबित हो जाता है। जब एक वस्तु का भिन्न लक्षण रूप से भिन्न प्रतिभास नहो होता है तो इसी से हमारा यह हेतु विरुद्ध भी नहीं होता है। यह हेतु विरुद्ध तो तब होता कि जब इसकी विपक्ष में -साध्याभाव में-वृत्ति सम्पूर्ण रूप से या एक देश रूप से रहती १। परन्तु ऐसा तो पूर्वोक्त कथन से साबित किया जा चुका है कि इस हेतु की वृत्ति विपक्ष में किसी भी रूप से नहीं है। कालात्ययापदिष्ट यह हेतु इसलिये नहीं है कि इस का भेदरूप पक्ष प्रत्यक्ष एवं आगम से बाधित नहीं है। यदि कोई इस पर ऐसी आशंका करे कि यह हेतु कालात्ययापदिष्ट है ही क्योंकि इसका पक्ष-भेद रूप साध्य-"कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतो-स्तादात्म्यमभिन्नदेशत्वात् ययोस्तादात्म्यं न तयोरभिन्नदेशत्वम् यथा सह्यविंध्ययोः अभिन्नदेशत्वं च प्रकृतयोः तस्मात्ता-

---

१ अनैकान्तिक हेत्वाभास और विरुद्ध हेत्वाभास मे अन्तर केवल इतना ही है कि अनैकान्तिक हेत्वाभास पक्ष सपक्ष में रहता विपक्ष मे रहता है। तब कि विरुद्धहेत्वाभास सिर्फ साध्याभाव में ही रहता है। सपक्ष में नहीं।

दात्म्यम्" इस प्रकृत अनुमान से बाधित होता है-अर्थात् जो कार्य कारण में गुण गुणी में सामान्य जाति मे सर्वथा भिन्नता साध्य है वह साध्य कार्यकारण में गुण गुणी में सामान्य जाति मे अभिन्न देशता होने से तादात्म्य है जिनमें तादात्म्य नहीं है उनमें सह्यविंध्य पर्वत की तरह अभिन्न देशता भी नहीं है। इस अनुमान द्वारा बाधित होता है। सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है। कारण कि इनमें शास्त्रीय देशाभेद-अभिन्न देशत्व-असिद्ध हैं।

क्योकि कार्य का देश अपना कारण और कारण का देश अपना अन्य कारण है। जैसे पट का देश तन्तु और तन्तु का देश कपास होता है। वैशेषिक शास्त्र में इनका सबका देश भिन्न २ माना गया है। अभिन्नदेशता-एक-देशता -इनमें नहीं मानी गई १ है। अभिन्नदेशता का मतलब यहां पर अपृथगाश्रयवृत्तित्व से है। यह अपृथगाश्रय वृत्तित्व इनमे नहीं है। अर्थात् पृथगाश्रयवृत्तित्व है। इस तरह पृथगाश्रयवृतित्व होने से ही शास्त्रीय देशाभेद की इनमें असिद्धि है। लौकिक देशाभेद की अपेक्षा अभिन्न देशता व्योम आत्मा आदि द्रव्यों में भी है। परन्तु वहां साध्य-तादात्म्य-नही है। इसलिये देशाभेद को लेकर गुण गुणी आदि पदार्थों में तादाम्य सिद्ध नहीं होता है। तादात्म्य सिद्धि के अभाव मे यह अनुमान प्रकृतपक्ष-भेद पक्ष-का बाधक नहीं होता है। अत "भिन्न प्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवत् कार्य कारणयोः गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतो अवयवावयविनोः अन्यतैव" इस पूर्वोक्त अनुमान से कार्य कारण गुणगुणी इत्यादिकों में सर्वथा भिन्नता प्रसिद्ध होती है। इस प्रकार वैशेषिक सिद्धान्त सम्मत भेद एकान्त का कथन कर कारिकाकार इसके प्रत्युत्तर स्वरूप आगे की कारिका कहते है।

---

१ सत्यामयुतसिद्धौ चेत् इत्यादि ४३ वीं एव ४४ वीं कारिका इसके लिये देखना चाहिये आप्तपरीक्षा की। "यतः कारण-द्रव्य तन्तुलक्षण स्वावयवांशुषु वर्तते, कार्यद्रव्य च पटलक्षण स्वावयवेषु तन्तुषु वर्तते, इति अवयवावयविनोः पृथगाश्रयवृत्तित्वसिद्धेरपृथगा-श्रयवृत्तित्वमसदेवेति प्रतिपादनम्। यतश्चगुण कार्यद्रव्याश्रयो रूपादि, कार्यद्रव्य तु स्वावयवाधार प्रतीयते तेन गुणगुणिनोरपृथगाश्रयवृत्ति-त्वमसभाव्यमान निवेदित।

इष्या० आप्त० परीक्षा पृ० १११

एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा ।
भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥ ६२ ॥

अन्वय—भागाभावात् एकस्य अनेकवृत्ति न स्यात् (वृत्तिश्चेत्) बहूनि वा (स्युः) भागित्वात् वा अस्य एकत्वं न स्यात् । अनार्हते (मते) वृत्तेः दोषः (दुर्निवारः) ।

अर्थ—निरंश होने से एक की अनेक में वृत्ति हो नहीं सकती है । यदि वृत्ति मानी जावेगी तो उनमें अनेकता मानना पड़ेगी । यदि इसके भाग माने जावेंगे तो यह एक नहीं हो सकता है । इस प्रकार अनार्हत मत में वृत्ति मानने पर उसमें दोष दुर्निवार हो जाता है ।

भावार्थ—६१ वीं कारिका में जो कार्य कारण, गुणगुणी, सामान्य सामान्यवान् मे सर्वथा अन्यत्व वैशेषिको ने समर्थित किया है और वहां यह कहा है कि इन सब में भिन्न प्रतिभासता को लेकर अत्यन्त भिन्नता है । सह्यपर्वत और विंध्य पर्वत मे जो सर्वथा भिन्नता है वह इसी की वजह से तो है । इसी तरह यह कार्य है यह कारण है यह गुण है यह गुणी है यह सामान्य है यह सामान्यवाला है इस प्रकार से इन सबका प्रतिभास भी भिन्न२ होता है । अतः जब इनका प्रतिभास भिन्न२ रूप मे होता है तो क्यो न ये परस्पर अत्यन्त भिन्न माने जावेंगे । अवश्य माने जावेंगे । इस भिन्नप्रतिभासत्व हेतु मे दोषों का उद्धार ६१ वीं कारिका द्वारा किया ही जा चुका है । इसलिये जो इनका देशाभेद रूप हेतु को लेकर परस्पर मे तादात्म्य सम्बन्ध अंगीकृत करते हैं उनका कथन समीचीन नहीं है । क्योंकि वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार वहां पर देशाभेद है ही नहीं । कारण कि जिन दो पदार्थों की अभिन्न (एक) आश्रय में वृत्ति होती है वहीं पर देशाभेद होता है । इस देशाभेद का दूसरा नाम ही अयुतसिद्धि है । वह देशाभेद इन कार्य कारण, गुणगुणी, सामान्य और सामान्यवानो मे नहीं है । क्योंकि कारण—तन्तुरूप द्रव्य अपने अवयवरूप अंशो मे रहता है और कार्यपटरूप द्रव्य अपने अवयवरूप तन्तुओ मे रहता है । रूपादिक गुण कार्यद्रव्यरूप गुणी मे रहते हैं और गुणी अपने अवयवो मे रहता है

इसी तरह द्रव्यत्वादिक सामान्य द्रव्यादिरूप अपने व्यक्तियो में रहता है और द्रव्यादिरूप व्यक्ति अपने आश्रयों में रहते हैं। इसतरह से इन सब मे एकाश्रयतारूप देशाभेद वैशेषिक सिद्धान्त स्वीकार नही करता है। लौकिक देशाभेद तो " भवेत् दुग्धाम्भसोरपि) दुग्ध और पानी मे भी है। परन्तु वहां तादात्म्य नही है। सयोग है। इस प्रकार वैशेषिको ने अपने सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस पर कारिकाकार इस कारिका द्वारा उनसे यह पूछते हैं कि एक कार्यद्रव्यादिक की अनेक कारणादिको में जो वृत्ति मानी जायगी सो क्या वह प्रत्येक२ अपने आश्रय में एक देश से मानी जायगी या सर्वदेश से मानी जायगी " तत्र एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यधिकरण न तावदेक देशेन निष्प्रदेशत्वात् नापि सर्वात्मना अवयव्यादि-बहुत्वप्रसगात् (अ० श०) प्रथम पक्ष इसलिये सुन्दर नही माना जा सकता है कि " भागाभावात् एकस्यानेकवृत्तिः न" एक कार्यादिक द्रव्य स्वय निरश माने गये है। उनके अश तो उनके अवयवी ही है और दूसरे कोई उनके अंश नहीं हैं १। अत एक कार्य द्रव्य की अनेक अपने कारणो मे खडश वृत्ति नही मानी जा सकती है। यदि एक कार्य की अपने अनेक कारणो मे सर्वात्मना—सम्पूर्णरूप से—वृत्ति मानी जाय तो " एकत्रैवावयवे सर्वात्मनाऽस्य वृत्तित्वात् अन्येषा मवयवानामवयविशून्यताप्रसङ्गः यावन्तो वाऽवयवाः तावन्तोऽवयविनः स्यु प्रत्यवयवं तस्य सर्वात्मना परिसमाप्तत्वात् (न्याय-कुमुदचंद्र पृ० २२३) एक ही अवयव में कार्य की सर्वात्मना वृत्ति हो जाने से अन्य और जो उसके अवयवरूप कारण है उनमे उस अवयवी के रहने का अभाव होने से उसकी शून्यता का प्रसग प्राप्त होता है—अथवा जितने उसके अवयवरूप कारण हैं उतने ही अवयवी होने का प्रसग प्राप्त होता है क्योकि प्रत्येक अवयवरूप कारण में वह अवयवीरूप कार्य सर्वात्मना परिसमाप्त हो जाता है। जब पटरूप कार्य सर्वात्मना अपने प्रत्येक अवयवभूत तन्तुरूप कारण में वर्तमान माना जायगा तो यह स्वाभाविक बात है कि या तो उसके वे अनेक तन्तु वस्त्ररूप कार्य से रहित मानना पडेंगे या उन सब मे भिन्न२ रूप से वस्त्ररूप कार्य का सद्भाव मानना पडेगा। तथा च " बहूनि वा " ऐसा कारिकाकार का दोष प्रदर्शन करना सर्वथा उचित बैठता है। यदि इस पर यो कहा जाय कि कार्य द्रव्य मे बहुत्व होने का दोष इसलिये नही

१ " अवयवव्यतिरेकेण अवयविनोऽपरदेशाभावत्" —न्यायकुमुदचन्द्र पृ २२३

आ सकता है कि हम लोग उसे अपने२ अनेक कारणों में खंडशः रहने वाला मान लेंगे कुछ पहिले तन्तु में वह रहेगा कुछ दूसरे तन्तु में रहेगा कुछ तृतीय आदि तन्तुओं में रहेगा–इस प्रकार उसकी खंडश. वृत्ति कबूल कर लेने से उसमें बहुत्व का प्रसग वारित हो जायगा–सो ऐसा कहना भी इसलिये उचित नही है कि यदि इस प्रकार से उसमें विभाग कल्पना की जायगी तो वह कार्य एकरूप से नही माना जा सकता है। अर्थात् इस प्रकार की मान्यता में उसमें एकपना नहीं बन सकता है। यही बात " भागित्वे वास्य नैकत्व " इस उत्तरार्द्ध के पादांश द्वारा प्रकट करने में आई है। यदि तन्तुओं से भिन्न मानने पर भी पट में सांशता मानी जाय तो इसी प्रकार का वहां भी विकल्प उपस्थित होगा पट अपने अंशों में खडशः रहता है। कि सर्वात्मना रहता है इस प्रकार वृत्ति विकल्पों का पुनः पुनः अवतरण होगा जिससे कुछ मतलब हल नहीं हो सकेगा। वृत्ति शब्द का अर्थ अपने कारणों में कार्य का रहना है। इस पर इन पूर्वोक्त विकल्पों का उठना ही वृत्ति विकल्प है। इस प्रकार कार्यादिको की अपने२ कारण आदि मे अनार्हत मत में वृत्ति दूषित साबित हो जाती है। इसी तरह गुण और सामान्य में भी निरशता होने से उनकी भी गुणी और सामान्यवानों मे वृत्ति दूषित समझ लेनी चाहिये। क्योकि इसी तरह के एक देशरूप अथवा सर्वदेशरूप से रहने के–विकल्प वहां भी उठते हैं। इससे गुण में और सामान्य मे अनेकता का प्रसंग प्राप्त होता है। परन्तु वैशेषिक सिद्धान्त में संयोग आदि गुण एवं द्रव्यत्व आदि सामान्य अनेक नहीं माने गये हैं। भले ही वहां गुण और सामान्य क्रमशः २४ और २ भेद वाले कहे गये हैं परन्तु रूपादिक गुण एवं द्रव्यत्व आदि सामान्य के और रूपादिक गुण एव सामान्य थोडे ही माने हैं।

इसी अपेक्षा यह कहा गया है कि गुण और सामान्य की वृत्ति अपने आश्रयो में सर्वात्मना मानने पर उनमें अनेकता का प्रसंग मानना पडेगा। अत गुण गुणी में कार्य कारण में एव सामान्य सामान्यवानों में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्धरूप वृत्ति ही मानना चाहिये। तभी जाकर इनकी सिद्धि हो सकती है। यदि समवाय सम्बन्ध इनका परस्पर में सम्बन्ध कारक माना जावेगा–अर्थात् यदि ऐसा कहा जाय कि गुण और गुणी का सामान्य सामान्यवानों का अवयव अवयवी का जो सम्बन्ध होता है वह समवाय सम्बन्ध है और उस वृत्ति द्वारा ही अवयव आदि में अवयवी आदि रहते

हैं-सो इस पर भी यही कहा जा सकता है कि अवयव आदिकों मे जो अवयवी समवाय सबंध से रहेगा सो क्या वह प्रत्याश्रय मे-प्रत्येक अपने अवयव मे एकदेश रूप से समवेत रहेगा या सर्वरूप से समवेत रहेगा। भाग का अभाव होने से वह एकदेश रूप से वहां समवेत हो नहीं सकता-यदि माना जायगा तो जितने उसके अवयव हैं उनमे सबमें सर्वात्मना उसके समवेत होने से उसमें अनेकत्वापत्ति आती है। यह सब बात ऊपर प्रदर्शित ही की जा चुकी है। अव-यव अवयवी, कार्य कारण आदि में सर्वथा-एकांत रूप-से जो भिन्नता-अनेकता-सिद्ध करने के लिये भिन्न प्रतिभासत्वरूप हेतु दिया गया है वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास से दूषित होता है क्योकि यह तुम्हें मानना चाहिये कि जिसकी जिससे सर्वथा भिन्नता- रहती है वहां उसकी वृत्ति उपलब्ध नही होती है जैसे हिमवान और विंध्य ये दोनों परस्पर में सर्वथा भिन्न २ हैं इसलिये हिमवान में विंध्य की वृत्ति उपलब्ध नही होती है। परन्तु ऐसी बात अवयव अवयवी आदिकों में तो है नहीं, क्योंकि यहां तो अवयवी आदिकों की वृत्ति अपने अपने आश्रयो में उपलब्ध होती है। इसलिये एकान्त रूप से ये परस्पर में सर्वथा भिन्न नहीं माने जा सकते हैं। इस तरह भिन्न प्रतिभासत्व रूप हेतु का विषय जो अवयव अवयवी में एकान्त नानात्व का पक्ष है वह इस पूर्वोक्त कथन से-व्यतिरेक अनुमान से-बाधित हो जाता [1] है यदि इस पर यों कहा जाय कि यह तुम्हारा कथन ठीक नही है—व्यभिचरित है। कारण कि दही और थाली इनमें सर्वथा भिन्नता है तो भी दही की सयोग रूप वृत्ति थाली में अनुपलब्ध नही है-वहां उसकी वृत्ति देखी जाती है। सो ऐसा कहना भी उचित नही है कारण कि दही और थाली में सर्वथा भिन्नता नहीं है। ये दोनों सयोग के परिणाम हैं। यदि ये संयोग के परिणाम स्वरूप न होते तो इनका सयोग कभी हो ही नहीं सकता। तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर ये वृत्ति विकल्प वहां नही उठते है। इसके लिये अष्टसहस्री देखना चाहिये। इस प्रकार गुण गुणी का कार्य कारण का और सामान्य सामान्य वालो का परस्पर में सर्वथा भिन्न पक्ष सुघटित नहीं होता है।

आ० मी० ३५३

१ कार्य-गुण-सामान्यानि स्वाश्रयेभ्यो नैकान्तेन भिन्नानि-तत्र वृत्त्युपलब्धेः यस्य तु यतोऽन्यत्वैकान्तः तस्य तत्र न वृत्त्युपलब्धिः यथा हिमवति विंध्यस्य। अय व्यतिरेकदृष्टान्तः।

देशकालविशेषेऽपि स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत् ।
समानदेशता न स्यान्मूर्तकारणकार्ययोः ६३ ॥

अन्वय—देशकाल विशेषे अपि (तयोः) युतसिद्धवत् वृत्तिः स्यात् । मूर्तकारणकार्ययो समानदेशता न स्यात् ।

अर्थ—अवयव और अवयवी आदि का परस्पर सर्वथा–अत्यन्त भेद यदि स्वीकार किया जाय तो देश और काल की अपेक्षा से भी इनमें सब में भेद मानना पड़ेगा । इस अपेक्षा भेद मानने पर इनकी वृत्ति युतसिद्ध पदार्थों की तरह होगी । तथा मूर्त-कारण और कार्य में समान देशता-एकदेशपना-नहीं बन सकता है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रकट करते हैं कि जब धर्म और धर्मी में-अवयव और अवयवी आदि पदार्थों में सर्वथा अत्यन्त भिन्नता मानी जावेगी–तो ऐसी स्थिति में देश और काल की अपेक्षा भी उनमें भेद मानने का प्रसंग प्राप्त होगा ।

शका—जिनमे परस्पर अत्यन्त भेद होता है उनमें देश और काल की अपेक्षा भी भेद हो जाता है ऐसा नियम नहीं बन सकता । क्योंकि आत्मा और आकाश में अत्यन्त भेद है तो भी उनमे देश और काल की अपेक्षा भेद नहीं माना जाता है । इसलिये अवयव और अवयवी-कार्य और कारण आदि का परस्पर में सर्वथा भेद रहने पर भी देशकाल की अपेक्षा इनमें भेद साध्य सिद्ध कैसे हो सकता है ?

उत्तर—आत्मा और आकाश में सर्वथा भेद माना ही नहीं गया है क्योंकि " सद्द्रव्यत्वादिना भेदाभावात् " सत्ता अथवा द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा से उन्हें कथचित् एक माना है । यहां तो यह बात बतलाई जा रही है कि जिनमें सत्ता द्रव्यत्व आदि की अपेक्षा भी एकत्व नहीं है-अत्यन्त भेद है-उनमें देश और काल की अपेक्षा भी भेद मानना पडेगा । आत्मा आकाश में ऐसी बात तो है नहीं, अत इनमें अत्यन्त भेद का अभाव होने से देश काल की अपेक्षा भी भेद नही आता है ।

शका—रूप, रस, गध और स्पर्श इनमें परस्पर में अत्यन्त भिन्नता मानी जाती है परन्तु देशकाल की अपेक्षा लेकर इनमें भेद नहीं आता है अतः अत्यन्त भेद देश और काल की अपेक्षा भी भेद का नियामक नहीं हो सकता है ?

उत्तर—यह भी कहना ठीक नही है। कारण कि रूपादिक गुणों का अपने आश्रयभूत द्रव्य से अत्यंत भेद नहीं माना गया है। और न परस्पर में भी इनका अत्यंत भेद माना गया है। दूसरे–ये तो पक्षान्त पाती हैं। इनसे नियम का विघात कैसे हो सकता है। हम तो यही कह रहे हैं कि गुण और गुणी में अत्यन्त भेद नहीं है। गुणत्व जाति की अपेक्षा एक होने से उनमें-वर्णादिको में-परस्पर में भी सर्वथा भिन्नता नहीं है। इसलिये अवयव अवयवी में सर्वथा भिनता मानने पर उनकी वृत्ति युतसिद्ध पदार्थों की तरह–घट पट आदि पृथक् भूत पदार्थों के समान–भेद–रूप मानना पड़ेगी।

शंका—कार्य और कारण आदि का समान देश और समानकाल स्वीकृत किया गया है अतः उनकी वृत्ति भेद रूप नहीं मानी जा सकती ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही। कारण कि अवयव अवयवी, कार्य कारण आदि मूर्त्त पदार्थों की वृत्ति गधे और ऊट की तरह समानदेश-एकदेश-में हो ही नहीं सकती है।

शंका—वात-वायु और आतप ये मूर्त पदार्थ हैं। पर इनकी वृत्ति तो एकदेश में देखने में आती है ? फिर आप ऐसा क्यो कहते हैं ?

उत्तर—वात और आतप की वृत्ति जिस आकाश प्रदेशरूप एकदेश को लेकर एकदेश में समझ रहे हो वह एक देश यहां विवक्षित नहीं है। और यदि हो भी, तो भी उसमें जब वात अवयवी और आतप अवयवी अपने २ प्रदेशों से-अवयवों से अत्यन्त भिन्न हैं तब उनकी भी वृत्ति उसमें नहीं हो सकती है। यह दोष उपस्थित ही रहता है। वात

और आतप रूप अवयवी समानदेश वाले नहीं हैं। क्योंकि इनके अपने २ अवयव ही इनके देश हैं। वैशेषिक सिद्धान्तकारो ने जब अयुतसिद्धत्व का विचार किया है वहां यह बतलाया है कि किसी भी पदार्थ का समानदेश नहीं हैं। इसलिये वात अपने अवयवो में और आतप अपने अवयवो में रहता हैं। फिर कैसे इन दोनों का देश समान माना जा सकता है। इसलिये ऐसा कहना कि वात और आतप की वृत्ति एकदेश में देखी जाती है उचित नहीं है।

शंका —वात और आतप की तरह अवयव और अवयवी में भी इसी तरह की असमान देशता हमने मानी है अर्थात् भिन्न देशता मानी है। एक देशता तो मानी ही नहीं है–फिर "मूर्तकारणकार्ययो समानदेशता न स्यात्" ऐसा कारिकाकार का कहना कोई दोषावह नहीं होता है।

उत्तर–ऐसा समझना उचित नहीं है कारण कि परमाणु और द्व्यणुक मे इस प्रकार की भिन्न देशता का अभाव होने से समान देशता भी वहां नही आती है। मतलब कहने का यह है कि जिस प्रकार पट और तन्तुओ में पट की तन्तुओ में और तन्तुओ की अपने अवयवो मे वृत्ति होने से समानदेशता नहीं है भिन्न देशता है इस प्रकार की भिन्न देशता परमाणु और द्व्यणुक मे नहीं है। क्योंकि द्व्यणुक की वृत्ति परमाणुओं मे तो हैं पर परमाणु की वृत्ति अपने अवयवो मे नहीं है क्योकि परमाणु निरंश माना गया है। इस तरह द्व्यणुक और परमाणु में भिन्नदेशता का अभाव-आता है, इससे कोई ऐसा भी समझ सकता है कि द्व्यणुक और परमाणु में एकदेशता होगी सो उसके लिये ऐसा कहा गया है कि यहां समान देशता भी-एकदेशता भी-नहीं हो सकती है।

शका—परमाणु और द्व्यणुक इनमें एकदेशता है ही नही, क्योकि द्व्यणुक का देश परमाणु है और अनंश भी परमाणु का देश अन्य आश्रयान्तर है जहां कि वह ठहरा हुआ है फिर एकदेशता यहां समझने की बात ही कहां रहती है कि जिस एक देशत्व के अभाव को प्रकट करने के लिये "मूर्त कारणकार्ययोः समान देशता न स्यात्" ऐसा कारिकाकार के द्वारा कहा जाय। वहां उसकी प्रसक्ति होती तो ही उसका वारण करना उचित था? यहां तो समान देशता ही है?

उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नही है। कारण कि परमार्थ दृष्टि से तो परमाणु ओर द्वयणुक रूप कार्य कारण में भिन्न देशता आती नही है। क्योकि परमाणु अनश है। यदि परमाणु साश होता तब ही कार्य कारण में परमार्थतः भिन्नदेशता आती है। अन्य आश्रयान्तर रूप आकाश प्रदेश में वह परमाणु रहता है इसलिये इस दृष्टि से-लौकिक दृष्टि से-वहा भिन्नदेशता कल्पित की गई है। तो इसी तरह से इसी लौकिक देश-आकाश प्रदेश स्वरूप—की अपेक्षा से कार्य कारण में समान देशता मानने का प्रसग प्राप्त होता है। इसके लिये कारिकाकार ने ऐसा कहा है कि एक आकाश के प्रदेश रूप देश में भिन्न २ दो मूर्तपदार्थ नही रह सकते हैं।

शंका—जैनदृष्टि तो ऐसा नही मानती है। वहां तो एक ही आकाश के प्रदेश में असंख्येय आदि परमाणुओ का अवस्थान अविरुद्ध माना गया है।

उत्तर—यहा पर जुदे २ मूर्त कार्य कारणो का एक प्रदेश में रहने का सूत्रकार ने निषेध किया है। किन्तु अवगाहना शक्ति की विशेषता से एकत्वरूप से परिणमित हुए असख्यात परमाणु भी एक आकाश प्रदेश मे रहते हैं इसका निषेध नही किया है। जो इस एकत्व परिणाम से रहित हैं किन्तु सयोग मात्र रूप से स्थिति हैं—ऐसे परमाणुओ का एक आकाश प्रदेश में अवस्थान नहीं बतलाया है। उनकी वृत्ति तो अनेक आकाश प्रदेशो में ही मानी जाती है। अतः मूर्त कार्य कारण यदि सर्वथा भिन्न २ है तो इनका अवस्थान एकदेश में कथमपि नहीं हो सकता है। यह कथन सूत्रकार का बिलकुल निर्दोष है।

आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातंत्र्यं समवायिनाम्।
इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः।, ६४ ॥

अन्वय—आश्रयाश्रयिभावात् समवायिनां स्वातन्त्र्यं नास्ति इति "चेत्" समवायिभिः अयुक्त सः सम्बन्धः न युक्तः।

अर्थ—आश्रयाश्रयिभाव होने से समवायियों मे स्वतन्त्रता नहीं है यदि इस प्रकार वैशेषिक कहें तो कारिकाकार उत्तर देते है कि समवायियो के साथ अयुक्त-दूसरे समवाय सम्बन्ध से असम्बन्धित-वह समवाय सम्बन्ध रूप से घटता ही नही है—सिद्ध ही नही होता है ।

भावार्थ ६३ वी कारिका द्वारा जो यह कहा गया है कि " अवयव आदिको से अवयवी आदिकों की अत्यन्त भेदवृत्ति मानी जायगी तो उनका देश काल की अपेक्षा भी भेद मानना पड़ेगा तथा च स्वतत्र घटपट की तरह-युतसिद्ध पदार्थों की तरह -उनकी स्वतंत्रवृत्ति मानने का प्रसग प्राप्त होगा" सो इसके ऊपर समाधान रूप मे वैशेषिक उत्तर देते हुए कहते है कि कार्य कारण आदि पदार्थो में -क्रिया क्रियावान्, अवयव अवयवी, गुण गुणी, विशेष विशेषवान्, सामान्य सामान्यवान् इन सब समवायी पदार्थों मे—स्वतन्त्रता नहीं आती है कि जिससे युतसिद्ध पदार्थों की तरह देश और काल आदि के भेद से उनकी वृत्ति मानी जा सके । इनमे तो आश्रयाश्रयिभाव है । अवयव आदिकों में आश्रयभाव तथा अवयवी आदिको में आश्रयिभाव है । तथा ये सब पदार्थ परस्पर मे समवाय सम्बन्ध से जकडे हुए हैं-बधे हुए हैं—जुडे १ हुए हें—इसलिये समवाय सम्बन्ध के आधीन होने से-समवाय सम्बन्ध द्वारा प्रतिबद्धित होने से-ये सब समवायी पदार्थ देश काल आदि के भेद से अपनी वृत्ति कैसे कर सकते हैं । ये सब स्वतंत्र होते तब ही ऐसा कर सकते १ । परन्तु हमने नित्य द्रव्यो को छोडकर ६ पदार्थो मे आश्रितपना माना है । अत स्वतत्र न होने की वजह से समवायियों में देश कालादिक के भेद से युतसिद्ध पदार्थो की तरह भेद वृत्ति नही हो सकती है ।

इस प्रकार वैशेषिको का अभिमत चित्त मे धारण कर कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह कह रहे है कि हे वैशेषिक ! समवायियो को परस्पर मे जोड़ने वाला वह समवाय पदार्थ-समवायियो को आश्रयाश्रयिभाव मे रखकर

---

१ अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहद प्रत्ययलिङ्गो य सम्बध समवाय. (प्रशस्तपादभाष्य सम० प्र०) सानुवाद आप्त परीक्षा पृ० १०६ ।

१ षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य. । (प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६)

उनकी स्वतत्रता का अपहरण करने वाला समवाय —अपने इन समवायियो में दूसरे समवाय से जुडता है कि स्वतः जुड़ता है ? यवि समवायान्तर से जुडता है-अपने समवायियो मे दूसरे समवाय से यह समवाय रहता है-यह पक्ष अ गीकार किया जाय तो अनवस्था दोष आता है क्योकि अन्य समवाय की वृत्ति भी अपने समवाय-समवायो मे दूसरे समवाय से मानना पडेगी । इस तरह अपरापरसमवायान्तर की कल्पना से अनवस्था दोष स्पष्ट है इस दोप से वचने के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि समवाय अपने समवायियो मे स्वत विना अन्य समवाय के-सम्बन्धित होता है तो फिर द्रव्यादिकों को-समवायियो को-परस्पर मे इसके द्वारा जुडने की क्या आवश्यकता है । जिस प्रकार बिना अन्य समवाय के समवाय अपने द्रव्यादिक सम्बन्धियो मे जुड जाता है उसी प्रकार ये द्रव्यादिक सम्बन्धी परस्पर मे जुडे हुए हैं यह मान लेना चाहिये । तथा च समवायाधीनता समवायियों मे नही आती है । स्वतत्रता ही आती है ।

शका—समावाय को अपने समवायियो मे जुडने के लिये अन्य समवायान्तर की अपेक्षा नहीं मानी गई है-जहां इसे आश्रित बतलाया गया है वह उपचार से बतलाया गया है । अतः ऐसा विकल्प उपस्थित करना उचित नहीं है ।

उत्तर—तो फिर इस प्रकार के कथन से यह बात साबित होती है कि समवाय अपने समवायियो के साथ असम्बद्ध है । इस प्रकार असम्बद्ध यह समवाय अपने समवायी द्रव्यादिको के साथ कैसे रह सकता है ? नही रह सकता है तब फिर समवायियो को-द्रव्यादिकों की-स्वतंत्र—पृथक्- सिद्ध होने मे क्या वाधा है । इसलिये कारिकाकार का यह कथन कि "समवायिभिः अयुक्तः स सम्बन्धो न युक्त" जो अपने समवायियो से अयुक्त है-जुड़ा हुआ नही है वह सम्बन्ध ही घटित नहीं होता है-वह सर्वथा अयुक्त है । यदि इस तरह से इसे सम्वन्ध माना जायगा तो कालादिकों को भी सम्बन्ध रूप से मान्य रखना पडेगा ।

शंका —समवाय अपने समवायियो के साथ विशेषण विशेष्य भाव रूप सम्बन्धित माना १ गया हैं । अतः

१ 'इन समवायियो मे समवाय हे, इस प्रकार के प्रत्यय से वैशेषिको ने समवाय और समवायियो का विशेषण विशेष्यभाव सम्बध माना है । 'विशेषणविशेष्यभावो हि समवायसमवायिना परैरिष्टः' आप्तपरीक्षा पृ० १२२

इसे सम्बन्ध स्वरूप मानने में क्या आपत्ति है। समवाय विशेषण है समवायी विशेष्य है।

उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नही है। कारण १ कि यह विशेषण विशेष्य भाव समवाय-समवायियों से भिन्न ही स्वीकार किया जायगा अभिन्न नहीं, अन्यथा समवाय को भी समवायियों से अभिन्न मानना होगा। इस तरह भिन्न माना गया वह विशेपणविशेष्यभाव सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों मे अन्य दूसरे विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध से प्रतिनियत होगा ·अन्य प्रकार नहीं और उस दशा मे अन्य २ विशेषण विशेष्य भावो की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसंग होता है। यदि विना अन्य विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध के वह अपने सम्बन्धियों मे सम्बन्धित होता है तो वह सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। यदि इस सम्बन्ध को अपने सम्बन्धियो के साथ कथंचित् तादात्म्य स्वरूप (कथंचित् अभिन्न) माना जाय तो कार्य कारण आदि मे भी वही कथंचित् अभिन्नता मान लेनी चाहिये। फिर समवाय सम्बन्ध की कल्पना करने से क्या लाभ। इस प्रकार सर्वथा भेद पक्ष दूषित ही होता है।-

इस कारिका का निष्कर्षार्थ यह है कि वैशेषिक ने समवाय सम्बन्ध से सबंधित होने की वजह से कार्य कारण आदि मे स्वतन्त्रता का निषेध किया-तब इसके ऊपर आचार्य ने कहा कि वे समवाय संबंध से सबंधित होते ही नहीं है। अत' परतंत्रता का अभाव होने से इन कार्य कारण आदिको में स्वतंत्रता आने से देशकाल आदि के भेद से युतसिद्ध पदार्थो की तरह इनकी स्वतत्र वृत्ति मानने का प्रसग वारित नहीं हो सकता है।

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाप्तितः।
अंतरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः॥ ६५॥

१ स च समवायसमवायिभ्योऽर्थान्तरमेव न पुनरमर्थान्तरम् समवायस्यापि समवायिभ्योऽनर्थान्तरत्वापत्तेः। सच अर्थान्तरभूतो विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धः स्वसम्बन्धिषु परस्मादेव विशेषणविशेष्यभावात्प्रतिनियत स्यात् नान्यथा। तथा चापरापरविशेषणविशेष्यभावपरिकल्पना यामनवस्थाऽख्या वाधा तद्वदस्त्येव।

आप्त परीक्षा पृ० १२३।

अन्वय–सामान्य च १ समवायः अपि आश्रयमंतरेण नस्यात् एकैकत्र समाप्तितः । (तत) नाशोत्पादिषु कः विधिः ।

अर्थ–सामान्य–सत्ता–जिस प्रकार आश्रय के विना नहीं रहता है उसी प्रकार समवाय भी विना आश्रय के नहीं रहता है इस प्रकार ये दोनो साश्रय हैं और अपने आश्रयभूत पदार्थों में–नित्य पदार्थों में–से प्रत्येक पदार्थ में ये समस्तरूप से रहते हैं अंशरूप से नहीं । जव इस प्रकार की सामान्य और समवाय की स्थिति है तो फिर नाशोत्पादी-अनित्यपदार्थों में नवीन उत्पन्न हुए पदार्थों में–इनका विधान कैसे माना जासकता है ।

भावार्थ—वैशेषिक का ऐसा कहना है कि समवाय सत्ता सामान्य के समान नित्य ही है । कार्य जब उत्पन्न होता है तव वह सत्ता का समवायी माना जाता है । इस प्रकार कार्य और समवाय का जोड़ा है । इसलिये ६४ वीं कारिका में जो समवाय को सम्बन्ध नहीं होने बावत बात कही गई है वह ठीक नहीं है । क्योकि कार्य समवायी और उसमे रहा हुआ नित्य सम्बन्ध समवाय है । "समवाय २ का लक्षण भी तो नित्यसम्बन्ध समवाय·" ऐसा है अर्थात् समवाय उस सम्बन्ध का नाम है कि जो दो वस्तुओं में सर्वदा से मौजूद है । घट में जो घटत्व का सबंध है वह नित्य एव अचल है । जहां घट रहेगा वहां घटत्व रहेगा ही । यद्यपि सयोग के द्वारा भी दो वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित होता है किन्तु वह सम्बन्ध अनित्य होता है । समवाय सम्बन्ध ऐसा नहीं है वह न कभी उत्पन्न होता है और न विनष्ट । यह अनादि अनंत सम्बन्ध है । संयोग और समवाय मे निम्नलिखित भेद है–

संयोग युतसिद्ध वस्तुओं में होता है समवाय अयुत सिद्ध वस्तुओ में । युतसिद्ध पदार्थ वे हैं जो पहिले पृथक् २ विद्यमान थे । उनका जुड जाना ही युतसिद्ध या संयोग है । अयुत सिद्ध पदार्थ वे हैं जो कभी नहीं जोडे गये अर्थात् जो

---

१ च शब्दोऽयं भिन्नप्रक्रम इवार्थे तेन सामान्यमित्यस्यानन्तर द्रष्टव्य· । ततोऽयमर्थं प्रतिपादितो भवति सामान्यमिवेति-सामान्य यथा आश्रयमन्तरेण न स्यात्तथा समवायोऽप्याश्रयमन्तरेण न स्यात् । नित्यव्यक्तिषु प्रत्येकपरिसमाप्तत्वात् इत्यर्थं ।
अष्टसहस्री टि० पा० २१९

२ भारतीय दर्शन परिचय के आधार से यह लिखा है ।

सर्वदा से संलग्न हैं। जो पदार्थ कभी पृथक्२ विद्यमान नहीं थे उनका नित्य आधाराधेय सम्बन्ध ही अयुतसिद्धि–समवाय है। अयुतसिद्ध वस्तुओं का यह लक्षण है कि उनमें जबतक एक का विनाश नही होता तब तक वह दूसरे में ही आश्रित रहता है " ययोर्द्वयोर्मध्ये एकम विनश्यद् अपराश्रितमेवावतिष्ठते तौ एव द्वौ अयुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ (तर्कसंग्रह)। संयोग दो स्वतत्र वस्तुओं मे होता है समवाय सम्बन्ध आधार और आधेय में ही हो सकता है। सयोग एक पक्ष व उभय पक्षों के कर्म से उत्पन्न होता है किन्तु समवाय सम्बन्ध किसी के कर्म से उत्पन्न नहीं होता। समवाय से संम्बन्ध वस्तुएं एक दूसरी से अलग नहीं की जा सकती हैं–जब तक उनका अस्तित्व है तबतक उनका सम्बन्ध विच्छेद नही हो सकता। घट का रूप कभी घट से पृथक् नहीं किया जा सकता। हम घट को नष्ट भले ही कर डालें किन्तु उसके रहते हुए घटत्व को उससे बाहर नहीं कर सकते। फूल पर भ्रमर आकर बैठा है यह संयोग सम्बन्ध है–फूल में सुगंध है यह समवाय संबन्ध है। सयोग सयुक्त वस्तुओ का नाश हो जाने पर या उनके रहते हुए भी विनष्ट हो जाता है किन्तु समवाय सम्बन्धियो के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता क्योंकि यह सत्ता की तरह स्वतत्र और स्वात्मवृत्ति होता है द्रव्य १ में गुण कर्मादिक समवाय सम्बन्ध से रहते हैं किन्तु स्वत. समवाय किस सम्बन्ध से रहता है ? यदि कहा जाय कि समवाय द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध से रहता है तो अनवस्था आ जाती है। घट में घटत्व समवेत है किन्तु इस समवाय सम्बन्ध का भी घट में समवाय नही माना जा सकता क्योंकि वह एक ही है (समवायस्त्वेक एव)। समवाय सयोग सम्बन्ध से भी नहीं रह सकता क्योकि सयोग द्रव्याश्रित गुण है। उसकी वृत्ति द्रव्यातिरिक्त पदार्थ में नहीं हो सकती। अत समवाय न सयुक्त हो सकता है और न समवेत। यह अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है। जिस प्रकार घट में सत्ता की वृत्ति स्वाधीन है किसी दूसरी सत्ता पर निर्भर, नहीं करती उसी प्रकार द्रव्यादिक में समवाय की वृत्ति भी स्वाधीन है। इस का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही होता है। क्योंकि यह अतीन्द्रिय है। अवयव अवयवी, गुण गुणी, क्रिया क्रियावान् जाति व्यक्ति एवं विशेष और नित्य व्यक्ति में यह सम्बन्ध होता है।

१ घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणो- तेषु जातेश्च सम्बन्ध समवायः परिकीर्तित· ।

सामान्य का अर्थ जाति है। यह समानरूप से अपनी२ व्यक्तिरूप बहुत सी वस्तुओं में रहता है जैसे–गोत्व। संसार में गायें बहुत सी हैं किन्तु गोत्व जाति एक ही है। जाति स्वतः एक होते हुए अनेक व्यक्तियों में समवेत रहती है। गायें जन्मती हैं और मरजाती हैं किन्तु गोत्व जाति का कभी विनाश नहीं होता। "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्" (तर्क सग्रह) सामान्य का यह लक्षण है। घट पट आदि कार्य द्रव्य भी अनेक समवेत हैं किन्तु वे नित्य नहीं हैं। अतः सामान्य नहीं कहे जा सकते। आकाश का परिमाण भी नित्य हैं किन्तु उसकी वृत्ति एकमात्र व्यक्ति (आकाश) में सीमित है (एकव्यक्तिमात्रवृत्तिस्तु न जाति) इसलिये अनेक समवेत नहीं होने से वह जाति नहीं माना गया है। सामान्य के परसामान्य अपर सामान्य तथा परापर सामान्य इस तरह से ३ भेद माने १ गये हैं।

इनमें केवल पर सामान्य–सत्तामात्र–ऐसी जाति है जो सामान्य ही कही जा सकती है विशेष नहीं। अपर-सामान्य स्व विषयों के संयोजक होने से सामान्य और विषयान्तरों से विच्छेदक होने के कारण विशेष दोनों समझे जा सकते हैं। परत्वापरत्व-परापर-सामान्य आपेक्षिक होते हैं जैसे द्रव्यत्व को ले लीजिये। यह सत्ता की अपेक्षा न्यून विस्तार वाला होने के कारण अपर किन्तु पृथ्वीत्व की अपेक्षा अधिक विस्तार वाला होने के कारण पर है। इसी तरह पृथ्वीत्व भी द्रव्यत्व की अपेक्षा अपर और घटत्व की अपेक्षा पर है। सीधे शब्दों में "पर" से अपर, तथा "अपर" से नीचे का अर्थ समझना चाहिये। सबसे ऊपर वाला सामान्य है सत्ता, क्योंकि, यह सभी जातियों में व्यापक है, किसी का व्याप्य नहीं अत पर सामान्य है। सबसे नीचे वाला सामान्य है घटत्व आदि। इनके नीचे कोई दूसरी जाति नहीं है अतएव ये किसी जात्यन्तरके व्यापक नहीं हो सकते व्याप्य मात्र हो सकते हैं इसलिये ये शुद्ध 'अपर' सामान्य हैं इन दोनों के मध्यवर्ती द्रव्यत्व आदि समान्यपर और अपर दोनों होते हैं इन्हें परापर कहते हैं द्रव्य गुण कर्म इनमें सत्ता रहती है२।

१ सामान्य परम् अपर परापरञ्चेति। व्यापकमात्र मामान्य पर, व्याप्यमात्रसामान्य अपरम् व्याप्यव्यापकोभयरूप सामान्य परापरम् सप्तपदार्थी।

२ द्रव्यादिकत्रिक वृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।
परभिन्ना तु या जाति सैवापरतयोच्यते॥
द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते।

आ० मी० ३६४

इस प्रकार यहां तक वैशेपिक सिद्धान्त की सामान्य और समवाय की मान्यता का यह परिचय उपयोगी समझ कर भारतीय दर्शन परिचय ग्रन्थ के आधार से कराया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सामान्य अपने व्यक्तियों से सर्वथा पृथक् है और उसे व्यक्तियों में जोड़ने वाला सम्बन्ध समवाय है।

कारिकाकार ने इसी पूर्वोक्त वैशेशिक की मान्यता को लेकर यह कारिका कही है-इसके द्वारा वे इसी मान्यता का पर्यवेक्षण करते हैं वे कहते हैं कि सामान्य और समवाय जब नित्य और एक एक हैं एवं एक एक पदार्थ में सम्पूर्ण रूप से रहते हैं तो किसी एक नित्य पदार्थ में ही ये दोनों सर्वात्मना परिसमाप्त हो जायेंगे तब अन्य नित्य पदार्थों मे एवं जो अनित्य पदार्थ हैं उनमें इनकी वृत्ति किस तरह मानी जायगी। ऐसा तो कहा जा सकता नहीं है कि उपजने विनशने वाले पदार्थों के स्थान में ये दोनों पहिले से ही उपस्थित१ थे क्योंकि "अंतरेणाश्रय न स्यात्" ये विना आश्रय के रहते नही हैं। यदि विना आश्रय के भी इनका रहना वहां माना जाय तो व्यक्ति की उत्पत्ति के पहिले भी इनका ग्रहण होना चाहिये। यदि कहा जाय कि उत्पित्सुप्रदेश में ये व्यक्त्यन्तर से आते हैं तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं हैं कारण कि जिस व्यक्ति को छोडकर ये आये हैं वह इनसे रहित हो जायगा और इस तरह उस का अभाव मानने का प्रसग प्राप्त होगा। यदि इस पर यो कहा जाय कि ये कुछ पहिले के आधार में बने रहेंगे और कुछ इस आधार में आ जावेंगे—सो ऐसा कथन उनमें सांशता सिद्ध करता है समवाय सामान्य को निरंश माना गया है। यदि सांशता उनमें मानी जायगी तो फिर उनमें सर्वथा नित्यता नहीं मानी जा सकती। इसलिये ऐसा कहना कि ये न तो कहीं से आते हैं और न स्वय

---

१ किं च इद सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्न चेत् तद्व्यक्त्युत्पत्तौ उत्पद्यते न वा यद्युत्पद्यते तद्देवानित्यत्वम् नोत्पद्यते चेत तदुत्पत्ति प्रदेशे विद्यते न वा, यदि विद्यते व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वमपि गृह्येत, अथ तद्देशे तन्नास्ति उत्पन्ने तु व्यक्ति विशेषे व्यक्त्यन्तरादागच्छति ननु ततः तद् आगच्छत् पूर्वव्यक्ति परित्यज्य आगच्छति न वा ? प्रथमपक्षे तस्यास्तद्रहितत्व प्रसगः। अथापरित्यज्य, तत्रापि किं व्यक्त्या सहैवागच्छति यद्वा केनचिददेशेन तत्रैव तिष्ठति केनचिदागच्छति। प्रथमविकल्पे शावलेयेऽपि बाहुलेयोऽयमिति प्रतीतिः स्यात्। द्वितीयविकल्पस्त्वयुक्तः निरंशत्वेनास्याशवत्तया प्रवृत्य संभवात्। सांशत्वे चास्य व्यक्तिवदनित्यत्व प्रसगः।

न्याय कुमु० पृ० २८७,२८८। प्रमेयकमलमार्तण्ड मे भी इसी प्रकार का विचार किया है। पृ० ४७३ पर।

उस प्रदेश मे पहिले से विद्यमान है, अ श रहित हैं, सर्वथा नित्य हैं और प्रत्याश्रय मे ये सर्वात्मना परिसमाप्त हैं तथा आश्रय के नाश होने पर ये विनष्ट नहीं होते हैं ठीक नही है । दूसरे यदि इन्हे प्रत्येक आश्रय में परिसमाप्त माना जायगा तो इस तरह इनमें एकत्व नहीं आ सकता है । अनेकत्वापत्ति आयेगी । सर्वत्र अविच्छेद से यदि इनमें एकत्व माना जायगा तो प्रागभावादिको का अभाव मानने का प्रसंग प्राप्त होगा । इस प्रकार यह कहना कि सामान्य और समवाय पदार्थ नित्य और एक हैं तथा सर्वगत हैं और ये दोनों अपने २ व्यक्तियो से सर्वथा भिन्न हैं, उत्पद्यमान पदार्थ सत्ता का समवायी है इस तरह समवाय और कार्य का जोडा बन जाता है इसलिये कार्य कारण आदि पदार्थों की देश-कालादिक के भेद से युतसिद्ध पदार्थों की तरह पृथक २ वृत्ति नहीं हो सकती है सर्वथा उपयुक्त नहीं है अत सामान्य और समवाय जब विना आश्रय के रहते नही है और अपने २ आश्रय में सर्वात्मना समाप्त होकर रहते है तो यह स्वाभाविक बात है कि फिर वे अनित्य पदार्थों में कैसे रह सकते हैं । इसका वैशेषिक के पास कोई समुचित उत्तर नहीं है ।

सर्वथाऽनभिसम्वन्धः सामान्य समवाययोः ।
ताभ्यामर्थो न संवद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥ ६६ ॥

अन्वय—सामान्य समवाययोः (परस्परेण) सर्वथा अनभिसम्बन्ध । ताभ्यां अर्थः न सबद्ध । (अतः) तानि त्रीणि खपुष्पवत् । (समनुषज्यन्ते) ।

अर्थ—सामान्य और समवाय का परस्पर में कोई सम्बन्ध न होने से ये दोनो सर्वथा असंबन्धित है । इसलिये इनसे अर्थ भी सबद्धित नही होता है । अत ये तीनों खपुष्प की तरह असत् ठहरते है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार वैशेषिकों के प्रति यह प्रकट करते हैं कि सामान्य और समवाय का परस्पर में कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता है । क्योकि संयोग सम्बन्ध दो [1] द्रव्यों में होता है । सामान्य और समवाय

---

१ द्रव्यद्रव्ययोः सयोग ।

ये द्रव्य नहीं हैं। इसी तरह सामान्य और समवाय में समवाय सम्बन्ध भी नही बनता है। क्योंकि समवाय एक माना गया है। दूसरे वैशेषिक सिद्धान्तानुसार इन दोनो में न संयोग सम्बन्ध माना गया है और न समवाय सम्बन्ध ही। अतः ये दोनों सम्बन्ध से रहित होने के कारण परस्पर मे सबद्धित नहीं हो सकते हैं। ऐसी हालत में सत्ता समवाय सम्बन्ध से द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों मे रहती है ऐसा कहना बन नहीं सकता है क्योंकि जब ये दोनों परस्पर में असम्बन्धित हैं तो इनसे यह तीन पदार्थरूप अर्थ कैसे सम्बन्धित हो सकता है। यदि कहा जाय कि सत्ता–सामान्य–और समवाय ये दोनों विशेषणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध से बधे हुए हैं सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां पर भी ऐसा ही प्रश्न हो सकता है कि विशेपणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध इनमें फिर किस सम्बन्ध से सम्बन्धित है इस प्रकार पूछने पर अन्यविशेषणविशेष्यभाव की कल्पना करने से अनवस्था दूषण आता है। अतः परस्पर में सम्बन्ध विहीन सत्ता और समवाय जब हैं तो फिर ऐसा कहना कि समवाय सम्बन्ध से सत्ता द्रव्यादिक तीन पदार्थों में ही रहती १ है उचित नहीं

१ वैशेपिको का ऐसा मान्तव्य है कि सत्ता–जाति–द्रव्य, गुण, एव कर्म इन तीन पदार्थों मे ही रहती है सामान्य, विशेष एव समवाय इन तीन पदार्थों मे नही रहती। भाष्यपरिच्छेद मे "द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यते" ऐसा ही कहा है। सामान्य को जाति होने मे जिन कारणो से बाधा पहुँचती है उनका निर्देश उदयनाचार्य ने इस प्रकार किया है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थिति।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसग्रह ॥

१ व्यक्ति अभेद–जैसे आकाश सर्वत्र एक ही है—अत आकाशत्व जाति नही हो सकती। जाति के लिये अपने व्यक्तियो की अभेदकता आवश्यक है।

२ तुल्यत्व—जहा भिन्न भिन्न शब्द एक ही अर्थ के वाचक हो वहा भिन्न भिन्न जातिया नही होती—जैसे घटत्व और कलशत्व ये दो जातिया नही हैं एक ही हैं।

३ सकरता—जहा एक सामान्य के कुछ व्यक्ति दूसरे सामान्य मे और दूसरे सामान्य के कुछ व्यक्ति पहिले सामान्य मे आ जाय वहा सकर दोप होता है ऐसी अवस्था मे जातित्व नही समझा जाता। जैसे भूतत्व और मूर्तत्व ये जाति नही हैं–भूतत्व केवल आकाश मे और मूर्तत्व केवल मन मे रहता है लेकिन पृथ्वी, अप्, तेज्, वायु मे भूतत्व और मूर्तत्व दोनो रहते हैं। इस प्रकार भूतत्व और मूर्तत्व

माना जा सकता है। क्योंकि वे अर्थ सत्ता के समवाय से बध ही नही सकते हैं अथवा सत्ता वहां समवाय से बंधती नहीं है। तो फिर जिस प्रकार कूर्मरोमादि पदार्थ सर्वथा असत्स्वरूप है उसी प्रकार सत्ता–सामान्य–समवाय एव द्रव्यादिक अर्थ ये तीनो ही असत्स्वरूप ठहरते हैं। यदि इस पर इस प्रकार कहा जाय कि "हम वैशेषिक लोगो ने वस्तु का स्वरूप जो सत्त्व अस्तित्व है वह द्रव्य, गुण एव कर्म इनमे तथा सामान्य, विशेष एव समवाय इनमें माना है। परन्तु अनुवृत्ति प्रत्यय का हेतु जो सत्त्व है वह तो द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में ही माना गया। सामान्य विशेष एवं समवाय में नहीं। कारण कि सामान्यादि त्रिक मे अनुवृत्तिप्रत्यय का हेतुभूत सत्त्व माना जायगा तो अनवस्था, स्वरूप हानि एवं असबंध ये क्रमशः तीन दोष आते १ हैं। इसलिये "खपुष्पवत्" जो दृष्टान्त कारिकाकार ने दिया है वह यहां ठीक नहीं

सामान्य के ये व्यक्ति एक दूसरे सामान्य में रहते है। इसलिये दोनो सामान्यो मे संकरता है। इसलिये भूतत्व मूर्तत्व जाति नही माने जा सकते।

४ अनवस्था–सामान्य की जाति नही। घट की जाति है घटत्व। अब यदि इस घटत्व की जाति (घटत्वता) भी मानते है तो उस की भी जाति (घटत्वतात्व) माननी पडेगी और फिर इस सिलसिलेका कभी अन्त ही नही होगा। इस तरह जाति की जाति मानने से अनवस्था दोष आ जायगा। अतएव "घटत्व" प्रभृति जातियो की जाति नही हो सकती।

५ रूपहानि–जहा जाति की कल्पना करने से व्यक्ति के स्वरूप की हानि हो जाय वहा जाति नही होती। अत विशेषो के बहुसख्यक होने पर भी "विशेषत्व" जाति नही हो सकती। क्योंकि विशेष स्वभावत· सामान्य के विरुद्ध धर्म है अत उनकी जाति कल्पना करने से उनके स्वरूप की हानि हो जायगी।

६ असम्बन्ध—जहा समवाय सम्बन्ध का अभाव हो वहा जाति नही होती। अत: "समवायत्व" जाति नही हो सकती। क्योंकि जाति व्यक्ति मे समवाय सम्बन्ध मे रहती हैं, किन्तु स्वय समवाय के साथ उसका समवाय सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

इन उपर्युक्त बातो से यह स्पष्ट है कि सामान्य विशेष अथवा समवाय की जाति नही हो सकती। द्रव्य, गुण एव कर्म इन तीन पदार्थों मे ही जाति की वृत्ति रहती है। (भारती० द० प पृ० १००)

१ अनुवृत्ति प्रत्यया भावात् न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेन्न तत्रापि अनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात् पृथिवीत्व गोत्व घटत्वादि सामान्येषु सामान्य सामान्यमिति, विशेषेष्वपि बहुत्वात् अयमपि विशेषोऽयमपि विशेष इति, समवायेऽच प्रागुक्त युक्त्या तत्तद-वच्छेदकभेदात् एकाकार प्रतीतेरनुभवात्। द्रव्यादिषु मुख्योऽयमनुगत प्रत्यय सामान्यादिषु गौण इति चेन्न विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात्।

बैठता। कारण कि खरविषाण मे तो स्वरूपतः भी सत्त्व नहीं है। तब कि द्रव्य, गुण एवं कर्मरूप पदार्थों में स्वरूपत. सत्त्व माना गया है" सो ऐसा वैशेषिकों का कथन उचित नहीं है कारण कि जब द्रव्यादिक में स्वरूपतः सत्त्व है तो उसमें फिर सत्ता के समवाय को मानने की आवश्यकता ही क्या रहती है। यह तो वहां व्यर्थ ही हो जाता है। यदि स्वरूप सत्त्व मानने पर भी द्रव्यादिको मे सत्ता का सम्बन्ध माना जाता है तो सामान्य, विशेष तथा समवाय इनमें भी सत्ता का सम्बन्ध मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि इनमें (सामान्यादिक तीन में) स्वरूपतः सत्त्व नहीं माना जावेगा तो फिर ये खरविषाण की तरह अवस्तुरूप ही ठहरते हैं। अतः इस अपेक्षा हमारा दृष्टान्त ठीक ही बैठता है।

दूसरे— जिस प्रकार सत्ता द्रव्य गुण एवं कर्म इस पदार्थो से सर्वथा भिन्न एव समवाय की तरह उनमें अनभिसबद्ध है उसी प्रकार वह कूर्म रोमादिक-खरविषाणादिक से भी ऐसी ही है तो फिर वह सत्ता ऐसी हालत में उनमें ही सत्त्व विधायक होगी खरविषाण आदिकों मे नहीं यह एक बिचार करने जैसी बात है। तथा समवाय से सर्वथा असंबद्ध सत्ता सामान्य द्रव्यादिको में समवायी माना जाय और समवायान्तर से सर्वथा असवद्ध समवाय वहां समवायी न माना जाय इसमे कोई नियामक नहीं है। कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है जो अपने सम्बन्धियो से असम्बद्ध होकर उन्हे मिला सके। संयोग जो आपने सम्बन्धियों को मिलाता है वह उनमे असम्बन्ध होकर उन्हें नहीं मिलाता -संयुक्त कराता-है। क्योकि यह अपने सम्बन्धियो में समवाय सम्ब·ध से समवेत माना गया है। अतः जब समवाय अपने सम्बन्धियो मे सर्वथा अनाश्रित है तो वह सम्बन्ध नही बन सकता। और न वह कार्य कारण गुण गुणी आदि पदार्थों की सर्वथा अन्यतैकान्त मे उनका परस्पर में घटन कारी हो सकता है। इसलिये अनर्थक्रियाकारी होने से समवाय में

सामान्यादिषु वाधकसद्भावात् न मुख्योऽनुगत प्रत्यय द्रव्यादिषु तदभावात् मुख्य इति चेन्ननु किमिद वाधकम्—अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमे अनवस्था, विशेषेषु पुन सामान्य सद्भावे स्वरूपहानि समवायेऽपि सत्ता कल्पने सम्बन्धराभाव इति वाधतानीति चेत् न सामान्येऽपि सत्त' कल्पने यद्यनवस्था तर्हि कथ न सा द्रव्यादिषु। तेषामपि स्वरूप सत्ताया प्रागेव विद्यमानत्वात्। विशेषेषु पुनः सत्ताऽभ्युपगमेऽपि न रूपहानिः स्वरूपस्यप्रत्युतोत्तेजनात्। नि सामान्यस्य विशेपस्य क्वचिदप्यनुपलभात। इत्या० स्याद्वाद मज० ७५ पृ०।

कूर्मरोमादिक की तरह अवस्तुरूपता सिद्ध हो जानी हैं। इसी तरह सामान्य में भी । अत सत्ता और समवाय से रहित होने के कारण द्रव्यादिक पदार्थ भी खरविषाण की तरह अवस्तु रूप सिद्ध होते हैं। इस तरह सामान्य और समवाय का परस्पर में सयोगादिसम्बन्ध न होने से ये दोनों सर्वथा असबद्धित सिद्ध होते हैं। इस इनकी असंबद्धता में द्रव्य गुण और कर्म भी सम्बन्धित नहीं हो सकने की वजह से असम्बद्धित रहेंगे। इस असंबद्धता में इनकी सबकी सत्ता साबित न हो सकने के कारण से सब अवस्तु स्वरूप खरविषाण की तरह ठहरते हैं। यह कहना कारिकाकार का बिलकुल निर्दोष है।

अनन्यतैकान्तेऽणूनां संघातेऽपि विभागवत्।
असंहतत्वं स्याद्भूत-चतुष्कं भ्रान्तिरेव सा ॥ ६७

अन्वय—अणूनां अनन्यतैकान्ते संघाते अपि विभागवत् असंहतत्वं स्यात्। भूतचतुष्क सा भ्रान्तिः एव (स्यात)।

अर्थ—परमाणुओं का अनन्यतैकान्तवाद मानने पर उनकी समुदाय रूप अवस्था में भी विभाग–विभक्त पदार्थों की–तरह उनका पार्थक्य ही मानना पडेगा। ऐसी अवस्था में भूतचतुष्क भ्रान्तिरूप ही ठहरेगा।

भावार्थ–कितनेक प्रतिवादी ऐसा कहते हैं कि परमाणु तो सर्वथा नित्य ही हैं-किसी भी अवस्था में चाहे वह उनकी संयुक्त अवस्था हो चाहे वियुक्त अवस्था हो उनमें अन्य स्वरूपता नहीं आती है सर्व ही अवस्थाओ में वे एक स्वरूप रहते है इसी का नाम अनन्यता का एकान्त है। इस अनन्यतैकान्त रूप मान्यता के ऊपर कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह प्रकट करते हैं कि परमाणु जब प्रचयरूप अवस्था सम्पन्न होते हैं-स्कंध रूप अवस्था में आते हैं-तो उस अवस्था में भी विभक्त घट पट पदार्थों की तरह वे विभक्त हो रहे हुए माने जावेंगे-अन्यथा स्वरूपान्तर रूप परिणमन के

सद्भाव में उनमें अनन्यतैकान्त स्वभाव का अभाव मानना पडेगा। संघात -स्कंध रूप -अवस्था में भी जब ये विभक्त माने जावेंगे तो ऐसी स्थिति में पृथिवी, जल, तेज, एव वायु ये चार भूत—जो कि पार्थिव, जलीय, तैजस एवं वायवीय परमाणुओं के संघात रूप है भ्रान्ति रूप ही ठहरेंगे। क्योंकि भूतचतुष्क परमाणु स्वरूप नहीं है किन्तु उनकी सघात स्वरूप वह दूसरी अवस्था है। इस अवस्था को परमाणु रूप नहीं कहा जाता है। अतः इस अनन्यता के एकान्त में परमाणुओ के सघात स्वरूप से प्रतीयमान यह भूत चतुष्क भ्रान्ति रूप ही ठहरेगा। यदि इसे भ्रान्ति रूप न माना जायगा-तो अनन्यता का एकान्त नहीं ठहरता है। मतलब कहने का केवल इतना ही है कि इस परमाणुओं के अनन्यतैकान्त में उनके कार्यों को भ्रान्त मानना पडेगा। तथा च-

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम्।
उभयाभावतस्तत्स्थं गुणजातीतरच्च न ॥ ६८ ॥

अन्वय—कार्यभ्रान्ते अणुभ्रान्ति, हि कारणं कार्यलिङ्गं (भवति) उभयाभावत तत्स्थं गुणजातीतरच्च न (स्यात्)।

अर्थ—कार्य —भूतचतुष्क—की भ्रान्ति से उसके कारण जो परमाणु है उन्हें भी भ्रान्त मानना पडेगा। क्योंकि कार्य द्वारा ही कारण का अवगम होता है। दोनों के अभाव से इनमें रहने वाले गुण, जाति, क्रिया आदि ये कुछ भी सिद्ध नहीं होते हैं।

भावार्थ इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि यदि यही एकान्त अंगीकार किया जाय कि परमाणुओ मे अनन्यता ही है और उनके ये जो भूत चतुष्क रूप कार्य हैं वे भ्रान्त हैं तो ऐसी स्थिति में परमाणुओं की भी कुशलता रक्षित नहीं रह सकती है। क्योकि जब कार्य भ्रान्ति स्वरूप है तो इनके जो कारण परमाणु हैं वे भी भ्रान्त स्वरूप मानना पड़ेंगे। दूसरे-परमाणुओ के गमक उनके कार्य होते हैं-कार्य से ही अपने कारण का बोध

कराया जाता है । ऐसी स्थिति में कार्य की भ्रान्ति में कारण स्वय भ्रान्त स्वरूप सिद्ध हो जाता है तब कार्य ही भ्रांति रूप है कारण नहीं यह नहीं माना जा सकता । अतः इन दोनों के अभाव में इनमें रहे हुए गुण, जाति, सत्व क्रिया आदि इन सबका अभाव प्रसक्त होता है । इसलिये यह मानना चाहिये कि परमाणु अपने परमाणु स्वरूप का परित्याग कर देते हैं और अवयवी स्वरूप का उपादान करते है । तभी जाकर कार्यद्रव्य अभ्रान्त सिद्ध हो सकता है । और उसके आश्रित रहने वाले गुण जाति आदि अभ्रान्त माने जा सकते है । इसलिये ये परमाणुओं का यह अनन्यतैकान्त श्रेयस्कर नहीं है । क्योकि कार्य की उत्पत्ति में उनमें कथचित् अन्यता उत्पन्न हो जाती है ।

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाभावोऽविनाभुवः ।
द्वित्वसंख्याविरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ॥ ६९ ॥

अन्वय—एकत्वे अन्यतराभाव- (तस्य चाभावे) शेषाभाव अविनाभुव द्वित्वसंख्याविरोधश्च, चेत् (सा) सवृत्तिः सा मृषा एव (स्यात्)

अर्थ—कार्य और कारण की सर्वथा एकता ही मानी जायगी तो ऐसी स्थिति में दोनो में से किसी एक का अभाव अवश्य आयगा । अब जो अवशिष्ट बचा है वह दूसरे के साथ अविनाभावी है इसलिये दूसरे के अभाव में इस बचे हुए अवशिष्ट का भी अभाव हो जायगा । तथा यह कार्य है यह कारण है इस प्रकार जो द्वित्वसंख्या की प्रतीति होती है वह इस एकत्व की मान्यता में विरुद्ध पड़ती है । यदि यह संख्या काल्पनिक मानी जाय तो कल्पना-सवृति-तो झूठी होती है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस बातका विचार कर रहे हैं कि कार्य और कारण को सर्वथा यदि एक रूप-तादात्म्य स्वरूप माना जायगा-जैसा कि सांख्यों ने माना है तो इसमें कार्य और कारण इन दोनों का ही अभाव हो जाता है । और वह इस प्रकार से-कार्य और कारण ये परस्पर में अविनाभूत होते है-अब यदि कार्य और कारण

एकरूप हो जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में या तो कार्य ही अवशिष्ट माना जायगा या कारण ही -दोनों नहीं। जब एक ही अवशिष्ट बचा रहा दूसरा नहीं तो, इस दूसरे के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहनेवाला यह बचा हुआ भी कैसे अपनी स्वतंत्र सत्ता रख सकता है। नहीं रख सकता। इस प्रकार कार्य कारण दोनों का अभाव प्रसक्त होता है। न प्रधान-प्रकृति-का अस्तित्व सिद्ध होता है और न उसके कार्य महद् अहंकार आदि का। इसी तरह इस कार्य कारण की सर्वथा एकता में द्वित्व संख्या का भी कोई अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता। यदि उसे कल्पना कर मान भी लिया जाय तो कल्पना से मानी गई वस्तु परमार्थ से मानी गई के समान नहीं होती है वह झूठी ही कहलाती है। अतः कार्य-कारण का-एकत्व एकान्त मानना भी युक्ति युक्त नहीं माना जा सकता है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ७० ॥

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विषा विरोधात् उभयैकात्म्यं न (सभवति) अवाच्यतैकान्ते अपि "अवाच्यं" इति उक्तिः न युज्यते।

अर्थ—स्याद्वादसिद्धान्त की नीति से विरोध रखने वालों के यहां अन्यता और अनन्यता ये दोनों मान्यताएं परस्पर विरोधी होने की वजह से युगपत् एक जगह सभवित नहीं हो सकती है। इसी तरह इनकी एकान्त अवाच्यता में भी "अवाच्य" इस प्रकार का कहना भी नहीं बनता है।

भावार्थ—जिस प्रकार स्याद्वाद नीति के सहारे से एक ही जगह विवक्षावश परस्पर विरोधी धर्म एक ही साथ रहते हैं उसी प्रकार से अवयव अवयवी, गुण गुणी, सामान्य सामान्यवान् आदि पदार्थों में अन्यत्व और अनन्यत्व ये परस्पर विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते हैं। अर्थात् इन विरोधी मान्यताओं की एकात्मता वहां नहीं घट सकती है। क्योंकि परस्पर विरोधी मान्यताओं का या धर्मों का एकत्र समन्वय अनेकान्तस्याद्वाद-की नीति से ही हो सकता है

और वह नीति इस मान्यताओं के पक्षपातियों ने मान्य नहीं की है—उससे तो ये विरोध रखते हैं। ऐसी स्थिति में अन्यत्वैकान्त एव अनन्यत्वैकान्त का एक जगह समन्वय नहीं हो सकता है। क्योंकि ये दोनों ही मान्यताएं एक दूसरे की मान्यता से सर्वथा विरुद्ध हैं।

इसी तरह इन दोनो की मान्यता एकत्र समाविष्ट कर उसे सर्वथा अवाच्यता का रूप भी दे दिया जावे तो ऐसी हालत में उनमें अवाच्यता समझाने के लिये "अवाच्य" इस शब्द का वहां प्रयोग ही नहीं हो सकता है। नहीं तो वह सर्वथा अवाच्य नहीं बन सकता है। अतः अन्यत्व अनन्यत्व एव अवाच्यत्व इनका समन्वय किस तरह से होता है इसे कारिकाकार प्रकट करते हैं-

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणाम विशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥ ७१ ॥

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२

अन्वय—द्रव्यपर्याययोः ऐक्यं तयोः अव्यतिरेकतः। परिणामविशेषात् शक्तिमच्छक्तिभावतः, सज्ञा-सख्या विशेषात्, स्वलक्षण विशेषतः, प्रयोजनादिभेदात् च तन्नानात्व, न सर्वथा।

अर्थ—द्रव्य और पर्याय इन दोनों में (किसी अपेक्षा) एकता है, क्योकि इनमें सर्वथा व्यतिरेक की उपलब्धि नहीं होती है। तथा परिणाम के विशेष से, शक्तिमच्छक्तिभाव से, संज्ञा तथा संख्या की विशेषता से, अपने २ लक्षणों की भिन्नता से एवं प्रयोजन आदि के भेद से इन दोनों में (किसी अपेक्षा से) अनेकता भी है। इन दोनों में यह एकता एव अनेकता सर्वथा नही है।

भावार्थ—इन संमिलित दो कारिकाओं द्वारा कारिकाकार यह प्रदर्शित करते हैं कि एकत्व और अनेकत्व का समावेश एक ही जगह किस अपेक्षा से होता है तथा एकत्व किस अपेक्षा से है और अनेकत्व किस अपेक्षा से है ।

कारिका मे द्रव्य शब्द से गुणी, सामान्य एव उपादान कारण इनका ग्रहण किया गया है। पर्याय शब्द से गुण, व्यक्ति एव कार्य द्रव्यो का ग्रहण हुआ है। द्रव्य ओर पर्याय ये दोनों एक हैं-एक वस्तु हैं-इसका हेतु यह है कि इनमें अव्यतिरेक है-अशक्यविवेचनत्व है-द्रव्य और पर्याय ये परस्पर मे भिन्न २ नहीं हो सकते हैं-जिस प्रकार संयोगी पदार्थ एक दूसरे से भिन्न २ हो जाते हैं उस तरह द्रव्य और पर्याय ये आपस मे एक दूसरे से अलग अलग नहीं हो सकते हैं। और न विवक्षित द्रव्य की पर्यायें दूसरे द्रव्य मे लाई जा सकती हैं और न एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप हो सकता है-मतलब—द्रव्य को छोडकर पर्याय और पर्याय को छोड़कर द्रव्य नही उपलब्ध होता है। यही इनमें अशक्य विवेचनता है। यद्यपि इनका भिन्न २ रूप से प्रतिभास होता है— यह द्रव्य है, यह इसकी पर्याय है—इस तरह इनका पृथक् ज्ञान होता है -तो भी इनमें अव्यतिरिक्तता है। प्रतिभास भेद होने पर भी जहां २ अव्यतिरिक्तता-अशक्यविवेचनता -होती है वे एक होते हैं जैसे वेद्यवेदक आकार विशिष्ट ज्ञान, रूपादि गुण विशिष्ट द्रव्य, । यदि केवल द्रव्य को ही वास्तविक माना जाय पर्याय को नहीं अथवा पर्याय को ही यथार्थ माना जाय द्रव्य को नहीं तो इस स्थिति में किसी में भी अर्थक्रियाकारिता नहीं आ सकने के कारण उन दोनो मे स्वतंत्रता की हालत में अवस्तुत्वापत्ति आजाती है। किसी अपेक्षा भिन्न द्रव्य और पर्यायो मे किसी अपेक्षा अशक्य विवेचनत्व की अपेक्षा अभेद -एकत्व-मानने में विरोध वैयधिकरण, संशय, व्यतिकर, शंकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति एव अभाव ये आठ दोष नहीं आते हैं क्योंकि ये दोष यहां इसी तरह की प्रतीति से अपसारित-निरस्त-हो जाते हैं । द्रव्य पर्याय मे एकत्व -एकवस्तुत्व-है यह प्रतीतिप्रसिद्ध है, केवल कल्पना-नहीं है ।

द्रव्य पर्याय मे भेद इस तरह से माना गया है कि द्रव्य का अनादि अनत एक स्वाभाव स्वाभाविक परिणाम

है। द्रव्यस्यानाद्यनंतैकस्वभाववैश्रसिकपरिणामत्वात् (अ० स०) और पर्याय का सादि, सान्त, अनेक स्वभावरूप नैमित्तिक परिणाम है। "पर्यायस्य साद्यन्तानेकस्वभाव परिणामत्वात् (अ० स०) द्रव्य मे शक्तिशक्तिमद्भाव है- द्रव्य शक्तिमान् है और पर्याय शक्ति स्वरूप है। द्रव्य का १ द्रव्य ऐसा नाम है और पर्याय का पर्याय ऐसा नाम है। द्रव्य-एक है पर्याय अनेक हैं। द्रव्य और पर्याय के परस्पर मे भिन्न २ प्रयोजन है-एकत्व रूप ज्ञान अन्वय रूप ज्ञान इत्यादि ज्ञान रूप कार्य द्रव्य द्वारा होते हैं तथा अनेकत्व रूप ज्ञान व्यावृत्तिरूप ज्ञान आदि ज्ञान रूप कार्य पर्याय द्वारा होते हैं। मतलब-एकाकार प्रतीतिरूप ज्ञान-आदि कार्य द्रव्य द्वारा तथा व्यावृत्ति प्रतीतिरूप ज्ञान आदि कार्य पर्याय द्वारा होते हैं और यही इन दोनो का भिन्न २ प्रयोजन है। तथा इसी तरह से द्रव्य और पर्याय का अपना २ लक्षण भी भिन्न २ हैं-गुण और पर्याय वाला जो है वह द्रव्य है यह द्रव्य का लक्षण है तथा "तद्भाव परिणाम," ऐसा पर्याय का लक्षण हैं। 'प्रयोजनादि' में आदि शब्द से काल का ग्रहण किया है—द्रव्य त्रिकाल गोचर है पर्याय वर्तमान काल गोचर है। इस प्रकार परिणाम की विशेषता से -एक दूसरे से भिन्न २ स्वभाव वाले परिणामो के भेद से -शक्ति -शक्तिमद्भाव से, संज्ञा की भिन्नता से, संख्या की भिन्नता से, अपने २ लक्षणो के भेद से, तथा प्रयोजन आदि के भेद से द्रव्य और पर्यायो में अनेकता-भिन्नता भी सिद्ध हैं। अत एकान्त भेदाभेद की मान्यता युक्ति युक्त नहीं है। इस प्रकार द्रव्य पर्याय मे कथंचित् भिन्नता और कथंचित् अभिन्नता सिद्ध होती है। इसकी सप्तभंगी इस प्रकार है— (१) कथंचित् स्वलक्षण के भेद से द्रव्य पर्याय में नानात्व ही है २ कथंचित् अशक्य विवेचनत्व की अपेक्षा वहां एकत्व ही है ३ क्रमार्पित दोनो की विवक्षा से कथंचित् वहां उभय रूपता ही है। ४ सहार्पित दोनो की विवक्षा से वहां कथंचित् अवक्तव्यता ही है। ५ क्रमार्पित सहार्पित की अपेक्षा से वहां कथंचित् नानात्व और कथंचित् अवक्तव्यता ही वहा है। ६ क्रमार्पित सहार्पित की अपेक्षा से कथंचित् एकत्व और कथंचित् अवक्तव्यता ही वहां है ७ कथंचित् क्रमार्पित उभय की अपेक्षा से वहां अनेकता हैं एकता है और सहार्पित उभय की अपेक्षा से अवक्तव्यता है। इस तरह द्रव्य और पर्याय मे यह एकत्व ओर अनेकत्व सर्वथा रूप से

१ 'यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणाम सज्ञासख्याप्रयोजनादि कतेद्भिन्नलक्षण यथा रूपादि तथा च द्रव्य पर्यायौ (अ० श०)

विवक्षित नहीं हुआ है किन्तु अपेक्षा से विवक्षित हुआ है। इसी बात को " न सर्वथा " इस पद से कारिकाकार ने प्रकट किया है।—

चतुर्थ परिच्छेद समाप्त

अष्टाधिके द्विसहस्र वर्षे फाल्गुनमासि च।
चतुर्थपरिच्छेदस्य, अनुवादः पूर्णतां गतः॥

पंचम परिच्छेद

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते।
अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता॥ ७३॥

अन्वय—यदि (धर्मधर्मिणोः) आपेक्षिकसिद्धिः स्यात् (तदा) द्वयं न व्यवतिष्ठते। अनापेक्षिकसिद्धौ च सामान्यविशेषता न (स्यात्)।

अर्थ—यदि धर्म और धर्मी की सिद्धि सर्वथा अपेक्षाकृत ही मानी जाय तो इन दोनों की व्यवस्था नहीं बन सकती है। यदि इन दोनों की सर्वथा अनापेक्षिक ही सिद्धि मानी जाय तो ऐसी एकान्तस्थिति में सामान्य-अन्वय एवं विशेष-व्यतिरेक भाव यह सिद्ध नहीं होता है।

भावार्थ—बौद्धों का ऐसा कहना है कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष बुद्धि में न धर्म का प्रतिभास होता है और न धर्मी का किन्तु इसके पृष्ठ भावी विकल्प द्वारा ही यह धर्मी है यह धर्म है इस प्रकार कल्पना की जाती है। निर्विकल्पक

बुद्धि में केवल स्वलक्षण का-धर्मधर्मी के विकल्प रहित शुद्ध पदार्थ का -ही प्रतिभास होता है। इसलिये धर्म धर्मी की व्यवस्था एकान्तत नहीं मानी जा सकती है। जो धर्म होता है वह धर्मी और जो धर्मी होता है वह धर्म बन जाता है। जैसे शब्द को अनित्य-क्षणिक-सिद्ध करने के लिये "सत्त्व" हेतु दिया जाता है-इस अपेक्षा सत्त्व शब्द का धर्म मान लिया जाता है; परन्तु यह सदा धर्म ही बना रहेगा-यह एकान्तत नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यही सत्त्व ज्ञेयत्व की अपेक्षा से धर्मी भी बन जाता है। इसी तरह सत्त्व की अपेक्षा धर्म बने हुए ज्ञेयत्व में अभिधेयत्व की अपेक्षा से धर्मित्वका व्यवहार भी होने लग जाता है। तब ऐसा ही मानना श्रेयस्कर प्रतीत होता है कि यह धर्मधर्मि व्यवस्था दूर निकट व्यवहार की तरह विकल्प द्वारा कल्पित होने से केवल काल्पनिक ही है पारमार्थिक नहीं। इसी तरह गुण गुणी, सामान्य विशेष, विशेषण विशेष्य, क्रिया क्रियावान्, कार्य कारण, साध्य साधन, ग्राह्य ग्राहक भाव ये सब काल्पनिक हैं वास्तविक नहीं।

आ०
मी०
३७७

धर्म धर्मी की अपेक्षा विना सिद्धि-अनापेक्षिक सिद्धि—नैयायिक मानते हैं-उनका ऐसा कहना है कि यह धर्मी है, यह धर्म है, यह अपेक्षा से सिद्ध नहीं है किन्तु प्रतिनियत बुद्धि से ही यह बात सिद्ध है। जैसे नील पदार्थ और उसका स्वरूप अपेक्षाधीन सिद्ध नहीं होते हैं। नील पदार्थ धर्मी है तथा उसका स्वरूप धर्म है जैसे यह बिना अपेक्षा के प्रतिनियत बुद्धि का विषय होने से धर्मधर्मी भाव सिद्ध है उसी तरह सर्वत्र धर्मधर्मिभाव प्रसिद्ध मानना चाहिये। यदि धर्म और धर्मी ये पारमार्थिक नहीं माने जावेंगे तो प्रतिनियत बुद्धिविषयता इनमें आ ही नहीं सकती है। अतः बौद्ध का धर्मधर्मी आपेक्षिक ही हैं ऐसा एकान्त पक्ष तथा ये आपेक्षिक नहीं है प्रतिनियत ही हैं ऐसा नैयायिक सम्मत एकान्त पक्ष को हृदय में धारण कर कारिकाकार इस कारिका द्वारा इन दोनों ही एकान्त मान्यताओं पर अपने विचार प्रकट करते है --

सर्व प्रथम वे धर्म धर्मी आदि की आपेक्षिक सिद्धि मानने वाले बौद्धों के प्रति कहते है कि यदि ऐसी ही मान्यता एकान्त रूप से अपनाई जावेगी तो तुम्हारे मतानुसार नील पदार्थ और उसका ज्ञान इन दोनों की सिद्धि नहीं

हो सकेगी-कारण कि ग्राह्य-नील पदार्थ-की व्यवस्था ग्राहक-नील संवेदन की अपेक्षाधीन है। यदि इनकी अपेक्षाधीन व्यवस्था न मानी जाय तो ग्राह्य नील पदार्थ में अवेद्यत्व का प्रसंग एवं ग्राहक नीलवेदन में निर्विषयता का प्रसंग प्राप्त होता है। मतलब कहने का केवल इतना ही है कि नील संवेदन से नील पदार्थ की और नील पदार्थ से नील सवेदन की व्यवस्था बौद्ध सिद्धान्त में मानी गई है वह इस अपेक्षा वाद को अतात्विक मानने पर नहीं बन सकती है। अर्थात् ग्राह्य ग्राहक आदि भाव अपेक्षाधीन ही सिद्ध जब बौद्धमतानुसार माना गया है तो वह अपेक्षा अवास्तविक होने से न ग्राहक-ज्ञान की ही व्यवस्था बन सकती है और न ग्राह्य पदार्थ की ही। इस तरह "द्वयं न व्यवतिष्ठते" ऐसा कारिकाकार का कहना इस पक्ष में सर्वथा उचित है। इसी तरह गुण गुणी, विशेषण विशेष्य आदि भाव भी व्यवस्थित नहीं बन सकते हैं, अतः यह मानना चाहिये कि धर्मधर्मिभाव आपेक्षिक नहीं है-स्वतः सिद्ध है और इस रूप होने की योग्यता सर्वत्र है। जो धर्म है वह धर्मी हो जाता है और जो धर्मी है वह धर्म हो जाता है। इस प्रकार होने की योग्यता स्वभावतः सर्वत्र है। अत यह अपेक्षा सिद्धि का एकान्त ठीक नहीं है।

इसी तरह इनकी अनपेक्षा का एकान्त भी उचित नहीं है, क्योंकि सामान्य-अन्वय एवं विशेष-व्यतिरेक ये स्वय अपेक्षा स्वरूप हैं। यदि इनमें सापेक्षता न मानी जाय तो सामान्य विशेष भाव नहीं बन सकता है। सामान्य विशेष निरपेक्ष होकर प्रतिनियत अन्वय बुद्धि को विषय करने वाला नहीं हो सकता है इसी तरह विशेष भी सामान्य-निरपेक्ष होकर व्यावृत्त बुद्धि को विशय करने वाला नहीं होता है। अतः सामान्य विशेष ये परस्पर सापेक्ष अवस्था में ही कार्य करते हैं ऐसा मानना चाहिये। मतलब केवल इसका यही है कि अन्वय बुद्धि की अपेक्षा सामान्य और व्यतिरेक बुद्धि की अपेक्षा विशेष की सिद्धि होती है। इस प्रकार अपेक्षा और अनपेक्षा का एकान्त दोनो उचित नहीं हैं।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति नावाच्यमिति युज्यते ॥ ७४ ॥

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न (युज्यते) अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यं" इति उक्ति अपि न युज्यते।

अर्थ—स्याद्वादरूप नीति मार्ग से विरोध रखने वालों के यहां परस्पर परिहार स्थिति लक्षण विरोध होने के कारण, सर्वथा अपेक्षा एव अनपेक्षा पक्ष में एकात्मता-एक स्वरूपता रूप उभयैकात्म्य नहीं बन सकता है। इन दोनों के अवाच्यतैकान्त पक्ष मे "अवाच्य" इस प्रकार का शब्द प्रयोग करना भी युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है।

भावार्थ—अपेक्षा और अनपेक्षा पक्ष में प्रदत्त दोषों से त्रस्त होकर यदि कोई इनकी एक स्वरूपता मानकर तृतीय पक्ष अपना स्थापित करना चाहे तो उसके लिये कारिकाकार का ऐसा कहना है कि अपेक्षा और अनपेक्षा का सर्वथा एकान्त पक्ष जब सदोष है तो फिर इनकी एक स्वरूपता बन भी कैसे सकती है। अर्थात् बिना अपेक्षा के उनका किसी एक जगह समन्वय नहीं हो सकता है। क्योंकि ये दोनों ही पक्ष परस्पर विरुद्ध है-अपेक्षा पक्ष की अपेक्षा सर्वथा अनपेक्षा का पक्ष विरुद्ध है और सर्वथा अनपेक्षा पक्ष के समक्ष सर्वथा अपेक्षा पक्ष विरुद्ध है-फिर इनकी एकत्र स्थिति हो भी कैसे सकती है-अतः परस्पर परिहार स्थिति लक्षण विरोध होने से इनमे एकात्मता नहीं बनती है। इनमें एकात्मता बनाने वाली स्याद्वादनीति है। वह तो एकान्तवादियों को अभीष्ट नहीं है—उससे तो इनका विद्वेष है। अतः इन दोनो पक्षों में एकात्मता नहीं आ सकती है कि जिससे इनका एक तृतीय पक्ष खड़ा हो सके।

इसी तरह इनका अवाच्यैकान्त पक्ष भी निर्दोष नहीं माना जा सकता -क्योंकि इस एकान्त पक्ष में ये "अवाच्य हैं" ऐसे वचन का भी प्रयोग नहीं हो सकता है। इस प्रकार अपेक्षा अनपेक्षा के ये सब ही एकान्त पक्ष निराकृत हो जाते हैं। अत इससे इनका अनेकांत सिद्ध हो जाता है तो भी उस की जो इस निम्नलिखित कारिका द्वारा सिद्धि की है वह कुवादियों की दुरारेका को दूर करने के लिये की हैं-ऐसा जानना चाहिये—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकांगवत् ।, ७५ ॥

अन्वय—धर्मधर्म्यविनाभावः अन्योन्यवीक्षया सिध्यति, न स्वरूपम्, कारकज्ञापकांगवत् एतत् हि (सिद्धम्)

अर्थ—धर्म और धर्मी का अविनाभावी ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है इनका स्वरूप नहीं। कारक और ज्ञापक के अंगों की तरह यह तो स्वत ही सिद्ध है।

भावार्थ—कारिकाकार इस कारिका द्वारा अपेक्षा और अनपेक्षा से सिद्धि का अनेकांत प्रदर्शित करते हुए कह रहे हैं कि धर्म और धर्मी का अविनाभाव ही अपेक्षा से सिद्ध होता है—धर्म के विना धर्मी और धर्मी के विना धर्म नहीं होता है-यही इनका अविनाभाव परस्पर सापेक्ष है । धर्म और धर्मी का स्वरूप परस्पर की अपेक्षा से अपेक्षित नहीं है-उसकी सिद्धि-परस्पर की अपेक्षा के आधीन नहीं है-वह तो स्वत सिद्ध हैं विवक्षित पदार्थ में जब धर्म धर्मी की विवक्षा नहीं होती है-उसके पहिले भी धर्म धर्मी का स्वरूप सिद्ध रहा करता है। जैसे कारक के अंग कर्ता कर्म का स्वरूप और ज्ञापक के अग बोध्य बोधक का स्वरूप स्वतः सिद्ध रहा करता है। कर्ता कर्म व्यवहार, बोध्य बोधक व्यवहार ही परस्पर की अपेक्षा से प्रसिद्ध माना गया है अतः यह व्यवहार ही परस्पर सापेक्ष है । करने वाला यह कर्ता का स्वरूप है कर्ता को कर्तव्यत्वेन जो ईप्सिततम है वह कर्मका स्वरूप है यह स्वरूप अपना २ स्वत सिद्ध है किसी अपेक्षासे नहीं है। स्वरूप की सिद्धि में अपेक्षा नही मानी जाती है । इसी तरह बोध्य प्रमेय और बोधक-ज्ञान इनका भी स्वरूप स्वतः सिद्ध है। अपेक्षा कृत नहीं हैं। कर्ता कर्म व्यवहार बोध्य बोधक व्यवहार ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध माना जाता है। अतः वही परस्परापेक्ष है। इसी तरह गुण गुणी आदि में भी स्वरूप की अपेक्षा स्वतः सिद्धि और अविनाभाव की सिद्धि की अपेक्षा परस्पर की अपेक्षा से सिद्धि जानना चाहिये। इस प्रकार अपेक्षा से भी सिद्धि होती है। और विना अपेक्षा के भी सिद्धि होती है। यह बात अनेकांत पक्ष के आश्रय से सुघटित हो जाती है। यहां सप्तभंगी इनकी इस प्रकार योजित करना चाहिये।

(१) स्यादापेक्षिकी सिद्धि· (१) कथंचित् आपेक्षिक धर्म धर्मी आदि की सिद्धि है ।
(२) स्यादनापेक्षिकी सिद्धि (२) कथंचित् स्वरूप की अपेक्षा धर्म धर्मी आदि की सिद्धि आपेक्षिक नहीं है ।
(३) स्यादुभयी क्रमार्पितद्वयात् (३) दोनो की क्रमश· विवक्षा में कथंचित् आपेक्षिक अनापेक्षिक दोनों रूप से धर्म धर्मी आदि की सिद्धि है ।
(४) स्यादवक्तव्या सहार्पित द्वयात् [४] दोनों की युगपत् विवक्षा में धर्म धर्मी आदि की सिद्धि कथंचित् अवक्तव्य है ।

इसी तरह चौथे भंग के साथ प्रथमभग, द्वितीयभग, एव तृतीय भग मिलाने से अवशिष्ट तीन भंग और बन जाते है , इस प्रकार अविनाभाव रूप व्यवहार और स्वरूप की अपेक्षा करके धर्म धर्मी आदि की अपेक्षाधीन सिद्धि और अनपेक्षाधीन सिद्धि जाननी चाहिये ।

पचम परिच्छेद समाप्त

यथाबुद्धि परिज्ञाय भावमस्या अनूदितः
पंचमोऽयं परिच्छेदः पूर्णो जातः श्रियेऽस्तु वः

षष्ठपरिच्छेद

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः ।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरुद्धार्थमतान्यपि ॥ ७६ ॥

अन्वय–हेतुत· (एव) सर्वं सिद्ध चेत् प्रत्यक्षादितः गति न (स्यात्) आगमात् सर्वं सिद्धं चेत् (तर्हि)

विरुद्धार्थमतानि अपि (सिद्धि उपगच्छेयुः)

अर्थ—समस्त उपेयतत्त्व हेतु से ही सिद्ध होता है यदि यही एकान्त नियम माना जाय तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से किसी भी उपेय तत्त्व की सिद्धि मान्य नहीं ठहरेगी। आगम से ही सब सिद्ध होता है यदि ऐसा ही एकान्त नियम माना जायगा तो परस्पर विरुद्ध अर्थ प्रतिपादक मत भी आगम से सिद्ध होकर मान्य हो जावेंगे।

आ० भावार्थ—सकल लौकिक एवं परीक्षक जन उपेयतत्त्व की व्यवस्था करके उपायतत्त्व की व्यवस्था किया करते
मी० हैं क्योंकि विना प्रयोजन के मन्द जन भी किसी भी काम में प्रवृत्त नहीं होता है। अत जिस प्रकार कृषक जन शस्य आदि
३=२ उपेय तत्त्वों का निश्चय करके उसके उपायभूत कृषि आदि कर्म में प्रयत्नशील देखे जाते हैं इसी प्रकार जो मुमुक्षु हुआ करते हैं वे पहिले मोक्षरूप उपेय तत्त्व का निश्चय करके उसके बाद उपायभूत तत्त्वों का निश्चय करते हैं। इस प्रकार यहां कितनेक अन्यमती अनुमान से ही उपेय तत्त्व की सिद्धि होती है निश्चय होता है—ऐसा एकान्तपक्ष का अवलम्बन कर कहते है " हेतुतः एव सर्वं सिद्धम् " इस विषय मे उनका ऐसा कहना है कि प्रत्यक्ष से जो हम उपेयतत्त्व की सिद्धि नहीं मानते हैं उसका कारण उससे विप्रतिपत्ति—विवाद-निश्चय के अभाव—की सभावना रहना है। " युक्त्या यन्न घटामुपैति तदहं दृष्ट्वापि न श्रद्दधे " इस पक्ष को मानने वालो का ऐसा ही कहना है। तथा प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास की भी व्यवस्था अनुमान से ही होती है इसके ऊपर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि यदि ऐसा ही एकान्त पक्ष मान्य किया जाय तो " न प्रत्यक्षादितो गतिः " प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से उपेय पदार्थ की गति नहीं हो सकेगी। इस तरह जब प्रत्यक्ष अकिंचित्कर इस मान्यता के समक्ष हो जाता है तो फिर अनुमान की सिद्धि भी कैसे हो सकेगी ? क्योंकि अनुमानोत्थान के लिये पहिले धर्मी का साधन का और उदाहरण का प्रत्यक्ष दर्शन अवश्य भावी है—तभी जाकर अनुमान सिद्ध हो सकता है। ऐसा तो है नहीं कि इनके प्रत्यक्ष दर्शन हुए विना भी किसी को अनुमान हो जाता है। अत अनुमान से ही पदार्थ की सिद्धि होती है ऐसा एकान्त श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। इसलिये अभ्यस्तविषय मे प्रत्यक्ष से भी सिद्धि होती है ऐसा मानना चाहिये नहीं तो शब्द लिङ्ग आदि की प्रतिपत्ति नहीं हो सकने से परार्थानुमानरूप शास्त्रोपदेशों की

भी प्रवृत्ति नही हो सकती है १ ।

आगम से ही समस्त उपेय तत्त्वो की सिद्धि होती है ऐसी एकान्त मान्यता मीमांसको की है । उनका कहना है कि प्रत्यक्ष दृष्ट भी माणिक्य आदि मे आगम के बिना यथार्थता का निर्णय नहीं होता है । दूसरे--जिस अनुमान का पक्ष आगम से बाधित हो जाता है वह अनुमान भी अपने साध्य का गमक नही होता है । अत अनुमान भी आगमापेक्ष है । इसके ऊपर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि इस प्रकार की एकान्त मान्यता में " विरुद्धार्थमतान्यपि सिद्धिं उपगच्छेयुः " विरुद्धार्थ वाले मत भी शास्त्रोपदेशों से सिद्ध हो जायेंगे । यदि इस पर यो कहा जाय कि सम्यक् उपदेशों से सम्यक् मत ही सिद्ध होगे विरुद्धार्थ वाले मत नही, तो इसका उत्तर यह है कि विना युक्ति–अनुमान–के सम्यक् और असम्यक् का निर्णय उपदेशों में कैसे हो सकेगा । अत यह मानना चाहिये कि आगम में प्रमाणता का निर्णय युक्ति से जब होता है तो वह भी तत्त्वो की सिद्धि का कारण है । इसलिये यह भी एकान्त मान्यता उचित नहीं है ।

आ० मी० ३८३

इसी तरह प्रत्यक्ष एव अनुमान ये ही तत्त्व सिद्धि के कारण हैं आगम नहीं सो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है क्योकि जो विषय प्रत्यक्ष एव अनुमान का नही है वह ग्रहोपराग आदि और इसका फल ज्योतिः शास्त्र से ही अवगत होता है । इस तरह हेतु द्वारा तथा आगम द्वारा सिद्धि का एकान्त युक्तियुक्त नही है ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७७॥

अन्वय–स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्य न । अवाच्यतैकान्ते " अवाच्यमिति " उक्तिः अपि न युज्यते ।

---

१ हेतु से ही पदार्थ की सिद्धि होती है ऐसी एकान्त मान्यता बौद्धो की है इस अपेक्षा यहां " शब्दादि. क्षणिकः सत्त्वात् " इस स्वार्थानुमान मे विना प्रत्यक्ष के शब्द लिङ्ग आदि की प्रतिपत्ति नहीं हो सकने से परार्थानुमान का उत्थान नहीं हो सकता है ऐसा कहा है ।

अर्थ—स्याद्वादरूपी नीति से विद्वेष रखने वालों के यहां, परस्पर विरोध होने के कारण हेतुवाद और आगमवाद के एकान्त की एकता नहीं बन सकती है। तथा इन दोनों के अवाच्यतैकान्त में " अवाच्य " इस प्रकार का शाब्दिक व्यवहार भी युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है।

भावार्थ—ये दोनों एकान्त एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं। अत इनकी एकता किसी भी तरह से एकान्तवादियो के यहां संभवित नहीं हो सकती है। इसी तरह इनकी एकान्त अवाच्यता भी युक्ति युक्त नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि इस मान्यता में " ये अवाच्य हैं " इस प्रकार का वहां कहना ही नहीं घटित हो सकता है। हेतुवाद और आगमवाद का अपेक्षा से समन्वय करने वाला तथा उसे किसी अपेक्षा से अवाच्यता का रूप देने वाला एक स्याद्वाद है वह तो एकान्त वादियों को मान्य नहीं है। इसलिये इनका एकान्त कथमपि युक्तिपुरस्सर सिद्ध नहीं होता।

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम् ॥ ७८ ॥

अन्वय—अनाप्ते वक्तरि हेतो· यत् साध्यं तद्धेतुसाधितम्। आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यं आगमसाधितम्।

अर्थ—वक्ता यदि आप्त नही है तो ऐसी स्थिति मे हेतु से जो साध्य होता है वह हेतु साधित है, एव वक्ता जब आप्त होता है तब उसके वाक्य से जो साधित होता है वह आगम साधित है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार हेतुवाद और अहेतुवाद के अनेकान्त का प्रदर्शन करते हैं—अर्थात् किसी अपेक्षा हेतु से भी सिद्धि होती है और किसी अपेक्षा अहेतु-आगम-से भी सिद्धि होती है यही इन दोनों का अनेकान्त है। इस अनेकान्तप्रदर्शन से इन दोनो की एकान्त मान्यता निरस्त हो जाती है। हेतु से सिद्धि होने

में तथा अहेतु से सिद्धि होने में वक्ता मे आप्तत्व एवं अनाप्तत्व अपेक्षित है। जहां वक्ता अनाप्त है वहां उसके कथन मे प्रमाणता सिद्ध करने के लिये युक्ति की अपेक्षा रहा करती है। इस तरह जो साध्य हेतु से सिद्ध किया जाता है वह हेतु साधित कहा जाता है। एव वक्ता जब आप्त होता है-सर्वज्ञ वीतराग होता है-तब उसके कथन को प्रमाणित करने के लिये हेतु की-युक्ति की-आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार आप्त वचन रूप आगम से जो साध्य साधित होता है वह आगम साधित कहा जाता है। आप्त और अनाप्त के स्वरूप का निर्णय प्रथम परिच्छेद की ६ वीं और सातवीं कारिका द्वारा पहिले किया जा चुका है "यदि कोई यहां ऐसी आशंका करे कि ये वचन आप्त के हैं और ये वचन अनाप्त के हैं तो इसका निर्णायक प्रमाण क्या है" तो इसका यही उत्तर है कि जिन वचनो में युक्ति एवं आगम से बाधा न आवे एव जिनमें पूर्वापर विरोध न होवे वे वचन सर्वज्ञ-आप्त के एवं इनसे विपरीत अनाप्त के जानना चाहिये। दोप और आवरणो की हानि से आत्मा सर्वज्ञ-आप्त बन जाता है यह बात ४ चौथी कारिका द्वारा पहिले प्रमाणित की जा चुकी है अतः अपौरुषेय वेद को प्रमाण मानने वाले मीमांसको की मान्यता इसलिये युक्तियुक्त नहीं मानी जा सकती है कि शब्द मे प्रमाणता वक्तृगुणापेक्ष ही मानने में आई है। अचेतन शब्द अपनी प्रमाणता और अप्रमाणता का स्वयं ढिंढोरा नही पीट सकते है। इस तरह कथंचित्-अनाप्त की अपेक्षा सर्व हेतु से सिद्ध होता है और कथंचित्, आप्त की अपेक्षा-सर्वं हेतु से सिद्ध नहीं भी होता है-अर्थात् आगम से सिद्ध होता है, क्रमार्पित उभय की अपेक्षा से सर्वतत्त्व कथचित् उभय से सिद्ध होता है एव सहार्पित द्वय की अपेक्षा से कथंचित् दोनों द्वारा उनकी सिद्धि अवक्तव्य है। अवशिष्ट ३ तीन भग इसी तरह और भी समझ लेना चाहिये। वेद में अपौरूपेयता क्यो नहीं है यह विषय अष्टसहस्री मे स्पष्ट किया गया है।—

षष्ठ परिच्छेद समाप्त

अनूदितः परिच्छेदः पष्ठाख्योऽयं यथामति।
यदि काचिद्भवेदत्र त्रुटिः क्षम्या सा धीधनैः॥

आ० मी० ३८६

सप्तम परिच्छेद

अन्तरंगार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाऽखिलम् ।
प्रमाणाभासमैवातस्तत प्रमाणादृते कथं ॥ ७९ ॥

अन्वय—अन्तरंगार्थतैकान्ते अखिलं बुद्धिबाक्यं मृषा (स्यात्) । अतः प्रमाणाभासमेव (तत्) । तत् प्रमाणात् ऋते कथ (संभवेत्)

अर्थ—स्व संविदित ज्ञानरूप अन्तरंग पदार्थ में ही वस्तुता है, बहिरंग जड़रूप पदार्थ में नहीं, क्योंकि वह प्रतिभास के अयोग्य है[1] इस प्रकार जो एकान्तरूप से अन्तरग अर्थ की मान्यता है उस मान्यता में समस्त बुद्धिवाक्य मृषा-असत्य-ठहरते हैं। और इसी से इनमे प्रमाणाभासता ही आती है परन्तु यह प्रमाणभासता वहां प्रमाण के बिना तो साधित हो नही सकती है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार, विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार के सिद्धान्त की मीमांसा कर रहे हैं जो वह इस प्रकार कहता है—"प्रतिभासमानस्याशेषस्य वस्तुनो ज्ञानस्वरूपान्तः प्रविष्टत्वप्रसिद्धे सवेदनमेव पारमार्थिक तत्त्वम्" (न्यायकुमुद चंद्र पृ० ११७) कि जितने भी पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित हो रहे है वे सब ज्ञान के ही स्वरूप है, अत संवेदन-ज्ञान-ही पारमार्थिक तत्त्व है, घट पटादिक बाह्य पदार्थ वास्तविक तत्त्व नहीं हैं। ज्ञान से

---

१ इति नास्ति वाह्योऽर्थ कश्चित् किन्तु ज्ञानमेद सर्वं नीलाद्याकारेण प्रतिभाति-वाह्यार्थस्य जडत्वेन प्रतिभासायोगात् । यथोक्तं-'स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रिय गोचरा" अलकारकारेण प्युक्तम् 'यदि सवेद्यते नील कथ बाह्य तदुच्यते न चेत् सवेद्यते नील कथ बाह्य तदुच्यते यदि बाह्योऽथ नास्ति कि विषयस्तर्ह्ययं घटपटादिप्रतिभासः इति चेत् ननु निरालंबन एवायमानादिवितथवास-नाप्रवर्तित निर्विषयत्वात् आकाशकेशज्ञानवत् स्वप्नज्ञानवत् वेति । अतएव चोक्त- स्याद्वाद मञ्जरी -पृ-२१५ ।
इस कारिका का अर्थ एवभावार्थ सूक्ष्म दृष्टि से देखने की कृपा करें।

भिन्न ससार मे और कोई तत्त्व पारमार्थिक नहीं है, जो प्रतिभासित होता है वह सब सुखादिक की तरह ज्ञान स्वरूप ही है। (यत् अवभासते तत् ज्ञानमेव यथा सुखादि, प्रतिभासते च भावाः) । घट पटादिक पदार्थों का ज्ञान के द्वारा अवभासन नहीं होता है किन्तु इनका ज्ञान में अवभासन होता हैं तो जिस प्रकार ज्ञान स्वरूप का ज्ञान में अवभासन होने से उसमे ज्ञानरूपता है उसी प्रकार घट पटादिक में भी प्रतिभासपना होने से ज्ञान रूपता घटित हो जाती है।

यदि इस पर वाह्यार्थ वादी ऐसा कहे कि पदार्थ में प्रतिभासपना स्व से नहीं आता किन्तु पर से ज्ञान से-आता है–अतः उनमे प्रतिभासपना मानना ठीक नहीं है सो ऐसा कहना भी बाह्यार्थ वादी का उचित नहीं है कारण कि ज्ञान के द्वारा जो पदार्थ का अवभासन होगा सो ज्ञान और अर्थ का परस्पर में कोई सम्बन्ध होगा–तभी होगा–या बिना सम्बन्ध के ही होगा, यदि कहा जाय कि विना सम्बन्ध के ही होगा तो ऐसी स्थिति में अतिप्रसग नाम का दोष आता है-फिर तो क्या है दुनियाभर के पदार्थ युगपत् ज्ञान मे प्रतिभासित होने लगेगे । यदि इनका ज्ञान के साथ सम्बन्ध माना जाता है तो वह सम्बन्ध भी कौनसा है, क्या तादात्म्य सम्बन्ध है या तदुत्पत्ति सम्बन्ध हैं ? तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर या तो समस्त पदार्थों में ज्ञान रूपता सिद्ध होगी या ज्ञान में जडस्वभावता आ १ जायेगी। ज्ञान में जड स्वभावता आने से पदार्थ की किसी तरह व्यवस्था नहीं बन सकती है। पदार्थ में ज्ञान रूपता मानने पर ज्ञानाद्वैत की अबाधरूप से

---

१ न चैषा परतोऽवभासो घटते स हि परत· सम्बद्धात् असवद्धा द्वा भवेत् न तावदसंबद्धात् अतिप्रसगात्। अथ सबद्धात् किं तादात्म्येन तदुत्पत्त्या वा ? यदि तादात्म्येन तदा ज्ञानरूपता अर्थानाम् जडस्वभावता वा ज्ञानस्य स्यात् । तादात्म्यस्यान्योन्यस्वरूपस्वीकार स्वभावत्वात् । ज्ञानस्वरूपत्वे चार्थानां सिद्ध ज्ञानाद्वैतम्। जडस्वभावत्वे तु ज्ञानस्य अर्थव्यवस्थावार्तोच्छेद· जगतो विवेकविकलतया आन्ध्य-प्रसक्ते· । अथ तदुत्पत्त्या कुत· किमुत्पद्येत ज्ञानादर्थः. अर्थाद्वा ज्ञानम् । प्रथमपक्षे अर्थस्य ज्ञानरूपता प्रसग· ज्ञानादुत्पद्यमानत्वात् उत्तर ज्ञान क्षणवत् अथ अर्थात् ज्ञानमुत्पद्यते किं समकालात् भिन्नकालाद्वा, न तावत् समकालात् समसमय भाविनोः सव्येतरगोविषाणवत् कार्यकारण भावाभावात् अन्यथा अर्थं प्रति ज्ञानस्यापि कारणत्वप्रसग. अविशेषात् इत्यादि न्यायकुमुद चद्र पृ० ११७।

सिद्धि हो जाती है। यदि कहा जाय कि तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसाय के सम्बन्ध से ज्ञान में वेद्यवेदक भाव अवस्थापित होता है-तो ऐसा कहना भी सौत्रान्तिक का ठीक नहीं है कारण कि तदुत्पत्ति का चक्षु से व्यभिचार आता है। ज्ञान चक्षु से उत्पन्न तो होता है पर वह ज्ञान का विषय नहीं होता -इसलिये ऐसा कहना कि जहां २ तदुत्पत्ति सम्बन्ध होगा वहां २ वेद्यवेदक भाव होगा ठीक नही बैठता है। यदि ऐसा कहा जाय कि जहां तदुत्पत्ति तदाकार सम्बन्ध होगा वहीं पर ज्ञान में वेद्यवेदकभाव होगा सो यह भी ठीक नहीं है कारण कि इस कथन का समानार्थ समनन्तर प्रत्यय से व्यभिचार आता [1] है। तथा तदुत्पत्ति तदाकार एवं तदध्यवसाय इन तीनों का शुक्ल शंख में जो पीताकार ज्ञान होता है उससे व्यभिचार आता है। अत तदुत्पत्त्यादिक सम्बन्ध को लेकर ज्ञान में वेद्यवेदक भाव मानना ठीक नहीं है। इसलिये एक ज्ञान ही वेद्यवेदक भाव रूप से प्रतिभासित होता है। ज्ञान से अतिरिक्त अन्यबाह्य पदार्थ नहीं हैं। एक ज्ञान की ही ये दो धाराएं है एक धारा का नाम वेदक है और एक धारा का नाम वेद्य है। इस प्रकार यह विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध का सम्प्रदाय-मंतव्य-है।

इस मन्तव्य को हृदय में धारण कर कारिकाकार संवेदनाद्वैतवादी से कह रहे हैं कि यदि यही एकान्त रूप से सिद्धान्त अंगीकार किया जायगा तो इसमें "बुद्धिवाक्यं मृषाखिलम्" समस्त हेतुवाद और अहेतुवाद रूप उपायतत्त्व मृषा ही ठहरेगा। नहीं तो सवेदनाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकेगी—क्योंकि इसकी सिद्धि करते समय-जिस अनुमान से यह सिद्ध किया जाता है-उस अनुमान में साध्य साधन भाव ग्राह्य ग्राहक रूप द्वैत सिद्ध होते समय आप वहां मृषा रूप प्रमाणाभासता प्रकट करेंगे और ऐसा कहेंगे कि "ग्राह्य ग्राहक, साध्य साधक आदि भाव से रहित एक संवित्ति ही प्रकाशित होती है अतः साध्य साधन रूप ग्राह्य ग्राहक रूप द्वैत वहां मृषा स्वरूप है। इसी तरह अहेतुवाद

---

१ प्राक्तनज्ञानस्य य एव नीलाद्यर्थो विषयः स एवोत्तरज्ञानस्येत्येकसंतानवर्तित्वेन समानोऽर्थः एको नीलः। प्रथमक्षणे नीलमिति ज्ञानं उत्पन्न तच्च द्वितीयस्य जनक तत्र ताद्रूप्यमस्ति तदुत्पत्तिश्च ज्ञानत्वेन समान अन्या-व्यवहितत्वेन समनंतरमिति।

प्रमेयरत्नमाला सटिप्पणा पृ० ४९।

मे भी मृषात्व आपको मानना पडेगा। अत ऐसी स्थिति मे हेतुवाद और अहेतुवाद रूप जो बुद्धि वाक्य स्वरूप उपाय तत्त्व हैं वह सवेदनाद्वैत से बाह्य होने की वजह से मृषा-अपरमार्थभूत ही साबित होता है। जब बुद्धि और वाक्य रूप उपाय तत्त्व मृषा है तो वे प्रमाणाभास रूप ही हैं यह बात आती है। क्योंकि प्रमाण की व्याप्ति सत्यत्व के साथ एवं अप्रमाण की व्याप्ति मृषात्व-असत्यत्व - के साथ रहती है। तब बुद्धिवाक्य प्रमाणभास हैं यह साबित करने के लिये प्रमाण की जरूरत पडेगी ही। विना प्रमाण के ये प्रमाणाभास हैं यह तो साबित हो नहीं सकता है। नही तो हर एक सिद्धान्त का कथन बिना प्रमाण के साबित होने लगेगा। ऐसी स्थिति में संवेदना द्वैत की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी। इस तरह वहां प्रमाणाभास को साबित करने के लिये तथा "तज्जन्मकार्यप्रभवादिवेद्यवेदकलक्षणं अनैकान्तिकमादर्श्य संवित्तिरेव खडशः प्रतिभासमाना व्यवहाराय कल्प्यते" तदुत्पत्ति, तदाकार एवं तदध्यवसाय रूप वेद्यवेदक भाव चक्षु द्वारा, समानार्थसमनन्तर प्रत्यय द्वारा, और शुक्ल शख मे पीताकार द्वारा व्यभिचरित है इस बात को साबित करने के लिये और एक सवित्ति ही वेद्यवेदक रूप से प्रतिभासित हो रही है इस अपने सिद्धान्त को साबित करने के लिये प्रमाण वाक्य की आवश्यकता तो पडेगी ही। इस स्थिति मे यह एकान्त मान्यता कथमपि संभवित नहीं हो सकती हैं। इस प्रकार इस कारिका का यह सक्षिप्त भाव है। विस्तृत भाव अष्ट सहस्री एवं अन्य ग्रन्थों में बहुत ही अच्छी तरह से स्पष्ट किया हुआ है। इस तरह सवेनाद्वैत एकान्तत मानने में बुद्धि वाक्य रूप हेतुवाद और अहेतुवाद मृषा ठहरते है और मृषा रूपता होने से उनमे प्रमाणभासता ही आती है। इस प्रमाणभासता को वहा साबित करने के लिये संवेदनाद्वैतवादी को प्रमाणवाक्य का सहारा लेना ही पडेगा। इससे अद्वैत सिद्ध न होकर कथचित् द्वैत ही सिद्ध होता है।

साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः॥ ८०॥

अन्वय–साध्यसाधनविज्ञप्तेः यदि विज्ञप्तिमात्रता (भवेत्) "तदा" प्रतिज्ञा-हेतु दोषतः न साध्य न च

हेतुश्च (स्यात्)।

अर्थ---साध्य और साधन की विज्ञप्ति को यदि विज्ञानमात्र ही स्वीकार किया जाय तो प्रतिज्ञा एवं हेतु के दोष से न साध्य वन सकता है न साधन वन सकता है और न दृष्टान्त ही वन सकता है।

भावार्थ---७६ वीं कारिका मे विज्ञानाद्वैत एकांततः उपायतत्त्व स्वीकार करने पर बुद्धि और वाक्यमृषा हो जावेंगे-यह बात कारिकाकार ने स्पष्ट की है-अर्थात् जव यह कहा जायगा कि केवल एक मात्र विज्ञान ही विज्ञान है इसके अतिरिक्त घट पटादिक वाह्यपदार्थ कुछ नहीं हैं। घट पटादिक रूप से प्रतिभासित होने वाले ये पदार्थ ज्ञान स्वरूप ही हैं। तव कारिकाकार ने उनसे कहा कि इस एकान्त मान्यता मे घट पटादिरूप वाह्य पदार्थ को जानने वाली बुद्धि एवं उन्हें अन्य के लिये वतलाने वाला वाक्य--यह घट है यह पट है इत्याकारक वचन--ये सव झूठे मृषा मानने पड़ेंगे तथा च ग्राह्यग्राहक भाव, साध्य साधन भाव आदि ये सवके सव मृषा असत्य--ही ठहरेंगे--ऐसी स्थिति में " यदवभासते तत् ज्ञानम् " यह अनुमान वाक्य भी मृषा ही मानना पड़ेगा तथा च फिर किस प्रकार संवेदनाद्वैत की सिद्धि हो सकेगी--इसके ऊपर पुन. संवेदनाद्वैतवादी कहता है कि साध्य और साधन को विषय करने वाली बुद्धि ज्ञान से अतिरिक्त कोई दूसरी थोड़े ही है जो उससे भिन्न मानी जाय -- वह स्वय विज्ञान स्वरूप है। अतः " यदवभासते तज्ज्ञानम् " यह कथन निर्दोष है। इसलिये साध्य साधन की व्यवस्था प्रतिभास के आधीन होने से प्रतिभासान्तर्भूत ही मानी गई है उससे भिन्न नहीं। तथा--नीलतद्धियो अभेदः सहोपलंभनियमात् द्विचन्द्रदर्शनवत् " इस अनुमान के अनुसार नीलपदार्थ और नीलज्ञान इनमें सहोपलभ का नियम होने से द्विचन्द्र दर्शन की तरह अभेद माना गया है। इस प्रकार संवेदनाद्वैतवादी के इस कथन को हृदयंगम कर कारिकाकार इस पर यह कहते हैं कि यदि इस तरह से साध्य साधन की विज्ञप्ति को विज्ञानाद्वैत स्वरूप ही कहा जायगा तो ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा एवं हेतु मे दोष आने से न साध्य ही वन सकेगा और न साधन ही वन सकेगा और न दृष्टान्त ही। क्योंकि ये सब संवेदनाद्वैत के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। अद्वैत में साध्य, साधन एवं दृष्टान्त ये सब द्वैत नहीं बनते हैं। यदि इन द्वैतों को अंगीकार किया जाता

है तो सवेदनाद्वैत नहीं बनता है। नील वचन और नीलज्ञान में भेद मानने पर उनमे एकत्व का साधन फिर विरुद्ध पड़ जाता है। एकत्व साधन करने पर भेद विरुद्ध पड़ता है। इस तरह जैसे कोई व्यक्ति अपना मौन व्रत जाहिर करने के लिये किसी से कहे कि मै सदा मौन व्रत रखता हूं तो इस प्रकार का कथन जैसा उसका स्ववचन से बाधित माना जाता है उसी प्रकार विज्ञानाद्वैत ही मानने वालो के लिये भी नील और नील बुद्धि मे जो अभेद साध्य करना है और इसरूप जो यह (धर्मधर्मी का वचनरूप) प्रतिज्ञा है वह अप्रसिद्ध विशेष्य वाली एवं अप्रसिद्धविषणवाली होने से सदोष है। यह सदोषता ही प्रतिज्ञादोप--या स्ववचनन विरोध है। क्योंकि इस प्रकार के कथन से पक्ष साध्य एवं दृप्टान्त इनकी सिद्धि---द्वैत की सिद्धि--होती है। यदि इस पर सवेदनाद्वैतवादी ऐसा कहे कि हम तो प्रतिज्ञा आदि द्वैत कुछ भी नहीं मानते है। परन्तु दूसरे वादी इस बात को मानते हैं अत हम उनकी अपेक्षा लेकर स्वसिद्धान्त की पुष्टि करते हैं सो ऐसा कहना भी उचित नही है। कारण कि अद्वैत की एकान्तता मे स्वपर का कोई भेद ही नहीं हो सकता है। फिर अन्य के सिद्धान्त को--द्वैत को--निषेध करने के लिये द्वैत का सहारा कैसे लिया जा सकता है। इस तरह ' नीलतद्धियोः अभेद " इस तरह की जो उसकी प्रतिज्ञा है वह धर्मधर्मी के भेद वचन वाली होने से इस अद्वैत वचनरूप जो स्ववचन है उससे विरुद्ध पडती है यह प्रतिज्ञा दोष है " सहोपलभनियमात् " यह हेतु है। अद्वैत मे यह हेतु वचन भी नहीं बनता है।

तथा सहोपलभनियमरूप हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं करता है। क्योंकि साध्य और साधन का सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं होता है। सहोपलम्भ का अर्थ होता है पृथक् अनुपलम्भ और अभेद का अर्थ होता है भेद का अभाव-इस प्रकार साधन भी अभावरूप है और साध्य भी अभावरूप है तो जिस प्रकार दो खरविषाणो का परस्पर मे कोई भी सम्बन्ध नहीं होता है क्योंकि वे सर्वथा अभावस्वरूप हैं इसी प्रकार साध्यसाधनरूप जो ये दो अभाव हैं इनका भी कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है। अत सम्बन्धाभाव में हेतु अपने साध्य का गमक नहीं होता है। यही यहां हेतु दोष हैं। मतलब इसका यह है कि भेद और पृथक् उपलम्भ इनका पहिले से कोई सम्बन्ध सिद्ध होता तो पृथग्

अनुपलम्भरूप साधन पदार्थों में भेदाभावरूप स्वसाध्य का साधन हो जाता, परन्तु विज्ञप्तिमात्र तत्त्व मानने वालों के यहां ऐसा तो कुछ है नहीं। क्योंकि इसमे इस मान्यता से विरोध आता है। इसलिये संवेदनाद्वैत ही तत्त्व है यह एकान्त कथमपि समीचीन नहीं है।

मतलब इस कारिका का केवल इतना ही है कि एकान्ततः संविदद्वैततत्त्व मानने पर साध्य साधन भाव कुछ भी नहीं बन सकता है कि जिससे—अनुमान द्वारा इस अपने अभिमत की सिद्धि वह कर सके, अत इस सिद्धान्त वाले को केवल मौन का ही शरण श्रेयस्कर है।

बहिरंगार्थतैकान्ते प्रमाणाभासनिह्नवात्।
सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम् ॥ ८१ ॥

अन्वय—बहिरंगार्थतैकान्तैकान्ते प्रमाणाभासनिह्नवात् सर्वेषां विरुद्धार्थाभिधायिनां कार्यसिद्धिः स्यात्।

अर्थ—बाह्य पदार्थ घट पट आदि ही एकान्तत वास्तविक है, अन्तरग पदार्थ नहीं, इस प्रकार की मान्यता में प्रमाणभास का निह्नव होने से समस्त विरुद्ध अर्थ का कथन करनेवालों के भी कार्य सिद्ध होने लग जावेंगे। अत उन्हें भी प्रमाणभूत ही मानना पड़ेगा।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार " घट पटादिक बाह्य पदार्थों में ही एकान्तत पारमार्थिकता है अन्य अन्तरग मे नहीं " इस एकान्त मान्यता का निरसन कर रहे हैं। क्योंकि इस एकान्त मान्यता मे " लोकसमयप्रतिबद्धानां परस्पर विरुद्धशब्दबुद्धीनां स्वार्थसम्बन्ध परमार्थत प्रसज्येत (अष्टशती) " लोक एव समय में प्रतिबद्ध ऐसे परस्पर विरुद्ध शब्द एव बुद्धियों का भी अपने २ अर्थ के साथ पारमार्थिक सम्बन्ध स्थापित हो जायगा-तब प्रमाण क्या है और प्रमाणाभास क्या है इसकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी-अर्थात् हरएक व्यक्ति का मान्य एक दूसरे से विरुद्ध पदार्थ भी वास्तविक सिद्ध हो जायगा तब प्रमाणाभास का निह्नव होने से सबके अभिमत कार्य की सिद्धि होने का प्रसग

प्राप्त होगा-ऐसी स्थिति मे चार्वाक, मीमांसक, सौत्रान्तिक आदि द्वारा मान्य पदार्थ भी बहिरंगार्थतैकान्तवादी को प्रमाण रूप से मान्य करना पड़ेगा। वे प्रमाणाभास है और हमारा सिद्धान्त ही प्रमाण है यह फिर नहीं कहा जा सकेगा। क्यों कि प्रमाण और प्रमाणाभास ये विभाग तो ज्ञान के है। ज्ञान तो परमार्थभूत बहिरंगार्थतैकान्तवादी को मान्य नहीं है। अतः अन्तरंगार्थतैकान्त की तरह यह बहिरगार्थतैकान्त भी युक्ति युक्त नहीं है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नावाच्यमिति युज्यते।

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विपां विरोधात् उभयैकात्म्यं न, अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यम्" इति उक्तिः अपि न युज्यते।

अर्थ—जो व्यक्ति स्याद्वाद रूप न्याय मार्ग से विद्वेष रखते हैं उनके यहां इन दोनों पक्षों की एकता-समन्वयता-हो ही नहीं सकती है। क्योकि ये दोनों ही पक्ष एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं। इसी तरह यदि इन दोनों का सर्वथा अवाच्यता का सिद्धान्त अंगीकार किया जाय तो इस स्थिति में वहां "अवाच्य" इस प्रकार का शाब्दिक व्यवहार भी नहीं हो सकता है।

भावार्थ—परस्पर विरुद्ध अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय के एकान्त का साथ २ मानना भी नहीं बनता है। क्योंकि इनको साथ २ मानने की युक्ति तो स्याद्वादमार्ग में ही वतलाई गई है। वह मार्ग एकान्तवादियों को अभीष्ट नहीं है-वे उससे विद्वेष रखते हैं। इसी तरह से इनकी एकान्त अवाच्यता में "ये अवाच्य है" इस तरह का कहना भी नहीं बन सकता है। अत इन दोनों पक्षों का एकात्म्य पक्ष एव अवाच्यतैकान्त का पक्ष भी श्रेयस्कर नहीं है।

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥ ८३॥

अन्वय—ते भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नव: । बहि: प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च (अस्ति) ।

अर्थ—हे नाथ ! आपके सिद्धान्तानुसार भावरूपप्रमेय की अपेक्षा में कोई भी ज्ञान सर्वथा अप्रमाणभूत नहीं है । अतः इस दृष्टि से प्रमाणाभास का निह्नव है । तथा जब बाह्य प्रमेय की अपेक्षा की जाती है तब उस समय ज्ञान में प्रमाण और तदाभास की व्यवस्था होती है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अन्तर्ज्ञेय एव बहिर्ज्ञेय की वास्तविकता का स्याद्वाद नीति के अनुसार समन्वय कर रहे हैं-वे कहते हैं कि ज्ञान मात्र में स्वरूपभासकता की अपेक्षा से स्वावभासन करने रूप निज स्वभाव की विवक्षा से प्रमाणता ही है । ज्ञान दीपक की तरह स्वप्रकाशक एवं पर प्रकाशक माना गया हैं । भले ही दीपक पदार्थोंको मन्द या अस्पष्टरूप मे प्रकाशित करे पर वह अपने को तो जैसे का तैसा ही प्रकाशित करेगा यही हालत ज्ञान की स्वरूप प्रकाशक के सम्बन्ध मे जानना चाहिये । ज्ञान चाहे सशयरूप हो, चाहे विपर्ययरूप हो चाहे अनध्यवसाय रूप हो वह अपने आपके प्रकाशन मे कभी भी विपरीत स्वरूप वाला नहीं हो सकता यही प्रमाणाभास का निह्नव है । ज्ञान इस अपने स्वरूप को प्रकाशन करने रूप अंश की अपेक्षा सदा प्रमाणरूप-ज्ञानरूप ही रहेगा उसमें प्रमाणाभासता-सशय विपर्यय एव अनध्यवसाय रूपता आती ही नही है । इसी बात को अकलंक स्वामी ने " सर्वसंविदो स्वसंवेदनस्य कथंचित् प्रमाणत्वोपत्तेः तदपेक्षायां सर्वं प्रत्यक्षम् " इस अष्टशती द्वारा प्रकाशित किया है । समस्त ही ज्ञान-प्रमाण-अप्रमाणभूत ज्ञान—अपने स्वरूप के सवेदक हैं इस अपेक्षा उनमे प्रत्यक्ष प्रमाणता है—स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूपता है । यह स्वसवेदन रूप प्रत्यक्ष प्रमाणता बाह्य पदार्थाधीन यहां नहीं है यह तो स्वरूप की अपेक्षा से है । नैयायिक एव मीमांसकों ने ज्ञान को स्वसवेदी नहीं माना है नैयायिको का कहना है कि ज्ञान अपने आप को नहीं जानता हैं उसका प्रत्यक्ष संयुक्त समवाय सन्नि-

कर्ष से होता है—मन आत्मा से सयुक्त होता है और आत्मा मे ज्ञान का समवाय होता है। इस १ प्रकार ज्ञान के उत्प-
न्न होने पर सन्निकर्ष जन्य द्वितीय मानस ज्ञान प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष करता है। इसी का नाम ज्ञानान्तर वेद्यता है।
अर्थात् ज्ञानान्तर से ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है इस सिद्धान्त को मानने वाले नैयायिक हैं। मीमांसकों का कहना है कि
ज्ञान परोक्ष ही उत्पन्न होता है जब उसके द्वारा पदार्थ का बोध हो जाता है तब अनुमान से ज्ञान को जाना जाता
है। चुंकि पदार्थ का बोध हुआ है। और यह बोध रूप क्रिया बिना करण के हो नही सकती अत करणभूत ज्ञान
आ० होना ही चाहिये। मीमांसको को ज्ञान को परोक्ष मानने का कारण यही है कि इसने अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान वेद के
मी० द्वारा ही माना है। धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष किसी व्यक्ति विशेष को नहीं हो सकता है। उनका ज्ञान
३९५ तो वेद के द्वारा ही उसे होता है। इन्ही दो मन्तव्यों का समाधान अकलक स्वामी ने "तथानभ्युपगमे इत्यादि अष्टशति
से लगाकर सुखदु.खादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे" यहां तक की अष्टशति से किया है। इस समस्त अष्टशती का भाव इस प्रकार
है कि यदि ज्ञान अपने आपका जाननेवाला नहीं माना जायगा तो उसके द्वारा हमे पदार्थ का प्रकाशन नहीं हो सकेगा।
जिस तरह दूसरे व्यक्ति का ज्ञान हमारे लिये परोक्ष है उसी प्रकार यह भी परोक्ष है। अत जिस तरह हमें दूसरे
व्यक्ति के ज्ञान के द्वारा पदार्थ का बोध नहीं होता है उसी तरह अपने परोक्षज्ञान द्वारा भी पदार्थ का जानना नहीं हो
सकता है। द्वितीय ज्ञान से—सयुक्तसमवायसन्निकर्षरूप ज्ञानान्तर से—प्रथम ज्ञान का साक्षात्कार करके यदि उसके द्वारा
अर्थ का प्रकाशन स्वीकार किया जाय तो योगियों को भी हमारे ज्ञान के द्वारा पदार्थ का प्रत्यक्ष करने का प्रसंग प्राप्त

---

१ न्याय वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते अवश्य हैं। पर आत्मद्रव्य एव ज्ञानगुण को परस्पर मे जुदा २ मानते हैं। ज्ञान गुण आत्मा का यावद्द्रव्यभावी अर्थात् जब तक आत्मा है तब तक उसमें अवश्य रहनेवाला-गुण नहीं है। किन्तु आत्म मनः सयोग मन-इन्द्रिय पदार्थ सन्निकर्ष आदि कारणो से उत्पन्न होनेवाला विशेष गुण है। जब तक ये निमित्त मिलेंगे ज्ञान उत्पन्न होगा, न मिलेंगे न होगा। मुक्ति अवस्था में मन इन्द्रिय आदि का सयोग न रहने के कारण ज्ञान की धारा उच्छिन्न हो जाती है। इस अवस्था में आत्मा स्वरूपमात्रमग्न रहता है। बुद्धि सुख दु ख आदि विशेष गुण औपाधिक हैं स्वभावतः आत्मा ज्ञानशून्य है। ईश्वर नाम की एक आत्मा ही ऐसी है जो अनाद्यनत नित्यज्ञानवाली है। परमात्मा के सिवाय अन्य सभी जीवात्माएं स्वभावत ज्ञानशून्य हैं। (न्याय विनिश्चय की प्रस्तावना से)

होगा। इसलिये जैसा ईश्वर का ज्ञान स्वपर प्रकाशक माना गया है उसी तरह से प्रत्येक ज्ञान को स्वपर प्रकाशक मानना चाहिये। ज्ञान में स्वकीयता उसकी स्वप्रकाशता से ही आती है।

इसी तरह मीमांसक भी ज्ञान को परोक्ष मानकर जो अर्थप्रकाशन रूप हेतु से उसका प्रत्यक्ष मानते हैं वह भी मान्यता ठीक नहीं है कारण कि इस मान्यता में अनेक बाधाएं आती हैं—जिस अर्थ प्रकाश रूप हेतु से प्रथमज्ञान का ज्ञान माना जाता है वह अर्थ प्रकाश स्वयं एक ज्ञान स्वरूप है—यदि यह अर्थ प्रकाशरूप ज्ञान स्वयं अज्ञात है परोक्ष है-तो उससे प्रथम ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। याद रहना चाहिये कि "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थसिद्धिः प्रसिध्यति" अज्ञात ज्ञान के द्वारा अर्थ सिद्धि नहीं होती। "नाज्ञातं ज्ञापकं नाम" स्वयं अज्ञात दूसरे का ज्ञापक नहीं होता है। अतः आवश्यक है कि पहिले अर्थ प्रकाशन रूप लिङ्ग का ज्ञान हो जाय। इसे जानने के लिये दूसरे और दूसरे को तीसरे ज्ञान तीसरे को चौथे आदि ज्ञानों की परम्परा कल्पित की जायगी तो अनवस्था दूषण का अवतार होता है। यदि अर्थ प्रकाशन को स्वात्मवेदी माना जाय और इस तरह अनवस्था का परिहार कर दिया जाय तो प्रथमज्ञान को स्वात्मवेदी मानने में क्या नुकसान है। उसे ही स्वात्मवेदी मान लेना चाहिये। दूसरी बात यह है कि अर्थप्रकाश और ज्ञान का जबतक अविनाभाव संबंध गृहीत नहीं होगा तब तक उससे ज्ञान का अनुमान नहीं किया जा सकता। यह अविनाभाव ग्रहण ज्ञानरूप अपनी आत्मा में तो इसलिये नहीं बन सकता है कि अभी तक ज्ञान ही अज्ञात है। तथा अन्य आत्मा के ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता अतः अविनाभाव का ग्रहण न होने के कारण अनुमान से भी ज्ञान की सत्ता ग्रहण नहीं की जा सकती।

सभी वादियों १ ने ऐसा माना है कि आत्मा में जो आल्हादनाकाररूप परिणति होती है वह सुख है। अर्थात्

आ० मी० ३९६

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु। परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम्।
स्याद्वाद मं० का० १२।

१ सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्यात् यूनः कान्तासमागमे॥ प्रमेय रत्न मा० पृ० १८२।

सातवेदन का नाम सुख और असात वेदन का नाम दुःख है। अब यह सुखदुःखरूप वेदन यदि परोक्ष माना जाय तो जिस प्रकार अन्यजन के परोक्ष सुखदुःख वेदन से हमे—आत्मा को हर्ष विषाद नहीं होते—उसी प्रकार अपने सुख दुःख वेदन से आत्मा को हर्ष विषाद नहीं होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। अतः ज्ञान को स्वसंवेदी मानना चाहिये। इसतरह प्रत्येक ज्ञान व्यक्ति इस स्वसवेदनरूप प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणभूत ही माना गया है अब रही बाह्य प्रमेय की अपेक्षा
आ० की बात सो जिस ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ मे विसवाद उपस्थित रहता है—अर्थात् जो ज्ञान विसंवादी हैं वह अप्र-
मी० माण है और जो सवादक है वह प्रमाण है। फलितार्थ इसका केवल इतना ही है कि ज्ञान में सशयरूपता, विपर्ययरूपता या प्रमाणता का निश्चय बाह्य पदार्थ के यथार्थ प्रकाशत्व १ और अयथार्थ प्रकाशत्व के आधीन है पर ज्ञानरूपता या
३९७ प्रकाशरूपता का निश्चय तो उसका स्वाधीन ही है। इस तरह अन्तर्ज्ञेय एव बहिर्ज्ञेय मे कथंचित् वास्तविकता सिद्ध हो जाती है। एक ही जीव के ज्ञान में सवादकता या विसवादकता जो आती है वह आवरण विगम की विशेषता से ही आती है।

जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्।
मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च, मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत्॥ ८४॥

अन्वय—सज्ञात्वात् हेतुशब्दवत् जीवशब्दः सबाह्यार्थः प्रमोक्तिवत् मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च स्वैः मायाद्यैः (अर्थैः-सबाह्यार्था सन्ति)

अर्थ—सज्ञा होने से "हेतु" इस शब्द की तरह "जीव" यह शब्द अपने बाह्य अर्थ से युक्त है। प्रमाशब्द की तरह माया आदि भ्रान्ति शब्द अपने माया आदिरूप अर्थ से बाह्य अर्थ वाले हैं।

---

१ तस्मात्स्वसवेदनापेक्षया न किञ्चत् ज्ञान सर्वथाऽप्रमाण बहिरर्थापेक्षया तु प्रमाणतदाभासव्यवस्था तत्संवादकविसवादात्। अष्टशती०

भावार्थ — इस कारिका द्वारा कारिकाकार जीव पदार्थ की सिद्धि कर रहे हैं—वे कहते हैं कि जितने भी नाम होते हैं वे अपने अर्थ के बिना नहीं होते हैं। "जीव" यह भी एक नाम है अतः यह भी अपने अर्थ वाला है जैसे "हेतु" यह नाम है और यह अपने अर्थ से वाह्य अर्थवाला वादिप्रतिवादियों ने माना है। उसी प्रकार 'जीव' इस शब्द का भी वाच्यार्थ जीव पदार्थ है। बिना अपने अर्थ के 'जीव' ऐसा नामपद नहीं हो सकता है। यदि इस पर ऐसा कहा जाय कि माया आदि भ्रान्ति शब्द तो हैं पर इनका वाच्यार्थ तो कोई है ही नहीं—अतः वाच्यार्थ के अभाव में भी वाचक शब्द हो सकते हैं फिर ऐसा एकान्त नियम कैसे अगीकार किया जा सकता है कि 'वाच्यार्थ के विना वाचक शब्द नहीं होते हैं। अथवा जो२ संज्ञायें होती हैं वे सव अपने वाह्य अर्थवाली होती हैं' सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कारण कि माया आदि भ्रान्ति सज्ञाएं भी अपने संशयादि रूप वाच्यार्थ से सवाह्यार्थ हैं। जिस प्रकार—प्रमाण सज्ञा अपने वाच्यार्थ प्रत्यक्ष परोक्षरूप प्रमाण से सबाह्यार्थ है। इसलिये 'स्वरूप व्यतिरिक्तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन जीव शब्दोऽर्थवान्' ऐसा चार्वाक का कथन ठीक नहीं है। कारण कि लोकरूढि से भी यही अभिमत पुष्ट होता है कि जीव शब्द का 'जीव' ऐसा ही अर्थ है। शरीर इन्द्रिय आदि अर्थ नही है—अर्थात् 'जीव' यह शब्द कर्तृत्व, भोक्तृत्व लक्षणरूप उपयोग स्वभाव वाले जीव से ही सबाह्यार्थ है—इससे भिन्न से नही। 'जीवो गतः तिष्ठति' ऐसा जो व्यवहार होता है वह शरीर मे नही होता है क्योंकि वह तो अचेतन है तथा यह शरीर आत्मा—जीव के भोग का अधिष्ठान है। इसी तरह जीव ऐसा व्यवहार इन्द्रियो मे भी नही होता है क्योंकि वे उपयोग की साधन हैं। शब्दादिक विषय भोग्य हैं इसलिये उनमे भी जीव व्यवहार नही हो सकता है इसलिये भोक्ता—आत्मा मे ही जीव इस तरह का व्यवहार होता है और उस अर्थ से ही जीव यह शब्द सबाह्यार्थ है यह जीव जन्म से लेकर मरण पर्यन्त ही सत्तावाला नहीं है किन्तु अनादि अनत है इस अनादि अनत चैतन्य से विशिष्ट शरीर मे जो जीव का व्यवहार होता है वह अभेद के उपचार से ही होता है। भूत चतुष्टय से अचेतन होने के कारण चैतन्य आत्मा की उद्भूति नहीं हो सकती है। चैतन्य से भूतचतुष्टय विजातीय है। यदि विजातीय से भी इस चैतन्य की उद्भूति होने लग जाय तो तात्विक व्यवस्था ही तुम्हारे मतानुसार—चार्वाक मतानुसार-विलुप्त हो जावेगी। अतः 'जीव' यह शब्द अपने अर्थभूत जीव से सबाह्यार्थ है ऐसा ही मानना चाहिये।

यहा बौद्ध यदि इस प्रकार की आशका करे कि ' संज्ञात्वात् ' यह हेतु बाह्यार्थरूप साध्य से विरुद्ध जो अभिप्रेत मात्र अर्थ है उसके साथ व्याप्त है—प्रयुक्त शब्द केवल वक्ता के ही अभिप्राय मात्र का सूचक होता है अर्थ का नहीं। अत वह उसके साथ ही अविनाभूत रहा करता है—अत. साध्य से विपरीत अर्थ के साथ व्याप्तिवाला होने से विरुद्ध हेत्वाभासवाला है—सो ऐसा कहना बौद्ध का ठीक नही है कारण कि संज्ञा—नाम केवल वक्ता का अभिप्रायमात्र सूचक होता है यह कथन प्रमाण से बाधित है, हम देखते हैं कि जैसे घटाभास से जलाद्याहरणरूप अर्थ क्रिया नही सधती है उसी प्रकार अभिप्रायवर्ती—विवक्षावर्ती घट से भी यह अर्थक्रिया नहीं सधती है। संकल्पित मोदको से क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती है वह तो वास्तविक बाह्यार्थरूप से प्रसिद्ध मोदको से ही होती है। जब यह बात हमारे प्रत्यक्ष है तो इसी तरह यह भी मानना चाहिये कि वक्ता के द्वारा उच्चार्यमाण घट शब्द से कथित जो बाह्यार्थरूप घट है उसका परिच्छेद करके उसमें प्रवर्तमान व्यक्ति अर्थ क्रिया मे विसवादी नही देखा जाता है। अर्थक्रिया का साधक पदार्थ ही संज्ञा का बाह्यार्थ है। घटाभास शब्द जिस प्रकार घटरूप बाह्यार्थ से शून्य है उसी प्रकार यदि सत्य घट शब्द भी मात्र वक्ता के अभिप्राय—विवक्षा—का ही सूचक माना जाय तो इस तरह से यह भी बाह्यार्थ का प्रतिपादक न होने से बाह्यार्थ से शून्य ही माना जायगा तो सत्य शब्द और मिथ्या शब्दो मे कोई अन्तर ही नही होना चाहिये। फर्क का कारण तो केवल इनमें इतना ही है कि एक अपने बाह्यअर्थ का यथार्थ अभिधायक होता है और दूसरा बाह्यअर्थ का यथार्थ अभिधायक नहीं। सज्ञा मे जो कहीं२ पर बाह्यार्थ के प्रति व्यभिचार देखा जाता है सो ऐसा व्यभिचार तो प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है। कहीं२ व्यभिचार देखने से सत्य शब्द भी बाह्यार्थ वाला नही है यह तो नही माना जा सकता। असत्य धूम से यदि स्वसाध्यकी सिद्धि मे सदोषता आती है तो इसका मतलब यह तो नहीं हो सकता कि सत्य धूम से भी व्यभिचार स्वसाध्य के साधन मे आता है। अत यह मानना चाहिये कि जिस प्रकार सुविवेचित हेतु अपने साध्य से व्यभिचरित नहीं होता उसी प्रकार सुविवेचित शब्द भी अपने अर्थ का व्यभिचारी नही होता है। अतः अभिप्राय मात्र सूचक संज्ञा को मानना

युक्तियुक्त[1] नहीं है। माया आदि भ्रान्ति संज्ञाएं भी प्रमाण वचन की तरह अपने अर्थ से विशिष्ट प्रतिपत्ति की हेतु होने से सबाह्यार्थ हैं। खरविषाण आदि संज्ञायें भी स्वार्थ से रहित नहीं हैं। क्योकि ये भी विशिष्ट प्रतिपत्ति की कारण हैं। विशिष्ट प्रतिपत्ति यहां अभाव विशेष की प्रतिपत्ति ही जानना चाहिये। नही तो इनमें भाव शब्दत्व का प्रसग प्राप्त होगा। इस तरह नाम मात्र–संज्ञामात्र अपने अभिधेय से सबाह्यार्थ है। "मात्र अन्यापोह का–अन्यव्यावृत्ति का वाचक शब्द होता है" यह मान्यता भी बौद्धों की इससे निरस्त हो जाती है।

बुद्धि-शब्दार्थसंज्ञा स्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः।
तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः॥ ८५॥

अन्वय—तिस्रः बुद्धिशब्दार्थसंज्ञाः बुद्ध्यादिवाचिकाः तुल्या तत्प्रतिबिम्बकाः त्रयः बुद्ध्यादि बोधाश्च (तुल्याः सन्ति)

---

१ शब्द वक्ता की इच्छा—विवक्षा–का ही कथक होता है यह कहना बौद्धो का इसलिये भी ठीक नहीं बन सकता है कि अन्यशब्द की विवक्षा रहने पर भी अन्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है। स्वार्थ प्रतिपादकता मे यदि किसी शब्द मे व्यभिचार देखने से सर्वत्र शब्दो मे स्वार्थप्रतिपादकता के प्रति अनाश्वास रखा जाय तो स्वभाव हेतु और कार्य हेतु भी सर्वत्र व्यभिचरित मानने का प्रसग प्राप्त होगा। क्योकि वृक्षोऽय शिशपात्वात्–यहां शिशपात्वरूप हेतु यद्यपि वृक्षाविसवादी है फिर भी शिशपानाम की लता मे रहने के कारण वह अपने साध्य का गमक नहीं माना जा सकेगा। इसी प्रकार धूमादिक से अग्नि की भी प्रतिपत्ति नही हो सकेगी। कारण कि कार्य कारण भाव मे भी व्यभिचार देखा जाता है। 'काष्ठादिजन्मनोऽग्नेरिव मणिप्रभृतेरपि भावात्' अग्नि काष्ठादिक इन्धन से पैदा होती है पर कहीं मणि आदि से भी उत्पन्न देखी जाती है। अत· जैसे इसके ऊपर बौद्धो की ओर से यह कहा जाता हे कि सुविवेचित व्याप्त एवं कार्य अपने व्यापक और कारण के व्यभिचारी नहीं होते हैं। तो इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि 'सुविवेचित· शब्दोऽयं न व्यभिचरति' सुविवेचित शब्द भी अर्थ का व्यभिचारी नहीं हो सकता है। शब्द प्रयोग विवक्षा का ही सूचक यदि माना जाय तो सुप्त अवस्था मे जो शब्द प्रवृत्ति देखी जाती है वह भी विवक्षा की सूचिका होनी चाहिये। अत शब्द अपने अर्थ से ही सबाह्यार्थ है ऐसा मानना चाहिये। और इससे ही उसमें सत्यासत्य व्यवस्था होती है।

अर्थ—ये तीनों-बुद्धि, शब्द, एवं अर्थ सज्ञाएं-स्वव्यतिरिक्त बुद्धि शब्द एवं अर्थरूप वाच्यार्थ को कहती हैं अत समान हैं। तथा इनके संज्ञाओ—के-प्रतिबिम्बक जो तीन बुद्धि, शब्द एवं अर्थरूप बोध हैं वे भी बुद्धि, शब्द एव अर्थ को जानने वाले होने से समान हैं।

भावार्थ—" जीवशब्दः सबाह्यार्थः सज्ञात्वात् " इत्यादि ८४ वीं कारिका द्वारा जो कारिकाकार ने जोवशब्द-रूप धर्मी में सज्ञात्वहेतु द्वारा जीवरूप बाह्यार्थ सहितपना साध्य किया है उसके ऊपर प्रतिवादी बौद्ध का ऐसा कहना है कि 'सज्ञात्वात्' यह हेतु साध्याभाव मे रहने वाला होने से व्यभिचरित है, कैसे ? सो सुनिये-'अर्थाभिधानप्रत्ययाः तुल्यनामानः' अर्थ—वाच्यार्थ, अभिधान-नाम, एवं प्रत्यय–तद्विषयक ज्ञान ये तीनो पर्यायवाची शब्द है सो इस नियम के अनुसार जीव-शब्द, जीव बुद्धि–जीव ज्ञान जीव इसरूप ज्ञान का--जीव शब्द का और जीव अर्थ का वाचक माना जायगा अर्थात् जीव संज्ञा के ये तीन अर्थ हैं। ऐसी हालत में जीव अर्थ कहने वाली जीवसंज्ञा ही इस जीव पदार्थरूप अपने वाच्य से युक्त होने के कारण सबाह्यार्थरूप साध्य से विशिष्ट मानी जावेगी, शब्दपदार्थक एव ज्ञानपदार्थक जीव सज्ञा-जीव शब्द-सबाह्यार्थरूप साध्य से विशिष्ट नहीं मानी जावेगी। ऐसी स्थिति मे शब्द पदार्थक एव ज्ञान पदार्थक जीव शब्द साध्याभाव विशिष्ट होने से विपक्ष पड़ जाते हैं फिर भी उनमें ' सज्ञात्वात् ' यह हेतु रहता है। इससे विपक्ष में भी रहने से यह हेतु व्यभिचरित हो जाता है। फलितार्थ इसका केवल इतना ही है कि जीव शब्द के बुद्धि, शब्द और अर्थ ये तीन वाच्यार्थ हैं। इनमें अर्थपदार्थक जीव शब्द ही संज्ञात्व हेतु से सबाह्यार्थ सिद्ध होता है शब्द पदार्थक एव ज्ञान पदार्थक जीव शब्द नही। फिर भी इनमे सज्ञात्व हेतु रहता है। इस प्रकार का यह बौद्ध अभिप्राय चित्त में रखकर कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह साबित करते हैं कि शब्द पदार्थक एवं ज्ञानपदार्थक भी जीव शब्द सबाह्यार्थरूप साध्य से विशिष्ट है रिक्त नहीं है। अत सज्ञात्व हेतु साध्याभाव मे नहीं रहने वाला होने से व्यभिचरित नहीं होता है। यही बात स्पष्ट की जाती है—उच्चरित जिस शब्द से अव्यभिचरित जहां बोध होता है वही उसका अर्थ माना जाता है--जैसे घट शब्द के उच्चारण से श्रोता को कम्बुग्रीवादिमान् घट अर्थ का बोध होता है अतः घट शब्द का अर्थ घटरूप पदार्थ माना

जाता है।

यदि ऐसा न हो तो शाब्दिक व्यवहार ही नहीं सध सकता है। तो जिस प्रकार जीवरूप अर्थपदार्थक जीव शब्द से–"जीवो न हन्तव्य." इस वाक्य से-जीव रूप अर्थ का प्रतिबिम्बक बोध श्रोता को प्रादुर्भूत होता है उसी तरह बुद्धि पदार्थक जीव शब्द से "जीव है" ऐसा बुद्धिरूप वाच्य का प्रतिबिम्बक बोध श्रोता को प्रादुर्भूत होता है। तथा शब्द पदार्थक जीव शब्द से 'जीव इत्याह" इस वाक्य से "यह जीव ऐसा नाम कहता है" इस प्रकार का श्रोता को शब्द प्रतिबिम्बक बोध होता है। इस तरह जीवार्थक जीव शब्द, बुद्धि अर्थक जीव शब्द और नाम अर्थक जीव शब्द अपने से व्यतिरिक्त अर्थ, ज्ञान, एवं नाम इन अपने २ वाच्यार्थ के वाचक होते हैं। क्योंकि इनके प्रतिबिम्बक बोध तीन ही होते हैं। "जीव शब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वात्" इस अनुमान में सामान्य से जीव शब्द को धर्मी बनाया गया है और स्वव्यतिरिक्त अर्थरूप सबाह्यार्थ को साध्य बनाया है, या "संज्ञात्वात्" को हेतु बनाया है। इस तरह ये बुद्धि, शब्द और अर्थरूप संज्ञाएँ बुद्धयादिक अपने२ वाच्य की कथक होने से सबाह्यार्थ रूप साध्य से शून्य नहीं हैं। अतः इनमें विपक्षता नहीं आती है। बुद्धि और शब्द रूप संज्ञाएं जब विपक्ष ही नहीं हैं तो इनमें वर्तमान संज्ञात्व हेतु कथमपि व्यभिचारी नहीं हो सकता है। इस तरह यह हेतु सर्वथा निर्दोष है। इस प्रकार एक जीव पदार्थ का ज्ञान नाम एव अर्थरूप से प्रतिपादन करने वाली होने से इन संज्ञाओं में तुल्यता एव एक जीव को ही ज्ञान नाम एवं अर्थरूप संज्ञाओं से दिखाने वाले-जनावने वाले-होने से इनके प्रतिबिम्बक बोधों में तुल्यता प्रकट हो जाती है।

वक्तृश्रोतृप्रमातृणां, वाक्यबोधप्रमाः पृथक्।
भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ, बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥ ८६ ॥

अन्वय--वक्तृश्रोतृप्रमातृणां वाक्यबोधप्रमाः पृथक् (सन्ति)। भ्रान्ती एव प्रमाभ्रान्तौ तादृशेतरौ बाह्यार्थौ (भ्रान्ती एव स्याताम्)।

अर्थ--वक्ता, श्रोता एवं प्रमाता के वाक्य, बोध एव प्रमा ये शब्द भिन्न २ हैं। यदि इन वाक्य बोध

एवं प्रमा को भ्रान्ति स्वरूप माना जायगा तो ऐसी स्थिति में प्रमाण में भ्रान्तिरूपता आने पर तादृश-भ्रान्त अप्रमाण और इतर अभ्रान्त-प्रमाणरूप तथा इष्ट एव अनिष्ट रूप अर्थ भी भ्रान्त स्वरूप हो हो जावेंगे–दोनो को भ्रान्त ही मानना पडेगा ।

भावार्थ—सवेदनाद्वैतवादी बौद्ध ऐसा कहते है कि " संज्ञात्वात् " हेतु द्वारा जो शब्द मे सबाह्यार्थता सिद्ध करने की आप चेष्टा कर रहे हैं वह ठीक नहीं है क्योकि हम विज्ञानवादियों के प्रति यह हेतु स्वरूपत असिद्ध है । हेतु जो हुआ करता है वह वादि-प्रतिवादी दोनो को ही सिद्ध होना चाहिये तभी जाकर वह अपने साध्य का साधक होता है । यह हेतु ऐसा नहीं है । इसका कारण यह है कि हम विज्ञानाद्वैतवादियो ने एक विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं माना है । बाह्य पदार्थ नहीं मानने का कारण यही है कि बाह्य पदार्थ की सत्ता स्वतंत्र रूप से सिद्ध नही होती है । अत विज्ञान से व्यतिरिक्त संज्ञा का सत्व स्वतंत्र सिद्ध नहीं होने से वह विज्ञान स्वरूप ही पडती है । इससे यह बात भी स्वतः समझ में आजाती है कि हेतु शब्द को जो दृष्टान्त कोटि में रखा गया है वह साधनविकल बन जाता है । क्योकि उसमे संज्ञात्वात् यह हेतु नहीं रहता है । तथा इसी कारण से वह सबाह्यार्थ रूप अपने साध्य से शून्य भी हो जाता है । अतः हेतु शब्द अपने अवभासक ज्ञान के अतिरिक्त और कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है । यदि "संज्ञात्वात्" हेतु का अर्थ संज्ञा का अवभासक ज्ञान ऐसा माना जाय तो यह कथन भी शब्द अवभासक स्वप्न ज्ञान से व्यभिचरित बन जाता है । क्योकि स्वप्न ज्ञान मे शब्दो का अवभासन तो होता है परन्तु वह सबाह्यार्थ नहीं माना जाता है । इस प्रकार यह सवेदनाद्वैतवादी का कथन हृदयंगम करके कारिकाकार इस कारिका द्वारा संज्ञात्व हेतु में असिद्धता एव दृष्टान्त मे साध्य साधन विकलता का परिहार करते हैं–वे कहते हैं कि वक्ता श्रोता और प्रमाता ये तीन तथा इनके यथा सख्य वाक्य, बोध और प्रमा-प्रमाण-ये सब भिन्न २ हैं । इस भिन्नता में विज्ञान का अद्वैत कैसे सिद्ध हो सकता है । यदि बाह्य पदार्थ का अस्तित्व न माना जाय तो वक्ता को तद् विपयक ज्ञान कैसे हो सकता है । बाह्य पदार्थ है तभी वक्ता को उसका ज्ञान होता है और इसी से वह उस विषय का उपदेश श्रोताजनों को

देता है ।

अर्थात वक्ता के जो वाक्य की प्रवृति होती है वह अभिधेयबोध निबंधनक होती है । वक्ता की इस वाक्य प्रवृति से तद्विषयक ज्ञान का सद्भाव और उसके सद्भाव से बाह्यपदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है । तब यह बात कैसे मानी जा सकती है कि एक असहाय-ज्ञान ही वास्तविक है बाह्यपदार्थ नहीं । यदि बाह्यपदार्थ स्वतत्ररूप से सत्ता विशिष्ट न माना जाय तो वक्ताजन तद्विषयक ज्ञान के अभाव मे कभी भी तद्विषयक उपदेश नही दे सकते हैं । उपदेश के अभाव

आ० में श्रोताओं को अभिधेय–पदार्थ का बोध नहीं हो सकता है । यदि वक्ता विना अभिधेय के बोध के उपदेश देगा तो वह

मी० उसका उपदेश एक असबद्ध प्रलाप जैसा ही माना जायगा । वक्ता के उपदेश से श्रोता को बाह्यपदार्थ की प्राप्ति यथावत्

४०४ होती है । अतः बाह्यपदार्थ ज्ञानस्वरूप कथमपि नहीं माना जा सकता । तथा प्रमाता को-सत्य असत्य अर्थ के निर्णय करने वाले को–बाह्यपदार्थ की प्रमाणता यदि न होय तो शब्द और अर्थरूप प्रमेय में यथार्थता का वह निर्णय कैसे कर सकेगा । अर्थात प्रमाता द्वारा प्रमिति के अभाव में शब्द एव अर्थ रूप प्रमेय की व्यवस्था नहीं बन सकेगी । इस शब्द का यह वाच्यार्थ है इस तरह की प्रमाता को जो वाच्यार्थ पदार्थ सबन्धी अज्ञान निवृति आदि रूप प्रमिति हुआ करती है वह वास्तविक बाह्यपदार्थ रूप जो शब्द और उसका अर्थ है उसके सद्भाव में ही बन सकती है । इस शब्द का यह वाच्यार्थ है इस तरह की प्रमाता को वाच्यवाचकभाव को अधिगति रूप प्रमिति जो न हो तो उसके लिये शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक भाव पारमार्थिक है इसलिये इस विवक्षित शब्द का संकेतानुसार यही अर्थ है अन्य नहीं इस तरह का प्रमाण रूप ज्ञान कैसे हो सकेगा । घट शब्द का प्रमेय यदि घट न हो तो यह कैसे कहा जा सकता है कि घट शब्द घट रूप अर्थ को ही कहता है वस्त्रादिक रूप अर्थ को नहीं ।

घट शब्द घट रूप अर्थ को ही कहता है अन्य को नहीं इसीलिये तो इनका वाच्य वाचक सम्बन्ध प्रमाण माना जाता है और इसी अपेक्षा से घट शब्द से जायमान ज्ञान में प्रमाणता आती है और इसी कारण से घट शब्द में भी प्रमाणता की व्यवस्था बन जाती है । प्रमाता आत्मा इसी रूप से शब्द और अर्थ को जानता है अतः शब्द और

तदभिधेय रूप अर्थ की वह व्यवस्था करता है। यदि ऐसा न हो तो कोई भी व्यक्ति अपने इष्ट तत्त्व की व्यवस्था नहीं कर सकता, यह सब होता है। इसलिये वक्ता श्रोता और प्रमाता तथा उनके ये वाक्यार्थादित्रय पृथग्भूत मानना चाहिये क्योंकि इसी तरह से उनकी व्यवस्था जो बनती है, इस तरह वक्ता आदि संज्ञाएं तथा वाक्यादि सज्ञाएं अपने२ बाह्यार्थ से विशिष्ट होने के कारण सबाह्यार्थ है। इस तरह सज्ञात्व हेतु मे न असिद्धता है और न हेतु शब्द रूप दृष्टान्त में साध्य साधन विकलता हा है। यदि ऐसा न माना जाय तो सवेदनाद्वैत भी अपने अभिधेय से रिक्त होने के कारण कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है। शब्द और अर्थ की इस द्विविधता मे सवेदनाद्वैत सिद्ध न होकर द्वैत सिद्ध होता है। सवेदनाद्वैतवादी फिर भी यदि ऐसा कहें कि "बहिरर्थाभावात् वक्त्रादित्रय न बुद्ध पृथग्भूतं वक्त्राद्याभासाया बुद्धेरेव वक्त्रादिस्वव्यवहारात् वाक्यस्यापि बोधव्यतिरेकेणासत्वात् प्रमाया बोधात्मकत्वात्" बहि अर्थ का अभाव होने से ये वक्ता श्रोता आदि त्रय, ज्ञान से पृथक्भूत नही है क्योंकि यह वक्ता है यह श्रोता है इत्यादि को जो व्यवस्था होती है वह बुद्धि से ही होती है। अतः वक्ता आदि आकार वाली बुद्धि मे ही वक्ता श्रोता इत्यादि व्यवहार होता है। वाक्य भी बोध से व्यतिरिक्त स्वतत्र नही है। प्रमा तो स्वयं बोधात्मक है। इसलिये "सज्ञात्वात्" हेतु में असिद्धता का एव दृष्टान्त मे साधन आदि विकलता का जो परिहार किया गया है सो ठीक नहीं है वह तो तदवस्थ ही है। सो ऐसा कहना भी संवेदनाद्वैतवादी का समुचित नहीं है, कारण कि बाह्य रूपादिक का ग्राहक ज्ञान यदि नहीं माना जायगा और केवल उसे स्वांश मात्रावलबी ही माना जायगा एव बाह्य रूपादिक के ग्राहक ज्ञान को विभ्रमस्वरूप ही स्वीकृत किया जायगा तो ऐसी स्थिति मे अन्तर्ज्ञेय रूप सवेदनाद्वैत भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि वह भी विभ्रम रूप ही मानना पडेगा। कारण अन्तर्ज्ञेय रूप सवेदनाद्वैत की सिद्धि विना प्रमाण के होती नहीं है। और वह प्रमाण सवेदनाद्वैतवादी की दृष्टि में विभ्रमस्वरूप है। अतः एकान्त संवेदनाद्वैत की सिद्धि के बाधक ये भिन्न २ वक्ता आदित्रय एवं उनके वाक्य बोध और प्रमा हैं। यदि इन्हें भ्रान्ति स्वरूप माना जाता है तो प्रमाण में भ्रान्तिता आने से सत्यासत्य पदार्थ की व्यवस्था ही विनष्ट हो जाती है।

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं, बाह्यार्थे सति, नासति ।
सत्यानृतव्यवस्थैवं, युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥ ८७ ॥

अन्वय---बाह्यार्थे सति बुद्धि-शब्दप्रमाणत्व असति न । एवं अर्थाप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्था युज्यते ।

अर्थ---बाह्य अर्थ के होने पर बुद्धि-ज्ञान-एवं शब्द में प्रमाणता आती है, नहीं होने पर नहीं। इस प्रकार अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति के निमित्त को लेकर बुद्धि और शब्द में सत्य और असत्य की व्यवस्था बनती है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार ज्ञान और शब्द मे प्रमाणता और अप्रमाणता की व्यवस्था कैसे होती है इस बात की पुष्टि करते हैं। वे कहते है कि यदि सवेदनाद्वैतवादी ऐसा कहे कि भ्रांति रहित ज्ञान ही निर्बाध रूप से प्रमाण माना जाता है तो इसके ऊपर उन कारिकार का यह कहना है कि ज्ञान मे भ्रान्ति से रहित पना विना वाह्यार्थ को माने नहीं आसकता है इसके लिये वाह्यार्थ मानना ही चाहिये । ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता की व्यवस्था बाह्यार्थपेक्ष है । यद्यपि भावप्रमेय की अपेक्षा समस्त ज्ञानो में-सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान सब मे-प्रमाणता मानी गई है इसी को स्वोन्मुखतया ज्ञान का प्रतिभासन कहा गया है। परन्तु जब बुभुत्सु को अपने ज्ञान में प्रमाणता की कसौटी करनी होती है तब वह उस ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ की ओर तकता है। यदि ज्ञान का विषयभूत पदार्थ जिस रूपादिक से विशिष्ट ग्रहण किया गया है वह पदार्थ यदि उसी रूपादिक द्वारा निर्दोष उतरता है, उसमे किसी भी प्रकार से संदेह आदि के लिये गुंजाइश नही है तो उस ज्ञान को स्वयं ज्ञाता प्रमाण भूत मान लेता है। तथा जब प्रमाता अपने इस ज्ञान को "मदीय ज्ञानं प्रमाणम्" इस रूप से पर के लिये प्रतिपादन करता है तो उस परप्रतिपादन में साधन शब्द पडता है। क्योकि स्वयं ज्ञान से परप्रतिपादन नहीं होता है । परप्रतिपादन तो परप्रतिपत्ति के उपायभूत शब्द द्वारा ही होता है। अब शब्द मे भी प्रमाणता बाह्य अर्थ के विना नहीं आसकती है । क्योकि प्रतिपादित पदार्थ जिस स्वरूपादिक विशिष्ट वतलाया गया है वह यदि उसी स्वरूपादि

विशिष्ट उतरता है तो शब्द में प्रमाणता है। इसी का नाम है वक्ता की प्रमाणता से शब्द मे प्रमाणता। इस तरह बुद्धि और शब्द मे प्रमाणता बाह्य अर्थ के सद्भाव मे ही आती है, अभाव मे नहीं। इसी तरह स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण भी बिना बाह्यार्थ के नहीं बनता है। अत बाह्यार्थ पारमार्थिक सत्य है ऐसा मानना चाहिये।

इस प्रकार बाह्यार्थ की सत्यता में वक्ता श्रोता और प्रमाता ये तीन तथा इनके वाक्य बोध और प्रमाण ये तीन निर्बाध सिद्ध हो जाते है। बहि अर्थ के सद्भाव को आवेदन करने वाला यह अनुमान है "बहिरर्थः परमार्थतः सन् साधनदूषणप्रयोगात्," इसका खुलासा अर्थ इस प्रकार है-विज्ञानाद्वैतवादी एक विज्ञान के सिवाय बाह्यार्थ परमार्थिक सत्य नहीं मानता है उसके मतानुसार अनादि कालीन विकल्प वासना के आधार से ज्ञान ही अनेकाकार में अर्थरूप से प्रतिभासित होता है। इसके ऊपर अकलक देव इस अष्टशती द्वारा यह उसे समझा रहे है कि इस प्रकार की ज्ञानाद्वैतवादी की मान्यता उचित नही है, कारण कि साधन और दूषण प्रयोग–स्वपक्ष का साधन प्रयोग एव परपक्षका दूषण प्रयोग-बिना बाह्यार्थ को पारमार्थिक सत्य माने बनता ही नहीं है 'अन्यथा स्वप्नेतराविशेषात् किं केन साधितं दूषितं च" यदि बाह्यार्थ के बिना भी साधन प्रयोग एव दूषण प्रयोग बन जाता है तो स्वप्नदशाभावी और जाग्रत दशाभावी साधन दूषण प्रयोगो मे कोई भी विशेषता नही रहेगी कारण कि जिस प्रकार स्वप्न दशाभावी साधन दूषण प्रयोग बहिरर्थ से शून्य हैं उसी प्रकार जाग्रत् दशाभावी भी साधन दूषण प्रयोग बहिरर्थ से शून्य है। तब इन दोनों दशाभावी प्रयोगो मे भेद का नियामक क्या हो सकता है कि जिससे एक दशाभावी साधन दूषण प्रयोग सत्य और अपर दशाभावी साधन दूषण प्रयोग असत्य माना जा सके। इस तरह बहिरर्थ के अभाव में उभयदशाभावी इन प्रयोगो मे अविशेषता होने से " नीलतद्धियोरभेद सहोपलम्भनियात् द्विचन्द्रदर्शनवत्" ऐसा कथन कि अर्थ और ज्ञान दोनो एक साथ उपलब्ध होते हैं अत अर्थ और ज्ञान अभिन्न है जैसे द्विचन्द्रज्ञान मे प्रतिभासित होने वाले दो चन्द्र वस्तुतः पृथक् सत्ता नही रखते, किन्तु एक ही हैं" संवेदनाद्वैत की सिद्धि कैसे कर सकेगा। और कैसे वचन

रूप परार्थानुमान द्वारा सवेदनाद्वैत पर के प्रति साधित हो सकेगा तथा ऐसा कहना भी कि यह स्वसविदित संवेदनाद्वैत प्रत्यक्ष से ही प्रतिभासित होता है और बहिरर्थ जड पदार्थ का प्रतिभासन नहीं होता है। यह सब प्रतिपादन शोभन कैसे माना जायगा।

क्योकि यह सब कथन स्वप्न प्रत्यय की तरह अपने अभिधेय से शून्य ही रहेगा स्वप्नदशाभावी प्रत्यय में और जाग्रत् दशा भावी प्रत्यय मे बहिरर्थ की हयाती और अहयाती को लेकर ही तो बिशेषता मानी जाती है। तथा ऐसा कहना भी कि "तैमिरिक व्यक्ति के द्विचन्द्रदशन की तरह समस्त व्यवहार भ्रान्त है,, विना तत्त्व ज्ञान के माने नहीं बन सकता है। अर्थात् ऐसा जो कहा जायगा वह तत्त्वज्ञान की सहायता से ही तो कहा जायगा-तब तत्त्वज्ञान में भ्रान्तता कैसे आ सकती है -उसे तो अभ्रान्त ही मानना पडेगा- नहीं तो इस कथन को कोई कीमत ही नही रहेगी। दूसरे-जिस तरह बहिरर्थ को विभ्रम रूप मानकर उसका निराकरण सवेदन द्वैतवादी द्वारा किया जाता है उसी तरह सवेदनाद्वैतवादी को अभीष्ट जो संवेवनाद्वैत है उसके भी निराकरण की आपत्ति उसे प्रसक्त होती है। क्योकि सवेदनाद्वैत की सिद्धि वह तत्त्व ज्ञान से करता है और तत्त्व ज्ञान उसकी दृष्टि में भ्रान्त है। अतः भ्रान्त तत्व ज्ञान से सवेदनाद्वैत की सिद्धि ठोस रूप में नही मानी जावेगी—असिद्ध मानी जावेगी। इस तरह बाह्य अर्थ को पारमार्थिक सत्वस्वरूप माने बिना सवेदना द्वैतवादी न तो अपने इष्ट तत्त्व रूप संवेदनाद्वैत की सिद्धि कर सकता है और न पर पक्ष का-बाह्य अर्थ का खडन ही कर सकता है। अतः परमार्थिक बाह्यार्थ का सद्भाव उसे मानना पड़ता है। इस सद्भाव मे एकान्ततः संवेदनाद्वैत सिद्ध नही होता है। इस प्रकार उभयतः पाशरज्जु उसके लिये तैयार हो जाती है। तथा १ सवेदनाद्वैत वादी जो बाह्यार्थ के अस्तित्व मानने मे यह बाधक उपस्थित करते हैं कि एक परमाणु अन्य परमाणुओ से एक देश से संयोग करेगा या सर्व देश से संयोग करेगा। एक देश से संयोग मानने पर पूर्वादि दिशाओ से आगत छ परमाणुओ द्वारा संयुक्त होने पर उस परमाणु में षडशता मानना पडेगी। फिर निरंश परमाणु को मानना

१—अकलक ग्रन्थत्रय की प्रस्तावना के आधार से उल्लिखित।

ठीक नहीं कहलावेगा । सर्वदेश से संयोग मानने पर परमाणुओं का पिण्ड एक परमाणु रूप हो जावेगा। इसी तरह अवयवी अपने अवयवों में एक देश से रहेगा या सर्वात्मना ? एक देश से रहने पर अवयवो में उतने ही देश मानना पड़ेंगे कि जितने अवयव हैं। सर्वदेश से अवयवी अवयवों में रहता है इस मान्यता में जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी मानने का प्रसंग प्राप्त होगा । इस प्रकार संवेदनाद्वैत वादी के इस कथन का परिहार अकलंक स्वामी ने इस प्रकार किया है कि जिस तरह एक ज्ञान अपने ग्राह्य ग्राहक और संविदाकार से तादात्म्य रखकर भी एक रहता है
आ० उसी तरह अवयवी अपने अवयवों में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध से रहने पर भी एक ही रहेगा। अवयवों से सर्वथा
मी० भिन्न अवयवी तो जैन भी नहीं मानते हैं। परमाणुओं में परस्पर स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक ऐसा विलक्षण
४०९ सम्बन्ध होता है कि जिससे स्कन्ध बनता है। अत ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ की सत्ता माननी ही चाहिये। क्यों कि ससार के समस्त व्यवहार बाह्य सत् पदार्थों से चलते हैं केवल ज्ञान मात्र से नहीं।

इस तरह बहिः अर्थ की सिद्धि होने पर वक्ता आदित्रय तथा उनके वाक्यादित्रय सिद्ध हो जाते हैं। अतः जीव शब्द को सबाह्यार्थत्व साध्यविशिष्ट साधित करने पर सज्ञात्व हेतु में न असिद्धता आती है और अनैकान्तिकता ही। तथा दृष्टान्त रूप में प्रवत्त हेतु शब्द भी साधन और साध्य विकल नहीं हैं । अत ८४ वीं कारिका द्वारा निर्बाधरूप से जीव पदार्थ सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार भाव प्रमेय की अपेक्षा से समस्त ज्ञान कथंचित् अभ्रान्त ही हैं। तथा बहि अर्थकी विसवादिता की अपेक्षा से कथञ्चित् ज्ञान भ्रान्त भी है तथा अविसंवादिता की अपेक्षा से ज्ञान प्रमाण-अभ्रान्त भी है। क्रमार्पितद्वय-भ्रान्ताभ्रान्त की अपेक्षा ज्ञान उभयरूप ही है। सहार्पितद्वय की अपेक्षा से ज्ञान भ्रान्त अभ्रान्त रूप से युगपत् अवक्तव्य है। इस तरह ये चार भंग यहां समझ लेना चाहिये। बाकी के अवशिष्ट तीन भंग पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार नियोजित कर लेना चाहिये।

सप्तमोऽयं परिच्छेदोऽनूद्याद्यपूर्णतां गतः।
पक्षे तिथौ च मासे च, कृष्णेऽष्टम्यां सुमाधवे ॥

इति सप्तम परिच्छेदः

दैवादेवार्थसिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत ॥ ८८ ॥

अन्वय—दैवादेव अर्थसिद्धिः चेत् (तदा) पौरुषतः दैव कथ (स्यात्) दैवतः चेत् अनिर्मोक्षः, पौरुष (च) निष्फल भवेत् ।

अर्थ—दैव-भाग्य से ही अर्थ-प्रशस्त अप्रशस्त शरीर इन्द्रियादिकों की, तथा ज्ञान सुखादिकों की, एवं अज्ञान दु.खादिकों की सिद्धि-निष्पत्ति होती है । यदि यही सिद्धान्त एकान्तत अंगीकार किया जाय तो पौरुष से-पुरुषार्थ से दैव की जो निष्पत्ति-सिद्धि मानी जाती है वह कैसे हो सकेगी । यदि इस पर यह कहा जाय कि दैव की सिद्धि पूर्व दैव से होती हैं तो इस प्रकार की मान्यता मे अनिर्मोक्ष—मोक्षाभाव प्रसक्त होता है तथा पुरुषार्थ भी निष्फल ठहरता है ।

भावार्थ—उपायतत्व दो प्रकार का है । १—ज्ञापकत्व २—कारकतत्त्व । ज्ञान को ज्ञापकतत्व माना गया है । दैव पुरुषार्थ आदि कारक तत्त्व है । यहां कारिकाकार इमी कारक तत्त्व का परीक्षण कर रहे हैं । किन्ही २ का इस विषय मे ऐसा मन्तव्य है कि जितने भी दृष्ट और अदृष्ट कार्य हैं उन सबका साधन एक दैव ही है । किन्हीं का ऐसा कहना है कि समस्त कार्यों का ऐसा साधन एक पुरुषार्थ ही है दैव नहीं । कोई ऐसा कहते हैं कुछ कार्य दैव से साधित होते हैं और कुछ कार्य पुरुषार्थ से साधित होते है । जो व्यक्ति पुरुषार्थ निरपेक्ष केवल दैव से ही कार्य की निष्पत्ति होना मानते है उनसे कारिकाकार का ऐसा कहना है कि इस मान्यता मे कुशल और अकुशल आचरण रूप पुरुष व्यापार से—पुरुषार्थ-से कर्म रूप दैव की निष्पत्ति कैसे हो सकेगी । अर्थात् पुण्य पाप रूप दैव की उत्पत्ति का कारण मन वचन काय रूप शुभ और अशुभ योग है । "शुभःपुण्यस्याशुभ. पापस्य" वह अब इस मान्यता मे घटित नहीं हो सकता ।

अन्यथा कृत प्रतिज्ञा की हानि होने का प्रसग प्राप्त होता है । इसी तरह केवल—दैवनिरपेक्ष-पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि मानी जाय तो यह सिद्धान्त भी युक्ति युक्त नहीं बैठता है, सो कैसे ? इसका विवेचन स्वयं कारिकाकार ८९ वी कारिका द्वारा आगे स्पष्ट रूप से करेंगे । अतः यह बात वहीं पर समझाई जावेगी । यदि दैववादी दैव की उत्पत्ति का कारण पूर्वोपार्जित दैव ही माने पुरुषार्थ नही तो इसके लिये कारिकाकार कहते हैं कि " दैवतश्चेदनिर्मोक्षः " पूर्व २ दैव से ही उत्तरोत्तर दैव की उत्पत्ति होती रहेगी उसका विराम तो होगा नहीं ऐसी स्थिति मे मोक्ष-दैव का परिक्षयरूप-अभाव-रूप-निर्वाण कैसे सिद्ध हो सकेगा । तथा कर्मरूप दैव की उत्पत्ति को रोकने के लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है वह भी निष्फल ही हो जायगा । यदि पुरुषार्थ की सफलता निमित्त ऐसा कहा जाय कि पुरुषार्थ से ही दैव का विनाश होता है इससे मोक्ष की प्रसिद्धि होने से पुरुषार्थ सफलित हो जावेगा सो इस प्रकार का कथन " दैवादेव सर्वः भवति इति या प्रतिज्ञा सा हीयते " दैव से ही सब कुछ होता है इस कथन का निवारक हो जाता है क्योकि इस कथन से पुरुषार्थ भी कार्यकारी साबित हो जाता है । यदि अपनी प्रतिज्ञा को सुदृढ रखने के लिये दैववादी मीमांसक ऐसा कहे कि मोक्ष का कारणभूत जो पुरुषार्थ होता है वह भी तो दैव कारणक ही होता है अत परम्परा सम्बन्ध से मुक्ति भी दैव कारणक ही मान ली जावेगी-तब तो प्रतिज्ञा हानि होने का कोई भय ही नहीं रहता है सो इस प्रकार के कथन से दैवैकान्त सिद्ध नहीं हो सकता है । कारण कि तादृश-मुक्ति प्राप्ति का कारण परम पुण्यातिरूप ऐसे-दैव का निर्माण तो पुरुषार्थ से ही होता है ।

इस ही तरह यदि कोई ऐसा कहे कि स्वयं अप्रयतमान व्यक्ति के जो समस्त इष्ट और अनिष्ट कार्य सम्पन्न होते हैं वे उसके केवल दैव से ही होते हैं पुरुपार्थ से नही, एवं जो प्रयतमान व्यक्ति है-पुरुषार्थ करने वाले हैं—उनके जो समस्त इष्ट और अनिष्ट कार्य सम्पन्न होते हैं वे उसके पुरुषार्थ से होते हैं दैव से नहीं, सो ऐसी मान्यता भी युक्ति युक्त नहीं है । कारण कि कृष्यादिक कार्यों मे एक साथ प्रवृत्ति करने वाले—एकसा पुरुपार्थ मिलकर साथ २ करनेवाले व्यक्तियों में से किन्हीं २ के ही कार्य की सिद्धि एवं अनर्थ का विघात देखा जाता है तथा किन्हीं २ के अर्थ की-कार्य

की सिद्धि का अभाव एवं अनर्थ की प्राप्ति देखी जाती है। अतः यह मानना चाहिये कि ऐसी स्थिति में दैव की प्रतिकूलता एव अनुकूलता भी कारण है। " योग्यता कर्म पूर्ववादैवमुभयमदृष्टं पौरुष पुनरिह चेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थसिद्धिः तदन्यतरापायेऽघटनात् पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनात् दैवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसगात् " इसी बात को अकलक स्वामी ने इस अष्टशती द्वारा प्रदर्शित किया है—वे इसमें बतलाते हैं कि योग्यता अथवा पूर्व कर्म ये दैव के नाम हैं, चेष्टित एवं दृष्ट ये पौरुष के नाम हैं। इन दोनो मे दैव अदृष्ट एव पुरुषार्थ दृष्ट है। इन दोनों से अर्थ की सिद्धि होती है। केवल पुरुषार्थ एवं केवल दैव से ही नही होती है। जो व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं करते हैं फिर भी उनके जो अर्थ प्राप्ति एवं अनर्थोपरम तथा अनर्थ प्राप्ति एवं अर्थोपरम देखने मे आता है उससे वहां प्रयत्न का—पुरुषार्थ का अभाव माना जाय तो ऐसी स्थिति मे उनमे अनुपभोग्यता का प्रसंग प्राप्त होगा। अत इनके अनुभवन में कारण पुरुपार्थ भी है ऐसा निश्चितरूप से मानना चाहिये। केवल पुरुषार्थ से अर्थ सिद्धि देखी नहीं जाती है तथा दैव मात्र से अर्थ सिद्धि मानने मे तद्विषयक इच्छा करना भी व्यर्थ है इसलिये दैव और पुरुषार्थ ये दोनो ही मिलकर अर्थसिद्धि में कारण हैं ऐसा ही मानना चाहिये। मोक्षरूप अर्थ की सिद्धि भी परम पुण्यातिरूप दैव तथा चारित्र विशेषात्मक पौरुष से ही होती है। इसलिये दैवैकान्त का पक्ष श्रेयस्कर नहीं है।

पौरुषादेवसिद्धिश्चेत्पौरुषं दैवतः कथम्।
पौरुषाच्चेदमोधं स्यात्सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥ ८९ ॥

अन्वय—चेत् पौरुषात् एव सिद्धि (तदा) दैवत पौरुषं कथ (स्यात्) पौरुसषात् चेन् (तर्हि) सर्वप्राणिषु पौरुषं अमोध स्यात्।

अर्थ—यदि पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि होती है ऐसा माना जाय तो दैव से जो पुरुषार्थ की सिद्धि होती हुई देखी जाती है उसका निर्वाह कैसे हो सकेगा। इस पर यदि यों कहा जाय कि पुरुषार्थ की सिद्धि पुरुषार्थ से ही

होती है दैव से नहीं, सो इस प्रकार की मान्यता में सर्व प्राणियों का पुरुषार्थ सफल ही होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

भावार्थ-इस कारिका द्वारा कारिकाकार " पुरुषार्थ से ही समस्त अर्थ—प्रयोजनादिभूत पदार्थों—की सिद्धि होती है " इस एकान्त मान्यता का निरसन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जिनकी ऐसी ही मान्यता है कि पुरुषार्थ से ही सब कुछ होता है दैव से नही उनके प्रति उनका यह कहना है कि दैव से जो पुरुषार्थका निर्माण होना देखा जाता है वह कैसे इस मान्यता के समक्ष ठहर सकता है। अन्यथा प्रतिज्ञा हानि होने का दूषण प्राप्त होता है। पुरुषार्थ दैव के विना नहीं होता है इस पर किसी विद्वान का ऐसा कहना १ है कि जैसी भवितव्यता-होनहार होती है उसी तरह की बुद्धि हो जाती है उसी प्रकार का व्यवसाय होने लगता है, सहायक भी उसी तरह के मिल जाते है" इस कथन से भवितव्यता रूप दैव द्वारा बुद्धि व्यवसाय रूप पुरुषार्थ का निर्माण साबित होता है। यदि इस पर यो कहा जाय कि यह बुद्धि व्यवसाय रूप पुरुषार्थ दैव से उत्पन्न नही होता है किन्तु पुरुषार्थ से ही होता है तो इसका उत्तर कारिकाकार " सर्वप्राणिषु पौरुष अमोघ स्यात् " समस्त प्राणियों द्वारा किया गया पुरुषार्थ सफल ही होना चाहिये निष्फल नहीं होना चाहिये इस उत्तरार्ध द्वारा दे रहे हैं। यदि पौरुष वादी अपने सिद्धान्त को सुदृढ करने के लिये ऐसा कहे कि सर्व प्राणियो मे उनके द्वारा कृत पुरुषार्थ अमोध ही होता है तो उसके ऊपर अष्टशतीकार कहते हैं कि "तद्व्यभिचार दर्शिनो नवै श्रद्दधीरन्" यह बात नहीं है पुरुषार्थ करने पर भी उसका फल अवश्य ही मिलता है ऐसा एकान्त नियम नही बन सकता है। किसी का पुरुषार्थ सफल हो जाता है और किसी का निष्फल ऐसा ही देखा जाता है। यदि फिर भी इस पर यों कहा जाय कि जो पुरुषार्थ सम्यग्ज्ञान पूर्वक होगा वह सफल होगा तथा जो मिथ्याज्ञान पूर्वक होगा वह सफल नहीं होगा—उसी में अपने फल के प्रति व्यभिचार देखा जाता है-सो ऐसा कहना भी इस पुरुषार्थ वादी चार्वाक का संगत नहीं है। कारण कि दृष्ट कारण सामग्री का सम्यग्ज्ञान जिस पुरुषार्थ का कारण होता है ऐसा भी वह पुरुषार्थ सफल ही होता है ऐसा नियम नहीं बन सकता है-अर्थात् यह भी व्यभिचरित देखा जाता है-ऐसे भी पुरुषार्थ से नियमतः पुरुषार्थी को

१ "तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृश। सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता,'॥

उपेयतत्व की प्राप्ति -अपने कार्य में सफलता हो ही जाती है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि किन्हीं २ को वह नहीं भी होती १ है। यदि अदृष्ट-अदृश्य-कारण कलाप के सम्यग्ज्ञान से जायमान पुरुषार्थ सफल होता है ऐसा कहा जाय तो अदृश्य कारण कलाप का सम्यग्ज्ञान तो सर्वज्ञ को ही होता है -हम जैसे छद्मस्थ ज्ञानियों को नहीं-अतः अदृश्य कारण कलाप के ज्ञान से जायमान पुरुषार्थ तो हम लोगों में संभवित ही नहीं हो सकता है-क्योंकि इस पुरुषार्थ के जानने वाला जो सर्वज्ञ ज्ञान है वह हम मे नहीं है। यदि इस पर यों कहा जाय कि अदृष्ट कारण कलाप का ज्ञान हमें किसी दूसरे प्रमाण से हो जायगा - अत तन्निमित्तक पुरुषार्थ होने में क्या बाधा है तो इस पर पुरुषार्थ वादी से पूछा जाता है कि यह जो अदृश्य कारण कलाप है सो क्या है ? क्या वह कारण की शक्ति विशेष स्वरूप है या पुण्य पाप विशेष स्वरूप है ? यदि प्रथम पक्ष अंगीकार किया जाय तो वह ठीक नहीं है कारण कि कारणशक्ति का अवगम है निमित जिसका ऐसा भी पुरुषार्थ सफलित नहीं देखा जाता है। जैसे जिसकी आयु क्षीण हो चुकी है ऐसे पुरुष में औषधि की शक्ति के अवगम निमित्तक भी पुरुषार्थ-औषधि के पान करने आदि रूप पुरुषार्थ–का कुछ भी उपयोग नहीं होता है। द्वितीय पक्ष अंगीकार करने पर यही बात आती है कि दैव सहाय वाले ही पुरुषार्थ से फल की सिद्धि होती है यद्यपि दैव का यथार्थ ज्ञान जिस पुरुषार्थ का कारण है ऐसे ही पुरुषार्थ से उपेय तत्वों की प्राप्ति की व्यवस्थिति बनती है। परन्तु दैव का ज्ञान जिस पुरुषार्थ मे नहीं भी है ऐसे भी पुरुषार्थ से कदाचित् फलोपलब्धि होती देखी जाती है अत सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही किया गया पुरुषार्थ सफल होता है ऐसी एकान्त मान्यता ठीक नहीं उतरती है। अत पौरुषैकान्त पक्ष भी दैवैकान्त पक्ष की तरह त्याज्य कोटि में समझना चाहिये।

इतने लिखने का भाव केवल इतना ही कि जिस प्रकार दैवैकान्त पक्ष ठीक नहीं है उसी प्रकार यह "पुरुषार्थ से ही सब कुछ होत है" चार्वाक का मन्तव्य भी उचित नही है। क्योंकि पुरुषार्थ करने पर भी दैव की प्रतिकूलता मे जीवों को-पुरुषार्थ करने वालों को-सफलता हासिल नहीं होती है। कारण सामग्री के सम्यग्ज्ञानपूर्वक किया

१ "किन्हीं २ व्यक्तियों को कृषि आदि करने के साधनों का अच्छी तरह से ज्ञान होने पर भी उन्हें उसमे पूर्ण सफलता नहीं मिलती है। प्रत्युत नुकसान ही उठाना पडता है।

गया भी प्रयत्न कभी २ निष्फल हो जाया करता है। जितना ज्ञान हमारे जैसे छद्मस्थ व्यक्तियो को है उसके अनुसार कारण सामग्री का ज्ञान होने पर भी उद्योग मे सफलता निश्चित नहीं मानी जाती हैं। अत ऐसा ही मानना चाहिये कि ये दोनो परस्पर सापेक्ष हैं। इनकी सापेक्षता मे ही कार्य की सिद्धि निहित है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
आ० अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ९० ॥

मी० अन्वय–स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न। अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यं" इत्यपि उक्ति न युज्यते।

४१५ अर्थ–स्याद्वादरूप नीति से विद्वेष रखने वालो का दैव और पौरुष का एकात्मपक्ष परस्पर में विरुद्ध होने से नहीं बनता है। इसी तरह इन दोनो का अवक्तव्य एकान्तपक्ष भी घटित नहीं होता है। क्योंकि इस पक्ष मे 'अवाच्य' ऐसे शब्द का भी प्रयोग करना जो नहीं बन सकता है।

भावार्थ–कुछ कार्य दैव से होते है और कुछ कार्य पुरुषार्थ से होते हैं इस प्रकार पृथक्२ कार्यों की अपेक्षा से दैव और पुरुषार्थ की मान्यता बन जायगी सो इस प्रकार मीमांसको की यह मान्यता ठीक नही है यहीं बात इस कारिका के पूर्वार्ध से कारिकाकार प्रदर्शित करते हैं। वे कहते हैं कि दैव का एकान्त पक्ष और पुरुषार्थ का एकान्त पक्ष जब परस्पर मे सर्वथा विरुद्ध पड़ता है तो इसी वजह से पृथक्२ कार्यों की अपेक्षा इन दोनो बातो को–पक्षों को स्वीकार करना स्वयं विरुद्धादि दोषो को आह्वानन करने जैसा है। बिना पुरुषार्थ के दैव लगड़ा है और बिना दैव के पुरुषार्थ लगड़ा है अतः ये दोनो पक्ष सर्वथा परस्पर की निरपेक्षता में कैसे निर्दोषरूप में संभवित हो सकते है। क्योंकि निरपेक्ष अवस्था में इनका अस्तित्व ही नही बनता है। दैव पुरुषार्थ का, पुरुषार्थ दैव का निर्माणकर्ता है। इसी तरह इन दोनो की सर्वथा अवाच्यता स्वीकार करने पर 'ये अवाच्य हें' इस प्रकार का निर्देशात्मक वचन उसमे नहीं बन सकता है। अन्यथा वाच्यता मानने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिये इन दोनों को यदि मान्य करना है तो स्याद्वादनीति का ही

अवलम्बन करना चाहिये। कारण कि उसके अवलम्बन किये बिना इनका सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है। इसी बात को ९१ वीं कारिका द्वारा प्रकट करते हैं।

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ९१ ॥

अन्वय — अबुद्धिपूर्वापेक्षायां इष्टानिष्ट स्वदैवतः, बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायां इष्टानिष्टं स्वपौरुषात् (भवति)।

अर्थ — अबुद्धि पूर्वक हुए कार्य की अपेक्षा में इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने दैव से हुए हैं ऐसा माना जाता है तथा जो कार्य बुद्धिपूर्वक किये जाते हैं उस अपेक्षा मे इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से हुए हैं ऐसा माना जाता है।

भावार्थ — इस कारिका द्वारा कारिकाकार स्याद्वादनीति से दैव और पौरुष का समन्वय करते हैं–वे कहते हैं– कि जो कार्य चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल हो यदि वह अतर्कितोपस्थित है तो ऐसी स्थिति में वहां पुरुषार्थ की गौणता एवं दैव की प्रधानता मानी जायगी। कारिकास्थ बुद्धि शब्द का अर्थ है उस२ कार्य को करने का विचार। जिस कार्य के करने का विचार ही नहीं किया गया है और यदि वह अनायास ही हो गया है तो वह कार्य दैव से हुआ है ऐसा ही माना जायगा। तथा इससे विपरीत दिशा मे पुरुषार्थ की मान्यता लागू होती है। अर्थात् बुद्धि पूर्वक जो भी काम किया जाता है और उसमें जो सफलता मिलती है उस समय वहां पुरुषार्थ प्रधान एवं दैव गौण माना जाता है। इस तरह अबुद्धिपूर्वक जीव को जो सुख दुःखादिक होते हैं वह दैव की प्रधानता से होते हैं। तथा बुद्धि पूर्वक जो लाभ अलाभ आदि जीव को होते हैं वे पुरुषार्थ की प्रधानता से होते हैं। इष्ट या अनिष्ट दैव से ही होता है या पुरुषार्थ से ही होता है ऐसा एकान्त नहीं है। क्योकि केवल दैव या केवल पुरुषार्थ से कार्य होता नहीं देखा जाता है। दोनों की प्रधानता एव गौणता से ही कार्य बनता है। अनुकूल दैव और अनुकूल पुरुषार्थ प्रतिकूल दैव और प्रतिकूल पुरुषार्थ होने पर भी एक मुख्य और एक गौण रहता है। एक जीव ने पुण्य से न्यायरूप पुरुषार्थ से सम्पदा प्राप्त की,

किन्तु वह सम्पदा सुखदेने वाली तभी हो सकती है कि यदि पुण्य का उदय है तो। पुण्य के उदय न रहने पर सपदा सुख नहीं दे सकती है। अत पुण्य संसार के सुख का कारण है उससे भी संपदादिक प्राप्त होते हैं किन्तु यह एकान्त नहीं कि पुण्य से ही संपदा प्राप्त हों और पुरुषार्थ से नहीं हों या पुरुषार्थ से ही हों दैव से न हों। संपदा आदि प्राप्तिरूप कार्य दैव और पुरुषार्थ इन दोनो में से एक की मुख्यता एवं गौणता पर अवलम्बित है। बुद्धि पूर्वक कर्तव्य में पुरुषार्थ की प्रधानता एवं अबुद्धिपूर्वक कर्तव्य में दैव की प्रधानता रहती है। यही बात इस कारिका द्वारा कारिकाकार ने पुष्ट की है। इस तरह अबुद्धि पूर्वक कर्तव्य की अपेक्षा से कथंचित् सर्व दैवकृत एव बुद्धिपूर्वक कर्तव्य की अपेक्षा से कथंचित् सब पौरुषकृत तथा क्रमार्पित उभय की अपेक्षा से कथंचित् सब दैव एव पौरुषकृत तथा सहार्पित दोनों की अपेक्षा से कथंचित् समस्त अवक्तव्य हैं। बाकी के अवशिष्ट तीन भंग इसी तरह से और भी घटित कर लेना चाहिये।

आ० मी० ४१७

अष्टमोऽपि परिच्छेदः, समाप्तोऽयमनूदितः।
मूलचन्द्रेण भाषायां, हिन्द्यामित्थं वितर्किणा॥

नवम परिच्छेद

पापं ध्रुवं परे दुःखात्, पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च, बध्येयातां निमित्ततः॥ ९२॥

अन्वय—परे दुःखात् यदि ध्रुव पापं, सुखत च पुण्य (स्यात्तर्हि) अचेतनाऽकषायौ निमित्तत बध्येयातां।

अर्थ—दूसरे प्राणी मे दुःख उत्पन्न करने से यदि एकान्ततः पाप का बंध, तथा सुख देने से पुण्य का बंध माना जाय तो ऐसी एकान्त मान्यता मे अचेतनपदार्थ एवं वीतराग के भी निमित्त होने से इन दोनों का बंध मानने का प्रसग प्राप्त होगा।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अब यह सुस्पष्ट कर रहे हैं कि प्रधानरूप से अबुद्धि पूर्वक दशा की अपेक्षा जिस दैव को जीव के इष्ट और अनिष्ट का साधक माना गया है वह] दैव पुण्य और पाप की अपेक्षा से दो प्रकार का है। इनमें साता वेदनीय, शुभआयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये चार पुण्यकर्म हैं, इनसे अतिरिक्त कर्म पाप[1] कर्म है।

इन पुण्य और पाप कर्मों के बन्ध के विषय में किन्हीं २ का ऐसा एकान्ततः मन्तव्य है कि दूसरे प्राणी को दुःखित करने से नियमतः पाप का बन्ध तथा सुखित करने से पुण्य का बन्ध होता है। इस पर सूक्ष्म दृष्टिकोण से निरीक्षण करते हुए कारिकाकार इस एकान्त नियम को अनुचित बतलाते हैं—वे कहते हैं कि यदि यही सिद्धान्त एकान्ततः मान्य किया जाय तो जो अचेतन विप कटक आदि दुःख कारक पदार्थ हैं तथा दधि दुग्ध आदि जो सुखकारक पदार्थ एवं वीतराग जो मुनिजन हैं इन सबको पर में दुःख सुखादिक के उत्पादक का निमित्त होने से पुण्य एवं पापकर्म का बंधक मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। विष कटकादिक अचेतन पदार्थ दुःखप्रद हैं यह सब कोई जानता है। वीतराग मुनि जिस समय दूसरों को दीक्षित करते हैं उस समय वे दुःखकृत् प्रतीत होते हैं तथा जब हित विधायक शिक्षा प्रदान करते हैं उस समय वे सुखप्रद ज्ञात होते हैं। इस तरह इस नियम के अनुसार चेतन और अचेतन समस्त पदार्थों में पुण्य और पाप को बंध करने का प्रसंग दुर्निवार हो जाता है। परन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि इस पर यह कहा जाय कि बंध होने का काम तो चेतन पदार्थ ही करते हैं अचेतन नहीं अत. अचेतन के बंध होने का प्रसंग ही प्राप्त नहीं होता सो ऐसा कहना ठीक है परन्तु जो वीतराग मुनिजन हैं उनका तो वारण इस कथन से होता नहीं है। क्योंकि वे तो पर के लिये सुख दुःख के निमित्त पड़ते हैं। यदि इस पर यों कहा जाय कि वीतराग मुनिजनों के ऐसा मनः संकल्प नहीं है कि जिससे वे दूसरों को सुख दुःख उपजाने के अभिप्राय वाले साबित हो सकें। निमित्त मात्र पड़ने से क्या ? सो इस प्रकार का कथन फिर तो इस एकान्त मान्यता का खंडन करता है कि पर के लिये सुख दुःख उपजाने से जीव को पुण्य पाप का नियमतः बंध होता है। अत यह मानना चाहिये कि केवल परत्र सुख दुःखोत्पादन पुण्य पाप के बन्ध का कारण

१ सद्वेद्य शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्य अतोन्यत् पापम्। (तत्वार्थ सूत्र अष्टम अध्याय २५—२६ सूत्र)

नहीं है किन्तु विशुद्धि एवं संक्लेश परिणाम ही जीव के पुण्य और पाप के बन्ध के कारण होते हैं। नहीं तो वीतराग मुनि को भी निमित्त होने से पुण्य पाप का बन्धक मानना पडेगा ।

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि ।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः ॥ ९३ ॥

अन्वय—स्वतः दुःखात् ध्रुवं पुण्य, सुखतः च पापं यदि (स्यात्तर्हि) निमित्ततः वीतरागः विद्वान् मुनिः ताभ्या युञ्ज्यात् ।

अर्थ— अपने आप में दुःखोत्पादन से एकान्ततः पुण्य का बन्ध तथा सुखोत्पादन से एकान्ततः पाप का बन्ध माना जाय तो ऐसी स्थिति मे वीतराग एवं विद्वान् मुनिजन भी पुण्य पाप के निमित्त होने से उनके द्वारा बधे हुए माने जाना चाहिये ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अब इस एकान्त मन्तव्य का निरसन करते हैं जो कोई ऐसा कहते है कि अपने आप में कष्टोत्पादन करने से जीव नियमतः पुण्य का बन्ध करता है और अपने आप में सुख उत्पादन करने से–अपने आप को सुखी करने से पाप का बन्ध करता है । क्योकि इस प्रकार का यदि एकान्त रूप से सिद्धान्त-नियम-अंगीकार किया जाता है तो इससे बड़ी भारी गड़बड़ी फैलती है । वीतराग मुनियों में कायक्लेश आदि रूप दुःखोत्पत्ति के निमित्त से एवं तत्त्वज्ञानी मुनिजनो में तत्त्वज्ञान एवं सन्तोष लक्षण रूप सुखोत्पत्ति के निमित्त से पुण्य और पाप के बन्ध होने का प्रसग प्राप्त होता है । क्योकि तथाकथित नियमानुसार पुण्य की उत्पत्ति का निमित्त वहां अपने आप मे कायक्लेशादि रूप दुःखोत्पादन है एवं पाप की उत्पत्ति का निमित्त अपने आप में सन्तोप एवं तत्त्वज्ञान से उद्भूत सुख है । अतः इन निमित्तो के सद्भाव से वीतराग एवं तत्त्वज्ञानी आत्मा में पुण्य एवं पाप का बंध होने का प्रसंग अवश्य प्राप्त होता है। यदि इस प्रसग को वारण करने के लिये ऐसा कहा जाय

कि अपने आप में सुख अथवा दुःख की उत्पत्ति होने पर भी वीतराग एवं तत्त्वज्ञानी मुनिजन के सुख एवं दुःख को उत्पन्न करने का अभिप्राय नहीं है अतः उनके पुण्य और पाप का बन्ध नहीं होता है। क्योंकि इनका बन्ध तो इस प्रकार के अभीप्राय रूप निमित्त से ही होता है। तो इस प्रकार का यह कथन अनेकान्त की सिद्धि का ही साधक ठहरता है। अर्थात् अभिप्रायोपेत आत्मसुख दु:खादिक पुण्य पाप के बन्ध कराने वाले होते हैं और अनभिप्रायोपेत आत्म सुखादिक उनके बन्ध कराने वाले नहीं होते हैं। यदि अकषाय अवस्था मे भी एकान्तत बध माना जाय तो फिर इस तरह बन्ध का अभाव ही नही हो सकता हैं। फिर मुक्ति की प्राप्ति कैसी ? अतः प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विरुद्ध होने की वजह से सदादि एकान्त की तरह इस प्रकार की यह एकान्त मान्यता भी युक्तियुक्त नहीं है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति, र्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ६४ ॥

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विपाम् विरोधात् उभयैकात्म्यं न। अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यमिति" अपि उक्तिः न युज्यते।

अर्थ—स्याद्वाद नीति से विद्वेष रखने वालों के यहां विरोध होने से इन दोनों प्रकार की एकान्त मान्यताओं में—दूसरों में दुःख उत्पन्न करने से एकान्ततः पाप का बन्ध, तथा उन्हें सुखी करने से पुण्य का बंध, एवं अपने को दुःखित करने से एकान्तत पुण्य का बध, तथा अपने को सर्वथा सुखी करने से पाप का बध इन एकात सिद्धान्तों मे—एक रूपता नहीं आ सकती है। इसी तरह इन दोनों का अवक्तव्य एकान्त पक्ष भी ठीक नहीं है कारण कि इस एकान्त मान्यता मे उनकी अवक्तव्यता का प्रदर्शन करना ही कथंचित् रूप से वक्तव्य रूपता को ले लेता है। नहीं तो वहाँ "अवक्तव्य" इस शब्द का भी प्रयोग नहीं हो सकता है।

भावार्थ—१ प्रथम मान्यता की अपेक्षा द्वितीय मान्यता और द्वितीय मान्यता के समक्ष प्रथम मान्यता जब सर्वथा विरुद्ध है तो इनमे एक रूपता कैसे आ सकती है। इसी तरह इन दोनों मान्यताओं का सर्वथा अवक्तव्य पक्ष भी खतरे से खाली नहीं है। अतः स्याद्वादनीति ही एक ऐसी नीति है कि जिसके सहारे से ये दोनों पक्ष एकत्र किसी अपेक्षा को लेकर सुरक्षित रह सक्ते हैं और अवक्तव्य भी बन सकते हैं। परन्तु एकान्त वादियो ने इस नीति को अपनाया ही नहीं है। प्रत्युत उन्होने तो इस नीति का तिरस्कार ही किया है। अतः इन दोनो पक्षों का एकत्र समन्वय नहीं हो सकता है और न इनमे सर्वथा अवक्तव्यता ही बन सकती है।

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत स्वपरस्थं सुखासुखम्।
पुण्यपापास्रवो युक्तो, न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ॥ ९५ ॥

अन्वय—चेत् स्वपरस्थ सुखासुख विशुद्धिसक्लेशाङ्ग (अस्ति तदैव) पुण्यपापास्रव युक्तः न चेत् अर्हतः तव (स) व्यर्थः।

अर्थ—यदि अपने सुख दुःख तथा पर सम्बन्धी सुख दुःख विशुद्धि और सक्लेश के अंग हैं तो ही उनसे पुण्य पाप का आस्रव होना युक्त माना गया है। यदि वे ऐसे नहीं हैं तो पुण्य और पाप का आस्रव आप अर्हन्त के व्यर्थ है-निष्फल है अर्थात् उनसे पुण्य और पाप का आस्रव नहीं होता है ऐसा आपका सिद्धान्त है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार इन दोनो एकान्त मान्यताओं का अनेकान्त नीति के अनुसार समन्वय करते हैं जो ९२ और ९३ वीं कारिकाओ द्वारा प्रदर्शित की जा चुकी हैं—अर्थात् वे ये हैं—दूसरे प्राणी में दुःख उत्पन्न करने से एकान्त पाप का बन्ध, तथा सुख उत्पन्न करने से एकान्त पुण्य का बन्ध, एवं अपने में सुख उत्पन्न करने से एकान्त पाप का बध तथा दुःख उत्पन्न करने से एकान्त पुण्य का बध होता है सो इस पर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि यदि अपने सुख दुःख अथवा पर के सुख दुःख विशुद्धि और सक्लेश के अंगभूत है तो ही वे "पुण्य-

पापास्रवहेतुत्वम्'' पुण्य और पाप के आस्रव के हेतुभूत हैं । अन्यथा नही । नहीं तो अचेतन कंटक आदि के, तथा वीतराग एव तत्त्वज्ञानी मुनिजनो के भी इनका आस्रव मानने का प्रसंग प्राप्त होता है । अत इससे यही बात पुष्ट होती है कि केवल स्व सम्बन्धी, पर सम्बन्धी तथा स्व पर उभय सम्बन्धी सुख दुःखोत्पादन विशुद्धि और सक्लेश का अंगभूत न होने के कारण पुण्य और पाप के आस्रव में हेतुभूत नहीं पड़ सकता है । विशुद्धि सक्लेश की अंगता होने पर ही उसमें पुण्यास्रव एव पापास्रव के प्रति हेतुता आती है ।

आर्तरौद्र ध्यान मय जो परिणाम है सो इसी का नाम संक्लेश है । तथा इनका अभाव-अर्थात् आत्मा का स्वस्वरूप में अवस्थान-होना सो विशुद्धि है विशुद्धिके जो कारण हैं,विशुद्धिके जो कार्य हैं एव विशुद्धिके जो स्वभाव स्वरूप हैं वे सब विशुद्धि के अंग हैं । इसी तरह जो सक्लेश के कारण हैं, संक्लेश के कार्य हैं एवं संक्लेश के स्वभाव स्वरूप हैं वे सब सक्लेश के अंग हैं । विशुद्धि के अंगो से पुण्यास्रव और सक्लेश के अंगों से पापास्रव आत्मा में होता है । आर्तरौद्र ध्यान मय जो आत्मा के परिणाम होते हैं वे सक्लेश स्वभाव रूप है । तथा इन परिणामो द्वारा जो हिंसादिक कार्य हुआ करते हे वे सक्लेश के कार्य हैं । मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग ये अतिरौद्र ध्यान मय परिणामो के कारण है । अतः ये सब सक्लेशाङ्ग हैं । आर्तरौद्र ध्यान के परिणामो का अभाव अर्थात् धर्मध्यान एवं शुक्लध्यानके परिणामो की प्राप्ति ये विशुद्धि का स्वभाव है । सम्यग्दर्शन आदिक विशुद्धि के कार्य है । विशुद्धि का कारण आर्तरौद्र ध्यान का अभाव है । इस प्रकार ये सब विशुद्धिके अंग हैं । इस तरह स्व, पर एवं स्वपर संबधी सुखोत्पादन या दुःखोत्पादन यदि सक्लेश का अंगभूत है तो वह पापास्रव मे कारणभूत होता है । यदि वह विशुद्धि का अंगभूत है तो पुण्यास्रवका कारणभूत होता है यदि इन दोनोसे वह रहित है तो न पुण्याश्रवका वह कारण होता है और न पापास्त्रव का ही । इस प्रकार के कहने से यह फलितार्थ होता है कि अपने मे, पर मे एव उभयमें उत्पादित सुखदुःख पुण्यपाप के आस्रव के कारण भी होते हैं और नहीं भी होते हैं । इसी का नाम स्याद्वाद नीति है । अतः स्व परस्थ सुखासुख कथचित्

पुण्यास्रव के कारण होते हैं जब वे विशुद्धि १ के अग होते हैं। तथा जब सक्लेश के अग होते हैं तब वे पापास्रव के कारण होते हैं। क्रमार्पित इन दोनो को विवक्षा से ये कथंचित् उभय के आस्रव के कारण होते हैं। सहार्पित उन दोनो की विवक्षा मे ये कथचित् अवक्तव्य ही है। स्व परस्थ सुखा सुख कथचित् पुण्य के भी हेतु हैं और अवक्तव्य भी हैं। कथंचित् पाप के हेतु हैं और अवक्तव्य है। तथा कथचित् पुण्य पाप उभय के हेतु हैं और अवक्तव्य भी हैं। इस तरह स्व परस्थ सुखा सुख मे विशुद्धि ओर संक्लेश की अगता की विवक्षा से पाप पुण्य हेतुता के प्रति सप्तभंगी प्रक्रिया का न्यास किया गया जानना चाहिये।

नवमोऽयं परिच्छेदः समाप्तिमगमद्गुरो !
त्वन्नामस्मृतिमंत्रेण बुद्धिशुद्धिविधायिना !!

-:दशम परिच्छेदः-

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो वन्धो ज्ञेयानंत्यान्न केवली।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा॥ ९६॥

अन्वय—अज्ञानात् बधः ध्रुवः चेत् (तदा) ज्ञेयानंत्यात् न (कश्चित्) केवली (स्यात्)। ज्ञानस्तोकात्

आर्तध्यान और रौद्रधान ये दो ध्यान अशुभ है। विष, काटा, शत्रु आदि अप्रिय पदार्थों के समागम होने पर उनसे अपना पीछा छुडाने के लिये बार २ विचार करना यह अनिष्ट सयोग नामका आर्तध्यान है। इष्ट पदार्थों के वियोग होजाने पर उनसे मिलाप होने का बार २ चिंतवन करना यह इष्ट वियोग नामका आर्तध्यान है। वेदना के होने पर रात दिन उसी की चिंता करते रहना सो वेदना नामक आर्तध्यान है। भोगो की तृष्णा से पीडित होकर रात दिन आगामी भोगो को प्राप्त करने की ही चिंता करते रहना निदान आर्तध्यान है। हिंसा, झूठ चोरी और परिग्रह सचय करने की चिंता करते रहने से रौद्रध्यान होता है। इस तरह आर्तरौद्र ध्यान के परिणाम सक्लेश एव इनके अभावरूप धर्म शुक्लध्यान के परिणाम विशुद्धि है।

विमोक्षः चेत् (तदा) बहुतः अज्ञानात् अन्यथा (स्यात्) ।

अर्थ—अज्ञान से बंध अवश्यभावी है यदि ऐसा एकान्त पक्ष अंगीकार किया जाय तो ज्ञेय पदार्थों के अनंत होने से कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं बन सकता है। तथा अल्पज्ञान से मोक्ष होता है यदि ऐसा एकान्तपक्ष स्वीकार किया जाय तो अवशिष्ट बहुत अज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति सिद्ध न होकर केवल बंध ही की प्राप्ति सिद्ध होती है।

भावार्थ— कारिकाकार इस कारिका द्वारा इस एकान्त मान्यता का निरसन करते हैं जो कोई ऐसा कहते हैं कि अज्ञान से बंध अवश्यभावी है तथा अल्पज्ञान से भी मुक्ति की प्राप्ति निश्चित है। इस सिद्धान्त को मानने वाले सांख्य हैं। उनसे पूछा जा रहा है कि "अज्ञान से बन्ध अवश्यंभावी है" ऐसा जो तुम्हारा कहना है सो यह कहना प्रसज्य प्रतिषेध रूप अज्ञान को लेकर है या पर्युदास रूप अज्ञान को लेकर है[1] यदि अज्ञान का अर्थ यहां सर्वथा ज्ञान का अभाव ऐसा प्रसज्य प्रतिषेधरूप नञ् को लेकर किया जाय तो इस मान्यता मे कोई भी केवली नहीं हो सकता है। केवलज्ञान के योग से ही तो आत्मा केवली कहलाता है। जो तत्त्व ज्ञान सकल विपर्यय से रहित होकर असहाय होता है—ज्ञानान्तर का सहायता से रहित होता है—उसका नाम केवल है। ऐसी सांख्यो की मान्यता २ है। सो जब तक इस प्रकार का ज्ञान आत्मा में उत्पन्न नहीं हो जाता है उसके पहले अशेष पदार्थ विषयक ज्ञान का अभाव होने से आत्मा मे अज्ञान का ही सद्भाव है ऐसा मानना पड़ता है यदि इस पर यो कहा जाय कि प्रत्यक्ष अनुमान एवं

१-प्रसज्य और पर्युदास के भेद से नञ् के दो अर्थ हैं। अज्ञान का इस अपेक्षा सर्वथा ज्ञान का अभाव १ ऐसा अर्थ होता है और २ दूसरा ज्ञान से भिन्न मिथ्याज्ञान ऐसा अर्थ होता है। द्वौ नञौ समाख्यातौ, प्रसज्यपर्युदासकौ, पर्युदासः सदृशग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्" ॥

१ एव तत्त्वाभ्यासात् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
"विपर्याद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

आगम प्रमाण से अशेष पदार्थ विषयक ज्ञान आत्मा में उद्भूत हो जायगा सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है। कारण कि इन्द्रि जन्य प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय नहीं करता है। अनुमान भी अत्यन्त परोक्ष अर्थ को नहीं बतला सकता है। आगम भी सामान्य रूप से ही पदार्थों का प्रतिपादन करता है विशेष रूप से नहीं। ऐसी अवस्था में इनकी सहायता से भी आत्मा में स्पष्ट रूप से अशेष पदार्थ विषयक ज्ञान उद्भूत नहीं हो सकता है। तथा च पदार्थों की अनतता मे उन अनत पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान जब तक आत्मा में उत्पन्न नहीं हो लेता है तब तक अज्ञान का सद्भाव ही मानना पडेगा ऐसी हालत में उस आत्मा में बंध ही होता रहेगा -बन्ध से छूटना तो होगा नहीं-फिर केवली आत्मा कैसे हो सकेगा।

आ० मी० ४२५

इसी प्रकार " आगम बल भावी थोडे से भी प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान से आत्मा केवलज्ञान शाली हो जाता है और ऐसी अवस्था ही आत्मा का विमोक्ष है। क्योंकि ऐसा ज्ञान होने से आत्मा पुन संसार में नहीं आता है, तथा उसके अनागत बंध का निरोध भी हो जाता है " ऐसा कथन भी सांख्यो का यह ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान की अल्पता में तो अज्ञान की अधिकता का ही सद्भाव रहता है। तथा च इस अज्ञान की बाहुल्यता मे बंध होने का ही प्रसग प्राप्त होगा--ऐसी स्थिति में आगे होने वाले बन्ध के निरोध का अभाव होने से आत्मा को उस अल्प ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति नहीं बन सकती है। यदि इस पर यों कहा जाय कि ज्ञान की अल्पता में मुक्ति की प्राप्ति बनने मे कोई बाधा नहीं आती है क्योंकि अल्प भी तत्त्वज्ञान से बहुत भी अज्ञान की शक्ति प्रतिहत हो जाती है अतः अज्ञान निमित्तक बंध आत्मा के सभवित ही नहीं होता है सो ऐसा कहना स्ववचन से विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि ऐसा तुम्हारा कहना है कि अज्ञान से बंध होता है अब अल्पज्ञान दशा में अवशिष्ट बहुत अज्ञान से बंध होगा ही फिर उस अल्प ज्ञान से बहुत अज्ञान की शक्ति प्रतिहृत कैसे हो सकती है। यदि ऐसा होता है तो अज्ञान से बध अवश्यंभावी है यह एकांत मान्यता नही ठहरती है। इसके समाधानरूप में यदि ऐसा कहा जाय कि अखिल ज्ञान के अभावरूप अज्ञान से ही बंध अवश्यंभावी होता है स्तोक ज्ञान से मिश्रित अज्ञान से नहीं सो ऐसा कथन भी उचित नहीं है। कारण कि दुनियां में ऐसा तो कोई प्राणी

है ही नहीं कि जिसमें कुछ न कुछ ज्ञान न हो। अतः उसमें ज्ञान मिश्रित अज्ञान से बंध नहीं होने का प्रसंग प्राप्त होता है। दूसरे सकल ज्ञान का अभाव सांख्य सिद्धान्त ने मुक्ति में माना है अतः इस अपेक्षा मुक्ति में ज्ञान के अभावरूप अज्ञान का सद्भाव होने से बंध होने की प्रसक्ति प्राप्त होती है। सांख्यो ने आत्मा का स्वरूप चैतन्य माना है ज्ञान नहीं। मुक्ति में आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप मे स्थित हो जाता है। ज्ञान प्रकृति का परिणाम है अत. वह उस अवस्था में नही रहता है। यदि इस पर सांख्यो की ओर से यह समाधान दिया जाय कि मुक्ति में ज्ञान का प्रागभाव नहीं है वहां तो उसका प्रध्वंसाभाव है। अतः ज्ञान के प्रध्वंसाभावरूप अज्ञान से बंध नहीं होता है किन्तु ज्ञान के प्रागभावरूप अज्ञान से ही बंध होता है सो ज्ञान का प्रागभावरूप अज्ञान संसार दशा में ही रहा करता है अतः वहीं बन्ध होता है मुक्ति में नहीं सो ऐसा कहना भी ठीक नही जचता। कारण कि इस प्रकार का कथन संसार अवस्था में भी बंध के अभाव का साधक बन जाता है। और वह इस प्रकार से— मान लो किसी जीव के तत्वज्ञान उत्पन्न हो गया और पश्चात् उसी जीव का वह तत्वज्ञान विपर्यय ज्ञान के किसी भी कारण से विपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति होनेपर विनष्ट हो गया तो इस हालत में अब उसे बंध नहीं होना चाहिये। परन्तु सांख्यो ने ऐसा माना नहीं है। अत' तत्त्वाज्ञानाभावरूप अज्ञान से बन्ध अवश्यंभावी है यह पक्ष क्षेमकर नहीं है।

यदि पर्युदास की अपेक्षा लेकर अज्ञान का अर्थ मिथ्याज्ञान किया जाय और ऐसा कहा जाय कि अज्ञान से-मिथ्याज्ञान से-बंध अवश्यभावी १ है सो ऐसा भी कहना ठीक नहीं जचता है क्योकि सांख्य सिद्धान्त में मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान अनेक प्रकार का माना गया है। उनमें एक मिथ्याज्ञान ऐसा भी माना है जो स्वाभाविक होता है। तथा दूसरे मिथ्याज्ञान ऐसे माने गये हैं जो पर के निमित्त से होते रहते हैं। अतः अन्यसिद्धान्तों के श्रवण करने से उद्भूत जो अनेकविध विपर्यय ज्ञान हैं उनको सांख्यागम की भावना के बल से जनित तत्वज्ञान द्वारा भले ही निवृत्ति मान ली जाय

१ धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध.॥

सांख्यतत्व कौमुदी।

परन्तु जो अज्ञान स्वाभाविक — साहजिक है उसकी तो निवृत्ति कथमपि हो ही नहीं सकती है। उससे तो मिथ्या ज्ञानान्तरो की ही उद्भूति होती रहेगी। ऐसी दशा में बंध ही बंध होता रहने से आत्मा को केवलज्ञान उत्पन्न होने का अवसर ही नही प्राप्त हो सकता है। अत अज्ञान मे बंध अवश्यभावी है यह एकान्त मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि इस मान्यता मे कोई भी केवली नहीं बन सकता है। कारण कि ज्ञेय अनंत है–किसी न किसी ज्ञेय का तो अज्ञान आत्मा में रहेगा ही। केवलज्ञान होने से ही समस्त ज्ञेयो का ज्ञान आत्मा को होता है। इसके पहिले नहीं। अत अज्ञान दशा में बंध होते रहने से केवली होने का अवसर किसी भी आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकता है।

आ० मी० ४२७

नैयायिको की मान्यता ऐसी है कि " दु ख जन्म प्रवृत्तिदोष–मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्ग: " जब तत्त्व ज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान का नाश होता है तब उसके नाश होने पर सभी दोष दूर हो जाते हैं। दोषो के अभाव मे प्रवृत्ति-धर्माधर्मरूपप्रवृत्ति–लुप्त हो जाती है। प्रवृत्ति का लोप होने पर जन्म का बंधन छूट जाता है। जन्म का बधन छूट जाने पर समस्त दु ख[1] निवृत्त हो जाते हैं। दु ख की यह आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष, अपवर्ग या नि श्रेयस है। मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है। १ परा, २ अपरा। १ आत्मा, २ शरीर, ३ इन्द्रिय, ४ अर्थ, ५ बुद्धि, ६ मन, ७ प्रवृत्ति, ८ दोष, ९ प्रेत्यभाव, १० फल, ११ दु ख, १२ अपवर्ग इन १२ प्रकार के प्रमेयो के तात्त्विक ज्ञान से अपर नि श्रेयस की प्राप्ति जीव को होती है। इसका नाम जीवन्मुक्तदशा भी है। इसकी प्राप्ति में १ प्रमाण, २ प्रमेय ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जति, १६ निग्रहस्थान इनके साक्षात् ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियादि १२ प्रकार के प्रमेयो का ज्ञान ही इसको प्राप्ति मे साक्षात्कारण है। इस अपेक्षा ज्ञानस्तोक से जीव को अपर मुक्ति की प्राप्ति हो

---

[1] दु खमेकविंशतिभेदम् १ शरीर ६ इन्द्रियां ६ विषय ६ प्रत्यक्ष १ सुख १ दु ख इस प्रकार ये २१ दु ख हैं दुःखायत न होने के कारण शरीर को दु ख माना गया है। इन्द्रिया विषय और प्रत्यक्ष ये दुःख के साधन होने के कारण दु ख है। दुःख के साथ सबद्ध होने से सुख भी दु ख ही है। दुःख स्वत दुःख है।

जाती है अत ज्ञानस्तोक से मुक्ति मानने में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार इस नैयायिक का मान्यता को लेकर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि इस ज्ञान की अपेक्षा प्रमाणादि पोडश पदार्थों का जो वास्तविक ज्ञान नहीं है–बहुत मिथ्याज्ञान है उससे तो बंध ही होगा। फिर मुक्ति की प्राप्ति कैसी। यदि कहा जाय कि ज्ञानस्तोक से उस अवशिष्ट मिथ्याज्ञान का विनाश हो जाता है तो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं माना जा सकता कि मिथ्याज्ञान से वन्ध अवश्यंभावी है यह एकान्त कथन सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार बौद्धों की मान्यता भी ठीक नहीं है यह विषय अष्टसहस्री से जानना चाहिये।

इस तरह अज्ञान से बंध अवश्यभावी है तथा ज्ञानस्तोक से मुक्ति प्राप्त होती है ये दोनों एकान्त मान्यताएं युक्ति युक्त नहीं हैं।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ९७ ॥

अन्वय–स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न। अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यम्" इत्यपि उक्तिः न घटते।

अर्थ — स्याद्वादनीति से विरोध रखने वालों के यहां इन दोनों पक्षों में परस्पर विरोध होने के कारण एकात्मता नही बनती है। तथा इन दोनों की सर्वथा अवाच्यता में उनमें अवाचयता प्रदर्शित करने के लिये " ये अवाच्य हैं " इस प्रकार का निर्देश भी नही बन सकता है।

भावार्थ–अज्ञान से बंध होता भी है तथा नहीं भी होता है। ज्ञानस्तोक से मुक्ति होती भो है तथा नहीं भी होती है इस प्रकार की क्रमश एकत्र स्थितिरूप एकात्मता इन दोनो की एकान्त मान्यता में विरोध होने के कारण घटित नहीं हो सकती है। क्योंकि इस प्रकार की निर्विरोध मान्यता स्याद्वादनीति के सहारे ही सिद्ध होती है। परन्तु यह नीति एकान्त वादियों के लिये मान्य नहीं है। वे तो उल्टा उससे विरोध रखते हैं। इसी तरह सर्वथा अवाचयता में स्ववचन

विरोध आता है।

अज्ञानान्मोहिनो बंधो, नाज्ञानाद्वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥ ६८ ॥

अन्वय—मोहिनः अज्ञानात् बन्ध, वीतमोहत अज्ञानात् न। अमोहात् ज्ञानस्तोकात् च मोक्षः स्यात् मोहिनः (ज्ञानस्तोकात्) अन्यथा (स्यात्)।

अर्थ—मोह युक्त अज्ञान से बंध होता है। मोह विहीन अज्ञान से बन्ध नहीं होता है। इसी तरह मोह रहित ज्ञानस्तोक से मुक्ति प्राप्त होती है तथा जो मोह सहित ज्ञानस्तोक है उससे मुक्ति प्राप्त नही होती है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अज्ञान से बन्ध एव ज्ञानस्तोक से मुक्ति इन दोनों मान्यताओ का स्याद्वादनीति के अनुसार समन्वय कर रहे हैं वे-इसमें यह बतलाते है कि स्थिति तथा अनुभागरूप कर्म बन्ध जो कि स्व फल प्रदान करने में समर्थ होता है मिथ्यात्व एव कषाय सहित अज्ञान से होता है तथा मिथ्यात्व रहित केवल कषायों से युक्त अज्ञान से होता है। परन्तु जिस अज्ञान मे (केवलज्ञानाभावरूप छद्मस्थावस्था के ज्ञान में) मिथ्यात्व एवं कषायों का उदय नही है जो इनसे तथा केवल कषाय से भी मिश्रित नहीं है ऐसे अज्ञान से—११वें एवं १२ वें गुणस्थानवर्ती जीव के अज्ञान से—यह कर्म बन्ध—स्थितिबंध एवं अनुभाग बंधरूप—कर्मबंध नही होता है। वहां तो प्रकृति एवं प्रदेश बंध ये दो बंध १ होते हैं। इनका कारण योग है। ये जीव को इष्ट और अनिष्ट फल प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ माने गये हैं। क्योंकि आगम मे इनकी स्थिति दग्धरज्जु जैसी प्रकट की गई है। इष्टानिष्ट फल प्रदान करने वाले ये दो ही—स्थिति-बंध एव अनुभाग बंध—बन्ध हैं। क्योंकि इनका ही बंध कषाय युक्त २ आत्मा के होता हैं। अकषायी आत्मा के नहीं।

१ जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति।-द्रव्यसंग्रह।

१ सकषायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बध। (तत्वार्थ सूत्र अ० ८)

तथा इष्टानिष्ट फल प्रदान करने में समर्थ ऐसे पुद्गल विशेषों का भी सम्बन्ध इन्हीं दोनों बन्धों में माना गया है। प्रकृति प्रदेश मे नहीं। वहां तो पुद्गल विशेषो का ही सम्बन्ध रहता है। इष्टानिष्ट फल प्रदान करने वाले पुद्गलों का नहीं। तथा जिस प्रकार ब्रीही आदि पदार्थ पुद्गल के सम्बन्ध से विपच्यमान होते हैं और इसीलिये वे पुद्गल रूप माने जाते हैं इसी प्रकार ये बंध भी स्वय पुद्गल स्वरूप है क्योंकि इनका विपाक भी पुद्गल के सम्बन्ध से होता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि जीवविपाकी प्रकृतियो मे पुद्गल के सम्बन्ध से विपाक होना नहीं घटता है।

क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी, एवं पुद्गल विपाकी प्रकृतियो मे ही यह बात बनती है सो ऐसा कहना भी उचित नही है। कारण कि जोव विपाकी प्रकृतियों का भी विपाक पुद्गल के सम्बन्ध से ही होता है। सकर्म जीव ही यहां पुद्गल २ है उनमे ही उनका विपाक माना गया है। यदि इस पर भी इस प्रकार की आशका की जाय कि पूर्वानुभूतवस्तु के स्मरण से सुख अथवा दुःख देने वाले कर्मों में पुद्गल के सम्बन्ध से विपाक होना संभवित नहीं होता है अतः यह बात कैसे मानी जा सकती है कि कर्मों का विपाक पुद्गल के सम्बन्ध से ही होता है सो ऐसा कहना भी ठीक नही है कारण कि पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से सुख दुःख देने वाले कर्मो का यह विपाक भी परम्परा से पुद्गल के

---

१ पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी, एवं जीव विपाकी इस प्रकार से कर्मो के चार भेद माने गये हैं–पुद्गल–जीव-के शरीर मे जिनका विपाक–फलोदय हो वे पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतिया मानी गई है ये ६२ हैं–देहादी फासन्ता पण्णासा निमिणतावजगल च। थिरसुहपत्तेयदुग अगुरुतिय पोग्गलविवाई ।। ४७ ।। कर्मकाण्ड गाथा। भव–नरकादिगति में जिनका विपाक हो वे भवविपाकी कर्म प्रकृतियां हैं–आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ। अट्ठत्तरि अवसेसा, जीवविवाई मुणेयव्वा ।। ये भव विपाकी कर्म प्रकृतियां ४ हैं तथा क्षेत्रविपाकी कर्म प्रकृतियां भी ४ हैं। जिसके फल से विग्रहगति मे जीव का आकार पहिला सा बना रहे वह क्षेत्रविपाकी है। जिनका विपाक साक्षात जीव मे होता है वे जीवविपाकी प्रकृतिया हैं–ये ७८ हैं। यथा–वेदणियगोदधादीणेकावण्णं तु णाम पयडीणं। सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीवविवाई ।।४९।। गाथा कर्म कां०। वेदनीय को २, गोत्र की २, घातिया कर्मों की ४७, नाम कर्म की २७ इस प्रकार ७८ हो जाती हैं। नाम कर्म की २७ ये हैं—तित्थयर उस्सास वादरपज्जत्त सुस्सुरादेज्ज। जसतसविहायसुभगदुचउगइपणजाइ सगवीस ।। ५० गाथा कर्म काण्ड।

१–' बन्धं पडिएयत्तं ' सर्वार्थसिद्धि।

ही सम्बन्ध से हुआ है ऐसा ही मानना चाहिये । क्योकि स्मरण का कारण पूर्वानुभव है और वह पूर्वानुभव पुद्गल को विषय किये हुए है इसलिये उस रूप मे उस समय कर्मों का विपाक हो रहा है । चाहे कर्मों का विपाक आत्मा में साक्षात् पुद्गल के सम्बन्ध से हो या चाहे उसके परम्परा सम्बन्ध से हो कैसे ही क्यो न हो पर होगा वह अवश्य पुद्गल के सम्बन्ध से हो । इस तरह पुद्गल सम्बन्ध से विपच्यमान होने के कारण समस्त कर्मों मे पौद्गलिता सिद्ध होती है ।

इसलिये कर्म बध में पुद्गल विशेष सबधित्व असिद्ध नही है । कोई यदि इस पर ऐसी आशका करे कि जब कर्म पौद्गलिक है तो उसमें फलदान समर्थता कैसे हो सकती है क्योकि पौद्गलिक होने से वे अचेतन जो हैं । सो इस प्रकार की आशंका करना भी ठीक नही है कारण कि प्रत्येक प्राणी को जो शुभेतर फलानुभवन होता है कि जो स्वानुभवगम्य है दृष्टकारणक नही है क्योंकि दृष्टकारणों का शुभेतर फलो को अनुभवन करने में व्यभिचार देखा जाता है अर्थात् शुभ और अशुभ फल जीव को दृष्ट कारणो से प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु इनका कोई अदृष्ट ही कारण है ऐसा मानना पडता है । जिस प्रकार रूपादिक ज्ञान के कारण अदृष्ट चक्षुरादिक मानना पड़ते हैं । वह अदृष्ट कारण कर्म बंध है । यदि इस पर इस प्रकार की आशका की जाय कि कर्म बध को अज्ञान हेतुक मानने पर मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय एव योगहेतुकता का वहा सूत्रकार उमास्वामी महाराज के अनुसार कथन विरुद्ध पड़ जायगा सो ऐसा कहना भी ठीक नही है कारण कि जिस आत्मा में कषायें रहती है उसी आत्मा मे वर्तमान जो अज्ञान है उस अज्ञान के साथ अविनाभावरूप के रहने वाले मिथ्यादर्शनादिको मे ही इष्टानिष्ट फल प्रदान करने में समर्थ कर्म बंध के प्रति हेतुता का-समर्थन होने से मिथ्यादर्शन आदिको का भी संक्षेप से संग्रह हो गया है ऐसा समझ में आता है । तथा च -मोही अज्ञान से ही विशिष्ट कर्म बंध होता है वीत मोहवाले अज्ञान से नही । इस प्रकार का कथन सूक्त है । इसी तरह क्षयोपशामिक प्रकृष्ट श्रुतज्ञान आदि जो केवलज्ञान की अपेक्षा स्तोक है एव ११ वे एवं १२ वें के चरम क्षण मे वर्तमान है से साक्षात् आर्हन्त्य लक्षण मोक्ष की सिद्धि होती है एवं इससे विपरीत मोह वालों के स्तोक ज्ञान

से जो कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर १० वें गुणस्थान तक के जीवों के होता है कर्म का बंध होता है—उससे मोक्ष की प्राप्ति नही होती है। इस तरह अज्ञान एवं स्तोक ज्ञान मे सप्तभंगी प्रक्रिया का अवतरण जान लेना चाहिये –अर्थात् मोह सहित अज्ञान से कर्म का बंध होता है और मोह रहित अज्ञान से कर्म का बंध नहीं होता है। इसी तरह मोह सहित स्तोक ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है और मोह रहित स्तोकज्ञान से मुक्ति होती है। इस रूप से ये दो भंग यहां प्रकट किये हैं शेष भग बुद्धयनुसार-पूर्व प्रदर्शित पद्धति के अनुसार-संघटित कर लेना चाहिये।

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो, जीवास्ते शुद्धयशुद्धितः॥ ९९ ॥

अन्वय—कर्मबन्धानुरूपत. कामादिप्रभवः चित्रः तच्च कर्म स्वहेतुभ्यः भवति। ते जीवा शुद्धयशुद्धित (द्विप्रकाराः सन्ति)।

अर्थ—पूर्वोपार्जित कर्म बन्ध के उदयानुसार कामादिक का उत्पाद रूप यह भावसंसार विविध प्रकार का है। वह कर्म अपने हेतुभूत रागादिक परिणामों से होता है। तथा शुद्धि और अशुद्धि के भेद से जीव दो प्रकार के हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह बतला रहे हैं कि रागादिक परिणामों का उत्पाद रूप यह भाव संसार द्रव्य कर्मों के बध के उदयानुसार उत्पन्न होता है। सुख दुःख आदि रूप जो इसमें विचित्रता है वह भी कर्मों के उदयानुसार ही है। इस प्रकार संसार का कर्ता नित्य एक स्वभाव वाला ईश्वर नहीं है जिस जीव ने जिस प्रकार के कर्मों का बंध पूर्व में किया है उन्ही के उदयानुसार उस जीव को संसार की प्राप्ति होती है। कामादिप्रभव शब्द का अर्थ काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की उत्पत्ति है। इसी का नाम भाव ससार है। इसमे विचित्रता कर्मबंध की विशेषता से तथा कर्मबध मे विचित्रता इसकी विशेषता से आती है। द्रव्य संसार से भाव संसार और भावससार से द्रव्य संसार का प्रवाह बीजाङ्कुर की तरह सन्तति रूप से चलता रहता है। ऐसा क्यो होता है इसका उत्तर वस्तुका

स्वभाव ही ऐसा है यही है । कर्मबन्ध के कारण रागादिक परिणाम हैं। ये रागादिक परिणाम हो तो भाव संसार हैं। इस भाव ससार के जो सुख दु खादिरूप विचित्र कार्य हैं वे एक स्वभाव वाले नित्यकारण से जायमान नहीं हैं । कारण कि एक स्वभाव वाले कारण से अनेक कार्यों को उत्पत्ति नहीं देखो जातो है। यह बात युक्ति और आगम आदि प्रमाणों से बाधित होती है। तथा ऐसे किसो कारण का अस्तित्व हो सिद्ध नहीं होता है जो सर्वथा एक स्वभाव वाला ही हो। सर्वथा नित्य मे किसो भी रूप से अर्थक्रिया करना नहीं बनता है । नित्य एक स्वभाव
आ० वाला ईश्वर, अथवा उसकी नित्य एक स्वभाव वालो इच्छा अथवा नित्य एक स्वभाव वाला उसका ज्ञान ससार के
मी० कर्ता कैसे नहीं हैं इस विषय को जानने के लिये इस कारिका की टोका तथा आप्तपरोक्षा को ईश्वर–परोक्षा जो ७७
४३३ कारिकाओं द्वारा की गई है देखना चाहिये ।

शका—यदि यह भाव ससार कर्म बन्ध के अनुरूप होता है तो इस का क्या कारण है कि एक जीव तो यहां से मुक्ति प्राप्त कर लेता है और दूसरा जीव संसार में हो बंधा रहता है ? जब कर्मबंध एक का टूट जाता है तो दूसरे का भी हटना चाहिये ।

अर्थ—जीव दो प्रकार के होते हैं। एक शुद्धि विशिष्ट और दूसरा शुद्धिरिक्त। भव्यत्व भाव का नाम शुद्धि और अभव्यत्व भाव का नाम अशुद्धि है। जिस जोव को यह शुद्धि प्राप्त है वह कभो न कभो अवश्य मुक्त हो जाता है। परन्तु जो इस शुद्धि से विहीन हैं–अभव्यत्व भाव विशिष्ट हैं-उनको कभो मुक्ति नहीं होतो। वे संसार में हो रहते है ।

इस प्रकार ईश्वर वादियों की इस शंका का समाधान इस कारिका द्वारा किया गया हैं जो वे ऐसा कहते हैं कि कामादिप्रभवरूप विचित्र भाव ससार ईश्वर कारणक है ।

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती, ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती, स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ १०० ॥

अन्वय—पाक्यापाक्यशक्तिवत् पुनः ते शुद्धयशुद्धी शक्तो (स्त) । तयो व्यक्तो साद्यनादी । स्वभावः अतर्क गोचर ।

अर्थ—पाक्य एवं अपाक्य शक्ति की तरह वे शुद्धि और अशुद्धि शक्ति हैं । इन दोनों की अभिव्यक्ति भव्य एवं अभव्य जीवों की अपेक्षा से सादि और अनादि है । वस्तु का यह स्वभाव तर्क के अगोचर है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह स्पष्ट कर रहे हैं कि शुद्धि और अशुद्धि क्या है । वे यह बतला रहे हैं कि जिस प्रकार उड़द मूंग चना आदि पदार्थों में सीझने की अथवा नहीं सीझने की शक्ति स्वय रहा करती है । इसी प्रकार जीवों में शुद्धि और अशुद्धिरूप शक्ति स्वयँ रहा करती है । भव्यत्व का नाम शुद्धि है । यह किन्हो २ जीवों में सम्यग्दर्शन आदि के योग से निश्चित की जाती है । अभव्यत्व का नाम अशुद्धि है । अभव्य की इस शक्ति का प्रत्यक्ष निश्चय तो सर्वज्ञ भगवान् के ही होता है । छद्मस्थ तो केवल सर्वदा मिथ्यादर्शनादिक के योग से-सम्यग्दर्शन आदि से विपरीत में सदा प्रवृत्ति करने से—जानते हैं । भव्यत्वरूप शुद्धि शक्ति की व्यक्ति सादि है—क्योंकि उसके अभिव्यजक सम्यग्दर्शन आदि उस आत्मा में सादि रूप से प्रकट होते हैं । अभव्यत्व रूप अशुद्धिशक्ति की व्यक्ति अभव्य में अनादि है क्यों कि इसके अभिव्यजक मिथ्यादर्शन आदिकों की संतति अनादिकाल से ही वहां चली आ रही होती है । अथवा—सम्यग्दर्शनादि परिणाम स्वरूप जो अभिप्राय है उसका नाम शुद्धि एवं मिथ्यादर्शनादि परिणाम स्वरूप जो अभिप्राय है उसका नाम अशुद्धि है । इस प्रकार की शुद्धि और अशुद्धि की अभिव्यक्ति भव्य जीवों के ही सादि अनादि है-वह इस प्रकार से जब तक भव्य जीव के सम्यग्दर्शन आदि उत्पन्न नहीं होते हैं तब तक मिथ्यादर्शन आदि परिणामरूप अशुद्धि की व्यक्ति वहां अनादि है तथा जब उस भव्य आत्मा में सम्यग्दर्शन आदि समुद्भूत हो जाते हैं तब सम्यग्दर्शनादि रूप शुद्धि की व्यक्ति सादि है । इस प्रकारान्तर से अर्थ कहने में अशुद्धि और शुद्धि का अर्थ अभव्यत्व भाव एवं भव्यत्व भाव नहीं किया गया है ।

इस प्रकार जो यह शक्ति का प्रतिनियम किया गया है सो वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है । इस अभिप्राय से

किया गया है। "ऐसा क्यों है" सो स्वभाव में ऐसा प्रश्न नहीं होता है। क्योकि वहां पर क्षोद विनोद के लिये गुंजाइश ही नही रहती है। इसी बात को कारिकाकार ने "स्वभावोऽनर्कगोचरः" इस पाद द्वारा प्रकट किया है। यदि कोई इस पर इस प्रकार की आशका करे कि जो विपय प्रत्यक्ष से प्रतोति कोटि में आ रहा है उसमे स्वभावविषयक तर्क करने पर वहां ही ऐसा उत्तर देना चाहिये कि "स्वभावोऽतर्कगोचरः" परन्तु जो पदार्थ परोक्ष है उसके स्वभाव को तर्क का अविषय क्यो बतलाया है। यदि यही बात मानी जाय तो फिर परोक्ष पदार्थों के स्वभाव का निर्णय कैसे हो सकेगा ? सो ऐसी आशका भी करना उचित नहीं है क्योकि परोक्ष पदार्थों की प्रतीति अनुमानादिक प्रमाणो से होती हैं। अतः अनुमान आदि प्रमाणो से प्रतोत पदार्थों के स्वभाव भो तर्क द्वारा निर्णीत नहीं होते हैं। वहां भी "वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है" यही उत्तर स्वभाव विषयक प्रश्न होने पर दिया जाता है। इसी तरह प्रसिद्ध प्रमाणवाले आगम से निर्णीत पदार्थों का स्वभाव भी तर्क के गोचर नहीं होता है। मतलब कहने का यही है कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष से निर्णीत पदार्थ का स्वभाव तर्क के अगोचर होता है उसी प्रकार अनुमान एव आगम के विपयभूत पदार्थों का स्वभाव भी तर्क के अगोचर होता है। इसलिये कारिकाकार ने "स्वभावोऽतर्क गोचरः" ऐसा कहा है। इस प्रकार द्रव्यादिसंसार के कारणभूत इस कामादि प्रभवरूप भाव ससार में कर्मबन्धानुरूपता होने पर भी शुद्धि और अशुद्धि की विचित्रता से जीवों को मुक्ति की प्राप्ति होना एवं नहीं होना यह बन जाता है।

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वादनय संस्कृतं॥ १०१ ,।

अन्वय–हे नाथ ! ते तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्। (अक्रमभाविक्रमभाविभेदात् तत् द्विविधम्) युगपत्सर्वभासनम् (अक्रमभावितत्त्वज्ञानम्) स्याद्वादनय संस्कृतं यत् (मत्यादि) ज्ञानम् च (तत्) क्रमभावि (तत्त्वज्ञानम्)।

अर्थ–हे नाथ। आपके मतानुसार तत्त्वज्ञान प्रमाण माना गया हैं। अक्रमभावि और क्रमभावि के भेद से वह तत्त्वज्ञान दो प्रकार का आपने बतलाया है। जिसमें एक ही साथ समस्त पदार्थों का अवभासन होता है वह अक्रमभावि

तत्त्व ज्ञान है। तथा स्याद्वाद एवं नय से जो सस्कृत है ऐसा मत्यादिज्ञान क्रमभावि तत्त्व ज्ञान है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अब इस बात को स्पष्ट करते हैं कि जो उनसे यह पूछा गया है कि उपेय तत्त्व का एवं उपाय तत्त्व का अधिगम प्रमाण और नय से होता है। सो पहिले हमें " प्रमाण का क्या स्वरूप है" यही बतलाईये। कारण कि उसके स्वरूप आदि में अन्य लोगो को काफी विवाद है। इस प्रकार पूछे जाने पर कारिकाकार प्रमाण विषयक स्वरूपादिक की विप्रतिप्रत्ति का निराकरण इस कारिका द्वारा करते हैं। सर्व प्रथम वे यह बतला रहे हैं कि तत्त्वज्ञान प्रमाण का लक्षण है। उसके दो भेद हैं—अक्रमभावि और क्रमभावि। केवलज्ञान अक्रमभावि हैं और शेष मत्यादि चार ज्ञान क्रमभावि हैं। इस प्रकार का यह प्रमाणद्वय का विभाग उपयोग के क्रमाक्रम की अपेक्षा से है।

उपाय तत्त्व में ज्ञान ही आता है। जब ज्ञान वस्तु के पूर्ण रूप को जानता है तब प्रमाण कहा जाता है और जब वह उसके एकदेश को जानता है तब नय है। प्रमाण का लक्षण साधारणतया 'प्रमाकरणं प्रमाणं' यह सर्व स्वीकृत[1] है। विवाद यह है कि करण कौन हो। नैयायिक एव वैशेषिक सन्निकर्ष को करणरूप से निर्दिष्ट करते हैं, बौद्ध अज्ञानरूप निराकार दर्शन को तथा सांख्य श्रोत्रादिक इन्द्रियों की वृत्ति को। परन्तु जैन परम्परा ने प्रमितिक्रिया के प्रति करण ज्ञान को ही माना है। इसीलिये उनका ऐसा कहना है कि " तत्त्व ज्ञान प्रमाणं " यहां तत्त्व ज्ञान इस पद से सन्निकर्ष निराकार दर्शन एवं इन्द्रियवृत्ति इनका निराकरण हुआ है क्योंकि स्वार्थाकार प्रमितिक्रिया के प्रति इनमें किसी में भी साधकतमता नहीं बनती है। स्वार्थाकार व्यवसायात्मक ज्ञान में ही उस प्रमिति के प्रति साधकतमता बनती है अतः वही प्रमाण है सन्निकर्षादिक नहीं। " तत्त्वज्ञानं प्रमाण " इस प्रकार के कथन से, सशयादिकों में ज्ञानरूपता होने पर भी जो उनमें प्रमाणता नहीं आती हैं उसका कारण उनमें यथार्थ प्रमिति जनकता का अभाव है यह बात ज्ञात होती है। " तत्त्वज्ञान प्रमाणम् " यह प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति एवं असंभव इन तीन प्रकार के लक्षण दोषों से सर्वथा रहित है। " तत्त्वज्ञानं प्रमाणं " इसके अनुसार यदि तत्त्वज्ञान में सर्वथा प्रमाणता की सिद्धि मानी जायगी तो प्रमाणा प्रमाण

१ न्याय विनिश्चय विवरण की प्रस्तावना पृ० ३७।

के अनेकांत से वहा विरोध आवेगा क्योकि इस कथन से प्रमाण की एकांतता ही वहां सिद्ध होती है सो इस प्रकार की किसी की यह आशंका ठीक नही है कारण कि जिस आकार से ज्ञान मे तत्त्व का परिच्छेद करना रूप अश रहेगा वह ज्ञान उस अंशरूप आकार से प्रमाण माना जायगा और जितने आकार से वह तत्त्व के परिच्छेद से रहित होगा उस आकार से अप्रमाण माना जायगा । " कतिपय प्रमाण ज्ञानो मे भी अप्रमाणता अनुप्रविष्ट होरही है और मिथ्या ज्ञानों मे भी प्रमाणपना घुस रहा १ है । " इसी कारण प्रमाण और अप्रमाण का अनेकान्त सिद्ध होता है । "भावप्रमेयापेक्षायां" यह बात पीछे इस कारिका में पुष्टकर दी गई है । तिमिर रोगी के द्विचन्द्रज्ञान को सर्वथा विसंवादी—अप्रमाण इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि वह केवल द्वित्व संख्या मे ही विसंवादी माना जा सकता है चन्द्रांश मे नही । इसी तरह निर्दोष नेत्र वाले व्यक्ति के चन्द्र सूर्योदय के के ज्ञान को सर्वथा अविसवादी इसलिये नही माना जा सकता है कि वह उसे धरती से लगा हुआ जो जानता है । इस तरह प्रमाण और अप्रमाण की यह संकीर्ण स्थिति है फिर भी प्रमाणऔर अप्रमाण के व्यपदेश का कारण अविसवाद एव विसंवाद की १ प्रकर्षता है । जिस ज्ञान में अविसवाद की प्रकर्षता होगी वहां प्रामाण्य एव विसंवाद की प्रकर्षता होगी वहा अप्रामाण्य व्यपदिष्ट होगा । जैसे कपूर, केशर, कस्तूरी आदि मे रूपरस आदि के होने पर भी गध की प्रधानता से उन्हे गंध द्रव्य कहा जाता है तथा नीबू नोन मिर्च आदि को रस की प्रधानता से रस द्रव्य माना जाता है । अवधिमन पर्यय ज्ञान में भी देशघाति प्रकृतियो का उदय कुछ बिगाड़ कर देता है । मतिज्ञान एव श्रुतज्ञान पराधीन हैं । इसलिये इन सब ज्ञानों मे जितने अश मे सवाद विसवाद होगा ये प्रमाण और अप्रमाण माने जायेंगे ।

इन क्रमभावी और अक्रमभावी प्रमाण भेदो के कथन से प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणभेदो का यहां कथन किया गया जानना चाहिये । तथा सर्व भासन एवं क्रम भासन से प्रमाण का विषय स्पष्ट किया है । प्रत्यक्ष के भी सकल प्रत्यक्ष

---

१ तत्वार्थ श्लोक वार्तिक ।

१ प्रमाणव्यवहारस्तु भूय' संवादमाश्रित ।
गधद्रव्यादिवद्भूयो विसंवादतदन्यथा ।। —श्लोकवार्तिक तत्वचिन्तामणि पृ० ५०२ ।

एव विकल प्रत्यक्ष के भेद से दो भेद हो जाते हैं। अवधिज्ञान एव मनः पर्यय ज्ञान इन्हें विकल प्रत्यक्ष कहा गया है क्योंकि ये दोनों ही द्रव्यक्षेत्रादिक की मर्यादा लेकर रूपी पदार्थों को ही बिना इन्द्रियो की सहायता से स्पष्ट जानते हैं। तथा इन्द्रिय एवं मन से जो ज्ञान होता है उसे यद्यपि परोक्ष माना गया है परन्तु फिर भी लोक व्यवहार की अपेक्षा से वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में परिगणित किया गया है। केवल ज्ञान को सकल प्रत्यक्ष मे गिना १ है।

आ० मी० ४३८ स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से परोक्ष प्रमाण ५ प्रकार का माना गया२ है। पूर्व में गृहीत-धारणा के विषयभूत—पदार्थ का स्मरण करना यह स्मृति का स्वरूप है। यद्यपि स्मृति गृहीत ग्राही है फिर भी अविसंवादी होने से तथा प्रत्यभिज्ञान की जनक होने से एवं समारोप की व्यवच्छेदिका होने से प्रमाणभूत ही मानी गई है। दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होने वाले एकत्व, सादृश्य, वैसादृश्य, प्रतियोगी तथा दूरत्वादिरूप से सकलन करने वाले (विवक्षित धर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शन करने वाले) ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञान यद्यपि प्रत्यक्ष और स्मरण इन दोनो के द्वारा उत्पन्न होता है। परन्तु फिर भी प्रत्यक्ष और स्मरण के अविषयभूत एकत्वादिक धर्मों का अवमर्शक होने से इसे प्रमाण माना गया है। प्रत्यक्ष—साध्य साधन सद्भाव ज्ञान-और अनुपलंभ—साध्याभाव साधनाभावज्ञान-से उत्पन्न होने वाला सर्वोपसंहाररूप से साध्य साधन के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला ज्ञान तर्क है मतलब इसका 'व्याप्ति के ज्ञान का नाम तर्क है' यह है। अविनाभावी साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते है। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के भेद से अनुमान दो प्रकार का है। आप्त के वचन आदि से उद्भूत अर्थ का नाम आगम है।

---

१ प्रत्यक्ष विशद ज्ञान त्रिधाश्रितमविप्लवम्।
परोक्ष प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति सग्रह ॥

२ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदमिति सन्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति यथा—स देवदत्त इति दर्शनस्मरणकारणक सकलन प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेद, तत्सदृश, तद्विलक्षण तत्प्रतियोगीत्यादि। यथा—स एवाय देवदत्त, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिष, इदमस्माद्दूरम् वृक्षोऽयमित्यादि। उपलभानुपलभनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवति यथाऽग्नावेवधूमस्तदभावे न भवत्येवेति। साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्। आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम। परीक्षामुख तृतीय परिच्छेद

इस प्रकार तत्त्वज्ञान रूप यह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के भेद से दो प्रकार का है तथा सामान्य और विशेष धर्मात्मक पदार्थ इसका विषय है। यह तत्त्वज्ञान क्रमाक्रमभावित्व मे प्रमाण नय से सस्कृत है ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है अर्थात् ' स्याद्वादनयसस्कृतम् ' यह विशेषण क्रमभावि मत्यादिज्ञान पर न लगाकर तत्त्वज्ञान के साथ लगाने पर इस प्रकार अर्थ बोध होता है कि तत्त्वज्ञान कथचित् अक्रमभावि है क्योकि यह युगपत्सर्वार्थग्राही है (यह केवल ज्ञान की अपेक्षा कथन जानना चाहिये)। तथा तत्त्वज्ञान कथचित्–क्रमभावी है क्योकि उसका विषय विकल है। (यह मति श्रुत अवधि और मन. पर्यय की अपेक्षा कथन जानना चाहिये) आगे इन्हीं दोनो धर्मो को लेकर शेष भंग भी घटित कर लेना चाहिये। विशेष अर्थ को जानने के लिये इसकी टीका देखना चाहिये।

उपेक्षा फलमाद्यस्य, शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा, सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ १०२ ॥

अन्वय––आद्यस्य (ज्ञानस्य) उपेक्षा, शेषस्य (ज्ञानस्य) आदानहानधी. पूर्वा वा (व्यवहितम्) फलम्। वा सर्वस्य अस्य स्वगोचरे अज्ञाननाशः (अव्यवहित फलमस्ति)।

अर्थ––केवलज्ञान का उपेक्षा, शेप मतिज्ञान आदि चार ज्ञानो का ग्रहण करना, त्याग करना तथा माध्यस्थ्य-भाव रखना यह परम्परा फल है। एव इन पांचों ही ज्ञानो का अपने विषयभूत पदार्थ में अज्ञान का नाश होना यह साक्षात् फल है।

भावार्थ––कारिकाकार इस कारिका द्वारा प्रमाण के फल की विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं। प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा भिन्न ही है इस प्रकार की मान्यता यौगो की है। तथा प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा अभिन्न ही है ऐसी मान्यता बौद्धो की है। इन दोनों मान्यताओं से जुदी एक तीसरे प्रकार की ऐसी मान्यता जैन दर्शन की है कि प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न भी है और कथचित् अभिन्न भी है इसी बात को यहां व्यवहित और

अव्यवहित शब्द से बतलाया गया है । कारिका १०१ की अपेक्षा से यहां " आद्य " इस पद द्वारा केवल ज्ञान का ग्रहण करना चाहिये। युगपत्सर्वभासक केवल ज्ञान का व्यवहित फल उपेक्षा है। क्योंकि केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर केवली आत्मा कृतकृत्य हो जाती है। ससार और संसार का कारण हेय है एवं मोक्ष और उसका कारण उपादेय है सो केवली आत्मा के पूर्व का अभाव एव उत्तर की प्राप्ति हो जाने से वह आत्मा किसी भी पदार्थ में सिद्धप्रयोजन होने से मोहाधीन नहीं रहती है किन्तु वीतराग बन जाती है। यहां पर समस्त अन्तराय के क्षय से प्रक्षीणावरण आत्मा का सर्व जीवों को अभयदान देने रूप जो परम करुणा १ भाव है वही उपेक्षा है। इससे जो कोई ऐसी आशंका करते हैं कि करुणा के बिना वीतराग पर को हित का उपदेश नहीं दे सकता है सो निवृत्त हो जाती है । कारण कि वीतराग में मोह का सर्वथा अभाव हो जाने से मोह विशेष स्वरूप करुणा की संभावना ही नहीं होती है। वहां तो सर्व जीवों को अभयदान देने रूप जो आत्मा का स्वभाव है वह प्रकट हो जाता है। रही उपदेश के देने की बात सो इसका कारण वहां तीर्थंकर प्रकृति का उदय है। इसी से बिना इच्छा के वे उपदेश देते हैं। इच्छा के बिना भी वचन की प्रवृत्ति होती है। यह बात पीछे पुष्ट की जा चुकी है। यह उपेक्षा रूप फल केवल ज्ञान का कथंचित् उससे भिन्न है । क्योंकि करण क्रिया रूप परिणामों की अपेक्षा से उनमे भिन्नता जो है। इसी तरह हेय का त्याग करना उपादेय का ग्रहण करना उपेक्षणीय की अपेक्षा नहीं करना उसमें माध्यस्थभाव रखना यह जो फल मतिज्ञान आदि चार प्रमाण ज्ञानों का कहा गया है वह भी इसी अपेक्षा से कथंचित् भिन्न जानना २ चाहिये।

---

१ ततो निःशेषान्तरायक्षयादभयदानस्वरूपमेतस्मानः प्रक्षीणावरणस्य परमादया (अ० स०)

२ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् । प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च । यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीते । परिक्षामुख पञ्चमाध्याये ।

हानादिवेदनं भिन्नं फलमिष्टं प्रमाणतः । तदभिन्नं पुनः स्वार्थाज्ञानव्यावर्तनं समम् । ४२
स्याद्वादाश्रयणे युक्त मेतदप्यन्यथा न तु । हानादिवेदनस्यापि प्रमाणादभिदेक्षणात् । ४३
येनैवार्थो मया ज्ञातस्तेनैवत्यज्यतेऽधुना गृह्यतोपेक्ष्यते चेति तदैक्य केन नेष्यते । ४४
मैवैकान्ते पुनर्न स्यात् प्रमाणफलतानतिः । सन्तानान्तरवत् स्वेष्टेऽप्येकत्रात्मनि सन्निधाः । ४५
पर्यायार्थार्पणाद्भेदो द्रव्यार्थादभिदास्तु नः ।
प्रमाणफलयोः साक्षादसाक्षादपि तत्त्वतः । ४६ श्लोकवार्तिक—

अज्ञान निवृत्ति रूप फल इन पांचों ही ज्ञानों का साक्षात् फल हैं और यह प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है। कारण कि इस विवक्षा में करण और क्रिया में कथंचित् अभिन्नता है। जिस प्रकार प्रदीप स्वात्मा द्वारा अपने आपको प्रकाशित करता है यहा पर करण और क्रिया में किसी अपेक्षा अभिन्नता है। सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानने पर प्रमाण और फल की समुचित व्यवस्था नहीं बन सकती है। इस प्रकार अज्ञाननिवृत्ति रूप प्रमिति यह प्रमाण का साक्षात् फल है क्योकि यह प्रमाण के समय ही होता है। तथा हान उपादान एवं उपेक्षा यह चार ज्ञानों का परम्परा फल है—क्योंकि यह प्रमाण के बाद होता है। केवल ज्ञान का फल उपेक्षा ही है ऐसा जानना चाहिये।

वाक्यष्वनेकान्तद्योती, गम्यं प्रतिविशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामभि ॥ १०३ ॥

अन्वय—तव केवलिनामपि " स्यात् " निपातः अर्थयोगित्वात् वाक्येषु अनेकान्तद्योती गम्य प्रतिविशेषणम्।

अर्थ—हे नाथ ! आपके या श्रुतकेवलियों के भी मतानुसार "स्यात् " यह निपात शब्द अर्थ के साथ सबधित होने से वाक्यो मे अनेकांत का द्योतक तथा गम्यरूप अर्थ के प्रति विशेषण माना गया है।

भावार्थ—यहां कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह बतला रहे हैं कि स्यात् इस शब्द के अनेकांत विधि, विचार एवं प्रश्न आदि अनेक अर्थ सभवित होते हैं परन्तु यहां वक्ता की विशेष इच्छा से अनेकांत अर्थ का द्योतक या वाचक यह स्यात् शब्द है। तथा यह लिङ्न्त प्रतिरूपक अव्यय है। निपात शब्द वाचक भी होते हैं और द्योतक भी होते है। यदि कोई यहा पर ऐसी आशंका करे कि जब वाक्य मे प्रयुक्त यह "स्यात्" शब्द अनेकांत का वाचक है तो फिर उसमे अस्ति आदि शब्दो के प्रयोग की क्या आवश्यकता है सो एसी आशका ठीक नहीं है कारण कि स्यात् शब्द द्वारा सामान्य रूप से ही अनेकात का कथन किया जाता है—विशेषरूप से नहीं। अत विशेषरूप से उसका बोध कराने

के लिये अस्ति आदि पदों का प्रयोग आवश्यक[1] है। इसी तरह जब स्यात् शब्द का अनेकांत द्योतक पक्ष अंगीकार किया जाता है तब उसका भाव इस प्रकार जानना चाहिये कि अस्ति आदि पदों द्वारा प्रतिपादित किया गया अनेकांतरूप अर्थ इस स्यात् शब्द से द्योतित किया जाता है।

आ० मी० ४/२ यह पहिले लिखा जा चुका है कि काल आदि के साथ अभेदवृत्ति एवं अभेदोपचार से अस्ति आदि पद अनेक धर्म के प्रतिपादक होजाते हैं अतः इस अपेक्षा यहां अस्ति आदि पदों द्वारा उन अनेकांतरूप अनेक धर्मों का प्रतिपादन हो रहा है—उसी अनेकांत का द्योतन इस स्यात् शब्द द्वारा किया जाता है। यदि वाक्य में स्यात् शब्द का प्रयोग न किया जाय तो मिथ्या एकांत को हटाकर अनेकांत का प्रकाशन नहीं हो सकता है। स्यात् शब्द ही वाक्य में यह प्रकाशित करता रहता है कि यहां विवक्षित धर्म की ही एकान्ततः प्रधानता नहीं है किन्तु अन्य धर्म भी यहां मौजूद हैं जो इस समय अविवक्षित होने के कारण गौणता की गोद में सो रहे हैं। स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा विवक्षित धर्म की प्रधानता एवं परद्रव्यादिक की अपेक्षा अप्रधानता यह बतलाने वाला यह स्यात् पद ही है। यदि कोई यहां ऐसी आशंका करे कि जब सामान्यरूप से अस्तित्व धर्म करके जीव व्याप्त होरहा है[2] एवं पुद्गलादिक के अस्तित्व विशेषों से वह व्याप्त नहीं होरहा

---

1 स्याच्छब्दादप्यनेकान्तसामान्यस्य विबोधने।
शब्दान्तरप्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये ॥ ५५ ॥
साऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते।
यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥
सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि सत्त्वादिप्राप्तिविच्छिदे।
स्यात्कारः सम्प्रयुज्येतानेकान्तद्योतकत्वतः ॥ ५४ ॥

—श्लोक वार्तिक

तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक

2 नन्वस्तित्वसामान्येन जीवस्य व्याप्तत्वात् पुद्गलाद्यस्तित्वविशेषैरव्याप्तेर्नैतत् परमतेः कृतकत्वानित्यत्वसामान्येन व्याप्तस्या नित्यत्वविशेषप्रसक्तिवत् ततोऽनर्थकस्तन्निवृत्तये स्यात्प्रयोग इति चेन्न अवधारणवैयर्थ्यप्रसंगात् स्वगतेनास्तित्वविशेषेण जीवस्यास्तित्वाव धारणात् प्रतीयते कृतकस्य स्वगतानित्यत्वविशेषेणानित्यत्ववदिति चेन्न स्वगतेनेतिविशेषणात् परगतेन नैवेति सम्प्रत्ययावनधारणानर्थक्यस्य तदवस्थत्वात् न चानवधारणं वाक्यं युक्तं जीवस्यास्तित्व-नास्तित्वस्यापि अनुपपत्तेः कृतकस्य नित्यत्वानुषंगवत्। श्लोक वा० ४४९।

है तो फिर पुद्गल आदि के अस्तित्व से जीव के अस्तित्व का प्रसग ही प्राप्त नहीं होता है तब फिर उन अनिष्ट पदार्थों की ओर से आनेवाले सत्त्व आदि की निवृत्ति के लिये वाक्य मे स्यात् शब्द का प्रयोग करना बिलकुल व्यर्थ ही है सो ऐसी आशका भी ठीक नहीं है कारण कि इस आशंका से तो फिर अवधारण करना भी व्यर्थ साबित हो जाता है। अवधारण की व्यर्थता मे स्वद्रव्यादिक द्वारा अस्तित्व को तरह परद्रव्यादिक द्वारा भी अस्तित्व पदार्थ में मानना पडेगा अथवा जिस समय जिस प्रकार से जीव मे अस्तित्व का विधान किया जायगा उसी समय वैसे ही नास्तिक के विधान का भी प्रसंग प्राप्त हो जायगा। परन्तु ऐसा विधान होता नहीं है। अतः अनिष्टार्थ की व्यवच्छित्ति के लिये सावधारण ही वाक्य बोला जाता है। इस अवधारण की सफलता स्यात् इस निपात के लगाने पर ही हो सकती है। अर्थात् स्यात् शब्द ही ऐसा बतलाता है कि पदार्थ मे अस्तित्व स्वद्रव्यादिक की ही अपेक्षा से है पर द्रव्यादिक को अपेक्षा से नहीं तथा विवक्षित होने से ही अस्तित्व धर्म की इस समय मुख्यता है अन्य अविवक्षित धर्मों का इसमें अभाव नहीं है। इस तरह अर्थ-वाच्य और द्योत्यरूप अनेकान्त अर्थ–का योगी होने से यह स्यात् शब्द लिङन्त प्रतिरूपक निपात है—अव्यय है। तथा गम्य जो विवक्षित धर्म है उसका समर्थक होने से विशेषण है। यह बात इस कारिका द्वारा इस प्रकार समर्थित की गई जाननी चाहिये।

परस्परापेक्ष पदो का अन्य वाक्यान्तरगतपद निरपेक्ष जो समुदाय है वह वाक्य है इस प्रकार वाक्य का लक्षण जैन दार्शनिकों ने माना है। अत जो आख्यात शब्द को पदो के संघात को, सघातवर्तिनी जाति को, एक अवयव रहित शब्द को क्रम को (वर्णमात्र के क्रम का अथवा पदरूपवर्ण विशेषो के क्रम को) बुद्धि को, अनुसंहृति को, आद्यपद को, अन्तपद को, एवं सापेक्ष पद को वाक्य मानते हैं वह मान्यता ठीक नहीं है इसके लिये अष्टसहस्री का अवलोकन करना २

१ पदानां परस्परापेक्षाणा निरपेक्षः समुदायो वाक्यम् अ० श०)

२ आख्यातशब्दः सघातो जातिः संघातवर्तिनी ।
एकोऽनवयवः शब्द क्रमो बुद्ध्यनुसंहृती ॥ १ ॥
पदमाद्य पद चान्त्य पद सापेक्षमित्यपि ।
वाक्य प्रति मतिर्भिन्ना, बहुधान्यायवेदिनाम् ॥ २ ॥

चाहिये ।

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४ ॥

इसका अन्वय स्पष्ट है—

आ० मी० ४४४ अर्थ—सर्वथा एकान्त के त्याग से ही स्याद्वाद होता है । कथंचित् इत्यादि इसके पर्यायवाची शब्द हैं । सप्तभंग और नयों की यह अपेक्षा वाला है । हेय एव उपादेय तत्व की विशेष व्यवस्था इसी स्याद्वाद से होती है ।

भावार्थ— "स्याद्वाद" पद स्यात् और वाद इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है, १०३ वीं कारिका में यह बतला दिया गया है कि स्यात् यह अव्यय निपात शब्द है । क्रिया अथवा अन्य शब्द नहीं है । इसका अर्थ है कथचित किंचित् किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि कोई एक धर्म की विवक्षा आदि । तथा वाद का अर्थ है मान्यता अथवा कथन । जो स्यात् का कथन करने वाला अथवा स्यात् को लेकर प्रतिपादन करने वाला है वह स्याद्वाद है । यह स्याद्वाद सर्वथा एकान्त का त्यागकर अपेक्षा से वस्तु स्वरूप का विधान करता है । कथंचिद्वाद अपेक्षावाद आदि इसी स्याद्वाद के दूसरे नाम हैं । सप्तभग और सप्तनयो की यह अपेक्षा वाला है अर्थात् सप्तभंग और सप्त नैगमादिक नयों द्वारा स्वभाव एवं परभाव की अपेक्षा लेकर वस्तु के सत् असत् आदि स्वरूप का यह प्रतिपादन करता है । सप्तभंगों का कथन तो प्रथम परिच्छेद में किया ही जा चुका है । अब यहां सप्तनयों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है ।

"द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकप्रविभागवशान्नैगमादयः शब्दार्थनया बहुविकल्पा मूलनयद्वयशुद्ध्यशुद्धिभ्याम् (अ० श०)" वस्तुओ मे अनन्त धर्म होते है । उनमे से किसी एक धर्म को लेकर उस वस्तु को कथन करने वाला जो वक्ता का अभिप्राय उसका नाम नय है । द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के भेद से यह नय दो प्रकार का है । द्रव्य को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक एवं पर्याय को विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक नय है यद्यपि " जावइआ वयणपहा तावइआ चेव

हुँति नयवाया अथवा "शब्द विकल्प परिमाणाश्च" इस कथन से जितने भी वचन बोलने के मार्ग हैं उतने ही नयवाद हैं। अथवा जितने भी शब्द एव विकल्प हैं उतने नय हैं फिर भी " सर्वसग्राहिसप्ताभिप्रायपरिकल्पना द्वारेण " पूर्वाचार्यों ने सब का सग्रह करने वाले सात वचनो की कल्पना करके सात नयो का ही प्रतिपादन किया है। तथा इन सातो का भी द्रव्याथिक नय एव पर्यायार्थिक नय इनमे अन्तर्भाव कर दिया है। वक्ता अपना अभिप्राय या तो अर्थ की प्ररूपणा द्वारा

आ० प्रकट करता है या शब्दो की प्ररूपणा द्वारा. जब अर्थ की प्ररूपणा द्वारा वक्ता अपना अभिप्राय प्रकट करता हैं तब उस

मी० अभिप्राय में अर्थ—प्ररूपित अर्थ–ही प्रधान रहता है। यद्यपि अर्थ की प्ररूपणा शब्दों द्वारा ही होती है। परन्तु इस

४४५ प्ररूपण मे लिङ्ग संख्या, कारक, वचन आदि के भेद से अथवा निरुक्ति आदि के भेद से प्ररूप्यमाण अर्थ मे भेद नही माना जाता है। यह भेद तो शब्द, समभिरूढ एव एवभूतनयमे ही माना गया है। इसलिये नैगम, सग्रह, व्यवहार, एव ऋजुसूत्र ये चार नय (प्रमाता के अभिप्राय विशेष) अर्थ निरूपण प्रवण होने से अर्थ नय तथा शब्द समभिरूढ एवं एवंभूत ये तीन नय शब्द के विचार करने मे चतुर होने से शब्द नय है। नैगम सग्रह व्यवहार इन तीन नयो का अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय मे तथा ऋजुसूत्र. शब्द, समभिरूढ एव एवभूत इन चार नयो का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय मे किया गया है। इन सात नयो को सर्व सग्राहक माना है। मूल द्रव्यार्थिक नय की शुद्धि से सग्रह नय माना गया है—अर्थात् मूल द्रव्यार्थिक नय को शुद्ध प्रकृति संग्रह नय है। क्योकि यह नय सकल उपाधि से रहित होकर शुद्ध सत्ता मात्र को विषय करता है। विशेषों की यह अपेक्षा नही रखता। सामान्य स्वरूप करके समस्त पदार्थों को ग्रहण करने वाला होने से ही इसका नाम संग्रह नय पडा है। संग्रह नय से गृहीत पदार्थ का विधि पूर्वक भेद प्रभेद करने वाला नय व्यवहार नय है। जो सत् है वह द्रव्य है कि गुण है ? इत्यादिरूप से यह नय वहा तक भेद प्रभेद करता चला जाता है कि फिर जहां और भेद को जगह नही मिलती है।

इस १ नय की दृष्टि में जितनी वस्तु लोक मे प्रसिद्ध है अथवा लोक व्यवहार में जितनी आती है वही कार्यकारी है अन्य नही। इस तरह भेद को विषय करना यह द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति है। अनिष्पन्न जो अर्थ है उसमे जायमान सकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नैगम २ नय है। प्रस्थ और ओदन के दृष्टान्त से इसे प्रमेय-कमलमार्तण्ड एव सर्वार्थसिद्धिकार ने समझाया है। वहा बतलाया है कि जैसे कोई पुरुष प्रस्थ (पांच सेर का परिमाण) बनाने के लिये काष्ठ लेने को जगल मे गया हुआ था वहां उससे किसी ने पूछा कि तुम यहां क्यों आये हुये हो तो उसने उत्तर दिया कि प्रस्थ लेने आया हुआ हूं। यहां प्रस्थ पर्याय यद्यपि निष्पन्न नहीं हुई है तो भी उस व्यक्ति ने उसके सकल्पमात्र में प्रस्थ पर्याय की मान्यता करली है। यह भी द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति है क्योकि इस नय द्वारा भी सोपाधि वस्तु विषय भूत हुई है शुद्ध सत्ता मात्र वस्तु विषय नही हुई। अथवा–दोधर्मो में दो धर्मियो में तथा एक धर्म और एक धर्मी मे प्रधानता एव गौणता की विवक्षा करना इसका नाम नैगम नय है। ३ जैसे " सत् और चैतन्य दोनों

---

१ यथा लोकग्राहमेव वस्तु अस्तु किमनया अदृष्टाव्यर्णाह्ल्यमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टपिष्टिकया। स्याद्वादमरी पृ० ३ १। सग्रहगृहीतार्थाना विधिपूर्वकमवहरण विभजन भेदेन प्ररूपण व्यवहार.। पर सग्रहेण हि सद्धर्माधारतया सर्वमेकत्वेन सदिति सगृहीतम् व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति यत् सत् तद्द्रव्य पर्यायो वा। तथैवापर' सग्रहः सर्वद्रव्याणि द्रव्यमिति सर्वपर्यायांश्च पर्याय इति सगृह्णाति व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति–यद्द्रव्य तज्जीवादि षड्विधम् य. पर्याय. स द्विविध. सहभावी क्रमभावी च। प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० २०५ व्यवहारानुकूल्यात्तु, प्रमाणाना प्रमाणता।

नान्यथा बाध्यमानाना, ज्ञानाना तत्प्रसगत ॥ ७० ॥

—न्यायकुमुद चन्द्र पृ० ७९० ।

२ अनिष्पार्थं सकल्पमात्रग्राही नैगम'। प्रमेयक–पृ० २०५।

३ जीव सन्नमूर्त कर्ता सूक्ष्मो ज्ञाता दृष्टाऽसख्यातदेशो भोक्ता परिणामी नित्य पृथिव्यादि भूतविलक्षण इति प्रधानवृत्त्या जीव स्वतत्वप्ररूपणायां गुणीभूता सुखादय।

न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७८९।

यद्वानैक गमो नैगम धर्मधर्मिणो. गुणप्रधानभावेन विषयीकरणात्। जीवगुण'सुखमित्यत्र जीवस्या प्राधान्यं, विशेषणत्वात् सुखस्य तु प्राधान्य विशेष्यत्वात्। सुखी जीव इत्यादौ तु जीवस्य प्राधान्य न सुखादेः विपर्ययात। प्रमेय कमल मा० पृ० २०५।

धर्मयो. धर्मिणो धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसर्जनभावेन यद्विवक्षण स नैकगमो नैगम। सच्चैतन्यमात्मनि इति धर्मयोः, वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः, क्षणमेक सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः। प्रमाणनयतत्वालोकालकार सप्तम परिच्छेदः।

यद्वा नैक गमो योऽत्र सतत नैगमो मत। धर्मयोः धर्मिणो' वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः॥ श्लोक वार्तिक।

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेक धर्मिणि। विवक्षा नैगमोऽत्यन्त भेदोक्ति. स्यात्तदाकृति'॥ न्याय कुमु० पृ० ७८८

आत्मा के धर्म हैं " इस प्रकार के वक्तव्य मे सत् और चैतन्य दोनो धर्मों मे चैतन्य विशेष्य होने से प्रधान धर्म है और सत् विशेषण होने से गौण धर्म है। पर्यायवान द्रव्य को वस्तु कहते है इस प्रकार के कथन मे द्रव्य और वस्तु ये दो धर्मी हैं परन्तु यहा द्रव्य मुख्य एवं वस्तु गौण है। विषयासक्त जीव क्षणभर के लिये सुखी हो जाता है इस प्रकार की विवक्षा मे विषयासक्त जीवरूप धर्मी मुख्य और क्षणभर के लिये सुखी होना रूप धर्म गौण है। इस नैगम नय के भेद इस प्रकार हैं—मूल में द्रव्य नैगम, पर्याय नैगम एव द्रव्य पर्याय नैगम इस प्रकार इसके तीन भेद माने गये हैं फिर इन भेदो के भी भेद प्रभेद इस प्रकार से हैं—शुद्धद्रव्य नैगमनय और अशुद्ध द्रव्य नैगमनय इस तरह द्रव्य नैगमनय दो प्रकार है। पर्याय नैगननय ३ प्रकार का है—अर्थ पर्याय नैगमनय, व्यंजन पर्याय नैगम नय एवं अर्थ व्यंजन पर्याय नैगमनय। अर्थ पर्याय नैगमनय भी ३ तीन प्रकार है ज्ञानार्थ पर्याय ज्ञेयार्थ पर्याय तथा ज्ञानज्ञेयार्थ पर्याय। व्यंजन पर्याय नैगम ६ प्रकार का है—शब्द व्यजन पर्याय, समभिरूढ व्यंजन पर्याय, एवंभूत व्यंजन पर्याय, शब्दसमभिरूढ व्यंजनपर्याय शब्द एवभूत व्यंजन पर्याय, समभिरूढ एवभूत व्यजनपर्याय। अर्थव्यंजनपर्याय नैगम ३ प्रकार का है—ऋजु सूत्र शब्द, ऋजु सूत्र समभिरूढ, ऋजुसूत्र एवभूत। द्रव्यपर्याय नैगम आठ तरह का है—शुद्धद्रव्यऋजुसूत्र, शुद्ध द्रव्य शब्द, शुद्ध द्रव्य समभिरूढ शुद्ध द्रव्य एवं भूत, अशुद्ध द्रव्य ऋजुसूत्र, अशुद्ध द्रव्य शब्द, अशुद्ध द्रव्य समभिरूढ, अशुद्ध द्रव्य एवभूत।

इसी तरह पर्यायार्थिकनय के भेद ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूति ये चार नय हैं। पर्यायार्थिकनय की अशुद्ध प्रकृति ऋजुसूत्रनय है। क्योकि यह काल, कारक, लिङ्ग आदि के भेद से भी अपने पर्यायवाची शब्दो के वाच्यार्थ में भेद नहीं मानता है। पर्यायार्थिकनय की शुद्ध प्रकृति शब्द नय है क्योकि यह नय अपने पर्यायवाची शब्दों के वाच्यार्थ में काल, कारक, लिङ्ग, वचन, संख्या आदि के भेद से भेद मानता है। परन्तु समान लिङ्ग आदि वाले पर्यायवाची शब्दों के वाच्यार्थ मे भेद नही मानता है। पर्यायार्थिकनय की शुद्धतर प्रकृति समभिरूढ नय है क्योंकि यह समान लिङ्ग आदि वाले पर्यायवाची शब्दो के वाच्यार्थ मे भी भेद मानता है। एवंभूत नय पर्यायार्थिक नय की अशुद्धतम प्रकृति है क्योकि यह शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त भूत क्रिया विशिष्ट अर्थ को उस शब्द का वाच्यार्थ मानता है। इसकी दृष्टि मे इन्द्र परम

ऐश्वर्य का अनुभव करते समय ही इन्द्र शब्द का वाच्यार्थ होसकता है अन्य समय मे नही । जबकि समभिरूढ की दृष्टि में ऐसा नहीं है ।

ये नय नैगम की अपेक्षा संग्रह, सग्रह की अपेक्षा व्यवहार, व्यवहार की अपेक्षा ऋजुसूत्र, ऋजुसूत्र की अपेक्षा शब्द, शब्द की अपेक्षा समभिरूढ एवं समभिरूढ की अपेक्षा एवंभूत सूक्ष्म सूक्ष्म विषय वाले है । जसे नैगम का विषय सामान्य विशेष है तब कि सग्रह नय का विषय केवल सामान्य है । संग्रह की अपेक्षा व्यवहार का विषय इसलिये अल्प है कि वह सग्रह से जाने हुये पदार्थो को विशेप रूप से जानता है । संग्रहनय केवल सामान्य को जानता है । व्यवहार-नय तीनो कालो के पदार्थो को विषय करता है तब कि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान कालिक पदार्थों को जानता है शब्द-नय कालादिक के भेद से वर्तमान पर्याय को जानता है ओर ऋजुसूत्रनय कालादिक के भेद से उन्हे नही जानता है । समभिरूढनय इन्द्र शक्र आदि पर्यायवाची शब्दो को भी व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्न २ मानता है परन्तु शब्दनय में यह सूक्ष्मता नही है । समभिरूढनय से जाने हुये पदार्थों में क्रिया के भेद से वस्तु में भेद मानना एवभूतनय है । जैसे सम-भिरूढनय की अपेक्षा पुरदर और शचिपति मे भेद होने पर भी नगरो को नाश करने की क्रिया न करने के समय पुर-न्दर शब्द इन्द्र के अर्थ मे प्रयुक्त होता है परन्तु इस नय की दृष्टि मे ऐसा नहीं होता है । तत्तद् शब्द की प्रवृति उस २ अर्थ में तभी प्रवृत्त हो सकती है कि जव उस शब्द का वह वाच्यार्थ उस २ प्रकार की क्रिया से युक्त हो रहा होगा । इस प्रकार इन नयोमे उत्तरोत्तर अल्प विपयता आती है । तथा पूर्व२ मे महाविपयता । एवभूत की अपेक्षा समभिरूढमे तथा समभिरूढ की अपेक्षा शब्द मे, शब्द की अपेक्षा ऋजुसूत्र आदि में महाविषयता है । इस प्रकार यह स्याद्वाद हेय और उपादेय का विशेषरीति से इन्हीं सब बातो को लेकर व्यवस्थापक माना गया है । इसके बिना तत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकती है ।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

अन्वय—सर्वतत्त्वप्रकाशने स्याद्वादकेवलज्ञाने साक्षात् असाक्षात् च भेद । अन्यतमंहि अवस्तु भवेत् ।

अर्थ—सर्वतत्वो का जिनसे प्रकाशन होता है ऐसे स्याद्वाद और केवलज्ञान हैं । इनमें प्रत्यक्ष और परोक्षकृत भेद है । इनसे अतिरिक्त ज्ञान अवस्तु स्वरूप है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार स्याद्वाद और केवलज्ञान मे समानता प्रदर्शित करते हैं–वे कहते हैं कि स्याद्वाद केवल ज्ञान की तरह समस्त तत्त्वों का प्रकाशक है । तथा ये दोनो हो प्रधान है कारण कि इन दोनो में परस्पर मे हेतुता रही हुई है । पूर्व सर्वज्ञ द्वारा द्योतित स्याद्वादरूप आगम से उत्तरकाल में होने वाले सर्वज्ञ के केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है फिर उस सर्वज्ञ से स्याद्वादरूप आगम का द्योतन होता है इस तरह सर्वज्ञ और आगम की यह सतति अनादि होने से इन दोनो की प्रधानता में बीजाङ्कुर की तरह अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता है । यदि कोई यहां पर इस प्रकार की आशंका करे कि स्याद्वाद रूप आगम को सर्वतत्त्वप्रकाशक मानने पर " मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु " इस सूत्र से विरोध आता है । क्योंकि इस सूत्र द्वारा उसका विषय द्रव्यो की कुछ पर्यायो को ही बतलाया गया है । सो ऐसी किसी की यह आशंका ठीक नहीं है कारण कि कारिकाकार ने जो श्रुत को सर्वतत्त्व प्रकाशक कहा है वह पर्याय की अपेक्षा नहीं कहा है किंतु जीवादिक सप्त तत्त्वरूप पदार्थों की अपेक्षा लेकर कहा है । जीव, अजीव, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा एव मोक्ष ये सात तत्त्व है । इनका प्रतिपादक आगम है । अत इनके प्रतिपादन की अविशेषता होने से स्याद्वाद और केवलज्ञान में सर्वतत्त्व प्रकाशता के प्रति कोई विरोध नहीं आता है । जिस तरह स्याद्वाद रूप आगम दूसरों के लिये जीवादिक तत्त्वों का प्रतिपादन करता है उसी तरह केवलज्ञानी भी करते हैं । हां यदि इन दोनो में भेद है तो वह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप अवस्था को लेकर के हैं । केवल ज्ञानी द्रव्यों की समस्त पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्षरूप से जानते हैं जब कि श्रुतज्ञानी उन द्रव्यों को तथा उनकी कुछ पर्यायो को परोक्षरूप से जानते हैं । जिस प्रकार वे उनका वचन द्वारा प्रतिपादन करते हैं केवली भी इसी तरह से प्रतिपादन करते हैं । श्रुतज्ञानी जिस प्रकार प्रज्ञापनीय विशेषों को वचन द्वारा प्रतिपादन नहीं कर सकता है केवली भी इसी तरह वचन अगोचर विशेषों का प्रति-

१० मो० ४५०

पादन नहीं कर सकते १ है। इस तरह स्याद्वाद और केवलज्ञान में सर्वतत्त्व प्रकाशकता की अपेक्षा लेकर कोई भेद नहीं है। प्रत्यक्ष और परोक्षकृत ही भेद इन दोनो मे जानना चाहिये। प्रत्यक्ष और परोक्ष से बाहर कोई तीसरा ज्ञान नहीं है। जो है भी उनका अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण मे ही कर लेना चाहिये। स्वतत्रता में उनमें अवस्तुरूपता जाननी चाहिये।

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यात् अविरोधतः।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेपव्यंजको नयः ॥ १०६ ॥

अन्वय—सधर्मणा एव साध्यस्य साधर्म्यात् अविरोधत स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यजकः नय।

अर्थ—सपक्ष के साथ हो अपने साध्य के माधर्म्य से जो बिना किसी विरोध के श्रुतप्रमाणरूप स्याद्वाद द्वारा विषयीकृत अर्थ विशेष का व्यंजक होता है वह नय है।

भावार्थ—नय हेतुवाद है और स्याद्वादरूप आगम अहेतुवाद हैं। इन दोनों से संस्कृत तत्त्वज्ञान ही युक्ति एवं शास्त्र से अविरुद्ध होता हुआ सुनिश्चित हैं नहीं सभव होने वाले बाधक प्रमाण जिसमें ऐसा होता। इस कारिका द्वारा नय का लक्षण प्रकट किया गया है। और उसे हेतु स्वरूप बतलाया है। क्योकि जो हेतु का स्वरूप है वही नय का स्वरूप है। जो अपने साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता' है वही हेतु है। इससे यह फलित होता है कि पक्ष धर्मत्व आदि त्रिलक्षण एवं पचरूप हेतु के वस्तविक स्वरूप नहीं हैं। केवल एक अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का निर्दोष वास्तविक लक्षण है। सुनय वह १ है कि जो अनन्तधर्म विशिष्ट वस्तु में से किसी एक धर्म को ग्रहण करनेवाला,

१ पण्णवणिज्जा भावा अणतभागो दु अणभिलप्पाण।
पण्णवणिज्जाण पुण, अणतभागो सुदणिवद्धो ॥ —गोमट्टसार जीवकाड।

१ अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाण, तदशधी।
नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्णयस्तन्निराकृति ॥

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अशस्तदितरांशौदासीन्यत स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय इति। स्वाभिप्रेतादशादितराशापलापी पुनर्नयाभासः। स्याद्वाद म० पृ–३१६।

वक्ता का अभिप्राय है। इस नय द्वारा इतर अंशो का अपलाप नहीं किया जाता है किन्तु उनमे उदासीनता ही धारण की जाती है। इतर अंशो का अ लाप करने वाला ौर अपने ही गृहीत अंश की पुष्टि करने वाला दुर्नय कहा गया है। इस तरह सुनय और हेतु का एक ही लक्षण जानना चाहिये। कारण कि जिस प्रकार नय स्याद्वाद प्रविभक्त अर्थ का विशेष द्वारा व्यजक होता है। इसी तरह हेतु भी ऐसा ही होता है। हेतु के साध्य का साधर्म्य सपक्ष से ही लिया जाता है विपक्ष से नही। इस कारिका से ऐसा अभिप्राय समझा हूं. (और भी यदि कोई अभिप्राय हो तो विशेषज्ञ जानें)

नयोपनयैकान्तानां, त्रिकालानां समुच्चयः ।
अविभ्राट् भावसंबंधो, द्रव्यमेकमनेकधा ॥ १०७ ॥

अन्वय--अविभ्राट् भावसबध', त्रिकालानां नयोपनयैकान्तानां समुच्चयः द्रव्यम् एकं अनेकधा (च)।

अर्थ--कथंचित् अविश्वक्भावसम्बन्ध स्वरूप जो त्रिकालविषयक नयोपनयों के एकान्तो का समुच्चय है वही द्रव्य है और वह द्रव्य एक भी है और अनेक भी है।

भावार्थ-वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला वक्ता का अभिप्रा विशेष सो नय है। नय द्रव्य और पर्याय के भेदसे अनेक है। नय की शाखा प्रतिशाखा स्वरूप उपनय हैं। अनन्त धर्मविशिष्ट वस्तु के १।१ धर्मको ही ग्रहण करना यही इनका एकान्त है । त्रिकालवर्ती इन नय और उपनयो का विषयभूत जो पर्याय विशेषों का समुदाय है वह द्रव्य है। यह एकानेक स्वरूप वस्तु है। रह समुदाय कथचित् अविष्वग् भावसंबधरूप कहा गया है।

मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न, मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥ १०८ ॥

अन्वय--मिथ्यासमूहो मिथ्या चेत् (तर्हि) मिथ्यैकान्तता नः न। निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षाः ते वस्तु

अर्थकृत् ।

अर्थ---मिथ्याभूत एकान्तों का समुदाय यदि मिथ्या है तो वह मिथ्या एकान्तता हमारे यहां नहीं [1] है । निरपेक्ष नय मिथ्या हैं । सापेक्ष नय वस्तु हैं तथा वे ही अर्थ क्रियाकारी हैं ।

भावार्थ---यहां पर किसी की ऐसी आशंका है कि जब आप एकान्त को मिथ्या मानते हैं तो नय और उपनयों
आ० के एकान्तो को जो समुदाय रूप द्रव्य है उसे भी मिथ्या मानना चाहिये । क्योंकि जैसे विष की एक कणिका विषस्व-
मी० रूप मानी जाती है तो उसी प्रकार उसका समुदाय भी विष ही माना जायगा अविष नहीं । जब स्वतंत्र एक २ नय का
३५२ एकान्त मिथ्या है तो इनका समुदाय रूप द्रव्य भी मिथ्या क्यो नहीं होगा । इस प्रकार की आशंका का समाधान करते हुए कारिकाकार कहते हैं कि इस प्रकार की आशंका ठीक नहीं है कारण कि मिथ्याभूत नयों के एकान्तो का समुदाय मिथ्या ही होता है यह तो हम भी मानते हैं । परन्तु हम स्याद्वादियों ने जिन नय और उपनयों के एकान्तों के समूह को द्रव्य माना है वे नय मिथ्या नही हैं । नय मिथ्या वे ही होते हैं जो निरपेक्ष होते हैं इतर धर्म के अपलापक होते हैं। परन्तु जो सापेक्ष होते हैं–दूसरे इतर धर्मों की भी उपेक्षा रखते हैं–वे सम्यग्नय होते हैं । वे ही वस्तु स्वरूप हैं और न इनसे ही अर्थ क्रिया सधती है । अतः ऐसे नय उपनयो के एकान्तों का समुदाय मिथ्या नहीं होता है ।

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा ।
तथाऽन्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥ १०९ ॥

अन्वय---स तथा अन्यथा च अवश्यं (अस्ति अतः) अर्थः विधिना वारणेन वा वाक्येन नियम्यते । अन्यथा अविशेष्यत्वं (स्यात्) ।

---

[1] मिथ्याभूत एकान्तों का समुदाय यदि मिथ्या है तो हम स्याद्वादियों द्वारा मान्य एकान्तता मिथ्या नही है ऐसा भी अर्थ हो सकता है ।

अर्थ—अर्थतत्त्व विधि एव निषेध प्रकार से अवश्य समर्थित हुआ है इसीलिये वह अर्थ तत्त्व विधिरूप वाक्य द्वारा अथवा निषेधरूप वाक्य द्वारा नियमित किया जाता है। इससे भिन्न प्रकार की मान्यता मे उसमें विशेष्यता नहीं आ सकती है।

भावार्थ—किसी की इस प्रकार की आशंका है कि जब अर्थ तत्त्व अनेकान्तात्मक है तो विवक्षित वाक्य से वह नियमित कैसे हो सकता है कि जिससे प्रतिनियत विषय मे लोक की प्रवृत्ति हो सके सो इस आशंका का समाधान कारिकाकार इस कारिका द्वारा दे रहे हैं-वे कहते हैं कि " यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकं अर्थक्रियाकारित्वात् " जो सत्स्वरूप वस्तु है वह सब अर्थ क्रियाकारी होने से अनेकात्मक है । यह विधि वाक्य है। तथा " न किंचिदेकान्तं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थ क्रियाऽसंभवात् " कोई भी वस्तु तत्त्व एकान्त रूप से युक्त नही है क्योकि उसमें अर्थक्रियाकारिता नहीं बनती है यह निषेधरूप वाक्य है। सो विधिरूप वाक्य से अथवा निषेध रूप वाक्य से जब २ अर्थ तत्त्व उन २ धर्मों द्वारा नियमित किया जाता है तब २ वह अर्थतत्त्व प्रधान गौणभाव से उन २ धर्मों द्वारा अन्वित था सो किया जाता है। जब " स्यात् अस्ति घट " ऐसा वाक्य बोला जाता है अर्थात् जब इस अस्तित्वमुखेन वाक्य से उस अर्थ तत्त्व को अस्तित्व धर्म से नियमित करते है तब उस अर्थ तत्त्व में पहिले से रहा हुआ नास्तित्व धर्म गौण हो जाता है। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि 'स्यात् नास्ति घट' तब इस वाक्य द्वारा नास्तित्व धर्म मुख्य हो जाता है और रहा हुआ अस्तित्व धर्म गौण हो जाता है। वाक्य के साथ लगा हुआ स्यात् १ पद ही इस बात को प्रदर्शित करता है कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है फिर भी जो धर्म इस समय बोला जा रहा है वह यहां प्रधान है शेष गौण हैं।

यदि ऐसा न माना जाय-अर्थात् एक धर्म विशिष्ट ही सर्वथा वस्तु तत्त्व माना जाय तो विधि के बिना नास्ति-

---

१ वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तवकेवलिनामपि ।। ६०३ ।।
इस कारिका मे यह बात विशेष खुलासा रूप से प्रदर्शित की गई है।

त्व और नास्तित्व के बिना विधि सभवित नहीं हो सकने के कारण अपने इन विशेषणों के अभाव में वस्तु तत्व में विशेष्यता नहीं आ सकती है कारण कि प्रतिषेध रहित केवल विधि मे और विधि रहित केवल प्रतिषेध में विशेषणता का निराकरण किया गया है। परस्पर सापेक्षता मे ही इनमें विशेषणता समर्थित हुई है। अतः इन विशेषणों के अभाव में खपुष्प की तरह अर्थतत्त्व माना जायगा। अतः सत् असत् आदि वाक्यों मे विधि प्रतिषेध की गौण प्रधानभाव से वृत्ति रही हुई है इसीलिये वह उन २ वाक्यो द्वारा उन २ धर्मों से नियमित कराया जाता है और इसी तरह से लोको की उस २ धर्म विशिष्ट पदार्थ मे प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस कारिका का यह संक्षिप्त अर्थ है।

तदतद्वस्तुवागेषा तदेवेत्यनुशासती ।
न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः कथं तत्त्वार्थदेशना ॥ ११० ॥

अन्वय — तदतद्वस्तुवाक् तदेवेति अनुशासती एषा सत्या न, मृषा वाक्यै तत्त्वार्थदेशना कथं स्यात्।

अर्थ — तत् अतत् स्वभाववाली वस्तु है-और इसी स्वभाववाली वस्तु का प्रतिपादन वाक्य करता है। जब इस प्रकार की व्यवस्था है तब ऐसा कहना कि वचन विधि स्वरूप का ही प्रतिपादन करता है सर्वथा झूठ है। ऐसे मृषा वचनो से तत्त्वार्थदेशना कैसे हो सकती है ?

भावार्थ — इस कारिका द्वारा कारिकाकार " जो कोई ऐसा कहता है कि वाक्य केवल विधि रूप विशिष्ट अर्थ तत्त्व का नियम कराता है अन्य धर्म विशिष्ट अर्थ तत्व का नहीं " इस विषय का उत्तर दे रहे हैं-वे कहते हैं वस्तु स्वयं प्रत्यक्षादि प्रमाण की विषयभूत हुई अनेक विरुद्ध धर्मों से अध्यासित हो रही है। ये अनेक विरुद्ध धर्म वहा परस्पर मे बिना किसी विरोध के रहते हैं। तब ऐसा कहना कि वस्तु तत्स्वरूप ही है अतत्स्वरूप नहीं (अथवा अतत्स्वरूप हा है तत्स्वरूप नहीं) यह उचित नहीं है । कारण कि इस प्रकार की मान्यता एकान्त मान्यता है। सो इस प्रकार का एकान्त मान्यता वस्तु विचारको की दृष्टि मे जचती नही है। क्योंकि " विरुद्धमपि संसिद्धं तदतद्रूपवेदनं यदीदं स्वय-

मर्येभ्यो रोचते तत्र के वयम्" यह तदतद्रूपता "पदार्थों को जब स्वय रुचती है तब किसी का इसमें क्या वश है। अतः जब वस्तु स्वयं तदतत् अनेक विरुद्ध स्वभावो से विशिष्ट हो रही है तब सर्वथा किसी एक स्वभाव विशिष्ट वस्तु को प्रतिपादन करने वाला वाक्य मिथ्या ही कहा जायगा। दूसरे वस्तु एकान्ततः विधि स्वरूप ही है इस प्रकार विधि के एकान्त में प्रतिषेधैकान्त का अभाव कथित भी नहीं हो सकता है यदि प्रतिषेध का अभाव उससे कथित होता है तो विधि वाक्य से विधि के एकान्तत कथित होने मे विरोध आता है। कारण कि प्रतिषेध का अभाव भी इस वाक्य द्वारा कहा हो जाता है। मतलब कहने का केवल इतना ही है कि वाक्य केवल एक तत्स्वरूप विशिष्ट वस्तु का ही प्रतिपादन नहीं करता है। किन्तु अनेक धर्मात्मक-तत् अतत् आदि कनेक धर्म विशिष्ट वस्तु स्वरूप का मुख्य गौणरूप से प्रतिपादन करता है। ऐसे ही वाक्यो द्वारा तत्त्वार्थ की देशना निर्दुष्ट होती है। मिथ्या वाक्यो द्वारा नहीं।

वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरङ्कुशः।
आह च स्वार्थसामान्यं तादृग् वाच्यं खपुष्पवत् ॥ १११ ॥

अन्वय—अन्यवागर्थप्रतिषेधनिरङ्कुशः वाक्यस्वभाव स्वार्थसामान्य च आह। तादृग् वाच्य खपुष्पवदस्ति।

अर्थ—अन्य वचन के प्रतिपाद्य अर्थ के प्रतिषेध करने में निरङ्कुश होना और अपने स्वार्थ सामान्य का प्रतिपादन करना यह वचन का स्वभाव है। केवल निषेध मुख से ही वचन अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है सो ऐसा कथन ठीक नहीं है। कारण कि इस प्रकार का वाच्य खपुष्प के समान असत् माना गया है।

भावार्थ—बौद्धो की ऐसी मान्यता है कि वचन निषेधमुख से ही अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है। निषेध मुख से अर्थ का प्रतिपादन होना ही अन्य व्यावृत्ति है। इसका दूसरा नाम अपोह भी है। घट शब्द कम्बुग्रीवादिमानुरूप अर्थ को न कहकर जो अघटव्यावृत्ति का प्रतिपादन करता है यही अन्य व्यावृत्ति रूप उसका वाच्यार्थ है। इस बात का इस कारिका द्वारा समाधान करते हुए कारिकाकार कहते है कि यह मान्यता ठीक नही है कारण कि वचन का यह

स्वभाव है कि वह स्वार्थ सामान्य का प्रतिपादन करता हुआ बिना किसी रोक टोक के अन्य वचन के प्रतिपाद्य विषय का वहांपर निराकरण करता है। शब्द का वाच्य अपोह है सो यह कथन युक्ति संगत नहीं है इस विषय को पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। यदि यह स्वभाव वचन का न माना जाय और केवल अन्यापोह ही उसका वाच्यार्थ माना जाय तो स्वार्थ सामान्य के प्रतिपादन के अभाव में वह अन्य का निराकरण ही नहीं कर सकता है। तथा उसमें स्वार्थ सामान्य का प्रतिपादन करना तथा अन्य वचन के अर्थ का निराकरण करना इन दोनों बातों में से यदि एक भी बात की न्यूनता हो तो वह वचन अनुक्त सम ही माना जायगा क्योंकि ऐसे वचन से किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती है। वचन की सफलता तो इसी में निहित है कि उससे अपने अर्थ की प्रतिपत्ति एवं अन्य के अर्थ का वहां अभाव लक्षित होता है। जो वाच्यार्थ " ऐसा है ऐसा नहीं है " इस रूप से यदि प्रतीत नहीं होता है तो वह कूर्मरोमादिक की तरह असत् स्वरूप ही माना जाता है। पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होता है जब यह बात प्रबल प्रमाणों द्वारा पुष्ट की जा चुकी है तो यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि सामान्य विशेष के बिना और विशेष सामान्य के बिना क्वचिदपि उपलब्ध नहीं होता है। अत वचन से सामान्य विशेषात्मक पदार्थ का बोध होता है यही मान्यता ठीक है। शब्द से अपोह की प्राप्ति आदि कुछ नहीं होती है-फिर भी उसे उसका अर्थ मानना स्वपर को व्यामोह में डालना है। अतः गौणप्रधान भाव से विधि निषेध मुख द्वारा ही अनेकांतात्मक वस्तुतत्त्व विधिनिषेध रूप वाक्य से तत्तद्धर्म विशिष्ट प्रतिनियमित होता है यही मान्यता अबाध है। वाक्य से न स्वतन्त्र विधि एकांत का विधान होता है और निषेध एकान्त का। किन्तु कथंचित् उभय का विधान होता।

सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्था मृषा हि सा।
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः॥ ११२॥

अन्वय—सामान्यवाग् विशेषे शब्दार्था न चेत् सा मृषा हि। अभिप्रेतविशेषाप्तेः सत्यलाञ्छन. स्यात्कार।

अर्थ—सामान्यवाणी विशेष मे शब्दार्थ वाली नहीं है यदि यही बात मानी जाय तो उस सामान्य वाणी को

झूठी ही मानना पडेगा। अभिप्रेत विशेष की प्राप्ति का सत्यचिह्न स्यात्कार है।

भावार्थ——बौद्धो की ऐसी मान्यता है कि शब्द अन्यापोह रूप अर्थ को ही कहता है। यद्यपि अन्यापोह शब्द का अर्थ नहीं है किन्तु सामान्यविशेषात्मक पदार्थ ही शब्द का वाच्य है यह बात संक्षेप से १११ वीं कारिका द्वारा कारिकाकार ने स्पष्ट करदी है फिर भी आग्रहवश यदि बौद्ध ऐसा ही कहता है कि नहीं अन्यापोह ही शब्द का अर्थ है तो इस पर उससे पूछा जाता है कि अन्यापोह क्या है ? क्या अन्यव्यावृत्ति अन्यापोह है कि अन्यापोह रूप से जो विकल्प उठता है वह अन्यापोह है ? यदि सामान्य शब्द का वाच्यार्थ केवल अपोह–अन्य से व्यावृत्ति-ही माना जाय तो ऐसी स्थिति में जब कि वह अभाव का-अन्य व्यावृत्ति रूप अभाव का-तो प्रतिपादन करता है और भाव-पदार्थ का प्रतिपादन नहीं करता है उस शब्द के उच्चारण की सार्थकता ही क्या रह जाती है क्योकि वह तो अनुक्त शब्द के समान ही हो गया। अनुक्त शब्द से जैसे अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है–प्रतिपादन नहीं होता है उसी प्रकार उक्त शब्द से भी यह सब नही होता है। फिर उक्त और अनुक्त शब्द मे अन्तर ही क्या रहता है। यदि कहो कि अन्यापोह रूप से जो विकल्प उठता है वह अपोह है सो ऐसा कहना भी उचित नही है। कारण कि इस प्रकार के विकल्प का उत्पादक तो मिथ्या विकल्परूप अभिनिवेश ही है। अत· शब्द का अर्थ अन्यापोह सिद्ध नहीं होता है। फिर भी शब्द का अर्थ यदि अन्यापोह माना जायगा तो उसमें प्रवर्तमान शब्द मिथ्या क्यों नहीं माना जायगा। इसलिये सामान्य वचन सामान्य १ और गम्यमान विशेष इन दोनों का प्रतिपादन करता है। सामान्य वचन मुख्यतया अपने अभिधेय-सामान्य का प्रतिपादन करते समय वक्ता के अभिप्राय में स्थित गम्यमान विशेष का भी स्यात्पद के सम्बन्ध से प्रतिपादन करता है। इसी अभिप्रेत विशेष को बतलाने वाला यह स्यात्शब्द वाक्य में प्रयुक्त किया जाता है।

---

१ अनेकमेक च पदस्य वाच्य, वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणानपेक्षेऽनियमेऽपवादः ॥

—स्वयम्भूस्तोत्र पुष्पदन्तस्तवन ४४ वां श्लोक।

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याविरोधि यत् ।
तथैवादेयहेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥ ११३ ॥

अन्वय—यत् विधेयम् (तत्) प्रतिषेध्याविरोधि ईप्सितार्थाङ्गम् । तथैव आदेय हेयत्वम् । इति स्याद्वादसंस्थितिः ।

अर्थ—जो विधेय होता है वह नास्तित्व आदि प्रतिषेध्यों के साथ विरोध रहित होता है । और इसी से वह ईप्सित अर्थ का अंगभूत होता है । ऐसे ही आदेयत्व एव हेयत्व हैं । इस तरह यह स्याद्वाद की सम्यक् स्थिति है ।

भावार्थ-इस कारिका द्वारा कारिकाकार स्याद्वाद ही सत्यार्थ है, अन्यवाद नहीं, क्योकि वही उनकी अपेक्षा अतिशय स्वरूप पाता है यह स्पष्ट घोषित करते हैं । इसमे वे बतलाते हैं कि स्याद्वाद में ही सप्तभगी प्रक्रिया का आश्रय होने से अस्तित्व आदि विधेय अपने विरोधि-प्रतिषेध्यो के साथ भी विरोध नही रखते हैं । यदि परस्पर मे ये विरोधी होवें तो इनमें किसी की भी स्वतंत्र सत्ता कायम नहीं रहती है और न विधेय स्वयं ईप्सित अर्थ का अंगभूत हो सकता है । विधि और प्रतिषेध का अन्योन्य में स्वार्थज्ञान की तरह अविनाभाव समर्थित हुआ है । अर्थात् जैसे ज्ञान में अपने आपको जाने बिना अर्थपरिच्छेदकता नहीं आती है । यह अर्थपरिच्छेदकता उसमें स्वसंविदित अवस्था में ही आती है—घट ज्ञान जब तक स्वसंवेदी न होगा तब तक वह घट को नही जान सकता, नहीं तो घटादि पदार्थोंमे भी अन्यपदार्थोंको जानने का प्रसंग प्राप्त होता है-अत. ज्ञानमें अर्थपरिच्छेदकता स्वसंविदित अवस्थाके आधीन है और पदार्थमें परिच्छेद्यता स्वसंविदित स्वज्ञानके आधीन है । अत जिस प्रकार स्वज्ञान और अर्थज्ञानमे परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है उसी प्रकार अस्तित्व एवं नास्तित्व में भी परस्पर में अविनाभाव सबन्ध है । जब यह बात है तो फिर एक दूसरे के विरोधी ये कैसे हो सकते हैं, नहीं हो सकते हैं । वक्ता जिसे अपनी स्वतंत्र इच्छा से अभिप्रेत कर साध्यकोटि में रखता है वही विधेय होता है अन्य नहीं क्योंकि अभिप्रेत करके उसी का विधान होता है । राजा आदि के भय से अनभिप्रेत का भी यदि विधान कर दिया जाय तो वह विधेय कोटि मे नहीं आता है । इसी तरह जो अभिप्रेत तो हो पर उसका विधान नहीं किया गया हो तो वह भी विधेय नहीं माना गया है । फलितार्थ इसका इतना ही है कि वक्ता द्वारा अभिप्रेत होकर जिसका विधान किया

जाना है वही विधेय है। "घटोऽस्ति" यहां पर घटरूप उद्देश्य मे अस्तित्व विधेय है क्योंकि वक्ता को अपनी स्वतंत्र इच्छा से वह विधेय है—साध्य है। परन्तु यह विधेय नास्तित्व आदि प्रतिपक्षी धर्मों के साथ विरोध रखने वाला नही है। इसीलिये यह किसी अपेक्षा घट को अस्तित्व विशिष्ट साध्य करना रूप जो अर्थ है उसका अगभूत हुआ है नहीं तो नहीं हो सकता। कारण कि जब इनका परस्पर में विरोध माना जायगा तो अस्तित्व के रहने के स्थानमें उसका विरोधी वहां रह नहीं सकेगा-ऐसी हालत मे सर्वात्मना घट मे अस्तित्व मानने का प्रसग प्राप्त होगा-तथा च घट जिस प्रकार स्वात्मना अस्तित्व विशिष्ट हैं उसी प्रकार परात्मना भी वह अस्तित्व विशिष्ट माना जायगा-तब तो "चोदितो दधि खादेति कि मुष्ट्र नाभिधावति" किसी को दधि खानेके लिये कहने पर वह ऊट को भी खानेके लिये दौड़ जायगा क्योकि दध्यात्मना ऊट का जो अस्तित्व है। अत इस दोष की निवृत्ति के लिये मानना यही चाहिये कि अस्तित्वादि विधेय अपने प्रतिषेध्यो के साथ अविरोधी होते है। इसीलिये घट में अस्तित्वादिक विशेष जो विधेय हुए है वे स्वात्मना ही विधेय हुए हैं, प्रतिषेध्य पटादि को अपेक्षासे विधेय नहीं हुए हैं। अत वे वहा कथंचित् विधेय हैं यह बात माननी चाहिये।

इसी तरह जो प्रतिषेध्य धर्म है वह विधेय की अपेक्षा से ही प्रतिषेध्य है, प्रतिषेध्य की अपेक्षा से प्रतिषेध्य नहीं है। अत इस तरह प्रतिषेध्य भी कथंचित् प्रतिषेध्य है और कथचित् अप्रतिषेध्य है। इसी प्रकार जोवादिक पदार्थ भी कथचित् विधेय और कथंचित् प्रतिषेध्य है। इस प्रकार विधेय एवं प्रतिषेध्य के ऊपर सप्तभंगी प्रक्रिया के आश्रय से स्याद्वाद की स्थिति युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध सिद्ध होती है। इसी तरह आदेय एवं हेयत्व भी प्रतिषेध्याविरोधी माने गये हैं। अर्थात् विधेय के एकान्त मे हेयत्व का विरोध आता है। जब वस्तुमें कथचित् विधेय एव प्रतिषेध्यस्वरूपता मानी जाती है तो विधेय की अपेक्षा वहा आदेयता एवं प्रतिषेध्य की अपेक्षा वहा हेयता सिद्ध हो हो जाती है। इस तरह आदेयत्व एवं हेयत्व ये भी परस्पराविनाभावी हैं यहबात पुष्ट होती है। इस तरह परस्पर विरोधी धर्मोंका किसी अपेक्षा से एकत्र समन्वय होना यही स्याद्वाद की सम्यक् स्थिति है। फलितार्थ इसका केवल इतना ही है कि अस्तित्वादि विशेष जो विधेय होते हैं वे वक्ता की किसी विशेष दृष्टि से ही होते हैं एव नास्तित्वादि जो प्रतिषेध्य हैं वे भी किसी विशेष

दृष्टिसे होते हैं। अतः विधेय प्रतिषेध्याविनाभावी और प्रतिषेध्य विधेयाविनाभावी बनता है। इन्हीं दोनों को लेकर वस्तु मे आदेयता एवं हेयता सधती है। इन्हीं परस्पर विरोधी धर्मों के समन्वय का नाम स्याद्वाद है। इस स्याद्वाद का ही उपदेश आप वीतराग प्रभु ने दिया है अतः हे नाथ! युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाले होने के कारण आप ही निर्दोष हैं। अन्य एकान्तवादी नही।

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ–विशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

अन्वय—हितमिच्छताम् सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये इति इयं आप्तमीमांसा विहिता।

अर्थ—हित की चाहना करने वाले भव्य जीवो को सम्यग्उपदेश एवं मिथ्या उपदेश में अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति के लिये-निमित्त-दश परिच्छेदों वाली यह आप्तमीमांसा-मैंने बनाई है।

विशेषार्थ—इस अन्तिम कारिका द्वारा कारिकाकार आप्तमीमांसा के निर्माण करने का अपना प्रयोजन प्रदर्शित कर रहे हैं। वे कह रहे हैं कि यह आप्तमीमांसा जो मैंने बनाई है-रची-है कि जिसमें सर्वज्ञ विशेष का परीक्षण किया गया है सो उसके रचने का मेरा केवल यही उद्देश्य है कि अपने हित के अभिलाषी भव्यजन (इसके पठन पाठन द्वारा) यह समझ सकें कि यह सम्यग् उपदेश है और यह मिथ्या उपदेश है। "जैसे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस प्रकार का उपदेश सच्चा उपदेश है। कारण कि यह पहिले समर्थित किया जा चुका है कि सम्यग्दर्शनादिक तीन में से यदि किसी एक की कमी रहती है तो मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती है। तथा-" ज्ञानेन चापवर्गः " ऐसा जो उपदेश है वह मिथ्या उपदेश है। क्योंकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से विरुद्ध पड़ता है। सम्यक् उपदेश सत्यार्थ विषय वाला एवं मिथ्या उपदेश असत्यार्थ विषयवाला होता है इत्यादि-ऐसा जो सम्यग् उपदेश एवं मिथ्या उपदेश का रूप है यही इनका अर्थ विशेष हैं। एव सत्यार्थ विषयवाला उपादेय एवं असत्यार्थ विषयवाला हेय है यही यहां इस अर्थ

विशेष की प्रतिपत्ति है। सो इस सम्यक् एव मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति के निमित्त यह आप्त मीमांसा कि जिसमे १० परिच्छेद हैं मैंने (समन्त भद्र ने) रची है हित शब्द से मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनादिको का ग्रहण हुआ है कारण कि हित स्वरूपता प्रधानतया तो मुक्ति मे ही है । तथा सम्यग्दर्शन आदिको मे जो हितस्वरूपता है वह उसके कारण होने से है । इस हित के अभिलाषी केवल भव्य जीव ही होते है अभव्य नहीं । अतः इन भव्यो के लिये सम्यग्-मिथ्या उपदेश के अर्थविशेष की प्रतिपत्ति हो जाय इस अभिप्राय से यह ग्रंथ रचा गया है । इस प्रकार शास्त्र के आरंभ में मोक्ष मार्ग के प्रणेता रूप से कर्म रूप पर्वतो के भेत्तारूप से एव विश्वतत्त्वो के ज्ञातारूप से जो आप्त का स्तवन किया गया है सो ऐसे आप्त सर्वज्ञ अरहन्त परमात्मा ही हैं अन्य नहीं । इस तरह अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारा इन विशेषणों का जो उनमें ही व्यवस्थापन किया गया है सो यही आप्तपरीक्षा स्वरूप आप्तमीमांसा है । ऐसा अभिप्राय आचार्यवर्य स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपना इस अन्तिम कारिका द्वारा प्रदर्शित किया है ।

अंतिम मङ्गलाचरण

जयति[1] जगति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान् ,
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
यतिपतिरजो यस्याधृष्यान्मताम्बुधेर्लवान् ,
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नानापरे समुपासते ॥

जिस प्रभु के आगम रूपी समुद्र के अधृष्य कणो की एक एक धर्म की-अपने २ मत में आसक्तमति वाले सुगतादिक अन्यतीर्थिक जन अपनी२ मान्यताओ के अनुसार उपासना करते हैं-उस ही एक २ धर्म की एकांत रूप से प्ररूपणा करते है-ऐसे वे जन्म जरा एव मरण से सर्वथा विहीन जिनेन्द्रदेव जो क्लेश के प्रपञ्चरूप हिम के लिये आदित्य स्वरूप

१ यह मगलाचरण अष्ट सहस्त्री के रचयिता का है

है तथा विषम एकांतरूप अन्धकार को नष्ट करने वाले प्रमाण एव नयरूप किरणमाला से मंडित हैं, सदा जगत में जयवन्त वर्तें।

संस्कृत हर्षसूरि प्रबन्ध काव्य के कर्त्ता, पूर्वार्ध षोडशक प्रकरण की पंद्रह हजार श्लोकप्रमाण सस्कृतटीका के निर्माता एवं युक्त्यनुशासन १ आदि अनेक ग्र थो के हिन्दी-अनुवादक मालथौननिवासी (पं०) मूलचंद जैन शास्त्री श्रीमहावीरजी द्वारा विरचित यह हिन्दी आप्तमीमांसानुवाद समाप्त हुआ।

दशमोऽय परिच्छेद समाप्तोऽभूदनूदितः।
शास्त्रिणा मूलचन्द्रेण यथाबुद्धि सुचेतसा ॥ १ ॥
नित्य चेतसि सस्थितेन गुरुदेवोपग्रहेणोदित, तद्भवत्यङ्कुशसावधानमनसा सामन्तभद्रं वच.।
विद्यानन्दमहोदयैर्विशदितं सम्यक् प्रबुद्धयाप्तमी—मांसोक्तं तवहं यथामति चकार स्पष्टमित्थं च तत् ॥ २ ॥
समन्तभद्रेण विनिर्मिताया जातोऽनुवादः परिपूर्णमस्या।
सुचित्तवित्ता परिशोधयन्तु दोषान् समस्तानुदितान् प्रमादात् ॥ ३ ॥
गंगोराङ्गतरङ्गसङ्गिसलिल प्रान्तस्थिते विश्रुते, श्रीस्याद्वादपदाङ्किते भुवि जनैर्मान्येसु विद्यालये।
अम्बादासगुरोर्निपीय नितरां सत्तर्कविद्यां पराम्, पीतोद्गार इवास्ति मेऽयमनुवादोऽस्या विजानन्त्विति ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयमनुवादः

---

१ ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

अनुवादकपरिचयसप्तत्रिंशत्का

निर्वाहचिन्तया मे दिवानिशं बाध्यमानया बुद्धया, विहितेऽस्मिन्ननुवादे भवेत् त्रुटिःकापि संशोध्या ।।१।।

नवाधिकद्विसहस्रे विक्रमाब्दे मया कृतः गतो हिन्द्यनुवादोऽय श्रावणे मासि पूर्णताम् ।।२।।

यद्भक्त्येद मयाऽऽरब्ध कार्यं जात समाप्तिमत्, नमामि मङ्गलार्थं त वीर स्याद्वाददेशिनम् ।।३।।

समन्तभद्रो भुवि वर्धमानः स्याद्वादविद्याधिगमोऽकलङ्कः, यस्योपदेशान् परिपीय विद्यानन्द स्थितो भव्यजनान्तरङ्गे ।

कष्टसहस्री सोढ्वा समा कियत्यो यदङ्घ्रिमासाद्य, अष्टसहस्री काश्या पठिता स्मर्यते गुरुः सोऽपि ।।५।।

गङ्गोत्तुङ्गतरङ्गसङ्गिसलिलप्रान्तस्थितो विश्रुतः, श्री स्याद्वादपदाङ्कितो भुवि जनैर्मान्योऽस्ति विद्यालयः ।

तत्राह ह्यपठं स्वकीयविषये पारङ्गतैः सत्प्रभैः विद्वद्भिर्भरिते गणेशगुरुणा संस्थापिते वर्णिना ।।६।।

गुरुवर्याम्बादासानुकम्पयैवास्मि लब्धबोधोऽहम्, अन्नतरो मूलेन्दुः सर्वं श्रेयस्तमाश्रयतु ।।७।।

ज्ञास्यन्ति ते किं नु परिश्रमं मे दोषेक्षणाकृत्यनिबद्धकक्षाः रविप्रकाशो भवतीति कीदृग् जानंति नो —
सत्यमुलूकपोता ।।८।।

सागरमण्डलाधीनो विद्वन्मडलमण्डित । मालथौनाभिधो ग्रामो रम्योऽस्ति जनसंकुलः ।।९।।

तत्रास्मि लब्धजन्माऽहं परवारकुलोद्भवः सल्लो माता पिता मेश्रीसटोलेलालनामकः ।।१०।।

मदेकपुत्रादभवत्सपुत्र स तातपादः परमल्पकाले, दिवंगतस्तत्समयेऽहमास सार्धद्विवर्षायुषि वर्तमानः ।।११।।

मात्रा पितृव्यपत्न्या च पितृव्येन प्रपालितः । अभव सप्तवर्षीयो भग्नो वामकरस्तदा ।।१२।।

दृष्ट्वा मां दूयमानेन दयार्द्रीभूतचेतसा, विदुषा वृजलालेन चौरासीं जननीयुत ।।१३।।

नीतोऽहं पाठितस्तेन मठे सस्थाप्य भूयसाऽस्नेहसा नाप्तबोधत्वाज्जातोऽहं कलहप्रियः ।।१४।।

मध्यमत्वात् परिस्थित्याःअभावादन्यसद्गते पचदशवर्षायुष्को वाराणस्यां तु प्रेषितः ।।१५।।

तत्र षडब्दपर्यन्तं न्यायव्याकरणादिकम्, गुरो शुश्रूषयाऽधीतं यथाबुद्धि मया मुदा ।।१६।।

दारिद्रय दुःखात् परिपीड्यमानो गतोऽमदावादपुरं विशालं तत्र स्थितैः श्रीसुखलालविज्ञैर्नियोजितो वृत्तिविधौ
परीक्ष्य ।।१७।।

गान्धीविद्यापीठाश्रिते विभागे तदा पुरातत्त्वे सन्मतिकाख्यस्य ग्रन्थस्य प्रकाशन व्यचलत् ।।१८।।

शका—तृतीयभंग में जो "सदसद्" शब्द आये हैं उनमें द्वन्द समास है, द्वन्द समास में उभय पदार्थ की प्रधानता होती है। अत ऐसा कहना कि तृतीय भंग क्रमशः अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है ठीक नहीं मालूम देता। कारण कि उभय पदार्थ की प्रधानता में यह अपने अर्थ का युगपत प्रतिपादक हो जाता है।

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि उभय पदार्थ की प्रधानता होने पर भी उनका प्रतिपादन तो शब्दो द्वारा क्रमशः ही होता है। प्रथम भग में मुख्यतया सत्त्व विवक्षित है। द्वितीय भंग में प्रधानतया असत्त्व विवक्षित है। इस तृतीय भंग मे क्रमश. सत्त्व और असत्त्व ये दोनों ही धर्म मुख्यतया विवक्षित हुए हैं। अत. सत्त्व अपने अर्थ का एवं असत्त्व अपने अर्थ का क्रमशः प्रधानरूप से प्रतिपादन करता है। इससे यह अभिप्राय कैसे निकल सकता है कि द्वन्द्व समास में एक साथ ही अनेक अर्थो का प्रतिपादन होता है। यदि ऐसी ही बात होती तो " अभ्यर्हितं पूर्वं " इस सूत्र के निर्माण की क्या जरूरत थी। इसलिये द्वन्द्व समास को दृष्टान्त कोटि में रखकर जो एक शब्द में अनेकार्थ प्रतिपादकता प्रकट करना चाहते हैं सो उनका ऐसा कहना उचित नहीं है, दूसरे " एकतिङ्वाक्यं " इस नियम के अनुसार एकक्रिया प्रधान होने से वाक्य एक ही अर्थ को विषय करने में प्रसिद्ध है। अनेकार्थ को नही। इसलिये यह तृतीय भंगरूप वाक्य सत् असत् इन दो धर्मों को प्रधानतया युगपत् प्रकाशित न कर क्रमशः प्रकाशित करता है ऐसा मानना चाहिये। अतः शब्द स्वभावत एक ही अर्थ को निवेदन करने की शक्ति वाला है वह सिद्ध १ होता है। " सत् " इस शब्द की सत्त्व मात्र के कहने में ही सामर्थ्य विशेष है असत्त्वादिक अनेकधर्मों के कहने में नहीं, अनेकान्त वाचक " स्यात् " इस शब्द की अनेकान्त मात्र के कथन में शक्ति है एकान्त के कहने मे नही, अनेकान्त द्योतक स्यात् शब्द की अविवक्षित समस्त धर्मों के सूचन करने में शक्ति है। विवक्षित धर्म के सूचन करने में नहीं, अन्यथा वाक्य में तद्वाचक शब्द का प्रयोग व्यर्थ पड़ता है। इस तरह प्रत्येक शब्द अपने २ नियत अर्थ को सूचन करने की सामर्थ्य से युक्त है। वह इस सामर्थ्य का उल्लंघन कर जगत के व्यवहार में प्रवृत्ति नहीं कर सकता है। और न इस तरह से वह प्रवृत्ति करता हुआ व्यवहार में ही उपलब्ध होता है। इसलिये युगपत् शब्द भाव और अभाव इन दो धर्मों को कहता है यह आग्रह छोड़ देना चाहिये।

क्योकि उसमें ऐसी शक्ति ही नहीं है ।

शंका—यह तो आपका कहना ठीक है । परन्तु जिस प्रकार शतृ और शानच् प्रत्यय का युगपत् बोध कराने के लिये " संज्ञा " यह शब्द सकेतित हुआ है उसी प्रकार सत्त्व और असत्त्व इन दोनों धर्मों का भी युगपत् बोध कराने वाले किसी एक शब्द को सकेत के रूप मे रख लेना चाहिये । क्योकि सकेत के अनुसार शब्द की प्रवृत्ति अपने अर्थ को प्रतिपादन करने में देखी जाती है ।

उत्तर—सो ऐसा कहना उचित नहीं है । कारण १ कि सकेत भी वाच्य एव वाचक शक्ति का अनुसरण करके ही किया जाता है । इसका उल्लंघन करके नहीं । जिस प्रकार लोहे की काष्ठ के भेदने में शक्ति है उस प्रकार वज्र के भेदने में नहीं है तथा जिस प्रकार वज्र के भेदने में उसकी अशक्ति है उस प्रकार काष्ठ के भेदने में नहीं । इसी प्रकार शब्द भी प्रधानतया एक बार एक ही अर्थ को प्रतिपादन करने की शक्तिवाला है अनेकार्थ को प्रतिपादन करने की शक्ति-वाला नहीं । अत प्रतिपादनशक्ति की अपेक्षा से ही संकेत की शब्द में प्रवृत्ति मानी गई है । इस कथन से इसका भी निराकरण हुआ समझ लेना चाहिये कि जो लोग इस बात को कहते हैं कि सेना एवं वन आदि शब्दो की युगपत् अनेक अर्थों के प्रतिपादन करने में प्रवृत्ति है । कारण कि करि, तुरग, रथ एवं पदाति का समूह रूप जो एक अर्थ है उसका ही सेना शब्द द्वारा अभिधान कथन–किया जाता है । इसी तरह वन शब्द भी वृक्षो का समूहरूप एक अर्थ का प्रतिपादक होता, हैं मालाशब्द पुष्पों के समूह रूप अर्थका ग्रामशब्द घरों के समुदाय रूप एक अर्थका तथा पानकशब्द अनेकपेय योग्य वस्तुओं के अवस्थान्तरविशेषसमूहरूप एक अर्थ का प्रतिपादन करता है । अनेक अर्थों का नहीं ।

शका—यदि शब्द में अनेक अर्थों को युगपत् प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं है ऐसी आपकी बात मानी जाय तो फिर " वृक्षौ वृक्षाः " इस द्विवचन एवं बहुवचन वृक्ष शब्द से जो दो एव अनेक वृक्षो की युगपत् प्रतिपत्ति–ज्ञान-होती २

१ " सकेतानुविधानेऽपि कर्तृकर्मणोः शक्त्यशक्त्योरन्यतरव्यपदेशार्हत्वादयोदारुवज्रलेखनवत् " अष्टशती

है सो कैसे हो सकेगी ? मतलब इसका यह है कि व्याकरण प्रसिद्ध सूत्रों के अनुसार एकत्व की विवक्षा में एक वचन द्वित्व की विवक्षा में द्विवचन एवं बहुत्व की विवक्षा में बहुवचन होता है। " वृक्षौ " यह द्विवचन का प्रयोग है इससे दो वृक्षों का युगपत् बोध होता है। " वृक्षाः " यह बहुवचन का प्रयोग है। इससे अनेक वृक्षो का युगपत बोध होता है इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि एक शब्द युगपत् अनेक अर्थों का बोधक होता है, फिर आप यह कैसे कहते हैं कि
आ० एक शब्द अनेक अर्थों का युगपत् वाचक नहीं होता है।

मो० उत्तर—शंका तो ठीक है, परन्तु जब इन शब्दों के प्रयोग के ऊपर व्याकरण के नियम का विचार किया
१७० जाता है तब इस शंका का निवारण बहुत सरल रूप से हो जाता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार "वृक्षौ वृक्षाः" ये एक शेष शब्द है,। यहा अन्य और वृक्ष शब्दों का लोप हुआ है। वृक्षशब्द से औ, एवं जस्-प्रत्यय जब लाते हैं तब वहां "वृक्ष वृक्ष औ,, एव वृक्ष वृक्ष वृक्ष जस् ऐसा कहना पड़ता है,,—बाद में "सरूपाणामेकशेषविभक्तौ" इस सूत्र द्वारा एक वृक्ष के सिवाय अन्य वृक्षों का लोप हो जाता है। यह एक शेष—वृक्षशब्द—लुप्त हुए वृक्ष शब्दों के अर्थ का कथक होता है। अतः यह समझना चाहिये कि "वृक्षौ" यहां पर दो वृक्ष शब्दों से ही दो वृक्ष रूप अर्थ का भान होता है एवं "वृक्षा" यहां पर अनेक वृक्ष शब्दों से ही अनेक वृक्षरूप अर्थ का भान होता है। अर्थात् वृक्षौ में दो वृक्ष शब्द वृक्षा में अनेक वृक्ष शब्द हैं और वे ही दो एवं अनेक वृक्षों के अभिधायक हैं। अतः एक शब्द युगपत् अनेक अर्थों का प्रतिपादक नहीं होता है। यह सिद्धान्त अटल है।

जैनेद्रव्याकरण के कर्त्ता के मतानुसार द्विवचनान्त एवं बहुवचनान्त वृक्ष स्वभावतः ही स्वाभिधेय अर्थ को द्वित्व एव बहुत्व विशिष्ट प्रतिपादित करता है। क्योकि इन शब्दों में द्वित्व एव बहुत्व विशिष्ट अर्थ के कहने की शक्ति जो रही हुई है। जो ऐसा न माना जाय तो शब्द व्यवहार ही नही बन सकता है।

शंका—एक शब्द एक ही अर्थ को एकबार कहता है यह आपका कहना आपके ही सिद्धान्त से दूषित होता

है। क्योकि आपके सिद्धान्त में पद के वाच्य एक और अनेक ये दोनों अर्थ माने गये १ हैं। जैसे वृक्ष यह शब्द एक--सामान्य, और अनेक-विशेष-को कहता है। मतलब कहने का यह है कि पदार्थ सामान्य एवं विशेपात्मक है अतः उसके वाचक शब्द या पद स्वयं एक और अनेक के वाचक होते हैं। फिर यह कहना कि शब्द युगपत् एक ही स्वाभिधेय का वाचक होता है ठीक नही हैं।

उत्तर—पद या शब्द अनेक एवं एक अर्थ के वाचक होते हैं इसका निषेध हम कब करते हैं। हम तो सिर्फ इतना ही कहते हैं कि शब्द या पद मुख्यतया अपने एक ही अर्थ के वाचक होंगे। अनेक के नहीं। वृक्ष शब्द पहिले मुख्यतया स्वाभिधेय वृक्ष रूप अपने अर्थ का ही कथन करेगा १ वाद में गौण रूप से उसके लिंग एवं द्वित्व बहुत्व आदि संख्या का। अतः वृक्ष इस शब्द से प्रधानभाव से तो वृक्ष रूप अपने अर्थ की ही प्रतीति होगी वाद में गौण रूप से लिंग एवं बहुत्व आदि संख्या की। वाक्य या पद के साथ जो स्यात् पद का प्रयोग करने में आता है वह इसी अभिप्राय को लेकर तो किया जाता है। यह स्यातपद जिस धर्म के साथ प्रयुक्त किया हुआ होता है उसे वह वहां मुख्यरूप से बतलाता है और बाकी के धर्मो को गौण २ रूप से। इसलिये स्याद्वादियों का जो यह सिद्धान्त है कि शब्द अपने अर्थ को प्रधान रूप से एव बाकी के धर्मों को गौण रूप से कहता है बिल्कुल निर्दोष है। अर्थात् पद का वाच्य जो एक और अनेक है वह प्रधान गुण भाव से ही है, ऐसा मानना चाहिये। सर्वथा प्रधानभाव से है ऐसा नही मानना चाहिये। वाच्य भी इसी तरह प्रधान एवं गौण की अपेक्षा से एक और अनेक रूप प्रकट किया गया हैं। अतः जब वाच्य ऐसा है तो उसका जो वाचक शब्द या पद होगा वह भी प्रधान एव गौणभाव को लेकर उसका वाचक होगा। अत सकृत्प्रधान

' अनेकमेक च पदस्य वाच्यं, वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणानपेक्षेऽनियमेऽपवादः॥

बृहत्स्वयभू०श्लोक ४४

१ स्वार्थमभिधाय शब्दो, निरपेक्षो द्रव्यमाह समवेत।
समवेतस्य तु वचने, लिङ्ग सख्यां विभक्तीश्च।

२ गुणप्रधानार्थमिद हि वाक्य, जिनस्य ते तद द्विषतामपथ्यम्। वृह-स्व-४५।

भाव से शब्द अनेक अर्थों का वाचक नहीं हो सकता यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है ।

शंका—ठीक है । परन्तु आपके सिद्धान्तानुसार जो प्रमाण वाक्य है वह तो प्रधानभाव से अशेष धर्मात्मक वस्तु का प्रकाशक माना गया है । अब वह आपके इस कथन से कैसे समन्वय रूप में अवतरित हो सकेगा । शंकाकार की शका इस प्रकार है कि जब यह नियम आप बना रहे है कि शब्द एकबार प्रधानभाव से एक ही अपने अर्थ का वाचक होता है एकबार में अनेक अर्थों का नहीं—तो फिर जैन सिद्धान्त की दृष्टि में जो प्रमाण वाक्य को युगपत्—एक साथ अनेक धर्मात्मक वस्तु का प्रकाशक माना गया है वह इस नियम के आगे मिथ्या साबित होता है । वस्तु में अनन्त धर्म है । उन धर्मों में से किसी एक धर्म को मुख्य रूप करके उसका कथन करने वाला ज्ञान नयवाक्य १ है एवं समस्त धर्मों का युगपत् कथन करने वाला ज्ञान प्रमाणवाक्य २ है । अतः इस नियम के आगे प्रमाण वाक्य का निभाव कैसे हो सकता है ? नही हो सकता है ।

आ० मी० १७२

उत्तर—शका तो उचित है—पर इसका जब बिचार किया जाता है तो समाधान भी बहुत अच्छी तरह से मिल जाता है । वह समाधान १ इस प्रकार है—जिस समय वस्तु में काल आदि की अपेक्षा अभिन्न रूप से रहने वाले सम्पूर्ण धर्मों एवं धर्मी में अभेद भाव की प्रधानता रखकर अथवा काल आदि से भिन्न धर्म और धर्मी में अभेद का उपचार मानकर सम्पूर्ण धर्म और धर्मी का एक साथ कथन किया जाता है उस समय सकलादेश होता है । इस सकलादेश से काल आदि की अभेददृष्टि अथवा अभेदोपचार की अपेक्षा वस्तु के समस्त धर्मों का एक साथ ज्ञान होता है । मतलब इसका यह है कि गुणों २ के समुदाय को द्रव्य कहते हैं इसलिये गुणों को छोड़कर द्रव्य कोई भिन्न पदार्थ नही है ।

---

१ विकालोदेशो नयाधीन. ।

२ सकलादेशः प्रमाणाधीन । सर्वार्थसिद्धौ

१ कालादिभिरभेदेनाभेदोपचारेण च द्रव्यपर्यायार्पितेन सकलस्य वस्तुनः कथनादिति ब्रूम. । अष्टसहस्री । प्रमाणप्रतिपन्नानतधर्मात्मकवस्तुन. कालादिभिरभेदवृत्तिप्राधान्यात् अभेदोपचारात् वा यौगपद्येन प्रतिपादक वच सकलादेश. । स्याद्वादरत्नाकर. स्याद्वादमजरी ।

२ 'तस्माद्गुणसमुदायो द्रव्य स्यात्पूर्वसूरिभिः प्रोक्त ' इति पचाध्यायी ।

अतएव द्रव्य का निरूपण गुणवाचक शब्द के बिना नहीं हो सकता। इसलिये अस्तित्व आदि अनेक गुणों के समुदाय रूप द्रव्य का निरश रूप समस्तपने से अभेदवृत्ति (द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा सम्पूर्ण धर्म अभिन्न हैं) और अभेदोपचार (पर्यायार्थिक नय से समस्त धर्मों के परस्पर भिन्न होने पर भी उनमें एकता का आरोप किया जाता है) से एक गुण के द्वारा प्रतिपादन होता है, इसलिये एक गुण के द्वारा अभिन्न स्वरूप के प्रतिपादन करने को सकलादेश कहते हैं। यह सकलादेश प्रमाणाधीन होता है। (१) काल (२) आत्मरूप (३) अर्थ (४) सम्बन्ध (५) उपकार (६) गुणिदेश (७) ससर्ग (८) शब्द। ये आठ कालादिक १ हैं। इन सबका विवेचन युक्त्यनुशासन की भाषाटीका करते समय किया जा चुका है। फिर भी उपयोगी समझकर यहां पर भी संक्षेप से इसका खुलासा किया जाता है, सप्तभगी प्रमाणसप्तभगी और नयसप्तभंगी के भेद से दो प्रकार की है। इनमें पूर्वोक्त प्रकार से द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता और पर्यायार्थिकनय की गौणता एव पर्यायार्थिकनय की मुख्यता तथा द्रव्यार्थिकनय की गौणता लेकर प्रमाण सप्तभंगी घटित होती है। द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता एव पर्यायार्थिक नय की गौणता करने का यह मतलव है कि वस्तु में अनेक धर्मों का काल आदि द्वारा अभेद सिद्ध करना होता है। कारण कि विवक्षित एक शब्द से वस्तु के एक ही धर्म का ज्ञान होता है, परन्तु फिर भी उस विवक्षित एक शब्द से एक धर्म के द्वारा ही पदार्थ के अनेक धर्मों का ज्ञान हो जाता है। इसी का नाम एक साथ पदार्थ का ज्ञान होना है। और यह ज्ञान सकलादेश के आधीन है। इस सकलादेश की विवक्षा में जब इस प्रकार कहा जाता है कि "स्यात् जीवादिवस्तु सदेव" जीवादिक वस्तुए कथञ्चित् सत् ही है तब इस प्रकार कहने पर जीवादिक वस्तुओं में जिस समय अस्तित्व धर्म मौजूद है उस समय जीव मे और भी अनंत धर्म मौजूद है। अतः अस्तित्व इस एक धर्म के साथ अन्य अविवक्षितधर्मों की काल की अपेक्षा लेकर अभेदवृत्ति मान ली जाती है। जिस प्रकार अस्तित्व जीव का गुण है—स्वभाव है—उसी प्रकार और भी अविवक्षित धर्म उसके स्वभाव-आत्म-

---

१ कालात्मरूपसबन्धाः ससर्गोपक्रिये तथा।
गुणिदेशार्थशब्दाश्चेत्यष्टौ, कालादयः स्मृताः ॥

रूप–हैं, इस प्रकार अस्तित्व के साथ आत्मरूप को लेकर अन्य धर्मों की अभेदवृत्ति मान ली जाती है। जिस प्रकार जीवादिक वस्तुएं अस्तित्व धर्म के आधार हैं उसी प्रकार वे अन्य धर्मों के भी आधारभूत है इस अपेक्षा आधार को लेकर उस अस्तित्व के साथ अन्य अनत धर्मों की अभेदवृत्ति मान ली गई है। जीवादिक द्रव्यों के साथ अस्तित्व धर्म का जो तादात्म्य रूप सम्बन्ध है वही सम्बन्ध अन्य धर्मों का भी जीवादिक द्रव्यों के साथ है–अतः इस विवक्षा से सम्बन्ध को लेकर अस्तित्व के साथ अन्य धर्मों की अभिन्नता मान ली जाती है। जिस प्रकार अस्तित्व धर्म स्वानुरक्तत्वकरणरूप
आ० उपकार करता है इसी तरह अन्य धर्म भी करते हैं अतः उपकार की अपेक्षा अस्तित्व धर्म के साथ अन्य धर्मों की अभेद-
मी० वृत्ति मान ली जाती है। जो गुणी–जीवादिकद्रव्यो–का सम्बन्धी क्षेत्रस्वरूप देश अस्तित्व का है वही क्षेत्र अन्य धर्मों का भी है अर्थात् जो क्षेत्र द्रव्य मे सम्बन्ध रखनेवाले अस्तित्व का है वही क्षेत्र अन्य धर्मों का भी है अतः इस अपेक्षा से
१७४ अस्तित्व धर्म के साथ अन्यधर्मों की अभेदवृत्ति मान ली जाती है। एक वस्तु की अपेक्षा से जो ससर्ग अस्तित्व का है वही ससर्ग अन्य धर्मों का भी है इसलिये ससर्ग की अपेक्षा मे अस्तित्व आदि धर्मों में अभेद मान लिया गया है। जिस "अस्ति" शब्द से अस्तित्व धर्मात्मक वस्तु का ज्ञान होता है, उसी अस्तिशब्द से शेष अनतधर्मात्मक वस्तु का भी ज्ञान होता है। इसलिये शब्द की अपेक्षा से अस्तित्व धर्म के साथ अन्यधर्मों की अभेदवृत्ति मान ली जाती है। द्रव्यार्थिकनय की गौणता और पर्यायार्थिकनय की प्रधानता होने पर काल आदि की अपेक्षा अभेदवृत्ति नहीं बनती है कारण कि एक समय मे एक स्थान पर अनेक गुण नहीं रह सकते। यदि अनेक गुण एक समय में एक वस्तु में रहें तो उन गुणो के आश्रित द्रव्यो के उतने ही भेद मानना पडेगें।

---

१ तत्र स्याज्जीवादिवस्तु अस्त्येव इत्यत्र यत्कालमस्तित्वं तत्कालाः शेषा अनन्तधर्मा वस्तुन्येकत्रेति तेषां कालेनाभेदवृत्तिः। यदेवास्तित्वस्य तद्गुणत्वमात्मरूपं तदेवान्यानन्तगुणानामपीति आत्मरूपेणाभेदवृत्तिः। य एवाधारोऽर्थो द्रव्याख्योऽस्तित्वस्य स एवान्यपर्यायाणामित्यर्थेनाभेदवृत्तिः। य एव चाविष्वग्भावः कथंचित् तादात्म्यलक्षणः सम्बन्धोऽस्तित्वस्य स एव शेषविशेषाणामिति सम्बन्धेनाभेदवृत्तिः य एव चोपकारोऽस्तित्वेन स्वानुरक्तत्वकरणं स एव शेषैरपि गुणैरित्युपकारेणाभेदवृत्तिः, य एव गुणिनः सम्बन्धी देशः क्षेत्रलक्षणोऽस्तित्वस्य स एवान्यगुणानामिति गुणिदेशेनाभेदवृत्तिः, य एव चैकवस्त्वात्मनाऽस्तित्वस्य संसर्गः स एव शेषधर्माणामिति संसर्गेणाभेदवृत्तिः, य एव नास्तीति शब्दोऽस्तित्वधर्मात्मकस्य वस्तुनो वाचकः स एव शेषानन्तधर्मात्मकस्यापीति शब्देनाभेदवृत्तिः। पर्यायार्थिकगुणभावे द्रव्यार्थिकनयप्राधान्या-दुपपद्यते।

—स्याद्वादमंजरी पाना २८४

आ० मी० १७५

अनेक गुणो का (आत्मरूप) स्वरूप परस्पर भिन्न है क्योंकि वह एक दूसरे गुणो मे नहीं रहता इसलिये गुणो मे अभेद नहीं हो सकता। यदि गुणो में परस्पर मे भेद न हो तो गुणों को भिन्न २ नहीं मानना चाहिये। गुणों के आश्रित आधार भी नाना हैं यदि गुणों के आधार अनेक न हो तो वे नाना गुणो के आश्रित नहीं कहे जा सकते। सम्बन्ध की अपेक्षा भी गुणो मे अभिन्नता सभव नहीं क्योकि एक सम्बन्ध से अनेक सम्बन्धियो के साथ सबध नहीं बन सकता। उपकार की अपेक्षा भी गुण परस्पर अभिन्न नहीं हैं क्योकि प्रत्येक गुण का उपकार जुदा २ है कारण कि अनेक गुणो का उपकार अनेक रूप होता है। गुणिदेश की अपेक्षा से भी गुण अभिन्न नहीं हैं क्योकि गुण और गुणिदेश एक हों तो सम्पूर्ण गुणो को एक मानना चाहिये। इसी प्रकार ससर्ग की अपेक्षा भी गुण भिन्न २ है यदि गुण ससर्ग की अपेक्षा अभिन्न हों तो सम्पूर्ण गुणो मे एकत्वापत्ति मानना पडेगी। तथा एक शब्द की अपेक्षा से भी गुण भिन्न हैं यदि एक शब्द से सब गुणो का ज्ञान होने लगे तो समस्त पदार्थों में भी एक शब्द द्वारा वाच्यता की आपत्ति होने से उनके वाचक भिन्न भिन्न शब्दो का अस्तित्व ही दुनिया से मिट जाना चाहिये। इस प्रकार काल आदिकों द्वारा अस्तित्व आदि गुणो की एक वस्तु में अभेदवृत्ति असंभव है। अत: पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा काल आदि से भिन्न २ इन अस्तित्व आदि गुणों में अभेद का उपचार किया जाता है। वास्तव में तो पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से इनमें भेद ही है। इस[1] प्रकार द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से अभेदवृत्ति और पर्यायार्थिक नय की मुख्यता से अभेदोपचार द्वारा अनत धर्मवाले पदार्थ को एक साथ कहने वाले वाक्य को सकलादेश अथवा प्रमाण वाक्य कहा गया है। तथा एक देश से जानी हुई वस्तु को भेदवृत्ति एवं भेदोपचार से क्रम से कहने वाले वाक्य को विकालदेश या नय वाक्य कहा गया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रमाण वाक्य में भी द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक नयो की मुख्यता एवं गौणता रही हुई है। अभेदवृत्ति मे पर्यायार्थिक की गौणता एव अभेदोपचार में द्रव्यार्थिक की गौणता प्रकट है। इस

१—तदेनाभ्यामभेदवृत्त्यभेदोपचाराभ्या कृत्वा प्रमाणप्रतिपन्नानन्तधर्मात्मकस्य वस्तुन: समसमय यदभिधायक वाक्य स सकलादेशः प्रमाणवाक्यापरपर्याय ।।

स्याद्वादमजरी पृष्ठ २८६

प्रकार से इन दोनों में परस्पर विरोध नहीं समझना चाहिये। शास्त्रकारों ने इन दोनों नयो में प्रमाण वाक्य में मैत्री प्रदर्शित १ की है इसलिये प्रमाण एक विकल्प रूप न होकर उभयविकल्परूप होता २ है। इस तरह वादि ने जो शब्द को प्रधान रूप से एक अपने अर्थ का वाचक मानने पर प्रधानरूप से अशेष धर्मात्मक वस्तु का प्रकाशक प्रमाण वाक्य कैसे बन सकता है ऐसी जो शंका की थी उसका उस पूर्वोक्त कथन से समाधान हो जाता है। अतः पद की तरह प्रत्येक वाक्य गुण प्रधानार्थ है सकृत् अनेक प्रधानार्थ नहीं है। अत जब ऐसा कोई वाक्य नहीं है कि जो एक बार मे ही अनेक अर्थों का प्रधान भाव से कथन कर सके तो यह मानना ही पड़ता है कि शब्द या पद एक बार में प्रधानभाव से एक ही अपने अर्थ को प्रतिपादन करने की शक्तिवाला है, एक बार में अनेकार्थों को प्रतिपादन करने की शक्तिवाला नहीं है। शब्द इस अपने स्वभाव को संकेत सहस्त्र से भी परित्याग नहीं कर सकता है। कार्य में कार्यता अपने कारण की अपेक्षा से ही है अन्य कारणों की अपेक्षा से नहीं। इसी तरह कारण भी अपने कार्य की अपेक्षा से माना जाता है अन्य कार्य की अपेक्षा से नहीं। यदि अपेक्षाकृत शक्ति और अशक्ति वाच्य और वाचक में न मानी जाय तो अचाक्षुषत्व आदि शब्दादि के धर्म सिद्ध ही नहीं हो सकते हैं। शब्द में अचाक्षुपता इसीलिये तो है कि वह रूप की तरह चाक्षुष ज्ञानजननशक्ति से विकल है, अर्थात् जिस तरह रूप चाक्षुष ज्ञान जनन शक्ति युक्त है अतएव वह चक्षु इन्द्रिय का विषय है उस तरह शब्द में यह शक्ति नहीं है अत· वह चाक्षुष नहीं है। इसी तरह वह रसना इन्द्रिय का विषय नहीं है क्योंकि यदि उसमें रस की तरह रसज्ञानजननसमर्थता होती तो वह रसना इन्द्रिय का विषय होता। परन्तु ऐसी उसमे शक्ति नहीं है। इसी तरह वह गन्ध आदि की तरह घ्राणादि ज्ञान जनन पटु भी नहीं है, अत वह घ्राण इन्द्रिय आदि का विषय

---

१ बिधिपूर्वः प्रतिषेध प्रतिषेधपुरस्सरो विधिस्त्वनयो.
मैत्री प्रमाणमिति वा स्वपराकारावगाहि यज्ज्ञानम् ॥

२ अयमर्थोऽर्थविकल्पो ज्ञानं किल लक्षणं स्वतस्तस्य।
एकविकल्पो नयसादुभयविकल्प· प्रमाणमिति बोधः ॥

पंचाध्यायी प्रथम अ० ६६५। सामान्यविशेषात्मा तदर्थो विषयः। परीक्षामुख अ० ४ सूत्र १

भी नहीं होता है। इस तरह शब्द में भिन्न २ इन्द्रियों द्वारा अविषय होने की शक्ति की अपेक्षा अचाक्षुषत्व, अरासनत्व, एवं अघ्राणीयत्वादि धर्म सिद्ध होते हैं । तथा कर्णेन्द्रियज्ञानजननशक्ति की अपेक्षा उसमें कर्णविषयपना सिद्ध होती है। इस तरह जब शब्द मे शक्ति और अशक्ति को उल्लघन न करके अचाक्षुषत्वादिक एवं चाक्षुषत्व धर्म सिद्ध होते हैं, तब यह भी मानना चाहिये कि सदादिक पदों में सत्त्वादिक एक ही धर्म को प्रतिपादन करने की शक्ति रही हुई है वह इस शक्ति का उल्लंघन नहीं कर सकता है। तथा एक ही वार में प्रधानभाव से अर्पित अनेक धर्मों को कथन करने की उस
आ० सदादिक पद की शक्ति नहीं है सो वह इस अपनी अशक्ति का भी अतिक्रम नहीं कर सकता है -इसलिये वह प्रधानभाव
मी० से अर्पित अनेक धर्मों को एक वार में विषय नहीं करता है। इस प्रकार सत् एव असत् शब्दो के द्वारा युगपत् अनेक
१७७ धर्मों का एव उन विशिष्ट अर्थ का प्रतिपादन नहीं होता है। इस अपेक्षा कथंचित् जीवादिक वस्तुएं अवक्तव्य हो हैं यह चतुर्थ भग बन जाता है।

इस प्रकार यहां तक प्रथम, द्वितीय, तृतीय एव चतुर्थ भंगों का निरूपण किया गया है। इनमें प्रथम भंग में द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता, द्वितीय भग में पर्यायार्थिक नय की मुख्यता, तृतीय में क्रमशः उभय नयों का मुख्यता एवं चतुर्थ में युगपत् इन दोनों नयों की प्रधानता हुई है।

कारिकास्थ "अवक्तव्योतरा,, पदका अर्थ ऐसा है कि "अवक्तव्य" यह पद जिनके आगे है ऐसे अवशिष्ट "त्रयो भंगाः" तीन भंग "स्वहेतुतः" अपनी २ विवक्षा के वश से समझ लेना चाहिये। वे १ तीन भंग इस प्रकार हैं– स्यादस्ति अवक्तव्य, स्यान्नास्ति अवक्तव्य एवं स्यादस्ति नास्ति अवक्तव्य। इनमें जो चतुर्थ भंग स्यादस्ति अवक्तव्य है उसमें द्रव्य और पर्याय की व्यष्टि और समष्टि रूप में विवक्षा हुई है अर्थात् जब यह कहा जाता है कि जीजादिक

---

१ द्रव्यपर्यायौ व्यस्तसमस्तौ समाश्रित्य चरमभङ्गत्रयव्यवस्थानं, अष्टशती, २ स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति विधिप्राधान्येन युगपद्विधिनिषेधानिवर्चनीयख्यापनाकल्पनाविभजनया पचमो भग स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति निषेधप्राधान्येन युगपद्विधिनिषेधानिर्वचनीय कल्पनाविभजनया षष्ठो भग.।

द्रव्य हैं और अवक्तव्य भी हैं तब इस प्रकार के कथन में द्रव्यार्थिक नय की प्रधान विवक्षा से तथा युगपदुभयनयों की विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथचित् सत्स्वरूप है और अवक्तव्य ही है ऐसा चतुर्थभंग वन जाता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि स्वद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा से तथा स्वद्रव्यादि एवं परद्रव्यादि चतुष्टय की युगपत् विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् सत् स्वरूप और कथचित् अवक्तव्य स्वरूप ही है । स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव इस छठवें भंग मे पर्यायार्थिक नय की प्रधानता से एवं युगपत् द्रव्य और पर्याय नयों की विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् असत्स्वरूप हैं एव कथंचित् अवक्तव्य स्वरूप है । इसे यों भी कह सकते हैं कि परद्रव्यादि चतुष्टय की विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् नास्तित्व विशिष्ट हैं एवं युगपदुभय धर्मों की विवक्षा में कथंचित् अवक्तव्य ही हैं। इसी तरह स्यादस्त्येव१ स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव इस सप्तमभंग की विवक्षा में क्रमार्पित द्रव्य और पर्याय की अपेक्षा से तथा सहार्पित द्रव्यपर्याय की अपेक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् सत् स्वरूप कथंचित् असत् स्वरूप एवं कथचित् अवक्तव्य स्वरूप ही है । इसे यों भी कह सकते हैं कि क्रम से अर्पित स्वचतुष्टय एव परचतुष्ट से एव युगपत् अर्पित स्वपरचतुष्ट की विवक्षा से जीवादिक वस्तु कथंचित् सत् स्वरूप है कथचित् असत्स्वरूप एव कथंचित् अवक्तव्य स्वरूप ही है। इस तरह यह सप्तभंगी है । इसके प्रत्येक भग सकलादेश एवं विकलादेश स्वरूप हैं। यह पीछे वता दिया गया है कि सकलादेश प्रमाणवाक्य है और विकलादेश नयवाक्य है । नय वस्तु के एक धर्म को लेकर भेद वृत्ति या भेदोपचार से उसका कथन करता है । इस तरह क्रमार्पित दोनों धर्मों की अपेक्षा से वस्तु कथंचित् द्वैत, सहार्पित दोनों धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् अवाच्य, सत्व की एवं सहार्पित दोनों धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् सत् एवं कथंचित् अवक्तव्यादि रूप सिद्ध होती है । १

---

१ स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेवेति सदसदंशप्राधान्यकल्पनया युगपद्विधिनिषेधानवंचनीयत्वापनाकल्पनाविभजनया च सप्तमो भगः ।

१ नोट–इसमें (सोलहवीं कारिका के अर्थ मे) प्रमाण की जो चर्चा की गई है उसमें कुछ सन्देह है। वर्तमान में उसकी यहां निवृत्ति का उपाय न मिलने से वह निवृत्ति नहीं हो पाई है। ग्रन्थकार एवं अन्य टीकाओं के अभिप्राय मे उसे यहां ज्यों का त्यों लिख दिया गया है। अ०

अस्तित्वं प्रतिषेध्येनाविनाभाव्येकधर्मिणि ।
विशेषणत्वात् साधर्म्यं, यथाभेदविवक्षया ॥ १७ ॥

अन्वय—भेदविवक्षया यथा साधर्म्यं (तथा) विशेषणत्वात् अस्तित्वं (अपि) एक धर्मिणि प्रतिषेध्येन अविनाभावी ।

अर्थ—जिस प्रकार साधर्म्य-अन्वय-भेदविवक्षा के-व्यतिरेक के-साथ अविनाभावी होता है उसी तरह विशेषण होने से अस्तित्व भी एक धर्मी मे प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी है ।

भावार्थ–कारिकाकार इस कारिका द्वारा वह प्रदर्शित कर रहे हैं " कि जो इस बात को कहते हैं कि केवल अस्तित्व ही वस्तु का स्वरूप है, नास्तित्व नहीं । क्योंकि वह पराश्रयी है । पराश्रयी इस नास्तित्व को यदि वस्तु का स्वरूप माना जाय तो ऐसी हालत में अतिप्रसग नाम का दूषण आता है-पटादि के आश्रित रहे हुए रूपादिकों को भी विवक्षित घट का स्वरूप मानना पडेगा,,–। सो उनका यह कथन ठीक नहीं है कारण कि "अस्तित्वं एकधर्मिणी प्रतिषेध्येन अविनाभावि विशेषणत्वात्" इस अनुमान द्वारा विशेषण होने से अस्तित्व एव नास्तित्व ये दोनों धर्म परस्पर अविनाभावी सिद्ध होते हैं । अस्तित्व को छोड़कर नास्तित्व एवं नास्तित्व को छोड़कर अस्तित्व एक धर्मी मे स्वतंत्र रूप से नहीं रहते है । "एकधर्मिणि" इस पद से कारिकाकार ने इसी बात की पुष्टि की है । भिन्नाधिकरणवाला अस्तित्व नास्तित्वाविनाभावी नहीं होता है । यह तो प्रत्यक्ष से ही प्रतीति में आता हैं कि घटादिक रूप एक धर्मी में स्वरूप की अपेक्षा जो अस्तित्व है वह पटादिरूप से घट के नही होने के कारण नास्तित्व के साथ वहां अविनाभावी है । "यह घट है,, जैसी घट में यह अस्तित्वमुखेन अबाधित प्रतीति होती है उसी तरह से यह घट पट नहीं है इस प्रकार की नास्तित्व प्रतीति भी उसमें अबाधित रूप से होती है । अतः अस्तित्व के साथ नास्तित्व भी वहां रहा हुआ है ।

शका—अस्तित्व को नास्तित्वाविनाभावी सिद्ध करने के लिये जो आपने अन्वय एव व्यतिरेक को दृष्टान्त

कोटि में रक्खा है वह ठीक नहीं है। कारण कि जो केवलान्वयी १ हेतु होता है उसमें व्यतिरेकाविनाभाविता नहीं होती है। शंकाकार की शंका का अभिप्राय यह है कि जैसे अदृष्ट आदि किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमेय है, जैसे अग्नि आदि पदार्थ। इस अनुमान प्रयोग में "यत्र २ अनुमेयत्वं तत्र २ कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं,, इस प्रकार का अन्वय २ तो है कारण कि अन्वय व्याप्ति का प्रदर्शक अग्न्यादि दृष्टान्त है। परन्तु "यत्र कस्यचित्प्रत्यक्षत्व नास्ति तत्र अनुमेयत्वं नास्ति" इस प्रकार का व्यतिरेक ३ यहां नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थ पक्ष और सपक्ष के अन्तर्गत हो चुके हैं। अत जब यहां विपक्ष नहीं है तव ऐसी हालत में यह कैसे माना जा सकता है कि अन्वय व्यतिरेकाविनाभावी होता है ?

उत्तर–ऐसा कहना उचित नही है। कारण कि "तत्रापि तदुभयसद्भावात्" केवलान्वयी हेतु में भी साधर्म्य और वैधर्म्य इन दोनो का सद्भाव रहा हुआ है। इसी तरह नित्य और अनित्य के साधक जो भी हेतु है उनमें भी साधर्म्य वैधर्म्याविनाभावी है। जैसे–जब यह कहा जाता है कि जीव अथवा शब्दादिक, चेतन वा अचेतन जितने भी पदार्थ हैं वे सब परिणामी ४ हैं क्योकि वे सब प्रमेय हैं, सत्त्व विशिष्ट है, वस्तु स्वरूप हैं, अथवा अर्थक्रियाकारी हैं। इस प्रकार शब्दादिकों को पक्ष करके परिणामी रूप साध्य को सिद्ध करने के लिये दिये गये इन प्रमेयत्वादिक हेतुओं में "यत्र २ प्रमेयत्वादिः तत्र २ परिणामी यथा घट" जहां २ प्रमेयत्वादिधर्म है वहां २ परिणामित्व साध्य है जैसे घट "इस अन्वय की तरह" यत्र २ न परिणामित्वं तत्र २ न प्रमेयत्वं यथा खपुष्पमिति 'जहां परिमाणित्व नही है वहां प्रमेयत्वादिक हेतु भी नहीं रहते हैं जैसे "आकाशपुष्प,, यह व्यतिरेक भी मौजूद है। मतलब कहने का यह है कि हेतु का साध्य के अधिकरण में रहना यह साधर्म्य है एवं साध्याभाव के अधिकरण में हेतु का नहीं रहना यह वैधर्म्य है।

---

१ पक्षसपक्षवृत्तिर्विपक्षरहितः केवलान्वयी-यथा अदृष्टादय कस्यचित्प्रत्यक्षा. अनुमेयत्वात् अग्न्यादिवत्। न्यायदीपिका पृ० ८६
२ यत्सत्त्वे यत्सत्त्व अन्वय।

१ यदभावे यदभावो व्यतिरेकः। २ सर्वमित्यमनित्य वेति प्रतिज्ञायाऽभिप्रेत्य वा प्रमेयत्वादि हेतूपादानेऽपि व्यतिरेकोऽस्त्येव प्रमेयत्वस्य वस्तुधर्मत्वात्। अष्टशती।

प्रकृत में 'जीवः परिणामी प्रमेयत्वात्" इस उदाहरण में साध्य परिणामी का जो अधिकरण जीव है उसमें हेतु प्रमेयत्व के रहने का निश्चय है तथा साध्य के अभाव–अपरिणामित्व का अधिकरण जो खपुष्पादिक हैं उसमें उसका नहीं रहना रूप वैधर्म्य है, अत साधर्म्य वैधर्म्यविनाभावी है यह नियम बिल्कुल ठीक है। इसी तरह अस्तित्व भी एक धर्मी में नास्तित्व के साथ विशेषण होने से अविनाभूत है।

—आपने साधर्म्याविनाभावी सिद्ध करने के लिये जो खपुष्प को दृष्टान्त कोटि में रक्खा है वह ठीक नहीं है। कारण कि वहां प्रमेयत्व का अभावरूप वैधर्म्य आता नहीं है। यदि वही प्रमेयत्व का अभावरूप वैधर्म्य मान्य किया जाय तो "खपुष्प" इस तरह का वहां व्यवहार ही नही हो सकता। अतः जब इस प्रकार का व्यवहार होता है तो प्रमेयत्व का अभाव दिखला कर जो आप प्रमेयत्व हेतु को वैधर्म्याविनाभावी सिद्ध कर रहे है वह १ ठीक नहीं।

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि खपुष्पादिक को "खपुष्पादयोऽप्रमेयाः" इस प्रकार के व्यवहार होने से यदि प्रमेयत्वादिक हेतुओ का सपक्ष माना जाय-प्रमेय स्वरूप अंगीकार किया जाय-तो फिर इस प्रकार से प्रमाण की कोई कीमत ही नही रहती। कारण कि तुम्हारी मान्यतानुसार प्रमेयाभाव भी प्रमाण का जो विषय-प्रमेय हो जाता है। तथा च "अय प्रमेय असौ प्रमेयाभाव" यह प्रमेय है यह प्रमेयाभाव है इस प्रकार की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। दूसरी बात यह भी है कि जिस प्रकार "स्वलक्षणमनिर्देश्य कल्पनापोढमभ्रान्त प्रत्यक्ष" स्वलक्षण अनिर्देश्य है, प्रत्यक्ष कल्पनापोढ है इस प्रकार से स्वलक्षण में अनिर्देश्यता एव प्रत्यक्ष में कल्पनापोढता मानने पर भी स्वलक्षण अनिर्देश्य है प्रत्यक्ष कल्पना से रहित है इस प्रकार का व्यवहार होता है -इसमें कुछ भी विरोध नही आता है- उसी प्रकार "खपुष्पादयोऽप्रमेया" इस प्रकार का खपुष्पादिक में व्यवहार होने पर भी उसमे अप्रमेयता का कुछ भी विरोध नही आता है। खपुष्पादिक अप्रमेय इसलिये है कि उनकी परिच्छित्ति करने में प्रमाण का अभाव है जिस प्रकार

१—खपुष्पादयोऽपि तत्र व्यवहारमिच्छता प्रमेयाः प्रतिपत्तव्या इति न किञ्चित् प्रमाण प्रमेयाभावस्यापि तथाभावानुषंगेणाव्यवस्थानुषगात्। न चैतद्विरुद्ध स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यर्थादिवत्। अष्टशती०

प्रमेयाभाव की परिच्छित्ति किसी भी प्रमाण से नहीं होती है उसी प्रकार खपुष्पादिक भी किसी भी प्रमाण से प्रमित नहीं होते हैं। प्रमाण के अभाव में भी यदि खपुष्पादिको को प्रमेय माना जायगा तो प्रमेयाभाव को भी प्रमेय मानाना पडेगा-तथा च प्रमेय एवं प्रमेयाभाव की व्यवस्था कैसे बन सकेगी। अतः खपुष्पादिक अप्रमेय हैं ऐसा ही मानना चाहिये। इस कथन से " घटादिक की तरह शब्द विकल्प के विषय होने से खपुष्पादिक प्रमेय है " ऐसा जो किसी का कथन है वह भी निरस्त समझ लेना चाहिये। क्योकि इस अनुमान का हेतु प्रमेयाभाव से व्यभिचरित हो जाता है। यदि इसपर यो कहा जाय कि प्रत्यक्ष एवं अनुमान से प्रमीयमान होने से खपुष्पादिक प्रमेय हैं सो ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि इस अनुमान मे हेतु असिद्ध है। खपुष्पादिक प्रत्यक्ष से प्रमेय इसलिये नहीं हो सकते हैं कि वे उसमे स्वाकार के अनर्पक हैं। प्रत्यक्ष मे जो प्रमेय अपने आकार का अर्पक होता है वही उसका विषय होता माना गया है। खपुष्पादिक अभाव स्वरूप होने से अपने आकार का अर्पण प्रत्यक्ष में नहीं करते है इसलिये वे उसके विषय नहीं हो सकते हैं। अनुमान द्वारा भी खपुष्पादिक इसलिये नहीं जाने जाते हैं कि उनका उसके साथ न कार्य रूप से प्रतिबन्ध है और न स्वभाव रूप से। स्वभाव लिङ्गरूप प्रतिबन्ध तथा कार्य लिङ्ग रूप प्रतिबन्ध भावात्मक पदार्थों का होता है अभावात्मक पदार्थों का नहीं। यदि खपुष्पादिको का संबध किसी स्वभाव रूप हेतु से माना जायगा तो उनमें निस्स्वभावत्व का विरोध होगा। यदि कार्य हेतु के साथ उनका प्रतिबंध स्वीकार किया जायगा-तो उनमे अर्थ क्रियाकारित्व का सद्भाव होने से उन्हें सत् स्वरूप पदार्थ मानना पडेगा-तथा च "खपुष्पादयोव्यवह्रियेरन् सन्त" खपुष्पादिक भावस्वरूप-पदार्थ रूप-से व्यवहृत होने लगेंगे। यदि इस पर यो कहा जाय कि प्रत्यक्ष और अनुमान के विषयभूत न होने पर भी खपुष्पादिको को प्रमेय मानने में क्या आपत्ति है भले ही वे प्रत्यक्ष में अपने आकार को अर्पित न करें और स्वभावलिङ्ग रूप एवं कार्यलिङ्ग उनका कुछ भी लिङ्ग न हो। सो ऐसा कहना भी ठीक नही। कारण कि इस प्रकार का कथन स्वीकृत प्रमाणो की सख्या का विघातक १ होता है। मतलब इसका यह है कि जब खपुष्पादिक स्वीकृत प्रत्यक्ष एवं अनुमान प्रमाण के विषयभूत नहीं

---

१ दर्शने स्वाकारमनर्पयता स्वभावकार्यप्रतिबन्धाभावेप्रमेयत्वं प्रमाणान्तरमवश्यमाकर्षति। ततो विप्रतिषिद्धमेतत् खपुष्पादीनां प्रमेयत्व प्रमाणद्वयानियमविरोधात्।

होते हैं और फिर भी उन्हे बौद्ध सिद्रान्त प्रमेय प्रमाण का विषय-स्वीकार करता है तो ये जिस प्रमाण के विषय माने जावेंगे वह प्रत्यक्ष एवं अनुमान से अतिरिक्त एक तीसरा ही प्रमाण होगा। जो बौद्धो की मान्य दो प्रमाणो की संख्या का विघातक सिद्ध होगा। दूसरे–जिस तृतीय प्रमाण की कल्पना इन्हे प्रमेय मानने के लिये करना पडेगी उससे लाभ भी कुछ नहीं होगा। कारण कि खपुष्पादिको में प्रमाण द्वारा विषयभूत होने रूप धर्म की अनाश्रयता है। अर्थात् इनमें इतनी योग्यता ही नहीं है जो घे प्रमाण के विषयभूत हो सकें। यदि इन्हे प्रमाण के विषयभूत होने की योग्यता वाले माना

आ० जाय तो फिर इनमे वस्तुता की आपत्ति आने से ये सत् हैं ये असत् हैं इस प्रकार जो सत् एवं असत् पदार्थों की व्यवस्था

मी० है वह नहीं बन सकेगी और इस प्रकार की व्यवस्था की अनुपपत्ति में सत् असत् के व्यवहार का अभाव मानना पडेगा।

१८३ शंका—सत् और असत् का व्यवहार क्यों नही बन सकेगा-अवश्य बन जायगा। खपुष्पाभाव का मतलब तो यही है कि "पुष्परहितं खमेव खे पुष्पाभावः" पुष्प रहित जो आकाश है वही आकाश में पुष्प का अभाव है। अतः आकाश स्वरूप जो स्वलक्षण है वही खपुष्पाभाव है। इस अपेक्षा सत् और असत् की व्यवस्था बन जाने से सत् असत् का व्यवहार बन जायगा।

उत्तर—ऐसा कहना १ उचित नहीं है। कारण कि इस प्रकार के कथन में विधि और प्रतिषेध में एक विषयता आती है। जब पुष्प रहित आकाश ही खपुष्पाभाव स्वरूप माना जायगा तो पुष्प रहित आकाश की उपलब्धिविधि स्वरूप होने से सत् स्वरूप है और वही अपने में पुष्प का अभाव नियम-प्रतिषेध स्वरूप होने से असत् स्वरूप है। इस अपेक्षा विधि ही प्रतिषेध स्वरूप पडने से विधि और प्रतिषेध में एक विषयता का संभव होता है। परन्तु इन दोनों में सर्वथा एक विषयता तो मानी नही जा सकती। क्योंकि विधि का विषय दूसरा है और प्रतिषेध का विषय दूसरा है। विधि आकाश-भावस्वरूप एव प्रतिषेध खपुष्पभाव–अभावस्वरूप है। इस लिये इन दोनों का विषय भिन्न है। अतः इनमें

१ न च स्वलक्षणमेवान्यापोहः सर्वथा विधिनियमयोरेकतानत्वासंभवात्। अष्टशती

भाव और अभाव की अपेक्षा स्वभाव भेद की उपलब्धि स्पष्ट है। अत प्रमेयत्वादिक हेतुओं में साधर्म्य वैधर्म्याविनाभावी है यह कथन सर्वथा निर्दोष है।

शका — संकेतविशेष की अपेक्षा लेकर शब्दविकल्पविशेष से एक ही विषय में विधि और नियम का संभव
हो जायगा — तब स्वभाव भेद मानने की क्या आवश्यकता है। शंकाकार की इस शंका का अभिप्राय यह है कि जब
आ० विधि और प्रतिषेध मे एक विषयता हटाने के लिये आप उनमे जो स्वभावभेद प्रतिपादित कर रहे हैं सो ऐसा ही क्यों
मी० न मान लिया जाय कि विधि और निषेध को प्रकट करने के लिये एक शब्द हो और उसमें इस प्रकार का संकेत विशेष
१८४ कर दिया जाय जो विधि और निषेध को प्रकट कर दे—जैसे कल्पना करो—कि " ख " यह शब्द है यह आकाशपदार्थ
के कहने में संकेतित हुआ है। अब यही एक शब्द अपने आकाशरूप अर्थ का विधान करता हुआ वहीं पर पुष्प का
अभाव भी प्रकट करता है। इस प्रकार विधि और निषेध में स्वभावतः भेदमानने की जरूरत ही नहीं रहती है। संकेतित शब्द से ही विधि और निषेध एक विषय में विना किसी स्वभाव भेद के सभव हो जाते हैं।

उत्तर—स्वभावभेद के विना सकेत विशेष नहीं हो सकता है। वस्तु के स्वभावभेद निबन्धनक ही संकेत विशेष होता है। यदि विधि और निषेध में वस्तुतः स्वभाव भेद न माना जाय तो उस प्रकार का संकेतविशेष वहां पर हो ही नहीं सकता है। इसलिये विधिस्वरूप आकाशादि एवं निषेधस्वरूप खपुष्पादि मे स्वभाव माने बिना काम नहीं चल सकने के कारण उनमें स्वभावभेद [1] मानना ही चाहिये। नहीं तो " विधि निषेध " इस प्रकार का शब्दविशेष और इसी प्रकार का विकल्प प्रत्ययविशेष वहां उत्पन्न नहीं हो सकता।

शंका—यह बात आपने खूब कही कि स्वभाव भेद के विना सकेत विशेष और संकेतविशेष के विना अभिधान एवं प्रत्यय विशेष नही हो सकते, हम देखते है कि जिस पत्थर आदि में इन्द्र की स्थापना की जाती है वह पत्थर यद्यपि

---

१ तत्स्वभावभेदाभावे च सकेतविशेषानुपपत्तेरभिधानप्रत्ययविशेषोऽपि भाभूत्तवन्यतरवत। अष्टशती।

इन्द्र के स्वभाव जैसा नहीं होता है तो भी उसमें व्यवहारी जन के सकेतविशेष से " इन्द्र " इस प्रकार का अभिधान विशेष एव " इन्द्र " इसप्रकार का प्रत्ययविशेष होता है। इसलिये हम यह बात कैसे कबूल करें कि वस्तु के स्वभाव भेद विना सकेतविशेप नहीं हो सकता है। अर्थात् जब इस प्रकार से स्वभाव भेद विना भी तत्प्रकार का—उस तरह का-संकेतविशेप होता हुआ देखा जाता है तब यह कहना कि वस्तु के स्वभाव भेद के अभाव में वहां संकेतविशेप की अनुप-
आ० पत्ति है कोई महत्त्व नहीं रखता । तथा संकेत विशेष की अनुपपत्ति में " ख अस्ति तत्पुष्प नास्ति " इस प्रकार का अभिधान विशेष एवं प्रत्यय विशेष भी उत्पन्न नहीं हो सकता ऐसा जो कहा गया है सो वह भी अब ठीक नहीं
मी० जचता अर्थात् " खं अस्ति तत्पुष्प नास्ति " इस प्रकार का अभिधान विशेष एव प्रत्यय विशेष भी हो सकता है। कारण
१८५ कि ये अभिधान एव प्रत्ययविशेष संकेतविशेष के ऊपर निर्भर थोडे ही हैं—जो उसके नहीं होने पर न हों। ये तो अनादिकालीन वासना से उद्भूतविकल्प के आधीन हैं अत उससे ही ये होते हैं।

उत्तर—इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है। कारण कि समस्त शब्दों में समस्त अर्थों को प्रतिपादन करने की विचित्र शक्तियां हैं। अर्थात् हरएक शब्द हरएक अर्थ को प्रधान गुणभाव से प्रतिपादन करने की शक्तिस्वभाव-वाला है। इसी तरह समस्त पदार्थों मे ऐसी नाना शक्तियां है—कि जिनके कारण वे प्रधान एव गुण भाव से समस्त शब्दों द्वारा वाच्य हो सकते हैं। यह पहिले प्रमाण की चर्चा में प्रकट किया जा चुका है। मतलब कहने का यह है कि शब्द सहज योग्यता के होने पर ही सकेत के वश से वस्तु का प्रतिपादन किया करता हैं। शब्द में और अर्थ मे स्वाभाविक रूप से वाच्य वाचक सम्बन्ध रहा हुआ है। शब्द वाचक हैं और पदार्थ वाच्य हैं। पदार्थ शब्द के द्वारा प्रधान गुण भाव से वाच्य होता है। इसी तरह शब्द भी प्रधान गुण भाव से पदार्थ का वाचक होता है। पदार्थ अनिन्द्रस्वभाव भी हो परन्तु इन्द्र शब्द द्वारा वहां वाच्यत्व शक्ति का सद्भाव रहा हुआ है। इसीलिये तो उसमें व्यवहारीजन इन्द्र शब्द के द्वारा इन्द्र अर्थ का संकेत कर लिया करते हैं। इससे वहां " इन्द्र " यह अभिधान और " इन्द्र " इस प्रकार का प्रत्यय बन जाता है। अनिन्द्र स्वरूप पदार्थ में जब अनिन्द्र शब्द की प्रवृत्ति होगी उस समय अनिन्द्र यह शब्द अपने अर्थरूप

इन्द्राभाव को प्रधानरूप से कहेगा परन्तु फिर भी उस पदार्थ में उस समय भी इन्द्र शब्द द्वारा वाच्यत्व शक्ति का अभाव नहीं होगा वह भी रहेगी इसीलिये उसमें " इन्द्र " इस प्रकार का व्यवहारी जनों द्वारा संकेत किया जा सकता है । नहीं तो इस प्रकार का सकेत वहां हो ही नहीं सकता । अतः यह मानना ही पड़ता है कि वस्तु के अन्दर इन्द्र स्वभाव और अनिन्द्र स्वभाव ये दोनों धर्म हैं और उन दोनों में भेद है । यदि यह भेद नही होता तो " इन्द्र " इस प्रकार
आ० का वहां सकेत ही नहीं हो सकता और इस संकेत के अभाव में इन्द्र इस प्रकार का अभिधान एवं प्रत्यय ये दोनो वहां
मी० नहीं हो सकते । अतः सकेत, वस्तु का स्वभाव भेद है कारण जिसका ऐसा ही है ।

१८६ इसके बिना वह वस्तु में कथमपि नहीं हो सकता है । संकेत के अभाव में अभिधान एवं प्रत्यय विशेष भी नहीं हो सकते हैं । यदि वस्तु स्वभाव भेद के बिना भी वहां सकेत विशेष होने लगे और संकेत विशेष के बिना प्रत्यय विशेष होने लगे तो जिसप्रकार खपुष्प में " नास्ति " यह प्रत्यय विशेष होता है उसी प्रकार आकाश में भी यह क्यों नहीं हो सकेगा, अवश्य हो सकेगा । अथवा जिस प्रकार आकाश मे " अस्ति " यह प्रत्यय होता है उसी प्रकार ख पुष्प में भी अस्ति यह प्रत्यय होने लगेगा कारण कि सकेत को तो आप सर्वथा वस्तुस्वभाव भेद के बिना ही होता हुआ मान रहे हैं । अत इन समस्त दोषों को दूर करने के लिये यही मानना चाहिये कि विधि और प्रतिषेध ये दोनों प्रत्यय प्रति-नियत विषयवाले हैं । क्योंकि इनमें किसी प्रकार का बाधक प्रतीत नहीं होता है । इसलिये स्वलक्षण ही अन्यापोह है यह बात ठीक नहीं है । क्योंकि स्वलक्षणभावस्वरूप और अन्यापोह प्रतिषेध स्वरूप है । पदार्थ के जितने भी पर रूप है उतने उन से परावृत्तिस्वरूप स्वभाव भेद प्रतिक्षण जब उन पदार्थों में हैं तब यह कहना कि स्वलक्षण ही अन्यापोह है व्यवस्थित नहीं माना जा सकता कारण कि अन्यापोह संबन्ध्यन्तरापेक्ष है और वे सबन्ध्यन्तर उस स्वलक्षण के स्वरूप-भूत नहीं हैं । क्योंकि वे संबन्ध्यन्तर उसके पररूप हैं । यदि वे संबन्ध्यन्तर उसके पररूप नहीं माने जाय तो उनसे उस स्वलक्षण की परावृत्ति–व्यावृत्ति–नहीं बन सकती है । संबन्ध्यन्तर रूप पररूप भी यदि स्वलक्षणरूप भाव के स्वभाव के भेदक नहीं हो तो फिर बौद्धसिद्धान्त में " नित्यपदार्थ के मानने में क्रमशः अर्थ क्रिया नही बन सकती है इस प्रकार

का जो निषेध किया गया है" वह ठीक नहीं बैठता है। कारण कि नित्य पदार्थ के मानने पर भी जो उसके संबन्ध्यन्तर होंगे वे ही सब कादाचित्क होंगे और उनसे क्रमशः अर्थक्रिया निष्पन्न होती रहेगी।

इसलिये नित्यवादियों के ऊपर जो यह अनित्यवादी बौद्धों द्वारा आक्षेप किया जाता है कि वह अप्रच्युत, अनुत्पन्न एवं स्थिरैकरूप नित्य पदार्थ जो अर्थक्रिया करेगा वह क्रमसे करेगा या अनुम से करेगा। वह क्रम से अर्थ क्रिया
आ० करता है तो ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि नित्य पदार्थ समर्थ है इसलिये कालान्तर में होने वाली क्रियाओं
मी० को भी वह प्रथम क्षण में होनेवा[ली] [क्रि]याओं के साथ२ ही कर देगा क्योंकि " समर्थस्य कालाक्षेपायोगात् " समर्थ के
१८७ लिये [...] की आवश्यकता जो नहीं होती है। यदि वह अर्थक्रिया करने में विलम्व—कालक्षेप—करता है तो वह सामर्थ्यवान् नहीं कहा जा सकता। यदि इस पर यों कहा जाय कि नित्य पदार्थ तो समर्थ है पर वह विना सहकारी के कार्य नहीं कर सकता—अतः सहकारी कारणों के क्रमशः मिलने पर वह भी क्रमश ही अर्थ क्रिया करेगा—सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है क्योंकि इस प्रकार के कथन से नित्य पदार्थ की अर्थक्रिया करने के प्रति असमर्थता ही प्रकट होती है। जो असमर्थ होता है वही परापेक्षा वाला होता है। समर्थ नहीं। " सापेक्षमसमर्थं " ऐसा न्याय का वचन है। यदि फिर भी इस पर यों कहा जाय कि कार्य ही सहकारी कारणो की अपेक्षा रखता है नित्य नही सो यह भी कहना युक्ति युक्त प्रतीत नहीं होता हैं। क्योंकि यहां पर भी यही प्रश्न होता है कि वह नित्य पदार्थ अर्थक्रिया करने में समर्थ है या असमर्थ। समर्थ यदि है तो सहकारी कारणों के मुख की तरफ उसे देखना उचित नहीं हैं। शीघ्र ही उसे अपना कार्य कर डालना चाहिये।

यदि इसके समाधान में यह कहा जाय कि जिस प्रकार बीज के समर्थ होते हुए भी वह बीज पृथिवी, जल, वायु आदि के सहकार से ही अंकुर को उत्पन्न करता है उनके विना नहीं, उसी प्रकार नित्य पदार्थ समर्थ होते हुए भी सहकारियों के विना कार्य नहीं कर सकता तो प्रश्न होता है कि वे सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ का कुछ उपकार करते हैं या नहीं ? यदि वे सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ का उपकार करते है तो वह कृत उपकार उस नित्य

पदार्थ से भिन्न है या अभिन्न है। यदि वह कृत उपकार उस नित्य पदार्थ से भिन्न है ऐसा माना जावे "कथं तस्योपकारः किं न सह्यविन्ध्याद्रेरपि" तो यह उपकार नित्य पदार्थ का ही है सह्य अथवा विंध्याद्रि का नहीं है इसमें नियामक क्या। कारण कि जिस प्रकार सहकारी कारणों द्वारा संपादित उपकार नित्य से जुदा है उसी प्रकार वह सह्य एवं विन्ध्याद्रि से भी है। अत. भिन्नत्व की अविशेषता में यह उसी का है इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। यदि कृत उपकार को नित्य के साथ सम्बन्धित करने के लिये उन दोनों का सम्बन्ध स्वीकार कर यह कहा जाय कि "तस्यायं" यह उपकार इसी का है सह्यविन्ध्याद्रि का नहीं–सो इस पर भी यह पूछा जा सकता है कि उपकार और उपकार्य का सम्बन्ध परस्पर में क्या है। क्या संयोग सम्बन्ध है या समवाय सम्बन्ध है? संयोग तो दो द्रव्यों का ही होता है। द्रव्य और क्रिया का नहीं। उपकार्य नित्य पदार्थ द्रव्य है और उपकार क्रिया है। समवाय सम्बन्ध भी इन दोनो में नियमित इसलिए नहीं हो सकता कि "तस्यैकत्वात् व्यापकत्वाच्च प्रत्यासत्तिविप्रकर्षाभावेन सर्वत्र तुल्यत्वात् न नियतै. सम्बन्धिभिः सम्बन्धोयुक्तः" वह एक और व्यापक माना गया है। इसलिये वह न किसी पदार्थ के पास है और न उससे दूर ही वह तो सबके साथ समान है। अत वह नियत सम्बन्धियों के साथ कैद कैसे हो सकता है। यदि कृत उपकार को नित्य से अभिन्न माना जावे तो "स एव कृतः इति लाभमिच्छतो मूलक्षतिरयाता" नित्यपदार्थ में कृतकता आ जाती है। इस प्रकार लाभ की इच्छा के बजाय उल्टी मूल में ही क्षति आ जाती है।

नित्य पदार्थ यदि अक्रम--युगपत्--अर्थ क्रिया करता है ऐसा माना जाय तो यह भी समझ में आने जैसी बात नहीं है। कारण कि इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती है। यदि मान भी लिया जाय कि वह अक्रम से समस्त काल में होने वाली अर्थक्रिया को एक ही समय में कर देता है तो फिर यह तो कहो कि वह द्वितीय क्षण में क्या करेगा। कहा जाय यदि वह द्वितीय क्षण में भी अर्थक्रिया करता रहेगा-तो इसपर फिर यही प्रश्न होगा कि वह क्रमशः अर्थक्रिया करेगा या युगपत्। नित्य पदार्थ क्रमश या अक्रम से अर्थ क्रियाकारी नहीं हो सकता हैं यही तो प्रकट किया जा रहा है। मान लिया जाय यदि वह द्वितीय क्षण में कुछ भी अर्थक्रिया नहीं करता है-तो इस हालत में उसमें अनर्थक्रियाका-

रिता आने से अवस्तुत्वापत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है कारण कि अर्थक्रियाकारी पदार्थ ही सत् वस्तुस्वरूप-माना गया है। अनर्थक्रियाकारी नहीं" सो १ यह आक्षेप बौद्धो का नित्य वादियो के ऊपर ठीक नहीं बैठता है। कारण कि जिस प्रकार सम्बध्यन्तररूप रूपरप जब स्वलक्षण रूप क्षणिक पदार्थ के स्वभाव भेदक नहीं होते है उसी प्रकार हम भी यह कहते हैं कि नित्य पदार्थ के मानने पर भी जो सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ को कार्य के उत्पन्न करने में सहायता प्रदान करेंगे वे भी उसके स्वभाव भेदक कैसे हो सकेंगे। फिर नित्य पदार्थ से क्रमशः अर्थक्रिया नहीं हो सकेगी ऐसा कहना उचित प्रतीत नहीं होता। कारण कि नित्य का जो स्वभाव कार्य करने का है वह तो उसका वही रहेगा। अब रही कालान्तर में होने वाली अर्थक्रियाओ को, प्रथमक्षण में होनेवाली अर्थक्रिया के साथ करने की बात सो वह उनको प्रथमक्षण में इसलिये नहीं करता है कि उसे सहकारी कारण प्रथम क्षण में नहीं मिलते हैं। वे सब क्रमश. ही मिलते है। अत क्रमशः वह अर्थक्रिया करता है।

इससे नित्य पदार्थ के कार्य करने के स्वभाव में कोई फर्क नही आता। यद्यपि नित्य अर्थक्रिया करने में समर्थ कारण है। तो भी उससे युगपत् अर्थक्रिया इसलिये नहीं होती है कि जिन सहकारी कारणों की सहायता से कार्य बनता है—उत्पन्न होता है-वे सहकारी कारण कदाचित्क हैं क्रमवर्ती हैं। जिस प्रकार क्षणिक मान्यता मे कोई एक क्षणिक कारण क्षणिक सामग्री रूप सहकारी कारणों के बीच में पतित होकर कार्य करने के अपने स्वभाव का परित्याग नही करता है उसी प्रकार तत्तत्कार्यनिर्वर्तनात्मक एवं क्रमवर्ती सहकारी कारणों की सहायता लेकर अर्थक्रिया रूप कार्य करने वाला नित्य पदार्थ भी कार्य करने के अपने स्वभाव का परित्याग नही करता है। इसीलिये यह मानना

---

१ पररूपाण्यपि यदि सबध्यन्तराणि भावस्वभावस्याभेदकानि न स्युस्तदा नित्यत्वेऽपि कस्यचित्सवंध्यन्तरेषु कादाचित्केषु क्रमशोऽर्थक्रिया न वै विप्रतिषिध्येत। शक्यं हि वक्तुं क्रमवर्तीनि कारणानि तत्तन्निर्वर्तनात्मकानि इति नित्य स्वभाव न वै जहाति क्षणिकसामग्रीसन्निपतितैकतमवत्। तदेतदा तत्तत्कर्तुं समर्थमेकं स्वभाव मविचलित बिभ्राणं सहकारिकारणानि स्वभावस्याभेदकानि नामाकार्यनिबंधनानि कादाचित्कानि प्रतीक्षत इति।

अष्टशती।

आ०
मी०
१९०

चाहिये कि कि वे सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ के स्वभावभेदक नहीं होते है। बौद्धों ने स्वयं इस बात को सिद्ध माना है कि यवाङ्कुर आदि रूप कार्य की उत्पादक क्षिति, उदक, बीज, एवं आतप आदि रूप अनेक क्षणिक सामग्री है इनमें से यव रूप कारण जब अन्त्यक्षण को प्राप्त हो जाता है तब ही वह यवाङ्कुर आदि कार्य के निर्वर्त्तनात्मक अन्य कारणो के होने पर भी अपने कार्य का उत्पादक होता है। इसमें उन्होने स्वाभाव भेद अंगीकार नहीं किया है। भिन्न २ कार्यों को करने का ही नित्य का एक समर्थ एव अविचलित-अखड़-स्थिरस्वभाव है। इस स्वभाव का भेद सहकारी कारणों से नहीं होता है। वे सहकारी कारण उस नित्य के स्वभाव के अभेदक नाना कार्यों के करने में मददगार, एवं कदाचित्क हैं। इसलिये वह नित्य उनकी अपेक्षा कार्य करने के समय रखता है। मतलब कहने का यह है कि नित्यवादी ने सर्वथा अनित्य वादी बौद्ध से जब इस प्रकार का प्रश्न किया कि तुम्हारा अनित्य पदार्थ अर्थक्रिया क्रम से करता है या अक्रम से। देशकृत क्रम एव कालकृत क्रम इस अनित्य पदार्थ में बनता ही नहीं है। कारण कि क्षणिक पदार्थ मे पूर्वक्रम एव अपर क्रम असभव है। नित्य पदार्थ में ही अनेकदेशो मे रहने वाला देश क्रम-एवं अनेक कालों मे रहने वाला कालक्रम सभव हो सकता है। सर्वथा अनित्यपदार्थों १ मे नहीं। सन्तान की अपेक्षा यद्यपि क्रम बन सकता है। परन्तु बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार सन्तान कोई वस्तु ही सिद्ध नहीं होती है।

यदि सतान को वस्तुस्वरूप मान भी लिया जाया तो भी उसे क्षणिक ही अंगीकार करना पडेगा, नहीं तो क्षणिक वाद का विध्वस होने का प्रसंग प्राप्त होगा। अक्रम से क्षणिक पदार्थ अर्थक्रिया करते हैं यदि यह बात अंगीकार की जाय तो हम यह पूछते है कि बीजपूरादि पदार्थ जो रसादिकों को एक साथ उत्पन्न करता है वह एक ही स्वभाव से करता है अथवा नाना स्वभाव से करता हैं। यदि एक स्वभाव से उसे एक साथ अनेक रसादिरूप उत्तर क्षणों का

---

१ यो यत्रैव स तत्रैव, यो यदैव तदैव स।
न देशकालयो र्व्याप्ति, र्भावानामिह विद्यते ॥

स्याद्वाद मजरी पा० ३३

उत्पादक माना जायगा तो ऐसी हालत मे उन समस्त रसादि रूप उत्तर क्षणो में एकस्वभाव से जन्य होने के कारण एकरूपता की आपत्ति आयगी। यदि यह कहा जाय कि वह बीज पूरादिरूप कारण जो उन उत्तरक्षण रूप रसादिकों का जनक होता है सो एकस्वभाव से नहीं होता है किन्तु अनेक स्वभावो से होता है, रूपादिक को उपादान भाव से एव रसादिक को सहकारी भाव से उत्पन्न करता है-सो इस पर हम यह पूछते हैं कि ये स्वभाव उस बीज पूर रूप कारण के निजस्वभाव हैं या पर स्वभाव हैं। यदि उपादानादिभाव बीजपूर कारण के परस्वभाव हैं ऐसा कहा जाय तो उस बीजपूर रूप कारण में स्वभावत्व की हानि होने का दोष आता है। यदि उन्हें आत्मभूत माना जाय-निज स्वभाव माना जाय तो ऐसी हालत में उस बीजपूर रूप कारण में स्वभाव भेद की वजह से अनेकता की आपत्ति आती है। अथवा स्वभावों मे एकत्वापत्ति आती है। यदि इस एकत्वापत्ति अथवा अनेकत्वापत्ति को दूर करने के लिये ऐसा कहा जाय कि जो कारण मे एकत्र उपादान भाव है वही दूसरी जगह सहकारीभाव है इस अपेक्षा स्वभावभेद उसमे नहीं आ सकता-तो फिर इस प्रकार के कथन से यह बात जो बौद्धों ने नित्यवादियों के ऊपर आक्षेप रूप मे कही है "कि नित्य पदार्थ जो सदा एक रूप ही रहता है वह क्रम से नाना कार्यों को कैसे कर सकता है—यदि करता है तो उसमें स्वभावभेद का प्रसंग आता है—यदि नित्य सदार्थ एक स्वभाव से क्रमशः अर्थक्रिया करता है तो वह एक ही समय में अपने सब कार्य कर लेगा इसलिये कार्य सकरता हो जायगी और अनेक स्वभावों से यदि अर्थक्रिया करता है तो स्वभाव का भेद हो जाने के कारण नित्य पदार्थ क्षणिक हो जायगा" सो ठीक नहीं बैठ सकती, कारण कि तुम बौद्ध भी एक क्षणिक पदार्थ से उपादान और सहकारी भावो द्वारा कार्य की उत्पत्ति मानकर उसमे स्वभाव का भेद नहीं मानते हो। यदि कहा जाय कि नित्य पदार्थ एकरूप होने से क्रम रहित है अतः अक्रम से रहने वाले इस नित्य पदार्थ से क्रम २ से होने वाली अर्थक्रियाओ की कैसे उत्पत्ति हो सकती है तो यह तुम बौद्धो का केवल स्वसिद्धान्त के प्रति एक व्यामोह-पक्षपातमात्र-है। क्योकि आपलोग एक निरंश रूप क्षणिक कारण से एक साथ अनेक कार्यों की उत्पत्ति होना स्वीकार करके भी नित्य वस्तु मे क्रम २ से नाना कार्यों की उत्पत्ति मानने मे जो विरोध उपस्थित करते हो।

निरंश एक क्षणिक पदार्थ से अनेक कार्यों की उत्पत्ति तो हो सकती है ऐसा तो तुम स्वीकार करते हो पर एक नित्य पदार्थ से क्रम २ से अनेक कार्यों की उत्पत्ति होने में दोष प्रदर्शित करते हो सो इस तुम्हारी बात को कौन बुद्धिमान् युक्तियुक्त मान सकता है ।

इस प्रकार यहां जो सर्वथा नित्यवादी एवं सर्वथा अनित्यवादी के विषय की चर्चा प्रकट करने में आई है वह " यदि सम्बन्ध्यन्तराणि " इस अष्टशती को स्पष्टरूप से खुलासा करने के लिये की गई जाननी चाहिये । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पक्षो में सम्बन्ध्यन्तरो का सम्बन्ध एक दूसरे के द्वारा स्वभावभेद का कारक बतलाया गया है। ऐसी हालत में जब कि सम्बन्ध्यन्तर स्वभावभेद के कारण होते हैं तब यह बात कैसे निर्विवाद मानी जा सकती है कि स्वलक्षण ही अन्यापोह है । अतः जब वह संबन्ध्यन्तर रूप अन्यापोह स्वलक्षण का स्वरूपभूत न होकर पररूप है तो खपुष्पादिक रूप अन्यापोह प्रमेयकोटि में नही आ सकते है । इसलिये अस्तित्व को नास्तित्वा-विनाभावी सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त रूप से उपस्थित किया गया यह कथन कि " जैसे साधर्म्य वैधर्म्या विनाभावी है " सर्वथा निर्दोष है । अतः प्रमेयत्वादिक जितने भी हेतु हैं उन सब में साधर्म्य वैधर्म्याविनाभावी है ही । और विशेष चर्चा टीका से ज्ञात कर लेनी चाहिये ।

प्रश्न--"सर्वे पदार्थाः परिणामिनः प्रमेयत्वात्" इस प्रकार प्रमेयत्व हेतु अथवा और भी किसी हेतु द्वारा जब समस्त पदार्थों को पक्ष बनाकर उनमें परिणामित्व साध्य किया जाता है तो उस समय हेतु का सपक्ष में अन्वय सभवित ही नहीं होता है । क्यों कि जो भी दृष्टान्त कोटि में रक्खा जायगा वह पक्ष में ही अन्तर्भूत हो जायगा । ऐसी हालत में जब हेतु में साधर्म्य ही नहीं बनता है तब साधर्म्य वैधर्म्याविनाभावी होता है ऐसा मानना या कहना उचित नहीं हो सकता ।

उत्तर--इस प्रकार का कथन तो उस समय ठीक माना जा सकता था कि जब हेतु में साधर्म्य एव व्यतिरेक दृष्टान्तधर्म के वल पर प्रकट करने में आते । परन्तु ऐसी मान्यता तो है नहीं । यदि एकान्तत इसी मान्यता को स्थान

विधेयप्रतिषेध्यात्मा, विशेष्यः शब्दगोचरः ।
साध्यधर्मो यथा हेतु, रहेतुश्चाप्यपेक्षया ॥ १९ ॥

अन्वय---शब्दगोचरः विशेष्यः विधेयप्रतिषेध्यात्मा यथा साध्यधर्मं अपेक्षया हेतुः अहेतुश्चापि भवति ।

अर्थ--शब्द का विषयभूत विशेष्य--जीवादिक समस्तपदार्थ--विधि एव प्रतिषेध इन दोनो धर्मस्वरूप है । जैसे साध्य का धर्म अपेक्षा से हेतु एव अहेतु भी होता है ।

भावार्थ--१ किन्हीं २ वादियों का ऐसा कहना है कि अस्तित्व एवं नास्तित्व तो विशेषण ही हैं विशेष्य नहीं । इसलिये इन दोनो को अविनाभूत सिद्ध करने के लिये जो अनुमान प्रयोग स्वरूप १७ वीं और १८ वीं कारिकाएं कहीं गई हैं वे ठीक नहीं जचती हैं, कारण कि विशेषण तो पारमार्थिक साध्य एवं साधन धर्म का अधिकरण होता ही नहीं है । विशेष्य ही इनका अधिकरण बनता है ।

२ किन्हीं २ का ऐसा कहना है कि वस्तु का जो यह अस्तित्व एव नास्तित्व स्वरूप है वह वचन से कहा ही नहीं जा सकता है । क्योंकि वह सर्वथा अनभिलाप्य है ।

३ कोई २ वादी ऐसा कहते हैं कि प्रतिभास के भेद से जिस प्रकार घट और पटादिक में सर्वथा भेद है उसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व का भी जीवादिक वस्तुओं से सर्वथा भेद है । इसलिये " जीवादिक वस्तुएं इन स्वरूप हैं" यह कहना युक्ति युक्त नहीं है । यदि जीवादिक वस्तुएं इन स्वरूप मानी जायें तो धर्म और धर्मी में जो भेद व्यवहार होता है वह लुप्त हो जायगा । कारण कि धर्म और धर्मी में परस्पर में संकर-एक मेक हो जाने का--प्रसंग इस तरह की मान्यता में प्राप्त होता है ।

इस प्रकार की इन समस्त विप्रतिपत्तियों को दूर करने के लिये कारिकाकार ने इस कारिका का निर्माण किया है । इसमें जितने भी पद हैं वे इन्हीं भिन्न २ प्रकार को विप्रतिपत्तियों का निरसन करते हैं- यथा- 'विधेयप्रति-

है। परन्तु नास्तित्व धर्म एक धर्मी में अस्तित्व के साथ अविनाभावी कैसे हो सकता है कारण कि खपुष्प आदि में रहा हुआ नास्तित्व किसी भी तरह से अस्तित्व का अविनाभावी जो नहीं हो सकता है" सो ऐसा आक्षेप युक्तियुक्त नहीं है। कारण कि जिस प्रकार शब्द १ को अनित्य सिद्ध करनेवाले कृतक हेतु में वैधर्म्य २ साधर्म्य ३ के साथ अविनाभावी माना जाता है उसी प्रकार नास्तित्व भी अस्तित्व के साथ अविनाभूत माना गया है। अतः जीवादिक एक धर्मी में पर रूपादिक की अपेक्षा रहा हुआ नास्तित्व स्वरूपादिक की अपेक्षा वर्तमान अस्तित्व के साथ अविनाभूत सिद्ध होता है। इस प्रकार "एक धर्मिणि नास्तित्वं अस्तित्वाविनाभावि विशेषणत्वात्" यह अनुमान प्रयोग सर्वथा निर्दोष है। कारण कि असिद्ध; विरुद्ध एवं अनैकान्तिक जो हेतु के दोष हैं वे यहां पर संभवित नहीं होते हैं। विशेषणत्वरूप हेतु पक्षीकृत नास्तित्व में रहता है इसलिये यह असिद्ध नहीं है। तथा अपने साध्य से विरुद्ध के साथ इस हेतु की व्याप्ति न होने से यह विरुद्ध एवं अनैकान्तिक भी नहीं है। यदि अपने साध्य से विरुद्ध—स्वप्रतिषेध्याविनाभावरहित—के साथ इस हेतु का रहना माना जाय तो ऐसी हालत मे वह विशेषण ही नहीं माना जायगा।

शका—नास्तित्व को अस्तित्व के साथ अविनाभूत सिद्ध करने के लिये आपने जो "जैसे व्यतिरेक अन्वय के साथ अविनाभूत है" यह दृष्टान्त कहा है सो यह ठीक नहीं है। कारण कि जो केवल व्यतिरेकी हेतु होता है वह अन्वय के साथ अविनाभूत नहीं है। जैसे "सात्मकं १ जीवच्छरीरं भवितुमर्हति प्राणादिमत्वात्" इस अनुमान में प्राणादिमत्व हेतु केवलव्यतिरेकी है। यह साधर्म्य के साथ अविनाभावी नहीं है।

---

१ शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात्। यो यः कृतकः स सोऽनित्यः यथा घटः, यन्नानित्यं तन्न कृतकं यथा गगनमिति।
टिप्पण अष्टसह०

२ साध्याधिकरणवृत्तित्वेन निश्चितत्व साधर्म्यं, साध्याभावाधिकरण वृत्तित्वेना निश्चितत्व वैधर्म्यं।
सप्तभंगीतरंगिणी पृ० ५३

१ पक्षवृत्तिः विपक्षव्यावृत्त सपक्षरहितः हेतु केवलव्यतिरेकी। यथा जीवच्छरीरं सात्मकं भवितुमर्हति प्राणादिमत्वात् यद्यत्सात्मकं न भवति तत्तत्प्राणादिमन्न भवति यथा लोष्ठ इति। अत्र लोष्ठादिर्व्यतिरेकदृष्टान्तः। सपक्ष पुनरत्रनास्त्येव सर्वस्यापि पक्षविपक्षान्तर्भावात।
न्यायदीपिका पृष्ठ ९०

उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि यहां पर भी व्यतिरेक साधर्म्य के साथ अविनाभूत है। सात्मकत्वरूप साध्य के अधिकरण—अन्यजीव—में प्राणादिमत्व हेतु का सद्भाव पाया ही जाता है। साध्य के अधिकरण में हेतु का रहना यही साधर्म्य है। यह यहां पर अक्षतरूप से विद्यमान है। ऐसा तो कोई नियम है ही नहीं कि पक्ष से भिन्न में ही साधर्म्य होना चाहिये—पक्ष१ में नहीं। इसलिये पक्ष में भी साधर्म्य जाने से कोई हानि नहीं है। इसी प्रकार "पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते गन्धवत्वात्" इस केवल व्यतिरेकी हेतुवाले अनुमान में भी गन्धवत्त्व व्यतिरेकी हेतु का साधर्म्य घटादिकरूप पृथिवी में जान लेना चाहिये।

शंका—अस्तित्व नास्तित्व का अविनाभावी भले रहो इसमें तो विवाद जैसी कोई बात नहीं है। परन्तु यह बात समझमें नहीं आती कि नास्तित्व अस्तित्व के साथ अविनाभावी कैसे होता है? क्योंकि शशविषाण आदि में नास्तित्व तो है पर वह अस्तित्व के साथ अविनाभूत नहीं है।

उत्तर—शका तो ठीक है परन्तु विचार करने से इसकी निवृत्ति भी हो जाती है। देखो-गोमस्तक पर जो शृंग समवायसम्बन्ध से "अस्ति" इस रूप से प्रसिद्ध है वह शृंग शश आदि के मस्तक पर नहीं है। इस अपेक्षा यह बात सिद्ध हो जाती है कि जिन, शृंग, रोम तथा पुष्प आदि वस्तुओं का गौ, मेष तथा चंपा आदि वृक्ष में अस्तित्व है उन्हीं का नास्तित्व शश, कूर्म एवं आकाश आदि मे है। इस तरह नास्तित्व अस्तित्व का अविनाभावी सिद्ध होता है। अतः कारिकाकार का यह कथन कि नास्तित्व अस्तित्व के साथ अविनाभूत है सर्वथा निर्दोष है।

---

१ पक्षभिन्न एव साधर्म्यं न पक्षे इति नियमाभावात्"

—सप्तभगीतरगिणी पृ०५३।

१—अथ—शशविषाणादौ नास्तित्वमस्तित्वेन विनाऽपि दृश्यते इति चेत्वदाम :-गोमस्तकसमवायित्वेन यदस्तीति प्रसिद्ध विषाणं तच्छशादिमस्तकसमवायित्वेन नास्तीति निश्चीयते। मेषादिसमवायित्वेन यानि रोमाणि सन्तीति प्रसिद्धानि तान्येव कूर्मादिसमवायित्वेन न सन्तीति निश्चीयन्ते। वनस्पतिसम्बन्धित्वेन यदस्तीति प्रसिद्ध तदेव गगनसम्बन्धित्वेन नास्तीति निश्चीयते तथा चास्तित्वं नास्तित्व च परस्परमविनाभूतमेव वर्तते। सप्तभंगीतरगिणी पृ० ५४।

विधेयप्रतिषेध्यात्मा, विशेष्यः शब्दगोचरः ।
साध्यधर्मो यथा हेतु, रहेतुश्चाप्यपेक्षया ।। १९ ।।

अन्वय---शब्दगोचरः विशेष्यः विधेयप्रतिषेध्यात्मा यथा साध्यधर्म. अपेक्षया हेतु. अहेतुश्चापि भवति ।

अर्थ--शब्द का विषयभूत विशेष्य--जीवादिक समस्तपदार्थ--विधि एवं प्रतिषेध इन दोनों धर्मस्वरूप है । जैसे साध्य का धर्म अपेक्षा से हेतु एव अहेतु भी होता है ।

भावार्थ--१ किन्हीं २ वादियों का ऐसा कहना है कि अस्तित्व एवं नास्तित्व तो विशेषण ही हैं विशेष्य नहीं । इसलिये इन दोनो को अविनाभूत सिद्ध करने के लिये जो अनुमान प्रयोग स्वरूप १७ वी और १८ वीं कारिकाएं कहीं गई हैं वे ठीक नहीं जचती हैं, कारण कि विशेषण तो पारमार्थिक साध्य एवं साधन धर्म का अधिकरण होता ही नहीं है । विशेष्य ही इनका अधिकरण बनता है ।

२ किन्हीं २ का ऐसा कहना है कि वस्तु का जो यह अस्तित्व एव नास्तित्व स्वरूप है वह वचन से कहा ही नहीं जा सकता है । क्योंकि वह सर्वथा अनभिलाप्य है ।

३ कोई २ वादी ऐसा कहते हैं कि प्रतिभास के भेद से जिस प्रकार घट और पटादिक में सर्वथा भेद है उसी प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व का भी जीवादिक वस्तुओं से सर्वथा भेद है । इसलिये " जीवादिक वस्तुएं इन स्वरूप हैं" यह कहना युक्ति युक्त नहीं है । यदि जीवादिक वस्तुएं इन स्वरूप मानी जायें तो धर्म और धर्मी में जो भेद व्यवहार होता है वह लुप्त हो जायगा । कारण कि धर्म और धर्मी में परस्पर में संकर-एक मेक हो जाने का--प्रसंग इस तरह की मान्यता में प्राप्त होता है ।

इस प्रकार की इन समस्त विप्रतिपत्तियों को दूर करने के लिये कारिकाकार ने इस कारिका का निर्माण किया है । इसमें जितने भी पद हैं वे इन्हीं भिन्न २ प्रकार को विप्रतिपत्तियों का निरसन करते हैं- यथा- 'विधेयप्रति-

षेध्यात्मा" यह पद इस बात का समर्थन करता है कि प्रत्येक पदार्थ चाहे वह चेतनात्मक हो चाहे अचेतनात्मक हो स्वद्रव्यादिक एवं परद्रव्यादिक की अपेक्षा से विधेय-अस्तित्व स्वरूप और प्रतिपेध्य-नास्तित्वस्वरूप है, इससे "जो पहिले यह कहा गया है कि प्रतिभास के भेद से घट पटादिक की तरह अस्तित्व एवं नास्तित्व जीवादिक वस्तुओं से सर्वथा भिन्न ही हैं" इस मान्यता का निरसन हो जाता है। "शब्दगोचर:" इस पद से कारिकाकार ने यह प्रकट किया कि
आ० वस्तु का अस्तित्व एवं नास्तित्व स्वरूप सर्वथा वचन के अगोचर नहीं है किन्तु अभिलाप्य है। इसी तरह "विशेष्य:" इस पद द्वारा उन्होंने यह बात समर्थित की है कि अस्तित्व एवं नास्तित्व विशेषण ही नहीं है किन्तु विशेष्य भी हैं।
मी०, समस्त जीवादिक पदार्थ अस्तित्व एवं नास्तित्वधर्मात्मक हैं इस पक्ष की सिद्धि करने में "विशेष्य" यह प्रथमान्त पद
१९७ हेतु स्थानीय समझना चाहिये। जिस प्रकार "गुरवो राजमाषा न भक्षणीया,, ऐसा कहने पर "गुरव." यह प्रथमान्त पद हेतु परक बन जाता है। अर्थात्'-राजमाषा न भक्षणीय गुरुत्वात्" उसी प्रकार "सर्वो जीवादिः विधेय प्रतिषेध्यात्मा विशेष्यत्वात्,, ऐसा समझ लेना चाहिये। "साध्यधर्म." यहां पर साध्यपद से धर्मी का ग्रहण १ हुआ है। क्योंकि वही साध्यरूप धर्म का आधार होता है। इसलिये उपचार से साध्यरूप धर्म का आधार होने के कारण धर्मी भी साध्य मान लिया जाता है।

इस उपचार का कारण दृष्टान्तधर्मी का व्यवच्छेद करना है। अर्थात् दृष्टान्त रूप धर्मी किसी भी तरह साध्य नहीं माना जाता है। अनुमान प्रयोगकाल की अपेक्षा केवल साध्यविशिष्ट धर्मी साध्य मान लिया जाता है। इस साध्यरूपधर्मी का जो उत्पत्तिमत्त्वादिक विवर्त है वह साध्य धर्म से गृहीत हुआ है। जिस प्रकार यह साध्यधर्म--उत्पत्तिमत्त्वादिक अनित्यसाध्य की अपेक्षा हेतु माना जाता है और नित्यसाध्य की अपेक्षा अहेतु माना जाता है क्योंकि जब ऐसा कहा जाता है कि "शब्दोऽनित्य उत्पत्तिमत्त्वात्–कृतकत्वात्,,–शब्द अनित्य है क्योंकि वह उत्पन्न होता है

---

१ "साध्यधर्मं क्वचित्तद्विशिष्टो वा धर्मीति" परीक्षा मुख सूत्र २५। "ज्ञातव्ये पक्षधर्मत्वे पक्षो धर्म्यभिधीयते, व्याप्तिकाले भवेद्धर्मं साध्यसिद्धौ पुनर्द्वयम्" प्रमेयरत्नमाला टिप्पणी पृ० ९३

तब इस प्रकार के कथन में साध्य धर्म जो उत्पत्तिमत्व है वह अपने अनित्य साध्य की अपेक्षा ही हेतु माना जाता है नित्य साध्य की अपेक्षा नहीं—अतः वह नित्य साध्य की अपेक्षा तो अहेतु माना जायगा। क्योंकि वह अपने साध्य का ही जो गमक होता हैं। अन्य-अपने साथ अविनाभाव सबंध से रहित -साध्य का नहीं। हेतु मे स्वसाध्य की गमकता विधिस्थानीय एवं अन्य साध्य की अगमकता प्रतिषेध स्थानीय मानना चाहिये। तात्पर्य कहने का यह है कि जिसप्रकार हेतु में अपेक्षाकृत विधि प्रतिषेधात्मकता है उसी प्रकार समस्त जीवादिक पदार्थों में भी अपेक्षाकृत विधि प्रतिषेधात्मकता है। जीवादिक पदार्थ विशेष्य है इस बात को भी सिद्ध करने वाला "शब्दगोचरः" यह प्रथमान्त पद है। "जीवादि पदार्थ विशेष्य शब्दगोचरत्वात्" इस प्रकार अनुमान प्रयोग जानना चाहिये।

शंका—आपने जीवादिक पदार्थो में विशेष्यता सिद्ध करने के लिये शब्दगोचरत्व हेतु दिया-सो ठीक, परन्तु जीवादिक पदार्थ शब्द गोचर हैं इसे असिद्ध मानने वालो के प्रति इस बात को सिद्ध करने के लिये आपके पास क्या हेतु है। कहिये—

उत्तर—सुनो—"शब्दगोचरो जीवादिः विशेष्यत्वात्" जीवादिक पदार्थ विशेष्य होने से हेतु की तरह शब्द के विषयभूत है इस प्रकार के प्रमाणभूत हेतु से उनमे शब्दगोचरता सिद्ध हो जाती है।

शका—आप तो बडे होशि-ार मालूम पड़ते हैं-वहां विधेयप्रतिषेधात्मकता सिद्ध करने के लिये विशेष्य को, विशेष्यता सिद्ध करने के लिये शब्दगोचरत्व को एवं शब्द गोचरत्व सिद्ध करने के लिये पुनः विशेष्यत्व को जो आप हेतु-रूप मे रखते है सो विशेष्यता सिद्ध करने के लिये शब्दगोचरत्व तक तो विवाद जैसी कोई बात नही उठती-परन्तु जब शब्दगोचरत्व सिद्ध करने के लिये पुनः विशेष्यत्व को हेतु बनाया जाता है वहां परस्पराश्रयता-इतरेतराश्रयता-नामक दोष आने से विवाद खड़ा हो जाता है। क्योकि जीवादिक धर्मी में विशेष्यता की सिद्धि शब्द गोचरत्व के आधीन और शब्दगोचरत्व की सिद्धि विशेष्यता के आधीन जो हो जाती है।

उत्तर—कथन शैली को नहीं ध्यान में देने से यह शका उपस्थित की गई है-जब यह बात समझ में आ जाती

है कि जो सर्वथा अनभिलाप्यवस्तुवादी हैं उनके प्रति शब्दगोचरत्व को साध्य बनाते समय विशेष्य को हेतु रक्खा गया है और जो सर्वथा अविशेष्यवादी हैं उनकी अपेक्षा विशेष्य को साध्यकोटि मे रखकर शब्द गोचर को साधन कोटि मे रखा गया है तब यह शका ही उपस्थित नहीं होती। इसी तरह जो जीवादिक धर्मो मे शब्दगोचरता एवं विशेष्यता भी अंगीकार नहीं करते हैं उनकी अपेक्षा इन दोनों को साध्यकोटि में स्थापित कर वादिप्रतिवादी उभय के लिये मान्य वस्तुत्व [1] को हेतु कोटि मे रखा गया है। और इसी से उनके प्रति जीवादिक वस्तुओं में विधेय प्रतिषेधात्मकता भी

आ० सिद्ध की गई है।

मी० शका--प्रत्यक्ष बुध्दि मे तो स्वलक्षणरूप वस्तु का ही प्रतिभास होता है। अस्तित्वादि विशेषणों का नहीं।

१९९ कारण कि स्वलक्षण वस्तु सम्पूर्ण प्रकार के विकल्पों से रहित मानी गई है अस्तित्वादि विशेषणो का तो व्यवहार केवल एक विकल्प बुद्धि मे ही प्रसिद्ध माना गया है।

उत्तर---ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि अस्तित्वादि अनेक विकल्पात्मक सांश वस्तु की ही प्रत्यक्षबुद्धि में प्रतीति होती है। यदि ऐसा न माना जाय तो उस प्रत्यक्ष-बुद्धि के अनन्तर होने वाली विकल्प बुद्धि में भी अस्तित्व एवं नास्तित्व आदि विशेषणो का प्रतिभास नहीं होना चाहिये। जब निर्विकल्पक दर्शन की सत् असत् स्वभाव से शून्य वस्तु विषय होगी तो यह बात स्वाभाविक है कि उस निर्विकल्पक ज्ञान के पीछे होने वाले सविकल्पकात्मक ज्ञान से भी सत् और असत् का अध्यवसाय नहीं हो सकेगा। पीत का दर्शन होने पर तत्पृष्ठभावी विकल्प से पीत का ही अध्यवसाय होगा नील का नही। अतः वस्तु स्वभावतः सत् असत् स्वभाववाली है। तथा ये सत् असत् स्वभाव ही वस्तु में सांशता की सिद्धि करते हैं ऐसा मानना चाहिये। सकल विकल्पों से रहित केवल विशेष मात्र वस्तु स्वलक्षण नहीं मानी गई है और न केवल सामान्य मात्र वस्तु या परस्पर निरपेक्ष सामान्य और विशेषमात्र वस्तु स्वलक्षण मानी गई है किन्तु सामान्यविशेषात्मक वस्तु ही स्वलक्षण मानी गई है। यही वस्तु का अपना लक्षण है। इसी लक्षण से समन्वित वस्तु

१--"जीवादिः शब्दगोचरो विशेष्यश्चवस्तुत्वात्।"

प्रमाता द्वारा यथाक्षयोपशम प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान से बिना किसी बाधा के जानी जाती है। इससे विपरीत स्वरूप वाली वस्तु की किसी भी प्रमाण से प्रतीति नहीं होती है। अतः ऐसा कहना कि प्रत्यक्ष बुद्धि में स्वलक्षण-सकलविकल्पातीत केवल विशेषमात्र वस्तु का ही भान होता है ठीक नहीं है। चाहे प्रत्यक्ष हो चाहे परोक्ष हो कोई भी प्रमाण क्यों न हो, उसमें सामान्य एव विशेषरूप अपने निज धर्मों से समन्वित होने के कारण जात्यन्तररूप वस्तु का ही भान होता है। यही सिद्धान्त ठीक है। "सामान्य विशेषात्मक वस्तु है" इसका मतलब भी यही है कि वस्तु विधेयप्रतिषेधात्मक है। अतः जिस प्रकार साध्य धर्म अपेक्षा से हेतु और अहेतु माना जाता है उसी प्रकार जीवादिक वस्तु भी किसी अपेक्षा से विधेय प्रतिषेध्यात्मक मानी गई है।

शेषभंगाश्च नेतव्या यथोक्तनययोगातः।
न कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र ! तवशासने ॥ २० ॥

अन्वय---यथोक्तनययोगतः शेषभंगाश्च नेतव्या। मुनीन्द्र ! तवशासने कश्चिद्विरोधो नास्ति।

अर्थ---पूर्व ३ कारिकाओं मे कथित विशेषणत्वादिक हेतु एव दृष्टान्त रूपनय के योग से अवशिष्ट भगो को भी अपने २ प्रतिषेध्य के साथ अविनाभावी साधित कर लेना चाहिये। हे मुनीन्द्र ! इस प्रकार के साधन करने में आपके अनेकान्तशासन में किसी भी प्रकार का विरोध नही आता है।

भावार्थ----कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि जिस प्रकार एक धर्मी में अस्तित्व नास्तित्व के साथ, नास्तित्व अस्तित्व के साथ विशेषणत्व हेतु एव साधर्म्य तथा वैधर्म्य दृष्टान्त द्वारा अविनाभूत सिद्ध करने में आया है तथा अस्तित्वनास्तित्वात्मक तृतीय भंग कि जिसमें क्रमश दोनों धर्म मुख्य रूप से अर्पित-विवक्षित हुए हैं अपने प्रतिषेध्य प्रथम एवं द्वितीय भंग के साथ अविनाभूत १९ वीं कारिका द्वारा साधित हो जाता है। उसी प्रकार एकत्र जीवादिक वस्तु में अवक्तव्य धर्म वक्तव्य के साथ -पहिले के तीन भगों के-साथ अविनाभूत समझना चाहिये

और इसी तरह सद् अवक्तव्य असद् अवक्तव्यके साथ, असद् अवक्तव्य सद् अवक्तव्य के साथ एवं सद् असद् अवक्तव्य पंचम षष्ठ भंगरूप अनुभय अवक्तव्य के साथ भी अविनाभूत जानना चाहिये, इस प्रकार विवक्षाधीन कथनमें इस अनेकान्त शासन में कोई विरोध नहीं आसकता है। विरोध तो वहीं आता है जो विशेषण रूप इन धर्मों को प्रतिपक्षी के साथ अविनाभूत नही मानते है। इन समस्त धर्मों को अपने से प्रतिपक्षी धर्म के साथ अविनाभूत सिद्ध करने के लिये पूर्वोक्त विशेषणत्वादिक हेतु एवं उदाहरण यहां योजित कर लेना चाहिये। मतलब इसका यही है कि ये प्रत्येक भंग अपने प्रतिषेध्य के साथ अविनाभूत होने के कारण विधिनिषेध स्वरूप हैं। इस प्रकार यह इस कारिका का संक्षिप्त भाव है। इसमें जो "न कश्चिद्विरोधोऽस्ति" यह "विरोध" शब्द आया है वह वैयधिकरण्य, अनवस्था, सकर, व्यतिकर संशय, अप्रतिपत्ति एवं अभाव इन दोषों का उपलक्षक १ है। स्याद्वाद सिद्धान्त में ये आठ दोष नहीं आते हैं। इसी तरह यह स्याद्वाद न छल स्वरूप है और न संशय स्वरूप ही। क्योंकि छल और संशय का लक्षण भी स्याद्वाद में घटित नहीं होता है। इन सव वातों को जानने के लिये सप्तभगतरंगिणी पाना ८० से ८६ तक देखना चाहिये।

शिष्य—आपही कृपाकर इस विषय को सक्षेप मे समझा दीजिये तो अच्छा होगा। क्योंकि जवतक अन्य वादियों ने स्याद्वाद पर किस तरह आक्षेप किये और उनका उत्तर किस तरह से दिया गया यह वात समझ में नहीं आ जाती तब तक स्याद्वाद का ज्ञान अधूरा ही माना जा सकता है। अतः जो हम संस्कृत के परिज्ञान से रहित हैं उनके लिये आपका यह सक्षिप्त विवेचन बडे काम का हो जायगा।

गुरु—ठीक है यदि तुम्हारी भावना इस विषय को समझने की है तो समझो—मैं समझाता हूं। एकान्तवादियों का इस प्रकार कहना है कि स्याद्वादियों द्वारा स्वीकृत किया गया स्याद्वाद सिद्धान्त छल २ रूप है जो छल रूप होता है

१ विरोधोऽपि न कश्चित् उपलक्षणमेतत् विरोध इति संशयविरोधवैयधिकरण्योभयदोषप्रसंगसकरानवस्थाभावानाक्षिपति। वसुनन्दिसैद्धान्तिकविरचितवृत्ति।

२ परस्य वदतोऽर्थविकल्पोपपादनेन वचनविघातः छलम्। स्या० म० १११।

वह प्रमाणिक पुरुषों की दृष्टि में प्रमाणकोटि से मान्य नहीं होता है। स्याद्वाद सिद्धान्त छलरूप इसलिये है कि जो पदार्थ अस्ति रूप से स्वीकृत करने में आया है वही पदार्थ नास्तिरूप से माना गया है जो नित्य है वही अनित्य है। सो छल वादियों का ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि अनेकान्तवाद में छल का लक्षण घटित नहीं होता है। अन्य अभिप्राय से कहे हुए शब्द का अन्य अर्थ कल्पित कर दूसरे का वचन दूषित करना छल है। जैसे किसी ने कहा कि "नवकम्बलोऽयं पुमान्" यह पुरुष नव कम्बलवाला है। यहां नव शब्द का अर्थ नवीन है। और नवीन अर्थ के अभिप्राय से ही यह शब्द यहां प्रयुक्त किया गया है। परन्तु छलवादी नव शब्द का अर्थ नौ की सख्या में कल्पित कर कहता है कि "कुतोऽय नवकम्बल. एककम्बलत्वात्" यह नौ कम्बल वाला कहां से आया-यह तो एक कम्बलवाला ही है। अनेकान्त वाद में छल का यह लक्षण इसलिये घटित नहीं होता कि यहां पर अन्य अर्थ में प्रयुक्त शब्द की अन्य अर्थ में कल्पना करने का अभाव है।

किन्हीं २ वादियों का ऐसा कहना है कि अनेकान्तवाद-स्याद्वाद-संशयरूप है। क्योंकि एक ही पदार्थ के भीतर वह अस्तित्व नास्तित्व, आदि परस्पर विरुद्ध धर्मों का प्रतिपादन करता है। परस्पर विरोधी धर्म एक वस्तु में संभवित नहीं होते हैं और उन्हे यह अनेकान्त एकत्र संभवित स्वीकार करता है, अतः जैसे सम्मुख स्थित यह पदार्थ स्थाणु है या नहीं यह ज्ञान एक पदार्थ विशेष्यक तथा स्थाणुत्व एवं उसके अभाव विशेषणक होने से संशय कहा जाता है उसी प्रकार अस्तित्व नास्तित्व आदि रूप विरूद्ध नाना धर्म विशेषण युक्त, घट आदि पदार्थ विशेष्यक ज्ञान का जनक होने से अनेकान्तवाद भी सशय का हेतु है। सो इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है कारण कि अनेकान्त में विशेप लक्षण की उपलब्धि होती है। सामान्य अंश के प्रत्यक्ष, विशेष अंश के अप्रत्यक्ष एवं विशेष की स्मृति होने से संशय होता[1] है। जैसे "अय स्थाणुर्वा पुरुषोवा" यह स्थाणु है कि पुरुष है। यहां स्थाणु तथा पुरुष के उचित प्रदेश में कि जहां अत्यन्त

[1] सशयो हि सामान्यप्रत्यक्षाद्विशेषाप्रत्यक्षाद्विशेषस्मृतेश्च जायते। सप्तभगीतरगिणी पा० ८०।

प्रकाश एव अत्यन्त अन्धकार का अभाव हो रहा है केवल उर्ध्वता सामान्य का अवलोकन करने वाले पुरुष को स्थाणु एवं पुरूषगत विशेषधर्मों का अप्रत्यक्ष होने से तथा स्थाणु एवं पुरुपगत विशेषधर्मों की स्मृति आने से सशय होता है। इस प्रकार अनेकांतवाद मे सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष एवं विशेषधर्मों का अप्रत्यक्ष नहीं है कि जिससे इसे सशयस्वरूप माना जा सके। यहां तो स्वपररूप की अपेक्षा विशेष धर्मों की उपलब्धि निर्वाधरूप से हो रही है। अपेक्षा से विरोधी धर्म भी एकत्र संभवित होते हैं। एक ही खुशालचन्द्र अपने भाई नरेश की अपेक्षा भ्राता, पिता की अपेक्षा पुत्र एवं मांई की अपेक्षा भानेज आदि अनेकरूप माना जाता है। एक ही सुरेश में अपने पुत्र की अपेक्षा पितृत्व एव अपने पिता की अपेक्षा पुत्रत्व धर्म रहा हुआ है। इसे कौन निषेध कर सकता है! जो अन्वय व्यतिरेकी होता है उसमें सपक्ष महानस की अपेक्षा से अस्तित्व-सत्त्व-तथा विपक्ष -महाह्रदादिक की अपेक्षा से -नास्तित्व-असत्त्व प्रत्यक्षसिद्ध बात है। इसी तरह परस्पर विरुद्ध सत्त्व असत्त्व आदि धर्म भी एक ही वस्तु में अविरुद्ध रूप से रहते हैं यह मानना चाहिये।

शिष्य---ठीक है अनेकान्त वाद में सशय एवं छलरूपता नहीं है -यह तो समझ में आ गया परन्तु जो आठ दोष आपने अभी बतलाये हैं और यह कहा है कि ये आठ दोष अनेकान्तवाद में संभवित नहीं होते सो कैसे, इसे और समझा दीजिये।

गुरू--ठीक है-सुनो-लोगों का ऐसा कहना है कि जहां शीत होता है वहां उष्ण नहीं होता और जहां उष्ण होता है वहां शीत नही होता क्योंकि ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं छाया आतप की तरह। इसी तरह अस्तित्व नास्तित्व धर्म भी परस्पर विरोधी हैं। इनका एकत्र रहना कैसे संभव हो सकता है। भाव अभाव एक जगह रह ही नहीं सकते। अतः इनका एकत्र निवास स्वीकार करना विरोध दोष से दूषित है। १

अस्तित्व का अधिकरण भिन्न एवं नास्तित्व का अधिकरण भिन्न है। इसलिये दोनों का अधिकरण भिन्न

होने से इन्हें एकाधिकरण मानने में वैयाधिकरण १ नाम का दोष आता है। २

जिस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व नास्तित्व धर्म रहते हैं उसी तरह अस्तित्व नास्तित्व में भी अन्य और स्वपररूप की अपेक्षा अस्तित्व नास्तित्व मानने चाहिये- उनमें अन्य। इस प्रकार अप्रामाणिक अनंत अस्तित्व नास्तित्व की कल्पना की अविश्रान्ति से अनवस्थादोप २ आता है। ३

स्याद्वादियो के मत में अस्तित्व और नास्तित्व ये दोनों एक ही जगह रहते हैं। इसलिये अस्तित्व के अधिकरण में अस्तित्व और नास्तित्व के रहने से और नास्तित्व के अधिकरण में अस्तित्व नास्तित्व के रहने से स्याद्वाद में सकर ३ दोष आता है। (४)

अस्तित्व नास्तित्व के एक साथ रहने से अस्तित्व रूप से नास्तित्व भी मानना पडेगा और नास्तित्वरूप से अस्तित्व। इस प्रकार व्यतिकर ४ दोष आता है। (५)

जब वस्तु को सत्त्वासत्त्वात्मक माना जाता है तब यह निश्चय नहीं हो सकता है कि यह वस्तु इसी धर्म से युक्त है अत इसमें संशय दोष आता है ५। (६)

संशय होने से वस्तु का ठीक २ ज्ञान नहीं हो सकता अतः अप्रतिपत्ति ६ नाम का दोष आता है।

---

१ अस्तित्वस्याधिकरणमन्यन्नास्तित्वस्याधिकरणमन्यदित्यस्तित्वनास्तित्वयोर्वैयधिकरण्यं।

२ येन रूपेणास्तित्व येन च रूपेण नास्तित्व तादृशरूपयोरपि प्रत्येकमस्तित्वनास्तित्वात्मकत्व वक्तव्य तच्च स्वपररूपाभ्यां तयोरपि प्रत्येकमस्तित्वनास्तित्वात्मकत्व स्वपररूपाभ्यामित्यनवस्था।

३ येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणासत्त्वस्यापि प्रसग' येन रूपेण चासत्त्व तेन रूपेण सत्त्वस्यापि प्रसगः इति संकरः।

४ येन रूपेण सत्त्व तेन रूपेणासत्त्वमेव स्यान्न तु सत्त्वं येनरूपेण चासत्त्व तेन सत्त्वमेवस्यान्न त्वसत्त्वं इति व्यतिकरः। परस्परविषयगमन व्यतिकर'।

५ सत्त्वासत्त्वात्मकं च वस्तुनः इदमित्थमेवेति निश्चेतुमशक्तेस्संशयः।

६ ततश्चानिश्चयरूपाप्रतिपत्ति ।

वस्तुविषयक यथार्थ ज्ञान के अभाव मे उस वस्तु की व्यवस्था नहीं बन सकती अतः विषयव्यवस्था की हानि-अभाव १-नाम का दोष आता है।

इस तरह से स्याद्वाद सिद्धान्त की मान्यता मे ८ दोप अन्यवादियो द्वारा प्रकट किये गये हैं। सो स्याद्वाद सिद्धान्त मे ये दोष इसलिये नही आते हैं कि स्याद्वादियो ने अस्तित्व एव नास्तित्व को अपेक्षा विशेष के आधीन वहां माना है। दोष प्रदान करने वालो ने यही समझकर इसमे दोप प्रदर्शित किये हैं कि जिस रूप से वस्तु में अस्तित्व धर्म स्वीकार किया गया है उसी रूप से नास्तित्व। परन्तु ऐसा नही है। अस्तित्व अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से वस्तु में है और नास्तित्व अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव की अपेक्षा से है। अत दोनो को एक अपेक्षा से न मानने के कारण स्याद्वाद मे विरोध नाम का दूषण नहीं आता है। वध्यघातक, सहानवस्था और प्रतिबंध्य प्रतिबन्धक के भेद से विरोध ३ प्रकार का है। यह विरोध यहां नहीं आता यह बात पीछे "सदेव सर्वं" इस १५ वीं कारिका मे स्पष्ट कर दी गई है। यह तो प्रत्यक्ष सिद्ध बात है कि एक ही वृक्ष मे चचलता और स्थिरता, एक घट में लाल और कालापन आदि विरोधी धर्मों के रहते हुए भी विरोध नहीं कहा जाता उसी प्रकार एक वस्तु में अस्तित्व और नास्तित्व के रहने से विरोध नही कह सकते। अस्तित्व और नास्तित्व में जब कोई विरोध नहीं है तब उनका अधिकरण भिन्न २ कैसे हो सकता है। इसलिये वैयधिकरण नाम का दोश भी यहा नहीं आता है। प्रत्येक वस्तु मे अनेक धर्म प्रमाण से सिद्ध होते है। माता पिता की परम्परा जिस प्रकार प्रमाण से सिद्ध है उसी प्रकार यह सप्तभंगीवाद भी प्रमाण प्रसिद्ध है।

इसलिये केवल कल्पना के अनन्त होने से अनवस्था दोष नहीं आ सकता। एक धर्म में द्वितीय धर्म का रहना मानना युक्तियुक्त नही है। घटत्व मे जिस प्रकार घटत्व नही रहता उसी प्रकार अस्तित्व आदि में भी अन्य अस्तित्व आदि धर्म नही रहते हैं। इसलिये अनवस्थादोष का इस प्रकार की कल्पना करके उद्भावन करना ठीक नहीं है।

---

३ ततस्सत्त्वासत्त्वात्मनो वस्तुनोऽभाव ।

अस्तित्व और नास्तित्व के अविरोधी सिद्ध होने पर अस्तिरूप को नास्ति नहीं कह सकते इसलिये संकर तथा अस्ति को नास्ति और नास्ति को अस्ति नहीं कह सकते इसलिये व्यतिकर दोष नहीं आते। क्योंकि वस्तु स्वचतुष्टय से अस्ति रूप और परचतुष्टय से नास्तिरूप है। अनेक धर्मों के अनिश्चित ज्ञान को संशय कहते हैं। यह अस्ति है या नास्ति यह संशय है। परन्तु वस्तु में अपेक्षा भेद से अस्तित्व एव नास्तित्व का प्रतिपादन करने में संशय नहीं कहा जा सकता। सशय के अभाव में वस्तु का निश्चित ज्ञान हो जाता है इसलिये अप्रतिपत्ति का अभाव होने से वस्तु व्यवस्था का अभाव भी नहीं माना जा सकता १। अतः स्याद्वाद सिद्धान्त सर्वथा निर्दोष है। ऐसा मानना चाहिये। इसी बात को सूचित करने के लिये कारिकाकार ने कारिका में "न कश्चिद्विरोधोऽस्ति मुनीन्द्र ! तव शासने" ऐसा कहा है।

एवं विधिनिषेधाभ्यामनवस्थितमर्थकृत् ।
नेति चेन्न यथा कार्यं वहिरन्तरुपाधिभिः ॥ २१॥

अन्वय—एव विधिनिषेधाभ्यामनवस्थित (जीवादिवस्तु) अर्थकृत्। नेति चेत् यथा (अभ्युपगत) कार्यं बहिरन्तरुपाधिभिः (निर्वर्त्यं) न (स्यात्)

अर्थ—पूर्वोक्त पद्धतिरूप नीति के अनुसार सप्तभंगी विधि में सर्वथा विधि एवं निषेध से अनवधृत जीवादिक वस्तु अर्थक्रियाकारी होती है। इससे विपरीत नहीं। कारण कि सदादिक एकान्त में अर्थक्रियाकारिता युक्ति से घटित नहीं होती है। यदि इस सिद्धान्त को स्वीकृत न किया जाय और सदादि एकान्तात्मक ही वस्तु मानी जाय तो अन्तरग—उपादान—एव वहिरंग—निमित्त—कारणो द्वारा जिस रूप से कार्य की उत्पत्ति मानी गई है वह उस रूप से घटित नहीं हो सकती।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस वात की पुष्टि कर रहे हैं कि समस्त जीवादिक वस्तुएँ विधि एवं

१ स्याद्वादमजरी के हिन्दी अनुवाद के आधार से।

निषेध कर अनवस्थित हैं । सर्वथा जीवादिक वस्तुऐं सत् ही हैं अथवा सर्वथा असत् ही हैं इस प्रकार एकान्त रूप से जीवादिक पदार्थों मे सदसदात्मकता का कथन करना इसका नाम अवस्थित है इससे भिन्न-जीवादिक वस्तुऐ कथंचित् सत् हैं कथंचित् असत् हैं-इस प्रकार की मान्यता का नाम अनवस्थित है । इस प्रकार के कथन से यह फलित होता है कि कथंचित् सदसदात्मक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी है यही स्वपक्ष का समर्थन-साधन-है एव इससे भिन्न मान्यता में वस्तु अर्थक्रियाकारी नहीं है-यह परपक्ष का दूषणवचन है ।

आ० मी० २०७

प्रश्न---अन्य वादियो ने वस्तु को एकान्तरूप से सदात्मक अथवा असदात्मक मान कर किस प्रकार से अर्थक्रियाकारी माना है और कथंचित् सदसदात्मक वाद ने इसका किस प्रकार से निषेध किया है इस विषय को स्पष्ट रूप से समझा दीजिये

उत्तर--ठीक है । यद्यपि यह विषय पीछे खुलासा किया जा चुका है परन्तु तुम्हारे प्रश्नानुसार फिर भी इस पर प्रकाश डाला जाता १ हैं, यह तो मानी हुई बात है कि कार्य निमित्त और उपादान कारणो से होता है । जो सर्वथा नित्यवादी हैं अथवा सर्वथा अनित्यवादी हैं उनका परस्पर में एक दूसरे की मान्यता के प्रति इस प्रकार का आक्षेप है-बौद्ध जो सर्वथा असत् वादी है वह भावैकान्तवादी के प्रति इस प्रकार आक्षेप करता है कि पदार्थ जब सर्वथा नित्य माना जायगा तो वह स्वयं समर्थरूप उपादान कारण होता हुआ सहकारी कारणों की अपेक्षा कार्य की उत्पत्ति मे क्यो रक्खेगा यदि अपेक्षा रखता है तो वह असमर्थ माना जायगा । जब नित्य स्वय अर्थक्रिया करने में समर्थ है तो यह स्वाभाविक बात है कि उसे कार्य की उत्पत्ति मे कारणों की अपेक्षा रखने की आवश्यकता ही क्या है । इस प्रकार वह नित्य पदार्थ अक्रम से ही कार्यकारी होगा--क्रम से नहीं । यदि इस पर यों कहा जाय कि नित्य पदार्थ सहकारी कारणों की अपेक्षा नही रखता किन्तु कार्य ही सहकारी कारणो के विना उत्पन्न नही होता इसलिये उनकी अपेक्षा रखता है--सो इस पर भी यही पूछा जा सकता है कि वह नित्य उपादान रूप कारण समर्थ है कि असमर्थ ? समर्थ के लिये अपर सहकारी

१ प्रमेयकमलमा पाना १४७ के आधार से ।

कारणों की अपेक्षा नहीं होती है। यदि इस पर फिर भी यह कहा जाय कि जिस प्रकार बीज के समर्थ होनेपर वह अपने अंकुर रूप कार्य को बिना सहकारी पृथिवी जल वायु आदि के उत्पन्न नहीं करता है उसी प्रकार नित्य पदार्थ भी अपने कार्य को उत्पन्न करने के लिये सहकारी कारणों की अपेक्षा रखता है। तो इस पर यह प्रश्न होता है कि वे सहकारी कारण उस नित्य पदार्थ का कुछ उपकार करते हैं या नहीं। अनुपकार मे इनकी उसे आवश्यकता क्यो पड़ेगी।
आ० उपकार पक्ष मे वह कृत उपकार उस नित्य से भिन्न है या अभिन्न ? भिन्न में सम्बन्ध की असिद्धि आती है। अभिन्न
मी० मैं नित्य स्वयं कृतक बन जाता है। अतः एकान्त नित्य में कथमपि अर्थक्रिया सभवित नहीं होतो।

२०८ नित्यवादी क्षणिकवादी बौद्ध के ऊपर इस प्रकार आक्षेप करता है कि जब पदार्थ मूल में ही क्षणिक है-प्रतिक्षण विनाशी है-तो उसमे क्रम२ से अर्थ क्रिया करने की योग्यता ही सभवित नही होती। कारण कि देशक्रम और कालक्रम इस अवस्था मे सङ्गत नहीं बैठता। सन्तान बौद्ध सिद्धान्त की अपेक्षा वस्तुभूत तत्व नहीं माना गया है अक्रम से भी क्षणिक मे अर्थ क्रिया नहीं वनती है क्योकि एक बीजपूर आदि क्षण जब अपने कार्य को करेगा तो वहां यह प्रश्न होगा कि वह अनेक रस आदि क्षणो को एक स्वभाव से करेगा या अनेक स्वभावों से। एक स्वभाव से करने में रस आदि पदार्थो मे एकत्वापत्ति का प्रसग प्राप्त होगा। अनेक स्वभाव से करने मे किसी रूप आदि को उपादान भाव से और रस आदि को सहकारी भाव से उत्पन्न करने मे-यह प्रश्न होता है कि ये नाना स्वभाव उस बीजपूर के आत्मभूत हैं या अनात्मभूत। अनात्मभूत मानने मे बीजपूर में स्वभाव की हानि प्राप्त होती है। आत्मभूत मानने में बीजपूर में अनेकता का प्रसंग प्राप्त होता है-जो क्षणिकवाद का घातक होता है। इस प्रकार सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य पदार्थ से सहकारी एव उपादानभावों द्वारा कार्य की उत्पत्ति घटित नहीं होती है। इसी का नाम अर्थ क्रिया का अभाव है। इसी बात को अष्टशतीकार ने यों लिखा है-"सत्त्वाद्यन्यतममात्रे एवभंगे समवस्थित कुतो नार्थकृत्" अर्थात् कोई प्रश्न करता है कि सत्त्व आदि किसी एक भंग में एकान्तरूप से अवस्थित वस्तु अर्थक्रियाकारी क्यों नही हो सकती है !

उत्तर-" सप्तभगीविधौ स्याद्वादे विधिप्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु सदसदात्मकं अर्थक्रियाकारि कथचित् सत

एव सामग्रीसन्निपातिनः स्वभावातिशयोत्पत्तेः सुवर्णस्येव केयूरादिसंस्थानम् " सप्तभंगी की विधिवाले इस स्याद्वाद में विधि एव प्रतिषेध से युक्त वस्तु सदसदात्मक होती हुई अर्थक्रियाकारी मानी गई है। जिस प्रकार सुवर्ण सुवर्णत्व आदि द्रव्यार्थ की विवक्षा से विचारित होकर सत् ही माना जाता है। परन्तु जब उस का केयूर आदि पर्याय की दृष्टि से विचार किया जाता है तो वह असत् हो जाता है। इस तरह सुवर्णद्रव्य किसी अपेक्षा सत् और किसी अपेक्षा असत् है। इसे जब सुवर्णकार के व्यापार आदि स्वरूप बहिरंग कारण का मिलाप होता है तब वह केयूरादिरूप पर्याय से परिणमित होने की योग्यतारूप अन्तरंग कारण के सद्भाव से केयूर आदि पर्याय से उत्पन्न हो जाता है। इससे यही बात स्पष्ट होती है कि सदसदात्मक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी है। तात्पर्य इसका यह है कि स्याद्वादसिद्धान्त में पूर्व आकार का त्याग, उत्तर आकार का ग्रहण और पूर्वोत्तर दोनो अवस्थाओ में पदार्थ के ध्रुव रहने के कारण पदार्थों में अर्थक्रिया मानने में कोई विरोध १ नहीं आता है। इस पर इस प्रकार की शका नहीं हो सकती कि एक ही पदार्थ में परस्पर दो विरुद्ध धर्म कैसे रह सकते हैं कारण कि स्याद्वाद में एकान्त नित्य और एकान्त अनित्य से विलक्षण तीसरा ही पक्ष स्वीकार किया गया है। प्रत्येक वस्तु किसी अपेक्षा से नित्य एवं किसी अपेक्षा से अनित्य मानी गई है। यह पक्ष प्राय प्रत्येक वादियों ने किसी न किसी रूप में स्वीकार २ ही किया है—एकभाग में सिंह दूसरे भाग में नर इस प्रकार दो भागों को धारण करने से भाग रहित नृसिंहावतार को नरसिंह कहा जाता है। मतलब कहने का यह है कि जिस प्रकार नृसिंहावतार एक भाग में सिंह और दूसरे भाग में मनुष्य इस प्रकार दो विरुद्ध आकृतियों को धारण करता है और इसी से वह नृसिंह कहा जाता है इसी तरह स्याद्वाद में नित्य अनित्य दो विरुद्ध धर्मों के रहने पर भी उस सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं आता है।

" १ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययगोचरत्वात् पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्तेश्च" चतुर्थअ· सूत्र १ परीक्षामुख। स्याद्वादे तु पूर्वोत्तराकारपरिहारस्वीकारस्थिति लक्षणपरिणामेन भावानामर्थक्रियोपपत्तिरविरुद्धा आदीपमाव्योमसम स्वभाव स्याद्वाद मुद्रानतिभेदिवस्तु नित्यमन्यदिति त्वदाज्ञाद्विषतां प्रलापाः—स्या० म० कारिका ५।

२ भागे सिंहो नरो भागे योऽर्थो भागद्वयात्मकः, तमभाग विभागेन नरसिंह प्रचक्षते ।

वैशेषिक मतवालों ने इसी स्याद्वाद की शैली के अनुसार एक चित्ररूप अवयवी में तथा एक ही पट में चल और अचल, रक्त और अरक्त, आवृत एव अनावृत आदि विरुद्ध धर्मों को अंगीकार किया है। बौद्धों ने भी एक ही चित्रपटज्ञान में नील और अनील में कोई विरोध नहीं माना है। पातञ्जल योग को मानने वालो ने भी वस्तु को नित्यानित्यात्मक स्वीकार किया है—उनका कहना है कि धर्मी का परिणाम धर्म, लक्षण और अवस्था के भेद से तीन प्रकार का है। सुवर्णरूप धर्मी का धर्म परिणाम वर्धमान रुचक वगैरह है। धर्म के आगामीकाल में होने को लक्षण परिणाम कहा है। जिस समय सुनार वर्धमानक को तोड़कर रूचक बनाता है उस समय वर्धमानक वर्तमान लक्षण को छेड़ कर अतीतलक्षण को प्राप्त करता है तथा रुचक अनागत लक्षण को छोड़कर वर्तमान लक्षण को प्राप्त करता है। वर्तमान दशा को प्राप्त हुआ वह रुचक नये तथा पुरानेपन को धारण करता हुआ धर्मी का अवस्था परिणाम कहा जाता है। यह धर्म लक्षण एवं अवस्थारूप धर्मी का त्रिविध परिणाम उस अपने धर्मी से भिन्न भी है और अभिन्न भी है। और इसी अपेक्षा से ये नित्य और अनित्य भी हैं। अनित्यता में उत्पत्ति एव विनाश कारण है। इस प्रकार प्रत्येक जीवादिक पदार्थ उत्पत्ति व्यय एव ध्रौव्यात्मक सिद्ध होते हैं। अतः किसी को सर्वथा नित्य मानना किसी को सर्वथा अनित्य मानना यह मान्यता सर्वथा युक्ति शून्य है। इसीलिये अष्टशतीकार ने "सप्तभंगविधौ स्याद्वादे विधिप्रतिषेधाभ्यां समारूढं वस्तु सदसदात्मकमर्थक्रियाकारि" ऐसा कहा है। क्योंकि कथंचित् सत्—उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य से युक्त पदार्थ—के अन्तरंग एवं बहिरंगसामग्री के सन्निपात होनेपर स्वभाव में अतिशय की उत्पत्ति हो सकती है। इसी का नाम परिणामी नित्य है। इस परिणामी नित्य पदार्थ से भिन्न एकान्त नित्य अथवा एकान्त अनित्य पदार्थ में अर्थक्रियाकारिता नहीं आती

१ त्रिविध' खल्वय धर्मिणः परिणामो धर्मलक्षणावस्थारूपः इत्युभयमुपपन्नमिति । योगसूत्र ३–१३ व्यासभाष्य। सुवर्णं धर्मि तस्य धर्मपरिणामो वर्धमानरुचकादि', धर्मस्य तु लक्षणपरिणामोऽनागतत्वादि यदा खल्वय हेमकारो वर्धमानकं भंक्त्वा रुचकमारचयति तदा वर्धमानको वर्तमानतालक्षणं हित्वा अतीततालक्षणमापद्यते रुचकस्तु अनागततालक्षणं हित्वा वर्तमानतालक्षणमापद्यते वर्तमानतापन्न एव तु रुचको नवपुराणभावमापद्यमानोऽवस्थापरिणामवान् भवति। सोऽय त्रिविधः परिणामो धर्मिणः। धर्मलक्षणावस्थाश्च धर्मिणो भिन्नाश्चाभिन्नाश्च।

है इस बात को कारिकास्थ " नेति " इस पद द्वारा प्रकट किया गया है। अर्थात् कथंचित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य पदार्थ ही अर्थक्रियाकारी होता है।

जब इस प्रकार कहा जाता है तो इस पर एकान्त नित्यवादी और एकान्त अनित्यवादी संमत नहीं होते हैं और कहते हैं कि सर्वथा नित्य और सर्वथा अनित्य में ही अर्थ क्रियाकारिता आती है। इस पर सिद्धान्त कहते हैं कि तुम्हारा इस प्रकार का मन्तव्य युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि प्रदर्शित पद्धति के अनुसार सर्वथा नित्य में एवं सर्वथा अनित्य में अर्थक्रियाकारिता उपादान एवं सहकारी भावों की कल्पना द्वारा प्रकट करने में आई है वह ठीक नहीं बैठती है। यह बात पीछे स्पष्ट कर दी गई है। नित्यवादी एव सर्वथा अनित्यवादी के यहां उपादान एव सहकारी कारणों की सिद्धि किस प्रकार नहीं हो सकती है इसे और स्पष्ट करने के लिये न्यायकुमुदचन्द्रोदय में कारकसाकल्य एवं द्वितीय-कारिका की व्याख्या देखनी चाहिये। अष्टशतीकार ने इसी विषय को "नेति चेदित्यादिनैकान्तेऽर्थक्रियां प्रतिक्षिपति" इस अष्टशती द्वारा प्रकट किया है। वे आगे चलकर कहते हैं कि " न तावत् सतः पुनरुत्पत्तिः अस्ति न चानुत्पन्नस्य स्थिति-विपत्ती खपुष्पवत्" कि जो एकान्तरूप से नित्य है-कूटस्थ नित्य है, उसमें उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्य सभवित ही नहीं होते है। क्योकि अप्रच्युत, अनुत्पन्न, स्थिर और एकरूप नित्य माना गया है। इसलिये नित्य पदार्थ किसी भी रूप से उत्पन्न-परिवर्तित-नहीं हो सकता। यदि किसी रूप से वह परिवर्तित हो जाता है तो वह सर्वथा नित्य नहीं माना जा सकता। यदि इस पर कोई इस प्रकार कहे कि परिवर्तन द्रव्य में नहीं होता है, किन्तु उसकी अवस्थाओं में होता है। जिस प्रकार सर्प की कुण्डलाकार अथवा सरल अवस्थाओं में भेद होने से सर्प में भेद होना कहा जाता है उसी प्रकार द्रव्य की अवस्थाओ में भेद होने से द्रव्य में भी भेद होना मान लिया जाता 1 है। सो ऐसा कहना उचित नहीं है

---

1 अथ अवस्थाभेदादय व्यवहार', न चावस्थासु भिद्यमानासु अपि तद्वतो भेदः। सर्पस्येव कुण्डलार्जवाद्यवस्थासु। इति चेन्न तास्ततो व्यतिरिक्ता अव्यतिरिक्ता वा, व्यतिरेके तास्तस्येति सम्बन्धाभावः, अप्रतिप्रसगात् अव्यतिरेके तु तद्वानेवेति तदवस्थितैव स्थिरैक रूपताहानिः।
स्या० मज० पृ० ३०२।

आ०
मी०
२११

कारण कि द्रव्य अपनी अवस्थाओं से सर्वथा भिन्न थोडे ही है। यह अटल सिद्धान्त है कि द्रव्य पर्याय विना और पर्याय द्रव्य विना कभी रह ही नही सकती है। दोनो मे अविष्वग्भावसबन्ध माना गया १ है।

अवस्थाओं का परिवर्तन ही कथंचित् द्रव्य का परिवर्तन कहा गया है। अतः एकांत नित्य में पदार्थ में उत्पाद नहीं हो सकता-जब उसमे उत्पाद नहीं है तो उत्पाद के विरह में स्थिति (ध्रौव्य) और विनाश भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि ये तीनों एकाधिकरण हैं और परस्पर अविनाभावी हैं। तथा एककालभावी हैं। इसलिये उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्यात्मक जो वस्तु का लक्षण है वह एकान्त नित्य में नहीं रहता है। अत इस सत् में अर्थक्रियाकारिता नहीं आ सकती है। इसी प्रकार जो सर्वथा असत् है उसमें भी उत्पादादिक धर्म संभवित नहीं होते हैं अतः सर्वथा असत् में भी अर्थक्रियाकारिता नहीं घटती है। यदि अपनी उत्पत्ति से पहिले अविद्यमान का सामग्री—अन्तरग तथा वहिरंग कारणों—से जन्म माना जायगा तो सर्वथा नित्य एव सर्वथा अनित्य की मान्यता का अभाव प्रसक्त होगा। क्षणिक मान्यता में कार्य की उत्पादिका जो सामग्री होगी वह भी क्षणिक ही मानना पड़ेगी। तथा च निष्कारण कार्य की उत्पत्ति कैसे हो सकेगी। मृत्तिका रूप उपादान कारण के रहने पर ही निमित्त कारण के सम्बन्ध से मृत्तिका का परिणाम घट रूप होता है। तथा इस घटरूप उत्पत्ति में मृत्तिका के पूर्वाकार का विनाश होता है, अतः उत्पत्ति और विनाश साधार हैं। जब निरन्वय विनाश पदार्थ का माना जायगा तो उत्पत्ति और विपत्ति रूप क्रियाएं किसके आधार रह सकेंगो। स्थिति क्रिया की तरह ये निराधार तो रह नहीं सकती, यदि इस पर यों कहा जाय कि हम क्षणिक में उत्पत्त्यादिक क्रियाएं मानते होते तभी आपका ऐसा कहना युक्तियुक्त था-परन्तु हम तो क्षणिक पदार्थ में उत्पत्त्यादिक क्रियाएं मानते ही नहीं हैं कारण कि उसमें उनकी असंभवता है अतः आप जो उत्पत्त्यादिक क्रियाओं को साधार

---

१ द्रव्यं पर्यायवियुत पर्यायाः द्रव्यवर्जिताः।
क्व कदा केन किं रूपा दृष्टा मानेन केनचित् ॥

सन्मति तर्क १ । १३

मानकर उनके आश्रयभूत पदार्थ मे अक्षणिकता की सिद्धि करना चाहते हैं सो ठीक नहीं है, सो ऐसा कहना भी प्रत्यक्षादि प्रमाणो से विरुद्ध पड़ता है। क्योकि प्रत्यक्षादि प्रमाणो में उत्पत्त्यादिक विशिष्ट पदार्थ का प्रतिभास होता है।

यदि ऐसे पदार्थ का प्रतिभास न होता तो "उत्पत्यादि विशिष्ट यह पदार्थ है" इस प्रकार का उत्पत्त्यादिक विशिष्ट विकल्प प्रत्यक्ष बुद्धि के उत्तर काल में पदार्थों मे नहीं होना चाहिये। जब तक दंड और पुरुष का सम्बन्ध

दृष्टिगत नहीं हो लेता है तब तक " यह दंडी है" इस प्रकार का विकल्प उद्भूत नहीं होता। अतः कारिकाकार ने यह ठीक कहा है कि जो एकान्त से सद् अथवा असत् है वह उत्पन्न होने के योग्य ही नहीं हो सकता है। जैसे एकान्त

से सद्रूप व्योम और असत्रूप वध्यासुत। "यत् एकान्तेन सत् असत् वा तन्नोत्पत्तुमर्हति व्योमवन्ध्यासुत वत्" इस प्रयोग में जो व्योम एव वध्यासुत को दृष्टान्त कोटि में रक्खा गया है वह दूसरों की इस प्रकार की मान्यता को लेकर ही समझना चाहिये। स्याद्वाद की मान्यतानुसार नहीं। नही तो उसकी स्थिति मानने में विरोध पडेगा, यह अभी कहा ही जा चुका है कि जो अनुत्पन्न होता है उसकी स्थिति और विपत्ति नहीं होती हैं। अतः स्याद्वाद की दृष्टि में द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से ही आकाश आदि पदार्थ नित्य माने गये हैं। तथा पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से वे ही आकाश आदि समस्त पदार्थ अनित्य भी माने गये है। पदार्थों में उत्पाद व्यय यह पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से एवं स्थिति-ध्रौव्य-यह द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा से जानना चाहिये। इसलिये जो अर्थक्रियाकारी है वह विधि एवं प्रतिषेध की कल्पना से कल्पित सप्तभगीविधि मे समारूढ है अथवा सदादि एकान्त में सर्वथा अर्थक्रिया का विरोध होने से विध्यैकान्त आदि में अनवस्थित है इस प्रकार का कारिकाकार का मत है। सुनयार्पित विध्यश को तथा निषेधांश को अर्थक्रियाकारी होने से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वह विध्यश एवं निषेधांश सप्तभगीविधि में असमारूढ है। क्योंकि सुनयार्पित विध्यश अथवा निषेधांश सप्तभगीविधि में समारूढ ही माने गये हैं। कारण कि वे अपने से भिन्न भङ्गान्तर का प्रतिक्षेप नहीं करते हैं। इस प्रकार के कथन में अर्थात् विध्यादि अशो को सप्तभगी विधि में समारूढ मानने में-अनवस्था दोष का अबतार नहीं हो सकता है। कारण कि विधि आदि भंगों में अन्यविधि आदि भगो की कल्पना का अभाव है। नयवाक्य

में और प्रमाण वाक्य में यही तो विशेषता है कि प्रमाण वाक्य युगपत् प्रधानरूप से अर्पित समस्त भङ्गात्मकवस्तु का विवेचन करता है और नय वाक्य इतर धर्मों का व्यवच्छेद न करता हुआ वस्तु में एक ही धर्म का प्रधानतया कथन करता है। जैसे विधि भंग में नास्तित्व आदि भंगान्तर की गौणता है एव अस्तित्व की प्रधानता है। प्रतिषेधभग में अस्तित्वादि भगान्तर की गौणता एव प्रतिषेधभग की मुख्यता है। यह नय वाक्य है। नयवाक्य सुनयार्पित होने से इतर धर्मों का व्यवच्छेदक न होने से-सप्तभंगीविधि में समारूढ माना गया है। अतः सुनयार्पित विध्यंश अथवा प्रतिषेधांश एकान्तवादान्तर्गत न होने से अर्थक्रियाकारी होते हैं। सर्वथा विधिवाद अथवा सर्वथा असद्वाद अर्थक्रियाकारी नहीं होते है। यह कथन सर्वथा निर्दोष है।

धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मणः।
अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदङ्गिता ॥ २२ ॥

अन्वय—अनन्तधर्मणः धर्मिण. धर्मे धर्मे अन्य एव अर्थ। अन्यतमान्तस्य अंगित्वे शेषान्तानां तदङ्गिता (जायते)।

अर्थ—अनंतधर्म विशिष्ट जीवादिक एक धर्मी के प्रत्येक धर्म में भिन्न २ ही प्रयोजनादिरूप अर्थ रहा हुआ है। किसी एक धर्म द्वारा जब धर्मी का वर्णन किया जाता है तब वह धर्म धर्मी में मुख्य हो जाता है और अवशिष्ट धर्म उसमें गौण हो जाते हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार ने वादी के आक्षेप का समाधान करते हुए स्याद्वाद सिद्धान्त द्वारा मान्य धर्म एव धर्मी की क्या कैसी व्यवस्था है इस बात पर प्रकाश डाला है। आक्षेप वादी का इस प्रकार है—"जब जीवादिक धर्मी अनंत धर्मात्मक है तब स्यादस्त्येव जीवादि" इस प्रकार से अस्तित्वमुखेन उसका प्रतिपादन होने पर इस प्रथम भंग से ही सत्त्व द्वारा उसका ज्ञान हो जाता है तब फिर द्वितीयादिक भंगो का प्रतिपादन करना

व्यर्थ ही है। कारण कि असत्त्वादि इतर धर्मों का कि जो उस वस्तु स्वरूप से परिणत हो रहे हैं उस सत्त्वात्मक प्रथम-भग से ही ज्ञान हो जायगा। यदि प्रथम भग से उनका ज्ञान न माना जायगा और यही माना जायगा कि सत्त्वमुखेन केवल वस्तु का ही ज्ञान होगा तो फिर इस स्थिति में वस्तु से उनकी भिन्नता ही माननी पडेगी। इस भिन्नता में वे धर्म वस्तु के हैं यह व्यपदेश उनमें कैसे हो सकेगा। क्योकि "ये इसके हैं" इस प्रकार के व्यपदेश का कारण तो सम्बन्ध माना जाता है। भिन्नता में सम्बन्ध बनता नही है। यदि सम्बन्ध स्थापित करने के अभिप्राय से ऐसा कहा जाय कि सत्त्वादिक धर्मों का धर्मी के साथ उपकार्य उपकारक सम्बन्ध है तो फिर भी यहां यह प्रश्न होता है कि कौन किसका उपकार करते हैं ? क्या धर्मी धर्मों का अथवा धर्म धर्मी का। यदि यह कहा जाय कि धर्मी धर्मों का उपकार करता है तो इस स्थिति मे "धर्मी एक शक्ति से धर्मों का उपकार करता है अथवा अनेक शक्तियों से" यह प्रश्न खडा होता है। धर्मी एक शक्ति द्वारा अनेक सत्त्वादिक धर्मों का उपकारक होता है यह प्रथम पक्ष अंगीकार किया जाय तो इस पक्ष में "समस्त धर्मों का युगपत् ग्रहण होने का दोष आता है। कारण कि धर्मी उस एक ही अपनी शक्ति से जो उस धर्मी से पृथक् नहीं है उन समस्त सत्त्वादिक धर्मों का उपकार करता है तो नाना धर्मों के उपकार करने में निमित्तभूत उस एक ही शक्तिस्वरूस धर्मी के एक धर्म द्वारा प्रतिपन्न-ज्ञात-होने पर उस धर्मी द्वारा उपकार्य सकल धर्मों की भी प्रतिपत्ति प्रथम भंग से ही हो जायगी। कारण कि वह धर्मी उन अनेक धर्मात्मक है। अन्यथा उपकारक रूप धर्मी की भी प्रतिपत्ति नहीं हो सकेगी। यदि धर्मी अनेकशक्तियों से जो अपने से जुदी नहीं हैं धर्मों का उपकार करता है यह द्वितीय पक्ष अंगीकार किया जाय तो इसमें भी यही पूर्वोक्त दोष आता है, कारण कि वह धर्मी उन अपनी अनेक शक्तियों से अलहदा तो है नहीं किन्तु नाना धर्मों के उपकार करने में निमित्तभूत जो वे नाना शक्तियां है तदात्मक है- उन स्वरूप है, अतः ऐसे धर्मी का जब एक सत्त्व द्वारा बोध होगा तो उस नाना शक्त्यात्मक धर्मी के बोध होने से उसमे रहे हुए अनत धर्मों का-नास्तित्व आदि अनेक धर्मों का —भी बोध हो जायगा—अत इस पक्ष में भी वही सकलग्रह होने का प्रसंग प्राप्त होगा।

आ० मी० २१६

धर्मी का उपकार धर्म करते हैं यदि यह पक्ष माना जाय तो हम यह पूछते है कि वह धर्मी एक उपकार्य शक्ति आत्मक है या अनेक उपकार्य शक्त्यात्मक है। यदि वह एक अथवा अनेक उपकार्य शक्ति-आत्मक माना जाय और यह कहा जाय कि नाना धर्म उस एक धर्मी का उपकार करते हैं तो ऐसा कहना ठीक नहीं है। कारण कि जब तक उपकारक सकल धर्मों की प्रतिपत्ति नहीं होगी तब तक धर्मों द्वारा उपकार्य जो एकानेक शक्ति आत्मक धर्मी है उसकी प्रतीति कैसे हो सकती १ है।

यदि ऐसा कहा जाय कि शक्तियां धर्मी की उपकारक भी हैं और उपकार्य भी हैं और वे धर्मी से भिन्न ही हैं तो इस पर हम यह पूछते है कि इन शक्तियों द्वारा उस धर्मी का अथवा धर्मी द्वारा उन शक्तियों का कोई उपकार किया जाता है या नहीं ? यदि यह कहा जाय कि कोई भी उपकार परस्पर में नहीं किया जाता है तो ऐसी स्थिति में ये शक्तियां धर्मी की हैं अथवा धर्मी इन शक्तियो का है इस प्रकार का व्यपदेश ही नही बन सकता है। यदि प्रथम पक्ष स्वीकार किया जाय और यह कहा जाय कि वे शक्तियां शक्तिमान्-धर्मी का उपकार करती हैं तो इस पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह शक्तियो द्वारा किया गया उपकार शक्तिमान् धर्मी-से भिन्न है कि अभिन्न है ? उपकार को अभिन्न मानने पर-अर्थात् जो शक्तियों द्वारा शक्तिमान् का उपकार किया गया वह उससे अभिन्न किया गया—इस प्रकार की मान्यता में उस कृत उपकार से अभिन्न होने के कारण वह शक्तिमान्-धर्मी-ही किया गया ऐसा मानना पडेगा। अतः शक्तियों का कार्य होने से यह स्वय शक्तिमान् नहीं कहला सकेगा।

यदि शक्तियों द्वारा किया गया उपकार शक्तिमान् से भिन्न है ऐसा पक्ष स्वीकार किया जायगा तो इसमें अनवस्था नाम का दूषण आता है क्योकि जब शक्तियों द्वारा उपकार शक्तिमान् से भिन्न किया जाता है तो फिर यह

१ नानोपाध्युपकाराङ्गशक्त्यभिन्नात्मनो ग्रहे।
सर्वात्मनोपकार्यम्य कोभेद· स्यादनिश्चितः ॥
एकोपककारके ग्राह्ये, नोपकारास्ततोऽपरे।
दृष्टे यस्मिन्नदृष्टास्ते, तद्ग्रहे सकलग्रह. ॥

उपकार शक्तिमान् का है इस तरह का व्यपदेश नहीं हो सकृता । यदि इस प्रकार के व्यपदेश को सिद्धि के लिये उपकारान्तर की कल्पना की जाय तो फिर यही पूर्वोक्त प्रश्न उपस्थित होगा- अतः भिन्न पक्ष में अनवस्था का उद्धार हो ही नहीं सकता । शक्तिमान् के द्वारा शक्तियो का उपकार किया जाता है यदि यह पश्न स्वाकार किया जाय तो यहां पर भी यही पूछा जायगा कि वह उपकार उनसे भिन्न किया गया या अभिन्न किया गया । अभिन्न पक्ष में शक्तियां स्वयं कृतक माननी पडेगी । भिन्न पक्ष मे व्यपदेशाभाव होगा । व्यपदेश के लिये शक्त्यन्तरों की कल्पना मे अनवस्था, एवं
आ० शक्त्यन्तरो की अकल्पना में प्राच्य शक्तियो की अव्यवस्था होगी । अतः यह शक्ति है और यह शक्तिमान् है इस प्रकार
मी० के व्यवहार का ही विच्छेद हो जायगा १ । इस पूर्वोक्त कथन से वादी ने यह साबित करना चाहा है कि न कोई धर्मी
२१७ है और न कोई धर्म है । वादी की इस आशका का उत्तर देते हुए कारिकाकार कहते हैं कि जोवादिक पदार्थरूप धर्मी है और वह अनंत धर्म विशिष्ट है । यदि अनत धर्म विशिष्ट वह नही होता तो वह प्रमाण का विषयभूत नहीं हो सकता अतः " धर्मी तावदनन्तधर्मा जीवादिः प्रमेयत्वान्यथानुपपत्ते " इस अनुमान द्वारा धर्मी और धर्म इन दोनो का अस्तित्व सिद्ध होता है ।

शका—आपने प्रमेयत्वान्यथानुपपत्तिरूप हेतु से जो अनंत धर्म विशिष्ट धर्मी की सिद्धि करना चाही है वह ठीक नही है कारण कि यह अनुमान धर्म द्वारा व्यभिचरित हो जाता है और वह इस प्रकार से—धर्म प्रमेय तो है पर वह अनंत धर्म विशिष्ट नहीं है । यदि धर्म को भी अनत धर्म विशिष्ट माना जायगा तो वह धर्म न होकर धर्मी हो जायगा । धर्म स्वतंत्र कोई सिद्ध नहीं हो सकेगा—ऐसी परिस्थिति में न तो कोई धर्मी ही बन सकेगा और न धर्म ही । अतः दोनों का अभाव प्राप्त होता है । दूसरे—प्रमेयत्व रूप हेतु धर्म जो स्वयं अनंतधर्म शून्य है उससे भी यह हेतु व्यभिचरित हो जाता है । क्योंकि वह प्रमेय तो है पर उसमें अनंत धर्म विष्टिता नही है । यदि व्यभिचार को वारण करने के लिये प्रमेय-

१ धर्मोपकारशक्तीनां भेदे तास्तस्य किं यदि ।
नोपकारास्ततस्तासां तथा स्यादनवस्थितिः ॥

आ० मी० २१८

त्वरूप हेतु धर्म अनंतधर्म विविष्ट अंगीकार किया जाय तो इस कथन से वह धर्मी ही साबित हो सकेगा, तथा च पक्षान्तःपाती होने से वह हेतुकोटि में नहीं आ सकता।

उत्तर–इस प्रकार का उपालम्भ देना ठीक नहीं है। कारण कि यह धर्मी ही है और यह धर्म ही है ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है। जो अपने धर्मी की अपेक्षा धर्म माना जाता है वही अपने अन्य धर्मान्तर की अपेक्षा से धर्मी वन जाता है इसलिये जब धर्म भी अपने धर्मान्तर की अपेक्षा से धर्मी वन जाता है तो फिर पूर्वोक्त अनुमान व्यभिचरित कैसे हो सकता है। कारण कि उसमे प्रमेयता होने से अनंतधर्म–विशिष्टता सिद्ध होती है। हां यदि ऐसा कोई नियम ही होता कि अमुक अमुक सर्वथा धर्म ही हैं और अमुक २ सर्वथा धर्मी हैं तो व्यभिचार का प्रदर्शन लागू हो सकता परन्तु ऐसा कोई एकांत नियम बांधने में नहीं आया हैं, अतः पूर्वोक्त अनुमान सर्वथा निर्दोष है।

शंका–इस प्रकार कहकर आपने व्यभिचार दोष का वारण तो कर दिया पर इस वारण में एक नई आपत्ति और आपको आती है उसका आपने विचार ही नहीं किया। जब धर्म अपने धर्मान्तर की अपेक्षा धर्मी माना जायगा तो जिस धर्मान्तर से वह धर्मी बना है उस धर्मान्तर को भी धर्मी बनने के लिये अन्य धर्मान्तर की अपेक्षा होगी इस प्रकार अनेक धर्म धर्मी की कल्पना करना पडेगी और ऐसा करने से अनवस्था दोष उपस्थित होगा। अथवा यह धर्म है यह धर्मी है इस प्रकार की धर्म को ही अनन्त धर्मात्मक धर्मी रूप से प्रतिपादन करने पर कोई इन दोनों की नियमित व्यवस्था नहीं बन सकेगी।

उत्तर–धर्म और धर्मी में स्वभाव भेद का व्यवहार वलय एवं अभव्य के ससार की तरह अनादि अनंत माना गया है। जिस प्रकार भ्रमण काल में वलय का जो पूर्वभाग होता है वही अपर भाग भी हो जाता है। इसी तरह जो धर्म होता है वही किसी अपने अन्य धर्म की अपेक्षा धर्मी वन जाता है। जीवादिक धर्मी से पृथक् किया गया धर्म प्रमेय नहीं होता है कि जिससे व्यभिचार दोष आसके। वह तो नय का विषय माना गया है। अत पहिले जीवादिक पदार्थों को अनन्त धर्मविशिष्ट सिद्ध करने के लिये प्रदत्त प्रमेयत्व हेतु को जो धर्म द्वारा व्यभिचरित प्रगट किया गया है वह ठीक

नहीं है। इसी प्रकार प्रमेयत्व रूप साधन धर्म में भी यही बात समझना चाहिये। अर्थात् प्रमेयत्व यह एक धर्म है। यह प्रमाण का विषय नहीं है किन्तु नय का विषय है। अतः इसके द्वारा भी प्रमेयत्वान्यथानुपपत्ति रूप हेतु व्यभिचारी नहीं होता है। दूसरे--प्रमाण का विषयभूत जो प्रमेयत्व है वह भले ही अपने धर्मान्तर की अपेक्षा अनन्त धर्मवाला होने से धर्मी हो जाय और इस कारण पक्ष के अन्तर्भूत भी हो जाय तो भी उसमें हेतुत्व का व्याघात नहीं हो सकता है, कारण कि स्व एव पर जीवादिक पदार्थों में जब इसके द्वारा अनंत धर्मात्मकता साध्य की जाती है तब इसमें अन्यथानुपपत्ति का सद्भाव पाया जाता है। मतलब इसका यह है कि प्रमाण का विषयभूत प्रमेयत्व हेतु अपने धर्मान्तर की अपेक्षा से जब धर्मी होकर पक्ष के अन्तर्भूत होगा, तब उस धर्मीरूप प्रमेय में भी अनंत धर्मात्मकता साध्य की जानेपर प्रमेयत्वान्यथानुपपत्तिरूप हेतु वहा योजित होगा। क्योकि इसके द्वारा ही वहां अनन्तधर्मात्मकता साध्यकोटि में आयगी।

शका—धर्मी को हेतु मानने पर अनन्वय १ नाम का दोष आता है--सो आप इसका उद्धार कैसे कर सकोगे।

उत्तर——यह कहना उचित नहीं है कारण कि विशेष प्रमेय को धर्मी की कोटि मे रखकर सामान्य प्रमेय को हेतु कोटि में रखने से यह दोष नहीं आता है।

अतः पूर्वोक्त निर्दोप अनुमान से अनंत धर्मात्मक धर्मी की सिद्धि होती है। इस धर्मी के जो भिन्न २ अस्तित्व आदि धर्म हैं उनका प्रयोजन भिन्न२ है। अस्तित्व धर्म उसमे सत्ता की सिद्धि अथवा उस विषयक अज्ञान की निवृत्ति करता है। यही उसका प्रयोजन है। नास्तित्व धर्म वस्तु मे पर द्रव्यादिक की अपेक्षा पर पदार्थों का अभाव प्रकट करता है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म में प्रयोजन भिन्न२ रूप से वर्तते है। अत भिन्न२ प्रयोजनों को प्रकट करने के लिये भिन्न२ धर्मों--भङ्गो--का प्रयोग करना स्वाभाविक है। एक ही प्रयोजन तो है नहीं कि जिससे प्रथम भंग के कहने से ही अनंत धर्मात्मक वस्तु का बोध हो जाय और शेष धर्मों का कथन निरर्थक हो जाय। धर्म न तो अपने धर्मी से सर्वथा भिन्न*

१ धर्मिणो हेतुत्वेऽनन्वयदोषः इति चेन्न विशेषस्य धर्मित्वात् सामान्यस्य हेतुत्वात्। प्रमेयरत्नमाला पृ० ४१।

* संज्ञासख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा॥

आप्तमीमाँसा कारिका ७१

हो हैं और न सर्वथा अभिन्न ही हैं, किन्तु वे किसी अपेक्षा उससे भिन्न भी हैं और किसी अपेक्षा अभिन्न भी हैं। अतः
पहिले जो यह बौद्धों द्वारा कहा गया है कि "धर्मों से धर्मों को भिन्न मानने में व्यपदेश-ये धर्म इस धर्मी के हैं इस
प्रकार का कथन-नहीं हो सकेगा, तथा अभिन्न मानने में एक धर्म के प्रतिपादन से अन्य धर्मों का भी प्रतिपादन हो
जायगा अतः अन्य धर्मों को प्रतिपादन करने के लिये नास्तित्व आदि शब्दों का प्रयोग करना निरर्थक ही हो जायगा"
सो उचित नहीं है। कारण कि अपने धर्मों से कथंचित् भिन्नाभिन्नात्मक धर्मीरूप वस्तु को जैन दार्शनिकों ने जात्यन्तर
आ० रूप से अंगीकार किया है। इसमें विरोध आदि दोषों का अवतार नहीं होता है। यह बात पीछे स्पष्ट की जा चुकी है।
मी० इस अनत धर्मात्मक वस्तु का कथन जिस धर्म को मुख्य लेकर किया जाता हैं वह धर्म उस वस्तु में मुख्य हो जाता है
२२० और अवशिष्ट धर्म उसमें गौण हो जाते हैं। वस्तु को कहने वाले की विवक्षा भी इसी तरह की होती है। इसलिये
भगान्तर-दूसरे नास्तित्व आदि भंगों-का प्रयोग अयुक्त नहीं है। क्योकि प्रत्येक धर्म को लेकर धर्मी के स्वभाव में कथं-
चित् भेद होता है। बौद्ध मान्यतानुसार यदि प्रत्येक धर्म की अपेक्षा धर्मी मे कथचित् स्वभावभेद परमार्थतः न हो तो
प्रत्यक्ष से-श्रावण प्रत्यक्ष से-गृहीत शब्दादिक विषयो मे बौद्ध धर्म की अपेक्षा क्षणिकत्व सिद्ध करने के लिये जो "सर्वं
क्षणिक सत्त्वात्" इस प्रकार का स्वार्थानुमान अपने निमित्त करता हैं वह नहीं बन सकता। कारण कि शब्द रूप
धर्मी की प्रतिपत्ति होने पर वहां ऐसा और कोई अब स्वभाव ही नहीं बचता है जो अनुमान से जानने के लिये साध्य-
कोटि में रक्खा जा सके। क्योकि बौद्धो का तो स्वय ऐसा कहना कि धर्मी में भिन्न२ धर्मों की अपेक्षा स्वभाव भेद
होता ही नही है। कारण कि उनके सिद्धान्तानुसार वस्तु निरंश मानी गई है। अत इस पर जैनदार्शनिकों की तरफ
से उनपर यह आक्षेप किया गया [१] है। इसी तरह जो वस्तु शब्द द्वारा अभिहित हो चुकी है-अर्थात् क्षणिकत्व सिद्ध
करने के लिये जो शिष्यों के प्रति "सर्वं क्षणिक सत्त्वात्" ऐसे परार्थानुमान रूप अनुमान का प्रयोग किया जाता है

१ यदि पुनः प्रत्युपाधि परमार्थतः स्वभावभेदो न स्यात् तदा दृष्टेऽभिहिते वा प्रमाणान्तर युक्त्यन्तरं वा निरर्थकं स्यात् गृही-
तग्रहणात् पुनरुक्तेश्च। —अष्टशती।

सो वस्तु के स्वभावातिशय नही मानने मे उचित नहीं माना जा सकता। कारण कि शब्दरूप धर्मी के कथन से ही साध्य एव साधन के निर्देश की सिद्धि हो जाती है। फिर भी शब्द द्वारा परार्थानुमान रूप- अनुमान द्वारा-उनके कथन करने से लाभ क्या। इससे उलटा वहां गृहीत ग्रहण एवं पुनरुक्ति दोष आते है। यदि इन दोपो को हटाने के लिये ऐसा कहा जाय कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष से देख--जान--लिया जाता है उसके समस्त गुण भी प्रत्यक्ष से जान लिये जाते हैं। फिर भी वहां उनकी निश्चिति के लिये जो साधन की (अनुमान की) प्रवृत्ति होती है उसका कारण यह है कि भ्रान्ति जो उनका निश्चय नही होने देती है सो अब साधन द्वारा उनका निश्चय कर लिया जाता है इसलिये साधन की वहां प्रवृत्ति १ होती हैं। सो ऐसा कहना भी बौद्धो का ठीक नही हैं। कारण कि जव दृष्ट पदार्थ का स्वभावातिशय ही नही माना जाता है- प्रथम जिसरूप में पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय हुआ है उसी रूप मे वही पदार्थ बाद मे साधन--अनुमान--का भी विषय होता है--इस प्रकार पदार्थ मे जब कोई स्वभावातिशय--स्वभावभेद--नही होता मान्य किया गया है तब उसमें और कौन से गुण हैं जो "अखिल" इस पद के वाच्य हों। प्रथम स्वभाव से द्वितीयादिक स्वभावो मे भेद हो तो ही वहां अनेक गुण कहे जा सकते हैं जब पूर्वोत्तर स्वभाव मे कोई भेद ही नही माना जाता है तो ऐसे कथन मे दृष्ट पदार्थ के अखिल गुण प्रत्यक्ष से जान लिये जाते विरोध आता है। कारण कि इस प्रकार के कथन से पदार्थ के स्वभाव में भिन्नता कथित होती है जो वस्तु मे निरंशता की मान्यता की बाधक बनकर उसमें सांशता की साधक होती है।

यदि फिर भी यह कहा जाय कि प्रत्यक्ष से मात्र धर्मी मे ही अभ्रान्ति ज्ञात होती है उसके स्वभाव में नहीं अतः स्वभाव मे अभ्रान्ति सिद्ध करने के लिये अनुमान की आवश्यकता पड़ती है सो ऐसा कहना भी उचित नहीं हो सकता कारण कि स्वभाव भेद के अभाव में यह तुम्हे अवश्य २ मानना पडेगा कि जब धर्मीमात्र का भी निश्चय हो जाता है तो उसके साध्यरूप स्वभाव का भी निश्चय है—वहां भ्रान्ति नही हो सकती है। यदि उसमे भ्रान्ति मानी

१ तस्मात् दृष्टस्य भावस्य दृष्ट एवाखिलो गुणः।
भ्रान्तेर्निश्चीयते नेति साधन सम्प्रवर्तते ॥

जायगी तो शब्द के सत्त्व मे भी भ्रान्ति मानती पडेगी । जिस प्रकार शब्द का स्वभाव क्षणिकत्व है उसी प्रकार उसका स्वभाव सत्त्व भी है। अतः उसमे भी भ्रान्ति की प्रसक्ति होने से अर्थ–पदार्थ का निश्चय उसके द्वारा कैसे हो सकता है। यदि कहा जाय कि शब्द में सत्त्व का निश्चय मानकर उसके अर्थ का निश्चय कर लेंगे सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं–कारण कि जिस प्रकार शब्द का धर्म सत्त्व है और उसका निश्चय तुम उसमें मान रहे हो तो इसी प्रकार उसमें अनित्यत्व-क्षणिकत्व-का भी निश्चय मान लेना चाहिये। फिर अनित्य का अनिश्चय क्यों। यदि इसका उसमें अनिश्चय माना जाता है तो स्वभाव भेद का प्रसंग मानना ही पड़ता है। बिना इसके शब्द में एक का निश्चय और एक का अनिश्चय नहीं हो सकता है। निश्चय और अनिश्चय ये दो भिन्न २ स्वभावजन्य धर्म हैं। इनमे पट और पिशाच की तरह भिन्नता है। अतः प्रत्येक धर्म में धर्मी का स्वभाव भेद हो जाता है यह बात मानना चाहिये। इसलिये यह कहना कि धर्मी का एक अस्तित्वमुखेन प्रथमभग से प्रतिपादन होने पर ज्ञान हो जायगा-तब फिर द्वितीयादिक भंगों के कहने की क्या आवश्यतका है- सो इस कथन से निरस्त हो जाता है। कारण कि प्रत्येक भंग की अपेक्षा वस्तु के स्वभाव मे भेद माना गया है। अतः उस अनत धर्मात्मक वस्तु के स्वभावो को कथन करने के लिये भिन्न २ रूप से भगों का प्रतिपादन कार्यकारी है। इसमे जो जिस भग द्वारा वह वस्तु प्रतिपादित की जायगी वह वस्तु प्रधानतया उस स्वभाव विशिष्ट मानी जायगी-अत वह स्वभाव उसमे प्रधान एवं शेष स्वभाव उसमें अप्रधान–गौण हो जाते हैं। इसलिये कारिकाकार ने ऐसा कहा है कि वह धर्म उसमे मुख्य और अवशिष्ट स्यात् शब्द सूचित धर्म गौण हो जाते हैं। ऐसा ही कथंचित् वस्तु का स्वभाव है।–

एकानेकविकल्पादावुत्तरत्रापि योजयेत्।
प्रक्रियां भंगिनीमेनां नयैर्नयविशारदः ॥ २३ ॥

अन्वय—नयविशारद उत्तरत्र एकानेकविकल्पादौ अपि एनां भंगिनीं प्रक्रियां नयै योजयेत् ॥

अर्थ——नयो की योजना करने में प्रवीण स्याद्वादी को आगे इसी तरह एक और अनेक आदि धर्मों मे भी इस सप्तभगाश्रय प्रक्रिया की द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक नयो के अनुसार योजना कर लेना चाहिये।

भावार्थ---इस कारिका द्वारा कारिकाकार ने यह स्पष्ट किया है कि जिस तरह अस्तित्व और नास्तित्व धर्म एक जीवादिक पदार्थ मे द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयो की विवक्षा के आधीन हैं उसी तरह द्रव्यो मे एक और अनेक जो धर्म हैं वे भी इन्हीं दोनो नयो की विवक्षा के आधीन हैं। "नयविशारदः" पद से कारिकाकार का यह अभिप्राय है कि जो नय विवक्षा से अनभिज्ञ हैं जिनकी मति एकान्त की विवक्षा की ओर ही अग्रसर हो रही है वे इस नयवाद अथवा स्याद्वाद को युक्त नहीं जान सकते हैं। इन्हें तो इस प्रकार के कथन मे विरोध जैसा प्रतिभासित होता रहता है। परन्तु जैनी नीति के जानने वालो को इस प्रकार के कथन मे जरा सा भी विरोध नहीं ज्ञात होता है। जीवादिक षट् पदार्थों–द्रव्यो–मे जो एकत्व की विवक्षा की गई है वह सद्द्रव्यनय की अपेक्षा से ही जाननी चाहिये। अष्टशतीकार अकलंकदेव ने भी "स्यादेक सद्द्रव्यनयापेक्षया" इस अष्टशती द्वारा इसी बात की पुष्टि की है। इस सद्द्रव्य नय के अष्टशतीकार के अभिप्रायज्ञ विद्यानदिस्वामी ने दो प्रकार से अर्थ किया है–१ सदेव द्रव्यं सद्द्रव्य तद्विषयो नयः सद्द्रव्यनय अर्थात् सत् ही द्रव्य है-इस सत् रूप द्रव्य को विषय करने वाले नय का नाम सद्द्रव्यनय है और वह द्रव्यार्थिकनय का प्रभेद जो परमसंग्रह नय है वह है। २ नीयमानत्वात् सद्द्रव्यमेव नयः इसके द्वारा भी उन्होंने द्रव्यार्थिक नय के इसी प्रभेद को प्रकट किया है क्योकि उस सद्द्रव्य के अनुगत सम्बन्ध से ही जीवादिक वस्तुएं एकत्वरूप से जानी जाती है अत वह स्वय नय है। इन दोनों की अपेक्षा जीवादिक छह द्रव्यों मे एकत्व का आरोप हो जाता है।

सद्द्रव्यनय के पूर्वोक्त दो अर्थों के करने का अभिप्राय यह है कि किसी ने जीवादिक छह द्रव्यो मे एकत्व की अर्पणा करने पर इस प्रकार की शका उपस्थित की कि सद्द्रव्य नय की अर्पणा से भी जीवादिक छह द्रव्यो में भिन्न२ रूप से सत्ता रहने से वे भिन्न रूप में ही एक सिद्ध होते हैं जैसे त्रस स्थावर जीव एक सत्त्व के सम्बन्ध से एक पुद्गल

के भेद अणु और स्कंध एक सत्व की विवक्षा से एक सिद्ध हो सकते हैं—परन्तु नानाद्रव्य जो जीव, पुद्गल, धर्म एवं अधर्मादिक द्रव्य हैं वे एक कैसे सिद्ध हो सकते है कारण कि सपूर्णवस्तुगत एक सत्त्व का अंगीकार जैनसिद्धान्त के विरुद्ध १ है। कारण कि जैन सिद्धान्त के अनुसार सदृश परिणाम रूप सत्त्व माना गया है और वह एक एक व्यक्ति गत होने से अनेक २ सिद्ध होता है। इस प्रकार की इस शंका का समाधान इस सद्द्रव्यनय के मतानुसार हो जाता

आ० है। यद्यपि एक तथा अनेक सत्तासामान्य जिनसिद्धान्त में स्वीकृत हैं तो भी वह प्रतिव्यक्ति रूप से अनेक होने पर भी

मी० स्वकीय रूप से एक ही हैं। इसी बात की पुष्टि इस सद्द्रव्यनय से की गई है। इसकी विवक्षा में सर्वत्र एकता का

२२४ एकच्छत्र राज्य जमा हुआ दृष्टिगत होता है। कारण कि एक सत्त्व की पर्याय होने से ये जीव, पुद्गल आदि षट् द्रव्य एवं इनके अनंतानंत पर्यायरूप भेद और प्रभेद एक उस सत्ता में ही केन्द्रित मान लिये जाते हैं। इसलिये "एकंद्रव्यमनन्त पर्याय" अनंतपर्यायविशिष्ट एक द्रव्य है इस प्रकार का आगम से संक्षेपतः कथन किया गया है। चाहे जीव द्रव्य हो, चाहे पुद्गल द्रव्य हो अथवा इनकी अनंतानंत पर्यायें हों इन सब से इसी दृष्टि से "सदेवेदं" इस अबाधित प्रत्यभिज्ञान की प्रवृत्तिमानी गई है। अभाव भी सद्रूप की एक पर्याय है। इसलिये उनमें भी "सदेवं" इस तरह की एकत्व प्रतीत होने से कोई बाधा नहीं है। जीवादिक सद्द्रव्य अपने सद्रूप से कभी भी किसी भी तरह से पृथक नहीं किये जाते हैं अतः ये सब द्रव्यें इस सद्रूप से कथंचित् एक हैं ऐसा माना जाता है। यदि सद्रूप से इनको पृथक्ता मानी जाय तो इनके निज स्वरूप का भी अस्तित्व साबित न हो सकने के कारण उनका अभाव प्रसक्त होता है।

शंका—सद्रूप से इन्हें पृथक् मानने पर इनके निज स्वरूप का-स्वरूपसत्ता का-भी अभाव हो जायगा ऐसा आपका कथन ठीक नहीं है कारण कि समवाय सामान्य एवं विशेष इन तीन पदार्थों में एवं प्रागभावादिक चार अभावों

---

१ सत्त्वस्यापि सकलवस्तुव्यापिन एकस्य सिद्धान्तविरुद्धत्वात् सदृशपरिणामस्यैवैकव्यक्तिगतस्य तत्त्वपदस्यानेकस्य प्रति-व्यक्तिभिन्नस्यैव सिद्धान्तसिद्धत्वात्। सप्तभंगी त० पृ-७७

२ सदृशपरिणामात्मकमनेकं तिर्यक्सामान्य

—प्रमेयकमल मा०।

में वैशेषिक सिद्धान्तानुसार समवाय सम्बन्ध से सत्ता नही रहती है तो भी इनमें स्वरूप सत्ता मानी गई है, उसी तरह जीवादिक द्रव्यो मे सत्ता का सम्बन्ध न मानने पर भी स्वरूप सत्ता का अभाव प्रसक्त नहीं हो सकता है। १

उत्तर—— ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि सामान्य, विशेष, समवाय एवं अभाव ये सब भी सत्ता के विवर्त माने गये है। ऐसा नही है कि इनमे सत्ता नहीं रहती है और समवाय सम्बन्ध से वह इनमे रहती है। यदि ऐसा न माना जाय-ये सब सत्ता के विवर्त न माने जायें-तो इनमें प्रमेयता नहीं आ सकती है। प्रमेयता के अभाव में वस्तुता भी इनसे विदा हो जाती है। जो सत्त्व से सर्वथा भिन्न होता है उसमें जैन दार्शनिकों ने असत्त्व का निर्णय किया है। इसलिये जीवादिक द्रव्य भले ही द्रव्य क्षेत्र एवं कालादिक की अपेक्षा परस्पर भिन्न २ हों तो भी एक सत्ता रूप से अविशिष्ट होने के कारण वे सब कथंचित् एकत्व धर्म से विशिष्ट माने गये है २ -कथंचित् वे एक द्रव्य माने गये हैं—। इस प्रकार प्रथमभंग साधित होता है।

इसी तरह पर्यायार्थिक नय की विवक्षा से वे जीवादिक विशेष कथंचित् अनेक हैं। क्योंकि भेद रूप से ये सब सख्या और सख्याविशिष्ट पदार्थ की तरह न्यारे २ देखे जाते हैं। यदि एकान्त रूप से जीवादिक वस्तु में एकत्व माना जावेगा तो वहां पर विशेषण विशेष्यभाव ३ नही बन सकता है। विशेषण विशेष्यभाव कथंचित् भेद में बनता है। अरे भला जो कुण्डल और कुण्डली में भेद भाव की दृष्टिवाला नहीं होता है उसे यह कुण्डली कुण्डलवाला है इस प्रकार का विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धी विकल्प उद्भूत नही होता है। इसलिये पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से जीवादिक छह द्रव्य और और उनकी अनंतानंत पर्यायें परस्पर भिन्न२ होने से कथंचित् अनेक है। इस प्रकार द्वितीय भग सिद्ध

---

१ युक्त्यनुशासन के अनुवाद मे इस विषय को विशेषस्पष्ट किया जा चुका है -अत. इसे स्पष्ट करने के लिये वह अवश्य २ देखना चाहिये।

१ यद्यपि ते विशेषा परस्परव्यावृत्तपरिणामा कालादिभेदेऽपि सद्रूपाविशिष्टाश्चित्रज्ञाननीलादिनिर्भासवत्· अष्टशती

१ नहिं सख्या सख्यावतो भेदेनादृष्टौ विशेषणविशेष्यविकल्पः कुण्डलिवत् क्षीरोदकवदतद्वेदिनि।

होता है। क्रम२ से अर्पित एकत्व और अनेकत्व की विवक्षा से जीवादिक वस्तुएं कथंचित् एकानेकस्वरुप हैं । युगपत् अर्पित इन दोनों धर्मों की अपेक्षा से कथंचित् अवक्तव्य हैं। इस चौथे भंग के साथ पहिले के तीन भगो के और जोड़ने से एकत्व और अनेकत्व विषयक ७ भंग हो जाते हैं । यहां पर भी पहिले जिस प्रकार अस्तित्व और नास्तित्व को अविनाभूत सिद्ध किया गया है उसी प्रकार एकत्व और अनेकत्व को भी विशेषणत्व आदि हेतुओ द्वारा अविनाभूत सिद्ध कर लेना चाहिये । अर्थात् १७ वीं कारिका से लेकर २२ वी कारिका तक का समस्त विधान अस्तित्व नास्तित्व धर्मों की तरह इन एकत्व और अनेकत्व धर्मों में भी उसी तरह ज्ञात करना चाहिये। इस प्रकार एकत्व और अनेकत्व की सप्तभंगी वन जाती है। इस सप्तभंगी युक्त जीवादिक वस्तु ही अर्थक्रियाकारी होती है इससे विपरीत नहीं।

प्रथमपरिच्छेद समाप्त

प्रथम परिच्छेद का संक्षिप्त भावार्थ--

देवागम, नभोगान एव चामरादिक विभूतियां प्रभु में महत्व की साधक नहीं हैं। दोष और आवरण का सर्वथा अभाव ही प्रभु में महत्त्व का साधक है। इन दोनों के अभावसे ही आत्मा में सकल पदार्थों को युगपत् साक्षात्कार करने वाले केवलज्ञान की उद्भूति होती है। इसकी प्राप्ति होते ही आत्मा सर्वज्ञपद से विभूषित हो जाता है। यह सर्वज्ञता अन्य एकान्तवादियों द्वारा सम्मत आप्तों में नहीं है कारण कि वे सदोष हैं। यही कारण है कि उनके उपदिष्ट इष्ट तत्त्वों में युक्ति एवं आगम प्रमाण से बाधा आती है। वीतराग सर्वज्ञ प्रभु द्वारा उपदिष्ट इष्ट तत्त्व सर्वथा निर्बाध हैं उसमें किसी भी प्रमाण से वाधा कल्पित नहीं हो सकती है। भावैकान्त एव अभावैकान्त आदि परस्पर निरपेक्ष सप्तभंगो की मान्यताएं कथमपि सदोष होने से युक्ति संगत नहीं है। कथचित् भावात्मकता, कथचित् अभावात्मकता आदि रूप से प्रदर्शित सप्तभग प्रक्रिया ही निर्दोष है इसमें विरोध आदि दूषणो का अवतार लेशमात्र भी नहीं है एवं ये सातों भंग परस्पर अविनाभावी हैं । प्रत्येक भंग का अनतधर्मात्मक वस्तु के साथ भिन्न २ रूप से प्रयोजन रहा हुआ है

इत्यादि समस्त विषयों का विवेचन इस परिच्छेद मे स्वामिसमतभद्राचार्य ने किया है। इस परिच्छेद की समाप्ति २३ कारिकाओं में हुई है।

ओं शांति -

अष्टसहस्रीभावं ह्यादाय मया कृतोऽनुवादोऽयं,
प्रथमपरिछेदस्यात्र यात्रुटिर्धीधनैः शोध्या-१।

इस प्रकार मूलचन्द्र जैन शास्त्रिकृतं यह प्रथम परिच्छेद का अनुवाद समाप्त हुआ

द्वितीयपरिच्छेद

अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि दृष्टो भेदो विरूध्यते।
कारकाणां क्रियायाश्च नैके स्वस्मात्प्रजायते ॥ २४ ॥

अन्वय–अद्वैतैकान्तपक्षेऽपि कारकाणां क्रियायाश्च दृष्टः भेद विरुध्यते एकं स्वस्मात् न जायते।

अर्थ—अद्वैत एकान्त पक्ष की मान्यता में भी कारकों एव क्रियाओं का प्रमाणसिद्धभेद साधित नहीं होता है। कारण कि इस पक्ष में भी उनकी मान्यता विरुद्ध-विरोधरूप-पडती है। जो सर्वथा एक रूप होता है वह अपने आप कर्ता कर्म आदि रूप नहीं हो सकता है-एक ब्रह्म अपने आप से उत्पन्न नहीं होता है-।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा अद्वैतैकान्त पक्ष का विचार किया गया है। विज्ञानाद्वैत, चित्राद्वैत, शून्याद्वैत, शब्दाद्वैत के भेद से अद्वैत के अनेक प्रकार हैं, ब्रह्म दो प्रकार का है-एक शब्द ब्रह्म शब्दाद्वैत और दूसरा परमब्रह्म ब्रह्माद्वैत। यहां परमब्रह्मरूप अद्वैत का विचार किया जा रहा है। इस परमब्रह्म रूप अद्वैत सिद्धान्त को मानने वाले वेदान्ती हैं। उनकी यह मान्यता है कि एक परम ब्रह्म ही सत् है। यह दृश्यमान जगत् रूप प्रपच मिथ्या है, क्योकि वह

मिथ्या प्रतीत होता है। जो मिथ्या प्रतीत होता है वह मिथ्या है जैसे सीप के टुकडों में चांदी। १ तथा-समस्त पदार्थ एक ब्रह्म की ही पर्यायें हैं क्योंकि समस्त पदार्थों में एक सत्ता रूप का अन्वय विद्यमान रहता है। जो जिसके रूप से अन्वित होता है वह उसी स्वरूप होता है जैसे घड़ा आदि मिटटी के वर्तन मृत्तिकारूप से विद्यमान रहते हैं इसलिये वे सब एक मिट्टी की ही पर्यायें मानी जाती है। इसी तरह पदार्थ एक सत्ता रूप से विद्यमान हैं इस लिये वे सब एक परम ब्रह्म की ही पर्यायें २ है।

इस प्रकार एकान्तरूप से एक ब्रह्माद्वैत तत्त्व को ही यथार्थ मानने वाले वेदान्तियों के प्रति कारिकाकार का यह आक्षेपरूप कथन है। वे इसमें यह प्रदर्शित कर रहे है कि यदि वेदान्तसिद्धान्त मान्य रखकर एक परमब्रह्मतत्त्व-रूप अद्वैतैकान्त पक्ष स्वीकार किया जाय तो कर्ता, कर्म, करण आदि कारकों एवं परिस्पंदरूप-हलन चलन रूप-तथा निष्परिस्पंदरूप-बैठना शयन करना-आदि रूप क्रियाओ का प्रत्यक्ष और अनुमान से प्रसिद्ध भेद इस मान्यता के आगे विरोधरूप पड़ता है- लुप्त हो जाता है-कारण कि एक स्वरूप रहना यह अद्वैत शब्द का अर्थ है। दो से युक्त होने का नाम द्वीत-द्वैत है। द्वैत मे ही क्रिया कारक आदि के भेदो की सत्ता अविरोधरूप से सिद्ध होती है।

वेदान्ती—आपका यह कहना ठीक नही मालूम देता है कि अद्वैतैकान्त पक्ष में कारकों एवं क्रियाओ का प्रत्यक्ष से साक्षात्कृत एवं अनुमान से गोचरित हुआ भेद विरुद्ध पड़ता है, कारण कि एकत्व-अद्वैत-में भी क्रमशः अथवा

---

१ अथ प्रपचो। मिथ्यारूप. प्रतोयमानत्वात् यदेव तदेव यथा शुक्तिशकले कलधौतम् तथा चायं तस्मात्तथा। स्या० म-पृ-१५४

१ सर्वं वै खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तत्पश्यति कश्चन।
छान्दोग्य उ- ३- १४

विवादाध्यासितं विश्वमेककारणपूर्वकं एकरूपान्वितत्वात् घटघटी शरावोदञ्चनादीनांमृद्रूपान्विनानां यथा मृदेककारणपूर्वकत्व सद्रूपणान्वितं च निखिलं वस्त्विति।
-प्रमेयरत्न मा० पृ-७६।

तस्मादेकस्यापि विचित्रशक्तियोगात् क्षीरादिवत् विचित्रपरिणाम उपपद्यते।
ब्रह्मसूत्रशां भा० न्यायकुमुद की टिप्पणी पृ- १४७

युगपत् कर्ता कर्म आदि कारकों की एवं क्रियाओ की भिन्नता सध जाती है। देखो-एक ही वृक्ष में कर्ता कर्म आदि अनेक कारकात्मककता की तथा एक ही देवदत्त में देशादिक की अपेक्षा लेकर उठने बैठने चलने सोने आदि नाना क्रियाओं की प्रतीति होती है। तथा जिस प्रकार प्रतिभास की विचित्रिता होने पर भी चित्रज्ञान मे एकत्व का व्याघात नहीं माना जाता है उसी प्रकार प्रतिभास की विचित्रिता होने पर भी परम ब्रह्म मे एकत्व का व्याघात नही हो सकता तीनों कालों और तीनो लोको मे रहने वाले पदार्थों के आकार होने वाली जो चित्र (अनेकरूप) बुद्धि हे उसका नाम चित्रबुद्धि है यह एक मानी गई है। क्योंकि उसमे प्रतिभासित आकारो का विवेचन-विश्लेषण अशक्य है। उसी प्रकार घट पटादि रूप से प्रतिभास की विचित्रता होने पर भी परमब्रह्म की एकता मे कोई बाधा नही आ सकती है।

जैन—इस प्रकार कहकर जो तुम हमारे कथन को अन्यथा सिद्ध करना चाहते हो वह ठीक नहीं है। कारण कि इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि क्रियाकारक का जो यह भेद प्रपंच-है वह अजन्मा है या जन्म वाला है ? कादाचित्क-उत्पत्ति विनाश वाला होने से यह अजन्मा तो माना नहीं जा सकता है। क्योकि जो अजन्मा होता है वह आत्मा परमपुरुष -की तरह कादाचित्क नही होता हे। यदि क्रिया कारक आदि को जन्म वाला माना जावेगा तो पुनः यह पूछा जा सकता है कि यह किससे उत्पन्न हुआ है ? यदि कहो कि परमपुरुष-ब्रह्म-से यह उद्भूत हुआ है तो फिर इस प्रकार की मान्यता मे एक अद्वैत की सिद्धि कैसे हो सकती है ? क्योकि इस प्रकार के कथन से कार्य और कारणरूप द्वैत का सद्भाव २ स्थापित होता है। यदि इस द्वैतापत्ति को हटाने के लिये ऐसा कहा जावे कि ये क्रियाकारक आदि ब्रह्म से जुदे नही है किन्तु ब्रह्म स्वरूप हैं सो ऐसे कहने मे जब कि ये क्रियाकारक ब्रह्म स्वरूप है अथवा ब्रह्म क्रियाकारक स्वरूप है अपने से अपना जन्म मानना पडेगा अथवा उनसे अभिन्न होने से ब्रह्म में भी कार्यत्व मानना पडेगा। परन्तु अपने से अपना जन्म मानना युक्तिसगत नही है और न ब्रह्म को अनित्य मानना वेदान्तियो को इष्ट है।

ब्रह्म मे नित्यता प्रतिपादन करने के अभिप्राय से जो ऐसा कहा जाय कि ये क्रिया कारक ब्रह्म सिवाय अन्य से उत्पन्न होते है तो ऐसे कथन से अद्वैततत्त्व सिद्ध न होकर द्वैत की ही सिद्धि होती है। क्योंकि ब्रह्म से अतिरिक्त

क्रियाकारको के भेद का हेतु अन्य इस कथन से स्वीकृत किया गया मानने में आ रहा है। यदि इस पर यो कहा जाय
कि ये भेद अनादिकालीन अविद्या से उत्पन्न हुए हैं सो ऐसा कहना भी ठीक नही है कारण कि अविद्या में भी दो
विकल्प उठते हैं-वहां ऐसा पूछा जा सकता है-कि वह अविद्या स्वयं वस्तु स्वरूप है या अवस्तुस्वरूप है ? अवस्तु में कार्य
कारणभाव बनता नहीं है। जैसे खरविषाण और अश्वविषाण में नहीं बनता है। वस्तु स्वरूप अविद्या मानने में
द्वैतापत्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। यदि द्वैतापत्ति को हटाने के अभिप्राय से ऐसा कहा जाय कि यह क्रियाकारक का
आ० भेद न स्वतः उत्पन्न होता है और न पर से उत्पन्न होता है किन्तु फिर भी उत्पन्न हुआ माना गया है सो ऐसा कहना
मी० अद्वैतवादी का सोनेवाले की चेष्टा करने जैसा है कारण कि जो न अपने से उत्पन्न होता है और न दूसरे किसी
२३० और से उत्पन्न होता है वह न तो जन्मवाला-उत्पत्तिवाला-माना गया है और न ऐसा देखा ही गया है। इसलिये
"जो प्रत्यक्ष से विरुद्ध है वह ठीक नहीं होता है" इस पद्धति के अनुसार यह अद्वैतसिद्धान्त क्षणिक सिद्धान्त की तरह क्रियाकारको में भेद ग्राहक होने वाले प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से विरुद्ध पड़ता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि भेदों का प्रतिभासक जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण है वह स्वप्न मे होने वाले प्रत्यक्ष की तरह मिथ्या ही है-जिस प्रकार स्वप्न में अनेक पदार्थों के भेदों का ग्राहक प्रत्यक्ष असत्य होता है उसी प्रकार यह जाग्रद्दशासवन्धी भेद ग्राहक प्रत्यक्ष भी सर्वथा असत्य है-सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है कारण कि "विवादापन्न प्रत्यक्षादि मिथ्यैव भेदप्रतिभासित्वात् स्वप्नप्रत्यक्षादिवत्" इस अनुमानप्रयोग मे पक्ष, हेतु, और दृष्टान्त मे जो भेद का (पक्ष अलग है हेतु अलग है एवं दृष्टान्त अलग है इस प्रकार के भेद का) प्रतिभास होता है वह मिथ्या स्वरूप है कि अमिथ्यास्वरूप है ? मिथ्यास्वरूप मानने पर इस अनुमान से साध्य-मिथ्या-विवादापन्न प्रत्यक्ष मे असत्यता-सिद्ध नहीं होती है।

यदि इसे सत्य माना जाय-मिथ्यास्वरूप न माना जाय-तो इसी के द्वारा ही "भेदप्रतिभासित्व" हेतु व्यभिचारी हो जाता है। कारण कि 'जो २ भेद प्रतिभास वाला होता है—वह मिथ्या होता है" यह नियम स्वयं इस पक्षादि के भेद प्रतिभास को अमिथ्या मानने से टिकता नहीं है-भेदप्रतिभासित्व होने पर भी वह मिथ्या नहीं माना गया है।

यदि इस पर यो कहा जाय कि अन्य वादियो ने भेद प्रतिभास को मिथ्या नहीं माना है इसलिये उनकी अपेक्षा हम भी भेद प्रतिभास को अमिथ्यात्व-सत्य-मान लेंगे-सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है कारण कि इससे द्वैत की सिद्धि होती है। स्व और पर का भेद प्रतिभास होने से दो बातें यहा सत्य साबित हो जाती हैं-यही द्वैत है। यदि फिर भी यह कहा जाय कि यह ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त स्वतः सिद्ध है इसमें क्रियाकारक के भेद ग्राहक जो प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं वे इसके द्वारा बाधित हो जाते हैं अतः ये सब भ्रान्त है सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है कारण कि इस प्रकार की मान्यता से वाध्यबाधक भाव की सत्ता सिद्ध होती है। बाध्यबाधक भाव मे परस्पर भेद है-इस भेद प्रसिद्धि में द्वैत की सिद्धि आ जाती है। अतः एकान्त से पुरुषाद्वैत सिद्धान्त प्रत्यक्षादि प्रमाण से सर्वथा विरुद्ध ही है। अतः उसकी मान्यता ठीक-युक्तियुक्त-नही है। इस प्रकार अद्वैतैकान्त पक्ष की मान्यता मे प्रत्यक्षादि प्रमाणो से साधित कारक और क्रियाओं के भेद का विरोध प्रदर्शित कर दूपणान्तरो के सद्भाव का प्रसग जो कि वेदान्तियो के लिये अनिष्ट है आपादित दिया जाता है।

कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतंच नो भवेत्।
विद्याविद्याद्वयं न स्याद्बंधमोक्षद्वयं तथा ॥ २५ ॥

अन्वय—कर्मद्वैतं फलद्वैतं लोकद्वैतं च नो भवेत्। विद्याविद्या द्वय तथा बधमोक्षद्वय न स्यात्।

अर्थ—दो कर्म, दो फल, एवं दो लोक इस अद्वैतैकान्त पक्ष के समक्ष घटित नही हो सकते है। इसी तरह विद्या और अविद्या ये दोनों तथा बंध और मोक्ष ये दोनों भी नहीं घटित होते हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह बात स्पष्ट कर रहे है कि यह अद्वैत सिद्धान्त प्रसिद्ध प्रमाणों से सर्वथा विरुद्ध पडता है। कारण कि इसमें जो जगत मे नानारूपता प्रमाणित हो रही है एवं कर्मादिक कारकों तथा परिस्पंदात्मक और धात्वर्थात्मक क्रियाओ का प्रमाण प्रसिद्ध जो भेद देखने मे आ रहा है यह सब जिस प्रकार विरोध

को–विलीनता को–प्राप्त हो जाता हैं उसी तरह लौकिक एवं वैदिक–वेदविहित–नित्यनैमित्तिककर्म–अथवा कुशल और अकुशल रूप शुभ तथा अशुभ कर्मों का अनुष्ठान, अथवा पुण्य और पाप रूप जो ये दो प्रकार के कर्म हैं इनका भी सद्भाव सिद्ध नहीं होता है। क्यों कि अद्वैत और द्वैत का परस्पर में सर्वथा जो विरोध है। जव ये दोनो प्रकार के कर्म इसमें नहीं सावित होते हैं–सद्भाव भी जव इनका सावित नही हो सकता है--तव ऐसी दशा में इनके फलस्वरूप जो इस-लोक और परलोक मे श्रेय एवं प्रत्यवाय रूप सुख और दु:ख फल हैं वे कैसे वन सकते हैं--अर्थात् नहीं वन सकते हैं कारण कि अपने कारणों के अभाव मे कार्य की उत्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती है। इसीलिये पुण्य और पापके फल को भोगने के लिये आधारभूत इहलोक और परलोक इन दोनों लोकों की भी सत्ता सिद्ध नही हो सकती है। अर्थात् इन-का भी अभाव ठहरता है। जव धर्म और अधर्म का भी अभाव हो जाता है तो विद्या और अविद्याद्वय का भी संभव नही होता है। इन दोनो की असंभवता में वध और मोक्ष की कथा भी अस्तगमित हो जाती है। यदि कर्मादिक द्वैत अविद्या कल्पित माना जाय तो धर्म अधर्म के अभाव में विद्या और अविद्या का द्वैत सभवित नहीं होता है। इनकी असभवता मे वंध और मोक्षका भी अभाव मानना पड़ता है। यदि वंध मोक्ष एवं विद्या अविद्या भी अनादिकालीन अविद्या के उदयाधीन मानी जावें परमार्थत न मानी जावें क्योकि इस अद्वैत सिद्धान्त मे इनकी असंभवता है "न वन्धो–ऽस्ति नवै मोक्ष इत्येपापरमार्थता" इस प्रवचन के अनुसार एक प्रभासमात्र परव्रह्म में परमार्थता है सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं–कारण कि यदि केवल प्रवचन की मान्यता से ही इसमें तात्त्विकता मानी जाय तो शून्यैकान्त में भी तात्त्विकता मान लेनी चाहिये वह भी तो अपने प्रतिपादक प्रवचन की मान्यता-कल्पना-से स्थापित किया गया है, यदि कहो कि उसकी कल्पना निष्फल है तो अद्वैत की कल्पना भी युक्ति के अभाव में निष्फल क्यो न मानी जायगी। जिस प्रकार पुण्य पाप, सुख दु:ख, इहलोकपरलोक, विद्या अविद्या एव वध मोक्ष इन विशेषोंसे रहित शून्य सिद्धान्त हैं उसी तरह यह अद्वैत एकान्त भी है। अतः यह भी वुद्धिमानो द्वारा ग्राह्य कोटि मे नैरात्म्यदर्शन की तरह नही आता है। इसलिये उसकी जिज्ञासा तक भी कल्याणवहा नहीं है।

देखो—सब ही प्राणी अपनीर बुद्धि के अनुसार प्रमाण विरुद्ध दर्शन की रचना कर सकते हैं चाहे वह अद्वैत हो चाहे अद्वैत से इतर द्वैत हो। परन्तु उसके रचने में उनका किसी न किसी फल के प्रति लक्ष्य तो अवश्यर रहता है। यदि उसकी रचना किसी फलविशेष के लक्ष्य से विहीन है तो उसकी तरफ प्रेक्षापूर्वकारी पुरुषों की प्रवृत्ति नहीं होती है–साधारण लोगो तक का भी झुकाव जब उस ओर नहीं होता है तो फिर सोच समझकर प्रवृत्ति करने वाले पुरुषों की तो बात ही क्या कहनी—वे तो उस ओर झुकेंगे ही कैसे। अत जब यह अद्वैत सिद्धान्त पुण्य पाप आदि विशेषों से विरहित है तो यह स्वयं सोचने जैसी बात है कि इसकी ओर उनकी प्रवृत्ति कैसे हो सकती है--यह उनके द्वारा आश्रणीय कैसे हो सकता है--नही हो सकता। प्रयोग--"ब्रह्माद्वैतं स्वमनीपिकाभिरारचित प्रमाणप्रत्यनीकत्वात्" यह ब्रह्माद्वैत सिद्धांत प्रमाण से विरुद्ध होने के कारण केवल वेदान्तियो की कोरी कल्पनामात्र से रचित हुआ है अतः विद्वज्जनों द्वारा परीक्षाप्रधानी जनों-द्वारा आदरणीय नहीं हो सकता है। जैसे सर्वथा शून्य सिद्धान्त।

हेतोरद्वैतसिद्धिश्चेद् द्वैतं स्याद्धेतुसाध्ययोः।
हेतुना चेद्विना सिद्धिर्द्वैतं वाङ्मात्रतो न किम्॥ २६॥

अन्वय–चेत् हेतो अद्वैतसिद्धिः हेतुसाध्ययोः द्वैतं स्यात्। चेत् हेतुना विना सिद्धिः वाङ्मात्रतः द्वैतं किं न (भवेत्)।

अर्थ–यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि मानी जाय तो हेतु और साध्य का द्वैत सिद्ध होता है। हेतु के विना यदि अद्वैत की सिद्धि मानी जाये तो वचन--मात्र से द्वैत की सिद्धि ही क्यों न मान ली जाय।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार ने अद्वैतवादी के कथन का निरसन किया है जो उसने इस प्रकार कहा है कि "यह अद्वैत सिद्धान्त प्रमाणप्रत्यनीक–प्रमाणविरुद्ध–नहीं है इसलिये इसे जो जैनों ने स्वकपोलकल्पित केवल अपनी बुद्धि की चतुराई से ही वेदान्तियों द्वारा रचित--प्रकट किया है सो यह बात ठीक नहीं है कारण कि इस अद्वैत-

सिद्धान्त के पुष्टि कारक--समर्थक--अनुमान एवं आगम ये दो प्रमाण हैं। इन दो प्रमाणों से उसकी सिद्धि होती है। अनुमान प्रमाण तो यह कहता है " यत्प्रतिभाससमानाधिकरणं तत्प्रतिभासान्त प्रविष्टमेव यथा प्रतिभासस्वरूपं प्रतिभास-समानाधिकरण च सर्वं " कि जो भी प्रतिभास का समान रूप से अधिकरण होता है वह प्रतिभास के स्वरूप की तरह प्रतिभास के अन्त प्रविष्ट ही है –उससे वाहिर नहीं है–दुनिया के जितने भी ग्राम आराम आदिक पदार्थ हैं वे सब ही प्रतिभास के समानरूप से अधिकरण हैं अतः उसके ही अन्तः प्रविष्ट हैं। इस हेतु से एक परब्रह्म की सिद्धि होती है। प्रतिभास शब्द का अर्थ परब्रह्म है। अन्तर्बाह्य पदार्थों में प्रतिभास-समान-अधिकरणता की असिद्धि इसलिये नहीं है कि "सुख प्रतिभासते रूप प्रतिभासते" सुख प्रतिभासित होता है रूप प्रतिभासित होता है" इस प्रकार से सर्वत्र प्रतिभास की समानरूप से अधिकरणता की प्रतीति हो रही है। यदि सुखादिकों में प्रतिभास समानाधिकरणता न मानी जाय तो उनके सद्भाव की सिद्धि ही नहीं हो सकती है।

अप्रतिभासित पदार्थ का भी यदि सद्भाव माना जाने लगे तो फिर क्या है सबके मनोरथों की सिद्धि का प्रसंग होने से कोई भी पदार्थ असत् नहीं माना जा सकेगा। यदि इस हेतु को यो कहकर भागासिद्ध किया जाय कि ये जो अन्तर्बाह्य: पदार्थ हैं कि जो प्रतिभास्य-प्रतिभास के विषय होने के योग्य -हैं और प्रतिभास से व्यतिरिक्त -भिन्न है-उनमे प्रतिभाससमानाधिकरणत्व हेतु का सद्भाव उपचार १ से मान लिया जाय और प्रतिभास के स्वरूप में उसका सद्भाव मुख्य रूप से मान लिया जाय क्योंकि ये प्रतिभास से व्यतिरिक्त पदार्थ मुख्य रूप से प्रतिभास स्वरूप नहीं हैं वे तो प्रतिभास्य-प्रतिभास के विषय हैं प्रतिभास स्वरूप तो प्रतिभास का स्वरूप है अत. वहीं पर इस हेतु की मुख्यतया उत्पत्ति होती है, अन्य ग्रामारामादिक प्रतिभास्य पदार्थों मे नहीं, अतः इस प्रकार से यह हेतु भागासिद्ध है

---

१ "सत्ता प्रतिभासते इति तु विषये विषयिधर्मस्योपचारात्। प्रतिभासन हि विषयिणो ज्ञानस्य धर्मः स विषये सत्तासामान्येऽध्यारोप्यते। अध्यारोपनिमित्तं प्रतिभासनक्रियाधिकरणत्व" इस प्रकार का यह कथन जैन का है। उसका समाधान यह वेदान्तियों की ओर से हैं। देखो आप्तपरीक्षा भाषाटीका पृ-१९८।

सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है, कारण कि इस प्रकार के कथन से प्रतिभास्य और प्रतिभास में प्रतिभास्य प्रतिभासक भाव नहीं बन सकता, यदि प्रतिभास्य प्रतिभासक भाव सिद्ध करने के लिये ऐसा कहा जावे कि जो प्रतिभास का हेतु होगा वह प्रतिभास्य कहलावेगा सो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं माना जा सकता कि प्रतिभासमात्र प्रतिभास सामान्य-अहेतुक-हेतुरहित-उत्पत्तिकारण विना का-है इसलिये किसी भी प्रतिभास्य में प्रतिभास के प्रति हेतुता नहीं आ सकती है। प्रतिभास मात्र अहेतुक इसलिये है कि वह अकादाचित्क-नित्य-है। अकादाचित्क यह इसलिये है कि कभी भी इसका अभाव नहीं होता है। नहीं तो कभी न कभी इसके अभाव होने का प्रसंग प्राप्त हो सकता है। इसलिये प्रतिभास का हेतु होने से अर्थ-पदार्थ-प्रतिभास्य है यह कहना तो ठीक नहीं बनता। यदि कहो कि अर्थ में प्रतिभासालंबनता-प्रतिभास का विषय होनापना-है इसलिये अर्थ प्रतिभास्य हो जायगा सो इस प्रकार के कथन से परस्पराश्रयता आती है, और वह इस प्रकार से अर्थ में प्रतिभासालंबनता है यह आप कैसे जानते हैं, यदि उत्तर में कहा जाय कि अर्थ अतिभास्य है इसलिये उसमे प्रतिभासालवनता है तो फिर यही प्रश्न होता है कि अर्थ प्रतिभास्य है इसका निर्णायक आपके पास क्या है, यदि कहो कि उसमें प्रतिभासालंबनता निर्णायक है तो यही परस्पराश्रय नाम का दूषण है।

प्रतिभासालम्बनत्व का निर्णय पदार्थ मे प्रतिभास्यत्व के आधीन एवं उसमे प्रतिभास्यता का निर्णय प्रतिभासालंबनत्व के आधीन हुआ है। यदि पदार्थ में प्रतिभास्यता लाने के लिये ऐसा कहा जाय कि पदार्थ में प्रतिभास के द्वारा आलम्बन विपयभूत होने की योग्यता है इसलिये वह प्रतिभास्य है तो ऐसा प्रतिभास्य तो प्रतिभास का स्वरूप ही है क्योकि प्रतिभास का स्वरूप ही प्रतिभास के द्वारा बिपय होने की योग्यता वाला होने के कारण उसका बिषय होता है। और इसी से सर्वत्र प्रतिभास अपने ही स्वरूप को विषय करता है। इसलिये प्रतिभाससमानाधिकरण हेतु को जो बिषय-पदार्थों में उपचरित कहकर भागासिद्ध प्रकट करने का प्रयास किया गया है वह ठीक नहीं है। जब विषय में उपचरितप्रतिभाससमानाधिकरणता नहीं है तो इसी से यह हेतु अनैकान्तिक अथवा विरुद्ध भी नहीं हो

सकता है। क्योंकि जिसमें प्रतिभास समानाधिकरणता रहेगी वह नियमत प्रतिभासान्तः प्रविष्ट ही होगा। जिसमें प्रतिभासान्तः अप्रविष्टता होगी उसमें प्रतिभाससमानाधिकरणता भी नहीं होगी। इस प्रकार इस हेतु में विपक्षवृत्ति का अभाव है। समस्त धर्मी का आश्रय परब्रह्म होने से यह हेतु आश्रयासिद्ध भी नहीं है। "सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म" इस प्रकार का छान्दोग्यउपनिषत् का यह वाक्य है। अतः इस आगम वाक्य से भी एक ब्रह्माद्वैत की सिद्धि होती है।" मतलब इसका यही है कि यह ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त आगम और अनुमान प्रमाण से सिद्ध है। प्रतिभास स्वरूप की तरह समस्त अन्तर्बहिः पदार्थ प्रतिभासस्वरूप हैं। यदि ये प्रतिभास स्वरूप न होते तो इनका प्रतिभास नहीं हो सकता। यही मान्यता अद्वैतवादी ने इस अवतरण से पुष्ट की है। इसके ऊपर कारिकाकार का यह कहना है-कि हे अद्वैतवादिन्! यदि तुम अद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि साध्य एव हेतु द्वारा करते हो तो अद्वैत सिद्धान्त सिद्ध नहीं हो सकता है कारण कि हेतु और साध्य इस तरह से दो चीजें सिद्ध होती हैं। "सर्वे पदार्था प्रतिभासान्त प्रविष्टाः प्रतिभाससमानाधिकरणत्वात्" अद्वैतवादी जब इस प्रकार के अनुमान से समस्त पदार्थों को प्रतिभास के अन्तः प्रविष्ट साध्य करेगा तो "साध्यरूप,, एक वस्तु स्वतंत्र सिद्ध हो जाती है और "प्रतिभाससमानाधिकरणत्वात्" यह हेतु भी एक स्वतंत्र वस्तु सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार द्वैत की सिद्धि होने से मूलत अद्वैत सिद्धान्त सिद्ध ही नहीं होता है।

वेदान्ती — "प्रतिभाससमानाधिकरणत्वात्" इस हेतु से समस्त ग्रामारामादिक पदार्थों को प्रतिभास के अन्त. प्रविष्ट होने के कारण पुरुषाद्वैत–ब्रह्माद्वैत की सिद्धि होने पर भी हेतु और साध्य में द्वैत नहीं हो सकता है। कारण कि हम अद्वैतवादियो ने साध्य और साधन में तादात्म्यसम्बन्ध माना है। तादात्म्य मानने पर साध्य और साधन भाव का विरोध थोडे ही हो सकता है। जैसे बौद्ध सिद्धान्त सत्त्व और अनित्य इन दोनो मे तादात्म्य मानकर भी साध्य साधन भाव मानता है। यदि साध्य साधन में तादात्म्य मानने पर साध्य साधन भाव का विरोध होता तो बौद्ध सिद्धान्त भी सत्त्व (हेतु) और अनित्य -क्षणिक (साध्य) इन दोनों मे साध्य साधन भाव कैसे मानता- यहां पर भी विरोध होना चाहिये था। यदि इस पर यों कहा जाय कि कल्पना के भेद से साध्य साधन धर्म में भेद मान लिया

जाता है तो फिर इसी तरह से अविद्या के उदय से कल्पित किये गये प्रकृत साध्य और साधन में साध्य साधन भाव का विघात कैसे माना जा सकता है। यहां पर भी साध्य साधन भाव बन जाता है।

जैन—ऐसा कहना उचित नहीं है। कारण कि हम तो यही कहते हैं कि सर्वथा साध्य साधन मे तादात्म्य मानने पर साध्य साधन भाव नही बनता हैं। यदि बौद्ध सिद्धान्त भी सत्त्व हेतु और अनित्य साध्य में सर्वथा तादात्म्य मानता हैं तो वहां पर भी साध्य साधन भाव नहीं बन सकता है। साध्य साधन में साध्य साधन भाव कथंचित् तादात्म्य में बनता है। इसलिये सत्त्व और अनित्य में कथचित् तादात्म्य की सिद्धि होने से सर्वथा तादात्म्य की असिद्धि है। उदाहरण तो आपको ऐसा ही देना चाहिये—जो उभय संमत हो। असिद्ध उदाहरण नही होता है, सत्त्व और अनित्य में सर्वथा तादात्म्य होने पर साध्य साधन भाव है इस प्रकार का यह उदाहरण हमारी दृष्टि में असिद्ध है। इसलिये यह कहना हमारा बिल्कुल ठीक है कि यदि हेतु से अद्वैत की सिद्धि मानी जाय तो हेतु और साध्य में द्वैत सिद्ध होता है। अद्वैत नही। यदि इस प्रकार द्वैतापत्ति को वारण करने के अभिप्राय से ऐसा कहा जाय कि हम अद्वैतवादी इस अद्वैत की सिद्धि बिना हेतु के केवल-आगम मात्र से मान लेंगे-तो ऐसा कहना भी इसलिये उचित नही है कि अद्वैत और अद्वैतसाधक आगम में द्वैत का प्रसग प्राप्त होता है।

वेदान्ती—अद्वैत और अद्वैत साधक आगम में आप द्वैत का प्रसंग कैसे प्रकट कर सकते हैं। कारण कि आगम भी तो अद्वयपुरुष स्वभाव ही है—आगम भी ब्रह्म स्वभाव ही है—अतः ब्रह्म और तत्प्रतिपादक आगम में कोई भेद नहीं है। इसलिये ब्रह्म से अभिन्न होने के कारण आगम से द्वैत की प्रसक्ति नहीं हो सकती है। यही बात गीता के १५ वें अध्ययनके इस प्रथम श्लोक से प्रदर्शित करने मे आई है, वह श्लोक यह है—"उर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थप्राहुरव्ययम्, छन्दांसि तस्य पर्णानि यस्तं वेत्ति स वेदवित् १।"

---

२ कठोपनिषत्षष्ठवल्ली में भी इसी प्रकार का एक श्लोक है जो इससे कुछ हेर फेर में है—उर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः तदेवशुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन।

आ० मी० २३८

जैन—इस प्रकार अद्वैत और अद्वैत प्रतिपादक आगम मे अभिन्नता प्रतिपादन करने से ब्रह्म की तरह आगम में भी असिद्धता आ जायगी। अतः असिद्ध आगम से ही ब्रह्म की सिद्धि मानना संगत नहीं बैठती है। इसलिये जो असिद्ध है वह हितेप्सु मनुष्यों द्वारा अथवा अहित को परिहार करने की अभिलाषा करनेवाले मानवों द्वारा उपादेय नहीं होता है। जैसे शून्यैकान्त। अद्वैत की सिद्धि विधायक न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है और न आगम प्रमाण ही, अतः अपनी सिद्धि विधायक प्रमाणों के विरह से यह एकान्त अद्वैतसिद्धान्त प्रमाणप्रत्यनीक ही जानना चाहिये। अद्वैत की सिद्धि में जो पहिले हेतु दिया गया है वह साध्य से विपरीत का साधक होने से विरुद्ध हेत्वाभास से दूषित होता है। इस हेतुका साध्य "सर्वथा प्रतिमासान्तः प्रविष्ट" है उससे विरुद्ध कथंचित् प्रतिभासान्तः अप्रविष्ट है, इसकी सिद्धि इसलिये होती है कि प्रतिभास और प्रतिभास्य में कथचित् भेद होने पर ही समानाधिकरणत्व की प्रतीति मानी गई है, सर्वथा भेद में जिस तरह समानाधिकरणता नहीं बनती है उसी तरह सर्वथा अभेद मे भी वह नहीं बनती है। 'शुक्लः पट' इत्यादि स्थलों मे गुण और द्रव्यका सर्वथा अभेद मानने पर समानाधिकरणता नही हुई है किन्तु कथंचित् भेदमें हुई है, "प्रतिभास-स्वरूप प्रतिभासते" यहा पर भी प्रतिभास और उसके स्वरूप मे सर्वथा तादात्म्य-अभेद-नहीं माना गया है लक्षण लक्षण भाव की अपेक्षा इनमें कथंचित् भेद स्थापित किया गया है। अतः यहां पर इसी अपेक्षा से समानाधिकरण बनता है। इसलिये जो प्रतिभास समानाधिकरण होगा वह प्रतिभाससे कथचित् भिन्न होगा जैसे प्रतिभासका स्वरूप, प्रतिभास समानाधिकरण सुख नील आदि समस्त पदार्थ है अत वे सब प्रतिभास से कथचित् भिन्न है, इस तरह प्रतिभास समानाधिकरण हेतु से साध्य विपरीत अर्थ की सिद्धि होने के कारण इस अनुमान से अद्वैत की सिद्धि नही होती है, 'सर्वं वैखल्विद ब्रह्म' इत्यादि उपनिषद् वाक्य से जो ब्रह्मकी सिद्धि प्रदर्शित करने मे आई है वह भी ठीक नही है, कारण कि इससे भी द्वैतकी ही सिद्धि होती है, क्योंकि इस आगम से ग्रामारामादिरूप से प्रसिद्ध पदार्थों मे अप्रसिद्ध इस ब्रह्मवाद का जो विधान किया गया है यदि समस्त चेतनाचेतनात्मक पदार्थोंमे ब्रह्मरूपता सर्वथा प्रसिद्ध होती तो उनमे इसके विधान करनेकी आवश्यकता ही क्या थी। जिस प्रकार अप्रसिद्ध का विधान नही होता उसी प्रकार प्रसिद्ध का भी विधान नहीं होता है। यदि इसके

समाधान निमित्त अद्वैतवादी इस प्रकार कहे कि तुम्हारा यह कथन ठीक है परन्तु हम जो समस्त चेतनाचेतनात्मक पदार्थों मे इस अद्वैतवाद का-ब्रह्मरूपता का-विधान कर रहे हैं सो उसका कारण यह है कि उनमे द्वैत के प्रपच का आरोप होता चला आ रहा है-अत उसके व्यवच्छेद के लिये किसी आत्मव्यक्ति मे प्रसिद्ध यह जो एकात्म रूप ब्रह्म है उसका चेतनाचेतनात्मक रूप से अभिमत समस्त पदार्थों मे इस आगम वाक्य से विधान किया गया है। सो इस प्रकार ब्रह्मत्व साधक आगम से व्यवच्छेद और व्यवच्छेदक भाव का सद्भाव सिद्ध होता है।

क्योकि इस तरह से द्वैत प्रपंचारोप व्यवच्छेद्य और आगम उसका व्यवच्छेदक जब सिद्ध हो जाता है तब सर्वथा अद्वैत की सिद्धि कैसे हो सकती है। भले आप अद्वैत वादो आगम को पर ब्रह्मस्वभाव मानो इसमें कोई हमें आपत्ति नहीं यह तो अपनी इच्छा की बात है- पर इससे सर्वथा एक अद्वैत का विधान हो जायगा यह बात नहीं बनती है। कारण कि जब आगम अद्वैतस्वभाव-ब्रह्मस्वभाव-माना जायगा तो यह जिस स्वभाववान् का स्वभाव होगा उसमें और इसमें स्वभाव और स्वभाववान् की अपेक्षा कथंचित् भेद माना ही जायगा, इस स्थिति में सर्वथा अद्वैत की सिद्धि न होकर कथचित् द्वैत की सिद्धि होती है इसी तरह यदि पुरुषाद्वैत की सिद्धि स्वसवेदन से साध्य मानी जाय तो इस स्थिति में भी साध्य साधन के सद्भाव से द्वैत का विधान होता है। इन समस्त दोषों से बचने के लिये यदि सर्वथा अद्वैत की सिद्धि स्वत सिद्ध मानी जाय तो द्वैत भी स्वतः सिद्ध होगा-फिर उसका वारण कैसे हो सकता है। आप्त परीक्षा में " हेतुना विना-उपनिषद्वाक्यविशेषात् पुरुषाद्वैतसिद्धौ वाङ्मात्रात्कर्मकाण्डादिप्रतिपादकवाक्यात् द्वैतसिद्धिरपि किं न भवेत् " ऐसा लिखा है। इसका मतलब यह है कि हेतु के बिना केवल उपनिषद्वाक्य से पुरुषाद्वैत की सिद्धि मानने पर वचनमात्र से-अर्थात् कर्मकाण्ड आदि के प्रतिपादक वाक्य से द्वैत की सिद्धि भी क्यो न हो जाय ? अत सर्वथा पुरुषाद्वैत-ब्रह्माद्वैत-सिद्ध नहीं होता है।

अद्वैतं न विना द्वैतादहेतुरिव हेतुना।
संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित् ॥ २७ ॥

अन्वय–हेतुना (विना) अहेतुः इव द्वैतात् विना अद्वैतं न (सिद्धयति)। प्रतिषेध्यात् ऋते क्वचित् सञ्ज्ञिनः प्रतिषेधः न स्यात्।

अर्थ–हेतु के विना अहेतु की तरह द्वैत के विना यह अद्वैत सिद्ध नहीं होता है। प्रतिषेध्य के विना कहीं पर संज्ञी–पदार्थ–का प्रतिषेध नहीं हुआ करता है।

भावार्थ–इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह स्पष्ट करते हैं कि "अद्वैतशब्दः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षो नञ्पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभिधानवत्" जैसे अहेतु यह शब्द नञ् पूर्व अखंडपद होने से स्वाभिधेय से प्रत्यनीक परमार्थ की अपेक्षा वाला है उसीतरह अद्वैत यह शब्द भी अपने अर्थ का प्रतिपक्षी जो परमार्थ स्वरूप द्वैत है उसकी अपेक्षा वाला है कारण कि यह भी नञ्–निषेध पूर्वक अखंड पद है। एक अर्थ का वाचक जो एक पद होता है वह अखंड पद कहलाता है। नञ् का मतलब यह है कि अद्वैत यह पद "न द्वैतं अद्वैतं" इस प्रकार नञ् तत्पुरुष समास से युक्त है। स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्ष का शब्दार्थ इस प्रकार है "स्व" शब्द से अद्वैत का ग्रहण हुआ है। इसका अभिधेय-वाच्यार्थ–द्वैत का निषेध रूप समझना चाहिये। इस द्वैत के निषेध का अर्थात अद्वैत का प्रत्यनीक प्रतिपक्षी–द्वैत। वह परमार्थ स्वरूप है–मायोपकल्पित नहीं है। उसकी अपेक्षा वाला यह अद्वैत शब्द है। इसलिये यह अद्वैत अपने प्रतिपक्षी द्वैत के अभाव मे नहीं हो सकता है।

शका वेदान्ती — जिस तरह आप अद्वैत पद को नञ् पूर्व अखंड पदत्व हेतु से स्वाभिधेय से प्रत्यनीक परमार्थ की अपेक्षा वाला सिद्ध करते हैं उसी तरह अनेकान्त यह पद भी नञ् पूर्वक अखड पद है अत यह भी स्वाभिधेय से प्रत्यनीक जो एकान्तरूप परमार्थ है उसकी अपेक्षा वाला माना जायगा–तथा च एकान्त मे इस अपेक्षा परमार्थ रूपता वास्तविकता–सिद्ध होगी। परन्तु इस प्रकार की मान्यता अर्हतशासन को मानने वालों की नहीं है। क्योकि वे तो एकान्त का निरसन करते हैं। अतः "नञ् पूर्वाखंडपदत्वात्" यह हेतु "अनेकान्त" इस शब्द से व्यभिचरित साबित होता

है। कारण कि अनेकान्त में इस हेतु के सद्भाव में भी " साध्य—स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्षत्व " नहीं रहता है। अर्थात् अनेकांत शब्द एकान्ताविनाभावी नहीं है।

उत्तर जैन—ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि " अनेकान्त " शब्द भी सम्यक् एकान्त के विना नहीं बन सकता है। अतः यह भी सुनयार्पित एकान्त की अपेक्षावाला है। इसलिये उसके अभाव में निष्पन्न नहीं हो सकने वाले अनेकान्त शब्द के द्वारा यह हेतु व्यभिचरित नहीं हो सकता है। अत सुनयार्पित एकान्त के साथ यह अनेकान्त अविनाभावी ही है। इसी तरह माया आदि के साथ अविनाभावो होने से अमायादि शब्दो द्वारा भी इस हेतु में व्यभिचार सिद्ध नहीं होता है।

आ० मी० २४१

शंका वेदान्ती—" अखरविषाण" यह शब्द भी नञ्पूर्व अखड पद है। अतः इसे भी स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थापेक्ष होना चाहिये। परन्तु ऐसा तो है नही, कारण कि खरविषाण कोई चीज नही है। वह तो अवस्तु है। इसलिये इसमें हेतु का सद्भाव होने पर भी साध्य का सद्भाव नहीं रहने से यह हेतु व्यभिचरित ही है। अर्थात् अखरविषाण शब्द खरविपाण का अविनाभावी नही है।

जैन-उत्तर—ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि " अखर विषाण" यह शब्द नञ्पूर्व अखंड पद नही है। "अखर" यह पद नञ्पूर्व अखड पद है। अतः यह स्वाभिधेयप्रयत्नीकपरमार्थ की अपेक्षा रखने वाला है। परन्तु "अखर विपाण" यह पद नहीं-कारण कि इसमें नञ्पूर्वता होने पर भी अखडपदता नहीं है। यहां एक तो खर और दूसरा विषाण इस तरह दो पद हैं। "न खरविपाणं अखरविपाण" इस प्रकार यहां नञ्तत्पुरुप समास है फिर भी यह अखड पद का विशेषण नहीं है किन्तु खड पद का ही विशेषण है इसलिये इस नञ् मे अखडपद की विशेषणता नहीं है। "अखंड" इस विशेषण से पदांश और अनेकपद समुदाय की व्यावृत्ति हुई है। इसलिये जो नञ्पूर्व अखंड पद होगा वही स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमार्थ की अपेक्षा वाला होगा। जैसे-अहेतु यह शब्द होता है। अखड पद का विशेषण रूप जो नञ् होता है वह अवस्तु के प्रतिषेध निबधनक नहीं होता है-किन्तु वस्तु के ही प्रतिषेध निबंधनक होता है।

हां—जो नञ् पदान्तरोपहित पद का-खडपद का—विशेषण होगा वही अवस्तु प्रतिषेध निबन्धनक देखा जायगा। जैसे अखरविषाण अवन्ध्यास्तनंधय आदि का नञ्। खरविषाण वन्ध्यास्तनधय ये अवस्तु हैं इन का प्रतिषेध अखरविषाण अवन्ध्यास्तनंधय है। अत यहां पर 'नञ्पूर्व अखंडपदत्व" यह हेतु नहीं रहता है। इसलिये साध्य भी नही रहता है। अतः साध्याभाव प्रतिपादित कर जो इस हेतु में अखरविषाण द्वारा व्यचिभार प्रकट करने का प्रयास किया गया है वह ठीक नहीं है। -दूसरे-"अद्वैत" यह शब्द अखरविषाण की तरह तो है नही, कि जिससे वह भी स्वाभिधेय प्रत्यनीकपरमार्थ की अपेक्षा वाला न हो। यह ओ नञ्पूर्व अखंडपद है अत इसका नञ वस्तु के प्रतिषेध निबंधनक ही माना जायगा। इसलिये अद्वैत द्वैताविनाभावी सिद्ध होता है। द्वैत के सर्वथा अपलाप करने में अद्वैत का विधान नहीं हो सकता है। यही बात "संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादृते क्वचित्" इस सामान्य नियम द्वारा प्रकट की गई है। संज्ञी प्रतिषेध्य द्वैत अपने अस्तित्व के विना प्रतिषेध कोटि में कैसे आ सकता है कि जिससे अद्वैत का विधान हो सके। संज्ञी का विधिसापेक्ष ही प्रतिषेध होता है। मतलब इसका यह है कि जिस प्रकार अहेतु शब्द की वस्तुभूत संज्ञीपदार्थ जो हेतु है उसके प्रतिषेध पूर्वक ही प्रवृत्ति होती है क्योकि प्रतिषेध्य जो हेतु है वह वास्तविक संज्ञी पदार्थ है तव ही तो जाकर उसका अहेतु शब्द से प्रतिषेध होता है उसी प्रकार अद्वैत यह शब्द भी वस्तुभूत सज्ञी द्वैत पदार्थ के प्रतिषेध पूर्वक ही प्रवृत्त हुआ मानना चाहिए क्योंकि यहां पर भी प्रतिषेध्य जो द्वैत है वह वास्तविक संज्ञी पदार्थ है तब ही जाकर उसका अद्वैत इस शब्द द्वारा प्रतिषेध हो सकता है अन्यथा नहीं। अखरविषाण शब्द द्वारा जो खरविषाण का प्रतिषेध किया जायगा वह प्रतिषेध्य-खरविषाण-वस्तुभूत संज्ञी पदार्थ ही नही है कि जिससे उसके प्रतिषेध पूर्वक उसकी प्रवृत्ति मानी जा सके। अतः जव खरविषाण मूल में ही वास्तविक सज्ञी पदार्थ नहीं है तो उसका प्रतिषेधक जो अखरविषाण शब्द है वह भी अवस्तुभूत ही है-कुछ नही है-अपने प्रतिषेध्य के विना भी हुआ है। अद्वैत शब्द ऐसा नहीं है उसमें तो वस्तुभूत द्वैत का प्रतिषेध करने मे आया है। अत द्वैत के नहीं मानने पर उसका प्रतिषेधक अद्वैत यह शब्द निष्पन्न ही नहीं हो सकता है और न संज्ञी द्वैतरूप प्रतिषेध्य के विना

उसका प्रतिषेध ही हो सकता है कि जिससे सर्वथा अद्वैतैकान्त की सिद्धि हो सके।

यदि अद्वैतवादी की तरफ से ऐसा कहा जाय कि इस अद्वैतवाद में परमार्थत निषेध का व्यवहार है ही नहीं। क्योंकि इस प्रकार का व्यवहार वहां संभवित नहीं होता है फिर भी अद्वैत की स्थापना में जो द्वैत का निषेध किया जाता है वह इसलिये कि यह द्वैत दूसरो ने माना है। अतः उन्हीं के प्रसिद्ध अनुमान आदि प्रमाण द्वारा हम उसका
आ० निषेध करते है। यद्यपि इस तरह कहने से स्व और पर का विभाग हो आता है तो भी यह विभाग भी तात्त्विक नहीं
मी० हैं। यह भी तो अविद्याकल्पित हैं। सो ऐसा कहना भी अद्वैतवादी का ठीक नही है। कारण कि उनके सिद्धान्तानुसार अविद्या की व्यवस्था ही नहीं हो सकती है। इस पर यदि अद्वैतवादी ऐसा कहे कि ठीक हं हमलोग अविद्या को
२४३ वस्तुभूत तो मानते नही है-कि जिससे प्रमाण से उसकी व्यवस्था करने की आवश्यकता प्रतीत हो। यह तो अवस्तुभूत है। अवस्तु में प्रमाणो का व्यापार माना नहीं गया है। १ वस्तु की स्थापना में ही प्रमाणों का व्यापार होता माना गया है। अविद्या वस्तुभूत इसलिए नहीं है कि वह अपनी प्रमाण द्वारा विहित परीक्षा के सहन करने में समर्थ नहीं है। यही अविद्या का असाधारण लक्षण माना गया है। जो इस अविद्या में अविद्यात्व की सिद्धि का विधायक हो जाता है। अतः प्रमाण द्वारा स्थापित न होकर यह अविद्या केवल कल्पना का विषय है-अर्थात् अप्रमाणिक उस अविद्या का अस्तित्व केवल कल्पना से ही माना गया है। "अविद्या है" यह प्रत्येक संसारी जीवो को भी अपने२ अनुभव से सिद्ध बात है। इस अविद्या की कल्पना करने पर द्वैतवाद का अवतार होगा ऐसा जो द्वैतवादियो की तरफ से दोष दिया जाता है सो वह अब कैसे लागू पड सकता है कारण कि यदि विद्या प्रमाण प्रसिद्ध वस्तु होती और उसे हम मानते तो द्वैत का प्रसंग होता—वह तो एक काल्पनिक वस्तु हैं। उसके मानने में द्वैत का प्रसंग कैसे हो सकता है। अतः

---

१ वस्तुनोऽन्यत्र मानानां व्यापृति र्न हि युज्यते।
अविद्या च न वस्त्विष्ट मानाघातासहिष्णुत॰ ॥
अविद्याया अविद्यात्वे इदमेव च लक्षणम्।
मानाघातासहिष्णुत्वमसाधारणमिष्यते ॥

अद्वैतवाद की मान्यता सर्वथा निर्दोष है। द्वैतवाद की ही मान्यता ऐसी है कि जिसमें दृष्ट और अदृष्ट पदार्थों का प्रपंच -जो प्रमाण से बाधित है कल्पित करने में आया है -अतः उसमें ही अनेक प्रकार के दोषों का अवतरण होता है। सो ऐसा कथन अद्वैतवादी का उचित नहीं है, कारण कि जो प्रेक्षावान् हुआ करते हैं वे विद्या एव अविद्या को समस्त प्रमाणों से अतिक्रान्तरूप वाली नहीं मानते हैं। जिस प्रकार विद्या प्रमाण का विषय मानी गई है उसी प्रकार अविद्या भी कथचित् वस्तु का स्वरूप होने से प्रमाण का विषय मानने में आई है। प्रमाण का विषयभूत मानने पर उसमें अविद्यात्व कैसे रहेगा वह तो विद्या स्वरूप हो जायगी-सो ऐसा आक्षेप हमें इष्ट है। क्योंकि अन्तः प्रमेय की अपेक्षा से कोई अविद्या है ही नहीं। समस्त ज्ञान प्रमाणभूत माने गये हैं। बहिः प्रमाण की अपेक्षा से ही विद्या और अविद्या की व्यवस्था मानने में आई है, जहां पर विसवाद होता है वह अविद्या एवं जहां अविसंवाद है वह विद्या। इसलिये किसी अपेक्षा से अविद्या को वस्तुभूत माननी चाहिये-सर्वथा प्रमाणातिक्रान्त-तुच्छाभावस्वरूप नहीं। अत. इस अविद्या के अस्तित्व स्वीकार करने से अद्वैतवादियों के अद्वैत एकान्त का सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता है। इसी तरह जितने और भी अद्वैत पक्ष हैं जैसे शब्दाद्वैत-ज्ञानाद्वैत आदि वे सब द्वैताविनाभावी ही सिद्ध होते हैं। बिना प्रमाण के इनकी सिद्धि नहीं, प्रमाण का कथन करना द्वैत का साधक बनता है।

पृथक्त्वैकान्तपक्षेऽपि पृथक्त्वादपृथक् तु तौ।
पृथक्त्वे नपृथक्त्वं स्यादनेकस्थो ह्यसौ गुणः ॥ २८ ॥

अन्वय—पृथक्त्वैकान्तपक्षे अपि पृथक्त्वात् पृथक्त्वे तौ तु अपृथक् (स्याताम्) पृथक्त्व (गुणः) न स्यात् हि असौ गुण अनेकस्थः।

अर्थ—पृथक्त्व गुण के योग से समस्त द्रव्यादिक पदार्थ, एव प्रमाण प्रमेय आदि सोलह पदार्थ बिल्कुल भिन्न २ ही हैं इस प्रकार की मान्यता रूप इस पृथक्त्वैकान्त पक्ष मे भी पृथक्त्वगुण से पदार्थों को भिन्न मानने पर

पृथक् २ रूप में रहे हुए पदार्थ अथवा गुण और गुणी सब अपृथक्-अभिन्न- हो जायेंगे । अतः इस अभिन्नता मे पृथक्त्व गुण की सिद्धि नही हो सकती है । कारण कि यह गुण अनेक द्रव्य—पदार्थों—में रहने वाला माना गया है ।

भावार्थ—२७ वीं कारिका द्वारा अद्वैतैकान्त का निरसन किया जा चुका है । इसे सुनकर वैशेषिको एवं नैयायिकों तथा बौद्धो ने जो सर्वथा पृथक्त्वैकान्तवादी हैं कहा कि आपका यह कथन सर्वथा सत्य है । भला अद्वैतैकान्त पदार्थों के अस्तित्व में हो भी कैसे सकता है । कारण कि जितने भी पदार्थ हैं वे सब भिन्न २ ही है । जिस प्रकार सह्य और विन्ध्य पर्वत पृथक् प्रतीति के विषय होने से परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न माने जाते हैं उसी प्रकार पृथक् प्रतीति के विषय होने से द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इनमें ९ प्रकार का द्रव्य, २४ प्रकार का गुण, ५ प्रकार का कर्म, २ प्रकार का सामान्य, अनंत प्रकार का विशेष, एक समवाय और ४ प्रकार का अभाव ये सात प्रकार के पदार्थ एवं प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान् ये नैयायिक संमत १६ पदार्थ—भी परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न,२ ही हैं । २४ प्रकार के गुणों में एक पृथक्त्व नाम का गुण है-जो इन समस्त पदार्थों को भिन्न २ करता है । " पृथक्व्यवहारकारण पृथक्त्व" यह उससे अलग है ऐसा ज्ञान जिस के आधार पर होता है वह पृथक्त्व गुण है" (भारतीय दर्शन पृ० ९८ वैशेषिक दर्शन) अर्थात् जिस गुण के कारण वस्तुओ की भिन्नता निरूपित होती है उसी का नाम पृथक्त्व पार्थक्य-गुण है । इसी तरह बौद्धों का भी यही कहना है कि जितने भी घट पटादिकरूप बाह्य पदार्थ एवं ज्ञानादिक रूप अन्तस्तत्त्व हैं वे सब निरन्वय विनश्वर-मूलतः नाशशील—हैं एव सजातीय और विजातीय ये सर्वथा व्यावृत्त—जुदे २—हैं । इस प्रकार यह भिन्नैकांत पक्ष ही पृथक्त्वैकान्त पक्ष है ।

इस पर कि जिनकी ऐसी मान्यता है कि पृथक्त्व गुण के योग से पदार्थ पृथक्—परस्पर भिन्न ही हैं-इस प्रकार

आ० गी० २४६

का निरूपण [illegible] [illegible]

गुणस्वरूपों के [illegible] [illegible]

किया जा सकता है [illegible] [illegible]

प्रथमतः [illegible] [illegible]

यह गुण[illegible] [illegible]

प्रत्यक्ष होता [illegible] [illegible]

पदार्थों में [illegible] [illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

माना गया है इसी का नाम कथचित् तादात्म्य है। गुण और गुणी पदार्थों-में यही सम्बन्ध होता है। परन्तु इस प्रकार का सम्बन्ध वैशेषिक एवं नैयायिक दोनो को मान्य नहीं है।

यदि इस प्रकार की मान्यता हो जाय तो पृथक्त्वैकान्त का विरोध होता है। गुण और गुणी का जो सम्बन्ध है उसी का नाम तादात्म्य सम्बन्ध है। यही सम्बन्ध गुण और गुणी को सम्बन्धित रखता है। अन्य समवाय १ सम्बन्ध
आ० आदि नही। कारण कि कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध से अतिरिक्त अन्य समवाय सम्बन्ध का जैन दार्शनिकों ने प्रतिक्षेप
मी० किया है। अतः इस प्रकार की मान्यता कि पृथक्त्व गुण अथवा अन्य सयोगादिक गुण, पदार्थों से पृथक् हैं तथा स्वय अश कल्पना से रहित निरश-है फिर भी अनेक द्रव्यो मे युगपत् रहते है सो ठीक नहीं है। कारण कि कोई भी गुण
२४७ अनेकवृत्ति युगपत् नहीं माना गया है। ऐसा तो कहीं देखने मे नहीं आता है कि एक निरश परमाणु अनेक देशस्थ हिमवान् और विन्ध्यादिको में युगपत् रहता हो। वह तो एक काल में एक ही जगह रहेगा—अनेकवृत्ति वह युगपत् कैसे माना जा सकता है। यदि वह अनेकवृत्ति युगपत् होता है तो वह निरंश नहीं हो सकता। यदि यह कहा जाय कि अनंश भी परमाणु एककाल मे अनेक देशस्थ हिमवद्विध्यादिको मे आकाश की तरह रहता है सो ऐसा कहना भी उचित नहीं है कारण कि आकाश को सर्वथा अनंश मानता भी कौन है। वह तो अनत प्रदेशी होने के कारण से स्वयं सांश है। तथा वह स्वयं अनाश्रय--किसी के आश्रय नहीं-है इसलिये उसकी समवाय सम्बन्ध से कही वृत्ति भी नहीं मानी गई है। यदि पुनः निरश को युगपत् अनेकत्र वृत्ति सिद्ध करने के ख्याल से ऐसा कहा जाय कि देखो सत्ता नामक जाति जो एक है, अश कल्पना से रहित है तथा अपनी पर्यायो से सर्वथा भिन्न है फिर भी वह समवाय सम्बन्ध से युगपत् अनेकवृत्ति वाली

---

१ नैयायिक आदि सिद्धान्तकारो ने गुण और गुणी का समवाय सम्बन्ध माना है—" अवयवावयविनो गुणगुणिनो क्रिया तद्वतोः सामान्यतद्वतोश्च य सम्बन्धः स समवाय ।

घटादीना कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणो ।
तेषु जातेश्च सम्बन्ध समवाय परिकीर्तित ॥

भषापरिच्छेद ।

मानी गई है सो ऐसा कथन भी नि:सार है। कारण सत्ता सर्वथा एक है अंशकल्पना से रहित है और अपने पर्यायो से सर्वथा जुदी है ऐसी मान्यता जैन दार्शनिको की नहीं है।

उन्होने सत्ता को अनंत पर्याय वाली सिद्ध किया१ है और उन अनंत पर्यायो से सत्ता सर्वथा जुदी है इसका निराकरण किया है। मतलब इसका यह है कि पर सत्ता और अपरसत्ता के भेद से नैयायिक आदिकों ने सत्ता के दो भेद माने हैं। जो सामन्य अधिक व्यापक होता है अर्थात् जिसकी वृत्ति अधिकतर विषयों में रहती है उसे पर सत्ता सामान्य–और जो सामान्य कम व्यापक होता है अर्थात् जिसकी सीमा संकुचित होती है उसे अपर सत्ता सामान्य २ कहते हैं। इनमे केवल सत्ता मात्र ऐसी जाती है जो सामान्य ही कही जा सकती है विशेष नहीं। अपर-सामान्य स्वविविषयों से सयोजक होने से सामान्य और विपयान्तरो से व्यवच्छेद होने के कारण विशेप दोनो समझे जा सकते ३ हैं। जाती–सामान्य ४–का लक्षण भी नैयायिक आदिको ने यही माना है कि जो नित्य, एक, और अनेक समवेत होता है वह सामान्य है इस प्रकार के कथन से सत्ता युगपत् अनेकत्र वृत्तिवाली और एक उन्हो के द्वारा स्वीकृत करने में आई है यह बात स्पष्ट हो जाती है। इसे लेकर ही इस कारिका की टीका में टीकाकार विद्यानंद स्वामी ने "सत्तैका युगपदनेकत्र वर्तते" इस पक्ति द्वारा पूर्वपक्ष स्थापित किया है। परन्तु यह मान्यता नैयायिक आदिको की ठीक नही है कारण कि जैन दार्शनिको ने सत्ता–परसामान्य–को न तो सर्वथा एक माना है और न उसे अपने व्यक्तियो–पर्यायो–में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली ही माना ५ है।

(१) सत्ता सव्वपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया उप्पादवयधुवत्था सप्पडिवक्खा हवदि एक्का। पचास्तिकाय।

(२) परत्वमधिकदेशवृत्तित्व अपरत्वमल्पदेशवृत्तित्व। —सिद्धान्त मुक्तावली।

(३) द्रव्यगुणकर्मत्वादि अपर अनुवृत्तिव्यावृत्ति हेतुत्वात् सामान्य विशेषश्च भवति। तत्र द्रव्यत्व परस्परविशिष्टेषु पृथिव्यादिष्वनुवृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् सामान्यं गुणकर्मभ्यो व्यावृत्तिप्रत्ययहेतुत्वात् विशेषः —प्रशस्तपाद भाष्य।

(४) नित्यमेकमनेकानुगत सामान्य। तर्क सग्रह। नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्त्वं (जातित्वम्) —सिद्धान्त मुक्तावली। सामान्य न पमनेक समवेतत्व च –सप्तपदार्थी।

(५) इसके लिये देखो पचाध्यायी के प्रथम अध्याय की १५ वीं कारिका से लेकर २२ वीं कारिका तक।

प्रत्युत सत्ता को अनंतपर्याय वालि होने से अनेक एवं अपनी पर्यायों से कथंचित् अभिन्न माना है। इसलिये अपनी पर्यायों से सत्ता का अत्यन्त भेद सिद्ध नहीं होता है कि जिससे वह उनमें समवाय सम्बन्ध से रहनेवाली मान्य की जा सके। इसी तरह अपरसामान्य जो द्रव्यत्वादिक हैं वे भी एक और अनंश तथा युगपत् अनेकस्वव्यक्तिवृति वाले नहीं प्रसिद्ध हो सकते हैं कारण कि इन द्रव्यत्वादिक सामान्यों में स्वाश्रयात्मक होने से कथंचित् सांशता-अनेकता --की प्रतीति होती है। संयोग, विभाग, परत्वापरत्व इन गुणां को नैयायिक आदिकों ने एक होते हुए भी युगपत् अने-कानुगत--अनेकवृति--माना है। अतः नैयायिक या वैशेषिक यदि इन गुणों को लेकर ऐसा कहे कि जैसे ये गुण एक होने से स्वय निरश और युगपत् अनेकानुगत हैं उसो प्रकार पृथक्त्व गुण भी निरश होकर युगपत् अनेकानुगत मान लिया जायगा सो ऐसा कहना ठीक नहीं है, कारण कि ये गुण भी प्रत्येक द्रव्य निष्ठ हैं। क्योकि संयोग, विभाग एवं परत्वा-परत्व रूप से प्रत्येक द्रव्य का परिणमन होता है। "प्रतियोग्यादिसंयोगादिपरिणामप्रतीते" इस पक्ति का भाव यही है कि जो गुण जिनका होता है वे उसके प्रतियोगी--जिनका संयोग वे संयोग के प्रतियोगी जिनका विभाग वे विभाग के प्रतियोगी, जिसका अभाव वह अभाव का प्रतियोगी, जिनमें परत्वापरत्व का विचार वे परत्वापरत्व के प्रतियोगी होते हे। अत घट पट संयोग स्थल में घट संयोग का परिणमन पट में होगा और पटसंयोगरूप परिणमन घट में दोनों प्रतियोगियों में संयोग आदि गुणो का परिणमन होगा। द्वित्व या भिन्न आदि संख्याएं भी दो या तीन पदार्थों में नहीं रहती किन्तु प्रत्येर पदार्थ में एक दो तीन चार आदि अनत सख्या रूप परिणमन होने की शक्ति है, उसकी व्यक्ति अन्य एक की अपेक्षा दो, अन्य दो की अपेक्षा तीन, अन्य तीन की अपेक्षा चार आदि व्यवहार से होती है। जिन चार में चार संख्या का व्यवहार होता हैं, उन प्रत्येक में चार संख्या का परिणमन हुआ है अन्यथा वे प्रत्येक चार के घटक नहीं हो सकते। अतः जितने पदार्थ जिस सख्या के घटक होते हैं उन सब प्रत्येक मे उस सख्या का परिणमन मानना चाहिये। इसलिये कोई गुण युगपत् अनेकवृत्ति नहीं हो सकता। जिस प्रकार गुण होने से रूपादिक युगपत् अनेक--वृति वाले नहीं माने गये है उसी प्रकार यह पृथक्त्व गुण भी युगपत् अनेकवृत्ति नहीं माना जा सकता है। नैयायिका-

दिकों ने भी रूपादिक गुणों को एकद्रव्याश्रित होने से युगपत् अनेकवृत्ति नहीं माना है। अत जब यह पृथक्त्वगुण पृथक्त्वगुण वाले दो पदार्थों से पृथक माना जायगा तो यह स्वाभाविक बात है कि उन पृथक्भूत पदार्थों में परस्पर में अपृथक्त्व-अभिन्नता-ही सिद्ध मानना पडेगी। इस हालत में अनेकता के अभाव मे इस पृथक्त्वगुण की सिद्धि कैसे हो सकती है। क्योंकि यह गुण युगपत् अनेकद्रव्यवृत्ति मानने में आया है अनेक द्रव्यों की पृथक्त्वगुण से भिन्न होने के कारण अनेकता सिद्ध ही नही होती है। एक एक द्रव्यवृत्ति तो वैशेपिक आदि ने इसे स्वीकृत किया नही है। इसलिये पृथक्त्व गुण सिद्ध नही होता है। इसके अभाव में पृथक्त्वैकान्त पक्ष की मान्यता घटित नही हो सकती है। मतलब इसका यह है कि वैशेषिक आदि ऐसा कहते हैं कि संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व ये चार गुण जिस प्रकार एक साथ अनेकों में रहते हैं उसी प्रकार पृथक्त्व गुण भी एक साथ अनेको में रहता है इसके ऊपर जैनदार्शनिकों की तरफ से ऐसा कहा गया है कि ये चार गुण भी एक साथ अनेको में नहीं रहते हैं क्योंकि प्रत्येक आधार के संयोगादिक जुदे २ प्रतीत होते हैं। कारण, सयोगादिक जिनमें रहते हैं वे परिणामी हैं और संयोगादिक उनके परिणाम हैं अतः यदि परिणामी एक है तो उसका परिणाम भी एक होगा। क्योंकि अनेक परिणामियों के अनेक और एक परिणामी का एक परिणाम होता है। चूंकि संयोगी आदि परिणामी अनेक हैं अतः उनके सयोगादिक परिणाम भी अनेक होगे। अतएव संयोगादिक एक होकर अनेक में एक साथ नहीं रहते। किन्तु वे स्वयं अनेक होते हुए अनेक में एक साथ रहते हैं। सयोग, विभाग परत्व एवं अपरत्व में जो एकपने का व्यवहार होता है वह औपचारिक है वास्तविक नही और उस उपचार मे निमित्त सदृशता है। सदृशता से ही वे एक कहे जाते हैं।

इसी तरह द्वित्व त्रित्व आदि (गुण) भी एक साथ अनेको मे रहते हुए प्रतीत नहीं होते, क्योकि प्रतिव्यक्ति में समस्त संख्याए सिद्ध हैं। जो वस्तु एक है उसमें एकत्व संख्या के अलावा द्वित्वादिक समस्त सख्याएं भी सिद्ध हैं और जो वस्तु एक नही है-अनेक हैं उनमें द्वित्वादिक संख्याओं के सिवाग एकत्व संख्या भी सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि द्वित्वादिक सख्याओं के आधारभूत व्यक्तियों में प्रत्येक व्यक्ति में वह द्वित्वादिक सख्या विद्यमान रहती है। यदि

वह एक २ में न हो तो दो आदि में वह दो आदि की अपेक्षा से भी नही रह सकती है। मतलब यह है कि जो जहां
स्वभावतः नहीं है वह परापेक्ष से भी वहां नहीं रह सकता। जैसे खरविषाण में स्वाभाविक और आपेक्षिक दोनो ही
तरह की सख्या नहीं है। अत स्पष्ट है कि पृथक्त्व गुण एक साथ अनेक जगह नहीं रहता क्योकि वह गुण है जो गुण
होता है वह एक साथ अनेक जगह नहीं रहता जैसे रूपादिक गुण। यहां प्रतियोगी का अर्थ "यस्याभावः स प्रतियोगी"
आ० नहीं है, अपि तु "यन्निरूपणाधीन निरूपण यस्य तत्तत्प्रतियोगी" है संयोगादिक का निरूपण संयोगियों आदि के अधीन
है। अत सयोगी आदि जो सयोगादिक के आधार हैं, संयोगादिक के प्रतियोगी हैं। जिसका आशय है "प्रत्येक प्रत्येक
मी० आधार" और "संयोगादिक परिणाम" पद का अर्थ है जुदे २ सयोग, विभाग आदि। जितने सयोगादिक के आधार
२५१ हैं उतने ही संयोग, उतने ही विभाग, उतने ही परत्व और उतने ही अपरत्व हैं। अतः संयोगादिक एक २ अनेक में
एक साथ रहते हैं यह नैयायिक का सिद्धान्त युक्त नहीं है।

संतानः समुदायश्च साधर्म्यं च निरङ्कुशः।
प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यादेकत्वनिह्नवे ॥ २९ ॥

अन्वय—एकत्वनिह्नवे निरङ्कुश सतान समुदायश्च साधर्म्यं च प्रेत्यभावश्च तत्सर्वं न स्यात्।

अर्थ —एकत्व के अपलाप करने पर निरङ्कुश -सकल बाधक रहित होने से प्रमाण प्रसिद्ध-संतान, समुदाय, साधर्म्य एवं परलोक तथा दत्तग्रहादिक ये सब सिद्ध नही हो सकते हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार बौद्ध संमत पृथक्त्वैकान्त का निरसन कर रहे हैं। बौद्ध निरन्वय-क्षणिकलक्षण पृथक्त्व पक्ष स्वीकृत करते हैं। इस पक्ष में उनकी मान्यता इस प्रकार है कि जो भी सत् पदार्थ हैं चाहे वे अन्तस्तत्त्व ज्ञान रूप हों चाहे बहिस्तत्त्व घटादिक रूप हों सब ही निरन्वयक्षण विनश्वर हैं। सजातीय और विजातीय से सर्वथा भिन्न हैं। किसी भी रूप से इनमें एकत्व नहीं हैं। जिस द्रव्य की जो भी पर्यायें है उनमें उस द्रव्य का अन्वय

नहीं रहता है, पूर्वक्षण उत्तरक्षण को उत्पन्न कर निरन्वयरूप से नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार बहुत से मोतियों में पिरोये गये डोरे का सम्बन्ध प्रत्येक मोती के साथ रहता है उस प्रकार का सम्बन्ध उत्तर क्षणों में पूर्वक्षण-द्रव्य का नहीं रहता है। कर्ता भोक्ता आदि का जो व्यवहार होता है वह संतान १ की अपेक्षा से होता है। इस पर कारिकाकार का यह कहना है कि इस निरन्वयक्षणिक लक्षण पृथक्त्व पक्ष में संतान की सिद्धि ही नहीं हो सकती है। जिस प्रकार मृत्तिका द्रव्य की घट, घटी, शराव एवं उदंचन आदि पर्यायें संतान कहलाती हैं क्योंकि उन सब में एक मृत्तिका द्रव्य का अन्वय देखा जाता है इसी तरह जीव द्रव्य की उत्तरकालीन तद्भवसम्बन्धी समस्त पर्यायें संतान तब ही कहला सकेंगी कि जब उन समस्त पर्यायों में उसका अन्वयरूप से सम्बन्ध माना जायगा। नहीं तो भिन्न २ द्रव्य की अन्य २ पर्यायों की तरह उनमें एक संतानता नहीं आ सकती है। इस एक संतान के अभाव में कर्ता भोक्ता आदि व्यवहार वहां घटित ही नहीं हो सकता है। इसी तरह "तत्सर्वं" इस पद से सूचित कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग, भवभंग, प्रमोक्षभंग एवं स्मृतिभंग इत्यादि और भी अनेक दोष आते २ हैं। जब अपने समस्तक्षणों के साथ सम्बन्ध रखने वाला कोई एक द्रव्य मूल में ही नहीं है और जितने भी उत्तरक्षण रूप वे पर्यायें हैं वे सब एक दूसरे से सर्वथा भिन्न २ हैं और क्षणिक हैं तो यह स्वाभाविक है कि जिस पूर्वक्षण ने भी जो सत् असत् कर्म किया वह तो क्षणिक होने से उसी समय नष्ट हो गया और उसके बाद जो उत्तरक्षण उत्पन्न हुआ उस बिचारे को उसका फल भोगने वाला मानना पड़ेगा। इससे यह फलित होता है कि जो शुभ अशुभ कर्मों का कर्ता है वह तो फल भोगता नहीं है और जो नहीं

---

१ सन्तानः समुदायश्च पङ्क्तिसेनादिवन्मृषा।
यथैव कदलीस्तम्भो न कश्चिद्भागशः कृतः
तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो विचारतः ॥

—बोधिचर्यावतारे ६-७३-७५

१ कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षणभंगमिच्छन् अहो महासाहसिकः परस्ते ॥

—स्याद्वाद मंजरी १८ वीं कारिका।

करता उसे बाध्य होकर उसका फल भोगना पड़ता है। तथा निरन्वव क्षणिक रूप इस पृथक्त्व पक्ष में संसार का सद्भाव भी सिद्ध नही होता है कारण कि पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों के अनुसार ही परलोक मिलता है-क्षणिकवादियों के मत में कर्म करने वाले पूर्वक्षण का सर्वथा विनाश हो जाता है तथा पूर्वक्षण और उत्तरक्षण का कोई सम्वन्ध भी नहीं है क्योकि वे दोनों परस्पर मे अत्यंत व्यावृत्त हैं अतः पूर्व जन्म में किये हुए कर्मों का फल दूसरे जन्म मे कैसे मिल सकता है। क्योकि पूर्व जन्म मे कर्मों को करने वाले का सर्वथा जब नाश ही हो जाता है तो जन्मान्तर में कृत कर्म के अनुसार प्राप्त होने वाले ससार को कौन भोगने वाला हो सकता हैं। इसी तरह निरन्वय क्षणिक रूप इस पृथक्त्व पक्ष मे मोक्ष का सद्भाव भी सिद्ध नहीं हो सकता हैं। कारण कि ससार पूर्वक ही मोक्ष होता है। संसार का ही जब अस्तित्व सिद्ध नहीं होता है तो फिर मुक्ति की बात रहती ही कहां है । कर्मों का बध नहीं होने का नाम मोक्ष हैं।

बौद्ध सिद्धान्त के अनुसार आत्मा कोई वस्तु नहीं है—आत्मा का अस्तित्व बौद्ध सिद्धानत नही मानता है—अतः जब आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नही है तो फिर परलोक में सुखी होने के लिये कौन प्रयत्न करेगा। एकत्व के अपलाप में सतान सिद्ध नहीं होती है। इसी तरह स्मृतिभग नाम का दूपण भी इस सिद्धान्त में आता है। एक का अन्वय यदि आगे की बुद्धियो के साथ रहे तो पूर्व में अनुभूत वस्तु की स्मृति भविष्यत्काल में हो सकती है। पूर्वकालीन एक बुद्धि देखकर जब नष्ट हो जाती है तो धारणारूप संस्कार का अभाव होने से आगे की बुद्धि द्वारा उस दृष्ट पदार्थ की स्मृति नहीं हो सकती है। जिस प्रकार खुशहाल के द्वारा देखा गया पदार्थ नरेश के लिये स्मृत नहीं होता है। इस तरह कृतप्रणाश आदि पदो का यह सक्षिप्त भाव प्रकट किया गया है। समुदाय भी इसीलिये नहीं बन सकता है। कारण अपने अवयवों का जब तक एकत्व परिणाम रूप से परिणमन नहीं होगा तब तक समुदाय उत्पन्न नहीं हो सकता। जिस प्रकार नाना स्कंधों के भिन्न २ अवयवों में समुदाय का व्यवहार नही होता है। सदृशपरिणाम रूप एकत्व के अभाव मे विसदृश अर्थ की तरह साधर्म्य भी घटित नहीं हो सकता है। गो, महिष, एवं अश्व में विसदृश

परिणमन रूप भिन्नता है अतः इनमे साधर्म्य धर्म की प्रतीति नहीं होती है। इसी प्रकार गो और गवय में भी जब तक किसी अपेक्षा से सदृश परिणाम रूप एकत्व का सद्भाव नहीं माना जायगा तब तक गाय के समान गवय होता है इस प्रकार साधर्म्य को प्रतीति कैसे हो सकेगी। मरकर पुनः जन्म लेना इसका नाम प्रेत्यभाव है। यह प्रेत्यभाव भी इसीलिये नहीं बन सकता है कि जब तक मरण और जन्म रूप उभयदशा का अनुभव करने वाला एक आत्मा नहीं मान जायगा। क्योंकि यह ससार दशा एककर्तृक अवस्था है।

पूर्व आत्मक्षण और उत्तर आत्मक्षणों में सर्वथा भिन्नता मान्य की जाने पर यह प्रेत्यभाव संभवित ही नहीं होता है। इसी प्रकार एकत्व के अपलाप में दत्तग्रहादि एवं एककर्तृक क्रिया आदि का भी सद्भाव सिद्ध नहीं हो सकता है। जिसने पहिले किसी व्यक्ति को अपने पास से कोई वस्तु दी और वह व्यक्ति बाद में उससे अपनी वस्तु याद कर मांग लेता है और देने वाला भी बिना ननु नच किये दे देता है। क्योंकि दाता और गृहीता दोनों अपने अन्दर समय २ पर परिणमन होने पर भी किसी अपेक्षा एक हैं। यदि दाता को देने के समय के क्षण मे अन्य माना जाय और गृहीता को भी लेने के समय सर्वथा दूसरा माना जाय तो उत्तर काल में दोनों को पर्यायान्तरिता होने पर अपनी दी हुई वस्तु को लेने की स्मृति और गृहीता को देने की स्मति कभी नहीं होनी चाहिये। जिस प्रकार नरेश के देने पर खुशहाल को उस चीज के लेने की स्मृति नहीं होती है-जो देता है उने ही यह स्मृति होती है। अत एकत्व के अभाव मे दत्तग्रहादिरूप स्मृति नहीं बन सकती है। उसी तरह "भुक्त्वा व्रजति" इत्यादि एककर्तृक वाक्यों में खाने वाला दूसरा माना जाय और जाने वाला दूसरा माना जाय तो जिसने खाया वही जाता है ऐसा एककर्तृक क्रिया वाक्य का उच्चारण ही नहीं बनता है। इस प्रकार एकत्व का सर्वथा अपलाप करना युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है। यदि इस पर एकत्व निह्नववादी-क्षणिकवादी-बौद्ध इस प्रकार कहे-हम पूर्वोत्तर क्षणों मे कार्य कारण भाव मान कर संतान की सिद्धि कर लेंगे-एकत्व मानने की क्या आवश्यकता है। एकत्व के अपलाप में भी कार्यकारण भाव मानने से पूर्वोत्तर क्षणो में संतानत्व का सद्भाव बन जाता है-तो इस प्रकार की बौद्ध की इस आशंका का समुचित समाधान

अष्टसहस्री मे दिया गया है। जिसका भावार्थ यही है कि एकत्व के अपलाप मे कार्य कारण भाव ही नही बन सकता है। अतः यदि कार्य कारण भाव माना जायगा तो एकत्व का भी सद्भाव मानना पडेगा।

सदात्मना च भिन्न चेज्ज्ञानं ज्ञेयाद् द्विधाऽप्यसत्।
ज्ञानाभावे कथं ज्ञेयं बहिरन्तश्च ते द्विषाम् ॥ ३० ॥

 अन्वय—सदात्मना च ज्ञान ज्ञेयात् भिन्नं चेत् (तर्हि) द्विधा अपि असत् (प्राप्तं) (अतः) ते द्विषां
 ज्ञानाभावे बहिरन्तश्च ज्ञेय कथ (प्रतीयेत)

 अर्थ—सत्स्वरूप की अपेक्षा से भी यदि ज्ञान ज्ञेय से भिन्न ही माना जाय तो ज्ञान और ज्ञेय ये दोनो प्रकार भी असत्स्वरूप ठहरते हैं। इसलिये हे नाथ ! आप से द्वेष रखने वाले एकान्तवादियो की ज्ञान के अभाव मे अन्तस्तत्त्व एवं बहिस्तत्त्व प्रतीतिकोटि मे कैसे आ सकता है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार पुनः पृथक्त्वैकान्त पक्ष मे दूषणान्तर प्रदर्शित कर रहे है। वे कहते हैं कि यदि यही बात एकान्तरूप से मानी जाय कि ज्ञान और ज्ञेय सर्वथा भिन्न २ हो हैं वे किसी भी अपेक्षा किसी भी स्वरूप करि एक हो ही नहीं सकते चाहे वह स्वरूप सत्सामान्य भी क्यो न हो। प्रत्येक पदार्थ चाहे वह ज्ञेय रूप हो चाहे ज्ञान रूप हो अपने २ स्वरूप के भीतर ही सीमित हो रहा है, कोई भी एक सामान्य स्वरूप ऐसा नहीं है जो इन्हे अपने सीमित स्वरूप मे रहते हुए भी एकरूप कर सके। अत जिस प्रकार चैतन्य स्वरूप की अपेक्षा ज्ञान ज्ञेय से सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार वह अपने अस्तित्व स्वरूप को लेकर भी ज्ञेय से भिन्न है इस प्रकार सर्वथा ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों अपने २ स्वरूप की अपेक्षा परस्पर में सर्वथा जुदे २ होने के कारण पृथक्त्वैकान्त पक्ष ही सिद्ध होता है। इस पर कारिकाकार का यह कहना है कि यदि सत्सामान्य की अपेक्षा भी ज्ञान को ज्ञेय से सर्वथा भिन्न कथंचित्-एकरूप न-माना जायगा तो दोनों मे अस्तित्वात्मक सामान्य स्वरूप के अभाव होने से अपने २ विशेप स्वरूप का भी अभाव प्रसक्त

होगा-तथा च ज्ञान और ज्ञेय जो अपने २ विशेष-सद्विशेषस्वरूप-कर अस्तित्व विशिष्ट माने जाते हैं उसका भी अभाव प्रसक्त होगा अर्थात् ज्ञान मे सामान्य सत्रूपता नही रहने से वह अपने सत्विशेष स्वरूप से भी सत् नहीं माना जा सकता, ज्ञेय भी सामान्य सत् स्वरूप से निर्मुक्त होने से वह भी अपने सद्विशेषस्वरूप से सत् नही माना जा सकता। इस प्रकार सामान्य सत्स्वरूप के अभाव मे विशेष स्वरूप का भी अभाव होने से ज्ञान और ज्ञेय ये दोनो ही असत् ख्यापित इस पृथक्त्वैकान्त पक्ष की मान्यता में होते है, यदि प्रतिपक्षी ऐसा कहे कि नहीं दोनों का असत्त्व नहीं है किन्तु ज्ञान का ही असत्त्व है-तो इसका समाधान यही है कि यदि ज्ञान को असत्स्वरूप माना जायगा तो ज्ञान के अभाव में अन्तस्तत्त्व एव बहिस्तत्त्व का सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है। इनके सद्भाव का ख्यापन ज्ञान के आधीन है। उसके अभाव में इनका ख्यापन नही हो सकता। इसी तरह ज्ञान को ही सत् मानकर ज्ञेय को असत् माना जाय तो ज्ञेय के अभाव मे ज्ञान का सद्भाव ख्यापित नही हो सकता क्यो कि ज्ञेय के होने पर ही उसका परिच्छेदक होने के कारण ज्ञान का सद्भाव ज्ञात होता है। अत ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों सद्-भाव-स्वरूप हैं। इनमे अस्तित्वस्वरूप करके कथंचित् एकता है। इसलिए सर्वथा पृथक्त्वैकान्तपक्ष अंगीकार ही नही हो सकता है।

बौद्ध-सत् सामान्य यदि वस्तुभूत-परमार्थ सिद्ध होता और उसका स्वतंत्र अनुभव न होता तो वह अवश्य मन्तव्य होता परन्तु ऐसा तो वह हैनहीं। समस्त सद्विशेषो में जो असत्त्व की व्यावृत्ति है वही तो सत्सामान्य है। इस असत्वव्यावृत्तिरूप सत्सामान्य को लेकर जो आप ज्ञान का ज्ञेय से भेद मानने पर "द्विष्यसत्" इस प्रकार का उपालभ-उलाहना देरहे हैं सो ठीक नहीं है। कारण कि इस असत्त्व व्यावृत्तिरूप सामान्य की अपेक्षा से न तो किसी का किसी के साथ भेद का विचार होता है और न अभेद का ही विचार होता है। विचार तो वस्तु को आश्रित करके होता है। सत्सामान्य वस्तु रूप इसलिये नहीं है कि वह असत् की व्यावृत्ति मात्र है। अत अभाव स्वरूप है। इस प्रकार के सामान्य-सत्वसामान्य-को लेकर ज्ञेय से ज्ञान यदि भिन्न माना जाता है तो ज्ञान अथवा ज्ञेय में परमार्थ सत्त्व का विरोध-असत्त्व-कैसे आसकता है नहीं आ सकता है। अपने सद्विशेषों की अपेक्षा कि जिनमें असत्त्व व्यावृत्ति रूप सत्सामान्य रहा हुआ है ज्ञान और ज्ञेय परस्पर में सर्वथा भिन्न भिन्न ही हैं।

जैन---ऐसा कहना उचित नहीं है । कारण कि सत्सामान्य को विशेष-सद्विशेष-से भिन्न यदि नहीं माना
जायगा अथवा सद्विशेषो मे केवल उसे असत्त्वव्यावृत्तिरूप या काल्पनिक माना जायगा तो या तो सद्विशेपों का भी अभाव
प्रसक्त होगा या उन मे भी काल्पनिकता की आपत्ति आयेगी । दूसरे-सद्विशेषो में जो असत्त्वव्यावृत्तिरूप सामान्य है वह
अवस्तुभूत नहीं है किन्तु वस्तु का स्वभाव रूप है-वास्तविक है-काल्पनिक नहीं है । बौद्ध सिद्धान्त में प्रत्येक पदार्थ अन्य-
व्यावृत्तिरूप-अन्य के अपोहरूप-माना गया है इसीलिये वे सत् को असत् व्यावृत्तिरूप, घट को अघट-व्यावृत्तिरूप, पट को
आ० अपट व्यावृत्तिरूप, अश्व को अनश्वव्यावृत्तिरूप इस प्रकार इन शब्दों द्वारा कहते हैं । इस पर जैनों को तरफ से समाधान
मी० रूप मे यह कहा जा रहा है कि ठीक है सत् असत् व्यावृत्ति रूप हो भले रहे परन्तु यह सत् मे जो असत्व्यावृत्तिरूपता
२५७ है वह अवस्तु अभाव रूप--तुच्छाभावरूप--नहीं है किन्तु वास्तविक--परमार्थभूत है । असत् की व्यावृत्ति जो सत् मे रहेगी
वह काल्पनिक नहीं मानी जा सकती--नहीं तो असद्रूप खरविषाणादिक में भी इस असत्त्वव्यावृत्ति के सद्भाव के प्रसंग
से सत्त्व का प्रसंग मानना पडेगा । मतलब इसका यह है--ज्ञान और ज्ञेय को सद्विशेष होने से अवान्तर सत्ताविशिष्ट
होने से--उनमे जो असत् की व्यावृत्ति है वह वास्तवि है १ । जिसमे यह असद्व्यावृत्ति वास्तविक नहीं है वह सद्विशेष-
अवान्तर सत्ता से युक्त-भी नहीं है जैसे वन्ध्या का सुत, ज्ञान और ज्ञेय ये दोनों अपनी२ विशेषसत्ता से युक्त सद्विशेष-हैं
इसलिये इनमें जो असद्व्यावृत्तिरूप सामान्य है वह वास्तविक है । अत सत्सामान्य वास्तविक है । इस सत्सामान्य की
अपेक्षा से भी यदि ज्ञेय से ज्ञान का सर्वथा भेद जो माना जायगा तो सद्विशेष निजस्वरूप की अपेक्षा से भी उसका
उससे भेद मानना पडेगा । ऐसी हालत में ज्ञेय की अपेक्षा से जो ज्ञान में सत्त्वरूपता मानी जाती है वह उससे सर्वथा
भिन्न होने के कारण सिद्ध नहीं हो सकती है, इसलिये ज्ञान मे असत्ता प्राप्त होगी । ज्ञान ज्ञेय का अविनाभाव परस्पर
सापेक्ष है । ज्ञान की असत्ता मे अन्तरग और बहिरग पदार्थ ज्ञेय का सद्भाव सिद्ध कैसे हो सकता है । नही हो सकता
है, इसलिये ज्ञान और ज्ञेय मे ग्राह्य ग्राहक भाव की अपेक्षा कथचित् स्वभाव भेद होने पर भी अस्तित्वादिक सामान्य
स्वरूप की अपेक्षा से उन दोनो मे कथंचित् अभिन्नता मानना चाहिये । इस अपेक्षावाद में सर्वथा पृथक्त्वैकान्त सिद्ध

---

१ ज्ञानज्ञेययोरसद्व्यावृत्तिर्वास्तवी सद्विशेषात् यस्य तु न सा वास्तवी स न सद्विशेषः यथा वन्ध्यासुत. । सद्विशेषौ च ज्ञान-ज्ञेयौ इति केवलव्यतिरेकी हेतु: (-अष्टसहस्री)

नहीं होता है।

सामान्यार्था गिरोऽन्येषां विशेषो नाभिलप्यते।
सामान्याभावतस्तेषां मृषैव सकला गिरः॥ ३१॥

अन्वय—अन्येषां गिरः सामान्यार्था (ताभि.) विशेषः न अभिलप्यते। तेषां सामान्याभावतः सकलाः गिरः मृषा एव (स्यु.)।

अर्थ—बौद्धों के सिद्धान्त में वचन–शब्द सामान्य को ही विषय करने वाले माने गये हैं। कारण कि उनके द्वारा विशेष–स्वलक्षण वाच्य नहीं होता है। इस प्रकार मानने वाले बौद्धों के मत में वास्तविक सामान्य का अभाव होने से स्वयं सत्यरूप से माने गये वचन भी झूठ ही ठहरते है।

भावार्थ—तीसवीं कारिका में यह प्रकट किया जा चुका है कि यदि सत्ता सामान्य स्वतत्ररूप से न माना जाय केवल विशेप--सद्विशेष--ही माना जाय तो सत्सामान्यस्वरूप के अभाव मे सद् विशेष स्वरूप का अस्तित्व भी सिद्ध नही हो सकता है तथा च--ज्ञान और ज्ञेय की इन दोनों में सत् सामान्यस्वरूप के अभाव में सद्विशेष की अपेक्षा से स्वतंत्र सत्ता सिद्ध नही हो सकने के कारण असत्ता की प्रसक्ति प्राप्त होती है। क्योंकि सामान्य के विना विशेष और विशेष के विना सामान्य का अनुभवन नहीं होता है और न उन दोनों की स्वतत्र सत्ता ही साबित होती है। ये दोनों परस्पर सापेक्ष है। एक के अभाव में दूसरे का सद्भाव कथमपि नहीं हो सकता है। अतः ज्ञान के अभाव में अन्तर्बहिः ज्ञेय का और ज्ञेय के अभाव मे ज्ञान का सद्भाव ख्यापित नहीं हो सकता है। इस पर बौद्धों का यह कहना है कि हमलोग सामान्य को नहीं मानते हैं यह बात तो नही है। सामान्य को तो मानते हैं-परन्तु वह शब्द द्वारा वाच्य होने से अवस्तु है-विशेप की तरह वस्तुभूत नहीं है। प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रमाण हैं—इनमें विशेप–स्वलक्षण प्रत्यक्ष--निर्विकल्पक प्रत्यक्ष-का विषय होने से वास्तविक-यथार्थ-परमार्थभूत- माना गया है एवं सामान्य शब्द एवं अनुमान १

१ "आपोह. शब्दलिङ्गाभ्यां न वस्तु विधिनोच्यते,' स्याद्वाद मजरी पृ-१८०

का विपय है अतः वह अपरमार्थभूत-अवास्तविक माना गया है। शब्दो में यह शक्ति नहीं है जो वे विशेषों का कथन कर सकें। शब्दों द्वारा जो भी कहा जाता है वह सब सामान्यरूप अर्थ ही कहा जाता है। वह सामान्य-अन्यव्यावृत्तिरूप पड़ता है। "घट" इस प्रकार के शब्द के उच्चारण करने से उससे कंबुग्रीवादि वाले घटरूप अर्थ की साक्षात् प्रतीति नहीं होती है किन्तु अघट व्यावृत्तिमात्र की ही उससे साक्षात् प्रतीति होती है। घट से अतिरिक्त जितने भी पदार्थ हैं वे सब अघट हैं और इनकी व्यावृत्ति उस घट में है, अत' घट शब्द का वाच्य अघट व्यावृत्ति मात्र है। बाह्य अर्थ के अविषय होने पर इस अन्य व्यावृत्ति से फिर घट पदार्थ के आनयन आदिमें श्रोता की प्रवृत्ति कैसे हो सकेगी? सो ऐसी आशंका यहां नहीं करनी चाहिये क्योंकि यह तो निश्चित सिद्धान्त है कि "घट" पद के उच्चारण से श्रोता की जो घट पदार्थ के आनयन आदि में प्रवृत्ति होती है वह दृश्य और विकल्प्य में एकत्व के अध्यवसाय होने से ही १ होती है, वैसे तो शब्द अन्यव्यावृत्ति मात्र का ही अभिधायक होता २ है। इस प्रकार की बौद्धो की मान्यता चित्त में धारण कर कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह कह रहे हैं कि यदि केवल सामान्य ही शब्द का विषय माना जावे और उस सामान्य को अवास्तविक -झूठ-अपरमार्थभूत कहा जावे तो इस अवस्था में कोई वचन सत्यार्थ नहीं हो सकने के कारण सत्यत्वेन अभिमत वचन भी असत्यार्थ ही मानना पड़ेंगे। तथा च यह वचन-कथन-भी कि "वचन सामान्य मात्र को विपय करने वाले हैं और वह सामान्य अवास्तविक है स्वलक्षण ही वास्तविक है उसमें संकेत न होने के कारण वह शब्द का विषय नहीं होता है" तुम्हारा मृषा हो जाता है।

निर्विकल्पक ज्ञान में प्रमाणता नहीं आती है किन्तु सविकल्पक ज्ञान में ही आती है यह बात युक्तियों द्वारा

---

१ ननु बाह्यार्थाविषयत्वेकथमतः प्रत्ययात् तत्र प्रवृत्तिः इत्यप्यचोद्यम्-दृश्यविकल्प्ययोरेकत्वाध्यवसायात् तदुपपत्तेः।
न्यायकुमुद चन्द्र पृ-२८९।

२ तेनान्यापोहविषया शब्दाः सामान्यगोचरा'। शब्दाश्च बुद्धयश्चैव वस्तुन्येषामसंभवात्।
-प्रमाणवार्तिक टीका पृ-२६२।

तस्मादपोहविषयमिति लिङ्गप्रकीर्तितम्। प्रमाणवार्तिक टीका पृ-१२७।

जैन दार्शनिकों ने अन्यत्र स्थापित की है अतः उसे यहां प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं है। ऐसा कोई एकान्त नियम नहीं है कि निर्विकल्पक ज्ञान का ही विषय विशेष—स्वलक्षण—है और शब्दबुद्धि-सविकल्पक ज्ञान-का विषय सामान्य। सामान्य और विशेष ये दोनों धर्म एक वस्तु में युगपत् रहते हैं। इनमें परस्पर कोई विरोध भी नही है। अतः सामन्य और विशेष ये दोनो ही प्रमाणभूत सविकल्पक ज्ञान के विपय माने गये हैं। सामान्य को अन्यव्यावृत्ति रूप मानकर जो किसी की शंका के समाधान निमित्त ऐसा कहा है कि दृश्य और विकल्प्य में श्रोता की एकत्व के अध्यवसाय होने से, अन्यव्यावृत्तिरूप अर्थ में प्रवृत्ति न होकर, घटादि रूप, बाह्य अर्थ मे प्रवृत्ति होती है सो इस बिषय में केवल इतना ही पूछना है कि इन दोनों का एकत्व अध्यवसाय किस ज्ञान के द्वारा होता है। क्योंकि इन दोनो की स्वरूप संविति स्वतत्र अलग २ रूप से हो तो हो एक का दूसरे में आरोप होने से एकत्वाध्यवसाय युक्त माना जा सकता है। जैसे—अग्नि और गरम मिजाजवाले किसी व्यक्ति की स्वतंत्र रूप से अलग २ प्रतिपत्ति होती है। तभी जाकर अग्नि का उपचार उस गर्म मिजाजवाले व्यक्ति मे किया जाता है। विकल्प और दृश्य की किसी एक ज्ञान द्वारा स्वरूप सवित्ति इस प्रकार नहीं होती है। कारण कि निर्विकल्पक ज्ञान अपने ही विषय को जानने वाला आपके द्वारा माना गया है विकल्प्य को नहीं। विकल्प्य विकल्प ज्ञान का विषयभूत माना गया है। निर्विकल्पक का नहीं। १ यदि मात्र अन्यव्यावृत्ति का ही वाचक शब्द माना जावे तो "गौ गौ" इत्यादि शब्दों की जो विधिप्रधानतया गवादिरूप अर्थ में प्रवृत्ति देखी जाती है वह नहीं होनी चाहिये। दूसरे-शब्द सामान्य को ही विषय करते हैं इसका कारण क्या ? यदि इस पर

---

१ किञ्च उभयोभेदेन स्वरूपसवित्तौ अन्यस्य अन्यत्र एकत्वाध्यवसायोयुक्त. अग्निमाणवकवत्। न च विकल्पाविकल्पयो क्वचित्कदाचित् कस्यचित् संवित्तिरस्तिइत्युक्तम् एकत्वाध्यवसायश्चानयो अन्यतरस्मात् अन्यतो वा स्यात्। अन्यतरस्मात् चेत् किं विकल्पात् निर्विकल्पात् वा। न तावन्निर्विकल्पात् तस्य परामशून्यतया एकत्वाध्यवसायाऽसमर्थत्वात्। नापि विकल्पात् तस्य निर्विकल्पाविषयत्वात्- यत् यद्विषय न भवति न तत्तस्य केनचित् एकत्वर्शमध्यवस्यति यथा घटविषय विज्ञानं परमाणवविषयत्वात् न तस्य घटादिना एकत्वमध्यवस्यति निर्विकल्पाविषय चेदं विकल्पज्ञानं तद्विषयत्वे वा स्वलक्षणविषयत्व विकल्पानामपि स्यात्,

इत्या० पाठ न्यायकुमुदचन्द्र पृ-४९।

कहा जाय कि विशेष तो अनत हैं। अतः उनमे संकेत हो नहीं सकता है-इसलिये बिना सकेत के शब्द उन्हें विषय नही करता है। जिस प्रकार निर्बिकल्पक ज्ञान मे संकेतनिरपेक्ष विशेष-स्वलक्षण-का प्रतिभास होता है उस तरह उसका प्रतिभास विकल्पक ज्ञान मे नही हो सकता है। कारण कि विकल्पज्ञान सकेत सापेक्ष है तथा निर्विकल्पक ज्ञान स्वलक्षण अर्थ सनिधान की अपेक्षावाला नहीं है।

आ० मी० २६१ यदि वह उसकी अपेक्षा वाला माना जाय तो अतीत एवं अनुत्पन्न आदि पदार्थों में सविकल्पक ज्ञान की उत्पत्ति ही नही हो सकती है। क्योकि उस समय अतीत एवं अनुत्पन्न अर्थ का संनिधान नही है इसलिये शब्द सामान्य को ही विषय करता है, सो बौद्धों के इस प्रकार के कथन से यह बात फलित होती है कि स्वलक्षण—विशेष-अनभिधेय-शब्द द्वारा वाच्य नही-है एव जो सविकल्पक ज्ञान का विषय सामान्य है वह अवस्तु है तब ऐसी स्थिति मे शब्द के उच्चारण से अथवा उसका किसी अर्थ में संकेत करने से लाभ ही क्या है। क्योंकि जिस प्रकार अश्व शब्द गो रूप पदार्थ का प्रतिपादक नही होता है उसी प्रकार गो यह शब्द भी अपने गवादिरूप अर्थ का कथन करने वाला नही होता है मात्र वह तो अन्यव्यावृत्तिरूप सामान्य का अभिधायक होता है, अतः गो शब्द का उच्चारण करना और उसका सास्नादि वाले गो पदार्थ में सकेत करना यह सब व्यर्थ पड़ता है। इसलिये जब शब्द द्वारा वास्तविक पदार्थ रूप स्वलक्षण का कथन नहीं होता है तो फिर सबसे अच्छा तो यही मार्ग है कि या तो मौन रहा जाय या जो मन में आवे सो ही अनर्थप्रलाप किया जाय। क्योंकि दोनो प्रकार की स्थिति में यथार्थ अर्थ को प्रतिपादन करनेरूप विशेषता तो है ही नहीं अर्थात् जब गवादिक शब्द अपने यथार्थ अर्थ को नहीं कहते हैं तो ऐसी स्थिति में मौन रहना या यत्किञ्चित् शब्दों का उच्चारण करना या विवक्षित गवादिपदों का कहना क्या मूल्य रखता है। अपने यथार्थ अर्थ का प्रतिपादन करना यही तो सत्य शब्द में असत्य शब्द से विशेषता है। यत्किञ्चित् शब्द यथार्थ अर्थ के अभिधायक नही होते हैं और सत्य शब्द यथार्थ अर्थ के प्रतिपादक होते हैं। यदि ऐसा न माना जाय और केवल यही माना जाय कि शब्द सामान्य को ही विषय करने वाले होते हैं और वह सामान्य अवास्तविक है

तो ऐसी हालत मे क्षणिकत्वादिक साधक परार्थ अनुमान एव नित्यपक्ष के दूषक वचन कभी सत्यार्थ नहीं माने जाने के कारण प्रसिद्ध झूठ वचनो की तरह सत्य नहीं माने जा सकते है, अत. समस्त पदार्थों में क्षणिकत्व की सिद्धि करना और नित्यपक्ष का खंडन कर बौद्ध मत की स्थापना करना कैसे संगत कहा जा सकता है। इसलिये सामान्य को वास्तविक मानकर उसकी अपेक्षा एकत्व मानना चाहिये-तथा च इस कथंचित् एकत्ववाद में पृथक्त्वैकान्तवाद सिद्ध नहीं होता है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिः नावाच्यमिति युज्यते ॥ ३२ ॥

अन्वय — स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्य न (युज्यते) अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यमिति" उक्तिः अपि न युज्यते ॥

अर्थ—स्याद्वाद नीति से द्वेष रखने वाले एकान्त वादियों के यहां परस्पर में विरुद्ध स्वभाव से युक्त होने के कारण पृथक्त्वैकान्त एवं अपृथक्त्वैकान्त की एक धर्मी में एकरूपता घटित नहीं होती है, इसी प्रकार इन दोनों का अवाच्यतैकान्त मानने पर भी उसमें "तत्त्व अवक्तव्य है" इस तरह का कथन भी नहीं हो सकता है।-

भावार्थ —प्रतिवादी का ऐसा कहना है कि जब अद्वैत एकान्त की तरह इस पृथक्त्वैकान्त का भी विधान स्थापित नहीं हो सकता है तो फिर अब भलाई इसी में है कि इन दोनो का ऐकात्म्य मान लिया जाय। इस पक्षमें दोनों की स्थिति हो जाती है। यह एक तीसरा प्रकार है जो भिन्न २ रूप से माने गये पृथक्त्व एकान्त और अपृथक्त्व एकान्त से भिन्न है। प्रथम प्रकार में केवल अपृथक्त्वैकान्त की ही मान्यता प्रदर्शित की गई है और पृथक्त्वैकान्त का प्रतिविधान किया गया है। द्वितीय प्रकार मे पृथक्त्वैकान्त की मान्यता समर्थित हुई है और प्रथम प्रकार का निराकरण किया गया है। परन्तु ये दोनो प्रकार ठीक नही हैं-युक्ति युक्त नहीं हैं—क्योंकि इनमें एक दूसरे का तिरस्कार

किया गया हैं। इस तीसरे प्रकार मे किसी भी पक्ष का तिरस्कार नहीं हुआ है—बल्कि उन दोनों को क्रमशः प्रधानता दी गई है। और इसलिये इन दोनो में परस्पर में एक रूपता मानी गई है।

इस प्रकार इस तृतीय प्रकार की मान्यता वाला के प्रति आचार्य महाराज कारिकाकार का यह कथन है कि जिस प्रकार अस्तित्वैकान्त एवं नास्तित्वैकान्त में तथा एकत्व और अनेकत्व के एकान्त में एकरूपता नही बन सकती है कारण कि ये सब परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा विरुद्धस्वभाववाले हैं और इसलिये इनका किसी एक धर्मी में प्रधानरूप से क्रमशः सभव भी नहीं होता है-उसी प्रकार परस्पर में सर्वथा एक दूसरे से विरुद्ध स्वभाव वाले इन दोनों में—पृथक्त्वैकान्त अपृथक्त्वैकान्त में -भी एकरूपता नही बन सकती है, कारण कि ये दोनो भी परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध स्वभाव वाले है। अत इनका प्रधानरूप से किसी एक धर्मी में क्रमशः संभव मानना भी ठीक नहीं है। यदि इस पर प्रतिवादी ऐसा कहे कि जिस प्रकार वन्ध्या और उसके पुत में विरुद्ध धर्माध्यास होने पर भी एक रूपता बन जाती है उसी प्रकार इन दोनो में भी एकरूपता घटित हो जायगी इसमें आपको क्या आपत्ति है-- अर्थात् जिस प्रकार वंध्या और तत्सुत ये दोनो विधि प्रतिषेध स्वरूप हैं—इनमें परस्पर में विधि प्रतिषेध स्वरूपता घटित हो जाती है -जैसे- वन्ध्या का विधान ही उसके सुत का प्रतिविधान—अभाव है अथवा वंध्या के सुत का अभाव-प्रतिषेध ही वंध्या का विधान है-यहां परस्पर में विरुद्ध धर्माध्यासता होने पर भी विधि प्रतिषेधात्मकता बनने से एक रूपता घटित हो जाती है—जो विधि है वही प्रतिषेध रूप हो जाता है और जो प्रतिषेध स्वरूप है वही विधि रूप हो जाता है।

इसी प्रकार पृथक्त्वैकान्त और अपृथक्त्वैकान्त भी विरुद्ध धर्माध्यासता वाले है तो भी इनमें एक रूपता मानने में भी कोई आपत्ति नही हो सकती है। पृथक्त्वस्वभाव की विधि ही सर्वथा एकत्व का प्रतिषेध है अथवा सर्वथा एकत्व का प्रतिषेध ही पृथक्त्व स्वभाव की विधि है। इस प्रकार इनमे परस्पर में एक रूपता अच्छी तरह से घटित हो जाती है। सो इस प्रकार का कहना भी प्रतिवादी का युक्तिसंगत नही है। कारण कि स्याद्वादनीति को माने बिना इस तरह

आ० मी० २६४

से एकात्मता इनमें घटित नहीं हो सकती। इस तरह से इन दोनों में एकात्मता—एकस्वरूपता--घटित करना यही स्याद्वादनीति है, परस्पर विरोधी धर्मों का किसी अपेक्षा एकत्र समन्वय करने का नाम ही स्याद्वाद है। यह समन्वय बिना स्याद्वादनीति के अन्य से साध्य नही होता है। जब एकत्वैकान्त और अनेकत्वैकान्त परस्पर एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध स्वभाववाले हैं तो एकात्मता इनमे इसके माने बिना नहीं बन सकती है। इस प्रकार का कथन ही स्याद्वाद की मान्यता का परिचायक हो रहा है। अतः उसका निषेध करना या उससे विद्वेष रखना यह कथमपि मान्य नहीं हो सकता है। मतलब स्याद्वादनीति के माने विना उभयैकात्म्य तत्त्व की स्वीकृति सिद्ध नहीं हो सकती १।

इसी प्रकार इन दोनो धर्मो की एक धर्मी में सर्वथ युगपत् सत्ता मानने में अवाच्यतैकान्तता आती है जिसका अभिप्राय यह है कि इस मान्यता में धर्मी को न हम सर्वथा पृथक्त्व विशिष्ट कह सकते हैं और न सर्वथा अपृथक्त्वविशिष्ट ही। कारण कि ऐसा कोई एक शब्द नही है जो इन दोनों धर्मों से विशिष्ट वस्तु का युगपत् प्रतिपादन कर सके। अतः तत्त्व सर्वथा अवक्तव्य है ऐसा ही मानना पड़ता है। सो इस मान्यता वालों के प्रति आचार्य देव का यह कथन है कि जब सर्वथा अवाच्यैकान्त तत्त्व माना जायगा तो इस अवस्था में "तत्त्व सर्वथा अवाच्य है" इस प्रकार का कथन ही नही हो सकता। अन्यथा सर्वथा अवक्तव्यता वहां नहीं आसकती। इसलिये इस एकान्त में मौन रखना ही श्रेयस्कर है। इस विषय को और भी अच्छी तरह से पूर्वोत्तर पक्ष सहित १३ वी कारिका में स्पष्ट कर दिया गया है। वहां से देख लेना चाहिये।

अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये ह्यवस्तु द्वयहेतुतः।
तदेवैक्यं पृथक्त्वं च स्वभेदैः साधनं यथा ॥ ३३ ॥

अन्वय— हि द्वयहेतुतः अनपेक्षे पृथक्त्वैक्ये अवस्तु (प्रतिपादिते) "तत" "द्वयहेतुतः" तदेवैक्यं पृथक्त्वं

१ अस्तित्वनास्तित्वैकत्वानेकत्ववत् पृथक्त्वेतरपरस्परप्रत्यनीकस्वभावद्वयसंभवोऽपि माभूत् निप्रतिषेधात्। न खलु सर्वात्मना विरुद्धधर्माध्यासोऽस्ति तदन्योन्यविधिप्रतिषेधलक्षणत्वाद्वन्ध्यासुतवत्। (अ० श०)

च (वस्तु अवसीयते) यथा स्वभेदै साधनम्

अर्थ—कारिकाकार द्वारा जिस कारण से परस्पर निरपेक्ष रूप दो हेतुओं को लेकर परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा नहीं रखने वाले पृथक्त्व एव ऐक्य--अपृथक्त्व--ये दोनों अवस्तुरूप प्रतिपादित किये गये हैं। इस कारण परस्पर सापेक्षरूप दो हेतुओं से वे ही दोनों पृथक्त्व और एकत्व वस्तुरूप हैं यह बात निश्चित हो जाती है। जैसे अपने भेदों से निरपेक्ष अवस्था में जो साधन अवस्तुरूप होता है वही साधन उनकी सापेक्षावस्था में वस्तुभूत हो जाता है

भावार्थ--वैशेषिक पृथक्त्वैकान्तवादी है, वेदान्ती एव कोई एक बौद्ध अद्वैत--अपृक्त्वैकान्तवादी है। परस्पर निरपेक्ष पृथक्त्व और अपृथक्त्व का एकान्त मानने वाले मीमांसक हैं। इन दोनो का अवाच्यतैकान्त माननेवाले बौद्ध हैं। इन्ही प्रतिवादियों का यहां पर इस प्रकार का कहना है कि २४ वीं कारिका से लेकर ३२ वीं कारिका तक इन परस्पर निरपेक्ष दोनों एकान्तों मे जब कारिकाकार ने निरपेक्ष हेतु द्वारा अवस्तुरूपता सिद्ध कर दी है तो इससे आपाततः यह सिद्ध हो ही जाता है कि इन दोनों में सापेक्षावस्था में वस्तुरूपता है। इस वस्तुरूपता का नाम ही अनेकान्त तत्त्व की। सिद्धि है। फिर इस कारिका द्वारा इनके परस्पर सापेक्षरूप अनेकान्त की स्वतत्ररूप से इस कारिका द्वारा व्यवस्था करने की क्या आवश्यकता है। उनकी इस आशका के समाधान निमित्त कारिकाकार कहते हैं कि यद्यपि यह आशका ठीक है। परन्तु फिर भी वादी का कर्तव्य है कि वह दोनो काम करें। परपक्ष का निराकरण और स्वपक्ष का सस्थापन।

दूसरे—इस प्रकार का जो प्रतिपादन किया गया है उसका कारण उनके प्रति अनेकान्त की प्रतिपत्ति का दृढ करना तथा उसमें उद्भूत अन्यथारूप की आशंका का निराकरण करना है। इसी अभिप्राय से इस कारिका द्वारा उस एकत्व एवं अनेकत्व की परस्पर सापेक्षा में उद्भूत अनेकांत की सप्तभंगात्मक प्रक्रिया के मूलभूत दो भंगो को जीवादिक वस्तुओ पर घटित करते है। इसमे वे सर्व प्रथम यह प्रकट कर रहे हैं कि पृथक्त्व और अपृथक्त्व ये दोनो धर्म परस्पर कथंचित् सापेक्ष है। क्योकि पृथक्त्व की अपेक्षा विना अपृथक्त्व धर्म और अपृथक्त्व की अपेक्षा विना पृथक्त्व धर्म

की स्वतन्त्ररूप से क्वचिदपि उपलब्धि नहीं होती है। जिस प्रकार अवस्तुरूप व्योम कुसुम की एकत्व अनेकत्व निरपेक्ष होने से उपलब्धि नही होती है उसी प्रकार एकत्व निरपेक्ष होने से पृथक्त्व की और पृथक्त्व निरपेक्ष होने से एकत्व की उपलब्धि नहीं हो सकती १ है, क्योंकि ये दोनो इस परिस्थिति में व्योम कुसुम की तरह अवस्तुरूप ठहरते हैं। इस प्रकार परस्पर निरपेक्ष इन दोनों की "एकत्वनिरपेक्षत्वात् एवं पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात्" इन दो हेतुओं द्वारा उपलब्धि का अभाव कथित होता है।

इन दोनों में परस्पर सापेक्षदशा में वस्तुभूतता सिद्ध करने के लिये जो "साधन" को दृष्टान्तकोटि में रखा गया है उसका अभिप्राय यह है कि बौद्ध सत्वादि साधन के पक्ष धर्मत्व, सपक्षेसत्त्व एव विपक्ष से व्यावृत्ति होना ये तीन रूप मानता है। परन्तु इन तीन रूप लक्षणों से वह भिन्न न होकर एक माना गया है। यदि वह साधन अपने इन तीन रूपों की अपेक्षा विना का हो तो वह अवस्तुरूप ही ठहरता है। क्योंकि उसमें साधन लक्षण का सद्भाव नहीं घटित होता है। इसी तरह उस साधन के अन्वय और व्यतिरेक ये दो भेद भी वस्तुरूप-वास्तविक-तब ही कहला सकते हैं कि जब इनमे परस्पर सापेक्षता हो। अतः धर्म और धर्मी की अपेक्षा परस्पर में कथंचित् भिन्नता होने पर भी उनमें वस्तुरूपता परस्पर की अपेक्षा विना घटित नहीं हो सकती है।

यद्यपि पृथक्त्व एवं ऐक्य के एकान्त का निषेध पहिले इसी अध्याय की कारिकाओं द्वारा किया जा चुका है फिर भी जो इस कारिका द्वारा उनके एकान्त का निषेध किया जा रहा है उसका कारण उन्हें अनुमान का विषय वनाना है। अर्थात्-"एकत्वपृथक्त्वे नेकान्ततः स्तः प्रत्यक्षादिविरोधात्" इस अनुमान द्वारा यह विशेष स्पष्ट हो जाता

---

१ पृथक्त्वैकत्वे तथाभूते न स्ताम् एकत्वपृथक्त्वरहितत्वात् व्योमकुसुमवत् अ० श०। सर्वथापृथक्त्व नास्ति एकत्वनिरपेक्षत्वात् व्योमकुसुमवत्। सर्वथा एकत्व नास्ति पृथक्त्वनिरपेक्षत्वात् तद्वदिति। अ० सह०

जीवादिवस्तु सापेक्षं सत् एक भवति कथंचित् एकत्वेन प्रतीयमानत्वात् सत्वादिसाधनवत्। जीवादिवस्तु सापेक्षं सत् पृथक् भवति कथंचित् पृथक्त्वेन प्रतीयमानत्वात् सत्वादिसाधनवत् टिप्पणी

है कि सर्वथा न पृथक्त्व है और न सर्वथा अपृथक्त्व ही है क्योंकि इस प्रकार की मान्यता प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरुद्ध पड़ती है। यहां ऐसी भी शंका नहीं करनी चाहिये कि "जिस विषय का प्रतिपादन पहिले कर दिया गया है उसे अनुमान का विषय बनाना अनुमान में अप्रमाणता लाना है। क्योंकि इस तरह से अनुमान गृहीतग्राही होता है और जहां गृहीत-ग्राहिता है वहां अप्रमाणता है।" कारण कि विशेष प्रतिपत्ति के निमित्त एक ही विषय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति को गृहीतग्राहक दशा में अप्रमाण नहीं माना गया है। अतः परस्पर सापेक्ष अवस्था में ही पृथक्त्व एवं ऐक्य में वस्तुरूपता आती है। सर्वथा अनपेक्ष अवस्था में नहीं। समस्त दार्शनिकों ने साधन को अन्वय व्यतिरेकस्वरूप माना है। साधन अपने इन रूपो से निरपेक्ष अवस्था में कभी भी वस्तुरूप नहीं सिद्ध हो सकता है। इसलिये स्वभेदों के साथ सापेक्ष साधन की तरह ये पृथक्त्व और ऐक्य परस्पर सापेक्ष हैं तभी वस्तुरूप है। जव यह वात पुष्ट हो जाती है तो इससे कारिकाकार ने इन के यहां दो भंग प्रकट किये जानना चाहिये। अर्थात् जीवादिक वस्तुएं किसी अपेक्षा से एकत्व-विशिष्ट हैं और किसी अपेक्षा से वे एकत्वविशिष्ट नहीं है–पृथक्त्व विशिष्ट हैं। स्यादैक्यं स्यादनैक्यमिति।

सत्सामान्यात्तु सर्वैक्यं पृथग्द्रव्यादिभेदतः।
भेदाभेदविवक्षायामसाधारणहेतुवत् ॥३४॥

अन्वय–भेदाभेदविवक्षायां असाधारणहेतुवत् सत्सामान्यात् सर्वैक्य द्रव्यादिभेदतः पृथक्।

अर्थ–भेद और अभेद की विवक्षा में असाधारण हेतु की तरह सत्ता सामान्य की अपेक्षा से समस्त जीवादिक पदार्थों में एकता है–अपृथक्त्व है। एवं द्रव्यादिक पदार्थों के भेदों की अपेक्षा से उनमें परस्पर में भिन्नता है।

भावार्थ-इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस बातका समाधानकर रहे है जो बात३३ वीं कारिकामें कथंचित् एकत्व और कथंचित् अनेकत्व के मानने में प्रकट नहीं की गई है अर्थात् परस्पर सापेक्षएकत्व और अनेकत्व ही वस्तुरूप हैं यह जो

विषय ३३ वीं कारिका में उत्तरार्ध में कहा गया है उस विषय को इस कारिका द्वारा स्पष्ट किया जा रहा है। इसमें वे यह बतला रहे हैं कि जिस प्रकार पक्ष धर्मत्व आदि विशेष की विवक्षा में हेतु अनेक रूप तथा हेतुत्वरूप सामान्य की विवक्षा में वही एक रूप माना जाता है उसी प्रकार सत्रूप सामान्य की अपेक्षा से समस्त जीवादि पदार्थ कथंचित् एकरूप और पृथग् २ द्रव्यादि के भेद की विवक्षा से वे ही पदार्थ कथंचित् अनेकरूप माने जाते हैं। ये एकत्व और अनेकत्व इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की अपेक्षा लिये बिना वस्तुरूप सिद्ध नहीं हो सकते हैं। ये दोनों परस्पर अविनाभावी हैं। एक के अपलाप में दूसरे का अभाव और एक की स्वीकृति में दूसरे का सद्भाव अवश्यंभावी होता है। पक्षधर्मत्व आदि के भेद से अथवा अन्वय एवं व्यतिरेक के भेद से हेतुओं में जो असाधारणता-विशेषता-अनेकता-आती है वह हेतुत्वसामान्य के अपलाप करने से सिद्ध नहीं हो सकती है। यह कई बार कहा जा चुका है कि सामान्य के अपलाप में विशेष का और विशेष के अपलाप में सामान्य का अस्तित्व हो ही नहीं सकता है। अत. हेतु जिस प्रकार अपने अंगो की अपेक्षा विविधरूप में अंगीकार किया जाता है उसी प्रकार मे वह सामान्य की अपेक्षा से एकरूप भी माना जाता हैं। उसी प्रकार सत्तासामान्य रूप विशेषण का आश्रय कर जीवादिक समस्त पदार्थों में एकत्व प्रत्यय जाग्रत होता है। इसलिये जो प्रतिवादी इस बात को कहता है कि "एकत्वप्रत्यय से अथवा पृथक्त्वप्रत्यय से जीवादिक पदार्थों में एकत्व एवं पृथक्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती है—क्योंकि ये दोनों ही प्रत्यय निर्विषय हैं" सो यह निराकृत हो जाता है। कारण कि इन दोनो प्रत्ययों का विषय क्रमशः एकत्व और अनेकत्व माना गया है और ये दोनों प्रत्यय अपने २ कारणरूप सत्तासामान्य एवं पृथक् पृथक् द्रव्यादिक भेदों-अवान्तर सत्ता-को लेकर उत्थित होते हैं। कारिका में हेतु शब्द से कारक हेतु और ज्ञापक हेतु इन दोनों हेतुओं का ग्रहण हुआ है। अनुमान प्रकरण के हेतुओं को ज्ञापक हेतु कहा जाता है।

जैसे अग्नि को सिद्ध करने में धूम और मुहूर्त के पहिले भरणिनक्षत्र का उदय सिद्ध करने में कृत्तिका नक्षत्र का उदय। तथा कार्य करने वाले साधनों को कारक हेतु कहते हैं। जैसे धूम का कारक हेतु अग्नि है एवं घट का

कुलाल, मिट्टी, दड, चक्र आदि । कहीं २ कारक हेतु साध्य हो जाता है। उस कारकहेतु का कार्य ज्ञापक हेतु बन जाता है। जैसे-"पर्वतो वह्निमान् धूमात्" यहां कारक हेतु वह्नि को साध्य बनाया है। और वह्नि के कार्य धूम को ज्ञापक हेतु बनाया है। इन दोनों हेतुओ में से पक्षधर्म, सपक्ष सत्व एव विपक्षव्यावृत्तिरूप अपने भेदों की विवक्षा में ज्ञापक हेतु एवं घटारम्भक जो द्वचणुक त्र्यणुकादिक अवयव हैं उनकी भेद विवक्षा मे कारक हेतु पृथग्-भिन्न २--अनेक- ही माने गये हैं । तथा हेतुत्व सामान्य की विवक्षा मे अथवा घटावयवी आदि रूप से (अवयवित्व रूप से) अभेद विवक्षा में वे हेतु अपृथक्-एक -ही हैं । मतलब इसका यही है कि हेतु विशेषरूप से भेद विवक्षा में अनेक ही और सामान्य रूप से अभेदविवक्षा में एक ही जैसे माना जाता है उसी प्रकार सत्ता सामान्यरूप विशेषण की अपेक्षा जीवादिक द्रव्य एक ही माने गये हैं और अपने २ भेदरूप विशेष की अपेक्षा से वे अनेक ही माने गये हैं ।

कारिका मे "तु" शब्द विशेषण के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। इसी पृथक्त्व और अपृथक्त्व विषय को अष्टशतीकार ने एवं अष्टसहस्रीकार ने युक्तिपुरस्पर, इस श्लोक की टीका करते समय स्पष्ट किया है । जिसका भावार्थ यही है कि सत्ता सामान्य की अपेक्षा से जीवादिक समस्त पदार्थों में एकता होने पर भी उनमें संकरता नहीं आ सकती है। क्योकि उनका अपना २ विशेष स्वरूप भी उनमें रहा हुआ है। पदार्थो का यही स्वस्वभाव है कि सदात्मना उनमे एकता और अपने २ भिन्न २ स्वभाव की अपेक्षा उनमे अनेकता का होना। इसी का नाम पदार्थों में सामान्य विशेषात्मकता है। ऐसा एकान्त नही है कि पदार्थ सामान्यात्मक ही हैं अथवा विशेषात्मक ही, इसलिये यह ध्रुव सत्य हैं कि सत्सामान्य की विवक्षा में समस्त जीवादिक पदार्थों में एकता और द्रव्यादिक के भेदो की अपेक्षा उनमे अनेकता है। इस प्रकार जीवादिक द्रव्य कथंचित् (सत् सामान्य की अपेक्षा से) एक ही हैं और द्रव्यादिक के भेदो की (विशेष की) अपेक्षा से अनेक ही है ऐसे ये दो भंग प्रकट किये गये है ।

विवक्षा चाविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि ।
सतो विशेषणस्यात्र नासतस्तैस्तदर्थिभिः ॥ ३५ ॥

अन्वय—अत्र अनतधर्मिणि विशेष्ये सतः विशेषणस्य विवक्षा अविवक्षा च तदर्थिभिः तै (क्रियते) असत (विशेषणस्य) न ।

अर्थ—इस अनंत धर्मात्मक जीवादिक पदार्थ रूप विशेष्य में सत्स्वरूप विशेषण की ही विवक्षा और अविवक्षा एकत्व एव पृथक्त्व विशेषणों के इच्छुक प्रतिपत्ताओ द्वारा की जाती है। असत्स्वरूप विशेषण की नही।

भावार्थ—कारिकाकार इस कारिका द्वारा " जीवादिक पदार्थो मे सत्स्वरूप ही एकत्व और अनेकत्व की विवक्षा व अविवक्षा प्रदर्शित की जाती है " इस बात की पुष्टि कर रहे हैं। इससे जो प्रतिवादी का ऐसा कहना है कि " विवक्षा एव अविवक्षा ये दोनो ही असद्विषयवाली है अत इनके वश से एकत्व और अनेकत्व की व्यवस्था नही बन सकती हैं " निरस्त हो जाता है। कारण कि विवक्षा और अविवक्षा इन दोनों का विषय सत्स्वरूप ही है असत् स्वरूप नहीं है। एकत्व और पृथक्त्वरूप विशेषण ही यहां विवक्षा और अविवक्षा के विषय हैं। अतः वस्तु में जो इन दोनो के अभिलाषी हैं वे ही उसमें इन दोनों की विवक्षा और अविवक्षा करते हैं अनभिलाषी नहीं। जो सर्वथा असत् होता है उसकी वहा न विवक्षा होती है और न अविवक्षा ही। कारण कि असत् सकल अर्थक्रिया शक्तियो से खरविषाण की की तरह विकल होता है। इसीलिये उसमे न कोई अर्थी होता है और न अनर्थी ही। जीवादिक पदार्थ अनंत धर्मात्मक है। अतः अनंत धर्मो मे से जो जिस धर्म का अभिलाषी होता है वही उसे अपनी विवक्षा का विषय बनाता है। शेष धर्मों को अविवक्षा की कोटि मे रख देता है। अतः जो धर्म जीवादिक पदार्थों मे विवक्षित होता है वह वहां मुख्य और अन्य अविवक्षित उनके धर्म वहां अविवक्षित होने के कारण गौण हो जाते हैं। प्रकृत में जीवादिक पदार्थों में जब किसी अपेक्षा-सत्सामान्य की अपेक्षा-लेकर एकत्व धर्म विवक्षित होता है तब वह वहां मुख्य हो जाता है और पृथक्त्व धर्म अविवक्षित होने से वहा गौण हो जाता है। गौण होने से उसका अपलाप किया गया नहीं समझना चाहिये और न विवक्षित धर्म की मुख्यता होने से उसे ही सब कुछ समझना चाहिये अर्थात् उस एक विवक्षित धर्म का ही उस समस्त वस्तु पर एकाधिपत्य नहीं मान लेना चाहिये।

यह सब विपय पीछे स्पष्ट किया जा चुका है । अतः विवक्षा और अविवक्षा इन दोनों का विषयभूत सत्
ही होता है असत् नही । यदि इस पर यो कहा जाय कि " मनोराज्यादि विकल्प भी विवक्षा के विपयभूत होते हैं पर वे
तो सत्त्व विशिष्ट नहीं हैं । कही मन मे अपने को राजा मान लेने से कोई राजा थोडे ही हो जाता है । उस प्रकार के
विकल्प से विकल्प करने वाले मे राजपर्याय मौजूद थोडे ही देखी जाती है । इसी प्रकार विवक्षा के विषयभूत इन दोनो
में भी असत्त्व मान लेना चाहिये " सो इस प्रकार किसी (बौद्ध) का यह आक्षेप उचित नहीं है । कारण कि ऐसा
आ० तो है ही नहीं कि विवक्षा का विपयभूत यदि कोई पदार्थ असत् है तो सब ही असत् हो जावेंगे । नहीं तो प्रत्यक्ष के
मी० विषयभूत केशोण्डुक मे असत्त्व आने से और भी उसके जितने विषयभूत पदार्थ हैं उनमे भी असत्त्वापत्ति का प्रसंग
२७१ प्राप्त हो जायगा । यदि इस समाधान के निमित्त ऐसा कहा जाय कि जिस प्रत्यक्ष में केशोण्डुक का भान होता है वह
प्रत्यक्ष ही नही है प्रत्यक्षाभास है । अतः प्रत्यक्षाभास का विषय असत् होने से सत्यप्रत्यक्ष के विषय में असत्त्व नहीं आ
सकता, तो इसी प्रकार का समाधान हमारी ओर से भी जान लेना चाहिये । जो सत्त्व विवक्षा का विषय होगा उसमे
असत्त्वापत्ति कभी नहीं आ सकती है । असत्यविवक्षा के विषयभूत पदार्थ मे ही असत्त्व आता है । यदि इस पर यों कहा
जाय कि विकल्परूप होने से मनोराज्यादिक विकल्प की तरह कोई भी विवक्षा सत्यरूप नहीं होती है तो हम पूछते हैं
कि तुम ऐसा जो कह [1] रहे हो सो यह भी तो विकल्परूप ही है । अतः यह सत्य है कि असत्य है । यदि इस कथन
को असत्य माना जाय तो " कोई भी विवक्षा सत्य नही होती है " यह सत्य ही साबित होता है अर्थात् " कोई भी
विवक्षा सत्य नहीं है " यह तुम्हारा कथन असत्य होने से यही साबित होता है कि कोई २ विवक्षा सत्य भी होती है ।
यदि इस अपने कथन को सत्य मानते हो तो इसमे विकल्परूपता रहने पर भी साध्य जो सत्याभाव है वह नही रहता
है अतः तुम्हारा यह कथन सदोप-व्यभिचरित हो जाता है ।

---

१ न, काचिद्विवक्षा सत्या विकल्परूपत्वान्मनोराज्यादिविकल्पवत्" ।

यदि फिर भी इस पर यों कहा जाय कि जिस विकल्पज्ञान से अर्थ को जानकर अर्थक्रियार्थी व्यक्ति उस विषय द्वारा साध्यभूत अर्थक्रिया में विसवादी-संदिग्ध-नहीं होता है वह विपय सत्य ही है। तो फिर इस पर हमारा भी यही कहना है कि विवक्षाविशेप-से अर्थ को विवक्षित कर उसमें प्रवर्तमान व्यक्ति संदिग्ध नही होता है अतः विवक्षाविशेष का विपय असत् कैसे हो सकता है। इसी तरह अविवक्षा का भी विषय असत् नही मानना चाहिये। क्योकि स्वयं बौद्धो ने सकलवाग्गोचरातिक्रान्त होने पर भी स्वलक्षणरूप अर्थ को सत् माना है। उनका ऐसा सिद्धान्त है कि " स्वलक्षणमनिर्देश्यं " स्वलक्षण-विशेष-किसी भी शब्द के द्वारा निर्दिष्ट नहीं होता है। अतः अविवक्षा का विषय होने पर भी वह सत् ही माना गया है। इसी प्रकार जो अविवक्षा का विषय होता है वह एकान्ततः असत् ही होगा यह नियम सिद्ध नहीं होता है। इसी तरह विवक्षा और अविवक्षा का विपय अन्य व्यावृत्तिमात्र है ऐसा भी बौद्ध कथन उचित नही है। कारण कि शब्दों से अन्यव्यावृत्ति रूप अर्थ में श्रोता की प्रवृत्ति उपलब्ध नहीं होती है किन्तु जिस समय 'घटमानय' इस प्रकार के शब्दों का उच्चारण होता है उस समय कम्बुग्रीवादिमान्‌रूप घट पदार्थ का ही श्रोता द्वारा आनयन होता है। अतः शब्दो द्वारा वस्तु में ही प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है अन्यव्यावृत्तिरूप अपोह अर्थ में नहीं। इसलिये विवक्षा और अविवक्षा का विषय सत्स्वरूप ही है असत् स्वरूप नहीं यह मानना चाहिये। जिस प्रकार विवक्षित धर्म वस्तु का परिणाम विशेष है उसी प्रकार जैन दार्शनिकों ने अविवक्षित अन्यव्यावृत्ति को भी वस्तु का एक धर्मविशेष माना है। अतः अनत धर्मात्मक वस्तु में सत् विशेपण की ही अविवक्षा होती है असत् की नहीं यह कथन सर्वथा निर्दोष है। इस प्रकार यहां जीवादिक पदार्थों में " स्यादेकत्वमेव स्यात्पृथक्त्वमेव " इस प्रकार दो भग प्रकट किये गये जानाना चाहिये।

प्रमाणगोचरौ सन्तौ भेदाभेदौ न संवृती।
तावेकत्राविरूद्धौ ते गुणमुख्यविवक्षया ३६

अन्वय—प्रमाणगोचरौ भेदाभेदौ सन्तौ, सवृती न। ते तौ गुणमुख्य विवक्षया एकत्र अविरुद्धौ।

अर्थ—प्रमाण से प्रसिद्ध होने के कारण भेद और अभेद वास्तविक हैं। काल्पनिक नहीं। आपके शासन में ये दोनों गौण और मुख्य को विवक्षा से एक पदार्थ मे विरूद्ध नहीं पड़ते है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस बात की पुष्टि कर रहे हैं कि भेद और अभेद ये दोनों पारमार्थिक हैं काल्पनिक नही अत प्रतिवादी का ऐसा कहना कि "भेद ही वास्तविक है अभेद नहीं क्योंकि वह तो औपचारिक है, तथा अभेद ही वास्तविक हैं भेद नहीं क्योंकि वह औपचारिक-संवृतिसत्य-है,, निरस्त हो जाता हैं। इसी तरह परस्पर सापेक्ष-भेदाभेद पक्ष भी काल्पनिक नही है वास्तविक हैं क्योंकि उसका भी अनुग्राहक प्रमाण है। हां परस्पर निरपेक्ष भेदाभेद पक्ष ही काल्पनिक-अपरमार्थभूत माना गया है, कारण कि इसका अनुग्राहक प्रमाण नहीं है इसलिये जब इनका अनुग्राहक प्रमाण है तो तीनों ही पक्ष कथंचित् परमार्थभूत सिद्ध होते हैं। काल्पनिक नही। तथा परमार्थ सत् ये भेद और अभेद एक वस्तु में रहते हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। कारण कि वहां विरोध की परिहारिका मुख्य गौण विवक्षा है। भेद की विवक्षा मे भेद मुख्य हो जाता है और अभेद गौण हो जाता है। अभेद की विवक्षा में अभेद मुख्य हो जाता है भेद गौण हो जाता है। इसी प्रकार क्रमार्पित भेद और अभेदो की मुख्य गौण विवक्षा से कथचित् भेदाभेदात्मक वस्तु भी सिद्ध होती है। यह तृतीयभग है। अनधिगत अर्थ को निश्चय करने वाला जो अविसंवादिज्ञान है उसका नाम प्रमाण है यह प्रमाण केवल भेद को या केवल अभेद को तथा परस्पर निरपेक्ष भेदाभेद को विषय नही करता है। क्योंकि पदार्थ न तो सर्वथा भेदात्मक ही है और न सर्वथा अभेदात्मक ही है और न परस्पर निरपेक्ष भेदाभेदात्मक ही है।

सत्ता सामान्य की अपेक्षा ही वह अभेदात्मक एव द्रव्यादिक भेदो की अपेक्षा वह भेदात्मक तथा क्रमार्पित दोनों की अपेक्षा समूहरूप मे वह कथंचित् भेदाभेदात्मक भी है। इसी रूप से प्रमाण उन्हे विषय करता है। वह सर्वथा एकान्तरूप में किसी भी पक्ष को विषय नहीं करता है। इसी तरह सर्वथा स्थूलाकार निरपेक्ष सूक्ष्माकार-परमाणुओ--का और सर्वथा सूक्ष्माकार निरपेक्ष स्थूलाकार-घटपटादिकों-का प्रत्यक्ष आदि किसी भी प्रमाण में प्रतिभास नहीं

होता है। हां; मुख्य गौण विवक्षावश इनका प्रतिभासन होता है। जिस समय घटार्थी घट की विवक्षा करता है उस समय प्रत्यक्ष प्रमाण में घट रूप स्थूलाकार का ही प्रतिभासन होता है बाकी सूक्ष्माकार जो उसके परमाण्वादिक है वे अविवक्षित होने से वहां अनुमेय हो जाते हैं एवं प्रत्यक्ष के विषय जो रूपादिक हैं वे भी अविवक्षित होने से गौण हो जाते हैं, गौण व अनुमेय ये दोनों इसलिये होते हैं कि घटार्थी उनका अर्थी नही है घट का ही अर्थी है। इसीलिये
आ० वे अविवक्षा की कोटि में आ जाते हैं। जिस समय व्यक्ति इनका अर्थी होता है तब वह इनकी विवक्षा करता है।
मी० अत उस दृष्टि से वे ही प्रधान हो जाते हैं घटरूप अवयवी प्रधान नहीं होता। यहां पर इस प्रकार की शंका नहीं करना चाहिये कि जब घटरूप एव परमाणु इन सव का एकत्र अस्तित्व समान रूप से है तो फिर क्या कारण है
२७४ कि व्यक्ति एक ही में अर्थी माना जाय अन्य अपने (घट से) अग्नि परमाणु रूपादिक में नहीं। क्योंकि जब सत्ता की दृष्टि से उन सव में भिन्नता नहीं है तो घट में अर्थी होने पर तदभिन्न रूपादिकों में भी इसे अर्थित्व होने का प्रसग प्राप्त हो जाता है फिर जिसका अर्थी व्यक्ति होता है वह उसकी विवक्षा करता है अन्य की नहीं ऐसा कहना उचित कैसे माना जा सकता है।

सो इस प्रकार की यह आशका ठीक नहीं है कारण कि व्यक्ति को अपने ऊपर अर्थी होना या अनर्थी होना यह रूपादिकों की सत्तामात्र पर निर्भर नहीं है किंतु किसी धर्म में अर्थी होना किसी में नहीं होना इसमें अर्थी के अन्दर रहा हुआ मोहविशेष का उदय ही कारण है। उस मोहविशेष के भी उदय के कारण मिथ्यादर्शन आदि तथा काल आदिक हैं। इसलिये ऐसी जो किन्हीं २ प्रतिवादियों की मान्यताएं हैं कि प्रत्यक्ष में स्थूलाकार निरपेक्ष केवल परमाणु लक्षणरूप स्वलक्षण (सूक्ष्माकार) का ही प्रतिभास होता है स्थूलाकार रूप घटादिक अवयवी का नहीं। घटादिक अवयवीरूप से जो स्थूलाकार प्रतिभास होता है वह जिस प्रकार केशों के समूह में एकत्व का प्रतिभास होता है पर वह वहां वास्तविक नहीं है इसी तरह से वास्तविक नहीं है, सो ऐसा कहना उचित नहीं है कारण कि कभी भी प्रत्यक्ष बुद्धि में स्थूलाकार निरपेक्ष केवल परमाणूओं का प्रतिभासन नहीं होता है। किन्तु

स्थूलाकार सापेक्ष ही परमाणुओ का प्रतिभासन होता है। स्थूलाकार निरपेक्ष परमाणु अवस्तुरूप माने जाते हैं क्योकि उनसे कुछ भी अर्थक्रिया नहीं हो सकती है। अर्थक्रिया उनसे परस्पर सापेक्षता में ही होती है। परस्पर सापेक्षता ही इनमें स्थूलाकारता है। इसी तरह सूक्ष्माकार निरपेक्ष केवल स्थूलाकार अवयवी द्रव्य भी प्रमाण का विषय नहीं हो सकता है। सूक्ष्माकार निरपेक्षता में स्थूलाकार की संभवता ही नहीं मानी जा सकती। सूक्ष्माकारों की परस्पर सश्लिष्ट जो जात्यन्तर रूप स्थिति है वही स्थूलाकारता है। यह स्थूलाकारता विना सूक्ष्माकारो के कैसे प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो का विषय हो सकती है। इसलिये न केवल अवयव का और न केवल अवयवी का प्रतिभासन होता है किन्तु इनके अनेकान्त का ही प्रतिभासन होता है। अर्थात् सूक्ष्माद्यनेकांत का ही प्रतिभासन होता है, इसलिये वस्तु न तो एकान्तरूप से सूक्ष्माकार है और न एकान्तरूप से स्थूलाकार ही, किन्तु सूक्ष्म स्थूलाकारात्मक है। जब सूक्ष्माकार का विवेचन किया जाता है उस समय वही विवक्षित होने से वह प्रधान हो जाता है अन्य आकार अविवक्षित होने से गौण। इस प्रकार कथंचित् अभेद-अद्वैत और कथंचित्-द्वैत-पृथक्त्व-ये दो मूल भग एक वस्तु में विधि और प्रतिषेध की कल्पना का आश्रय कर अविरोध रूप से प्रश्नवशात् प्रकट किये गये हैं। शेष भगों की प्रक्रिया "एकनेक विकल्पादौ" इत्यादि कारिका के अनुसार नियोजित कर लेनी चाहिये।

सल्लोद्भवेन विदुषा मनवा–वरेण, मूलेन्दुना विरचितो बहुचर्चितोऽनु-
वादः समाप्तिमगमच्च द्वितीय कस्य सोऽयं तनोतु विदुषां मनसः प्रमोदम्

द्वितीयपरिच्छेद समाप्त

तृतीयपरिच्छेद

नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते।
प्रागेव कारकाभावः क्व प्रमाणं क्व तत्फलं॥ ३७॥

अन्वय— नित्यत्वैकान्तपक्षे अपि विक्रिया न उपपपद्यते। प्रागेव कारकाभाव। क्व प्रमाणं क्व तत्फलम्॥-

अर्थ— नित्य एकान्त पक्ष में भी परिणाम स्वरूप एवं परिस्पंदरूप विविध क्रियाएं घटित नहीं हो सकती

हैं। क्योकि उसमें पहिले से कारकत्व का अभाव है। कारकत्व के अभाव में प्रमाण और उसके फल का अस्तित्व वहां कैसे बन सकता है।

भावार्थ—कूटस्थ -सदा एकसा रहना-इसी का नाम नित्य है। इसकी एकान्त रूप से मान्यता ही नित्यत्वैकान्त पक्ष है। कूटस्थनित्य पक्ष मानने वाला सांख्य सिद्धान्त है। इस कारिका द्वारा उसी की समालोचना की जा रही है। सांख्यों ने २५ तत्त्व माने हैं। इनमें प्रकृति १ और पुरुष कूटस्थ नित्य माने गये हैं। "अप्रच्युतानुत्पन्न स्थिरैकरूपो नित्यः" ऐसा नित्य का लक्षण है। प्रकृति जड़ और पुरुष-आत्मा-चेतन है। कूटस्थनित्य पक्षमान कर भी सांख्य वहां क्रिया का सद्भाव और कारकता मानता है। इस पर कारिकाकार का यह कहना है कि जब कूटस्थ नित्य पक्ष स्वीकार किया जायगा तो यह ध्रुव सत्य है कि न उसमें कोई अवस्था प्रकट हो सकती है, न किसी अवस्था का विनाश हो २ सकता है। अत "प्रकृति ३ को ही बध और मोक्ष होता है,, ऐसा सांख्यों का कथन युक्ति युक्त नहीं माना जा सकता। कूटस्थनित्य में विक्रिया का अभाव इसलिये कहा जाता है कि वह कूटस्थ नित्य पहिले से ही अकारक-कारक नहीं है। "क्रियां निर्वर्तयतीति कारकः" (कातंत्र व्या० ७० पेज)। क्रिया का निर्वर्तक ही कारक होता है। अतः कूटस्थ नित्य मे न परिणमन ४ रूप-उत्पाद, व्ययरूप—क्रिया बन सकती है और न परिस्पद रूप-क्षेत्र से क्षेत्रान्तर में प्राप्त होने रूप-क्रिया—बन सकती है। अन्यथा नित्यता का व्याघात मानना पडेगा। जब कारक ही का अभाव इस पक्ष में है तब प्रमाण और प्रमाण के फलस्वरूप प्रमिति की संभावना भी कैसे हो सकती है।

---

१ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष ॥ सांख्य का० ३।

२ न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तं।
स्वायभूस्तोत्र सुमितितीर्थः स्तु० २४ वां काव्य

३ "नानाश्रयाया प्रकृतेरेवबवमोक्षौ संसारश्च न पुरुषस्य" स्या० म० पृ-१९०

४ परिणाम परिस्पन्द लक्षणा क्रिया नोपपद्यते अ० स०

कारण कि अकारक तो प्रमाता होता नही है। प्रमिति क्रिया के प्रति साधन रूप जो स्वतंत्र कारक विशेष होता है वही प्रमाता -कर्ता माना जाता है। प्रमिति क्रिया का जो स्वतत्ररूप से कर्ता होता है वही प्रमाता-कर्ता कारक-होता है। अतः प्रमाता-कर्ता क होने पर ही प्रमाण और प्रमाण के होने पर ही प्रमिति होती हैं। जब कूटस्थनित्य में क्रिया ही नही बनती हैं तो उस क्रिया के प्रति स्वतत्रता से साधन होने रूप जो कर्तृकारकता है वह उसमें कैसे बन सकेगी। कर्तृकारक के अभाव मे आत्मा की भी सिद्धि नहीं हो सकती। (सांख्यसिद्धान्त में उत्पाद और विनाश नहीं मान्य किये गये हैं क्योंकि ये सत्कार्यवादी १ हैं। इनका इस प्रकार कहना है कि कार्य अनादि से ही कारण में विद्यमान है कार्य नष्ट हो जाता है इसका मतलब यह है कि कारण में कार्य छिप जाता है कार्य उत्पन्न हो गया इसका अभिप्राय यह हुआ कि कारण मे से कार्य प्रकट हो गया। अत वे आविर्भाव और तिरोभाव को ही परिणाम मानते हैं। परन्तु यह सब कथन नामान्तर से उत्पाद और व्यय रूप क्रिया का ही द्योतक हैं। ऐसा समझना चाहिये। टीकाकार ने भी विक्रिया शब्द की व्याख्या करते समय "विविधा क्रिया परिणामपरिमस्पंदलक्षणा" ऐसा लिखा है। अतः आविर्भाव एव तिरोभाव ये सब क्रिया स्वरूप हैं और ये कूटस्थ नित्य मे कारकत्व का अभाव होने से घटित नहीं हो सकते है।)

साख्य—आत्मा की सिद्धि चेतना से होती है। क्योंकि वह उसका स्वरूप है। अव रही वहां क्रिया के सद्-भाव की बात-सो परिणाम-उत्पाद, व्ययरूप क्रिया तथा परिस्पंदात्मक क्रिया कूटस्थ नित्य में नहीं हो सकती है ऐसा जो आपका कहना है सो हम मान लेते हैं परन्तु इस कथन से यह बात साबित नहीं हो सकती है कि कूटस्थ नित्य-आत्मा में क्रिया का अभाव ही है। क्योंकि आत्मा को कूटस्थ नित्य मानकर भी उसे क्रियारहित नहीं माना है। कारण कि धात्वर्थरूप होने से चेतना ही उसकी क्रिया मानी गई है। चेतना से व्यतिरिक्त सकल कार्यों की उत्पत्तिरूप अथवा उसको

१ असदकरणादुपादान ग्रहणात्सर्वसभवाभावात्।
शक्तस्यशक्यकारणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम्॥
साख्यकारिका-प्रमेयरत्नमाला टिप्पणी १५३ पाना मे।

ज्ञप्तिरूप क्रियाएं आत्मा की क्रियाएं नही है–अर्थात् इन अर्थक्रियाओं के प्रति आत्मा साधन न भी बनें तो भी उसमें अनर्थक्रियाकारित्व नहीं आ सकता है। इसलिये सकल कार्यों की उत्पत्ति एवं परिच्छित्ति क्रियाओं के प्रति सर्वथा असाधन बने हुए पदार्थ में सत्त्व की असंभवता से जो अवस्तुत्वापत्ति का आपादन किया गया है सो ठीक नहीं है। इन अर्थक्रियाओ का हेतु प्रधान है । अतः अर्थक्रियास्वभाव होने से आत्मा में वस्तुता माननी चाहिये। अर्थक्रियाहेतुता से नहीं। यदि यही नियम एकान्ततः अगीकार किया जाय तो अर्थक्रिया में स्वयं अनर्थक्रियाकारिता होने से-अन्य अर्थक्रिया के प्रति हेतुना नही होने से-अवस्तुत्वापत्ति का प्रसंग दुर्निवार हो जायगा। इसलिये जिस प्रकार अर्थक्रिया स्वयं अर्थक्रिया स्वभाववाली होने से वस्तुस्वरूप मानी जाती है उसी प्रकार पुरुष-आत्मा भी शश्वत् अर्थक्रियारूप चेतना स्वभाव वाला होने से नित्यवस्तु स्वरूप मान लेना चाहिये।इस तरह उसमें विक्रिया-विविध क्रियाओं-के अभाव में भी नित्यकारकता की भी घटना बन जाती है।

जैन––इस प्रकार आपका कहना प्रमाण से साबित नहीं होता है। कारण कि प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से यह बात नही जानी जाती है कि नित्यचेतना अर्थक्रियारूप है। यदि " नित्यचेतना अर्थक्रिया स्वरूप है " इस बात को जाननेवाला स्वसवेदन प्रत्यक्ष है ऐसा कहा जाय तो यह कथन भी ठीक नही है कारण कि स्वसवेद प्रत्यक्ष इस नित्यचेतनारूप अर्थक्रिया को तब ही जान सकता है कि जब वह बुद्धि के द्वारा पहिले अध्यवसित हो जाय–जान ली जाय-। बिना बुद्धि द्वारा अध्यवसित हुए वह नित्य चेतनारूप अर्थक्रिया स्वसवेदन प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकती। कारण कि सांख्य सिद्धान्त के अनुसार आत्मा बुद्धि द्वारा अध्यवसित पदार्थ को ही जानती है अनध्यवसित पदार्थ को नहीं यदि इसके समाधान निमित्त ऐसा कहा जाय कि " नित्य चेतनारूप अर्थक्रिया को बुद्धि द्वारा अध्यवसित होने की आवश्यकता तो तब ही हो कि जब वह आत्मा से भिन्न हो। परन्तु ऐसा तो हैं नहीं क्योकि वह तो उसका निजस्वरूप है तथा स्वयं प्रकाशित है " सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। कारण कि अर्थक्रियावान् का स्वरूप सदा अवस्थायी अर्थक्रियारूप से प्रसिद्ध नहीं है। चाहे वह अर्थक्रिया आत्मा मे हो या घटपटादि पदार्थों मे हो परन्तु होगी वह पूर्वाकार के

परित्यागरूप और उत्तराकार के उपादानरूप। मतलब इसका यह है कि जो सांख्य ने चेतना को आत्मा का निज स्वरूप मानकर उसे बुद्धि द्वारा अध्यवसित होने की आवश्यकता नही बतलाई है उस पर यह कहा गया है कि भाई ! जब आत्मा नित्य है और उसकी चेतना भी नित्य है -तो आप इस चेतना को अर्थक्रिया का रूप कैसे दे सकते हो कारण कि अर्थक्रिया तो वही कहलाती हैं जिसमे पूर्वाकार का त्याग और उत्तराकार का उपादान हो। कोई भी अर्थक्रिया सदा अवस्थायी नही होती है। इस प्रकार उत्पाद व्यय स्वभाव वाली अर्थक्रिया को कूटस्थ नित्य में मानने वाला व्यक्ति स्वस्थ कैसे माना जा सकता १ है। कारण कि कूठस्थ नित्यमें अर्थक्रिया मानने में आवेगी तो यह निश्चित सिद्धान्त है कि वहां पर उत्पाद व्ययरूप परिणाम मान्यता दुर्निवार होगी,जो कूटस्थ नित्य मान्यता ही एकान्ततः अगीकृत है तो अर्थक्रिया का वहां अवश्य अभाव है यह मानना ही पडेगा, कूटस्थ नित्य भी पदार्थ माना जाय और उसमें अर्थक्रियाकारिता भी मानी जाय यह तो एक तरह का उन्मत्त का प्रलाप जैसा हैं।

किञ्च-आत्मा को चेनना स्वभाव होने से उस चेतना को ही उसकी अर्थक्रिया यदि मानी जाती है तो ऐसी स्थिति में आत्मा में परिणाम की सिद्धि का प्रसग प्राप्त २ होता है। क्योंकि परिणाम का लक्षण वहां घटित होता है। पूर्वाकार का त्याग और उत्तराकार का उपादान यह परिणाम का लक्षण है। जब चेतना ही आत्मा की क्रियामानी जायगी तो यह बात अभी २ प्रकट की जा चुकी है कि सदा अवस्थायी कोई भी क्रिया नहीं होती है। अर्थक्रिया का लक्षण भी यही है कि पूर्वाकार का त्याग होना और उत्तराकार का उपादान होना। इस पर यदि यह आशंका की जाय कि यह परिवर्तन तो चेतना मे हुआ—चेतना के परिवर्तन से पुरुष में परिणामत्व की सिद्धि का प्रसंग कैसे प्राप्त होगा-सो ऐसा कहना इसलिये उचित नही है कि पुरुष स्वयं चेतना स्वभाव है। अतः जब चेतना परिवर्तन

---

१ पूर्वापरस्वभावपरिहारावाप्तिलक्षणामर्थक्रियां कौटस्थ्येऽपिब्रुवाण कथमनुन्मत., तत्र कारणज्ञापकहेतुव्यापारासभवात् (अ० श०)

२ स्यान्मत "न पुरुषस्य लक्षणस्यार्थस्य क्रिया चेतनाख्योत्पत्तिर्ज्ञप्तिर्वा, किं तर्हि स्वभाव एव तस्य सर्वदा तत्स्वभावत्वात् इति तदप्यसत् पु सः परिणामसिद्धिप्रसङ्गात् (अ० स०)

शील प्रकट की गई तो तदभिन्न होने से या तत्स्वरूप होने से पुरुषमें भी परिणामत्व का सद्भाव आ जाता है। चेतनामें पूर्वाकारका त्याग और उत्तराकार का उपादान इस प्रकार आता है-चेतनारूप स्वभाव एकान्तरूप से सतत अवस्थित नहीं हो सकता-कारण कि ऐसा कोई स्वभाव ही नही है जो इस प्रकार का हो, इस प्रकार का स्वभाव इसलिये नही है कि इसकी व्यवस्था करने वाला कोई प्रमाण नही हैं। अतः प्रमाणातिक्रान्त वस्तु की प्रतिष्ठा नही हो सकती है। यदि इस प्रकार का स्वभाव प्रमाणो से परिच्छिद्यमान होता है तो वह सर्वथा नित्य एक स्वरूप नही माना जा सकता-कारण कि उसमें अपरिच्छिद्यमान अवस्था के परिहार से परिच्छिद्यमान अवस्था का सद्भाव होता है। अतः यह निश्चित सिद्धान्त स्वीकृत करना चाहिये कि सतत अवस्थित एकरूप जो कूटस्थ नित्य है उसका परिच्छेदक कोई भी प्रमाण नही हो सकता है। कथंचित् नित्य का ही व्यवस्थापक प्रमाण होता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि इसमे उत्पाद और व्ययरूप परिणमन कैसे हुआ कारण कि अपरिच्छिद्यमान अवस्था का उसमें तिरोभाव हुआ और परिच्छिद्यमान अवस्था का आविर्भाव हुआ। आविर्भाव तिरोभाव नित्य में होते हैं अनित्य में नही। सो ऐसी भी मान्यता ठीक नही है —कारण कि [1] आविर्भाव और तिरोभाव ही नामान्तर से उत्पाद और विनाश है। इन स्वभावों से रहित कोई भी वस्तु नही है। समस्त पदार्थ इसी मर्यादा वशवर्ती होकर अपना अस्तित्व कायम किये हुए हैं। इसलिये यह मानना चाहिये कि आत्मा आदि पदार्थ कूटस्थ नित्य नहीं है। कारण कि इस प्रकार की मान्यता मे कारक का अभाव होने से उनमें क्रिया का अभाव आता है। क्रिया एवं कारक के अभाव में प्रमाण और प्रमिति का भी सद्भाव सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार यह इस कारिका का सक्षिप्त भाव है।

प्रमाणकारकैर्व्यक्तं व्यक्तं चेदिन्द्रियार्थवत्।
ते च नित्ये विकार्यं किं साधोस्ते शासनाद्बहिः ३८

---

[1] परिणामविवर्तधर्मावस्थाविकाराणां स्वभावपर्यायत्वात् अ० श

अन्वय–इन्द्रियार्थवत् (इन्द्रियैः अर्थवत्) प्रमाणकारकै व्यक्तं व्यक्तं चेत् (तर्हि) ते च नित्ये। (अत) साधो ते शासनात् बहिः किं विकार्यं।

अर्थ— जिस प्रकार इन्द्रियों द्वारा अर्थ की-अपने अपने विषयरूप पदार्थ की -अभिव्यक्ति की जाती है उसी प्रकार प्रमाण और कारको द्वारा व्यक्त पदार्थों की-महान् अहंकार आदि तत्त्वों की-अभिव्यक्ति की जाती है इस प्रकार
आ० यदि सांख्य १ कहते हैं (तो ऐसा कहना उनका उचित नहीं है) कारण कि प्रमाण और कारकरूप अभिव्यञ्जक
मी० सर्वथा नित्य हैं इसलिये हे नाथ ! अनेकान्तवादी आप साधु के शासन से बहिर्भूत सांख्यमत में अभिव्यक्ति-अवस्था परिणमन-पलटने रूप विकार इन सर्वथा नित्य प्रमाण कारको द्वारा नहीं बन सकती है। क्योंकि वहां कोई तत्त्व
२८१ विकार्य ही नहीं बनता है।

भावार्थ–इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि यदि सांख्य ऐसा कहें कि हम प्रकृति को सर्वथा नित्य मानते हैं एवं कार्य रूप व्यक्त तत्त्वो को अनित्य मानते हैं इसलिये विक्रिया वहां बन जायगी। मतलब इसका यह है कि सांख्यो ने २५ तत्त्व माने हैं। उनमें प्रकृति और पुरुष-आत्मा-ये दो तत्त्व सर्वथा नित्य माने हैं। प्रकृति को कारणरूप एवं पुरुषतत्त्व को प्रकृति विकृति रहित माना गया है। प्रकृति से महान्-बुद्धि बुद्धि से अहंकार, अहंकार से ५ ज्ञानेन्द्रियां-स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण, ५ कर्मेन्द्रियां –वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ, ५ तन्मात्रा-शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, -मन ये १६ गण उद्भूत होते हैं। ५ तन्मात्राओं से आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी ये पांच महाभूत पैदा होते हैं। इनमें बुद्धि अहंकार एवं ५ तन्मात्राए ये कुल सात कारणरूप भी हैं और कार्यरूप भी हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ भूत एव मन ये १६ तत्त्व केवल विकार-कार्यरूप २ ही

१ अथ मत प्रमाणकारकाणि व्यवस्थितमेव भाव व्यञ्जयान्ति चक्षुरादिवत् स्वार्थम्।

१ मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकश्च विकारो न प्रकृति र्न विकृतिः पुरुषः॥ सांख्य कारिका ३

हैं। इस प्रकार सांख्याभिमत तत्त्व २५ हैं। इनमें महान्-बुद्धि, अहंकार पांच तन्मात्रा, ११ इन्द्रियां-५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ कर्मेन्द्रियां और १ मन-तथा ५ महाभूत ये २३ तत्त्व व्यक्त कहे गये १ हैं।

जिस प्रकार इन्द्रियों द्वारा अपने २ विषयरूप पदार्थों की अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार प्रमाण और कारकरूप अभिव्यंजकों द्वारा व्यक्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति होती है। प्रमाण द्वारा उनकी प्रमितिरूप अभिव्यक्ति एवं
आ० कारकों द्वारा उनकी उत्पत्तिरूप अभिव्यक्ति होती है। इस प्रकार व्यक्त पदार्थों की अभिव्यक्ति मानने पर इनकी
मी० अपेक्षा विक्रिया का-विविध क्रियाओं का--अभाव प्रसक्त नहीं होता है। नित्य होने पर भी उनके द्वारा अभिव्यक्ति के
२८२ घटित होने में कोई विरोध नहीं है। कारण कि अभिव्यक्ति मे नवीन पदार्थ की उत्पत्ति तो है नहीं कि जिससे नित्यता का विरोध आ सके। इस प्रकार सांख्य के इस अभिमत पर कारिकाकार का यह कहना है कि प्रमाण एवं कारकों द्वारा यह अभिव्यक्तिरूपता व्यक्त पदार्थों मे घटित नहीं हो सकती है। कारण कि प्रमाण और कारकों को सांख्यों ने सर्वथा नित्य माना है। इस एकान्त नित्यता में प्रमाण और कारक व्यक्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति कैसे कर सकते हैं। कारण कि उनकी अभिव्यक्ति करने में प्रमाण, कारकों एवं व्यक्त तत्त्वों में सर्वथा नित्यता नहीं २ रहती है। जिस प्रकार चक्षुरादिक इन्द्रियां अपने अनभिव्यञ्जक स्वभाव का परित्याग करके ही रूपादिकों की व्यंजिका ३ होती हैं तथा रूपादिक विषय भी जब उनके द्वारा अभिव्यक्त होते हैं तब वे भी अपने अनभिव्यक्त स्वभाव का परित्याग कर देते हैं। अन्यथा वे न उनके द्वारा अभिव्यक्त हो सकते हैं और न ये उनकी अभिव्यंजिका हो सकती हैं। इसी तरह प्रमाण और कारक भी जब व्यक्त पदार्थों के अभिव्यंजक होते हैं तो यह मानना ही पड़ता है कि इनके द्वारा अपना

---

१ महदहंकारपञ्चतन्मात्रैकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतभेदात् त्रयोविंशतिविधं व्यक्तम्।

२ सर्वथा नित्यत्वेन भावस्याव्यवस्थितत्वात् कथञ्चिन्नित्यस्यैव प्रमाणकारकव्यापारविषयत्वनिश्चयात् अ० स०

३ चक्षुरादयो हि स्वार्थं रूपादिकमनभिव्यक्तस्वभावपरिहारेणाभि व्यक्तस्वभावोपादानेन च व्यञ्जयन्तः स्वयम् व्यञ्जकरूपत्यागेन व्यंजकत्वस्वीकरणेन च व्यञ्जकव्यपदेशभाजोदृष्टाः। नचैवं प्रमाणकारकं च परैरिष्टं तयोर्नित्यत्वाभ्युपगमात्। अ० स०।

अनभिव्यञ्जक स्वभाव परित्यक्त अवश्य किया गया है। यदि ऐसा न होता तो ये अभिव्यञ्जक हो ही नहीं सकते। पूर्व में अनभिव्यक्त को ही व्यञ्जक व्यापार से अभिव्यक्ति की प्रतीति होती है। यदि ये सर्वथा नित्य हैं तो व्यक्त की अनभिव्यक्ति के पहिले जो इनमे अनभिव्यञ्जक स्वभावता है वह अपरिवर्तनीय होने से सदा कायम ही रहेगी फिर अनभिव्यक्त व्यक्त की इनके द्वारा अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है। अतः अनभिव्यक्त की अभिव्यक्ति करते समय वह अनभिव्यजकस्वभावता इनकी परिवर्तित हो जाती है, यह मानना ही पड़ता है। इसी का नाम उनमें कथंचित् अनित्यता है। इसी तरह व्यक्त भी अपने अनभिव्यक्त स्वभाव का परित्याग और अभिव्यक्त स्वभाव का उपादान करने पर ही उनके द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है, अन्यथा नहीं।

इसका फलितार्थ केवल इतना ही है कि सर्वथा नित्य स्वभाव से कोई भी पदार्थ व्यवस्थित नहीं है। कथंचित् अनित्य मे ही प्रमाण एवं कारकों के व्यापार की विषयता आती है। प्रमाण और कारक भी सदा सर्वथा नित्य नहीं माने जा सकते। क्योंकि प्रमाण के द्वारा होने वाली जो महान् अहंकार आदि व्यक्त तत्त्वों की प्रमितिरूप अभिव्यक्ति है उसमे नित्यता का प्रसग प्राप्त होगा। कारण कि प्रमाण से ही प्रमिति होती है और जब वह प्रमाण नित्य है तो महान् अहकार आदि व्यक्त की सदा प्रमिति ही होते रहना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। क्योंकि लय के बाद इनकी प्रमिति नहीं होती, जब ये अभिव्यक्त होते हैं तब ही प्रमाण के विषय माने गये हैं। इसी तरह कारकों को यदि नित्य माना जायगा तो उसके द्वारा जो आविर्भावरूप उत्पत्ति व्यक्त तत्त्वों की मानी जाती है वह नहीं बन सकती है। इससे उनका सदा आविर्भाव ही बना रहेगा। तथा च प्रलय का जो विधान सांख्यशास्त्र में वर्णित है उससे इसका मेल नहीं बैठ सकता। अतः प्रमाण और कारक अपने पूर्व स्वभाव के परिहारक एवं उत्तर स्वभाव के ग्राहक होने से सर्वथा नित्य नहीं माने जा सकते। तथा यह जो महान् आदि व्यक्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति है वह उनकी एक नवीन अवस्था है। प्रमाण कारकों के व्यापार से ही यह उनमें हुई है। अतः अवस्था पलटनेरूप इस विकार के सद्भाव से ही व्यक्त तत्त्वों को विकार्य माना जा सकता है। परन्तु अवस्था पलटनेरूप यह विकार प्रमाण एवं

कारकों के सर्वथा नित्य मानने पर घटित ही नहीं हो सकता है। यह अवस्था का पलटनारूप विकार अपूर्व उन व्यक्त तत्त्वों मे पहिले नहीं था ऐसा है। अतः इसके सद्भाव में प्रमाण और कारक सर्वथा नित्य नहीं हो सकते है। सर्वथा नित्य मानने पर कोई भी व्यक्त अथवा कार्य विकार्य नहीं हो सकता। कारण कि सर्वथा नित्य पक्ष में अर्थक्रियाकारिता नहीं आती है। कथंचित् अनित्य पक्ष में ही यह संभवित है। क्योंकि वहीं पर कार्यकारण भाव की सिद्धि होती है। इसी बात को कारिकाकार ने "साधोस्ते शासनाद्बहिः" इस पद द्वारा प्रकट किया है। अनेकांत शासन मे ही आविर्भावरूप अपूर्वोत्पत्ति बनती है। इसलिये एकान्त नित्य में विक्रिया नहीं बन सकती है। यह कथन सर्वथा निर्दोष है। मतलब इस कारिका का यही है कि सांख्यों ने व्यक्त तत्त्वों में प्रमाणकारकों द्वारा अभिव्यक्ति को लेकर विक्रिया होना साबित करना चाहा है उसके ऊपर कारिकाकार की ओर से ऐसा कहा गया है कि प्रमाण और कारक नित्य है। इनसे अभिव्यक्ति रूप-विकार व्यक्तों में नहीं किया जा सकता। यदि ये करते हैं तो सर्वथा नित्य नही हो सकते। विना अवस्था परिवर्तित हुए व्यक्त तत्त्व विकार्य [1] नहीं हो सकते। विकार -अभिव्यक्ति रूप विकृति-हो तो ही ये विकार्य कहे जा सकते हैं। प्रमाण कारकों के नित्य होने से ये विकार वहां हो नहीं सकता अतः ये विकार्य कैसे कहे जा सकते है। इसलिये व्यक्तों को लेकर विक्रिया मानना एकान्त नित्य में सर्वथा असभव है।

यदि सत्सर्वथा कार्यं पुंवन्नोत्पत्तुमर्हति।
परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी ॥ ३९ ॥

अन्वय—यदि कार्यं सर्वथा सत् (तर्हि) पुंवत् उत्पत्तुं न अर्हति। परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी (भवति)।

---

१ "तदभावे विकार्यानुपपत्तेः" अ० श०।

अर्थ—यदि कार्य सर्वथा सत्स्वरूप माना जाय तो वह पुरुष तत्त्व की तरह उत्पत्ति के योग्य नहीं हो सकता है। यदि अवस्थान्तर की वहां कल्पना की जाय तो वह सर्वथा नित्यत्व की बाधिका होती है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह बात स्पष्ट कर रहे हैं कि प्रकृति तत्त्व एव महदादि तत्त्वों में परस्पर कार्य कारण भाव नहीं बन सकता है।

सांख्यों का ऐसा कहना है कि एकान्त नित्य पक्ष मानने पर भी " न किंचिद्विरुद्धं कार्यकारणभावाभ्युपगमात् " अर्थक्रियाकारिता का वहां विरोध नहीं आता है। कारण कि प्रकृति तत्त्व कारण माना गया है और महदादि तत्त्व कार्यरूप माने गये हैं। प्रकृति से महान् तत्त्व उत्पन्न होता है और महान् से अहंकार एव अहंकार से १६ गण एवं तन्मात्राओं से पाच महाभूत इस प्रकार महान् तत्त्व की उत्पत्ति में प्रकृति साक्षात्कारण हैं तथा अहंकार आदि की उत्पत्ति में परम्परा कारण हैं। इस प्रकार व्यक्ततत्त्वों एवं प्रकृति में कार्यकारण भाव बन जाता है। कार्यकारण भाव का नित्य मे बनना यही वहां अर्थक्रियाकारिता है।

इस पर कारिकाकार " इति अनालोचितसिद्धान्तं " यह कहते हैं कि ऐसा सांख्य का मन्तव्य अनालोचित सिद्धान्त वाला है। कारण कि हम यहां यह पूछते हैं कि जिन महदादि कार्यों की उत्पत्ति आप प्रकृति तत्त्व से मानते है वे स्वय सत् स्वरूप है कि असत्स्वरूप है ? यदि कार्य सर्वथा सत् स्वरूप है तो " न तावत्सत कार्यत्वं चैतन्यवत् " तो कूटस्थ नित्य होने की वजह से वह उत्पन्न होने योग्य नही हो सकता। जैसे पुरुष—आत्मा तत्त्व—कूटस्थ नित्य माना गया है अतः वह कार्य स्वरूप नहीं हो सकता है। मतलव इसका यह है कि सांख्य सिद्धान्त सत्कार्यवादी है। उसका कहना है कि कोई कार्य असत् होकर उत्पन्न नही होता। जिस प्रकार कार्य शक्त्यात्मना विद्यमान होता है-उसी प्रकार वह व्यक्तात्मना भी विद्यमान है। कार्य अनादि से अपने कारण में विद्यमान है। कार्य नष्ट हो गया इसका मतलब यह है कि कार्य अपने कारण में छिप गया। कार्य उत्पन्न हो गया इसका अभिप्राय यह है कि कारण में छिपा हुआ कार्य प्रकट हो गया।

इस पर कारिकाकार का यह कहना है कि जब कार्य सर्वथा सत् है तो जिस प्रकार सर्वथा सत् पुरुष आत्मा-तत्त्व-सांख्यसिद्धान्त में माना गया है और इसी से वह कार्यरूप नहीं माना गया है इसी तरह महदादिक व्यक्त तत्त्व भी कार्यरूप नहीं माने जा सकते। यदि असत् को कार्यरूप माना जाय तो सिद्धान्त विरोध आता है। क्योंकि सांख्य सिद्धान्त में असत् को कार्यरूप से स्वीकार करने में नहीं आया १ है। तथा जो सर्वथा असत् होगा वह खरविषाण की तरह उत्पन्न ही नही हो सकता। इसी तरह जब कार्य को भी सर्वथा असत्स्वरूप माना जायगा तो वह भी उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार अनुमान २ से असत् को कार्य मानने में भी विरोध आता है। यदि सर्वथा सत् और सर्वथा असत् इन दो प्रकारो को छोड़कर कार्य को केवल वस्तु विवर्त्त स्वरूप माना जाय-अर्थात् महदादिक कार्य केवल प्रकृति के ही अवस्थान्तर हैं ऐसा एकान्ततः स्वीकृत किया जाय-तो इस कथन से उनमे परिणाम की सिद्धि होने से सांख्य के लिये अनेकान्त के आश्रयण करने का प्रसंग प्राप्त होता है। मतलब कहने का यह है कि जब महदादिक कार्य केवल प्रकृति के विवर्त स्वरूप माने जावेंगे तो ये प्रकृति के अवस्थान्तर भूत कहलावेंगे। क्योंकि प्रकृति स्वयं इन रूप परिणमित होगी। इस परिणमन मे पूर्व स्वभाव का प्रध्वंस एव उत्तर स्वभाव की उत्पत्ति प्रकृति मे माननी पडेगी। जब तक वह महदादिरूप अवस्था मे परिणमित नहीं हो रही होगी तब तक उसमे अमहदादिरूप स्वभावता रहेगी और जब वह इन रूप परिणमन करेगी तो पूर्व स्वभाव का प्रध्वस हो जायगा और इनरूप परिणमन करने के स्वभाव की उसमें उत्पत्ति हो जावेगी। इसी का नाम परिणामी नित्य है और यह परिणमी नित्यता अनेकान्त शासन के सिवाय एकान्त नित्य शासन में सधती नहीं है। इसलिये कारिकाकार ने "परिणामप्रक्लृप्तिश्च नित्यत्वैकान्तबाधिनी" ऐसा कहा है।

---

१ असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यं।

सांख्यकारिका।

२ यत्सर्वथाऽसत् तन्नोत्पद्यते यथा गगनकुसुम।

इस प्रकार नित्य एकान्तवादी साख्य के मत मे भी कार्य की उत्पत्ति होने का अभाव आता है। इसलिये सर्वथा नित्य में अर्थक्रियाकारिता न बन सकने के कारण वहां कार्यकारणभाव घटित ही नही होता है।

पुण्यपापक्रिया न स्यात्प्रेत्यभावः फलं कुतः।
बंधमोक्षौ च तेषां न येषां त्वं नासि नायकः ॥ ४० ॥

आ० मी० २८७ अन्वय—पुण्यपापक्रिया न स्यात् (तदभावे) प्रेत्यभाव फल कुत स्यात्। बंधमोक्षौ च तेषां न, येषां त्वं नायकः न असि।

अर्थ—सर्वथा नित्य पक्ष में पुण्य ओर पाप रूपक्रिया घटित नही होती है। उसके अभाव में परलोक एव सुख दुःखादिक फल भी कहां से हो सकते हैं। इसी तरह बंध एव मोक्ष भी हे नाथ! उनके यहां-उनके सिद्धान्तानुसार-नहीं सध सकते हैं कि जिनके अनेकान्तवादी आप नायक नहीं हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रकट कर रहे हैं कि जब नित्यत्वैकान्त में कार्य करने की-अर्थ क्रियाकारिता की-सभावना का ही अभाव है तो फिर वहां पुण्य पाप क्रिया-मन वचन काय की शुभ अशुभ प्रवृत्तिरूप क्रिया तथा इस प्रवृत्ति से पुण्य एवं पाप की उत्पत्तिरूप क्रिया कैसे बन सकती है। सांख्यों के मन्तव्यानुसार यह क्रिया पुरुषतत्त्व-आत्मा-में तो होती नहीं है क्योकि वह सर्वथा नित्य-कूटस्थ नित्य-एव अक्रिय मानने में आया १ है। रही प्रकृति सो वह भी पुरुष की तरह सर्वथा नित्य मानी गई है। अतः उसमें भी विक्रिया नही घटित होती है। यह पहिले बतलाया ही जा चुका है कि कूटस्थ नित्य में अर्थ क्रियाकारिता नहीं आ सकती है। मन वचन एव काय का शुभ अशुभ रूप प्रवर्तन ही पुण्य और पाप का उत्पादक कारण माना गया है। इस उत्पादक कारण के अभाव में पुण्य पापरूप

---

१ अमूर्तश्चेतनो भोगी नित्यः सर्वगतोऽक्रियः।
अकर्ता निर्गुणो भोक्ता आत्मा कापिलदर्शने ॥

कार्यों का संपादन नहीं हो सकता है, । पुण्यपापरूप क्रिया के अभाव से परलोक की सत्ता एवं उसके फलस्वरूप सुख दुःख आदि का अनुभवन भी नही बन सकता है । इसी तरह बध और मोक्ष भी नही सध सकते हैं । कारण कि पुण्य और पाप का अस्तित्व हो तो ही उनका बध हो और बध के अभाव से फिर मुक्ति का लाभ हो । परन्तु ऐसा तो है नहीं । अत सांख्य सिद्धान्त का यह प्रवचन कि " प्रकृति और विकृति से भिन्न पुरुष के बध और मोक्ष नही होता प्रकृति के ही बंध और मोक्ष होता १ है सो सुसगत नही माना जा सकता । इस प्रकार हे नाथ ! " नैतत्प्रेक्षापूर्वकारिभिराश्रयणीयं पुण्यपापप्रेत्यभावबंधमोक्षविकल्परहित्वात् नैरात्म्यादिवत् (अ० श०) " सर्वथा नित्य मे विक्रिया का अभाव होने से पुण्य, पाप प्रेत्यभाव-परलोक -बंध, एवं मोक्ष नही सध सकने के कारण नैरात्म्यादिदर्शन की तरह–सर्वथा शून्यैकान्त आदि मत की तरह-वह परिक्षाप्रधानी व्यक्तियो द्वारा आश्रयणीय नहीं हो सकता है । केवल आपका ही एक शासन ऐसा है कि जहां पर इन सब की अबाध साधना होती है । अत यही उपादेय है ।

क्षणिकैकान्तपक्षेऽपि प्रेत्यभावाद्यसंभवः ।
प्रत्यभिज्ञाद्यभावान्न कार्यारम्भः कुतः फलं ॥ ४१ ॥

अन्वय — क्षणिकैकान्तपक्षे अपि प्रत्यभिज्ञाद्यभावात् न कार्यारम्भ फल कुतः । प्रेत्यभावाद्यभाव. ।

अर्थ — क्षणिकैकान्त पक्ष में भी अन्वित एक प्रत्यभिज्ञाता द्रव्य के अभाव होने से प्रत्यभिज्ञान, स्मृति एवं इच्छादिकों का सद्भाव नही बन सकता है । प्रत्यभिज्ञानादिक के अभाव से कार्य का आरंभ नहीं हो सकता हैं । कार्य के आरभकत्व के अभाव मे पुण्य पाप लक्षण फल संभवित नहीं होता है । पुण्यपाप लक्षण फल के अभाव में प्रेत्यभाव, बध एव मोक्ष कहां से हो सकते हैं ।

---

१ तस्मान्न वध्यते नापि मुच्यते नापि ससरति कश्चित् ।
ससरति वध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ सांख्य कारिका ६२ ।

भावार्थ—सर्वथा नित्यत्वैकान्त पक्ष जब निराकृत हो चुका तब बौद्ध कहते हैं कि यह बिलकुल ठीक है। सर्वथा नित्यैकान्त पक्ष मे अर्थक्रियाकारिता जो आती ही नही है, इसलिये आपकी तरफ से जो उसमें दूषण प्रकट किये गये है वे सर्वथा सत्य है। अतः प्रतीतिप्रसिद्ध होने से क्षणिकैकान्त पक्ष ही श्रेयस्कर है। क्योकि उसमें अर्थ क्रिया-कारिता आने से पुण्यपाप प्रेत्यभाव बध एव मोक्ष की व्यवस्था स्थापित होती है। इस प्रकार कहने वाले बौद्ध के प्रति कारिककार इस कारिका द्वारा यह कह रहे हैं कि केवल नित्यैकान्तपक्ष में ही पुण्यपापादिकों का अभाव नहीं आता है, किन्तु क्षणिकैकान्त पक्ष मे भी इन सबका अभाव आता है, कैसे आता है यही विषय इस सूत्रस्वरूप कारिका द्वारा स्पष्ट किया गया है। कारिकाकार कहते हैं कि जिस १ प्रकार सूत का एक डोरा बहुत से मोतियो में प्रविष्ट होकर उन सबकी एक माला बनाता है उस तरह बौद्धों के मत मे विचार-ज्ञान-के सपूर्णक्षणों के साथ संबध रखने वाली किसी एक वस्तु को आत्मा तो स्वीकार किया नही गया है। किन्तु बुद्धिक्षण परम्परामात्र को ही उन्होने आत्मा माना है और ये बुद्धिक्षण क्षण विनश्वर माने गये हैं, ऐसी स्थिति में किसी भी बुद्धिक्षण से कार्य का आरंभ नहीं हो सकता है—अर्थात् उनमे किसी मे भी अर्थक्रिया-कारिता नहीं आ सकती है। इसी विषय को अष्टसहस्री में टीकाकार ने "क्षणिकैकान्तपक्षे चेतस कार्यारम्भो नास्ति प्रत्यभिज्ञानस्मृतीच्छादेरभावात् सन्तान्तरचित्तवत्" इस अनुमान द्वारा प्रकट किया हैं। अपनी उत्पत्ति के बाद ही पदार्थ कार्य का आरंभक होता है। उत्पत्ति के समय नहीं क्योकि वह तो उसकी आत्मनिष्ठा का समय है। कार्यकाल तक उसका अस्तित्व मानना यह बौद्ध परम्परा के विरुद्ध है। क्योंकि उनका कहना है कि पदार्थ एक क्षण के बाद समूल नष्ट हो जाता है। अतः इस क्षणिक एकान्त पक्षमे चित्तरूप आत्मा से कार्य का आरंभ नहीं हो सकता है। क्योकि वहां प्रत्यभिज्ञान, स्मृति, आदि का अभाव है। जैसे सन्तानान्तर के चित्त से एक दूसरे द्वारा अवधृत

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभङ्गदोषान् उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभङ्गमिच्छन्नहो महामाहसिकः परस्ते स्याद्वादमजरी।

१ बौद्धा बुद्धिक्षणपरम्परामात्रमेवात्मानमामनन्ति न पुनर्मौक्तिककणनिकरानुस्यूतैकसूत्रवत् तदन्वयिनमेक। तन्मतेन येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठानमसदनुष्ठानं वा कृत तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः इत्यादि पाठः। स्या० मजरी पृ २४१

कार्य प्रत्यभिज्ञान आदि के अभाव में नहीं होता है। चित्तरूप आत्मा में प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव इसलिये आता है कि वहां अन्वितरूप से एक कोई प्रत्यभिज्ञाता है ही नहीं। प्रत्यभिज्ञान एवं स्मृति आदि ज्ञान एकाधिकरण वाले है। ऐसा नहीं है कि पदार्थ का प्रत्यक्ष किसी दूसरी आत्मा को हो एवं स्मरण किसी तीसरी आत्मा को हो और प्रत्यभिज्ञान--उनदोनों ज्ञान को सकलन करने वाला ज्ञानविशेष--किसी और को हो। जिस आत्मा मे पहिले पदार्थ का साक्षात्काररूप ज्ञान धारणा के द्वारा स्थिर किया जा चुका है पश्चात् वही पदार्थ कालान्तर में जब किसी आत्मा द्वारा साक्षात्काररूप से गृहीत होता है तब उसी आत्मा में ऐसा उस समय बोध जाग्रत होता है कि यह वही पदार्थ है जिसे मैंने अमुक स्थान मे देखा था। इसी बोध का नाम प्रत्यभिज्ञान है। इस प्रत्यभिज्ञान ज्ञान के कारण दर्शन और स्मरण हैं। वर्तमान में गृहीत पदार्थ का दर्शन और पहिले गृहीत उसी पदार्थ का स्मरण इन दोनों के सकलन से-यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इसका अन्तर्भाव न प्रत्यक्ष में होता है और न स्मरण में। उन दोनों से यह सर्वथा स्वतत्र १ ज्ञान है। दर्शन एव स्मरण ये दोनों इसके कारण हैं और सकलन २ करना इसका स्वरूप है, प्रत्यभिज्ञान का अभाव इस चित्तरूप आत्मा में इसलिये आता है कि ये सब बुद्धि-चित्त-क्षणों की परम्परा एक दूसरे से सर्वथा भिन्न२ हैं। किसी का किसी के साथ अन्वय रूप सम्बन्ध तो है ही नहीं। सब स्वतत्र हैं। ऐसी स्थिति में उन दोनो ज्ञानों का विवक्षित चित्तक्षण से संकलन कैसे हो सकता है।

क्योकि जो विवक्षित चित्तक्षण है वह तो अनुभविता है स्मर्ता तो है नहीं। अतः पूर्व चित्तक्षण से अनुभूत अर्थ मे उत्तर बुद्धियों को स्मृति नहीं हो सकने के कारण "यह वही है जिसे मैंने मालथौंन में देखा था" इस प्रकार का संकलनात्मक ज्ञान नहीं हो सकता है। इसीतरह स्मरण ज्ञान भी नहीं हो सकता है। क्योंकि पूर्व मे देखे हुए पदार्थ को याद करना इसका नाम स्मरण-स्मृति-है। अब जब वह कि जिसने पूर्व में पदार्थ देखा है सर्वथा नष्ट हो चुका

१ इसके लिये देखो प्रमेयकमलमार्तण्ड पृष्ठ ९७ को

२ विवक्षितधर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शनं संकलन।

प्रमेयकमलमार्तण्ड पाना ९७ वे।

है तो फिर उस देखे हुए पदार्थ का स्मरण किसे कैसे हो सकता है ऐसा तो है नहीं कि देखे कोई और उसका स्मरण होवे किसी दूसरे को, यदि ऐसा होने लगे तो फिर क्या है एक के द्वारा देखा गया पदार्थ सबकी स्मृति का विषय हो जाना चाहिये। परन्तु ऐसा तो होता नही है। अतः यह मानना ही पड़ता है कि जब पूर्वबुद्धि से उत्तर बुद्धि सर्वथा भिन्न है तो उसके द्वारा दृष्ट पदार्थ उत्तर बुद्धि का स्मृति द्वारा विषय नही बन सकता है। जैसे खुशालचन्द्र के द्वारा देखा गया पदार्थ नरेश के लिये स्मृत नहीं हो सकता है। क्यों कि ये दोनों परस्पर स्वतन्त्र हैं। अतः यह "क्षणिकैकान्तपक्षे न

आ० मी० २९१ कार्यारम्भः प्रत्यभिज्ञानाद्यभावात्" कथन सर्वथा निर्दोष है। प्रत्यभिज्ञा आदि के अभाव होने का कारण यह है कि बौद्ध सिद्धान्त मे अन्वित-पूर्वोत्तर बुद्धिक्षणो के साथ अन्वयरूप से सम्बन्धित एक प्रत्यभिज्ञाता स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना गया है। किन्तु बुद्धि क्षणरूप ही वह माना गया है।

सन्तान कार्य की आरम्भक इसलिये नहीं हो सकती है कि वह बौद्ध सिद्धान्त मे अवस्तु मानी गई है। अवस्तु कार्य की आरंभक होती नही है। यदि संतान कार्य की आरभक मानी जाय तो उसमें वस्तुरूपता की प्रसक्ति आती है। जो बौद्ध सिद्धान्त से विरूद्ध पड़ती है। कारण कि जो अर्थक्रियाकारी होता है वही परमार्थतः सत् माना गया है। ऐसा बौद्धसंमत सिद्धान्त है। दूसरे यदि सतान को अर्थक्रियाकारी-कार्य आरंभक माना जायगा तो चित्तक्षणों में अवस्तुता की आपत्ति आवेगी क्योंकि वे तो अर्थक्रिया करनेवाले हैं नहीं। जब चित्तक्षण किसी भी शुभ अशुभ कार्य का आरंभक नहीं हो सकता है तो यह विचारने जैसी बात है कि पुण्य और पाप लक्षणरूप जो उसका फल है वह उसमें कैसे संभवित हो सकेगा। शुभ अशुभ कार्य के करने से ही पुण्य पाप लक्षणरूप फल संभवित होता है। पुण्यपाप रूप फल की असभवता मे प्रेत्यभाव-परलोक, बंध और मोक्ष ये एक भी नहीं बनते हैं। मतलब इसका यह है कि जब परलोकी-आत्मा ही नहीं है तो परलोक की सिद्धि कैसे हो सकती है। परलोक पूर्वजन्म में कृतकर्मों के अनुसार होता है। क्षणिक वादियो के मत में पूर्व विचार क्षणों-चित्तक्षणों-का सर्वथा विनाश हो जाता है अतएव उत्तर विचारक्षण के साथ उनका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है। इसलिये पूर्वजन्म में किये हुए कर्मों का उत्तर जन्म में-दूसरे जन्म में-फल नहीं मिल

सकता। इस कारण परलोकी के अभाव होने के कारण परलोक की सिद्धि नहीं होती है। यदि भव की सिद्धि निमित्त बौद्ध ऐसा कहे "यच्चित्तं १ तच्चित्तान्तरं प्रतिसंधत्ते यथेदानीन्तनं चित्तं, चित्तं च मरणकालभावि" कि वर्तमान विचार (ज्ञान-बुद्धि-चित्त) की तरह एक विचार दूसरे विचार से सबद्ध रहता है। मरणकाल में रहनेवाला विचार भी विचार है, अतः वह भी दूसरे विचार से सबद्ध रहता है। इससे संसार की सिद्धि हो जाती है। सो ऐसा कहना बौद्ध सिद्धान्त के विपरीत है। क्योकि वहां पर वस्तु का सर्वथा–निरन्वय-विनाश माना गया है। अतएव एक विचार दूसरे विचार से सबद्ध नहीं हो सकता है। जो इन दोनों का सम्बन्ध करानेवाला है वह तो बौद्धों ने माना ही नहीं है।

इसी तरह वध भी सिद्ध नही होता है। कर्म के आरंभक होने से ही बंध होना माना गया है। क्षणिक पक्ष में कार्य का आरंभक होना बनता नहीं है। अत बंध के अभाव पूर्वक जो मोक्ष का विधान है वह कैसे बन सकता है। यदि बौद्ध इसके ऊपर यो कहें कि हम लोग बंध के अभाव पूर्वक मोक्ष नहीं मानते किन्तु "निखिलवासनोच्छेदे विगत विषयाकारोपप्लवविशुद्धज्ञानोत्पादो मोक्ष २" सम्पूर्ण वासनाओं के नष्ट हो जाने पर ज्ञान जब विषयाकाररूप उपद्रव से रहित होकर विशुद्ध हो जाता है तब इसी विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति का नाम मुक्ति है ऐसा मानते हैं सो ऐसा कहना भी ठीक नही बैठता है कारण कि सकल वासनाओ का उच्छेद उन्होने इन चार भावनाओं के उच्छेद प्रकर्ष से माना है। "सर्वं क्षणिकं, सवक्षणिक, दु ख दु ख, स्वलक्षण स्वलक्षणं, शून्यं शून्य" ये चार भावनाए ३ हैं। परन्तु बौद्धों ने इन भावनाओं का कोई एक नित्य आश्रय नहीं माना है तथा प्रत्येक क्षण में ये नवीन २ उत्पन्न होकर निरन्वयरूप से विनष्ट हो जाती है इसलिये इनसे नवीन २ उत्पन्न होने वाले चित्तक्षणों में कोई विशेषता आ नहीं सकती है। अर्थात् पूर्व समलचित्तक्षणो से उत्तरोत्तर समलचित्तक्षण ही उत्पन्न होते रहेंगे उनमें विशुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति इन नवीन २

१ स्याद्वादमजरी पृ--२४१

२ स्याद्वादमजरी पृ० ४४।

३ स्याद्वादमजरी टिप्पणी २४४ पृ०।

निरन्वय विनाशी भावनाओं से नहीं हो सकती है। यदि इनका कोई एक नित्य आधार होता कि जिसमे इनका संस्कार बैठता जाता तो विशुद्धज्ञान की वहा जागृति हो सकती। परन्तु ऐसी मान्यता तो बौद्धो की है नही। दूसरे बौद्धो ने विनाश को निर्निमित्त माना है। अत अशुद्धज्ञान क्षण जब अपने स्वरूप से पहिले ही सर्वथा विनष्ट हो जाता है तो ऐसी स्थिति में विशुद्धज्ञान क्षणरूप मुक्ति का उत्पाद कोई अपूर्व ही हुआ मानना पडेगा।

ऐसी मान्यता मे बंध और मोक्ष मे एकाधिकरणता नही बन ससती है। परन्तु हैं तो ये एकाधिकरण वाले। क्योकि मुक्ति उसी के घटित होती है जो पहिले बद्ध होता है। क्षणक्षयवाद मे विशुद्धज्ञान की उत्पत्तिरूप मुक्ति मानने मे जो ज्ञानक्षणरूप आत्मा बद्ध है वह अन्य है एवं जिसे मुक्ति हुई है वह अन्य है। इस प्रकार भिन्नाधिकरणता आने से मुक्ति का अभाव प्रसक्त होता है १। इसलिये " क्षणक्षयैकान्तदर्शनमहितम् असंभवत्प्रेत्यभावादित्वात् उच्छेदैकान्तवत् ध्रौव्यैकान्ताभ्युपगमवद्वा (अ० श०)।" शून्यैकान्त अथवा नित्यैकान्त की तरह यह क्षणक्षयैकान्त दर्शन प्रेत्यभाव आदि की असभवता मे जीवों का हित विधायक नहीं होता है। अतः इसका आश्रयण करना प्रेक्षावान् व्यक्तियो के लिये ठीक नही है। यदि बौद्ध ऐसा कहे कि चित्तक्षणो के क्षणिक होने पर भी उनमे प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव नहीं हो सकता है। कारण कि वासना के वश से " वही यह सुख का साधन है " इस प्रकार का स्मरण पूर्वक प्रत्यभिज्ञान चित्तक्षण को हो जाता है। उससे उसे सुख के साधन में प्रवृत्त होने की अभिलाषा जग जाती है और इस अभिलाषा के जगते ही चित्तक्षणरूप व्यक्ति की प्रवृत्ति उसमे हो जाती है। अत आप-जैन का ऐसा कहना है कि चित्तक्षणो को क्षणिक मानने पर प्रत्यभिज्ञानादिक के अभाव से उनमें कार्य आरम्भकता नही आ सकती है सो ठीक नही है। अतः जब वे कार्य के आरम्भक है तो पुण्य और पापरूप क्रिया का भी सद्भाव वहा है और इससे प्रेत्यभाव आदि का भी अस्तित्व उनमें घटित होता है। सो इस तरह का यह बौद्ध कथन युक्तियुक्त नही ज्ञात होता है। कारण कि " भिन्नकालक्षणानाम-

१ कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान्।
उपेक्ष्यसाक्षात्क्षणभंगमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥ १८ ॥ स्या० म०।

संभवद्वासनत्वादकार्यकारणवत् (अ० श०) " जिस प्रकार कार्यकारणसम्बन्ध से विहीन घट और पट में भिन्न २ कालता होने से वासना की संभावना नहीं है उसी प्रकार पूर्वचित्तक्षण और उत्तरचित्तक्षण में भी भिन्न २ कालता होने से वासना की संभावना नहीं हो सकती है ।

इसका अभिप्राय यह है कि बौद्धों ने " क्षणिकैकान्तपक्षे कार्यारम्भः न, प्रत्यभिज्ञानाद्यभावात् " इस अनुमान में प्रदत्त " प्रत्यभिज्ञानाद्यभावात् " इस हेतु को वासना की आड़ लेकर असिद्ध करना चाहा है । उनका कहना है कि प्रथम ज्ञानक्षण उत्तर ज्ञानक्षण को उत्पन्न करके ही विनष्ट होता है अतः यह प्रथम ज्ञानक्षण अपनी शक्ति १ को उत्तर ज्ञानक्षण में निहित कर जाता है । इसी तरह की आगे आगे के समस्त ज्ञानक्षणों में यही परम्परा चलती रहती २ है । इसी का नाम वासना है । इस वासना के बल पर उत्तर ज्ञानक्षणो में पूर्व २ के ज्ञानक्षणों का संस्कार जमता चला जाता है अतः उससे वहां प्रत्यभिज्ञान आदि की उत्पत्ति हो जाती है । सो इसके ऊपर जैन की तर्फ से यह समाधान रूप में कहा गया कि जब पूर्व ज्ञानक्षण और उत्तर ज्ञानक्षण में परस्पर में भिन्न कालता है—भिन्न २ समय वर्तिता है—तो ऐसी स्थिति मे पूर्व-ज्ञान ही उत्तर ज्ञान की वासना है इसमें नियामक क्या है । क्योंकि भिन्नकालता में इस रूप से वासना की सभवता नहीं है । यदि कहा जाय कि उत्तरज्ञानक्षण का पूर्वज्ञानक्षण कारण है इसलिये वही उत्तरज्ञान क्षण की वासना स्वरूप है सो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं है कि पूर्व ज्ञानक्षण का तो निरन्वय विनाश ही हो जाता है तो उसमें उसके प्रति कारणता बनती ही नहीं है । असत्त्वविशिष्ट होने से विनष्ट किसी का कारण नहीं होता है । दूसरे उत्तर ज्ञानक्षण भी पूर्व ज्ञानक्षण का कार्य नहीं बन सकता है कारण कि पूर्व ज्ञानक्षण के सर्वथा अभाव होने पर

---

१ पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने शक्तिमाहु: वासनेति । स्याद्वाद मं० पृ० ३४३ ।

१ तल्लक्षण हि पूर्वक्षणेनोत्तरक्षणस्य वास्यता । अथ पूर्वचित्तसहजात् चेतनाविशेषात् पूर्वशक्तिविशिष्ट चित्तमुत्पद्यते सोऽस्य शक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना -तथाहि-पूर्वचित्तं रूपादिविषयप्रवृत्तिविज्ञान, यत्तत् षड्विध पचरूपादिविज्ञानान्यविकल्पानिषष्ठं च विकल्पविज्ञान-तेन सह जात समानकालश्चेतनविशेषोऽहकारास्पदमालयविज्ञान तस्मात् पूर्वशक्तिविशिष्टचित्तोत्पादो वासना इति ।
—स्याद्वादमंजरी पृष्ठ २५३ ।

ही उसका सद्भाव होता है ।

यदि ऐसा कहा जाय कि इन दोनो का अन्वय व्यतिरेक है इसलिये उत्तर ज्ञानक्षण पूर्व ज्ञानक्षण का कार्य है सो यह भी ठीक नहीं है कारण कि इन दोनो का अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध ही असिद्ध है । जब समर्थकारण स्वरूप पूर्व ज्ञानक्षण रहता है तब तो उत्तर ज्ञानक्षण रूप कार्य उत्पन्न नहीं होता है और जब वह सर्वथा विनष्ट हो जाता है तब ही वह होता है ऐसी बौद्धो की मान्यता है तब इस मान्यता के समक्ष अन्वय व्यतिरेक इनमें कैसे सिद्ध हो सकता है । इसलिये वासना का सहारा लेकर वहां प्रत्यभिज्ञान आदि की उत्पत्ति का कथन करना युक्ति युक्त नहीं माना जा सकता । दूसरे यह वासना नित्य तो मानी नहीं जा सकती, क्योकि ऐसी मान्यता से सिद्धान्त में विरोध आता है । अतः इसे भी क्षणिक मानना पडेगा । तब वासना भी क्षणिक होने से प्रत्यभिज्ञान की हेतु नहीं बन सकती है । अतः यह निश्चित है कि क्षणिकैकान्त मे प्रत्यभिज्ञान आदि का अभाव होने से कार्य का आरभ नहीं हो सकता है । कार्य आरंभकत्व के अभाव मे पूण्य पाप लक्षणरूप फल का अभाव, उसके अभाव से प्रेत्यभाव, बंध, एवं मोक्ष का सद्भाव स्थापित नहीं हो सकता । अत "प्रत्यभिज्ञानाद्यभावात्" यह हेतु असिद्ध नहीं है । किन्तु सिद्ध ही है । और विशेष जानने के लिये अष्टसहस्त्री देखना चाहिये ।

यद्यसत् सर्वथा कार्यं तन्मा जनि खपुष्पवत् ।
मोपादाननियामोभून्माश्वासः कार्यजन्मनि ॥ ४२ ॥

अन्वय–यदि कार्यं सर्वथा असत् तत् खपुष्पवत् मा जनि । उपादाननियामो मा भूत् । कार्यजन्मनि आश्वासः मा भूत् ।

अर्थ–यदि कार्य को सर्वथा असत् माना जाय तो वह खपुष्प की तरह उत्पन्न नही हो सकता है तथा उपादान कारण का नियम भी वहां नहीं बन सकता है । उपादान कारण के नियम के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का कोई

विश्वास नहीं हो सकता है।

भावार्थ–कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह प्रदर्शित करते हैं कि क्षणिकपक्ष मे सत्स्वरूपकार्य की उत्पत्ति तो होनी नहीं है। क्योंकि ऐसी मान्यता में क्षणिक पक्ष का विरोध एव कार्य की उत्पत्ति का अनुपरम प्राप्त होता है। अतः यदि इसपर बौद्ध कहें कि सर्वथा असत् स्वरूप ही कार्य उत्पन्न होता है तो यह कहना इसलिये युक्त नही माना जा सकता कि विवक्षित पर्यायाकार से जिस प्रकार कार्य सर्वथा असत् है उसी प्रकार वह यदि द्रव्याकार से भी सर्वथा असत् माना जायगा तो सर्वथा असत् खपुष्प की तरह वह उत्पन्न नहीं हो सकेगा। क्योंकि "यत्सर्वथाऽपि असत् तन्न जायमानं दृष्टं यथा खपुष्प" (अ० स०) जो सर्वथा असत् होता है वह उत्पन्न होता हुआ नही देखा गया है। जैसे खपुष्प। बौद्ध संमत कार्य भी इसी प्रकार का है अत वह भी उत्पन्न नहीं हो सकता। कार्यत्व की व्याप्ति सर्वथा असत्त्व के साथ न होकर कथंचित् सत्त्व के साथ है। कथचित् सत्त्वविशिष्ट द्रव्य ही कार्यरूप से परिणमित होता है। सर्वथा असद्भूत द्रव्य नही। अतः कथचित् सत्त्व ही कार्यत्व का व्यापक है। इससे विरूद्ध जो सर्वथा असत्त्व है वह खपुष्प की तरह कार्यत्व का व्यापक नही होता है। क्योकि यह वात सर्वसाधारण जन विदित है कि "कथंचित्सतः कार्यत्वमुपादानस्योत्तरीभवनात्" (अ० श०) मिट्टी रूप उपादान द्रव्य ही घटरूप से परिणमित होता है, यह मिट्टी रूप उपादान द्रव्य सर्वथा न सत्रूप है और न सर्वथा असत्रूप हैं। किन्तु कथचित् सद्रूप है। कथंचित् सद्रूप का यह मतलब है कि वह किसी अपेक्षा–अपनी विवक्षित पर्याय की दृष्टि से--असद्रूप भी है। द्रव्यरूप सामान्य की अपेक्षा से ही प्रत्येक द्रव्य सत्स्वरूप विशिष्ट माने गये हैं पर्याय–विशेष--की अपेक्षा से नही। यहां पर यह शंका नही करना चाहिये कि "सत्स्वरूप द्रव्य असत् कैसे माना जा सकता है क्योकि सत् और असत् का परस्पर मे विरोध है।" कारण कि जिस प्रकार चित्र-ज्ञान में ज्ञानसामान्य की अपेक्षा एकत्व माना जाता है और पीतादिक अपने विषयो के निर्भास की अपेक्षा अनेकत्व माना जाता है उसमे कोई विरोध नही आता है उसी प्रकार किसी अपेक्षा सत्त्व और किसी अपेक्षा असत्त्व ये दोनो धर्म भी कि जिनमे विना विचारे ही स्थूलरूप से विरोध सा ज्ञात होता है एकत्र द्रव्य मे अविरोधरूप से रहते हैं। हम देखते है

कि एक ही पुरुष अपेक्षा की विवक्षा में पितृत्व धर्म विशिष्ट, पुत्रत्वधर्मविशिष्ट, पतित्वादिधर्म विशिष्ट माना जाता है। यद्यपि ये धर्म परस्पर में एकत्र विरुद्ध जैसे ज्ञात होते हैं परन्तु फिर भी विवक्षावश विरुद्ध भी उन धर्मों में एकत्र रहने में कोई विरोध नहीं है। यही बात प्रकृत में भी जानना चाहिये।

किं च–यदि सर्वथा असत् को ही कार्यरूप से परिणमित माना जायगा तो वहां पर कार्य कारण भाव ही नहीं बन सकेगा। क्योकि कार्यकारणभाव की व्यवस्था का हेतु अन्वय और व्यतिरेक की प्रतीति हुआ करती है। वह यहां बनती नही है। कारण कि असत्कार्यवादी बौद्धों का ऐसा कहना है कि जब कारण का सर्वथा विनाश हो जाता है तब ही जाकर कार्य का प्रादुर्भाव होता है। तथा कारण के सद्भाव मे कार्य का सद्भाव नहीं होता है इस प्रकार यहां अन्वय व्यतिरेक का व्यभिचार स्पष्ट प्रतीत होता है। " यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमन्वयः यदभावे यदभावो व्यतिरेक.। " जिसके सद्भाव में जिसका सत्व हो और जिसके अभाव में जिसका अभाव हो वहां अन्वय व्यतिरेक घटित होता है। परन्तु यह बात यहां नहीं है। इसलिये असत्स्वरूप ही कार्य होता है यह मान्यता ठीक नहीं है। दूसरे–असत् ही कार्यरूप में परिणत होता है यही मान्यता अंगीकार की जावे तो असत्स्वरूप खपुष्प की तरह कार्य का कभी भी उत्पाद नहीं हो सकता है। तथा च मृत्तिकारूप द्रव्य से जो घट का उत्पाद होता हुआ देखा जाता हैं वह अब इस मान्यता के आगे नहीं हो सकेगा, इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि सर्वथा असत् मे और कार्य में परस्पर व्याप्य व्यापक भाव न होकर कथचित् सत्व और कार्यत्व मे ही व्याप्य व्यापक सम्बन्ध बनता है क्योकि ऐसी ही प्रतीत होती है। तथा जो सर्वथा असत्कार्य होगा वह वन्ध्यासुत की तरह कारण वाला ही नहीं हो सकता है। मतलब इसका यह हैं कि जिस प्रकार सर्वथा असत्स्वरूप होने से वन्ध्यासुत कारण विहीन होता है उसी प्रकार जब कार्य अपने द्रव्यरूप से भी सर्वथा विहीन है तो वह कारण वाला

उपाधिभेदोपहित विरुद्ध नार्थेष्वसत्त्व सदवाच्यते च।
इत्यप्रबुध्यैव विरोधभीता जडास्तदेकान्तहता पतन्ति ।। २४ ।।

स्याद्वाद मजरी पृ० २८६

आ०
मी०
२६७

कैसे माना जा सकता है। क्योंकि यदि वह शक्तिरूप से अपने कारणरूप द्रव्य में रहा हुआ होता तो उस कारण से उसकी सभवता हो जाती परन्तु बौद्ध सिद्धान्त में तो वह जिस प्रकार विवक्षित पर्यायरूप से सर्वथा अभाव विशिष्ट है, उसी प्रकार वह द्रव्यरूप से भी अभाव विशिष्ट है। फिर ऐसी हालत में यह नियम भी कैसे बन सकता है कि मिट्टी ही घडे का उपादान कारण है तन्त्वादिक १ नहीं। क्योंकि जिस प्रकार घड़े की उत्पत्ति में मिट्टी का निरन्वय विनाश हुआ है उसी प्रकार तत्वादिक का भी वहां निरन्वय विनाश मान लिया जायगा। यदि संवृत्तिमात्र से उपादान का नियम कल्पित किया जायगा तो कार्य की उत्पत्ति मे अनाश्वास का प्रसंग प्राप्त होता है। अत असत् कार्य उत्पन्न होता है यह कथन क्षणिकवादी बौद्ध का ठीक नहीं है।

न हेतुफलभावादिरन्यभावादनन्वयात्।
सन्तानान्तरवन्नैकः सन्तानस्तद्वतः पृथक् ॥ ४३ ॥

अन्वय—(क्षणिकैकान्तपक्षे) सन्तानान्तरवत् (पूर्वोत्तरक्षणानाम्) हेतुफलभावादिः न (सर्वथा) अनन्वयात् अन्यभावात्। तद्वतः पृथक् एकः संतान न।

अर्थ—इस क्षणिक एकान्त पक्ष में अन्य संतान की तरह पूर्वक्षण एवं उत्तरक्षणों में हेतुभाव एवं फलभाव आदि कुछ भी घटित नहीं होता है। क्योंकि इनमें सर्वथा अनन्वय होने से भिन्नता है। संतानी से भिन्न एक संतान पर मार्थभूत कोई वस्तु नहीं है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार क्षणिक एकान्त पक्ष में और भी क्या२ दूषण आते हैं यह बात स्पष्ट कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जब पूर्वक्षण और उत्तरक्षण में अन्वयरूप कोई सम्बन्ध न होने से सर्वथा भिन्नता है तो फिर उनमें हेतुभाव एव फलभाव कैसे बन सकता है। जिस प्रकार भिन्न२ संतान में—खुशालचद नरेशचद्र आदि भिन्न

तदत्यन्तासतः कार्यस्योत्पत्तेस्तन्तुभ्यः पटादिरेव न पुनः कुटादिरिति निर्हेतुको नियमः स्यात्। अ० स०

व्यक्तियो में—अन्वय रूप सम्बन्ध नहीं बनने से हेतुभाव—कारणता एवं फलभाव—कार्यता आदि कुछ भी नहीं बनता है, इसीतरह अन्वयरूप सम्बन्ध के सर्वथा अभाव में वास्यवासकभाव कर्म कर्मफल सम्बन्ध एवं प्रवृत्ति आदि भी संभवित नही होते हैं। क्योकि ये सब बाते अन्वयरूप सम्बन्ध के सद्भाव में ही घटित होती हैं। सर्वथा क्षणिकत्व का समर्थन-यदि बौद्ध इस पर यो कहे कि पदार्थो की क्षणिकता जब प्रमाण से प्रसिद्ध है तो फिर अन्वय रूप सम्बन्ध की सत्ता कैसे

आ० सिद्ध हो सकती है। पदार्थ क्षणिक—क्षणविनश्वर—है इसमे यह प्रमाण है कि "समस्त सत्—सत्स्वरूप पदार्थ—क्षणिक हैं"

मी० क्योकि सम्पूर्ण घटादिक-सत्स्वरू। पदार्थ-मुद्गर आदि का संयोग होने पर नाश हो जाते है। जिस स्वरूप से अन्त अवस्था में घट आदि का नाश होता है वही स्वरूप घट आदि समस्त पदार्थों का उत्पन्न होने के समय में भी रहता है। अत-

२९९ एव जिस समय मुद्गर से घड़ा नष्ट हो जाता है उस समय मुद्गर घडे में कोई नया स्वरूप उत्पन्न नही करता क्योंकि घडे का विनाश स्वभावतो अन्त और आरम्भ दोनो अवस्थाओं मे एकसा होता है अतएव घड़ा आदि पदार्थ उत्पत्ति के बाद ही नष्ट हो जाते हैं इसलिये सम्पूर्ण पदार्थ क्षणिक हैं। मतलब यह है कि बौद्ध सिद्धान्त में नाश को अहेतुक माना है "क्षणिकस्य क्षणादूर्ध्वमस्थान स्वप्रकृतिर्विनश्वरत्वादन्विष्यते विनाशस्वभावनियतत्वं च विनश्वरत्व, न पुनः कालान्तरावस्थायिन कदाचिन्नाशित्व अहेतुकत्वाद्विनाशस्य" अष्टसहस्री पाना १८५ में इसी बात की उन्होने स्थापना इन पक्तियो मे की है। क्षणिक पदार्थ की यह अपनी निज की प्रकृति है कि एक क्षण के बाद नही रहना। विनाश स्वभाव नियतता ही विनश्वरता है। कालान्तर तक रहकर द्वितीयादिक क्षणो तक विद्यमान होकर फिर पदार्थ का कदाचित् नाश होना यह विनश्वरता नहीं है। क्योंकि विनाश का कोई दूसरा कारण ही नही है। यदि पदार्थों को उत्पन्न होने के बाद नाशमान न माना जाय तो पदार्थों का अपने किसी भी विरोधी कारण से नाश नहीं हो सकता, इसलिये "यद्यद्भावं

---

१ सौगता' किल इत्थ प्रमाणयन्ति सर्वं सत् क्षणिक यतः सर्वं तावत् घटादिक वस्तु मुद्गरादिसन्निधौ नाश गच्छत् दृश्यते तत्र येन स्वरूपेण अन्त्यावस्थायां घटादिक विनश्यति तच्चैतत्स्वरूपमुत्पन्नमात्रस्य विद्यते तदानीमुत्पादानन्तरमेव तेन विनष्टव्यम् इति व्यक्तमस्य क्षणिकत्वम्।

प्रत्यनपेक्षं तत् तद्भावनियतं (अ० श०) जो जिसके प्रति–विनाश स्वभाव के प्रति–अन्य की-मुद्गरादिक विरोधी कारणों की-अनपेक्षा वाला होता है वह घट पटादिक पदार्थ–उस स्वभाव से नियत होता है।

" यथाऽन्त्यकारणसामग्री स्वकार्योत्पादन प्रत्य नपेक्षा तत्स्वभावनियता विनाश प्रत्यनपेक्षश्च भावः इति स्वभावहेतुः " (अ० श०) जैसे समर्थ कारण–अन्त्य कारण–सामग्री–अपने कार्य को उत्पन्न करने में अन्य कारणों की अपेक्षा रखने वाला नही होता है अतः वह स्वकार्य करणरूप स्वभाव से नियत माना गया है। इस प्रकार स्वभाव [1] हेतु से पदार्थो मे विनश्वर स्वभावता प्रसिद्ध हो जाती है। इसलिये नैयायिक आदि ने जो ऐसा माना [2] है कि पदार्थ अपनी उत्पत्ति के कारण भूत सहायको से " कुछ समय तक ठहर कर बाद में नष्ट हो जाना " ऐसे स्वभाव वाला ही उत्पन्न किया जाता है सो उनकी यह मान्यता ठीक नहीं है, कारण कि यदि इसी प्रकार का पदार्थ का स्वभाव माना जायगा तो वह विनाश के कारणरूप मुद्गरादिक के सम्बन्ध होने पर भी कभी विनष्ट ही नहीं हो सकेगा। जब जब बिनाश के कारणरूप मुद्गरादिको का घडे के साथ सम्बन्ध होता रहेगा तब तब उसका तो " कुछ काल तक ठहर कर नष्ट होना " यही स्वभाव बना रहेगा। अतः पदार्थ क्षणविनश्वर है यही सिद्धान्त निर्दोष है। दूसरे-यदि विनाश को सहेतुक माना जाय–तो यहां यह प्रश्न होता है कि वह विनाश घट से भिन्न है या अभिन्न है। यदि वह विनाश मुद्गरादिक हेतुओ से घट से भिन्न किया जाता है ऐसी मान्यता अंगीकार की जाय तो इसमें दोष यह आता है कि घट का विनाश होने पर भी घट की उपलब्धि होनी चाहिये। तथा च " विनष्टो घटः " इत्याकारक प्रत्यय जो उस समय होता हैं वह नहीं होना चाहिये।

आ० मी० ३००

---

१ बौद्धसिद्धान्त मे अनुपलब्धि, स्वभाव एवं कार्य इस प्रकार ये तीन प्रकार के लिङ्ग माने हैं न्यायावतार कारिका ५वी की टीका।

२ अथेदृश एव स्वभावस्तस्य हेतुतो जातो यत्कियन्तमपि कालं स्थित्वा विनश्यति। एवं तर्हि मुद्गरादिसंनिधानेऽपि एष एव तस्य स्वभावः इति पुनरप्येतेन तावन्तमेव कालं स्थातव्यमिति नैव विनश्येत्। सोऽय अदित्सोः वणिज· प्रतिदिनं पत्रलिखितश्वस्तनदिनभणनन्यायः। तस्मात् क्षणद्वयास्थायित्वेनाप्युत्पत्तौ प्रथमक्षणवत् द्वितीयेऽपि क्षणे क्षणद्वयस्थायित्वात् पुनरपर क्षणद्वयमवतिष्ठेत एव तृतीयेऽपि क्षणे तत्स्वभावत्वान्नैव विनश्येत्। स्याद्वाद मजरी पृ० २०२

यदि इसपर यो कहा जाय कि घट का और विनाश—घट विनाश-का परस्पर में सम्बन्ध है इसलिये "विनष्टो घट " इत्याकारक प्रत्यय हो जायगा सो ऐसा कहना भी इसलिये युक्ति युक्त नहीं है कि घट और उसका विनाश इन दोनों का कोई सा भी सम्बन्ध नहीं है। घट और उसके विनाश का तादात्म्य सम्बन्ध इसलिये नहीं माना जा सकता है कि यह भिन्नपक्ष चल रहा है। भिन्नता मे यह सम्बन्ध नहीं होता है। तदुत्पत्ति सम्बन्ध इसलिये नही है कि यह नाश बौद्ध सिद्धान्त के अतिरिक्त अन्यसिद्धान्तकारो ने मुद्गरादिक हेतु से माना है। अपना नाश—अपने से होता तो ही तदुत्पत्ति सम्बन्ध बनता। यदि विनाश--घट विनाश--को मुद्गर एव घट इन दोनो से जन्य माना जाय तो इसमें यह दोष आता है कि जिस प्रकार घट विनाश के बाद मुद्गर का उपलम्भ होता है उसी तरह घट का उपलम्भ होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं होता है। अत यह विनाश उभय निमित्तक नही माना जा सकता। इसी तरह घट का विनाश मुद्गरादिक हेतुओं द्वारा घट से अभिन्नरूप मे किया जाता है ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है। कारण कि विनाश अहेतुक है। अतः अन्य मुद्गरादिक उसके हेतु न होकर घट ही उसका हेतु है। घट हेतुक विनाश मानने पर उसमें सहेतुता इसलिये नहीं आती है कि उसका अन्य मुद्गरादिक हेतु नहीं है। विनाश भले ही सहेतुक रहे इसमें बौद्धो को कोई विवाद नहीं है। अष्टसहस्री मे भी " कार्यजनकहेतुव्यतिरिक्तहेत्वनपेक्षत्वमिति " इस पक्तिद्वारा यही बात कही गई है। इसलिये यह "यद्यद्भाव प्रत्यनपेक्ष तत्तद्भावनियतं " यह कथन सर्वथा सुसगत है। अतः जब वस्तु क्षन२ में नष्ट हो रही है तो उसका दूसरे क्षण मे अन्वय मानना ठीक नहीं है। यदि इस क्षणिकता के ऊपर कोई यह आक्षेप करे कि जब पदार्थ प्रत्येक क्षण मे नाश होते रहते हैं तो प्रथमक्षण से लगाकर अन्तिम क्षणतक पदार्थ मे एकता विषयक जो प्रत्यभिज्ञान होता है वह कैसे हो सकेगा सो ऐसा कहना उचित नहीं है, कारण कि प्रत्येक पदार्थ क्षण२ में नाश होते रहते है। जो पदार्थ हमे स्थायीरूप से दिखाई देता है वह भी प्रतिक्षण नाश हो रहा है। पदार्थ का प्रत्येक पूर्वक्षण प्रत्येक उत्तरक्षण को उत्पन्न करता है। ये सब पूर्व और उत्तरक्षण इतने परस्पर में समान हैं कि एक क्षण से द्वितीयक्षण की उत्पत्ति होने के समय अंतर होने पर भी पदार्थ की एकता मे अंतर नहीं आता है, कल्पना करो " स एवायं घट " यह वही घट

है इस प्रकार का जो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है वह घट के पूर्वक्षण के नष्ट होते ही उसके समान दूसरा उत्तारक्षण उत्पन्न हो जाता है अतएव पूर्व आकार का नाश न दीखने से पूर्वक्षण के नाश और उत्तारक्षण की उत्पत्ति मे व्यवधान नही मालूम होता। इसलिये घट के पूर्वक्षण का सर्वथा नाश होने पर भी अविद्या के कारण " यह वही घट है " ऐसा एकत्व परामर्शक प्रत्यभिज्ञान होता है। जैसे पहले काटे गये और फिर से उत्पन्न हुए कुश और केश आदिको के पूर्व और उत्तारक्षण मे सर्वथा भिन्नता होने पर भी " यह वही घास है ये वही केश हैं " ऐसा ज्ञान १ होता है। अतः
भा० " एकत्व प्रत्यभिज्ञान के बल से भी क्षणिकता का विध्वस नहीं हो सकता है। इसलिये पूर्वोत्तार क्षणों में अन्वयरूप
मी० एकत्व के अभाव में फलभाव एवं हेतुभाव बनने मे कोई बाधा नहीं आती है। पूर्वक्षण हेतु है ओर उत्तारक्षण उसका
३०२ फल है।

बौद्धों ने इस प्रकार जो क्षणिक पक्ष का समर्थन करते हुए वहां हेतुभाव एवं फलभाव की मान्यता प्रदर्शित की है वह ठीक नहीं २ है। कारण कि जब पूर्व क्षण और उत्तरक्षण-सर्वथा-भिन्न २ ही हैं तो यह विचारने की बात है कि उनमें एक में हेतुभाव तथा दूसरे में फलभाव कैसे सभवित हो सकता है। हेतुभाव और फलभाव को प्रकट करने वाला कोई आधार तो होना चाहिये। वह आधार अन्वय है। उसे आप मानते नहीं हैं। जब पूर्वक्षण निरन्वय विनाशी हैं तो ये अपने से उत्तारक्षण को उत्पन्न कर भी कैसे सकते हैं। और कैसे यह बात समझ में आ सकती है

१ यदि क्षणक्षयिणो भावा कथ तर्हि स एवायमिति प्रत्यभिज्ञा स्यात्। उच्यते–निरन्तरसदृशापरापरोत्पादात् अविद्यानुबन्धाच्च पूर्वक्षणविनाशकाल एव तत्सदृश क्षणान्तरमुदयते तेनाकारविलक्षणत्वाभावादव्यवधानाच्चात्यन्तोच्छेदेऽपि स एवायमितिअभेदाध्यवसायी प्रत्यय• प्रसूयत। अत्यन्तभिन्नेष्वपि लूनपुनरुत्पन्नकुशकाशकेशादिषु दृष्ट एवाय स एवायमितिप्रत्यय•।

स्याद्वादमंजरी पृ० २०३

१ " नैवास्ति हेतु• क्षणिकात्मवादे " तथा- " तथा न तत्कारणकार्यभावाः निरन्वया• केन समानरूपा " युक्त्यनुशासन श्लोक १३ वें १४ वें के पाद। " न तुल्यकाल• फलहेतुभावो हेतौ विलीने न फलस्य भाव. "

स्याद्वाद मजरी श्लोक १६ वे का पूर्वार्ध।

कि ये उत्तरक्षण पूर्वक्षण हेतुक है । क्योकि उसकी इनमे कोई निशानी तो है नहीं । घडा का कारण मृत्तिका है यह इसलिये माना जाता है कि घडे मे मृत्तिकारूप अन्वय का सद्भाव पाया जाता है । उत्तरक्षण मे इस प्रकार का अन्वय पूर्वक्षण का आपके सिद्धान्तानुसार नही पाया जाता । तथा इस पर कोई यह भी पूछ सकता है कि पूर्वक्षण जो उत्तर-क्षणो को उत्पन्न करते हैं सो क्या वे उन्हें अपनी उत्पत्ति के समय मे उत्पन्न करते हैं या दूसरे क्षण मे । प्रथम पक्ष यदि कबूल किया जाय तो वह इसलिये युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता कि जो समकाल में उत्पन्न होते है उनमें युवति के कुचों की तरह परस्पर में उपादान उपादेयभाव–हेतुफलभाव नही बनता है । पितृत्व पुत्रत्व धर्म को लेकर यहां व्य-भिचार प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है, क्योकि ये कथंचित् भिन्नकालवर्ती है । यदि द्वितीय पक्ष अंगीकार किया जाय सो भी उचित नहीं है । क्योकि पूर्वक्षण सर्वथा विनाशी है, अतः उसके अभाव में उत्तरक्षणरूप कार्य नहीं हो सकता है । यदि इस पर यो कहा जाय कि वादलो के अभाव से जैसे सूर्य का प्रकाश होता है उसी प्रकार प्रथमक्षण के अभाव से द्वितीयक्षण हो जायगा-सो ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है क्योकि बादलो का अभाव प्रकाश का उपादानरूप कारण नही है उसका उपादान रूप कारण तो सूर्य है । इसी तरह मिथ्यात्व के अभाव से जो सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है उस का भी उपादान कारण मिथ्यात्व का अभाव नही है किन्तु आत्मा ही उसका उपादान कारण है और वह कथंचित् नित्य है । क्षणिक नही । अतः उपादान कारण के सर्वथा अभाव में पूर्वक्षणरूप उपादेय कैसे उत्पन्न हो सकता है । पदार्थ का स्वरूप ही क्षण २ मे नाश होना है ऐसा जो बौद्धो का कथन है उस पर हमे किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं है । पर्याय की अपेक्षा विनाश प्रतिक्षण होता रहता है यह तो स्याद्वादियों ने भी स्वीकार किया है । परन्तु बौद्ध जो निरन्वय विनाश मानते हैं वैसा विनाश जैनो को अभीष्ट नहीं है । द्रव्यरूप से किसी भी पदार्थ का सर्वथा विनाश नहीं होता हैं ।

तथा—"क्षणिकोऽर्थ विनाशस्वभावनियतो भवितुमर्हति नाश प्रत्यन्यानपेक्षत्वात्" जिस प्रकार इस अनुमान द्वारा क्षणिक पदार्थ मे विनाश स्वभावता अन्यानपेक्ष सिद्ध की जा रही है उसी प्रकार " नित्योऽर्थः स्थितिस्वभावनियतो

भवितुमर्हति तद्भावं प्रत्यन्यानपेक्षत्वाविति (अ० स० टिप्पणी) " इस अनुमान द्वारा पदार्थ में स्थिति स्वभावता अन्यान पेक्ष क्यो न सिद्ध की जा सकेगी। स्वभाव हेतु जिस प्रकार " नाश प्रत्यन्यानपेक्षत्वात् " यह है उसी प्रकार " तद्भाव प्रत्यन्यानपेक्षत्वात् " यह भी है। विनश्वर स्वभावता सिद्ध करने के लिये जैसे यह कहा गया है कि मुद्गरादिक हेतुओं द्वारा विनाश पदार्थ से भिन्न किया जाता है या अभिन्न किया जाता है इसी प्रकार स्थितिशील पदार्थ से स्थिति भी स्थिति के कारणों द्वारा भिन्न की जाती है या अभिन्न की जाती है। यदि भिन्न की जाती है तो पदार्थ में अस्थास्नुता की आपत्ति आती है। यदि अभिन्न की जाती है तो फिर उस स्थिति को करने के कारणो में व्यर्थता आती है। क्योकि पदार्थ जब स्वय स्थिति स्वरूप है तो वहां स्थिति करने वाले कारणों की जरूरत ही क्या है। दूसरे यह भी कोई कह सकता है कि स्थिति स्वभाव वाले पदार्थ में कारणों द्वारा स्थिति की जाती है या अस्थिति स्वभाव वाले पदार्थ में स्थिति की जाती है। जिस प्रकार अनुत्पत्ति स्वभाव वाले पदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है उसी तरह स्वय अस्थितिशील पदार्थ मे भी स्थिति करने का अयोग आता है। स्वयं स्थितिशील परार्थ में स्थिति करने की आवश्यकता ही क्या है। इस प्रकार पदार्थ स्वयं स्थिति स्वभाव नियत सिद्ध होता हैं। यह स्थिति स्वभावता पदार्थ में द्रव्य की ही अपेक्षा जानना चाहिये। पर्याय की अपेक्षा विनाशशीलता। अत पदार्थ का निरन्वय विनाश मानना सर्वथा युक्तिरिक्त है। इसलिये पदार्थ द्रव्य की अपेक्षा-कथंचित्-नित्य और पर्याय की अपेक्षा कथंचित्-अनित्य है। सर्वथा न नित्य है और न अनित्य है, इसलिये सर्वथा निरन्वय विनाश मानने पर हेतुफलभाव आदि कुछ भी नही बन सकता है । यह कथन सर्वथा तर्क संगत है।

यदि संतान की अपेक्षा सर्वथा क्षणिक में हेतुफल भाव आदि की मान्यता स्वीकृत की जाय तो यह भी कथन ठीक नही हैं, क्योकि पूर्वोत्तर क्षणरूप जो सन्तानी हैं उनसे भिन्न कोई सन्तान है और वह परमार्थभूत है ऐसी बौद्धों की मान्यता नहीं है। उनका तो ऐसा कहना है कि परस्पर में अपरामृष्टभेदवाले संतानी ही संतान स्वरूप हैं अतः इस उनके कथन से संतान संतानियो से पृथक्भूत सिद्ध नहीं होती है । तो जिस प्रकार भिन्न २ सतानों में अन्वय का अभाव है

और इसीलिये वहां हेतुफल भाव आदि कुछ भी नहीं बनता है इसी प्रकार पूर्व क्षण और उत्तरक्षण में भी एक संतान के अभाव होने से हेतुफल भावादि नहीं बन सकते हैं। संतानियो से स्वतत्र संतान यदि बौद्ध सिद्धान्त मान लेता है तो क्षणिकवाद का अस्तित्व ही नहीं बन सकता है। इस प्रकार क्षणिक एकान्तपक्ष में संतान के अभाव से न हेतुफल भाव बनता है और न वास्यवासक भाव तथा कर्मफल सम्बन्ध ही बनता है। ये सब सम्बन्ध अन्वयरूप एक सन्तान के ही सद्भाव में बनते हैं। उसका अभाव क्षणिक एकान्त मे है।

अन्येष्वनन्यशब्दोऽयं संवृतिर्न मृषा कथम्।
मुख्यार्थः संवृति र्न स्याद्विना मुख्यान्न संवृतिः ॥ ४४ ॥

अन्वय—अन्येषु अय अनन्यशब्दः सवृतिः (इति चेर्त्तांह) कथं (सा) मृषा न (भवेत्)। मुख्यार्थः संवृति न स्यात्। (तस्या उपचाररूपत्वात्) विना मुख्यात् न संवृतिः।

अर्थ—अन्यो मे-पृथग्भूतक्षणों में-अनन्य इस प्रकार का जो शाब्दिक व्यवहार एवं विकल्पात्मक ज्ञान होता है वह सवृति स्वरूप है -काल्पनिक है-उपचार से ही होता है-यदि बौद्ध ऐसा कहें तो उन्हें उसे असत्य ही मानना पड़ेगा। यदि उस व्यवहार को वे परमार्थभूत मानें तो फिर वह काल्पनिक नहीं हो सकता। यदि काल्पनिक हो उसे अंगीकार किया जाय तो यह मानना पड़ेगा कि कल्पना भी मुख्य अर्थ के बिना नहीं होती है।

भावार्थ—कारिका कार इस कारिका द्वारा यह निराकरण करते हैं कि जो बौद्धों ने इस प्रकार कहा है कि पूर्व एवं उत्तरक्षणों मे परस्पर कार्य कारण भाव एक संतान होने से बन जायगा। यद्यपि बौद्ध सिद्धान्त की अपेक्षा सन्तान नाम की कोई स्वतंत्र परमार्थभूत वस्तु नहीं है वह तो सिर्फ अभेद परामर्श के विषयभूत बने हुए सन्तानीरूप ही है। सन्तान शब्द से सन्तानी—जो क्षण विनश्वर क्षण परम्परा है उसका ही बोध होता है—इनसे भिन्न उनमें किसी अनवयरूप वस्तु का नही। बौद्ध समत तत्त्वसग्रह मे १८७७ कारिका में " नैव, सन्ततिशब्देन क्षणाः सतानिनो हिते।

" सामस्त्येन प्रकाश्यन्ते लाघवाय वनादिवत् " यही बात प्रदर्शित की है। जिस प्रकार व्यवहार लाघव के लिये वन शब्द से धवादिरूप सन्तानियो का युगपत् प्रकाशन होता है उसी प्रकार सन्ततिरूप संतान शब्द से वस्तुभूत सन्तानी क्षण ही समस्तरूप से युगपत् प्रकाशित किये जाते हैं। अतः बौद्धों का यह कथन " परमार्थसन्त. कार्यकारणभाव प्रबन्धेन प्रवर्त्तमाना. पूर्वोत्तरक्षणाः प्रतिक्षणविशराखोऽपरामृष्टभेदाः सन्तान शब्दवाच्याः" कार्य कारण सम्बन्ध की परम्परा से प्रवर्त्तमान

आ० जो पूर्वोत्तरक्षण हैं वे ही सतान शब्द के वाच्य हैं। कब ? जब ये अभेद परामर्श के विषय होते हैं तब। तथा ये समस्त

मी० ही पूर्वोत्तर क्षण क्षणविनश्वर हैं " इस बात की पुष्टि करता है कि क्षण परम्परा से स्वतंत्र तथा उसमें अनुगतरूप से रहने वाला सतान नाम का कोई वास्तविक पदार्थ नहीं है। मतलब इसका यही है कि क्षणों के प्रवाह की परिपाटी का

३०६ नाम ही सतान है। क्योंकि " यह क्षणों का संतान है ऐसा जो व्यवहार होता है उससे वह सतान अपने सतानी जो क्षण हैं उस स्वरूप ही पड़ता है। अत परस्पर भिन्न पूर्वोत्तार क्षणों में जो अनन्य शब्दरूप संतान है वह वहां वास्तविक कोई उनसे भिन्न स्वतंत्र चीज नहीं है केवल काल्पनिक हैं।

दूसरे—क्षणों से अतिरिक्त सतान माना जावे–तो वहां वह नित्य है या अनित्य है इस प्रकार के विकल्प होते हैं। यदि सतान नित्य है तो वह अनित्य संतानियो में व्यापकरूप से कैसे रह सकता है। यदि वह उनमें व्यापकरूप से रहता है यह मान भी लिया जाय तो भी वहां फिर भी यह प्रश्न होता है कि वह अनेक स्वभाव से उन्हें व्याप्त करेगा या एक स्वभाव से व्याप्त करेगा। यदि अनेक स्वभाव से वह उन्हे व्याप्त करता है ऐसा माना जाय तो संतान में अनित्यता आती है। क्योंकि उसके नित्य एकरूप का विरोध होता है। यदि वह एक स्वभाव से उन्हे व्याप्त करता है तो इस मान्यता में क्षणो में एकत्व का प्रसंग प्राप्त होता है अतः संतान की सिद्धि कैसे हो सकेगी। क्योकि जो क्रमश

---

१ सन्तान· समुदायश्च पक्ति सेनादिवन्मृषा। सतानो नाम न कश्चिदेक· परमार्थसन् सभवति। किं तर्हि ! कार्यकारणभावप्रवृत्तक्षणपरम्पराप्रवाहरूप एवायम् ततो व्यतिरिक्तस्यानुपलभात्। तस्मादेतेषामेव क्षणानामेकपदेन प्रतिपादनाय सकेतः कृतो बुद्धैः व्यवहारार्थंसंतान· इति बोधत्रयी पृ० ३३४। न्यायकुमुदच० की टिप्पणी पृ० ६

अनेक व्यापी होता है वही तो सतान है। यदि यह कहा जाय कि संतान अनित्य है तो वह संतानी जैसा हो भेद विशिष्ट माना जायगा—फिर उसको लेकर जो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होना माना जाता है वह नहीं हो सकता इसलिये यही मानना चाहिये कि क्षण विनश्वर क्षणों में अनन्य शब्द का व्यवहार केवल काल्पनिक है। इस प्रकार बौद्धो की सतान के विषय मे मान्यता है। इसपर कारिकाकार का यह कहना है कि यदि संतान को सर्वथा काल्पनिक ही माना जावेगा तो पूर्वोत्तर क्षणो में कार्यकारण भावरूप सम्बन्ध के नियम का अभाव प्रसक्त होता है। अतः सकल संतानियों में सकर नाम का दोष आता है। वह इस प्रकार से जानना चाहिये--जिस १ प्रकार हम जैनों के यहां एक अखण्ड आत्म द्रव्य रूप सन्तान की या पुद्गल द्रव्यरूप संतान की नियत अनादि अनंत पर्यायरूप संतानियों में धारा बहती रहती है उस प्रकार की धारा बौद्ध सिद्धान्त मे मानने मे नहीं आई है। यहां तो अपनी२ क्षण सततिरूप ही संतान है उससे स्वतंत्र वह नहीं है। जिस प्रकार मृत्तिका द्रव्य की उसकी समस्त स्थाश, कोश, कुशरत्न आदि पर्यायो में अन्वयरूप से धारा बहती चली आती है। आत्म द्रव्य की अपनी अनेक पर्यायों में उस प्रकार बौद्ध सिद्धान्त में पूर्वोत्तर क्षणों में उपादान कारण की धारा बहती हुई नहीं मानी गई है। क्योंकि क्षणिकवादी अनादि अनंतकालीन द्रव्य को मानते नहीं हैं। इस परिस्थिति में वह पर्याय रूप जो क्षण सन्तति है वह अमुक की है अमुक की नहीं है इस प्रकार के सम्बन्ध का नियम कैसे बन सकता है सुरेश की पर्यायें महेश की पर्यायें मानली जावेंगी और महेश की पर्यायें सुरेश की मानली जावेंगी--स्थास, कोश, कुशरत्न आदि पर्यायें तन्तु की मान ली जावेंगी और तन्तु की पर्यायें मृतिका की मानली जावेंगी—यह इसका कारण है यह इसका कार्य है। इस प्रकार अव्यभिचरित कार्यकारण सम्बन्ध कैसे सिद्ध हो सकेगा। क्षेत्र प्रत्यासत्ति या काल प्रत्यासत्ति नियामक नहीं हो सकती है क्योंकि भिन्न २ सतानियों मे ये दोनों प्रकार की प्रत्यासत्तियां हैं। जैसे देवदत्त की आगे पीछे होने वाली पर्यायरूप सन्तानिए जिस स्थान में हैं उसी देश में यज्ञदत्त जिनदत्त की पर्यायरूप सन्तानिएं चल रही हैं एवं जिस समय में देवदत्त की सतानिरूप पर्यायें उत्पन्न हो रही हैं उसी समय जिनदत्त इन्द्रदत्त नरेशदत्त सुरेशदत्त आदि की पर्यायें

१ श्लोक वार्तिक के आधार से यह लिखा गया है।

परू सन्तानिएं चल रही हैं ।

अतः क्षेत्रकाल की प्रत्यासत्ति नियामक न होकर उल्टी इनमें संकरता लाती है। जिस प्रकार एक ही समय मे जौहरी की दुकान में आये हुए मोती चाहे जिस किसी भी माला में पिराये जा सकते हैं उसी प्रकार ये विवक्षित पर्याय रूप मोती एक द्रव्य प्रत्यासत्ति के अभाव में चाहे जिस अविवक्षित संतानी मे ढुलकाये जा सकते हैं । अतः ये इसी की पर्यायें हैं इसकी नहीं, यह सम्बन्ध का नियम नहीं बन सकता है । अत संतान अपनी सतानी रूपपर्याय से कथंचित् भिन्न है यह माने बिना कार्यकारणभाव आदि सम्बन्ध सिद्ध नही हो सकता । तथा इस संतान को यदि उपचरित माना जाय और उसके बल पर यह कहा जाय कि विवक्षित क्षणरूप सन्तति अमुक सतान की ही है अमुक की नहीं सो ऐसा भी नियम उपचरित संतान से नही वन सकता है । इसलिये सतान काल्पनिक नहीं है वास्तविक है ऐसा मानना चाहिये । इस मान्यता मे सर्वथा सांवृतत्त्व का उसमें अभाव आता है। दूसरे बात यह है कि जब संतान काल्पनिक मानी जायगी तो कल्पना भी तो विना मुख्यार्थ के नही होती है । संतान को लेकर ही तो प्रत्यभिज्ञानादिक कार्य प्रसूत होते हैं। वे सन्तान को काल्पनिक मानने में कैसे हो सकेंगे। माणवक में अग्नि का उपचार भी तभी तो होता हैं कि जब सत्यार्थ अग्नि है। तथा जिस प्रकार माणवक—बच्चे—में उपचरित अग्नि दाहपाकादिक कार्य में उपयुक्त नही होती है उसी प्रकार उपचरित सतान भी एकत्व आदि प्रत्यभिज्ञान को उत्पादक नहीं हो सकती है और न सन्तानियों में प्रति नियम का हेतु हो सकती है। अतः संतानियों में संकरदोष के परिहार निमित्त तथा एकत्व प्रत्यभिज्ञानादिक कार्योत्पत्ति के निमित्त संतान वास्तविक है ऐसा मानना चाहिये ।

चतुष्कोटेर्विकल्पस्य सर्वान्तेषूक्त्ययोगतः ।
तत्त्वान्यत्वमवाच्यं चेत्तयोः संतानतद्वतोः ।। ४५ ।।

अन्वय—सर्वान्तेषु चतुष्कोटेर्विकल्पस्य उक्त्ययोगतः तयोः संतानतद्वतोः तत्त्वान्यत्वं अवाच्यं (इति) चेत् —

अर्थ—समस्त धर्मों मे चतुष्कोटिरूप विकल्प के कहने का अयोग होने से उन संतान और सतानी के एकत्व और अनेकत्व धर्म अवाच्य हैं। यदि बौद्ध ऐसा कहते हैं तो—

भावार्थ—बौद्ध परपरा सतान नाम की कोई परमार्थभूत वस्तु है ऐसा नहीं मानती है। वह तो केवल उसे कल्पना का ही विषय अंगीकृत करती है। सतान मानने वालो के प्रति उसके ये चार विकल्प हैं संतान नाम का कोई यदि पदार्थ वास्तविक है तो वह कैसा है—क्या वह अपने संतानी से भिन्न है ? या अभिन्न है ? या उभयरूप है ? या अनुभयरूप है ? इस चतुष्कोटि विकल्प से उसकी वास्तविक स्थिति का पता नहीं पड़ता है। इस प्रकार संतान के अस्तित्व धर्म में ये चतुष्कोटि विकल्प उद्भूत होकर उसे आवच्यता के स्थान पर ला रखते हैं। संजयवेलट्टिपुत्र का ऐसा यही अभिप्राय ज्ञात होता है। उसने भी आत्मा एव परलोक आदि परोक्ष तत्त्वों के ऊपर इसी प्रकार के प्रश्नोत्तर के रूप में चतुष्कोटि विकल्प उद्भूत करके उनका कोई निश्चयात्मक रूप से विवेचन नहीं किया है—राहुल सांकृत्यायन ने " दर्शन दिग्दर्शन " के पृ० ४९६ वें में लिखा है कि संजयवेलट्टि पुत्र का यह मन्तव्य है—(१) है ! नहीं कह सकता। (२) नहीं है—(असत् है) —नहीं कह सकता। (३) है भी नही भी—नहीं कह सकता। (४) न है और न नहीं है—नहीं कह सकता। ये चतुष्कोटि विकल्प है। इसी तरह यहां भी यही कहा जाता है कि समस्त वस्तुधर्म सत्रूप है या असत् रूप हैं या उभयरूप है या अनुभयरूप है ? इन चार विकल्पों द्वारा भी इन धर्मों का कोई निश्चित कथन सिद्ध नहीं होता है-क्योकि यदि इन्हे सत्रूप ही माना जाय तो वस्तु से अभिन्न होने के वजह से वस्तु मे सर्वथा अस्तित्व ही रहेगा-अत त्रिकाल मे भी उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी और न उसका विनाश ही हो सकेगा। यदि वस्तु धर्म को सर्वथा असत् ही माना जाय तो इस पक्ष में शून्यता का प्रसग प्राप्त होगा। तथा च शून्यैकान्त की सिद्धि मानना पड़ेगी यदि वस्तुधर्म उभयरूप अंगीकार किया जाय तो इस परिस्थिति में " प्रत्येकपक्षे भवेद्दोषो द्वयोर्भावे कथ न सः " इस नीति के अनुसार उभयपक्ष प्रदत्त दोषों का अवतार यहां होगा। वस्तुधर्म को अनुभयरूप मानने पर किसी भी तरह का वहां विकल्प ही नहीं हो सकेगा। इसी तरह सत्त्व एकत्व आदि समस्त धर्म वस्तु से भिन्न है ? या अभिन्न है ? या

आ०
मी०
३०९

भिन्नभिन्न उभयरूप हैं ? या न भिन्न है न अभिन्न हैं-अनुभयरूप हैं ? यदि वस्तु के धर्मों को वस्तु से भिन्न मानने में आवे तो ये धर्म वस्तु के है इस प्रकार व्यपदेश ही नहीं हो सकता है। यदि उन्हें अभिन्न माना जाय तो ये इसके धर्म हैं और यह इन धर्मों का धर्मी है इस प्रकार की व्यवस्था नहीं बन सकती है। केवल वस्तुमात्र का या धर्ममात्र का ही सद्भाव सिद्ध हो सकेगा। उभय की मान्यता में उभय पक्ष के दोषों का अवतार होगा। तथा अनुभय पक्ष में वहां निरूपाख्यता आवेगी। इसलिये जो जो धर्म है वहां चतुष्कोटिरूप विकल्पों के कहने का अयोग है (योयो धर्मस्तत्रतत्र चतुष्कोटेविकल्पस्य वचनायोग) जिस प्रकार सत्त्व एकत्व आदि धर्मों मे इस चतुष्कोटी रूप विकल्प के कहने का अयोग है। सतान और सतानी में भी एकत्व और अनेकत्व ये धर्म हैं इसलिये वे भी, चतुष्टकोटि विकल्प वहां अकथनीय होने से कहे नहीं जा सकते हैं। अतः वे भी अवाच्य हैं। जब तत्त्व-एकत्व-और अन्यत्व की ये चतुष्कोटियां उनमें अवाच्य हैं तो इनको लेकर संतान और सतानी भी अवाच्य सिद्ध होते है।

मतलब इसका यह है कि बौद्ध कहते है कि प्रत्येक सत्त्व एकत्व आदि धर्म का विचार उनके चतुष्कोटिरूप विकल्पों से होता है। जैसे किसी वस्तु को एकत्व धर्म विशिष्ट या अनेकत्व विशिष्ट सिद्ध करना है तो इस पर चतुष्कोटि विकल्प इस प्रकार होगे--वस्तु का यह एकत्व धर्म सत् स्वरूप है या असत्स्वरूप है या उभय स्वरूप है या अनुभय स्वरूप है ? अथवा यह एकत्व धर्मवस्तु से भिन्न है या अभिन्न है या भिन्नाभिन्न--उभयरूप है ? इन चार विकल्पों का इस एकत्व धर्म की सत्ता स्वीकृति में कोई विवेचन नहीं हो सकता है। अतः यह एकत्वधर्म क्या है यह स्वयं अवाच्य कोटि में आ जाता है। जब यह एकत्वधर्म अवाच्य कोटि में आ गया तो इस एकत्व धर्म को लेकर जो विवक्षित पदार्थ का विवेचन करना होता है वह पदार्थ भी अवाच्य हो जाता है क्योकि जब धर्म अवाच्य है तो उसका धर्मी उसको लेकर वाच्य कैसे हो सकता है। यही बात प्रकृत संतान और 'संतानी के बारे में भी प्रकट की गई है। जब सतान और संतान के धर्म एकत्व और अनेकत्व चतुष्कोटि विकल्प की अकथनीयता में अवाच्य है तो इनको लेकर सतान और संतानी एक

अनेकरूप से वाच्य कैसे हो सकते १ हैं । अतः वे सर्वथा अवाच्य हैं उनके विषय मे कुछ कहा ही नहीं जा सकता है । इस प्रकार इस कारिका का यह बौद्धाभिमत अभिप्राय मुझे समझ मे आया है । तथा और भी कोई अभिप्राय हो तो विशेषज्ञविद्वान् जानें ।

अवक्तव्य चतुष्कोटि विकल्पोऽपि न कथ्यताम् ।
असर्वान्तमवस्तु स्यादविशेष्य विशेषणम् ॥ ४६ ॥

अन्वय—अवक्तव्यचतुष्कोटिविकल्प अपि न कथ्यताम् । (एव सति) असर्वान्तं अविशेष्यविशेषण अवस्तु स्यात् ।

अर्थ—अवक्तव्य मानने पर " चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है " ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । इस प्रकार पदार्थ समस्त धर्मों से रहित होकर विशेषण विशेष्यभाव से भी रहित होता हुआ अवस्तु रूप ठहरता है ।

भावार्थ-कारिकाकार इस कारिका द्वारा ४५ वी कारिका में कथित एकान्त बौद्धाभिप्राय का निराकरण करते हैं वे कहते हैं कि जब तुम्हारी यह एकान्तरूप से मान्यता है कि प्रत्येक धर्म को चतुष्कोटि का उसमें सर्वथा कथन करने का अयोग है (यो यो धर्मस्तत्र तत्र चतुष्कोटेर्विकल्पस्य वचनायोग अ० श०) अर्थात् चतुष्कोटिरूप विकल्प सर्वथा अवक्तव्य है तो ऐसी परिस्थिति मे " चतुष्कोटि विकल्प अवक्तव्य है" ऐसा वचन भी नहीं कहा जा सकता २ । क्योंकि इस प्रकार से कहने पर उसमें सर्वथा अवक्तव्यता नही रहती है किन्तु वक्तव्यता आजाती है । जैसे कोई मौनी व्यक्ति भोजन करते हुए दूसरों को अपना मौनभाव समझाने के लिये ऐसा कहे कि मै भोजन में मौनव्रत रखता हूं । इस प्रकार सर्वथा अवक्त-

---

१ सत्त्वैकत्वादिषु सर्वधर्मेषु सदसदुभयादि चतुष्कोटेरभिधातुमशक्यत्वात् सतानतद्वतोरपि भेदाभेदोभयानुभयचतुष्कोटे रनभिलाप्यत्वम् (अ० श०)

२न हि सर्वथाऽनभिलाप्यत्वेऽनभिलाप्यचतुष्कोटेऽभिधेयत्वयक्त कथचिदभिलाप्यत्व प्रसगात् । अष्टशती ।

व्यता में जब " चतुष्कोटिविकल्प अवक्तव्य है " ऐसा वचन ही नहीं कहा जा सकता है तब दूसरों को यह बात समझाई भी कैसे जा सकेगी। अतः इस हालत में सर्वथा मौन रखना ही उपयुक्त होगा। " अपिचैवं सति सर्वविकल्पातीतं अवस्त्वेव स्यात् (अ० श०) जब परप्रत्यायन ही नही होगा तो वस्तु के स्वरूपादिक का बोध पर को कैसे हो सकेगा। अतः वह सर्वविकल्पो से अतीत होती हुई खरविषाण की तरह अवस्तुरूप ही हो जायगी। यद्यपि अवक्तव्य स्वरूप वस्तु का आर्हत दर्शन ने भी स्वीकार किया है। परन्तु वह उसमें एकान्तरूप से नहीं माना गया है, किसी अपेक्षा से ही माना गया है। इस प्रकार सर्वथा अवक्तव्य मानने पर वस्तु किसी भी प्रकार के विकल्प की विषय नहीं हो सकती है। विकल्पातीत होने पर " वह क्या है कैसी है " इत्यादिरूप से निर्णीति के अभाव में वहां खरविषाण को तरह अवस्तु स्वरूपता ही प्रसक्त होगी। इस अवस्तुरूपता की प्रसक्ति मे सर्व धर्मों से रहित होती हुई वह विशेषण विशेष्य भाव से भी रहित हो जायगी। विशेषण विशेष्य भाव से रहित वस्तु है इस प्रकार का प्रतिभासन प्रत्यक्ष में तो होता नहीं है। स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी विकल्पबुद्धि में विशेषण विशेष्य भाव से युक्त ही प्रतिभासित होता है। इससे रहित नहीं। अत सर्वथा असत् वस्तु विशेषण विशेष्य भाव से भी रहित होती है यह मानना ही चाहिये। वहां विशेषण विशेष्य भाव का प्रतिषोध नही किया जाता हैं। किन्तु वह तो स्वभावत ही उससे रहित होती है। जहां विशेषण विशेष्य भाव का प्रतिषेध किया जाता है। वहा अवस्तु रूपता नहीं है किन्तु वस्तुस्वरूपता है।

द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः संज्ञिनः सतः।
असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधिनिषेधयोः ॥ ४७ ॥

अन्वय — सतः संज्ञिनः द्रव्याद्यन्तरभावेन निषेधः (क्रियते) असद्भेद भावस्तु विधिनिषेधयो स्थान न (भवति)

अर्थ — सत्ताविशिष्ट [1] संज्ञी—पदार्थ—का ही द्रव्यान्तर आदि की अपेक्षा लेकर निषेध किया जाता है। असत्

[1] द्रव्यक्षेत्रकालभावान्तरैः प्रयिषेधः संज्ञिन सत. क्रियते न पुनरसत तद्विधिप्रतिषेधाविषयत्वात् (अष्ट शती)।

पदार्थ का नही क्योकि वह तो विधि और निषेध का स्थान ही नहीं होता है।

भावार्थ—कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह बात घोषित कर रहे हैं कि जो सर्वथा असत् होता है उसमें विशेषण विशेष्यत्व के प्रतिषेध का अयोग है। विशेषण विशेष्य भाव का प्रतिषेध तो सत्ताविशिष्ट पदार्थ के ही होता है। प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव की अपेक्षा से ही सत् माना गया हैं परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एव परभाव की अपेक्षा से नही। उसकी अपेक्षा से वह असत्माना जाता है। इसलिये स्वद्रव्यादिरूप विशेषण की अपेक्षा से सत्ता विशिष्ट विशेष्य--पदार्थ--ही पर द्रव्यादिरूप विशेषणों द्वारा प्रतिषेध का विषय होता है। जो सर्वथा असत् स्वरूप है उसकी न विधि होती है और न प्रतिषेध ही होता है। विधि एव प्रतिषेध सत्पदार्थ में हुआ करते हैं। विधिपूर्वक ही प्रतिषेध होता है। पर द्रव्यादिक की अपेक्षा से जिस प्रकार पदार्थ का प्रतिषेध किया जाता है उसी प्रकार यदि स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा से भी असत्व पदार्थ मे माना जायगा तो पदार्थ की विधि ही नहीं हो सकती। जब विधि नहीं है तो फिर निषेध कैसा। इसलिये जिस की स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा विधि है उसी का परद्रव्यादिक की अपेक्षा निषेध होता है। जब यह निश्चित सिद्धान्त है तो न कोई सर्वथा अनभिलाप्य है और न कोई सर्वथा विशेषण विशेष्यभाव से रहित है। जो किसी अपेक्षा अभिलाप्य है वही किसी दूसरी अपेक्षा उसके प्रतिषेध से अनभिलाप्य हो जाता है। जो स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा से विशेषण विशेष्यात्मक है वही परद्रव्यादिक की अपेक्षा से विशेषण विशेष्यात्मक है वही परद्रव्यादिक की अपेक्षा से अविशेष्य विशेषणात्मक है। इसलिये जब समस्त सत्ता विशिष्ट पदार्थ कथचित् अभिलाप्य और कथंचित् विशेष्य विशेषण सहित हैं, तब एकान्त से न कोई अनभिलाप्य है और न कोई विशेषण विशेष्यभाव से रहित ही है। इस पर यों नहीं कहा जा सकता कि जो अभिलाप्य है वह अनभिलाप्य कैसा और जो विशेषण विशेष्य भाव से सहित है वह उससे रहित कैसा (न चैतद्विरुद्धं स्वलक्षणमनिर्देश्यमित्यादिवत् (अ० श०) " क्योंकि ऐसा कहना तो विरुद्ध है। कारण कि जिस तरह स्वलक्षण अपने असाधारण स्वरूप की अपेक्षा अनिर्देश्य होकर भी " अनिर्देश्य इस शब्द के द्वारा अनिर्देश्य नहीं माना गया है इसके द्वारा तो वह निर्देश्य हो जाता है, नहीं तो वह स्वरूप की तरह यदि वचन से भी

अनिर्देश्य माना जाय तो " स्वलक्षणमनिर्देश्यं " इस प्रकार का उसमें शाब्दिक व्यापार ही नहीं हो सकता। उसी तरह " प्रत्यक्ष को स्वरूप की अपेक्षा से कल्पना से रहित होने पर भी कल्पना पोढ इस कल्पना की अपेक्षा उसे कल्पना से रहित नहीं माना गया है अन्यथा " प्रत्यक्षं कल्पनापोढम् " इस प्रकार की वहां कल्पना नहीं हो सकती है। उसी तरह जो किसी अपेक्षा अभिलाप्य एवं विशेषण विशेष्यभाव वाला है वही किसी दूसरी अपेक्षा से अनभिलाप्य एव अविशेषण विशेष्य भाववाला हो जाता है। इसमें विरोध होने जैसी बात ही क्या है। भाव वाची शब्दों द्वारा अथवा अभाववाची शब्दों द्वारा एकान्ततः भाव और एकान्ततः अभाव ही कहा जाता है ऐसा एकान्त नियम नहीं बन सकता—अन्यथा शाब्द व्यवहार का विरोध हो जायगा। इसीलिये प्रत्येक भावाभावात्मक शब्द प्रधानगुण भाव से स्व अर्थ के अभिधायक माने गये हैं और इसी रूप से ही प्रवृत्ति निवृत्ति मे अविसवाद की सिद्धि होती है। इसलिये यह मानना चाहिये कि कथंचित् सद्विशेषात्मक पदार्थ ही विधि और निषेध का अधिकरण होता है। सर्वथा असत् पदार्थ नहीं। इसलिये आचार्य महाराज कारिकाकार का यह "असर्वान्तमवस्तु स्याददिशेष्य विशेषणम्" कथन सर्वथा समीचीन है। क्योकि समस्तधर्मों से रहित पदार्थ सर्वथा अवस्तुरूप है।

अवस्त्वनभिलाप्यं स्यात् सर्वान्तैः परिवर्जितम्।
वस्त्वेवा वस्तुतां याति प्रक्रियाया विपर्ययात् ॥४८॥

अन्वय—सर्वान्तैः परिवर्जितं अवस्तु अनभिलाप्यं स्यात्। प्रक्रियायाः विपर्ययात् वस्तु एव अवस्तुतां याति।

अर्थ—समस्त धर्मों से जो रहित है वह अवस्तु है और वही आनभिलाप्य है। प्रक्रिया के विपर्यय से वस्तु ही अवस्तु रूपता को प्राप्त हो जाती है।

भावार्थ—जो समस्त धर्मों से रहित होता है वह धर्मिस्वभाव नहीं हो सकता है इसलिये वह अवस्तु रूप ही माना जाता है। क्योकि ऐसा पदार्थ किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता है। इसीलिये वह अनभिलाप्य है जो प्रमाण

से परिनिष्ठित होता है वह सर्वथा अनभिलाप्य नहीं होता है यदि बौद्ध यहां पर ऐसा कहें कि " स्याद्वादियों ने तो कोई ऐसी वस्तु मानी ही नहीं है जो समस्त धर्मों से रहित होकर अवस्तु स्वरूप हो और फिर वह अवक्तव्य हो अतः ऐसा कहना कि " सर्वान्तों--समस्त धर्मों--से परिवर्जित तत्त्व अवस्तु है और वह अनभिलाप्य है ठीक नहीं है " इसके समाधान निमित्त टीकाकार कहते हैं कि " तदपि सर्वान्तैः परिवर्जितमवस्तु परपरिकल्पनामात्रादभिधीयते (अ० स०) हम जो ऐसा कहते हैं वह अपनी तरफ से नहीं कहते हैं किन्तु दूसरों की कही हुई बात को लेकर कहते हैं। हमने तो अवस्तु मानकर भी उसे सर्वधर्मों से परिवर्जित नही माना है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र स्वकाल एवं स्वभाव की अपेक्षा जो तत्त्व वस्तु स्वरूप है वही परद्रव्य परक्षेत्र परकाल एव परभाव की अपेक्षा अवस्तु स्वरूप हो जाता है। इसी का नाम प्रक्रिया की विपरीतता है। समस्त धर्मों से परिवर्जित वस्तु अवस्तु हो जाती है ऐसा कथन तो हमनें पर वादियों की मान्यता को लेकर किया है। क्योकि जब समस्त धर्मों से रहित वस्तु मानी जायगी तो वह सकल विकल्पातीत होने से अभिलाप्य नहीं हो सकती है ऐसा परवादियों का कहना है उसी को लेकर यह बात यहां कही गई है "न पुनः प्रमाण-सामर्थ्यात् " (अ० स०) प्रमाण की सामर्थ्य से नहीं। प्रमाण की सामर्थ्य से तो जो वस्तु होती है वह अवस्तु हो जाती है और जो अवस्तु होती है वह वस्तु हो जाती है। वस्तु १ अवस्तु हो जाती है इसका मतलब यह है कि जैसे स्वरूपतः स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा से--अस्तित्वविशिष्ट घट अन्य दूसरे घट की अपेक्षा अघट मानलिया जाता है उसी तरह स्वरूपत- सिद्ध सत् असत् आदि अनेक धर्मविशिष्ट विवक्षित वस्तु भी अन्य किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा से अवस्तु स्वरूप कह दी जाती है इस प्रकार द्रव्य क्षेत्रादिक की अपेक्षा प्रक्रिया के विपर्यय से वस्तु को ही अवस्तु मान लिया गया है। शून्य स्वरूप को नहीं। इसी तरह पररूपादिक की अपेक्षा जिसे अवस्तु कह दिया जाता है वही स्वरूपादिक की अपेक्षा वस्तु हो जाता है।

बौद्ध यदि इस पर यों आक्षेप करें कि वाह ! आपने अवस्तु को साबित करने के लिये यह मार्ग खूब निकाला

१ "भावाभिधानैरपि कथंचिदभावाभिधानात्"—अष्टशती। पाना १६७ वें

कि जो किसी अपेक्षा वस्तु है वही अन्य दूसरी अपेक्षा अवस्तु हो जाता है भला जब वस्तु और अवस्तु परस्पर परिहार
स्थिति लक्षण विरोध वाले हैं तो जो वस्तु स्वरूप होगा वही अवस्तु स्वरूप कैसे तथा जो अवस्तु स्वरूप होगा वह वस्तु स्व-
रूप कैसे हो सकता है सो इस प्रकार का आक्षेप भो ठीक नहीं है कारण कि एक वाक्यता को प्राप्त हुए अभाववाची शब्दों
के द्वारा भी भाव–पदार्थ–का कथन किया जाता है। जैसे किसी ने कहा कि "अब्राह्मणं आनय" अब्राह्मण को लाओं
इस वाक्य में ब्राह्मण पदार्थ के अभाव को कहने वाला अब्राह्मण शब्द अपने अर्थ से भिन्न जो क्षत्रियादिक भावात्मक
आ० पदार्थ हैं उनका वाचक होता हैं उसी प्रकार अवस्तु यह शब्द भी वस्तु के अभाव का कथन करने वाला है फिर भी अपने
मी० से भिन्नभाव स्वरूप अन्यवस्तु का वाचक होता है। जैन सिद्धान्त में अभाव को तुच्छाभावस्वरूप नहीं माना गया है
३१६ किन्तु भावान्तर स्वरूप माना है। इसलिये कारिकाकार का यह कथन कि जो सर्व धर्मों से रहित होता है वह अवस्तु
है एवं जो "अवस्तु तदनभिलाप्यं यथान किञ्चित् यत्पुतरभिलाप्य तद्वस्त्वेव यथा खपुष्पाभावः" (अ० श०) अवस्तु
है वह सकल विकल्पातीत होने से अनभिलाप्य है। जैसे शून्य। तथा जो अभिलाप्य होता है वह वस्तु स्वरूप ही है जैसे
खपुष्पाभाव। आकाश में पुष्प का अभाव स्वयं आकाश स्वरूप होने से खपुष्पाभाव यह उदाहरण साध्य[1] विकल नहीं
है। क्योंकि लोक मे यह सुप्रतीत है कि किसी की केवलता अन्य की विकलता है। इस नियम के अनुसार आकाश की
केवलता ही पुष्पाभाव–पुष्प की विकलता स्वरूप है। अत खपुष्पाभाव यह दृष्टान्त साध्य विकल कैसे हो सकता हैं।
पदार्थ में भावात्मकता और अभावात्मकता रूप उभय स्वरूपता स्वभाव और परभाव से युगपत् स्थितरही हुई है। पदार्थ
न तो केवल भावात्मक ही है और न केवल अभावात्मक ही। यदि केवल पदार्थ में भावात्मकता ही मानी जायगी तो
पररूप–अन्य अविवक्षित पदार्थ की अपेक्षा भी उसमें भावात्मकता का प्रसग मानना पड़ेगा तथा च एक ही पदार्थ सर्वा-
त्मक हो जायगा। यदि उसमें पररूप की अपेक्षा केवल अभावात्मकता ही मानी जायेगी तो स्वरूप की अपेक्षा भी उसमें
अभावात्मकता मानने का प्रसंग उपस्थित होगा–परन्तु ऐसा होता नहीं है। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि अपना

१ अनुमान प्रयोग इसप्रकार है स्याद्वाद्यभ्युपगतोऽभावः वस्तु अभिलाप्यत्वात् खपुष्पाभाव. (अ० स० टि)

अस्तित्व ही पररूपका अभावस्वरूप है अथवा पररूप से अभाव ही स्वात्मना अस्तित्वस्वरूप है क्योंकि अपेक्षणीय निमित्तकी अपेक्षा भाव और अभाव में भेद माना गया है । समस्त पदार्थ स्वद्रव्यादिकरूप निमित्त की अपेक्षा करके भावप्रत्यय के तथा परद्रव्यादिकरूप निमित्त की अपेक्षा करके अभाव प्रत्यय के जनक होते हैं । अत एक ही वस्तु में भाव और अभाव का भेद अवस्थित माना जाता है इसलिये स्वरूप से भाव ही पररूप की अपेक्षा आभाव तथा पररूप की अपेक्षा अभाव ही स्वरूप से भाव है ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योकि जव भाव और अभाव के निमित्त भिन्न२ है तो पदार्थ गत भाव और अभाव धर्म भी भिन्न२ हैं ।

अत· पदार्थ स्वभाव--स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा भावस्वरूप--अस्तित्व विशिष्ट एवं परद्रव्यादिक की अपेक्षा अभाव स्वरूप है जब यह व्यवस्था है तो जो वस्तु है वही प्रक्रिया की विपरीतता से अवस्तुस्वरूप मानी जाती है । एतावता वह सब धर्मों से रहित नहीं हो सकती । जो सव धर्मों से रहित होगी वह अवस्तु है और अवक्तव्य है । इस प्रकार यह कारिकोक्त अर्थ है ।

सर्वान्ताश्चेदवक्तव्यास्तेषां किं वचनं पुनः ।
संवृतिश्चेत्मृषैवैषा परमार्थ विपर्ययात ॥४९॥

अन्वय—(परेषां) चेत् सर्वान्ता अवक्तव्या तेषां पुनः वचनं किम् चेत् सवृतिः परमार्थ विपर्ययात् एषा मृषा एव (अभ्युपगन्तव्या) ।

अर्थ—क्षणिकैकान्त बौद्धों को मान्यता अनुसार यदि समस्त धर्म सर्वथा अवक्तव्य हैं ऐसा स्वीकार किया जाय तो ऐसी स्थिति में उनका धर्म देशनारूप वचन तथा परार्थानुमानरूप साधनदूषण वचन कहना निरर्थक हो जाता है । यदि कहा जाय कि धर्म देशनारूप अथवा परार्थानुमानरूप वचन संवृतिस्वरूप है तो यह सवृति परमार्थ से विपरीत होने के कारण झूठी ही है ऐसा स्वीकार करना चाहिये ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार बौद्धमत की मान्यता का ही विचार कर रहे हैं जैसा कि उन्होंने ४५ वीं कारिका द्वारा यह कहा था कि प्रत्येक धर्म का उनकी चतुष्कोटियों द्वारा विचार नहीं हो सकता अतः वे सर्वथा अवक्तव्य हैं । इसी के ऊपर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि जब धर्म सर्वथा अवक्तव्य -सकलवागोचरातिक्रान्त-हैं तो फिर उन धर्मों का कथन करना तथा उनके द्वारा स्वपक्षका साधन करना या परपक्ष का दूषण करना यह बात कैसे हो सकती है क्षणिक सिद्धि के लिये जो 'सत्त्वात्' इत्यादिरूप से तर्क का प्रदर्शन किया जाता है कि और यह कहा जाता है कि "सर्वथा नित्ये क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाविरोधात्" कि सर्वथा नित्य पदार्थ में क्रम से अथवा यौगपद्य रूप से अर्थक्रियाकारिता नहीं आती है सो यह सब कथन स्ववचन बाधित होता है। कारण कि जब धर्म सर्वथा अवक्तव्य हैं तो इस प्रकार से उनका कथन नहीं हो सकता है। अतः इस हालत में तो यही श्रेयस्कर है कि मौन ही रखा जाय कुछ भी न कहा जाय । यदि इस पर यों कहा जाय कि यह कहना तुम्हारा इसलिये उचित नहीं है कि इस हालत में फिर दूसरों को समझाना नहीं बनता है। अतः पर प्रत्यायन के लिये ऐसा करना ही पड़ता है जैसे कोई मौनी ऐसा कहे कि मेरे मौन है यद्यपि उसका ऐसा कहना मौन से विरुद्ध पड़ता है फिर भी पर प्रत्यायन के लिये ऐसा कहना ही पड़ता है। इसी प्रकार धर्मों की सर्वथा अवक्तव्यता में भी पर प्रत्यायन अथवा स्वपर पक्ष का साधन दूषण रूप कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता इसलिये उसको सम्पन्नता निमित्त उनका प्रयोग रूप वचन करना ही पड़ता है इसी का नाम उपचार संवृति-है । अतः इस संवृति द्वारा अवक्तव्य भी धर्म वचन द्वारा वक्तव्य हो जाते हैं । सो इस पर कारिकाकार का उनसे यह कहना है कि यह संवृतिरूप उपचार परमार्थ से विपरीत होने के कारण मृषा स्वभाव ही माना जाता है। कल्पना -संवृति-उपचार वहीं किया जाता है जहां वास्तविकता नहीं होती । अतः जब धर्मों में सर्वथा अवक्तव्यता ही है तो उनमें कल्पना से-संवृति से-वक्तव्यता नहीं आ सकती है । ऐसी स्थिति में कहे जाने पर भी वे अनुक्तसम होने से उनसे न तो पर प्रत्यायन हो सकेगा और न स्वपर का साधन दूषण ही । अतः मौन ही ऐसी स्थिति में श्रेयस्कर

माना जायगा। कुछ भी नही बोलना चाहिये। इसलिये धर्म सर्वथा अवक्तव्य ही है ऐसा दुरभिनिवेश युक्तियुक्त [1] नहीं है।

अशक्यत्वादवाच्यं किमभावात् किमबोधतः।
आद्यन्तोक्तिद्वयं न स्यात् किं व्योजनोच्यतां स्फुटं॥ ५० ॥

अन्वय-किं अशक्यत्वात् अवाच्यं (आहोस्वित्) अभावात् किं अबोधत। आद्यन्तोक्तिद्वय न स्यात् व्याजेन किं स्फुटं उच्यताम्।

अर्थ--"पदार्थ सर्वथा अवक्तव्य है" ऐसा जो कहा जाता है सो क्यों? क्या वक्ता में उसके प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं है इसलिये, या उसका अभाव है इसलिये, अथवा उसका ज्ञान नहीं है इसलिये। इन तीन विकल्पों में से आदि और अन्त के पक्ष तो बनते नही हैं। इसलिये छल से काम चलने का नहीं यह स्पष्ट रूप से कहो कि पदार्थ का अभाव है। इसलिये वह अवक्तव्य है।

भावार्थ--अवक्तव्यवादी बौद्ध से कारिकाकार यह पूछ रहे है कि जो तुम सर्वथा एकान्त अवक्तव्य पक्ष मानते हो उसका कारण क्या? क्या वक्ता में पदार्थ प्रतिपादन करने की शक्ति नहीं इसलिये। सो यह बात तो मानी नहीं जा सकती कारण कि सुगत में क्षमा, मैत्री, ध्यान, दान, वीर्य, शील, प्रज्ञा, करुणा, उपाय, एवं प्रमोद, ये दश बल माने गये हैं। अतः अशक्ति की बात तो वहां सभवित होती नही है। यदि कहा जाय कि पदार्थों का उन्हे अबोध है-अज्ञान है-सो यह बात भी नहीं बनती है। क्योकि बुद्ध सर्वज्ञ हैं ऐसी मान्यता उनके अनुयायियों की है। इसलिये इन दो पक्षों की अपेक्षा तो पदार्थों में अवक्तव्यता घटित होती नहीं है। रहा अब बीच का तीसरा पक्ष सो यदि उसको लेकर ऐसा कहा जाय कि "अर्थस्याभावादेवा वाच्यत्वं" पदार्थ के अभाव से ही वहां अवाच्यता है तो ऐसा कथन

---

१ सवृति का क्या अर्थ है इस बात का विचार टीकाकार ने किया है। अतः यह विषय वहा से देख लेना चाहिये।

"नैरात्म्यान्न विशेष्येत" नैरात्म्यवाद से भिन्न नहीं पड़ता है-इस कथन से नैरात्म्यवाद की ही पुष्टि होती है। चाहे तो ऐसा कहा जाय कि पदार्थ के अभाव से वह अवाच्य है और चाहे ऐसा कह दिया जाय कि शून्य होने से पदार्थ अवाच्य है। इस प्रकार अवक्तव्य पक्ष और शून्य पक्ष में कोई भेद नही रह जाता है। यदि शून्यता प्रसक्ति दोष को वारण करने के अभिप्राय से बौद्ध ऐसा कहे कि "अशक्यसमयत्वादनभिलाप्यमर्थरूपमिति (अ० श०)" कि पदार्थ का स्वरूप ऐसा है कि उसमें सकेत नहीं हो सकता है इसलिये वह अनभिलाप्य शब्द का विषय होता है सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कारण कि किसी अपेक्षा वहां संकेत होता है। अर्थ रूप दृश्य और विकल्प्य के भेद से बौद्ध सिद्धान्त में दो प्रकार का माना गया है निर्विकल्पक ज्ञान के विषयभूत स्वलक्षण को दृश्य-विशेष्यरूप एवं विकल्प के विषयभूत सामान्य को को विकल्प्य रूप बौद्धो ने माना है। इनमें क्षण क्षण रूप जो स्वलक्षण अर्थ है उसमें यद्यपि सकेत शक्य नहीं है। तो भी सामान्य रूप की अपेक्षा पदार्थ मे सकेत किया जा सकना है।

जिस प्रकार पदार्थ का रूप विशेष है उसी प्रकार सामान्य भी है। वस्तु का स्वरूप ही सामान्य विशेषात्मक है। वस्तु न केवल सामान्यात्मक है और न केवल विशेषात्मक, किन्तु कथंचित् उभयात्मक जात्यन्तर रूप है। इसलिये किसी अपेक्षा पदार्थ रूप मे सकेत शक्य होने से वहां सर्वथा अवक्तव्यता नहीं मानी जा सकती। यदि इस पर बौद्ध यों कहें कि शब्द का विषयभूत जो सकेतित अर्थ है वह क्षणिक होने से व्यवहार काल तक तो रह नहीं सकता है अतः उस समय उस अर्थ को कहने वाले शब्द में संकेतित काल के अर्थ की वाचकता कैसे मानी जा सकती है क्योकि जिस समय जिस पदार्थ मे सकेत किया था वह पदार्थ तो एक क्षण बाद विनष्ट हो चुका और जो पदार्थ शब्द द्वारा कहा जा रहा है वह ऐसा है कि जिसमें सकेत किया नहीं गया है सो बौद्ध द्वारा इस प्रकार की भिन्नकालता का प्रदर्शन प्रत्यक्ष के विषय में भी समान माना जा सकता है। यदि इस पर यो कहा जाय कि प्रत्यक्ष और पदार्थ में भिन्नकालता होनेपर भी प्रत्यक्ष मे कोई विवाद नहीं आता है क्योकि प्रत्यक्ष से पदार्थ को जानकर उस ज्ञान अर्थ में प्रवृत्ति करने वाला प्रतिपत्ता जब उस अर्थ की ओर प्रवृत्ति करता है तो उस समय उसे वहां ज्ञान पदार्थ से भिन्न पदार्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती

है अतः इस अविपरीत प्रतिपत्ति से वह प्रत्यक्ष में प्रमाणता जान लेता है तो इसी प्रकार प्रतिपत्ता शब्द से अर्थ को जान कर उसमें प्रवर्तमान होता हुआ अविपरीत प्रतिपत्ति वाला होने से यह जान लेता है कि शब्द अपने अर्थ को यथार्थ रूप में कहता है। भिन्न अर्थ—असंकेतित अर्थ—को नहीं। यदि किसी २ विकल्प बोध से कभी २ विपरीत भी प्रतिपत्ति हो जाती है तो इसका मतलब यह नहीं होता कि यावन्मात्र विकल्प से विपरीत प्रतिपत्ति ही होती है। किसी २ प्रत्यक्ष से भी कभी २ विपरीत प्रतिपत्ति हो जाती है तो क्या इससे समस्त प्रत्यक्षों को दूषित ठहराया जा सकता है। अतः शब्द जब अर्थ का प्रतिपादक है तो फिर उसे अवाच्य मानना न्याय संगत नहीं है। यदि फिर भी सर्वथा अवाच्य पदार्थ माना जाता है तो इसका मतलब भी यही होता है कि नैरात्म्यवाद में और इस अवक्तव्यवाद में कोई भी अन्तर नहीं रहता है। यही बात कारिका द्वारा प्रदर्शित की गई है।

हिनस्त्यनभिसंधातृ न हिनस्त्यभिसंधिमत् ।
बद्ध्यते तद्द्वयोपेतं चित्तं बद्धं न मुच्यते ॥ ५१ ॥

अन्वय—अभिसंधिमत् चित्तं न हिनस्ति अनभिसंधिमत् हिनस्ति। तद्द्वयोपेतं बध्यते, बद्धं न मुच्यते।

अर्थ—जिस चित्त ने दूसरों को मारने का अभिप्राय किया है वह तो क्षणिक होने के कारण उन्हें मारता नहीं है। जिसने मारने का अभिप्राय नहीं किया वह मारता है। इन दोनों से भिन्न तीसरा ही चित्त बंधता है और जो बंधा है वह बंध से छूटता नहीं है कोई और ही चित्त छूटता है। इस प्रकार यह कृतनाश और अकृताभ्यागम दोषों की दुर्निवार प्रसक्ति इस निरन्वय क्षणिक एकान्त पक्ष में बनती १ है।

---

१ कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगौ स्यातामसंचेतितकर्म च स्यात् ।
आकस्मिकेऽर्थे प्रलयस्वभावे मार्गो न युक्तो वधकश्च न स्यात् ॥ —युक्त्यनु शा० १४ ।

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोगभवप्रमोक्षस्मृतिभंगदोषान् ।
उपेक्ष्य साक्षात् क्षणभंगमिच्छन्नहो महासाहसिकः परस्ते ॥ —स्याद्वाद मंजरी १८।

भावार्थ-कारिकाकार निरन्वय क्षणिक एकांत पक्ष का ही विचार करते चले आ रहे हैं । वे कहते हैं कि जब क्षणिक एकान्तपक्ष की मान्यता मे पदार्थ का समूल विध्वस हो जाता है तो यह स्वाभाविक बात है कि जिस चित्तने जिस क्षण में किसी दूसरे को मारने का सकल्प किया वह चित्त सकल्प करने के साथ ही उसी क्षणमें मूलतः विनष्ट हो गया अब उत्तरक्षण में जो द्वितीय चित्त हुआ है उसने पहिले मारने का संकल्प तो किया नहीं है अत विना संकल्प के ही उसने दूसरे को मारा है । यदि इस पर बौद्ध यों कहें कि पूर्वचित्त और उत्तरचित्त में वास्यवासक भाव माना गया है इसलिये पूर्वचित्त उत्तरचित्त की वासना माना गया है इससे पूर्वचित्त की वासना उत्तरचित्त में चली जाती है अथवा पूर्वचित्त की संतान उत्तरचित्त माना जाता है, इस अपेक्षा कृतनाश और अकृत अभ्यागम जैसे दोषों का संभव यहां नहीं हो सकता है । सो ऐसा बौद्धों का कथन ठीक नहीं माना जा सकता है । कारण कि निरन्वयविनाश पक्ष में न तो परमार्थत संतान की सिद्धि होती है और न वासना का ही सद्भाव साबित होता है ।

यदि इनकी सिद्धि या सद्भाव माननेमे आजावे तो फिर एकान्त क्षणिकपक्ष का आग्रह नहीं ठहरताहै । अतः यह मानना ही पडेगा कि जिसने मारने का विचार किया वह तो नष्ट हो गया इसी का नाम कृतप्रणाश है एवं जिसने उसे मारने का सकल्प ही नहीं किया इसका नाम अकृत अभ्यागम है । इस प्रकार कृतप्रणाश और अकृत अभ्यागम ये दोष इस क्षणिक एकान्त पक्ष से उद्धरित नहीं हो सकते । इसी तरह जिसने -तृतीयचित्त ने-न मारने का संकल्प किया और न न मारने का संकल्प किया है-इन दोनों चित्तों से जो सर्वथा जुदा है-उस विचारे को हिंसा जन्य पापका बधक मानना पडेगा, क्योकि मारने वाला और न मारने वाला -केवल संकल्प करने वाला-ये दोनों ही क्षण २ मे विनष्ट हो चुके हैं तृतीय क्षण में जो तृतीयचित्त हुआ है हिंसा का बध उसे होगा । अब जिसने हिंसाजन्य पाप का बध किया है वह चित्त भी क्षण में विनष्ट हो गया अब चतुर्थक्षण मे जो चतुर्थचित्त उत्पन्न हुआ हैं उसके उस पाप की निर्विमुक्ति होगी इस प्रकार "इति कर्तव्यतासु चिकीर्षाविनाशात् कर्तुरचिकीर्षत्वात् तदुभयविनिर्मुक्तस्य बन्धात्तद्-विनिर्मुक्तेश्च यमनियमादेरविधेयत्वं, कुर्वतो वा यत्किंचनकारित्वं प्रत्येतव्यं अ० श०" हिंसा करने का परिणाम जिसने किया है वह विनष्ट हो गया जिसने नहीं किया उसने हिंसा करी, इन दोनों से भिन्न के बध हुआ और छूटा और

ही चौथा चित्त । इस प्रकार कृतनाश अकृताभ्यागम रूप दोषों की प्रसक्ति का वारण कथमपि नहीं हो सकता १ है। अनेकान्तवादियो के ऊपर ये दोष लागू इसलिये नहीं होते है कि यद्यपि अनेकान्तवाद में भी प्रतिक्षण वस्तु का स्वभाव परिवर्तनशील माना गया है परन्तु मूलतः द्रव्य का विनाश नहीं माना है। पर्यायो में प्रतिक्षण उत्पाद एव व्यय होने पर भी द्रव्य का ध्रौव्य रूप अगीकार किया है। इसलिये चाहे जितने भी उत्पाद व्यय होते रहें सब में द्रव्य का अन्वय

आ० बना रहता है । इस अपेक्षा जो हिंसा की अभिसंधिवाला होगा उसी के हिंसा कर्म करने से हिंसा जन्य पाप का बंध

मी० होगा और कालान्तर में वही उस बध से मुक्त होगा।

३२३ बौद्ध—जिस प्रकार अनेकान्तवाद में एक द्रव्य का अन्वय उसकी उत्तरोत्तर पर्यायों में मानकर इन दोषों का अभाव दिखलाया जाता है उसी प्रकार हम क्षणिकवादियों के मत में भी एक संतान नाम की वस्तु मानी गई है इसकी वजह से पूर्व पूर्व की वासना से उपहित उत्तरोत्तर चित्तविशेष की उत्पत्ति होती रहती है इसलिये यहां भी कैसे इन दोषों का प्रसंग प्राप्त हो सकता है।

जैन—ऐसा कहना बौद्धों का उचित नहीं है। कारण कि बौद्ध सिद्धान्त में संतान मानकर भी उसे वास्तविक नहीं माना गया है। सतान की अवास्तविकता मे वास्यवासक भाव भी पूर्वोत्तर क्षणों में नहीं सभवित होता है। पूर्वोत्तरचित्त क्षणों में वास्यवासक भाव को अथवा सतान को नियमित करने के लिये जो वहां व्यभिचार विनिर्मुक्त

१ कृतनाश और अकृताभ्यागम इन दोनो जगह में 'कर्म' पद लगा देने की सूचना स्याद्वादमजरीकार ने दी है-वह पाठ इस प्रकार है -येन ज्ञानक्षणेन सदनुष्ठान असदनुष्ठान वा कृत तस्य निरन्वयविनाशान्न तत्फलोपभोगः, यस्य च फलोपभोगः तेन तत्कर्म न कृतम् इति प्राच्यज्ञानक्षणस्य अकृतकर्मभोग· स्वयमकृतस्य परकृतस्य कर्मणः फलोपभोगादिति अत्र कर्म शब्द उभयत्रापि योज्यः तेन कृतप्रणाश इत्यस्य कृतकर्मप्रणाश इत्यर्थो दृश्यः वन्धानुलोम्याच्चेत्थमुपन्यास. ।

स्याद्वाद मंजरी पृ० २४१ गा० १८ वीं।

कार्यकारणभाव बौद्धों ने माना है वह भी नहीं बनता [1] है। कारण कि इस प्रकार का कार्य कारण भाव तो सुगत और अन्य साधारण संसारी जनो के ज्ञान क्षणों में भी विद्यमान रहता है। क्योंकि बौद्धों का मन्तव्य है कि जो ज्ञान का कारण होता है वही ज्ञान से जाना जाता है। बुद्धदेव सबको जानने वाले हैं। बुद्ध के ज्ञान में साधारण संसारी जीवों की अनेकज्ञान सतानिए भी विषय हो रही हैं। अतः बुद्ध ज्ञान की साधारण ससारी जीवों की ज्ञानसंतति भी कारण हुई। जैसे बुद्ध देव के पूर्व काल में होने वाले अपने परिणाम कारण हैं वैसे ही साधारण संसारी जीवों के ज्ञान परिणाम भी बुद्धज्ञान में कारण हैं। इस प्रकार अव्यभिचार रूप से यहां कार्य-कारण भाव बन जाता है इसलिये सुगत और संसारी जीवों के ज्ञानक्षणों में भी वास्य वासक भाव या एक संतानता माननी पडेगी।

आ०
मी०
३२४ इसी प्रकार निरन्वय क्षणिक विनाश पक्ष में बंध का जो कर्ता होगा वही उससे छूटेगा ऐसा भी नियम नही बन सकता है। बंधेगा और छूटेगा और। इस प्रकार भिन्नकर्तृकता आने से बंध और मोक्ष की कुछ व्यवस्था ही नही बन सकेगी। अतः यह मान्यता ही उचित है कि जो हिंसा का परिणाम करता है वही उसे मारता है और वही हिंसाजन्य पाप का बंध करता है। एवं वही उस पाप से छूटता है। ऐसी व्यवस्था मानने से वस्तु सर्वथा क्षणविनश्वर है यह एकान्तपक्ष साबित नही होता है। द्रव्य की अपेक्षा वस्तु ध्रौव्य रूप एवं पर्याय की अपेक्षा वस्तु क्षण विनश्वर रूप है यह मान्यता ही सर्वथा निर्दोष एवं उपादेय है।-

अहेतुकत्वान्नाशस्य हिंसाहेतुर्न हिंसकः।
चित्तसंततिनाशश्च मोक्षो नाष्टांगहेतुकः॥ ५२॥

१-'व्यभिचारविनिर्मुक्त कार्यकारणभावत।
पूर्वोत्तरक्षणानां हि सतानियमो मत.॥,
स च बुद्धेतरज्ञानक्षणानामपि विद्यते।
नान्यथा सुगतस्य स्यात् सर्वज्ञत्वं कथचन॥ श्लोक वार्तिक २१०।'

अन्वय—नाशस्य अहेतुकत्वात् हिंसाहेतु हिंसक न (स्यात्) चित्तसततिनाशः मोक्षश्च अष्टांगहेतुकः न (स्यात्)।

अर्थ—नाश अहेतुक होने से हिंसा के हेतु को हिंसक नहीं मानना चाहिये । तथा चित्त संतति निरोधरूप जो मोक्ष है उसे भी अष्टांग हेतुक नहीं स्वीकार करना चाहिये ।

भावार्थ—बौद्धों की ऐसी मान्यता है कि पदार्थ का विनाश किसी दूसरे विरोधी कारण से नहीं होता है किन्तु स्वत. होता १ है । यह विषय सक्षेप से पीछे स्पष्ट किया गया है । अतः पुनः उसे यहां लिखना उचित नहीं समझा । इस प्रकार की बौद्धों की मान्यता को हृदयगम कर कारिकाकार उनसे यह कह रहे हैं कि जब नाश का कोई कारण हो नहीं है–नाश अपने आप होता रहता है तो ऐसी स्थिति में कोई भी हत्यारा नहीं माना जाना चाहिये । जिसके विनाश करने से " यह हिंसक है " इस प्रकार का जो व्यपदेश होता है वह निरर्थक है, क्योकि उसके द्वारा तो वह विनष्ट किया नहीं गया है उसका विनाश तो स्वयमेव हो गया है । इसी तरह चित्तसंतति का उत्पादरूप जो ससार उस संसार से सर्वथा भिन्न जो चित्तसंतति का निरोधरूप मोक्ष है कि जिसे बौद्ध सम्प्रदाय में सम्यक्त्व, सज्ञासंज्ञी, वचन काय कर्म, अन्तर्व्यायाम, अजीव, स्मृति, ध्यान और समाधि दस अष्टांग हेतुक माना गया है सो वहां अष्टांग हेतुता भी सिद्ध नहीं हो सकती है । बुद्ध धर्म का अगीकार करना सम्यक्त्व, वस्तु का नाम जानना संज्ञा सज्ञी, वचन एवं शरीर का व्यापार वचन काय कर्म, श्वासोच्छ्वास का निरोध करना अन्तर्व्यायाम, जीव का अभाव अजीव, पिटकत्रय शास्त्र की चिन्ता स्मृति, एकाग्र होना ध्यान एवं लय होना समाधि २ है।

---

१ न्यायकुमुदचन्द्र का क्षणभगवाद का पूर्व पक्ष पाना ३७५ से ३७८ तक तथा अष्टसहस्री का पाना १८५ इसके लिये देखना चाहिये ।

२ प० जयचद जी कृत आप्तमीमांसा के अनुवाद के आधार से इन शब्दो का यह अर्थ लिखा है । अष्टसहस्री की टिप्पणी में भी यही अर्थ लिखा है ।

विरूपकार्यारंभाय यदि हेतुसमागमः ।
आश्रयिभ्यामनन्योऽसावविशेषादयुक्तवत् ॥ ५३ ॥

अन्वय—यदि विरूपकार्यारभाय हेतुसमागमः (तर्हि) असौ आश्रयिभ्यां अनन्य. (एव) अविशेषात् । अयुक्तवत् ।

अर्थ—यदि विसदृश कार्य के प्रारंभ के लिये हेतु का व्यापार माना जाय तो यह हेतु व्यापार अपने आश्रयियों से भिन्न नही माना जा सकता, क्योकि उन आश्रयियो में परस्पर में कोई भेद नहीं है। जैसे अपृथक् सिद्ध पदार्थों का कारण अपने आश्रयियो से भिन्न नहीं होता है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रकट कर रहे हैं कि बौद्ध यदि ऐसा कहें "हम केवल उत्पत्ति को ही सहेतुक मानते है विनाश को नहीं। विनाश को निर्हेतुक मानने में हिंसक कोई नहीं कहलावेगा तथा चित्त संतति नाशरूप मोक्ष अष्टांगहेतुक नहीं हो सकता है ऐसा जो हमसे कहा जाता है सो हम हेतुओ का समागम नाशरूप [1] कार्य की उत्पत्ति के लिये नहीं मानते हैं क्योकि नाश होना तो पदार्थों का अपना निज का स्वभाव है इसलिये नाश तो निर्हेतुक ही है। हेतुओ से सिर्फ समागम होने पर विसदृश कार्य उत्पन्न होता है। हिंसक के समागम से विरूपकार्य हिंसा और अष्टांग हेतुओ के समागम से विरूप कार्य मोक्ष इनका प्रारंभ हो जाता है। हमारे सिद्धान्त मे सदृश कार्य तो कोई होता ही नहीं है क्योकि अन्वय के सद्भाव मे ही सदृश कार्य होता है। अन्वय का सद्भाव हमने कहीं पर भी माना नही है। क्योंकि निरन्वय विनाश का हमारा पक्ष है" सो ऐसा कहना उनका उचित नहीं है। कारण कि यह बात तो उनकी तब मानी जा सकती थी कि नाश और उत्पाद मे समय का व्यवधान पडता अथवा नाश और उत्पाद में कोई अन्तर होता जो उत्पाद का कारण है वही नाश का कारण है। यदि उत्पत्ति सहेतुक है तो विनाश भी सहेतुक है। यदि विनाश निर्हेतुक है तो उत्पाद भी निर्हेतुक माना जायगा। यह क्या बात कि एक सहेतुक माना जाय और उससे अभिन्न दूसरा

१ विसभागसतानोत्पादनाय हेतुसन्निधिर्नप्रध्वसाय पूर्वस्य स्वरसतो निवृत्तेरिति । अष्टशती ।

निर्हेतुक माना जाय, यदि इस पर यों कहा जाय " स्वरसोत्पन्नमपि तदनन्तरभावित्वात्तन व्यपदिश्यते " (अ० श०) कि उत्पाद भी स्वरसत.--अपने आप उत्पन्न होता है परन्तु हेतु व्यापार के अनन्तर भावी होने से वह उनसे हुआ है ऐसा कहा जाता है तो इसके ऊपर हम भी यो कह सकते हैं कि कार्यक्षरण कपालमाला की तरह पूर्वक्षरण-घट का प्रध्वस भी मुद्गरादिक हेतुओ के अनन्तर हुआ है इसलिये वह मुद्गरादिक हेतु से जन्य है ऐसा मान लेना चाहिये। मतलब इसका यह है कि कपालमाला का उत्पाद ही घट का विनाश है ऐसा तो नही कि कपाल का उत्पाद भिन्न समय मे और घट का विनाश भिन्न समय मे हो। इसलिये यह मानना ही चाहिये कि जो कपालमाला का उत्पादक-कारण होगा वही घट के विनाश का भी कारण होगा। इसलिये उत्पाद और विनाश मे अभेद होने से दोनों का एक ही कारण होने से दोनो में सहेतुकता सिद्ध होती है।

दूसरे—जब बौद्ध सिद्धान्त में अन्वय का सत्त्व ही नहीं माना गया है तब यह सदृश कार्य है यह विसदृश कार्य है इस तरह का विभाग ही कैसे हो सकता है। कारण कि यह विभाग परस्पर की सापेक्षता में होता है। " न च निरन्वयविनाशवादिनः सभागविसभागविवेकः श्रेयान् (अ० स०) " सर्वदा विरूपकार्यत्वात् (अ० श०) " परन्तु जब सर्वदा विरूप ही—विसदृश—ही कार्य है तब इस तरह का विवेक अपने अवधिभूत सदृश कार्य के अभाव में कैसे माना जा सकता है। अमीर है तब उनकी अपेक्षा ही गरीब माने जाते है। और जब गरीब ही गरीब हों तब गरीब और अमीर का विवेक कैसे हो सकता है। यदि इस पर बौद्ध की तरफ से ऐसा कहा जाय कि बात बिलकुल ठीक है—परन्तु इस तरह का जो विवेक होता हैं वह प्रतिपत्ता के अभिप्राय के वश से होता है, तो फिर यह भी क्यों न उन्ही के अभिप्राय से मान लिया जावे कि नाश और उत्पाद भी सहेतुक हैं। " न च समनतरक्षणयो नाशोत्पादौ पृथग्भूतौ मिथ स्वाश्रयतो वा यौ समं सहेतुकेतरौ स्तां (अ० श०) " पूर्वक्षरण घट और उत्तर क्षरणरूप जो कपालमाला है उनके नाश और उत्पाद ऐसे तो हैं नहीं जो परस्पर में अथवा अपने आश्रय से भिन्न—अलहदा—हो कि जिससे साथ होने पर भी एक सहेतुक माना जाय और दूसरा निर्हेतुक माना जाय। नाश और उत्पाद का तादात्म्य सम्बन्ध माना गया है। इसका भी कारण

यह है कि इनमें न तो परस्पर में कार्य कारण सम्बन्ध है और न विशेषण विशेष्य भाव सम्बन्ध है।

तथा अपने आश्रयभूत जो कपालमाला एवं घट हैं इनके साथ भी इनका कार्य कारणभाव नहीं है। ऐसी स्थिति मे पूर्वक्षण रूप जो घट उसका विनाश ही अनन्तर क्षण रूप जो कपालमाला है उसका उत्पाद है। अतः इस तरह से इनमें स्वभाव प्रतिबध-तादात्म्य सम्बन्ध-सिद्ध माना गया है। इस सम्बन्ध के मानने पर भी वहां प्रतिपत्ति एवं अभिधान का भेदाभाव प्रतिष्ठित नहीं हो सकता है। जिस प्रकार बौद्ध सिद्धान्त में एक ज्ञान के ग्राह्याकार और ग्राहकाकार ये दो आकार माने जाते हैं इन दोनों आकारों का अपने आश्रय भूत ज्ञान के साथ तादात्म्य है तो ऐसी स्थिति में वहां प्रतिपत्ति और अभिधान का भेद माना ही गया है। तादात्म्य सम्बन्ध में प्रतिपत्ति और अभिधान का भेद विरोध को प्राप्त नहीं होता है। अतः विनाश और उत्पाद एक हेतुक ही मानना चाहिये। जिस प्रकार शिंशपात्व एवं वृक्षत्व चित्रज्ञान एव नीलादिनिर्भास इनमे तादात्म्य सम्बन्ध है अत. ये अयुक्त-अपृथक् सिद्ध हैं। इनका जो कारण व्यापार है वह भिन्न नहीं है—क्योंकि इनका आत्म लाभ एक ही कारण कलाप से होता है उसी प्रकार उत्पाद और विनाश में भी तादात्म्य सम्बन्ध है अतः ये भी अपृथक् सिद्ध हैं। इसलिये इनका भी कारण भिन्न २ नहीं माना जा सकता है। इसलिये जो उत्पाद का कारण होगा वही विनाश का कारण होगा ऐसी स्थिति में उत्पत्ति को सहेतुक और विनाश को निर्हेतुक मानना युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। तथा च-हेतुसमागम-मुद्‌गरादि रूप व्यापार-अपने आश्रयी जो उत्पाद व्यय हैं इनसे अभिन्न है-उत्पाद व्यय इन दोनों का मुद्‌गरादिरूप कारण एक ही है। क्योंकि उत्पाद व्यय में-अविशेष-अभेद है, इसलिये इस प्रकार यह कारिका का संक्षिप्त अर्थ है।

स्कंधसन्ततयश्चैव संवृतित्वादसंस्कृताः
स्थित्युत्पत्तिव्ययास्तेषां न स्युः खरविषाणवत्। ५४।

अन्वय—संवृतित्वात् स्कंधसततय असस्कृता. एव। खरविषाणवत् तेषां स्थिति उत्पत्ति—व्ययाः न स्युः।

अर्थ—कात्पनिक होने से स्कधसतति असंस्कृत ही है। इसलिये खरविषाण की तरह इसमें स्थिति एवं व्यय नहीं हो सकते हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा "विरूप कार्य की उत्पत्ति के लिये हेतु का व्यापार होता है" इसी बौद्ध की मान्यता का विचार किया जा रहा है। इसमें सर्वप्रथम उनसे यह पूछा है कि तुम्हारे यहां उत्पन्न क्या होता है-परमाणु या स्कधसंतति ? यदि यह कहा जाय कि परमाणु उत्पन्न होते हैं तो इस पक्ष में स्थाप्य स्थापक, विनाश्य विनाशक भाव की तरह हेतुफल भाव भी विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि बौद्धो ने परमाणुओं को सर्वथा निरश माना हैं, अतः वहां उत्पाद, स्थिति एवं व्यय ये धर्म नही रह सकते हैं, पूर्वक्षण स्थापक है और उत्तर क्षण स्थाप्य है पूर्वक्षण विनाश्य एवं उत्तरक्षण विनाशक हैं। स्थाप्य स्थापक भाव वहा इसलिये विरुद्ध पड़ता है कि पूर्वक्षण और उत्तरक्षण में विना अन्वय के परस्पर मे कोई भी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता है। पूर्वक्षण स्थापक है और उत्तर क्षण स्थाप्य है यह बात तो वहां तभी मानी जा सकती है कि जब उत्तरक्षण में पूर्वक्षण का कुछ न कुछ सम्बन्ध रहता। जब पूर्व क्षण का निरन्वय विनाश माना जाता है तो उत्तरक्षण मे पूर्वक्षण का सम्बन्ध ही कैसे आ सकता है। इसी तरह वहां विनाश्य विनाशक भाव भी नही बनता है। तथा हेतु भाव एव फल भाव भी नहीं बनने से वहां उत्पाद भी नहीं बनता है। उत्पाद, व्यय और स्थिति ये तीनो एक ही जगह रहते हैं और एक ही काल में होते हैं। इस प्रकार परमाणु क्षणों में स्थाप्य स्थापक के अभाव में स्थिति का अभाव, विनाश्य विनाशक के अभाव मे व्यय का अभाव एवं हेतुफल के अभाव में उत्पाद का अभाव आ जाता है।

बौद्धो ने उत्पाद को सहेतुक माना है। तब हेतुफल भाव के अभाव मे परमाणुओं की उत्पत्ति सहेतुक कैसे हो सकती है। अतएव जिस प्रकार उन्होने विनाश को निर्हेतुक माना है उसी प्रकार उत्पाद भी निर्हेतुक माना जाना चाहिये। इसलिये उनका यह " न तस्य किञ्चित् भवति न भवत्येव केवलं " कथन १ कि विनाश के हेतुओं से- मुद्ग-

१ स्वतोऽपि भावेऽभावस्य विकल्पश्चेदय सम. ।
न तस्य किञ्चिद्भवति न भवत्येव केवलम् ॥ -प्रमाणवार्तिक निर्हेतुक विनाश प्रकरण, पृ० ५२२ कारिका २८० ।

रादिक से-घट का विनाश नही होता है किन्तु घट तो स्वयं नष्ट हो जाता है उत्पाद को निर्हेतुक मानने के लिये भी पर्याप्त है। वहां पर ऐसा ही कहा जा सकता है 'न कारणात् कार्यस्य किञ्चिद्भवति भवत्येव केवलं,, (अष्टशती) कि कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है कार्य स्वयं अपने आप उत्पन्न हो जाता है। अत परमाणु की उत्पत्ति सहेतुक नहीं मानी जा सकती।

आ० यदि कहा जाय रूपस्कंध, वेदनास्कध, विज्ञानस्कध, सज्ञास्कंध, सस्कारस्कंध इन पांच स्कंधों की सतति
मी० की हम उत्पत्ति मानते हैं। सो ऐसा कहना भी बौद्ध का ठीक नहीं है कारण कि ये असंस्कृत अकार्यस्वरूप है। बौद्ध
३३० सिद्धान्त मे परमाणुओं को सजातीय एवं विजातीय परमाणुओं से सर्वथा व्यावृत्त–भिन्न–एव परस्पर मे असंबद्ध माना गया है। अतः रूपादिक स्कंधो मे कार्य स्वरूपता कैसे आ सकती है। उन्होने स्वयं इन स्कंधों को काल्पनिक माना है। तथा क्षणिकवाद में संतान समुदाय आदि बिना अन्वय के बन नहीं सकते हैं यह बात पीछे भी स्पष्ट की जा चुकी है। अत यह स्कंध संतति काल्पनिक होने से असस्कृत ही है। अर्थात् न कार्यस्वरूप हो सकती है और न कारण स्वरूप १ ही। अतः यह स्कंध सन्तति परमार्थसत् नहीं हो सकती है। खरविषाण आदि में सांवृतत्त्व असंस्कृत के साथ व्याप्त देखा जाता है उसी प्रकार इस स्कधसन्तति में वह असस्कृतत्व के साथ व्याप्त है अतः हेतु और साध्य की व्याप्ति में कोई फर्क नहीं है-निर्दोष है। जब यह स्कंध संतति असंस्कृत है तो इसलिये वह खरविषाण की तरह स्थिति उत्पत्ति

---

१ रूपवेदनाविज्ञानसज्ञासस्कार स्कधसंततय असस्कृताः सवृतित्वात् यत्पुनः सस्कृत तत्परमार्थसत् यथा स्वलक्षणं न तथा स्कधसन्ततय· (अष्टशती) पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, यह रूप उपादान स्कध है वस्तुओं या उनके विचार के सम्पर्क मे आने पर जो सुख दु:ख या न सुख दु ख के रूप मे अनुभव करते हैं इसे ही वेदना स्कध कहते हैं। वेदना के बाद मस्तिष्क पर पहिले से ही अकित संस्कारों द्वारा जो हम पहिचानते हैं कि यह वही देवदत्त है इसे सज्ञा कहते है। रूपों को वेदनाओ और सज्ञाओ का जो सस्कार मस्तिष्क पर पडा रहता है और जिसकी सहायता से कि हमने पहिचाना-'यह वही देवदत्त है' इसे सस्कार कहते हैं। चेतना या मन को विज्ञान कहते हैं। ये पाच उपादान स्कध है। दर्शन दिग्दर्शन पृ० ५०५ अध्याय १५। ये पाचो ही स्कध जब व्यक्ति की तृष्णा के विषय होकर पास आते हैं तो इन्हें ही उपादान स्कध कहते हैं। बुद्ध ने इन पाचो ही उपादान स्कधो को दु ख रूप कहा है।

एवं व्यय से रहित है। अवस्तु में स्थित्यादिक सभवित नहीं होते है। जहां २ संस्कृतत्व होगा वहीं २ स्थित्यादिक होगें। असंस्कृत में नहीं। इसलिए विरूपकार्य के आरंभ के लिये हेतु का व्यापार होता है ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि स्कंध संतति वास्तविक नहीं है-काल्पनिक है। अत उस काल्पनिक की उत्पत्ति के लिये हेतु व्यापार की क्या आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त और तो कोई है ही नहीं कि जिसके लिये हेतु व्यापार माना जाय। अत कल्पनिक होने से खरविषाण की तरह स्कंध सतति उत्पत्ति विनाश एव स्थिति से रहित है ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार कारिका में सवृतत्व हेतु से स्कंध सन्तति में असस्कृतत्व एवं असस्कृतत्व हेतु से स्थिति उत्पत्ति एव विपत्ति से रहितपना सिद्ध किया गया है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वाद न्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ५५ ॥

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्य (अंगीकर्तुं युक्त) न। अवाच्यतैकान्ते अपि अवाच्यं इति उक्ति न युज्यते।

अर्थ—स्याद्वाद की नीति से विद्वेष रखने वाले के यहां, विरोध होने से नित्यत्वैकान्त अनित्यत्वैकान्त को एकरूपता अंगीकार करने के लिये युक्त नहीं मानी जा सकती। तथा अवाच्यतैकान्त में भी " यह अवाच्य है " इस प्रकार का वचन भी नहीं कहा जा सकता।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस बात का समर्थन कर रहे हैं कि जिस प्रकार जीवन और मरण को परस्पर में विरोध होने से एक स्वरूप नहीं माना जा सकता, उसी प्रकार सर्वथा नित्यत्व पक्ष को और सर्वथा अनित्यत्व पक्ष को भी परस्पर मे जबर्दस्त विरोध होने की वजह से एक स्वरूप नहीं माना जा सकता है। यदि विरोध के भय से इन दोनों की समिलितता को सर्वथा अवक्तव्यकोटि में रखा जाय तो उस समय वहां " अवक्तव्य " इस शब्द

का भी प्रयोग नहीं कर सकते-क्योंकि इस प्रकार के कहने से सर्वथा वहां अवक्तव्यता नहीं रहती है। अत यदि इन परस्पर विरोधी वातों का भी जो एकत्र समन्वय करना है तो स्याद्वाद नीति से विद्वेष करने की जरूरत नहीं। क्योंकि वही एक ऐसी नीति है कि जिसके बल से परस्पर विरोधी धर्म एकत्र निर्विरोधरूप से रह सकते है। नित्य भी किसी अपेक्षा अनित्य और अनित्य भी किसी अपेक्षा नित्य हो जाता है। इसी तरह अवाच्य होने पर भी वस्तु वाच्य हो सकती है, इस लिये स्याद्वादन्याय को अपनाने में ही भलाई है। इसके बिना चारा नहीं।

नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानात् नाकस्मात्तद्विच्छिदा।
क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः॥ ५६॥

अन्वय--ते प्रत्यभिज्ञानात् तत् नित्यं तत् अकस्मात् न अविच्छिदा। बुद्ध्यसंचरदोषतः कालभेदात् क्षणिकम्।

अर्थ--हे नाथ-अनेकान्त शासक! आपके सिद्धान्त में प्रत्यभिज्ञान ज्ञान के द्वारा जानी गई होने से समस्त जीवादिक वस्तु कथचित् नित्य है। यह प्रत्यभिज्ञान ज्ञान निर्विषय नहीं है। क्योंकि बाधक के अभाव से इसका अविच्छेद रूप से अनुभव होता है। इसी तरह समस्त जीवादिक वस्तु यदि कथंचित् क्षणिक न मानी जाय तो बुद्धि का वहां संचरण नहीं हो सकता। इसलिये कालभेद की अपेक्षा लेकर उसमे कथचित् क्षणिकता आ जाती है।

भावार्थ--इस कारिका द्वारा कारिकाकार "नित्यैकान्त एव अनित्यैकान्त के निरसन से सामर्थ्यत उनका अनेकान्त सिद्ध हो जाता है फिर भी जो इस कारिका द्वारा सामर्थ्यलभ्य उस अनेकान्त की सिद्धि की जा रही है वह तत्त्वोपप्लववादी के दुराशय को ध्वस्त करने के लिये एवं उस अनेकांत की प्रतिपत्ति को दृढ करने के लिये है" यह बात प्रकट करते हैं और इसीलिये स्याद्वादन्याय के अनुसार नित्यत्वादि अनेकांत को वे दिखलाते हैं।--

कारिकाकार कह रहे हैं कि हे अनेकान्त के शासक नाथ! आपके सिद्धान्तानुसार न तो कोई पदार्थ सर्वथा नित्य है और न सर्वथा अनित्य-क्षणिक है। किसी अपेक्षा नित्य और किसी अपेक्षा अनित्य है। किसी अपेक्षा नित्य

ही है इसका मतलब यह है कि वह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण का विषय होता है । यदि वस्तु सर्वथा अनित्य-क्षणिक होती तो " यह वही वस्तु है " इस प्रकार उसमे एकत्व अवमर्शक यह प्रत्यभिज्ञान कैसे हो सकता -वहां तो "यह उसके सदृश है" ऐसा सादृश्य ज्ञान होना चाहिये था । पूर्व दशा एवं उत्तर दशा मे व्याप्त जो वस्तुगत एकत्व है वही नित्यता है । यह प्रत्यभिज्ञान निर्विषय-एकत्व के अभाव मे होने वाला-इसलिये नहीं माना जा सकता है कि प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण इसके बाधक नहीं हो सकने के कारण उसका वहां अस्खलितरूप से अनुभव होता है । प्रत्यक्ष इस एकत्व अवमर्शक प्रत्यज्ञिान का बाधक इसलिये नहीं हो सकता है कि वह वर्तमान पर्याय से ही युक्त वस्तु को जानता है । पूर्वोत्तर दशा द्वय व्यापी एकत्व को नही जानता है । इसी तरह अनुमान भी अन्यापोह मात्र को विषय करने वाला बौद्धों ने माना है अतः वह भी इस एकत्व को विषय नहीं कर सकता है । इसलिये पूर्व पर्याय एव उत्तर पर्याय में रहनेवाले एकत्व को विषय करने वाला यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान ही है । और उसी से जीवादिक वस्तुओ में कथचित् नित्यता सिद्ध होती है । यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान अकस्मात्-निर्विषय-हुआ तो जब माना जाता कि यह यदि भ्रान्त होता । जैसे सादृश्य की जगह एकत्व को विषय करने वाला तथा एकत्व की जगह सादृश्य को विपय करनेवाला प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त होता है । यदिबौद्धों की तरफ से ऐसा कहा जाय कि यह एकत्व प्रत्यभिज्ञान भी भ्रान्त है क्योकि जीवादिक वस्तु में जो एकत्व प्रत्यभिज्ञान होता है वह जैसे दीपक की लौं में यह वही लौं है इसकी तरह होता है अर्थात् जिस प्रकार दीपक की लौ के प्रत्येक क्षण में बदलते रहने पर भी लौं के पूर्व और उत्तार क्षणों मे परस्पर सदृश्यता होने के कारण यह वही लौं है ऐसा ज्ञान होता है उसी प्रकार जीवादिक पदार्थों के प्रत्येक क्षण मे बदलते रहने पर भी पदार्थों के पूर्व और उत्तार क्षणो में सदृशता होने के कारण यही वही पदार्थ है ऐसा ज्ञान होता है । इसलिये सादृश्य प्रत्यभिज्ञान ही सम्यक् है । और वही इस अनादिकालीन अविद्या के प्रभाव से उदित एकत्व प्रत्यभिज्ञान में भ्रान्तता साधक होता है सो ऐसा कहना उनका उचित नही है कारण उत्तरोत्तर क्षणों में सदृश पदार्थ उत्पन्न होता रहता है इसका निर्णायक कोई प्रमाण नही है ।

बौद्ध——निर्णायक इस बात का कोई प्रमाण नहीं है ऐसा जो आप कहते हैं सो ठीक नहीं है । निर्णायक

प्रमाण है और वह यह है-कि जो नित्य पदार्थ होगा उसमें क्रम क्रम अथवा युगपत् रूप से अर्थ क्रियाकारिता नहीं होगी। क्षणिक पदार्थ में ही इस प्रकार से अर्थक्रियाकारिता आती है। अतः पदार्थ में एकत्व ग्राहक प्रत्यभिज्ञान भ्रान्त है।

जैन—ऐसा कहना ठीक नही है। कारण कि सर्वथा क्षणिक में अर्थक्रियाकारिता नहीं आती है। अर्थक्रियाकारिता तो कथंचित् नित्य में ही आती है। अतः पदार्थ मे कथचित् नित्यता ग्राहक प्रत्यभिज्ञान प्रमाण भ्रान्त नहीं हो सकता। यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण स्मृति और प्रत्यक्ष इन दोनों से सर्वथा स्वतत्र प्रमाणान्तर है। क्योंकि पूर्वोत्तार दशा द्वय में रहनेवाला जो एकत्व है वह न तो प्रत्यक्ष से जाना जा सकता है और न स्मरण से ही। इसलिये पूर्वोत्तर-दशाद्वयव्यापी एकत्व को सकलन करने मे समर्थ यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण ही है।

यह प्रत्यभिज्ञान प्रमाण निर्विषय इसलिये नहीं माना जा सकता है कि ऐसा मानने से बुद्धि के असंचार का दोप आता है। यदि इस प्रत्यभिज्ञान का विषय एकत्व न होवे तो जो वहां -पदार्थों-में अविच्छेदरूप अनुभव होता है वह नही हो सकता-और इस अविच्छेदरूप अनुभव के हुए विना वहां " यह वही है " इस प्रकार से बुद्धि का सचार नहीं हो सकता हे। निरन्वय विनाश में " यह है " इस रूप से ही बुद्धि का सचार हो सकेगा। यह वही है जिसे पहले देखा था इस प्रकार से नहीं। क्योकि निरन्वय विनाश मानने पर प्रत्येक पदार्थ का क्षण २ में विनाश होता रहेगा और अपूर्व की उत्पत्ति होती रहेगी-तब उनमे " यह वही है जिसे पहिले देखा था " इस प्रकार का संकलनात्मक ज्ञान कैसे हो सकता है। दूसरे इस प्रत्यभिज्ञान का प्रादुर्भाव प्रत्यक्ष और स्मरण रूप कारणो से होता है। संकलन करना इस का निज स्वरूप हे। तव जिस पदार्थ को पहिले ज्ञान ने देखा है वह ज्ञान भी तो निरन्वयरूप से विनष्ट हो जायगा। -अतः स्मरण के अभाव मे केवल एक प्रत्यक्ष ही अवशिष्ट रहेगा-तव् " यह वही पदार्थ है जिसे पहिले देखा था " इस प्रकार का दोनों ज्ञानों का संकलनरूप प्रत्यय-प्रत्यभिज्ञान-केवल प्रत्यक्ष से कैसे उत्पन्न हो सकेगा। अत " पूर्वोत्तारपरिणामयोरेकद्रव्यात्मकत्वेनगमनासभवात् (अ० स०) " जिसे मैंने पहिले देखा था उसी को मैं अव देख रहा हूं अथवा स्पर्शकर रहा हूं इस प्रकार से बुद्धि का सचार कथंचित् एकत्व विना नहीं हो सकता हे। इसलिये यह मानना चाहिये

कि पदार्थों मे अविच्छेदरूप अनुभव से प्रत्यभिज्ञान निर्विषय नहीं है और यह अविच्छेदरूप अनुभव बुद्धि के संचरण से सिद्ध है । अतः पदार्थों में इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान कथंचित् एकत्व का साधक है ।

इसी प्रकार समस्त जीवादिक वस्तुएं कथचित् क्षणिक हैं । क्योकि इनमे कथंचित् क्षणिकता प्रत्यभिज्ञान हेतु द्वारा ही सिद्ध होती है । ऐसा नहीं है कि " क्षणिकत्व के विना भी इनमें प्रत्यभिज्ञान उदित होता है अत वह निर्विषय हो जायगा । " क्योकि प्रत्यभिज्ञान का विषय जो कथचित् क्षणिकत्व है उसका इन वस्तुओं मे विच्छेद उपलब्ध नही होता है । वस्तुओ में क्षणिकत्व है-क्षणिकत्व के विच्छेद का उपलभ नहीं है यह बात वहां काल के भेद से सिद्ध होती है । यदि काल का भेद न माना जाय तो वहां बुद्धि का सचरण नही होने रूप दोष आता है । पूर्व एवं उत्तररूप काल के भेद विना स्मरण एवं दर्शनरूप बुद्धियो का संचार नहीं हो सकता है । इनके संचार के अभाव में प्रत्यभिान भी उदित नही हो सकता है । क्योकि पूर्व और उत्तर पर्यायो में स्मरण एवं प्रत्यक्ष रूप बुद्धियो के संचार से ही यह प्रत्यभिज्ञान होता है । इस प्रकार इस कारिका द्वारा प्रत्यभिज्ञान हेतु द्वारा जीवादिक वस्तुओ में कथचित् नित्यता और कथंचित् अनित्यता सिद्ध करने में आई है । कथंचित् अनित्यता प्रत्यभिज्ञान द्वारा इस प्रकार सिद्ध की गई है । कि यदि वस्तु कथचित् अनित्य नहीं होती तो उसमें प्रत्यभिज्ञान उदित नही हो सकता । क्योकि यह प्रत्यभिज्ञान दर्शन और स्मरण इन दोनो से उत्पन्न होता है, दर्शन और स्मरण का काल पूर्वोत्तर पर्यायरूप भिन्न २ है । अतः इन दोनो अवस्थाओ में रहनेवाली वस्तु भी कथंचित् भिन्न २ है यह भिन्नता ही क्षणिकता है ।

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥ ५७ ॥

अन्वय—ते "वस्तु" सामान्यात्मना न उदेति न व्येति व्यक्तं अन्वयात् । विशेषात् व्येति उदेति सह एकत्र उदयादि सत् ॥

अर्थ—हे नाथ ! आपके अनेकान्त शासन के अनुसार समस्त जीवादिक वस्तु सामान्य स्वरूप की अपेक्षा न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है। क्योंकि सामान्य स्वरूप अन्वय स्पष्टरूप से देखा जाता है। विशेष की अपेक्षा वस्तु उत्पन्न होती है तथा विनष्ट होती है। युगपत् एक वस्तु मे उत्पाद, व्यय एव ध्रौव्य ये तीनों होते हैं क्योंकि उत्पादादि त्रयात्मक सत् १ है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा इन तीनों प्रश्नों का समाधान किया गया है-वे तीन प्रश्न ये हैं-वस्तु उत्पाद, विनाश, रहित स्थिति स्वरूप कैसे हैं ? तथा विनाश उत्पाद स्वरूप कैसे है ? एव उत्पाद व्यय एवं ध्रौव्य स्वरूप कैसे है ?

कारिकाकार इन तीनों प्रश्नो का उत्तर दे रहे हैं -वे कहते हैं कि जिस समय सामन्यस्वरूप से वस्तु का विचार किया जाता है तो वह वस्तु उस स्वरूप की अपेक्षा से न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है केवल ध्रौव्य स्वरूप रहती है। पूर्व पर्याय एव उत्तर पर्याय में जो साधारण स्वभाव है उसी का नाम सामान्यात्मा है। घट उत्पन्न हुआ और नष्ट हो गया इन पूर्वोत्तर परिणामों में सामान्य रूप से वर्तमान द्रव्य मृत्तिका है यही सामान्यात्मा है। इस अपेक्षा यदि विचार किया जाय तो मृत्तिकारूप वस्तु में न उत्पाद हैं और न विनाश है। इसी का नाम स्पष्ट रूप से अन्यव का दर्शन है। स्पष्ट रूप से अन्वय देखा जाता है इस कथन से इस आशंका का परिहार किया गया है जो बौद्धों ने ऐसा कहा है कि "लून पुनर्जातनश्व के-शादिकों में भी तो अन्वय देखा जाता है अत "वस्तु न उत्पद्यते न विनश्यति व्यक्तमन्वय दर्शनात् (अ० श०)" व्यक्तमन्वयदर्शन रूप जो हेतु है सो साध्यभाव में वर्तमान होने से व्यभिचरित हो जाता है।" कारण कि लून पुनर्जात नखादिकों में जो अन्वय देखा जाता है वह व्यक्त-प्रमाण से अबाधित-

---

१ प्रतिक्षणोत्पादविनाशयोगि स्थिरैकमध्यक्षमपीक्षमाणः ।
जिन ! त्वदाज्ञामवमन्यते य. स वातकी नाथ ! पिशाचकी वा ॥ २१ ॥

—स्याद्वाद मञ्जरी ।

-नहीं है । किन्तु बाधित है । "त एवैते नखादय. इत्येकत्वान्वयो बाध्यते प्रमाणेन, ततश्च तत्सदृशा इमे नखादयः इति वक्तुं शक्यते (अ० सहस्री टि०)" क्योकि वहां ऐसा प्रत्यय होना चाहिये कि ये नखादिक पहिले के नखादिकों के समान हैं। सो ऐसा प्रत्यय वहां न होकर "ये वही नखादिक हैं" ऐसा जो प्रत्यय होता है वह असत्य है। इसीलिये यह प्रमाण से बाधित है । जीवादिक वस्तुओ मे यह अन्वय इस प्रकार से प्रमाण बाधित नहीं होता है क्योकि वह वहां सत्य प्रत्यभिज्ञान से प्रसिद्ध है इसलिये इस अन्वितात्मा से वहां स्थिति ही सिद्ध १ होती है ।

विशेष–पर्याय–की अपेक्षा से वस्तु उत्पन्न भी होती है तथा विनष्ट भी होती है । "विनश्यति उत्पद्यते च सर्वं वस्तु विशेषानुभवात् (अ० श०)" "मृत्तिकाद्रव्य से घट विशेष उत्पन्न हुआ और नष्ट हो गया" यहां मृत्तिका के विशेष नाश और उत्पाद हैं । इस अपेक्षा मृत्तिका रूप वस्तु कथचित् उत्पन्न भी होती है और नष्ट भी होती है । इस दृष्टि में द्रव्य मुख्य नही है पर्याय ही मुख्य हैं । पहली दृष्टि में द्रव्य मुख्य है पर्याय गौण है । पर्याय का स्वभाव ही प्रतिक्षण उत्पाद व्ययात्मक है । "विशेअानुभवात्" इस हेतु के साथ भी " व्यक्त " इस पद को लगा लेना चाहिये नहीं तो शुक्लशख मे पीताद्याकाररूप जो भ्रान्तदर्शन विशेष है उसके द्वारा व्यभिचार हो जायगा । क्योकि वहां पर पीताद्याकार रूप भ्रान्तदर्शन विशेष का अनुभव होने पर भी शंख का शुक्ल विशेषरूप से न विनाश है और न पीताद्याकार विशेष रूप से उत्पाद ही है । अतः मात्र "विशेषानुभावात्" रखने से साध्यभाव में व्यभिचार स्पष्ट है । इसलिये इस व्यभिचार को हटाने के लिये व्यक्त पद विशेपानुभव के साथ जोड़ देने से यह बात स्पष्ट हो

---

१ सर्वंव्यक्तिषु नियत क्षणे क्षणेऽन्यत्वमथ च न विशेषः ।
सत्योश्चित्यपचित्योराकृतिजातिव्यवस्थानात् ।।

स्या० म० पा० २६४।

ततो द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुनः । पर्यायात्मना तु सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते च । अस्खलितपर्यायानुभवसद्भावात् । न चैव शुक्ले शखे पीतादिपर्यायानुभवेन व्यभिचार तस्य स्खलद्रूपत्वात् । न खलु सोऽस्खलद्रूप येन पूर्वाकार विनाशाजहद्वृत्तोत्तराकाराविनाभावी भवेत् । न च जीवादौ वस्तुनि हर्षामर्षौदासीन्यादिपर्यायपरम्परानुभवः स्खलद्रूप कथंचिद् बाधकस्याभावात् ।

स्याद्वाद मंजरी पृ० २६५ ।

जाती है कि वह जो शुक्लशख में पीताद्याकाररूप दर्शन विशेष है वह भ्रान्त है-व्यक्त नहीं है-अव्यक्त है-प्रमाण बाधित है ।

मतलब इसका यह है कि नेत्र में रोग होने के कारण सफेद शख पीतवर्ण का मालूम पड़ता है वास्तव मे वह पीत है नही । इसलिये शख में यह पीताकाररूप ज्ञान सत्य नहीं है । कारण कि रोग दूर हाने पर ऐसा ही अनुभव

आ० में आता है । अतः "भ्रान्त विशेपदर्शनं न व्यक्तं येन तदपि पूर्वाकारविनाशाजहद्वृत्तोत्तराकाराविनाभावि स्यात्

मी० (अ० स०) यह भ्रान्त विशेष दर्शन व्यक्त नहीं है—प्रमाण से अबाधित नहीं है । इसीलिये यह पूर्वाकार विनाश के साथ

३३८ अजहद्वृत्तोकारा विनाभावी नही है । अर्थात् इसमे जो पीताकार का अवभास हो रहा है वह उसमें पूर्वाकार के विनाश से अविनाभूत होकर नहीं हो रहा है—उत्पाद और विनाश का एक ही समय है—यह सिद्धान्त है इसलिये पीताकार का अवभासरूप जो उत्पाद है वह पूर्वाकार जो शुक्लाकार है उसके विनाश का अविनाभावी नहीं है । इसीलिये यह भ्रान्त है । और इसीलिये शुक्लाकाररूप जो पूर्वाकार है उसके साथ यह पीताकार का अवभास जहद्वृत्तिवाला है । शुक्लाकार के सद्भाव में भी शंख में हो रहा है । यदि यह पीताकार का अवभास शंख में शुक्लाकार के विनाश पूर्वक आता तो ही यह पीताकार का अवभास अजहद्वृत्ति वाला कहा जाता । यह तो उसमें रोगादिक के निमित्त से प्रतिभासित हो रहा है । अत यह प्रातिभासिक है । पारमार्थिक नहीं । इस प्रकार का जीवादिक वस्तुओं में जो विशेपदर्शन है वह अव्यक्त प्रमाण बाधित—नहीं है क्योंकि इसमे कोई भी बाधक प्रमाण नहीं है । जीव आदि पदार्थों मे हर्ष, क्रोध, उदासीनता आदि पर्यायों की परम्परा मिथ्या नहीं कही जा सकती क्योंकि हमें उन पर्यायों के मिथ्या होने का अनुभव नहीं होता है । यदि इस पर यो कहा जाय कि नित्यैकान्तग्राही प्रमाण वस्तु में उत्पाद और विनाशरूप विशेष दर्शन का बाधक हो जायगा सो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं है कि यह बात पहिले कई वार प्रकट की जा चुकी है कि वस्तु सर्वथा नित्य है ही नहीं । यदि कोई इस पर यों कहे कि जब वस्तु स्थितिमात्र या उत्पाद विनाश मात्र मानी जावेगी तो स्थिति एव उत्पाद विगम स्वयं भिन्न२ प्रत्यय—सामान्य प्रत्यय एवं विशेष प्रत्यय—के विपयभूत होने के कारण वस्त्वन्तररूप से

प्रतिष्ठित हो जायेंगे, सो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं माना जा सकता है कि वे स्वय वस्तु नहीं हैं किन्तु द्रव्यार्थिक एव पर्यायार्थिक नय के विषयभूत होने से वे वस्तु के एकदेश हैं । समुदितस्थित्यादित्रय को ही वस्तु माना गया है । क्योंकि वही प्रमाण का विषय है । यही बात " सहैकत्रो दयादि सत् " इस कारिकांश द्वारा प्रकट की गई है । समुदित होने पर इनमे एक वस्तुत्व मानना कोई विरोधादि दोप से युक्त साबित नहीं होता है । यहां पर इस प्रकार की शंका भी नहीं करना चाहिये कि जिस प्रकार सदादिसामान्य स्वभाव से सत् मृत्तिका द्रव्य है उसी प्रकार सदादिसामान्य स्वभाव से सत् तन्तु आदिक द्रव्य भी हैं तो फिर इस प्रकार का प्रतिनियम कैसे बन सकता है कि मृत्तिका से घट ही उत्पन्न होगा वस्त्र नहीं तथा तन्तु आदिक से वस्त्र ही होगा घट नहीं । क्योंकि कारिका में " सामान्यात्मना " ऐसा पद आया है जिसका मतलब है सामान्य स्वभाव–सत् आदि सामान्यस्वरूप । जिस स्वभावभूत होकर सदादिसामान्य-घट का उपादान द्रव्य मृत्तिका द्रव्य— परिणमित होता है वह सत् घटरूप से परिणमित होगा–वस्त्रादिरूप से नहीं । तथा जो सत् वस्त्रादिक के उपादानभूत तन्तु आदि स्वभावरूप से परिणमित होगा वह सत् वस्त्रादिरूप से परिणमित होगा घट आदिरूप से नहीं । इस प्रकार जीवादिक पदार्थ सामान्य स्वरूप से न उत्पन्न होते हैं और न विनष्ट होते हैं । उत्पाद विनाश वहां पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा से है । इन तीनों के–उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य–के समुदाय स्वरूप ही सत् है । इस प्रकार इसकारिका का अर्थ है ।

कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक् ।
न तौ जात्याद्यवस्थानादनपेक्षाः खपुष्पवत् ॥ ५८ ॥

अन्वय — कार्योत्पाद (एव) नियमात् हेतोः क्षयः । लक्षणात् (पुनः) पृथक् । जात्याद्यवस्थानात् न तौ (भिन्नौस्तः) । अनपेक्षाः (ते) खपुष्पवत् ।

अर्थ–कार्य का उत्पाद ही नियम से अपने उपादान कारण का विनाश है । उत्पाद और विनाश ये दोनों अपने अपने लक्षण से ही भिन्न२ हैं । जात्यादिक के अवस्थान से नहीं । परस्पर की अपेक्षा से रहित उत्पाद, विनाश और

ध्रौव्य ये तीनो खपुष्प के समान हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि सत् नित्यानित्यात्मक कैसे है, तथा उत्पादादित्रय परस्पर सापेक्ष कैसे है। घटरूप उपादेय का उत्पाद ही उसके उपादान कारण का पूर्वाकाररूप से क्षय है। अर्थात्—उपादान का पूर्वाकार से क्षय कार्य का उत्पाद ही है क्योंकि उत्पाद और विनाश का एक ही हेतु है। मुद्गरा-

दिक के संनिधान से जो कपाल माला का प्रादुर्भाव हुआ वही तो घट का विनाश है। अत कपाल माला की उत्पत्ति में उपादान जो घट है सो उस घट का विनाश हो कपालरूप कार्य है। ऐसी बात तो है नहीं कि कपालमाला का उत्पादक कारण भिन्न हो और घट का विनाश कारण भिन्न हो। इस उत्पाद और विनाश को एक कारण मानने से यौगों का जो ऐसा कहना है कि उपादानरूप घट विनाश का कारण दूसरा हैं और उपादेय रूप कपालमाला के उत्पाद का कारण दूसरा है सो इससे निरस्त हो जाता है।

यौगों की उत्पाद विनाश प्रक्रिया इस प्रकार से है-वे कहते १ हैं कि जब बलवत्पुरुष द्वारा प्रेरित मुद्गरादिक का व्यापाररूप सम्बन्ध घट से होता है तब उसके अभिघात से घट के अवयवों मे कपालों में-क्रिया की उत्पत्ति होती है उससे अवयवो का परस्पर मे विभाग हो जाता है इस विभाग से सयोग का विनाश होता है। इससे घट के विनाश की प्रतीति होती है। तथा उपादेय जो कपालमाला है उसके उत्पाद की प्रतीति इस प्रकार से होती है कि—कपालमाला के आरभक जो अवयव हैं उनमें क्रिया होती है उस क्रिया से सयोग विशेप का उत्पाद होता है।

सो इस प्रकार से उत्पाद निनाश की इस प्रक्रिया का उद्घोषण करना ठीक नहीं है। कारण कि यह आप्रीतिक हैं। प्रतीति में तो केवल यही आता है कि बलवत्पुरुष द्वारा प्रेरित मुद्गरादिक के व्यापार से ही घट विनाश और कपाल का उत्पाद होता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि मुद्गरादिक के व्यापार से घटावयवरूप कपालों में क्रिया

१ ननूपादातघटनविनाशस्य बलवत्पुरुषप्रेरितमुद्गराद्यभिघातादवयवक्रियोत्पत्तेरवयवविघातात्सयोगविनाशादेव प्रतीतेरूपादेयकपालोत्पादस्य तु इत्यादि [अ० स०)

ही उत्पन्न होती है सो इस प्रकार के कथन मे भी हमें कोई विरोध नही है—क्यो कि इस तरह से वह क्रिया ही घटविनाश और कपाल के उत्पाद मे एक कारणक सिद्ध हो जाती है। यदि कहा जाय कि क्रिया से अवयव विभाग की ही उत्पत्ति होती है तो यहां भी वहीं बात आती है कि कपाल उत्पाद और घट विनाश का यह अवयव विभागरूप एक ही कारण है। भिन्न २ कारण नहीं। यदि फिर भी ऐसा कहा जाय कि विभाग से घट के अवयव के सयोग का विनाश ही होता है तो यह कथन भी हमारे ही कथन की पुष्टि करता है। यदि इस पर भी संतोष न हो और ऐसा कहा जाय कि अवयव सयोग के विनाश से अवयविरूप घट का विनाश होता है तो इससे साफ यही बात जाहिर होती है कि घट के अवयवभूत कपालों का प्रादुर्भाव होता है। अत किसी भी तरह से उत्पाद विनाश का विचार क्यो न किया जाय इन दोनो में भिन्न हेतुता आती ही नहीं है। महास्कंधो के अवयव सयोग के विनाश से भी तो लघुस्कधो की उत्पत्ति देखने मे आती है। यदि इस पर भी यह तर्क किया जाय कि उत्पाद और विनाश एक कारणक नही हो सकते कारण कि जो कपालमाला उत्पन्न हुई है उसका कारण वह नहीं है जो घट विनाश का कारण है किन्तु "कपालानि स्वपरिमाणादणुपरिमाणकारणारब्धानि कार्यत्वात् पटवत् (अ० स०)" जिस प्रकार कार्यरूप वस्त्र अपने परिमाण से अणुपरिमाण वाले कारणरूप तन्तुओं से आरब्ध होता है उसी प्रकार कार्यरूप कपाल भी अपने परिमाण से अणुपरिमाण वाले कारण से आरब्ध हुए माने जायेंगे। इसलिये कपालमाला रूप कार्य का उत्पादक कारण अन्य और घट विनाश का कारण अन्य मानना चाहिये। सो इस प्रकार का कथन ठीक नहीं है कारण कि इस अनुमान में साध्य विकलता आती है—वह इस प्रकार से—हम पूछते हैं कि तन्तु जो पट के समवायी[1] कारण यौगो ने माने हैं सो वे अपटाकार परिणत होकर पट के समवायिकारण होते है या पटाकार परिणत होकर पट के समवायिकारण[2] होते हैं। पहिला

---

१ समवायिकारण, असमवायिकारण और निमित्तकारण के भेद से यौगो ने ३ कारण माने हैं।

२ समवायिकारणत्व द्रव्यस्यैवेति विज्ञेयम्। गुणकर्ममात्रवृत्ति ज्ञेयमथाप्यसवायिहेतुत्वम्। समवायि कारण द्रव्य भी होता है जैन परिभाषा मे इसे उपादान कारण कहा जाता हे। गुण और कर्म असमवायिकारणहोते हैं। पट के समवायिकारण तन्तु हैं और असमवायिकारण तन्तु सयोग हैं। "स्वसमवेत कार्योत्पादक समवायिकारणम्। केवल उपादान ही समवायिकारण नहीं होते किसी द्रव्य में जो कर्म उत्पन्न होता हे वह अपने आधारभूत द्रव्य मे ही समवेत रहता है। यहा द्रव्य कर्म का उपादान अथवा अवयव नहीं होते हुए भी उसका समवायि कारण है। इसी प्रकार घट अपने रूप का समवायिकारण है। तन्तु पट के समवायि कारण हैं।

वैशेषिक दर्शन भारतीयदर्शन परिचय पृ० १२५

पक्ष तो इसलिये ठीक नहीं है कि पटाकार अपरिणत तन्तुओं में पट इस प्रकार का प्रत्यय नहीं होता है । द्वितीय पक्ष में पट परिमाण से अणुपरिमाण वाले तन्तु पट के कारण नहीं बनते हैं क्योकि पटाकार परिणत जो तन्तु हैं उनमें पट समान परिमाणता प्रतीत होने लगती है । क्योकि आतान वितानीभूत जो तन्तु हैं उनमे ही पट रूप परिणाम के लिये आश्रयता आती है । यदि ऐसा न माना जाय तो जो कंडे मे तन्तु लपटे हुए है उनमे भी पट परिणामाश्रयता मानना पड़ेगी । इस प्रकार से परिमाण और परिणामी में सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता है । क्योकि प्रत्यय के भेद से परिणामी में कथचित् भेद भी सिद्ध है । अत यह बात ऐकान्तिक नहीं मानी जा सकती है कि कार्य अपने से अल्प-परिमाणवाले कारण से ही आरब्ध होता है । द्रव्य एवं भाव इन दोनो निमित्तक उपादान उपादेय भाव होता है । इस लिये ऐसा कहना कि पट अपने अल्पपरिमाण वाले उपादान रूप कारण से उत्पन्न होता है ठीक नहीं है । अत यह पट का दृष्टान्त साध्य शून्य है । इस अनुमान में जो हेतु "कार्यत्वात्" यह दिया है वह अनैकान्तिक है । देखो–विखरा हुआ जव कपास रहता है तव उस महा परिमाणवाले कपास पिंड से अल्प परिमाण वाला निविड कपास पिंड उत्पन्न होता देखा जाता है । अतः कार्यत्व के सद्भाव में भी स्वपरिमाणात् अणुपरिमाणकारणारब्धत्वरूप साध्य का यहां अभाव देखा जाने से हेतु में अनैकान्तिकता स्पष्ट है । और इसी से यह हेतु विरुद्ध भी है क्योंकि साध्य से विपरीत के साथ इस हेतु की व्याप्ति है - यथा संभव सूक्ष्मरूप अथवा स्थूलरूप पर्याय से वर्तमान जो महापरिमाण वाला पुद्गलादिक द्रव्य है उसमें अपने कार्य की आरभकता देखी जाती है इससे यह व्याप्ति सिद्ध होती है कि कार्य अपने से महापरि-माण वाले कारण से आरब्ध होता है । अत स्वपरिमाण से अल्पपरिमाणवाले कारण से कार्य निष्पन्न होता है इस साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति सिद्ध नहीं होती । इसलिये साध्य से विरुद्ध साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति सिद्ध होने से यह कार्यत्व हेतु स्पष्टरूप से विरुद्ध हेत्वाभास की कोटि मे आ जाता है । इस कपालोत्पाद एव घट विनाश इन दोनों का एक हेतु है–निमित्त कारण इन दोनों का मुद्गरादिक का व्यापार तथा उपादान कारण मृत्तिका है । इसलिये कार्य का उत्पाद ही पूर्वाकार का विनाश है । क्योकि उत्पाद और विनाश का एक ही हेतु है । भिन्न २ नहीं ।

इस प्रकार होने पर भी उत्पाद और विनाश मे सर्वथा अभेद मान्य नहीं है। क्योकि इनका लक्षण भिन्न २ है। उससे इनमे भिन्नता आती है। "कार्यकारणयो उत्पादविनाशौ कथचित् भिन्नौ भिन्नलक्षणसम्बन्धित्वात् सुख-दुःखवत् (अ० श०)" जिस प्रकार सुख और दु ख लक्षण की भिन्नता से कथचित् भिन्न है उसी प्रकार ये उत्पाद विनाश भी लक्षण की भिन्नता से कथचित् भिन्न हैं। उत्पाद का लक्षण है स्वरूप का लाभ होना तथा विनाश का लक्षण है स्वभाव की प्रच्युति होना। इसी तरह उन दोनो का सर्वथा भेद ही नहीं है क्योकि कथचित्–द्रव्य की अपेक्षा–इन दोनो में अभेद भी माना गया है। यही बात कारिकाकार ने "जात्याद्यवस्थानात्" इस पद द्वारा स्पष्ट की है। सत्ता, द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि जाति की अपेक्षा, तथा एकत्व सख्या की अपेक्षा एव शक्ति विशेष के अन्वय की अपेक्षा से इन दोनो मे अभेद भी है। इस प्रकार होने पर भी वस्तु में त्रयात्मकता की सिद्धि कैसे हो सकेगी, सो ऐसी आशंका नही करनी चाहिये-क्योकि "उत्पादविगमध्रौव्यलक्षणं स्याद्भिन्न अस्खलन्नानाप्रतोतेः रूपादिवत्" जिस प्रकार रूप रसादिक के अपने लक्षण कथचित् भिन्न २ हैं उसी प्रकार उत्पाद व्यय एव ध्रौव्य के अपने २ लक्षण भी कथचित् भिन्न २ है। अतः रूप रसादिक की तरह ये भी कथंचित् भिन्न २ है। असत् पर्याय की अपेक्षा अविद्यमान-को उत्पत्ति का नाम उत्पाद सत् का विनाश व्यय एव द्रव्य का दोनो हालत मे अपने स्व-रूप से वर्तमान रहना ध्रौव्य है। इस प्रकार ये भिन्न २ लक्षणो से युक्त हैं तो भी परस्पर एक दूसरे से निरपेक्ष नही हैं। यदि इनको एक दूसरे से निरपेक्ष माना जाय तो आकाश पुष्प की तरह इनका अभाव मानना पड़ेगा। इसलिये "उत्पादः केवलो नास्ति, स्थितिविगमरहितत्वात् वियत्कुसुमवत् तथा स्थितिविनाशौ प्रतिपत्तव्यौ (अ० श०)" स्थिति विगम रहित होने से केवल उत्पाद, स्थिति उत्पत्ति से रहित होने से केवल विनाश, एव विनाश एवं उत्पाद से रहित होने से केवल स्थिति कही पर भी नहीं बन सकती है—अर्थात् परस्पर निरपेक्षत्व में इनकी स्वरूपसत्ता भी साबित नही हो सकती है। इस कथन से यह भी समझ लेना चाहिये कि जब प्रत्येक उत्पादादिको मे परस्पर निरपेक्ष अवस्था में सत्त्व नही बन सकता है तो फिर इनमे प्रत्येक मे सत्त्व मानकर जो कोई त्रयात्मकत्व के प्रसग से अनवस्था का आपादान

करते है वे ठीक नहो है। क्योकि निरपेक्ष अवस्था में इनमें खपुष्प को तरह असत्त्व हो माना गया है। इस प्रकार इस कारिका का यह संक्षिप्त अर्थ है।

घटमौलि-सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकं ॥ ५६ ॥

अन्वय—घट–मौलि–सुवर्णार्थी अयं जन नाशोत्पाद स्थितिषु सहेतुकं शोक–प्रमोद–माध्यस्थ्यं याति।

अर्थ—घट मौलि एवं सुवर्ण के अर्थी ये तीन व्यक्ति नाश उत्पाद एवं ध्रौव्य में सहेतुक ही शोक, प्रमोद एवं माध्यस्थ्य भाव को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—कारिकाकार इस कारिका द्वारा दृष्टान्त को लेकर इस बात का समर्थन करते है कि प्रत्येक वस्तु उत्पाद व्यय एव ध्रौव्य स्वभाव वाली है। वह इस प्रकार से–कल्पना करो–तीन व्यक्ति मिलकर बाजार में गये। इनमें एक सुवर्ण के घट का अर्थी था, दूसरा सोने के मुकुट का अभिलाषी था। तथा तीसरा मात्र सोनेका अर्थी था। ये चलते चलते एक सुनार की दुकान पर पहुँचे ही थे कि इतने में वह सुनार सोने के घट को तोड़कर मुकुट बना रहा था। जिस व्यक्ति को उस सोने के घट की कामना थी वह व्यक्ति उस सोने के घट को टूटता हुआ देखकर शोक में डूब गया। तथा जिसे मुकुट की इच्छा थी उसे मुकुट बनता हुआ देखकर प्रमोद भाव जाग्रत हो गया। और जो केवल मात्र सोने का इच्छुक था उसे घट को टूटता हुआ देखकर न विषाद हुआ और न मुकुट बनता हुआ देखकर हर्ष ही हुआ। प्रत्युत दोनों अवस्थाओं मे वह मध्यस्थ रहा, इस प्रकार इन व्यक्तियो मे जो ये शोक प्रमोद एव माध्यस्थ्यभाव उत्पन्न हुए हैं इनका कारण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य है। मूलद्रव्य यहां सुवर्ण है घट विनाश और मुकुट का उत्पाद ये दो उसकी पर्यायें है इसीलिये द्रव्य उत्पाद व्यय एव ध्रौव्य इन तीन धर्म विशिष्ट सिद्ध होता है। जिसे सुवर्ण के घट की आवश्यकता थी वह उसे विनष्ट देखकर दुःखी हो रहा है। इस दुःख का कारण घट का विनाश है। दूसरे व्यक्ति को हर्ष का कारण

मौलिका उत्पाद है। तथा तीसरे व्यक्ति को माध्यस्थ्यभाव का कारण ध्रौव्य है। क्योकि इसकी दृष्टि में घटावस्था में भी सुवर्ण था और मुकुट अवस्था मे भी सुवर्ण है। अतः न इसे हर्ष है और न शोक ही। इस प्रकार शोक, प्रमोद और माध्यस्थभाव के कारण सुवर्णरूप द्रव्य गत उत्पादादित्रय ही हैं। पूर्व विषादि वासना नहीं। ये उनके बहिरंग कारण हैं अन्तरङ्ग कारण मोहनीय प्रकृति का विशेषोदय है।

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥ ६० ॥

अन्वय—पयोव्रतः दधि न अत्ति,दधिव्रत. पय न अत्ति अगोरसव्रत. उभे न (अत्ति) तस्मात् तत्त्वं त्रयात्मकम्।

अर्थ—पयोव्रत वाला व्यक्ति दही नहीं खाता है तथा दही खाने का व्रतलिया हुआ व्यक्ति दूध नहीं खाता है। इसी तरह अगोरसव्रती न दूध खाता है और न दही ही खाता है। इससे मालूम होता है—यह बात मानना चाहिये-कि प्रत्येक तत्त्व उत्पादादित्रयात्मक है।

भावार्थ—पूर्व कारिका द्वारा कारिकाकार ने लौकिकजनो की अपेक्षा लेकर वस्तु में उत्पादादि त्रयात्मकता प्रकट की है। इस कारिका द्वारा वे व्रतिजीवों की अपेक्षा लेकर उसे उत्पादादित्रयात्मक सिद्ध कर रहे हैं। वे कहते हैं देखो जो व्रती ऐसा नियम लेता है कि मै दूध ही खाऊगा वह दूध के सिवाय गोरस से निष्पन्न दही को नहीं खाता है। यद्यपि गोरस की अपेक्षा दूध और दही एक ही हैं फिर भी पर्याय की अपेक्षा इनमें परस्पर में भिन्नता है। इस तरह दूध खाने का नियम लिया हुआ व्यक्ति दूध में दही का अभाव मानता है और इसीलिये उसे स्वतंत्ररूप से नहीं खाता है। इस अपेक्षा दूध खाने वाले की दृष्टि में गोरस का दूधरूप से उत्पाद है और दधिरूप से व्यय है। इसी तरह जिसने दही ही खाने का नियम लिया है वह दही के सिवाय दूध को नहीं खाता है। उसकी दृष्टि में दही में दूध का अभाव है। अत यहां गोरस का दही रूप से उत्पाद है और दूधरूप से व्यय है। इसी प्रकार जिसने दूध दही दोनों को नही खाने

का नियम लिया है वह न दूध खाता है और न दही ही। उसकी दृष्टि में दोनों ही गोरस है। इस अपेक्षा गोरस में ध्रौव्यता सिद्ध होती है। इस प्रकार गोरस रूप तत्त्व उत्पादादित्रयात्मक सिद्ध हो जाता है।

इसी तरह प्रत्येक वस्तु उत्पादादित्रयात्मक है। ध्रौव्य की अपेक्षा वस्तु कथंचित् नित्य एव पर्याय की अपेक्षा कथंचित्-अनित्य सिद्ध हो जाती है। इन्ही धर्मों को लेकर सप्तभंगी घटित कर लेना चाहिये।

अष्टसहस्रीभाव ह्यादाय मया कृतोऽनुवादोऽयम्।
तृतीयपरिच्छेदस्य भवेत्त्रुटिः काऽपि संशोध्या॥

इस प्रकार तृतीय परिच्छेद समाप्त हुआ।

चतुर्थ परिच्छेद

कार्यकारणनानात्वं गुण गुण्यन्यताऽपि च
सामान्यतद्वदन्यत्वं चैकान्तेन यदीष्यते॥ ६१॥

अन्वय—कार्यकारणनानात्व, गुणगुण्यन्यता अपि च सामान्यतद्वदन्यत्व च एकान्तेन यदि इष्यते।

अर्थ—कार्य कारण में सर्वथा भिन्नता, गुण गुणी में सर्वथा अन्यता तथा सामान्य और सामान्यवालों में जाति व्यक्ति में-सर्वथा भिन्नता यदि एकान्त से मानी जाती है।

भावार्थ—वैशेषिक सिद्धान्त "क्रियातद्वतोरवयवावयविनोर्गुणगुणिनोर्विशेषतद्वतोः सामान्यतद्वतोरभावत द्विशेष्ययोश्चान्यतैव भिन्नप्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवत् (अ० स०) इस अनुमान द्वारा यह सिद्ध करता है कि जिस प्रकार सह्य और विंध्य पर्वत भिन्न२ रूप में प्रतिभासित होने के कारण सर्वथा परस्पर में जुदे२ हैं उसी प्रकार क्रिया

और क्रियावान् पदार्थ, अवयव और अवयवी, गुण और गुणी सामान्य और व्यक्ति, विशेष और विशेष युक्त पदार्थ, एवं अभाव एवं अभाव विशिष्ट विशेष्य—पदार्थ ये सब परस्पर में सर्वथा भिन्न२ हैं—अलग२ हैं। क्योंकि इनका भी प्रतिभास जुदा२ होता है। कारिका मे कार्यपद १ के ग्रहण से कर्म, अवयवी, अनित्यगुण तथा प्रध्वसाभाव इनका ग्रहण किया गया है। एवं कारण के ग्रहण से समवायी समवाय तथा प्रध्वंस के निमित्त का ग्रहण हुआ है। गुण शब्द से नित्य द्रव्यवर्ती गुणों का तथा गुणी से गुण के आधारभूत द्रव्य का, सामान्य से पर और अपर सामान्य रूप जाति का तथा "तद्वत्" पद से द्रव्य गुण और कर्म का ग्रहण किया गया है।

यहा इन सब में भिन्नता—पृथक् पृथक्पना सिद्ध करने के लिये दिया गया जो भिन्नप्रतिभासत्व रूपहेतु है वह असिद्ध इसलिये नही है कि साध्य विशिष्ट धर्मी में इस हेतु के सद्भाव का निश्चय है। इसलिये यह हेतु संदिग्धा सिद्ध अथवा अज्ञातासिद्ध भी नहीं हो सकता है। अन्यतरासिद्ध भी इसलिये नहीं है कि वादी और प्रतिवादी को इसमें विवाद नही है। यदि कोई इस प्रकार से इस हेतु में व्यभिचार दोष देवे कि "भिन्न २ पुरुषों को एक ही विषय भिन्न २ रूप से प्रतिभासित होता है एतावता भिन्न २ प्रतिभास का विषय होने पर भी वह पदार्थ अनेक नहीं माना जाता है।" अत भिन्न प्रतिभासत्व रूप से जो आप अनेकत्व सिद्ध करना चाहते हो वह ठीक नहीं है—सो ऐसा कहना ठीक नहीं है कारण कि इस प्रकार से यहां व्यभिचार नही आता है क्योंकि यहां जो भिन्न प्रतिभासत्व हेतु है वह नाना पुरुषों की अपेक्षा भिन्न प्रतिभासत्व रूप से विवक्षित नहीं हुआ है किन्तु एक पुरुष की अपेक्षा से ही वह विवक्षित हुआ है। अर्थात् जहां एक प्रतिपत्ता की अपेक्षा भिन्न २ प्रतिभास होता है वह प्रतिभासित विषय अनेक—भिन्न २-ही होता है। यदि इस पर फिर भी इस प्रकार की आशका की जाय कि एक ही प्रतिपत्ता को क्रम २ से एक ही वस्तु भिन्न २ रूप से प्रतिभासित होती है परन्तु ऐसा होने पर भी वह वस्तु अनेक नहीं मानी जाती वह तो एक ही रहती

---

१ कार्यग्रहणात्कर्मणोऽवयविनोऽनित्यस्य गुणस्य प्रध्वसाभावस्य च ग्रहणं कारणवचनात् समवायिनस्तद्वतः प्रध्वसनिमित्तस्य च। गुणशब्दान्नित्यगुणप्रतिपत्तिः गुणिशब्दात्तदाश्रयस्य सामान्याभिधानात्परापरजातिप्रत्यय, तद्वचनात्तादर्थ्यप्रत्यय (अ० स०)

है जैसे एक ही वस्तु को प्रतिपत्ता जब समीप से देखता है तो वह स्पष्ट प्रतिभासित होती है और उसे ही जब वह दूर से देखता है तो वही अस्पष्टरूप से प्रतिभासित होती है। इस प्रकार क्रमशः एक ही प्रतिपत्ता के भिन्न २ प्रतिभास के विषय बनी हुई वह वस्तु अनेक थोडे ही मानी जाती हैं। अतः इससे हेतु–भिन्न प्रतिभासत्व में अनैकान्तिकता आती ही है सो इस प्रकार का कहना भी ठीक नहीं है कारण कि यहां जो भिन्न प्रतिभासत्व हेतु है वह भिन्नलक्षण सम्बन्धी भिन्न प्रतिभासत्व समझना चाहिये। इससे यह शका निरस्त हो जाती है कि एक ही प्रतिपत्ता के लिये जो क्रमशः एक ही वस्तु भिन्न २ रूप से प्रतिभासित होती है वह यद्यपि भिन्न २ प्रतिभास की विषय भूत है तो भी वह भिन्न २ लक्षण सम्बन्धी भिन्न २ प्रतिभास की विषयभूत नहीं है। भिन्न २ लक्षण संबंधी भिन्न २ प्रतिभास के विषयभूत कार्य कारण, गुण, गुणी, सामान्य व्यक्ति आदि हैं। क्योंकि इन सबके लक्षण भिन्न २ हैं। अतः इनका प्रतिभास भी भिन्न २ है। ऐसा प्रतिभास एक वस्तु में नहीं होता है। इसलिये-भिन्न लक्षण सम्बन्धी जो भिन्न प्रतिभास होता है और उस का जो विपय होता है वह अनेक ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार के प्रतिपादन से यह हेतु सर्वथा निर्दोष साबित हो जाता है। जब एक वस्तु का भिन्न लक्षण रूप से भिन्न प्रतिभास नहो होता है तो इसी से हमारा यह हेतु विरुद्ध भी नहीं होता है। यह हेतु विरुद्ध तो तब होता कि जब इसकी विपक्ष में -साध्याभाव में-वृत्ति सम्पूर्ण रूप से या एक देश रूप से रहती १। परन्तु ऐसा तो पूर्वोक्त कथन से साबित किया जा चुका है कि इस हेतु की वृत्ति विपक्ष में किसी भी रूप से नहीं है। कालात्ययापदिष्ट यह हेतु इसलिये नहीं है कि इस का भेदरूप पक्ष प्रत्यक्ष एवं आगम से बाधित नहीं है। यदि कोई इस पर ऐसी आशंका करे कि यह हेतु कालात्ययापदिष्ट है ही क्योंकि इसका पक्ष-भेद रूप साध्य-"कार्यकारणयोर्गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतो-स्तादात्म्यमभिन्नदेशत्वात् ययोस्तादात्म्यं न तयोरभिन्नदेशत्वम् यथा सह्यविंध्ययोः अभिन्नदेशत्वं च प्रकृतयोः तस्मात्ता-

---

१ अनैकान्तिक हेत्वाभास और विरुद्ध हेत्वाभास मे अन्तर केवल इतना ही है कि अनैकान्तिक हेत्वाभास पक्ष सपक्ष में रहता विपक्ष मे रहता है। तब कि विरुद्धहेत्वाभास सिर्फ साध्याभाव में ही रहता है। सपक्ष में नहीं।

दात्म्यम्" इस प्रकृत अनुमान से बाधित होता है-अर्थात् जो कार्य कारण में गुण गुणी में सामान्य जाति मे सर्वथा भिन्नता साध्य है वह साध्य कार्यकारण में गुण गुणी में सामान्य जाति मे अभिन्न देशता होने से तादात्म्य है जिनमें तादात्म्य नहीं है उनमें सह्यविंध्य पर्वत की तरह अभिन्न देशता भी नहीं है। इस अनुमान द्वारा बाधित होता है। सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है। कारण कि इनमें शास्त्रीय देशाभेद-अभिन्न देशत्व-असिद्ध हैं।

आ० मी० ३४९ क्योकि कार्य का देश अपना कारण और कारण का देश अपना अन्य कारण है। जैसे पट का देश तन्तु और तन्तु का देश कपास होता है। वैशेषिक शास्त्र में इनका सबका देश भिन्न २ माना गया है। अभिन्नदेशता-एकदेशता -इनमें नहीं मानी गई १ है। अभिन्नदेशता का मतलब यहां पर अपृथगाश्रयवृत्तित्व से है। यह अपृथगाश्रय वृत्तित्व इनमे नहीं है। अर्थात् पृथगाश्रयवृत्तित्व है। इस तरह पृथगाश्रयवृतित्व होने से ही शास्त्रीय देशाभेद की इनमें असिद्धि है। लौकिक देशाभेद की अपेक्षा अभिन्न देशता व्योम आत्मा आदि द्रव्यों में भी है। परन्तु वहां साध्य-तादात्म्य-नही है। इसलिये देशाभेद को लेकर गुण गुणी आदि पदार्थों में तादाम्य सिद्ध नहीं होता है। तादात्म्य सिद्धि के अभाव मे यह अनुमान प्रकृतपक्ष-भेद पक्ष-का बाधक नहीं होता है। अत "भिन्न प्रतिभासत्वात् सह्यविंध्यवत् कार्य कारणयोः गुणगुणिनोः सामान्यतद्वतो· अवयवावयविनोः अन्यतैव" इस पूर्वोक्त अनुमान से कार्य कारण गुणगुणी इत्यादिकों में सर्वथा भिन्नता प्रसिद्ध होती है। इस प्रकार वैशेषिक सिद्धान्त सम्मत भेद एकान्त का कथन कर कारिकाकार इसके प्रत्युत्तर स्वरूप आगे की कारिका कहते है।

---

१ सत्यामयुतसिद्धौ चेत् इत्यादि ४३ वीं एव ४४ वीं कारिका इसके लिये देखना चाहिये आप्तपरीक्षा की। "यतः कारणद्रव्य तन्तुलक्षण स्वावयवांशुषु वर्तते, कार्यद्रव्य च पटलक्षण स्वावयवेषु तन्तुषु वर्तते, इति अवयवावयविनोः पृथगाश्रयवृत्तित्वसिद्धेरपृथगाश्रयवृत्तित्वमसदेवेति प्रतिपादनम्। यतश्चगुण कार्यद्रव्याश्रयो रूपादि, कार्यद्रव्य तु स्वावयवाधार प्रतीयते तेन गुणगुणिनोरपृथगाश्रयवृत्तित्वमसभाव्यमान निवेदित।

द्रष्टव्या० आप्त० परीक्षा पृ० १११

एकस्यानेकवृत्तिर्न भागाभावाद्बहूनि वा ।
भागित्वाद्वास्य नैकत्वं दोषो वृत्तेरनार्हते ॥ ६२ ॥

अन्वय–भागाभावात् एकस्य अनेकवृत्ति न स्यात् (वृत्तिश्चेत्) बहूनि वा (स्युः) भागित्वात् वा अस्य एकत्वं न स्यात् । अनार्हते (मते) वृत्तेः दोषः (दुर्निवारः) ।

अर्थ — निरंश होने से एक की अनेक में वृत्ति हो नहीं सकती है । यदि वृत्ति मानी जावेगी तो उनमें अनेकता मानना पड़ेगी । यदि इसके भाग माने जावेंगे तो यह एक नहीं हो सकता है । इस प्रकार अनार्हत मत में वृत्ति मानने पर उसमें दोष दुर्निवार हो जाता है ।

भावार्थ–६१ वीं कारिका में जो कार्य कारण, गुणगुणी, सामान्य सामान्यवान् मे सर्वथा अन्यत्व वैशेषिको ने समर्थित किया है और वहां यह कहा है कि इन सब में भिन्न प्रतिभासता को लेकर अत्यन्त भिन्नता है । सह्यपर्वत और विंध्य पर्वत मे जो सर्वथा भिन्नता है वह इसी की वजह से तो है । इसी तरह यह कार्य है यह कारण है यह गुण है यह गुणी है यह सामान्य है यह सामान्यवाला है इस प्रकार से इन सबका प्रतिभास भी भिन्न२ होता है । अतः जब इनका प्रतिभास भिन्न२ रूप मे होता है तो क्यो न ये परस्पर अत्यन्त भिन्न माने जावेंगे । अवश्य माने जावेंगे । इस भिन्नप्रतिभासत्व हेतु मे दोषों का उद्धार ६१ वीं कारिका द्वारा किया ही जा चुका है । इसलिये जो इनका देशाभेद रूप हेतु को लेकर परस्पर मे तादात्म्य सम्बन्ध अंगीकृत करते हैं उनका कथन समीचीन नहीं है । क्योंकि वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार वहां पर देशाभेद है ही नहीं । कारण कि जिन दो पदार्थों को अभिन्न (एक) आश्रय में वृत्ति होती है वहीं पर देशाभेद होता है । इस देशाभेद का दूसरा नाम ही अयुतसिद्धि है । वह देशाभेद इन कार्य कारण, गुणगुणी, सामान्य और सामान्यवानो मे नहीं है । क्योकि कारण–तन्तुरूप द्रव्य अपने अवयवरूप अंशो मे रहता है और कार्यपटरूप द्रव्य अपने अवयवरूप तन्तुओ मे रहता है । रूपादिक गुण कार्यद्रव्यरूप गुणी मे रहते हैं और गुणी अपने अवयवो मे रहता है

इसी तरह द्रव्यत्वादिक सामान्य द्रव्यादिरूप अपने व्यक्तियो में रहता है और द्रव्यादिरूप व्यक्ति अपने आश्रयों में रहते हैं। इसतरह से इन सब मे एकाश्रयतारूप देशाभेद वैशेषिक सिद्धान्त स्वीकार नही करता है। लौकिक देशाभेद तो " भवेत् दुग्धाम्भसोरपि) दुग्ध और पानी मे भी है। परन्तु वहां तादात्म्य नही है। सयोग है। इस प्रकार वैशेषिको ने अपने सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस पर कारिकाकार इस कारिका द्वारा उनसे यह पूछते हैं कि एक कार्यद्रव्यादिक की अनेक कारणादिको में जो वृत्ति मानी जायगी सो क्या वह प्रत्येक२ अपने आश्रय में एक देश से मानी जायगी या सर्वदेश से मानी जायगी " तत्र एकमनेकत्र वर्तमानं प्रत्यधिकरण न तावदेक देशेन निष्प्रदेशत्वात् नापि सर्वात्मना अवयव्यादि-बहुत्वप्रसगात् (अ० श०) प्रथम पक्ष इसलिये सुन्दर नही माना जा सकता है कि " भागाभावात् एकस्यानेकवृत्तिः न" एक कार्यादिक द्रव्य स्वय निरश माने गये है। उनके अश तो उनके अवयवी ही है और दूसरे कोई उनके अंश नहीं हैं १। अत एक कार्य द्रव्य की अनेक अपने कारणो मे खडश वृत्ति नही मानी जा सकती है। यदि एक कार्य की अपने अनेक कारणो मे सर्वात्मना—सम्पूर्णरूप से—वृत्ति मानी जाय तो " एकत्रैवावयवे सर्वात्मनाऽस्य वृत्तित्वात् अन्येषा मवयवानामवयविशून्यताप्रसङ्गः यावन्तो वाऽवयवाः तावन्तोऽवयविनः स्यु प्रत्यवयवं तस्य सर्वात्मना परिसमाप्तत्वात् (न्याय-कुमुदचंद्र पृ० २२३) एक ही अवयव में कार्य की सर्वात्मना वृत्ति हो जाने से अन्य और जो उसके अवयवरूप कारण है उनमे उस अवयवी के रहने का अभाव होने से उसकी शून्यता का प्रसग प्राप्त होता है—अथवा जितने उसके अवयवरूप कारण हैं उतने ही अवयवी होने का प्रसग प्राप्त होता है क्योकि प्रत्येक अवयवरूप कारण में वह अवयवीरूप कार्य सर्वात्मना परिसमाप्त हो जाता है। जब पटरूप कार्य सर्वात्मना अपने प्रत्येक अवयवभूत तन्तुरूप कारण में वर्तमान माना जायगा तो यह स्वाभाविक बात है कि या तो उसके वे अनेक तन्तु वस्त्ररूप कार्य से रहित मानना पडेंगे या उन सब मे भिन्न२ रूप से वस्त्ररूप कार्य का सद्भाव मानना पडेगा। तथा च " बहूनि वा " ऐसा कारिकाकार का दोष प्रदर्शन करना सर्वथा उचित बैठता है। यदि इस पर यो कहा जाय कि कार्य द्रव्य मे बहुत्व होने का दोष इसलिये नही

---

१ " अवयवव्यतिरेकेण अवयविनोऽपरदेशाभावत्" —न्यायकुमुदचन्द्र पृ २२३

आ सकता है कि हम लोग उसे अपने२ अनेक कारणों में खंडशः रहने वाला मान लेंगे कुछ पहिले तन्तु में वह रहेगा
कुछ दूसरे तन्तु में रहेगा कुछ तृतीय आदि तन्तुओं में रहेगा—इस प्रकार उसकी खंडश. वृत्ति कबूल कर लेने से उसमें
बहुत्व का प्रसग वारित हो जायगा—सो ऐसा कहना भी इसलिये उचित नही है कि यदि इस प्रकार से उसमें विभाग
कल्पना की जायगी तो वह कार्य एकरूप से नही माना जा सकता है। अर्थात् इस प्रकार की मान्यता में उसमें एकपना
नहीं बन सकता है। यही बात " भागित्वे वास्य नैकत्व " इस उत्तरार्द्ध के पादांश द्वारा प्रकट करने में आई है। यदि
तन्तुओं से भिन्न मानने पर भी पट में सांशता मानी जाय तो इसी प्रकार का वहां भी विकल्प उपस्थित होगा पट अपने
अंशों में खडशः रहता है। कि सर्वात्मना रहता है इस प्रकार वृत्ति विकल्पों का पुनः पुनः अवतरण होगा जिससे कुछ
मतलब हल नहीं हो सकेगा। वृत्ति शब्द का अर्थ अपने कारणों में कार्य का रहना है। इस पर इन पूर्वोक्त विकल्पों का
उठना ही वृत्ति विकल्प है। इस प्रकार कार्यादिको की अपने२ कारण आदि मे अनार्हत मत में वृत्ति दूषित साबित हो
जाती है। इसी तरह गुण और सामान्य में भी निरशता होने से उनकी भी गुणी और सामान्यवानों मे वृत्ति दूषित
समझ लेनी चाहिये। क्योकि इसी तरह के एक देशरूप अथवा सर्वदेशरूप से रहने के—विकल्प वहां भी उठते हैं। इससे
गुण में और सामान्य मे अनेकता का प्रसंग प्राप्त होता है। परन्तु वैशेषिक सिद्धान्त में संयोग आदि गुण एवं द्रव्यत्व
आदि सामान्य अनेक नहीं माने गये हैं। भले ही वहां गुण और सामान्य क्रमशः २४ और २ भेद वाले कहे गये हैं परन्तु
रूपादिक गुण एवं द्रव्यत्व आदि सामान्य के और रूपादिक गुण एव सामान्य थोडे ही माने हैं।

इसी अपेक्षा यह कहा गया है कि गुण और सामान्य की वृत्ति अपने आश्रयो में सर्वात्मना मानने पर उनमें
अनेकता का प्रसंग मानना पडेगा। अत गुण गुणी में कार्य कारण में एव सामान्य सामान्यवानों में कथंचित् तादात्म्य
सम्बन्धरूप वृत्ति ही मानना चाहिये। तभी जाकर इनकी सिद्धि हो सकती है। यदि समवाय सम्बन्ध इनका परस्पर
में सम्बन्ध कारक माना जावेगा—अर्थात् यदि ऐसा कहा जाय कि गुण और गुणी का सामान्य सामान्यवानों का अवयव
अवयवी का जो सम्बन्ध होता है वह समवाय सम्बन्ध है और उस वृत्ति द्वारा ही अवयव आदि में अवयवी आदि रहते

हैं-सो इस पर भी यही कहा जा सकता है कि अवयव आदिकों मे जो अवयवी समवाय सबंध से रहेगा सो क्या वह प्रत्याश्रय मे-प्रत्येक अपने अवयव मे एकदेश रूप से समवेत रहेगा या सर्वरूप से समवेत रहेगा। भाग का अभाव होने से वह एकदेश रूप से वहां समवेत हो नहीं सकता-यदि माना जायगा तो जितने उसके अवयव हैं उनमे सबमें सर्वात्मना उसके समवेत होने से उसमें अनेकत्वापत्ति आती है। यह सब बात ऊपर प्रदर्शित ही की जा चुकी है। अवयव अवयवी, कार्य कारण आदि में सर्वथा-एकांत रूप-से जो भिन्नता-अनेकता-सिद्ध करने के लिये भिन्न प्रतिभासत्वरूप हेतु दिया गया है वह कालात्ययापदिष्ट हेत्वाभास से दूषित होता है क्योकि यह तुम्हें मानना चाहिये कि जिसकी जिससे सर्वथा भिन्नता- रहती है वहां उसकी वृत्ति उपलब्ध नही होती है जैसे हिमवान और विंध्य ये दोनों परस्पर में सर्वथा भिन्न २ हैं इसलिये हिमवान में विंध्य की वृत्ति उपलब्ध नही होती है। परन्तु ऐसी बात अवयव अवयवी आदिकों में तो है नहीं, क्योंकि यहां तो अवयवी आदिकों की वृत्ति अपने अपने आश्रयो में उपलब्ध होती है। इसलिये एकान्त रूप से ये परस्पर में सर्वथा भिन्न नहीं माने जा सकते हैं। इस तरह भिन्न प्रतिभासत्व रूप हेतु का विषय जो अवयव अवयवी में एकान्त नानात्व का पक्ष है वह इस पूर्वोक्त कथन से-व्यतिरेक अनुमान से-बाधित हो जाता १ है यदि इस पर यों कहा जाय कि यह तुम्हारा कथन ठीक नही है—व्यभिचरित है। कारण कि दही और थाली इनमें सर्वथा भिन्नता है तो भी दही की सयोग रूप वृत्ति थाली में अनुपलब्ध नही है-वहां उसकी वृत्ति देखी जाती है। सो ऐसा कहना भी उचित नही है कारण कि दही और थाली में सर्वथा भिन्नता नहीं है। ये दोनों सयोग के परिणाम है। यदि ये संयोग के परिणाम स्वरूप न होते तो इनका सयोग कभी हो ही नहीं सकता। तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर ये वृत्ति विकल्प वहां नही उठते है। इसके लिये अष्टसहस्री देखना चाहिये। इस प्रकार गुण गुणी का कार्य कारण का और सामान्य सामान्य वालो का परस्पर में सर्वथा भिन्न पक्ष सुघटित नहीं होता है।

१ कार्य-गुण-सामान्यानि स्वाश्रयेभ्यो नैकान्तेन भिन्नानि-तत्र वृत्त्युपलब्धेः यस्य तु यतोऽन्यत्वैकान्तः तस्य तत्र न वृत्त्युपलब्धिः यथा हिमवति विंध्यस्य। अयं व्यतिरेकदृष्टान्तः।

देशकालविशेषेऽपि स्याद्वृत्तिर्युतसिद्धवत् ।
समानदेशता न स्यान्मूर्तकारणकार्ययोः ६३ ॥

अन्वय—देशकाल विशेषे अपि (तयोः) युतसिद्धवत् वृत्तिः स्यात् । मूर्तकारणकार्ययो समानदेशता न स्यात् ।

अर्थ—अवयव और अवयवी आदि का परस्पर सर्वथा–अत्यन्त भेद यदि स्वीकार किया जाय तो देश और काल की अपेक्षा से भी इनमें सब में भेद मानना पड़ेगा । इस अपेक्षा भेद मानने पर इनकी वृत्ति युतसिद्ध पदार्थों की तरह होगी । तथा मूर्त-कारण और कार्य में समान देशता-एकदेशपना-नहीं बन सकता है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रकट करते हैं कि जब धर्म और धर्मी में-अवयव और अवयवी आदि पदार्थों में सर्वथा अत्यन्त भिन्नता मानी जावेगी–तो ऐसी स्थिति में देश और काल की अपेक्षा भी उनमें भेद मानने का प्रसंग प्राप्त होगा ।

शका—जिनमे परस्पर अत्यन्त भेद होता है उनमें देश और काल की अपेक्षा भी भेद हो जाता है ऐसा नियम नहीं बन सकता । क्योंकि आत्मा और आकाश में अत्यन्त भेद है तो भी उनमे देश और काल की अपेक्षा भेद नहीं माना जाता है । इसलिये अवयव और अवयवी-कार्य और कारण आदि का परस्पर में सर्वथा भेद रहने पर भी देशकाल की अपेक्षा इनमें भेद साध्य सिद्ध कैसे हो सकता है ?

उत्तर—आत्मा और आकाश में सर्वथा भेद माना ही नहीं गया है क्योंकि " सद्द्रव्यत्वादिना भेदाभावात् " सत्ता अथवा द्रव्यत्व जाति की अपेक्षा से उन्हें कथचित् एक माना है । यहां तो यह बात बतलाई जा रही है कि जिनमें सत्ता द्रव्यत्व आदि की अपेक्षा भी एकत्व नहीं है-अत्यन्त भेद है-उनमें देश और काल की अपेक्षा भी भेद मानना पडेगा । आत्मा आकाश में ऐसो बात तो है नहीं, अत इनमें अत्यन्त भेद का अभाव होने से देश काल की अपेक्षा भी भेद नही आता है ।

शका—रूप, रस, गध और स्पर्श इनमें परस्पर में अत्यन्त भिन्नता मानी जाती है परन्तु देशकाल की अपेक्षा लेकर इनमें भेद नहीं आता है अतः अत्यन्त भेद देश और काल की अपेक्षा भी भेद का नियामक नहीं हो सकता है ?

उत्तर—यह भी कहना ठीक नही है। कारण कि रूपादिक गुणों का अपने आश्रयभूत द्रव्य से अत्यंत भेद नहीं माना गया है। और न परस्पर में भी इनका अत्यंत भेद माना गया है। दूसरे–ये तो पक्षान्त पाती हैं। इनसे नियम का विघात कैसे हो सकता है। हम तो यही कह रहे हैं कि गुण और गुणी में अत्यन्त भेद नहीं है। गुणत्व जाति की अपेक्षा एक होने से उनमें-वर्णादिको में-परस्पर में भी सर्वथा भिन्नता नहीं है। इसलिये अवयव अवयवी में सर्वथा भिनता मानने पर उनकी वृत्ति युतसिद्ध पदार्थों की तरह–घट पट आदि पृथक् भूत पदार्थों के समान–भेद–रूप मानना पड़ेगी।

शंका—कार्य और कारण आदि का समान देश और समानकाल स्वीकृत किया गया है अतः उनकी वृत्ति भेद रूप नहीं मानी जा सकती ?

उत्तर—ऐसा कहना ठीक नही। कारण कि अवयव अवयवी, कार्य कारण आदि मूर्त्त पदार्थों की वृत्ति गधे और ऊट की तरह समानदेश-एकदेश-में हो ही नहीं सकती है।

शंका—वात-वायु और आतप ये मूर्त पदार्थ हैं। पर इनकी वृत्ति तो एकदेश में देखने में आती है ? फिर आप ऐसा क्यो कहते हैं ?

उत्तर—वात और आतप की वृत्ति जिस आकाश प्रदेशरूप एक देश को लेकर एकदेश में समझ रहे हो वह एक देश यहां विवक्षित नहीं है। और यदि हो भी, तो भी उसमें जब वात अवयवी और आतप अवयवी अपने २ प्रदेशों से-अवयवों से अत्यन्त भिन्न हैं तब उनकी भी वृत्ति उसमें नहीं हो सकती है। यह दोष उपस्थित ही रहता है। वात

और आतप रूप अवयवी समानदेश वाले नहीं हैं। क्योंकि इनके अपने २ अवयव ही इनके देश हैं। वैशेषिक सिद्धान्तकारो ने जब अयुतसिद्धत्व का विचार किया है वहां यह बतलाया है कि किसी भी पदार्थ का समानदेश नहीं हैं। इसलिये वात अपने अवयवो में और आतप अपने अवयवो में रहता हैं। फिर कैसे इन दोनों का देश समान माना जा सकता है। इसलिये ऐसा कहना कि वात और आतप की वृत्ति एकदेश में देखी जाती है उचित नहीं है।

आ० शंका —वात और आतप की तरह अवयव और अवयवी में भी इसी तरह की असमान देशता हमने मानी
मी० है अर्थात् भिन्न देशता मानी है। एक देशता तो मानी ही नहीं है—फिर "मूर्तकारणकार्ययो समानदेशता न स्यात्"
३५६ ऐसा कारिकाकार का कहना कोई दोपावह नहीं होता है।

उत्तर—ऐसा समझना उचित नहीं है कारण कि परमाणु और द्वयणुक मे इस प्रकार की भिन्न देशता का अभाव होने से समान देशता भी वहां नही आती है। मतलब कहने का यह है कि जिस प्रकार पट और तन्तुओ में पट की तन्तुओ में और तन्तुओ की अपने अवयवो मे वृत्ति होने से समानदेशता नहीं है भिन्न देशता है इस प्रकार की भिन्न देशता परमाणु और द्वयणुक मे नहीं है। क्योंकि द्वयणुक की वृत्ति परमाणुओं मे तो हैं पर परमाणु की वृत्ति अपने अवयवो मे नहीं है क्योकि परमाणु निरंश माना गया है। इस तरह द्वयणुक और परमाणु में भिन्नदेशता का अभाव-आता है, इससे कोई ऐसा भी समझ सकता है कि द्वयणुक और परमाणु में एकदेशता होगी सो उसके लिये ऐसा कहा गया है कि यहां समान देशता भी-एकदेशता भी-नहीं हो सकती है।

शका—परमाणु और द्वयणुक इनमें एकदेशता है ही नही, क्योकि द्वयणुक का देश परमाणु है और अनंश भी परमाणु का देश अन्य आश्रयान्तर है जहां कि वह ठहरा हुआ है फिर एकदेशता यहां समझने की बात ही कहां रहती है कि जिस एक देशत्व के अभाव को प्रकट करने के लिये "मूर्त कारणकार्ययोः समान देशता न स्यात्" ऐसा कारिकाकार के द्वारा कहा जाय। वहां उसकी प्रसक्ति होती तो ही उसका वारण करना उचित था? यहां तो समान देशता ही है?

उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नही है। कारण कि परमार्थ दृष्टि से तो परमाणु ओर द्वयणुक रूप कार्य कारण में भिन्न देशता आती नही है। क्योकि परमाणु अनश है। यदि परमाणु साश होता तब ही कार्य कारण में परमार्थतः भिन्नदेशता आती है। अन्य आश्रयान्तर रूप आकाश प्रदेश में वह परमाणु रहता है इसलिये इस दृष्टि से-लौकिक दृष्टि से-वहा भिन्नदेशता कल्पित की गई है। तो इसी तरह से इसी लौकिक देश-आकाश प्रदेश स्वरूप—की अपेक्षा से कार्य कारण में समान देशता मानने का प्रसग प्राप्त होता है। इसके लिये कारिकाकार ने ऐसा कहा है कि एक आकाश के प्रदेश रूप देश में भिन्न २ दो मूर्तपदार्थ नही रह सकते हैं।

शंका—जैनदृष्टि तो ऐसा नही मानती है। वहां तो एक ही आकाश के प्रदेश में असंख्येय आदि परमाणुओ का अवस्थान अविरुद्ध माना गया है।

उत्तर—यहा पर जुदे २ मूर्त कार्य कारणो का एक प्रदेश में रहने का सूत्रकार ने निषेध किया है। किन्तु अवगाहना शक्ति की विशेषता से एकत्वरूप से परिणमित हुए असख्यात परमाणु भी एक आकाश प्रदेश मे रहते हैं इसका निषेध नही किया है। जो इस एकत्व परिणाम से रहित हैं किन्तु सयोग मात्र रूप से स्थिति हैं—ऐसे परमाणुओ का एक आकाश प्रदेश में अवस्थान नहीं बतलाया है। उनकी वृत्ति तो अनेक आकाश प्रदेशो में ही मानी जाती है। अतः मूर्त कार्य कारण यदि सर्वथा भिन्न २ है तो इनका अवस्थान एकदेश में कथमपि नहीं हो सकता है। यह कथन सूत्रकार का बिलकुल निर्दोष है।

आश्रयाश्रयिभावान्न स्वातंत्र्यं समवायिनाम्।
इत्ययुक्तः स सम्बन्धो न युक्तः समवायिभिः।, ६४ ॥

अन्वय—आश्रयाश्रयिभावात् समवायिनां स्वातन्त्र्यं नास्ति इति "चेत्" समवायिभिः अयुक्त सः सम्बन्धः न युक्तः।

अर्थ—आश्रयाश्रयिभाव होने से समवायियों मे स्वतन्त्रता नहीं है यदि इस प्रकार वैशेषिक कहें तो कारिकाकार उत्तर देते है कि समवायियो के साथ अयुत्त-दूसरे समवाय सम्बन्ध से असम्बन्धित-वह समवाय सम्बन्ध रूप से घटता ही नही है—सिद्ध ही नही होता है ।

भावार्थ ६३ वी कारिका द्वारा जो यह कहा गया है कि "अवयव आदिको से अवयवी आदिकों को अत्यन्त भेदवृत्ति मानी जायगी तो उनका देश काल की अपेक्षा भी भेद मानना पड़ेगा तथा च स्वतत्र घटपट की तरह-युतसिद्ध पदार्थों की तरह -उनकी स्वतंत्रवृत्ति मानने का प्रसग प्राप्त होगा" सो इसके ऊपर समाधान रूप मे वैशेषिक उत्तर देते हुए कहते है कि कार्य कारण आदि पदार्थो में -क्रिया क्रियावान्, अवयव अवयवी, गुण गुणी, विशेष विशेषवान्, सामान्य सामान्यवान् इन सब समवायी पदार्थों मे—स्वतन्त्रता नहीं आती है कि जिससे युतसिद्ध पदार्थों की तरह देश और काल आदि के भेद से उनकी वृत्ति मानी जा सके । इनमे तो आश्रयाश्रयिभाव है । अवयव आदिकों में आश्रयभाव तथा अवयवी आदिको में आश्रयिभाव है । तथा ये सब पदार्थ परस्पर मे समवाय सम्बन्ध से जकडे हुए हैं-बधे हुए हैं—जुडे १ हुए हें—इसलिये समवाय सम्बन्ध के आधीन होने से-समवाय सम्बन्ध द्वारा प्रतिबद्धित होने से-ये सब समवायी पदार्थ देश काल आदि के भेद से अपनी वृत्ति कैसे कर सकते हैं । ये सब स्वतंत्र होते तब ही ऐसा कर सकते १ । परन्तु हमने नित्य द्रव्यो को छोडकर ६ पदार्थो मे आश्रितपना माना है । अत स्वतन्त्र न होने की वजह से समवायियों में देश कालादिक के भेद से युतसिद्ध पदार्थो की तरह भेद वृत्ति नही हो सकती है ।

इस प्रकार वैशेषिको का अभिमत चित्त मे धारण कर कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह कह रहे है कि हे वैशेषिक ! समवायियो को परस्पर मे जोड़ने वाला वह समवाय पदार्थ-समवायियो को आश्रयाश्रयिभाव मे रखकर

१ अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिहद प्रत्ययलिङ्गो य सम्बध समवाय. (प्रशस्तपादभाष्य सम० प्र०) सानुवाद आप्त परीक्षा पृ० १०६ ।

१ षण्णामाश्रितत्वमन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य. । (प्रशस्तपाद भाष्य पृ० ६)

उनकी स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला समवाय —अपने इन समवायियो में दूसरे समवाय से जुडता है कि स्वतः जुड़ता है ? यदि समवायान्तर से जुडता है-अपने समवायियो मे दूसरे समवाय से यह समवाय रहता है-यह पक्ष अंगीकार किया जाय तो अनवस्था दोष आता है क्योकि अन्य समवाय की वृत्ति भी अपने समवाय-समवायो मे दूसरे समवाय से मानना पडेगी । इस तरह अपरापरसमवायान्तर की कल्पना से अनवस्था दोष स्पष्ट है इस दोप से वचने के लिये यदि ऐसा कहा जाय कि समवाय अपने समवायियो मे स्वत बिना अन्य समवाय के-सम्बन्धित होता है तो फिर द्रव्यादिकों को-समवायियो को-परस्पर मे इसके द्वारा जुडने की क्या आवश्यकता है । जिस प्रकार बिना अन्य समवाय के समवाय अपने द्रव्यादिक सम्बन्धियो मे जुड जाता है उसी प्रकार ये द्रव्यादिक सम्बन्धी परस्पर मे जुडे हुए हैं यह मान लेना चाहिये । तथा च समवायाधीनता समवायियों मे नही आती है । स्वतन्त्रता ही आती है ।

शका—समावाय को अपने समवायियो मे जुडने के लिये अन्य समवायान्तर की अपेक्षा नहीं मानी गई है-जहां इसे आश्रित बतलाया गया है वह उपचार से बतलाया गया है । अतः ऐसा विकल्प उपस्थित करना उचित नहीं है ।

उत्तर—तो फिर इस प्रकार के कथन से यह बात साबित होती है कि समवाय अपने समवायियो के साथ असम्बद्ध है । इस प्रकार असम्बद्ध यह समवाय अपने समवायी द्रव्यादिको के साथ कैसे रह सकता है ? नही रह सकता है तब फिर समवायियो को-द्रव्यादिकों की-स्वतंत्र—पृथक्- सिद्ध होने मे क्या वाधा है । इसलिये कारिकाकार का यह कथन कि "समवायिभिः अयुक्तः स सम्बन्धो न युक्त" जो अपने समवायियो से अयुक्त है-जुड़ा हुआ नही है वह सम्बन्ध ही घटित नहीं होता है-वह सर्वथा अयुक्त है । यदि इस तरह से इसे सम्बन्ध माना जायगा तो कालादिकों को भी सम्बन्ध रूप से मान्य रखना पडेगा ।

शंका —समवाय अपने समवायियो के साथ विशेषण विशेष्य भाव रूप सम्बन्धित माना १ गया हैं । अतः

१ 'इन समवायियो मे समवाय हे, इस प्रकार के प्रत्यय से वैशेषिको ने समवाय और समवायियो का विशेषण विशेष्यभाव सम्बध माना है । 'विशेषणविशेष्यभावो हि समवायसमवायिना परैरिष्टः' आप्तपरीक्षा पृ० १२२

इसे सम्बन्ध स्वरूप मानने में क्या आपत्ति है। समवाय विशेषण है समवायी विशेष्य है।

उत्तर—ऐसा कहना भी ठीक नही है। कारण १ कि यह विशेषण विशेष्य भाव समवाय-समवायियों से भिन्न ही स्वीकार किया जायगा अभिन्न नहीं, अन्यथा समवाय को भी समवायियों से अभिन्न मानना होगा। इस तरह भिन्न माना गया वह विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध अपने सम्बन्धियों मे अन्य दूसरे विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध से प्रतिनियत होगा अन्य प्रकार नहीं और उस दशा मे अन्य २ विशेषण विशेष्य भावो की कल्पना करने पर अनवस्था का प्रसंग होता है। यदि विना अन्य विशेषण विशेष्यभाव सम्बन्ध के वह अपने सम्बन्धियों मे सम्बन्धित होता है तो वह सम्बन्ध नहीं माना जा सकता। यदि इस सम्बन्ध को अपने सम्बन्धियो के साथ कथंचित् तादात्म्य स्वरूप (कथंचित् अभिन्न) माना जाय तो कार्य कारण आदि मे भी वही कथंचित् अभिन्नता मान लेनी चाहिये। फिर समवाय सम्बन्ध की कल्पना करने से क्या लाभ। इस प्रकार सर्वथा भेद पक्ष दूषित ही होता है।-

इस कारिका का निष्कर्षार्थ यह है कि वैशेषिक ने समवाय सम्बन्ध से सबंधित होने की वजह से कार्य कारण आदि मे स्वतन्त्रता का निषेध किया-तब इसके ऊपर आचार्य ने कहा कि वे समवाय संबंध से सबंधित होते ही नहीं है। अत परतंत्रता का अभाव होने से इन कार्य कारण आदिको में स्वतंत्रता आने से देशकाल आदि के भेद से युतसिद्ध पदार्थो की तरह इनकी स्वतत्र वृत्ति मानने का प्रसग वारित नहीं हो सकता है।

सामान्यं समवायश्चाप्येकैकत्र समाश्रितः।
अंतरेणाश्रयं न स्यान्नाशोत्पादिषु को विधिः॥ ६५॥

१ स च समवायसमवायिभ्योऽर्थान्तरमेव न पुनरमर्थान्तरम् समवायस्यापि समवायिभ्योऽनर्थान्तरत्वापत्तेः। सच अर्थान्तरभूतो विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्धः स्वसम्बन्धिषु परस्मादेव विशेषणविशेष्यभावात्प्रतिनियत स्यात् नान्यथा। तथा चापरापरविशेषणविशेष्यभावपरिकल्पना यामनवस्थाऽख्या बाधा तद्वदस्त्येव।

आप्त परीक्षा पृ० १२३।

अन्वय—सामान्य च १ समवायः अपि आश्रयमंतरेण नस्यात् एकैकत्र समाप्तितः । (तत) नाशोत्पादिषु कः विधिः ।

अर्थ—सामान्य—सत्ता—जिस प्रकार आश्रय के विना नहीं रहता है उसी प्रकार समवाय भी विना आश्रय के नहीं रहता है इस प्रकार ये दोनो साश्रय हैं और अपने आश्रयभूत पदार्थों में—नित्य पदार्थों में—से प्रत्येक पदार्थ में ये समस्तरूप से रहते हैं अंशरूप से नहीं । जब इस प्रकार की सामान्य और समवाय की स्थिति है तो फिर नाशोत्पादी-अनित्यपदार्थों में नवीन उत्पन्न हुए पदार्थों में—इनका विधान कैसे माना जासकता है ।

भावार्थ—वैशेषिक का ऐसा कहना है कि समवाय सत्ता सामान्य के समान नित्य ही है । कार्य जब उत्पन्न होता है तब वह सत्ता का समवायी माना जाता है । इस प्रकार कार्य और समवाय का जोड़ा है । इसलिये ६४ वीं कारिका में जो समवाय को सम्बन्ध नहीं होने बावत बात कही गई है वह ठीक नहीं है । क्योकि कार्य समवायी और उसमे रहा हुआ नित्य सम्बन्ध समवाय है । "समवाय २ का लक्षण भी तो नित्यसम्बन्ध समवायः" ऐसा है अर्थात् समवाय उस सम्बन्ध का नाम है कि जो दो वस्तुओं में सर्वदा से मौजूद है । घट में जो घटत्व का सबंध है वह नित्य एव अचल है । जहां घट रहेगा वहां घटत्व रहेगा ही । यद्यपि सयोग के द्वारा भी दो वस्तुओं में सम्बन्ध स्थापित होता है किन्तु वह सम्बन्ध अनित्य होता है । समवाय सम्बन्ध ऐसा नहीं है वह न कभी उत्पन्न होता है और न विनष्ट । यह अनादि अनंत सम्बन्ध है । संयोग और समवाय मे निम्नलिखित भेद है—

संयोग युतसिद्ध वस्तुओं में होता है समवाय अयुत सिद्ध वस्तुओ में । युतसिद्ध पदार्थ वे हैं जो पहिले पृथक् २ विद्यमान थे । उनका जुड जाना ही युतसिद्ध या संयोग है । अयुत सिद्ध पदार्थ वे हैं जो कभी नहीं जोडे गये अर्थात् जो

---

१ च शब्दोऽयं भिन्नप्रक्रम इवार्थे तेन सामान्यमित्यस्यानन्तर द्रष्टव्यः । ततोऽयमर्थं प्रतिपादितो भवति सामान्यमिवेति-सामान्य यथा आश्रयमन्तरेण न स्यात्तथा समवायोऽप्याश्रयमन्तरेण न स्यात् । नित्यव्यक्तिषु प्रत्येकपरिसमाप्तत्वात् इत्यर्थं ।

अष्टसहस्री टि० पा० २१९

२ भारतीय दर्शन परिचय के आधार से यह लिखा है ।

सर्वदा से संलग्न हैं। जो पदार्थ कभी पृथक्[2] विद्यमान नहीं थे उनका नित्य आधाराधेय सम्बन्ध ही अयुतसिद्धि—समवाय है। अयुतसिद्ध वस्तुओं का यह लक्षण है कि उनमें जबतक एक का विनाश नही होता तब तक वह दूसरे में ही आश्रित रहता है " ययोर्द्वयोर्मध्ये एकम विनश्यद् अपराश्रितमेवावतिष्ठते तौ एव द्वौ अयुतसिद्धौ विज्ञातव्यौ (तर्कसंग्रह)। संयोग दो स्वतत्र वस्तुओं मे होता है समवाय सम्बन्ध आधार और आधेय में ही हो सकता है। सयोग एक पक्ष व उभय पक्षों के कर्म से उत्पन्न होता है किन्तु समवाय सम्बन्ध किसी के कर्म से उत्पन्न नहीं होता। समवाय से संम्बन्ध वस्तुएं एक दूसरी से अलग नहीं की जा सकती हैं—जब तक उनका अस्तित्व है तबतक उनका सम्बन्ध विच्छेद नही हो सकता। घट का रूप कभी घट से पृथक् नहीं किया जा सकता। हम घट को नष्ट भले ही कर डालें किन्तु उसके रहते हुए घटत्व को उससे बाहर नहीं कर सकते। फूल पर भ्रमर आकर बैठा है यह संयोग सम्बन्ध है—फूल में सुगंध है यह समवाय संबन्ध है। सयोग सयुक्त वस्तुओ का नाश हो जाने पर या उनके रहते हुए भी विनष्ट हो जाता है किन्तु समवाय सम्बन्धियो के नष्ट हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता क्योंकि यह सत्ता की तरह स्वतत्र और स्वात्मवृत्ति होता है द्रव्य १ में गुण कर्मादिक समवाय सम्बन्ध से रहते हैं किन्तु स्वत. समवाय किस सम्बन्ध से रहता है ? यदि कहा जाय कि समवाय द्रव्य के साथ समवाय सम्बन्ध से रहता है तो अनवस्था आ जाती है । घट में घटत्व समवेत है किन्तु इस समवाय सम्बन्ध का भी घट में समवाय नही माना जा सकता क्योंकि वह एक ही है (समवायस्त्वेक एव)। समवाय सयोग सम्बन्ध से भी नहीं रह सकता क्योकि सयोग द्रव्याश्रित गुण है। उसकी वृत्ति द्रव्यातिरिक्त पदार्थ में नहीं हो सकती। अत समवाय न सयुक्त हो सकता है और न समवेत। यह अपने स्वरूप में ही अवस्थित रहता है। जिस प्रकार घट में सत्ता की वृत्ति स्वाधीन है किसी दूसरी सत्ता पर निर्भर नहीं करती उसी प्रकार द्रव्यादिक में समवाय की वृत्ति भी स्वाधीन है। इस का ज्ञान अनुमान के द्वारा ही होता है। क्योंकि यह अतीन्द्रिय है। अवयव अवयवो, गुण गुणी, क्रिया क्रियावान् जाति व्यक्ति एवं विशेष और नित्य व्यक्ति में यह सम्बन्ध होता है।

आ० मी० ३६२

१ घटादीनां कपालादौ द्रव्येषु गुणकर्मणो. तेषु जातेश्च सम्बन्ध समवायः परिकीर्तित॰ ।

सामान्य का अर्थ जाति है। यह समानरूप से अपनी२ व्यक्तिरूप बहुत सी वस्तुओं में रहता है जैसे–गोत्व। संसार में गायें बहुत सी हैं किन्तु गोत्व जाति एक ही है। जाति स्वतः एक होते हुए अनेक व्यक्तियों में समवेत रहती है। गायें जन्मती हैं और मरजाती हैं किन्तु गोत्व जाति का कभी विनाश नहीं होता। "नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्" (तर्क सग्रह) सामान्य का यह लक्षण है। घट पट आदि कार्य द्रव्य भी अनेक समवेत हैं किन्तु वे नित्य नहीं हैं। अतः सामान्य नहीं कहे जा सकते। आकाश का परिमाण भी नित्य हैं किन्तु उसकी वृत्ति एकमात्र व्यक्ति (आकाश) में सीमित है (एकव्यक्तिमात्रवृत्तिस्तु न जाति) इसलिये अनेक समवेत नहीं होने से वह जाति नहीं माना गया है। सामान्य के परसामान्य अपर सामान्य तथा परापर सामान्य इस तरह से ३ भेद माने १ गये हैं।

इनमें केवल पर सामान्य–सत्तामात्र–ऐसी जाति है जो सामान्य ही कही जा सकती है विशेष नहीं। अपर-सामान्य स्व विषयों के संयोजक होने से सामान्य और विषयान्तरों से विच्छेदक होने के कारण विशेष दोनों समझे जा सकते हैं। परत्वापरत्व-परापर-सामान्य आपेक्षिक होते हैं जैसे द्रव्यत्व को ले लीजिये। यह सत्ता की अपेक्षा न्यून विस्तार वाला होने के कारण अपर किन्तु पृथ्वीत्व की अपेक्षा अधिक विस्तार वाला होने के कारण पर है। इसी तरह पृथ्वीत्व भी द्रव्यत्व की अपेक्षा अपर और घटत्व की अपेक्षा पर है। सीधे शब्दों में "पर" से अपर, तथा "अपर" से नीचे का अर्थ समझना चाहिये। सबसे ऊपर वाला सामान्य है सत्ता, क्योंकि, यह सभी जातियों में व्यापक है, किसी का व्याप्य नहीं अत पर सामान्य है। सबसे नीचे वाला सामान्य है घटत्व आदि। इनके नीचे कोई दूसरी जाति नहीं है अतएव ये किसी जात्यन्तरके व्यापक नहीं हो सकते व्याप्य मात्र हो सकते हैं इसलिये ये शुद्ध 'अपर' सामान्य हैं इन दोनों के मध्यवर्ती द्रव्यत्व आदि समान्यपर और अपर दोनों होते हैं इन्हें परापर कहते हैं द्रव्य गुण कर्म इनमें सत्ता रहती है२।

---

१ सामान्य परम् अपर परापरञ्चेति। व्यापकमात्र मामान्य पर, व्याप्यमात्रसामान्य अपरम् व्याप्यव्यापकोभयरूप सामान्य परापरम् सप्तपदार्थी।

२ द्रव्यादिकत्रिक वृत्तिस्तु सत्ता परतयोच्यते।
परभिन्ना तु या जाति सैवापरतयोच्यते॥ द्रव्यत्वादिकजातिस्तु परापरतयोच्यते।

इस प्रकार यहां तक वैशेपिक सिद्धान्त की सामान्य और समवाय की मान्यता का यह परिचय उपयोगी समझ कर भारतीय दर्शन परिचय ग्रन्थ के आधार से कराया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सामान्य अपने व्यक्तियों से सर्वथा पृथक् है और उसे व्यक्तियों में जोड़ने वाला सम्बन्ध समवाय है।

कारिकाकार ने इसी पूर्वोक्त वैशेषिक की मान्यता को लेकर यह कारिका कही है-इसके द्वारा वे इसी मान्यता का पर्यवेक्षण करते हैं वे कहते हैं कि सामान्य और समवाय जब नित्य और एक एक हैं एवं एक एक पदार्थ में सम्पूर्ण रूप से रहते हैं तो किसी एक नित्य पदार्थ में ही ये दोनों सर्वात्मना परिसमाप्त हो जायेंगे तब अन्य नित्य पदार्थों मे एवं जो अनित्य पदार्थ हैं उनमें इनकी वृत्ति किस तरह मानी जायगी। ऐसा तो कहा जा सकता नहीं है कि उपजने विनशने वाले पदार्थों के स्थान में ये दोनों पहिले से ही उपस्थित[1] थे क्योंकि "अंतरेणाश्रय न स्यात्" ये विना आश्रय के रहते नही हैं। यदि विना आश्रय के भी इनका रहना वहां माना जाय तो व्यक्ति की उत्पत्ति के पहिले भी इनका ग्रहण होना चाहिये। यदि कहा जाय कि उत्पित्सुप्रदेश में ये व्यक्त्यन्तर से आते हैं तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं हैं कारण कि जिस व्यक्ति को छोडकर ये आये हैं वह इनसे रहित हो जायगा और इस तरह उस का अभाव मानने का प्रसग प्राप्त होगा। यदि इस पर यो कहा जाय कि ये कुछ पहिले के आधार में बने रहेंगे और कुछ इस आधार में आ जावेंगे—सो ऐसा कथन उनमें सांशता सिद्ध करता है समवाय सामान्य को निरंश माना गया है। यदि सांशता उनमें मानी जायगी तो फिर उनमें सर्वथा नित्यता नहीं मानी जा सकती। इसलिये ऐसा कहना कि ये न तो कहीं से आते हैं और न स्वय

१ किं च इद सामान्यं व्यक्तिभ्यो भिन्न चेत् तद्व्यक्त्युत्पत्तौ उत्पद्यते न वा यद्युत्पद्यते तद्देवानित्यत्वम् नोत्पद्यते चेत तदुत्पत्ति प्रदेशे विद्यते न वा, यदि विद्यते व्यक्त्युत्पत्तेः पूर्वमपि गृह्येत, अथ तद्देशे तन्नास्ति उत्पन्ने तु व्यक्ति विशेषे व्यक्त्यन्तरादागच्छति ननु ततः तद् आगच्छत् पूर्वव्यक्ति परित्यज्य आगच्छति न वा ? प्रथमपक्षे तस्यात्द्रहितत्व प्रसगः। अथापरित्यज्य, तत्रापि किं व्यक्त्या सहैवागच्छति यद्वा केनचिददेशेन तत्रैव निष्ठति केनचिदागच्छति। प्रथमविकल्पे शावलेयेऽपि वाहुलेयोऽयमिति प्रतीतिः स्यात्। द्वितीयविकल्पस्त्वयुक्त. निरंशत्वेनास्याशवत्तया प्रवृत्य संभयात्। सांशत्वे चास्य व्यक्तिवदनित्यत्व प्रसगः।

न्याय कुमु० पृ० २८७,२८८। प्रमेयकमलमार्तण्ड मे भी इसी प्रकार का विचार किया है। पृ० ४७३ पर।

आ० मी० ३६४

उस प्रदेश मे पहिले से विद्यमान है, अ श रहित हैं, सर्वथा नित्य हैं और प्रत्याश्रय मे ये सर्वात्मना परिसमाप्त हैं तथा आश्रय के नाश होने पर ये विनष्ट नहीं होते हैं ठीक नही है । दूसरे यदि इन्हे प्रत्येक आश्रय में परिसमाप्त माना जायगा तो इस तरह इनमें एकत्व नहीं आ सकता है । अनेकत्वापत्ति आयेगी । सर्वत्र अविच्छेद से यदि इनमें एकत्व माना जायगा तो प्रागभावादिको का अभाव मानने का प्रसंग प्राप्त होगा । इस प्रकार यह कहना कि सामान्य और समवाय पदार्थ नित्य और एक हैं तथा सर्वगत हैं और ये दोनों अपने २ व्यक्तियो से सर्वथा भिन्न है, उत्पद्यमान पदार्थ सत्ता का समवायी है इस तरह समवाय और कार्य का जोडा बन जाता है इसलिये कार्य कारण आदि पदार्थों की देश-कालादिक के भेद से युतसिद्ध पदार्थों की तरह पृथक २ वृत्ति नहीं हो सकती है सर्वथा उपयुक्त नहीं है अत सामान्य और समवाय जब विना आश्रय के रहते नही है और अपने २ आश्रय में सर्वात्मना समाप्त होकर रहते है तो यह स्वा-भाविक बात है कि फिर वे अनित्य पदार्थों में कैसे रह सकते हं । इसका वैशेषिक के पास कोई समुचित उत्तर नहीं है ।

सर्वथाऽनभिसम्बन्धः सामान्य समवाययोः ।
ताभ्यामर्थो न संवद्धस्तानि त्रीणि खपुष्पवत् ॥ ६६ ॥

अन्वय—सामान्य समवाययोः (परस्परेण) सर्वथा अनभिसम्बन्ध । ताभ्यां अर्थः न सबद्ध । (अतः) तानि त्रीणि खपुष्पवत् । (समनुषज्यन्ते) ।

अर्थ—सामान्य और समवाय का परस्पर में कोई सम्बन्ध न होने से ये दोनो सर्वथा असंवन्धित है । इसलिये इनसे अर्थ भी सबद्धित नही होता है । अत ये तीनों खपुष्प की तरह असत् ठहरते है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार वैशेषिकों के प्रति यह प्रकट करते हैं कि सामान्य और समवाय का परस्पर में कोई सम्बन्ध ही नहीं बनता है । क्योकि संयोग सम्बन्ध दो १ द्रव्यों में होता है । सामान्य और समवाय

---

१ द्रव्यद्रव्ययोः सयोग ।

ये द्रव्य नहीं हैं। इसी तरह सामान्य और समवाय में समवाय सम्बन्ध भी नही बनता है। क्योंकि समवाय एक माना गया है। दूसरे बैशेषिक सिद्धान्तानुसार इन दोनो में न संयोग सम्बन्ध माना गया है और न समवाय सम्बन्ध ही। अतः ये दोनों सम्बन्ध से रहित होने के कारण परस्पर मे सबद्धित नहीं हो सकते हैं। ऐसी हालत में सत्ता समवाय सम्बन्ध से द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन पदार्थों मे रहती है ऐसा कहना बन नहीं सकता है क्योंकि जब ये दोनों परस्पर में असम्बन्धित हैं तो इनसे यह तीन पदार्थरूप अर्थ कैसे सम्बन्धित हो सकता है। यदि कहा जाय कि सत्ता–सामान्य–और समवाय ये दोनों विशेषणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध से बधे हुए हैं सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि यहां पर भी ऐसा ही प्रश्न हो सकता है कि विशेपणविशेष्यभावरूप सम्बन्ध इनमें फिर किस सम्बन्ध से सम्बन्धित है इस प्रकार पूछने पर अन्यविशेषणविशेष्यभाव की कल्पना करने से अनवस्था दूषण आता है। अतः परस्पर में सम्बन्ध विहीन सत्ता और समवाय जब हैं तो फिर ऐसा कहना कि समवाय सम्बन्ध से सत्ता द्रव्यादिक तीन पदार्थों में ही रहती १ है उचित नहीं

१ वंशेपिको का ऐसा मान्तव्य है कि सत्ता–जाति–द्रव्य, गुण, एव कर्म इन तीन पदार्थो मे ही रहती है सामान्य, विशेष एव समवाय इन तीन पदार्थों मे नही रहती। भाष्यपरिच्छेद मे "द्रव्यादित्रिकवृत्तिस्तु सत्तापरतयोच्यते" ऐसा ही कहा है। सामान्य को जाति होने मे जिन कारणो से बाधा पहुँचती है उनका निर्देश उदयनाचार्य ने इस प्रकार किया है—

व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्व सङ्करोऽथानवस्थिति ।
रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसग्रह ॥

१ व्यक्ति अभेद–जैसे आकाश सर्वत्र एक ही है—अत आकाशत्व जाति नही हो सकती। जाति के लिये अपने व्यक्तियो की अभेदकता आवश्यक है।

२ तुल्यत्व—जहा भिन्न भिन्न शब्द एक ही अर्थ के वाचक हो वहा भिन्न भिन्न जातिया नही होती—जैसे घटत्व और कलशत्व ये दो जातिया नही हैं एक ही हैं।

३ सकरता—जहा एक सामान्य के कुछ व्यक्ति दूसरे सामान्य मे और दूसरे सामान्य के कुछ व्यक्ति पहिले सामान्य मे आ जाय वहा सकर दोप होता है ऐसी अवस्था मे जातित्व नही समझा जाता। जैसे भूतत्व और मूर्तत्व ये जाति नही हैं–भूतत्व केवल आकाश मे और मूर्तत्व केवल मन मे रहता है लेकिन पृथ्वी, अप्, तेज्, वायु मे भूतत्व और मूर्तत्व दोनो रहते हैं। इस प्रकार भूतत्व और मूर्तत्व

माना जा सकता है। क्योंकि वे अर्थ सत्ता के समवाय से वध ही नही सकते हैं अथवा सत्ता वहां समवाय से बंधती नहीं है। तो फिर जिस प्रकार कूर्मरोमादि पदार्थ सर्वथा असत्स्वरूप है उसी प्रकार सत्ता--सामान्य--समवाय एव द्रव्यादिक अर्थ ये तीनो ही असत्स्वरूप ठहरते हैं। यदि इस पर इस प्रकार कहा जाय कि " हम वैशेषिक लोगो ने वस्तु का स्वरूप जो सत्त्व अस्तित्व है वह द्रव्य, गुण एव कर्म इनमे तथा सामान्य, विशेष एव समवाय इनमें माना है। परन्तु अनुवृत्ति प्रत्यय का हेतु जो सत्त्व है वह तो द्रव्य गुण और कर्म इन तीन पदार्थों में ही माना गया। सामान्य विशेष एवं समवाय में नहीं। कारण कि सामान्यादि त्रिक मे अनुवृत्तिप्रत्यय का हेतुभूत सत्त्व माना जायगा तो अनवस्था, स्वरूप हानि एवं असबंध ये क्रमशः तीन दोष आते १ हैं। इसलिये " खपुष्पवत् " जो दृष्टान्त कारिकाकार ने दिया है वह यहां ठीक नहीं

सामान्य के ये व्यक्ति एक दूसरे सामान्य मैं रहते है। इसलिये दोनो सामान्यो मे सकरता है। इसलिये भूतत्व मूर्तत्व जाति नही माने जा सकते।

४ अनवस्था--सामान्य की जाति नही। घट की जाति है घटत्व। अव यदि इस घटत्व की जाति (घटत्वता) भी मानते है तो उस की भी जाति (घटत्वतात्व) माननी पडेगी और फिर इस सिलसिलेका कभी अन्त ही नही होगा। इस तरह जाति की जाति मानने से अनवस्था दोप आ जायगा। अतएव " घटत्व " प्रभृति जातियो की जाति नही हो सकती।

५ रूपहानि--जहा जाति की कल्पना करने से व्यक्ति के स्वरूप की हानि हो जाय वहा जाति नही होती। अत विशेपो के वहुसख्यक होने पर भी " विशेपत्व " जाति नही हो सकती। क्योंकि विशेप स्वभावत· सामान्य के विरुद्ध धर्म है अत उनकी जाति कल्पना करने से उनके स्वरूप की हानि हो जायगी।

६ असम्वन्ध—जहा समवाय सम्वन्ध का अभाव हो वहा जाति नही होती। अतः " समवायत्व " जाति नही हो सकती। क्योंकि जाति व्यक्ति मे समवाय सम्वन्ध मे रहती हैं, किन्तु स्वय समवाय के साथ उसका समवाय सम्वन्ध कैसे हो सकता है।

इन उपर्युक्त वातो से यह स्पष्ट है कि सामान्य विशेप अथवा समवाय की जाति नही हो सकती। द्रव्य, गुण एव कर्म इन तीन पदार्थों मे ही जाति की वृत्ति रहती है। (भारतीय द० प पृ० १००)

१ अनुवृत्ति प्रत्यया भावात् न सामान्यादित्रये सत्तायोग इति चेन्न तत्रापि अनुवृत्तिप्रत्ययस्यानिवार्यत्वात् पृथिवीत्व गोत्व घटत्वादि सामान्येपु सामान्य सामान्यमिति, विशेपेष्वपि वहुत्वात् अयमपि विशेपेऽयमपि विशेप इति, समवायेऽच प्रागुक्त युक्त्या तत्तद-वच्छेदकभेदात् एकाकार प्रतीतेरनुभवात्। द्रव्यादिपु मुख्योऽयमनुगत प्रत्यय सामान्यादिपु गौण इति चेन्न विपर्ययस्यापि शक्यकल्पनत्वात्।

बैठता। कारण कि खरविपाण मे तो स्वरूपतः भी सत्त्व नहीं है। तब कि द्रव्य, गुण एवं कर्मरूप पदार्थों में स्वरूपत. सत्त्व माना गया है " सो ऐसा वैशेषिकों का कथन उचित नहीं है कारण कि जब द्रव्यादिक में स्वरूपतः सत्त्व है तो उसमें फिर सत्ता के समवाय की मानने को आवश्यकता ही क्या रहती है। यह तो वहां व्यर्थ ही हो जाता है। यदि स्वरूप सत्त्व मानने पर भी द्रव्यादिको मे सत्ता का सम्बन्ध माना जाता है तो सामान्य, विशेष तथा समवाय इनमें भी सत्ता का सम्बन्ध मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि इनमें (सामान्यादिक तीन में) स्वरूपतः सत्त्व नहीं माना जावेगा तो फिर ये खरविषाण की तरह अवस्तुरूप ही ठहरते हैं। अतः इस अपेक्षा हमारा दृष्टान्त ठीक ही बैठता है।

दूसरे— जिस प्रकार सत्ता द्रव्य गुण एवं कर्म इस पदार्थो से सर्वथा भिन्न एव समवाय की तरह उनमें अनभिसबद्ध है उसी प्रकार वह कूर्म रोमादिक-खरविषाणादिक से भी ऐसी ही है तो फिर वह सत्ता ऐसी हालत में उनमें ही सत्त्व विधायक होगी खरविषाण आदिकों मे नहीं यह एक बिचार करने जैसी बात है। तथा समवाय से सर्वथा असंबद्ध सत्ता सामान्य द्रव्यादिको में समवायी माना जाय और समवायान्तर से सर्वथा असवद्ध समवाय वहां समवायी न माना जाय इसमे कोई नियामक नहीं है। कोई ऐसा सम्बन्ध नहीं है जो अपने सम्बन्धियो से असम्बद्ध होकर उन्हे मिला सके। संयोग जो आपने सम्बन्धियों को मिलाता है वह उनमे असम्बन्ध होकर उन्हें नहीं मिलाता -संयुक्त कराता-है। क्योकि यह अपने सम्बन्धियो में समवाय सम्ब·ध से समवेत माना गया है। अतः जब समवाय अपने सम्बन्धियो मे सर्वथा अनाश्रित है तो वह सम्बन्ध नही बन सकता। और न वह कार्य कारण गुण गुणी आदि पदार्थों की सर्वथा अन्यतैकान्त मे उनका परस्पर में घटन कारी हो सकता है। इसलिये अनर्थक्रियाकारी होने से समवाय में

सामान्यादिपु वाधकसद्भावात् न मुख्योऽनुगत प्रत्यय द्रव्यादिषु तदभावात् मुख्य इति चेन्ननु किमिद वाधकम्—अथ सामान्येऽपि सत्ताऽभ्युपगमे अनवस्था, विशेपेपु पुन सामान्य सद्भावे स्वरूपहानि समवायेऽपि सत्ता कल्पने सम्बन्धराभाव इति वाधतानीति चेत् न सामान्येऽपि सत्त' कल्पने यद्यनवस्था तर्हि कथ न सा द्रव्यादिपु। तेपामपि स्वरूप सत्ताया प्रागेव विद्यमानत्वात्। विशेपेपु पुनः सत्ताऽभ्युपगमेऽपि न रूपहानिः स्वरूपस्यप्रत्युतोत्तेजनात्। नि सामान्यस्य विशेपस्य क्वचिदप्यनुपलभात। इत्या० स्याद्वाद मज० ७५ पृ०।

कूर्मरोमादिक की तरह अवस्तुरूपता सिद्ध हो जाती है। इसी तरह सामान्य में भी। अत सत्ता और समवाय से रहित होने के कारण द्रव्यादिक पदार्थ भी खरविषाण की तरह अवस्तु रूप सिद्ध होते हैं। इस तरह सामान्य और समवाय का परस्पर में संयोगादिसम्बन्ध न होने से ये दोनों सर्वथा असंबद्धित सिद्ध होते हैं। इस इनकी असंबद्धता में द्रव्य गुण और कर्म भी सम्बन्धित नहीं हो सकने की वजह से असम्बद्धित रहेंगे। इस असंबद्धता में इनकी सबकी सत्ता साबित न हो सकने के कारण से सब अवस्तु स्वरूप खरविषाण की तरह ठहरते हैं। यह कहना कारिकाकार का बिलकुल निर्दोष है।

अनन्यतैकान्तेऽणूनां संघातेऽपि विभागवत्।
असंहतत्वं स्याद्भूत-चतुष्कं भ्रान्तिरेव सा ॥ ६७

अन्वय—अणूनां अनन्यतैकान्ते संघाते अपि विभागवत् असंहतत्वं स्यात्। भूतचतुष्क सा भ्रान्तिः एव (स्यात्)।

अर्थ——परमाणुओं का अनन्यतैकान्तवाद मानने पर उनकी समुदाय रूप अवस्था में भी विभाग–विभक्त पदार्थों की–तरह उनका पार्थक्य ही मानना पडेगा। ऐसी अवस्था में भूतचतुष्क भ्रान्तिरूप ही ठहरेगा।

भावार्थ–कितनेक प्रतिवादी ऐसा कहते हैं कि परमाणु तो सर्वथा नित्य ही हैं-किसी भी अवस्था में चाहे वह उनकी संयुक्त अवस्था हो चाहे वियुक्त अवस्था हो उनमें अन्य स्वरूपता नहीं आती है सर्व ही अवस्थाओं में वे एक स्वरूप रहते है इसी का नाम अनन्यता का एकान्त है। इस अनन्यतैकान्त रूप मान्यता के ऊपर कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह प्रकट करते हैं कि परमाणु जब प्रचयरूप अवस्था सम्पन्न होते हैं-स्कंध रूप अवस्था में आते हैं-तो उस अवस्था में भी विभक्त घट पट पदार्थों की तरह वे विभक्त हो रहे हुए माने जावेंगे-अन्यथा स्वरूपान्तर रूप परिणमन के

सद्भाव में उनमें अनन्यतैकान्त स्वभाव का अभाव मानना पडेगा। संघात -स्कंध रूप -अवस्था में भी जब ये विभक्त माने जावेंगे तो ऐसी स्थिति में पृथिवी, जल, तेज, एव वायु ये चार भूत—जो कि पार्थिव, जलीय, तैजस एवं वायवीय परमाणुओं के संघात रूप है भ्रान्ति रूप ही ठहरेंगे। क्योंकि भूतचतुष्क परमाणु स्वरूप नहीं है किन्तु उनकी सघात स्वरूप वह दूसरी अवस्था है। इस अवस्था को परमाणु रूप नहीं कहा जाता है। अतः इस अनन्यता के एकान्त में परमाणुओ के सघात स्वरूप से प्रतीयमान यह भूत चतुष्क भ्रान्ति रूप ही ठहरेगा। यदि इसे भ्रान्ति रूप न माना जायगा-तो अनन्यता का एकान्त नहीं ठहरता है। मतलब कहने का केवल इतना ही है कि इस परमाणुओं के अनन्यतैकान्त में उनके कार्यों को भ्रान्त मानना पडेगा। तथा च-

कार्यभ्रान्तेरणुभ्रान्तिः कार्यलिङ्गं हि कारणम् ।
उभयाभावतस्तत्स्थं गुणजातीतरच्च न ॥ ६८ ॥

अन्वय—कार्यभ्रान्ते अणुभ्रान्ति, हि कारणं कार्यलिङ्गं (भवति) उभयाभावत तत्स्थं गुणजातीतरच्च न (स्यात्)।

अर्थ—कार्य —भूतचतुष्क—की भ्रान्ति से उसके कारण जो परमाणु है उन्हें भी भ्रान्त मानना पडेगा। क्योंकि कार्य द्वारा ही कारण का अवगम होता है। दोनों के अभाव से इनमें रहने वाले गुण, जाति, क्रिया आदि ये कुछ भी सिद्ध नहीं होते हैं।

भावार्थ इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह प्रदर्शित कर रहे हैं कि यदि यही एकान्त अंगीकार किया जाय कि परमाणुओ मे अनन्यता ही है और उनके ये जो भूत चतुष्क रूप कार्य हैं वे भ्रान्त हैं तो ऐसी स्थिति में परमाणुओं की भी कुशलता रक्षित नहीं रह सकती है। क्योकि जब कार्य भ्रान्ति स्वरूप है तो इनके जो कारण परमाणु हैं वे भी भ्रान्त स्वरूप मानना पड़ेंगे। दूसरे-परमाणुओ के गमक उनके कार्य होते हैं-कार्य से ही अपने कारण का बोध

कराया जाता है । ऐसी स्थिति में कार्य की भ्रान्ति में कारण स्वय भ्रान्त स्वरूप सिद्ध हो जाता है तब कार्य ही भ्रांति रूप है कारण नहीं यह नहीं माना जा सकता । अतः इन दोनों के अभाव में इनमें रहे हुए गुण, जाति, सत्व क्रिया आदि इन सबका अभाव प्रसक्त होता है । इसलिये यह मानना चाहिये कि परमाणु अपने परमाणु स्वरूप का परित्याग कर देते हैं और अवयवी स्वरूप का उपादान करते है । तभी जाकर कार्यद्रव्य अभ्रान्त सिद्ध हो सकता है । और उसके आश्रित रहने वाले गुण जाति आदि अभ्रान्त माने जा सकते है । इसलिये ये परमाणुओं का यह अनन्यतैकान्त श्रेयस्कर नहीं है । क्योंकि कार्य की उत्पत्ति में उनमें कथचित् अन्यता उत्पन्न हो जाती है ।

आ० मी० ७१

एकत्वेऽन्यतराभावः शेषाभावोऽविनाभुवः ।
द्वित्वसंख्याविरोधश्च संवृतिश्चेन्मृषैव सा ॥ ६९ ॥

अन्वय—एकत्वे अन्यतराभाव- (तस्य चाभावे) शेषाभाव अविनाभुव द्वित्वसंख्याविरोधश्च, चेत् (सा) संवृत्तिः सा मृषा एव (स्यात्)

अर्थ—कार्य और कारण की सर्वथा एकता ही मानी जायगी तो ऐसी स्थिति में दोनो में से किसी एक का अभाव अवश्य आयगा । अब जो अवशिष्ट बचा है वह दूसरे के साथ अविनाभावी है इसलिये दूसरे के अभाव में इस बचे हुए अवशिष्ट का भी अभाव हो जायगा । तथा यह कार्य है यह कारण है इस प्रकार जो द्वित्वसंख्या की प्रतीति होती है वह इस एकत्व की मान्यता में विरुद्ध पड़ती है । यदि यह संख्या काल्पनिक मानी जाय तो कल्पना--सवृति-तो झूठी होती है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार इस बातका विचार कर रहे हैं कि कार्य और कारण को सर्वथा यदि एक रूप-तादात्म्य स्वरूप माना जायगा-जैसा कि सांख्यों ने माना है तो इसमें कार्य और कारण इन दोनों का ही अभाव हो जाता है । और वह इस प्रकार से-कार्य और कारण ये परस्पर में अविनाभूत होते है-अब यदि कार्य और कारण

एकरूप हो जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में या तो कार्य ही अवशिष्ट माना जायगा या कारण ही -दोनों नहीं। जब एक ही अवशिष्ट बचा रहा दूसरा नहीं तो, इस दूसरे के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहनेवाला यह बचा हुआ भी कैसे अपनी स्वतन्त्र सत्ता रख सकता है। नहीं रख सकता। इस प्रकार कार्य कारण दोनों का अभाव प्रसक्त होता है। न प्रधान-प्रकृति-का अस्तित्व सिद्ध होता है और न उसके कार्य महद् अहंकार आदि का। इसी तरह इस कार्य कारण की सर्वथा एकता में द्वित्व संख्या का भी कोई अस्तित्व सिद्ध नही हो सकता। यदि उसे कल्पना कर मान भी लिया जाय तो कल्पना से मानी गई वस्तु परमार्थ से मानी गई के समान नहीं होती है वह झूठी ही कहलाती है। अतः कार्य-कारण का-एकत्व एकान्त मानना भी युक्ति युक्त नहीं माना जा सकता है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ७० ॥

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न (सभवति) अवाच्यतैकान्ते अपि "अवाच्यं" इति उक्तिः न युज्यते।

अर्थ—स्याद्वादसिद्धान्त की नीति से विरोध रखने वालों के यहां अन्यता और अनन्यता ये दोनों मान्यताएं परस्पर विरोधी होने की वजह से युगपत् एक जगह सभंवित नहीं हो सकती है। इसी तरह इनकी एकान्त अवाच्यता में भी "अवाच्य" इस प्रकार का कहना भी नहीं बनता है।

भावार्थ—जिस प्रकार स्याद्वाद नीति के सहारे से एक ही जगह विवक्षावश परस्पर विरोधी धर्म एक ही साथ रहते हैं उसी प्रकार से अवयव अवयवी, गुण गुणी, सामान्य सामान्यवान् आदि पदार्थों में अन्यत्व और अनन्यत्व ये परस्पर विरोधी धर्म एक साथ नहीं रह सकते हैं। अर्थात् इन विरोधी मान्यताओं की एकात्मता वहां नहीं घट सकती है। क्योंकि परस्पर विरोधी मान्यताओं का या धर्मों का एकत्र समन्वय अनेकान्तस्याद्वाद-की नीति से ही हो सकता है

और वह नीति इस मान्यताओं के पक्षपातियों ने मान्य नहीं की है—उससे तो ये विरोध रखते हैं। ऐसी स्थिति में अन्यत्वैकान्त एव अनन्यत्वैकान्त का एक जगह समन्वय नहीं हो सकता है। क्योंकि ये दोनों ही मान्यताएं एक दूसरे की मान्यता से सर्वथा विरुद्ध हैं।

इसी तरह इन दोनो की मान्यता एकत्र समाविष्ट कर उसे सर्वथा अवाच्यता का रूप भी दे दिया जावे तो

आ० ऐसी हालत में उनमें अवाच्यता समझाने के लिये "अवाच्य" इस शब्द का वहां प्रयोग ही नहीं हो सकता है। नहीं तो

मी० वह सर्वथा अवाच्य नहीं बन सकता है। अतः अन्यत्व अनन्यत्व एव अवाच्यत्व इनका समन्वय किस तरह से होता है

३७३ इसे कारिकाकार प्रकट करते हैं-

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकतः।
परिणाम विशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावतः ॥ ७१ ॥

संज्ञासंख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषतः।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्वं न सर्वथा ॥ ७२

अन्वय—द्रव्यपर्याययोः ऐक्यं तयोः अव्यतिरेकतः। परिणामविशेषात् शक्तिमच्छक्तिभावतः, सज्ञा-सख्या विशेषात्, स्वलक्षण विशेषतः, प्रयोजनादिभेदात् च तन्नानात्व, न सर्वथा।

अर्थ—द्रव्य और पर्याय इन दोनों में (किसी अपेक्षा) एकता है, क्योकि इनमें सर्वथा व्यतिरेक की उपलब्धि नहीं होती है। तथा परिणाम के विशेष से, शक्तिमच्छक्तिभाव से, संज्ञा तथा संख्या की विशेषता से, अपने २ लक्षणों की भिन्नता से एवं प्रयोजन आदि के भेद से इन दोनों में (किसी अपेक्षा से) अनेकता भी है। इन दोनों में यह एकता एव अनेकता सर्वथा नही है।

भावार्थ—इन संमिलित दो कारिकाओं द्वारा कारिकाकार यह प्रदर्शित करते हैं कि एकत्व और अनेकत्व का समावेश एक ही जगह किस अपेक्षा से होता है तथा एकत्व किस अपेक्षा से है और अनेकत्व किस अपेक्षा से है।

कारिका मे द्रव्य शब्द से गुणी, सामान्य एव उपादान कारण इनका ग्रहण किया गया है। पर्याय शब्द से गुण, व्यक्ति एव कार्य द्रव्यो का ग्रहण हुआ है। द्रव्य ओर पर्याय ये दोनों एक हैं-एक वस्तु हैं-इसका हेतु यह है कि इनमें अव्यतिरेक है-अशक्यविवेचनत्व है-द्रव्य और पर्याय ये परस्पर मे भिन्न २ नहीं हो सकते हैं-जिस प्रकार संयोगी पदार्थ एक दूसरे से भिन्न २ हो जाते हैं उस तरह द्रव्य और पर्याय ये आपस मे एक दूसरे से अलग अलग नहीं हो सकते हैं। और न विवक्षित द्रव्य की पर्यायें दूसरे द्रव्य मे लाई जा सकती हैं और न एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप हो सकता है-मतलब—द्रव्य को छोडकर पर्याय और पर्याय को छोड़कर द्रव्य नही उपलब्ध होता है। यही इनमें अशक्य विवेचनता है। यद्यपि इनका भिन्न २ रूप से प्रतिभास होता है— यह द्रव्य है, यह इसकी पर्याय है—इस तरह इनका पृथक् ज्ञान होता है -तो भी इनमें अव्यतिरिक्तता है। प्रतिभास भेद होने पर भी जहां २ अव्यतिरिक्तता-अशक्यविवेचनता -होती है वे एक होते हैं जैसे वेद्यवेदक आकार विशिष्ट ज्ञान, रूपादि गुण विशिष्ट द्रव्य, । यदि केवल द्रव्य को ही वास्तविक माना जाय पर्याय को नहीं अथवा पर्याय को ही यथार्थ माना जाय द्रव्य को नहीं तो इस स्थिति में किसी में भी अर्थक्रियाकारिता नहीं आ सकने के कारण उन दोनो मे स्वतंत्रता की हालत में अवस्तुत्वापत्ति आजाती है। किसी अपेक्षा भिन्न द्रव्य और पर्यायो मे किसी अपेक्षा अशक्य विवेचनत्व की अपेक्षा अभेद -एकत्व-मानने में विरोध वैयधिकरण, संशय, व्यतिकर, संकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति एव अभाव ये आठ दोष नहीं आते हैं क्योंकि ये दोष यहां इसी तरह की प्रतीति से अपसारित-निरस्त-हो जाते हैं। द्रव्य पर्याय मे एकत्व -एकवस्तुत्व-है यह प्रतीतिप्रसिद्ध है, केवल कल्पना-नहीं है।

द्रव्य पर्याय मे भेद इस तरह से माना गया है कि द्रव्य का अनादि अनत एक स्वाभाव स्वाभाविक परिणाम

है। द्रव्यस्यानाद्यनंतैकस्वभाववैश्रसिकपरिणामत्वात् (अ० स०) और पर्याय का सादि, सान्त, अनेक स्वभावरूप नैमित्तिक परिणाम है। "पर्यायस्य साद्यन्तानेकस्वभाव परिणामत्वात् (अ० स०) द्रव्य मे शक्तिशक्तिमद्भाव है- द्रव्य शक्तिमान् है और पर्याय शक्ति स्वरूप है। द्रव्य का १ द्रव्य ऐसा नाम है और पर्याय का पर्याय ऐसा नाम है। द्रव्य-एक है पर्याय अनेक हैं। द्रव्य और पर्याय के परस्पर मे भिन्न २ प्रयोजन है-एकत्व रूप ज्ञान अन्वय रूप ज्ञान इत्यादि ज्ञान रूप कार्य द्रव्य द्वारा होते हैं तथा अनेकत्व रूप ज्ञान व्यावृत्तिरूप ज्ञान आदि ज्ञान रूप कार्य पर्याय द्वारा होते हैं। मतलब-एकाकार प्रतीतिरूप ज्ञान-आदि कार्य द्रव्य द्वारा तथा व्यावृत्ति प्रतीतिरूप ज्ञान आदि कार्य पर्याय द्वारा होते हैं और यही इन दोनो का भिन्न २ प्रयोजन है। तथा इसी तरह से द्रव्य और पर्याय का अपना २ लक्षण भी भिन्न २ हैं-गुण और पर्याय वाला जो है वह द्रव्य है यह द्रव्य का लक्षण है तथा "तद्भाव परिणाम," ऐसा पर्याय का लक्षण हैं। 'प्रयोजनादि' में आदि शब्द से काल का ग्रहण किया है—द्रव्य त्रिकाल गोचर है पर्याय वर्तमान काल गोचर है। इस प्रकार परिणाम की विशेषता से -एक दूसरे से भिन्न २ स्वभाव वाले परिणामो के भेद से -शक्ति-शक्तिमद्भाव से, संज्ञा की भिन्नता से, संख्या की भिन्नता से, अपने २ लक्षणो के भेद से, तथा प्रयोजन आदि के भेद से द्रव्य और पर्यायो में अनेकता-भिननता भी सिद्ध हैं। अत एकान्त भेदाभेद की मान्यता युक्ति युक्त नहीं है। इस प्रकार द्रव्य पर्याय मे कथंचित् भिन्नता और कथचित् अभिन्नता सिद्ध होती है। इसकी सप्तभगी इस प्रकार है— (१) कथंचित् स्वलक्षण के भेद से द्रव्य पर्याय में नानात्व ही है २ कथचित् अशक्य विवेचनत्व की अपेक्षा वहां एकत्व ही है ३ क्रमार्पित दोनो की विवक्षा से कथचित् वहां उभय रूपता ही है। ४ सहार्पित दोनो की विवक्षा से वहां कथचित् अवक्तव्यता ही है। ५ क्रमार्पित सहार्पित की अपेक्षा से वहां कथचित् नानात्व और कथंचित् अवक्तव्यता ही वहा है। ६ क्रमार्पित सहार्पित की अपेक्षा से कथंचित् एकत्व और कथचित् अवक्तव्यता ही वहां है ७ कथचित् क्रमार्पित उभय की अपेक्षा से वहां अनेकता हैं एकता है और सहार्पित उभय की अपेक्षा से अवक्तव्यता है। इस तरह द्रव्य और पर्याय मे यह एकत्व और अनेकत्व सर्वथा रूप से

---

१ 'यत्परस्परविविक्तस्वभावपरिणाम सज्ञासख्याप्रयोजनादि कतेद्भिन्नलक्षण यथा रूपादि तथा च द्रव्य पर्यायौ (अ० श०)

विवक्षित नहीं हुआ है किन्तु अपेक्षा से विवक्षित हुआ है। इसी बात को " न सर्वथा " इस पद से कारिकाकार ने प्रकट किया है।—

चतुर्थ परिच्छेद समाप्त

अष्टाधिके द्विसहस्रे वर्षे फाल्गुनमासि च।
चतुर्थपरिच्छेदस्य, अनुवादः पूर्णतां गतः॥

पंचम परिच्छेद

यद्यापेक्षिकसिद्धिः स्यान्न द्वयं व्यवतिष्ठते।
अनापेक्षिकसिद्धौ च न सामान्यविशेषता॥ ७३॥

अन्वय—यदि (धर्मधर्मिणोः) आपेक्षिकसिद्धिः स्यात् (तदा) द्वयं न व्यवतिष्ठते। अनापेक्षिकसिद्धौ च सामान्यविशेषता न (स्यात्)।

अर्थ—यदि धर्म और धर्मी की सिद्धि सर्वथा अपेक्षाकृत ही मानी जाय तो इन दोनों की व्यवस्था नहीं बन सकती है। यदि इन दोनों की सर्वथा अनापेक्षिक ही सिद्धि मानी जाय तो ऐसी एकान्तस्थिति में सामान्य-अन्वय एवं विशेष-व्यतिरेक भाव यह सिद्ध नहीं होता है।

भावार्थ—बौद्धों का ऐसा कहना है कि निर्विकल्पकप्रत्यक्ष बुद्धि में न धर्म का प्रतिभास होता है और न धर्मी का किन्तु इसके पृष्ठ भावी विकल्प द्वारा ही यह धर्मी है यह धर्म है इस प्रकार कल्पना की जाती है। निर्विकल्पक

बुद्धि में केवल स्वलक्षण का-धर्मधर्मी के विकल्प रहित शुद्ध पदार्थ का -ही प्रतिभास होता है। इसलिये धर्म धर्मी की व्यवस्था एकान्तत नहीं मानी जा सकती है। जो धर्म होता है वह धर्मी और जो धर्मी होना है वह धर्म बन जाता है। जैसे शब्द को अनित्य-क्षणिक-सिद्ध करने के लिये "सत्त्व" हेतु दिया जाता है-इस अपेक्षा सत्त्व शब्द का धर्म मान लिया जाता है; परन्तु यह सदा धर्म ही बना रहेगा-यह एकान्तत नहीं कहा जा सकता है क्योंकि यही सत्त्व ज्ञेयत्व की अपेक्षा से धर्मी भी बन जाता है। इसी तरह सत्त्व की अपेक्षा धर्म बने हुए ज्ञेयत्व में अभिधेयत्व की अपेक्षा से

आ० धर्मित्वका व्यवहार भी होने लग जाता है। तब ऐसा ही मानना श्रेयस्कर प्रतोत होता है कि यह धर्मधिम व्यवस्था दूर

मी० निकट व्यवहार की तरह विकल्प द्वारा कल्पित होने से केवल काल्पनिक ही है पारमार्थिक नही। इसी तरह गुण

३७७ गुणी, सामान्य विशेष, विशेषण विशेष्य, क्रिया क्रियावान्, कार्य कारण, साध्य साधन, ग्राह्य ग्राहक भाव ये सब काल्पनिक हैं वास्तविक नहीं।

धर्म धर्मी की अपेक्षा विना सिद्धि-अनापेक्षिक सिद्धि—नैयायिक मानते हैं-उनका ऐसा कहना है कि यह धर्मी है, यह धर्म है, यह अपेक्षा से सिद्ध नहीं है किन्तु प्रतिनियत बुद्धि से ही यह बात सिद्ध है। जैसे नील पदार्थ और उसका स्वरूप अपेक्षाधीन सिद्ध नहीं होते हैं। नील पदार्थ धर्मी है तथा उसका स्वरूप धर्म है जैसे यह बिना अपेक्षा के प्रतिनियत बुद्धि का विषय होने से धर्मधर्मी भाव सिद्ध है उसी तरह सर्वत्र धर्मधर्मिभाव प्रसिद्ध मानना चाहिये। यदि धर्म और धर्मी ये पारमार्थिक नहीं माने जावेंगे तो प्रतिनियत बुद्धिविषयता इनमें आ ही नहीं सकती है। अतः बौद्ध का धर्मधर्मी आपेक्षिक ही हैं ऐसा एकान्त पक्ष तथा ये आपेक्षिक नहीं है प्रतिनियत ही हैं ऐसा नैयायिक सम्मत एकान्त पक्ष को हृदय में धारण कर कारिकाकार इस कारिका द्वारा इन दोनों ही एकान्त मान्यताओं पर अपने विचार प्रकट करते है --

सर्व प्रथम वे धर्म धर्मी आदि की आपेक्षिक सिद्धि मानने वाले बौद्धों के प्रति कहते है कि यदि ऐसी ही मान्यता एकान्त रूप से अपनाई जावेगी तो तुम्हारे मतानुसार नील पदार्थ और उसका ज्ञान इन दोनों की सिद्धि नहीं

हो सकेगी-कारण कि ग्राह्य-नील पदार्थ-की व्यवस्था ग्राहक-नील संवेदन को अपेक्षाधीन है। यदि इनकी अपेक्षाधीन व्यवस्था न मानी जाय तो ग्राह्य नील पदार्थ में अवेद्यत्व का प्रसंग एवं ग्राहक नीलवेदन में निर्विषयता का प्रसंग प्राप्त होता है। मतलब कहने का केवल इतना ही है कि नील संवेदन से नील पदार्थ की और नील पदार्थ से नील सवेदन की व्यवस्था बौद्ध सिद्धान्त में मानी गई है वह इस अपेक्षा वाद को अतात्विक मानने पर नहीं बन सकती है। अर्थात् ग्राह्य ग्राहक आदि भाव अपेक्षाधीन ही सिद्ध जब बौद्धमतानुसार माना गया है तो वह अपेक्षा अवास्तविक होने से न ग्राहक-ज्ञान की ही व्यवस्था बन सकती है और न ग्राह्य पदार्थ की ही। इस तरह "द्वयं न व्यवतिष्ठते" ऐसा कारिकाकार का कहना इस पक्ष में सर्वथा उचित है। इसी तरह गुण गुणी, विशेषण विशेष्य आदि भाव भी व्यवस्थित नहीं बन सकते हैं, अतः यह मानना चाहिये कि धर्मधर्मिभाव आपेक्षिक नहीं है-स्वतः सिद्ध है और इस रूप होने की योग्यता सर्वत्र है। जो धर्म है वह धर्मी हो जाना है और जो धर्मी है वह धर्म हो जाता है। इस प्रकार होने की योग्यता स्वभावतः सर्वत्र है। अत यह अपेक्षा सिद्धि का एकान्त ठीक नहीं है।

इसी तरह इनकी अनपेक्षा का एकान्त भी उचित नहीं है, क्योंकि सामान्य-अन्वय एवं विशेष—व्यतिरेक ये स्वय अपेक्षा स्वरूप हैं। यदि इनमें सापेक्षता न मानी जाय तो सामान्य विशेष भाव नहीं बन सकता है। सामान्य विशेष निरपेक्ष होकर प्रतिनियत अन्वय बुद्धि को विषय करने वाला नहीं हो सकता है इसी तरह विशेष भी सामान्य-निरपेक्ष होकर व्यावृत्त बुद्धि को विशय करने वाला नहीं होता है। अतः सामान्य विशेष ये परस्पर सापेक्ष अवस्था में ही कार्य करते हैं ऐसा मानना चाहिये। मतलब केवल इसका यही है कि अन्वय बुद्धि की अपेक्षा सामान्य और व्यतिरेक बुद्धि की अपेक्षा विशेष की सिद्धि होती है। इस प्रकार अपेक्षा और अनपेक्षा का एकान्त दोनो उचित नहीं हैं।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषां
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति नवाच्यमिति युज्यते ॥ ७४ ॥

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न (युज्यते) अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यं" इति उक्ति अपि न युज्यते ।

अर्थ—स्याद्वादरूप नीति मार्ग से विरोध रखने वालों के यहां परस्पर परिहार स्थिति लक्षण विरोध होने के कारण, सर्वथा अपेक्षा एव अनपेक्षा पक्ष में एकात्मता-एक स्वरूपता रूप उभयैकात्म्य नहीं बन सकता है। इन दोनों के अवाच्यतैकान्त पक्ष मे "अवाच्य" इस प्रकार का शब्द प्रयोग करना भी युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है।

भावार्थ—अपेक्षा और अनपेक्षा पक्ष में प्रदत्त दोषों से त्रस्त होकर यदि कोई इनकी एक स्वरूपता मानकर तृतीय पक्ष अपना स्थापित करना चाहे तो उसके लिये कारिकाकार का ऐसा कहना है कि अपेक्षा और अनपेक्षा का सर्वथा एकान्त पक्ष जब सदोष है तो फिर इनकी एक स्वरूपता बन भी कैसे सकती है। अर्थात् बिना अपेक्षा के उनका किसी एक जगह समन्वय नहीं हो सकता है। क्योंकि ये दोनों ही पक्ष परस्पर विरुद्ध है-अपेक्षा पक्ष की अपेक्षा सर्वथा अनपेक्षा का पक्ष विरुद्ध है और सर्वथा अनपेक्षा पक्ष के समक्ष सर्वथा अपेक्षा पक्ष विरुद्ध है-फिर इनकी एकत्र स्थिति हो भी कैसे सकती है-अतः परस्पर परिहार स्थिति लक्षण विरोध होने से इनमे एकात्मता नहीं बनती है। इनमें एकात्मता बनाने वाली स्याद्वादनीति है। वह तो एकान्तवादियों को अभीष्ट नहीं है—उससे तो इनका विद्वेष है। अतः इन दोनो पक्षों में एकात्मता नहीं आ सकती है कि जिससे इनका एक तृतीय पक्ष खड़ा हो सके।

इसी तरह इनका अवाच्यैकान्त पक्ष भी निर्दोष नहीं माना जा सकता -क्योंकि इस एकान्त पक्षमें ये "अवाच्य हैं" ऐसे वचन का भी प्रयोग नहीं हो सकता है। इस प्रकार अपेक्षा अनपेक्षा के ये सब ही एकान्त पक्ष निराकृत हो जाते हैं। अत इससे इनका अनेकांत सिद्ध हो जाता है तो भी उस की जो इस निम्नलिखित कारिका द्वारा सिद्धि की है वह कुवादियों की दुरारेका को दूर करने के लिये की हैं-ऐसा जानना चाहिये—

धर्मधर्म्यविनाभावः सिध्यत्यन्योन्यवीक्षया ।
न स्वरूपं स्वतो ह्येतत् कारकज्ञापकांगवत् ।, ७५ ॥

अन्वय — धर्मधर्म्यविनाभावः अन्योन्यवीक्षया सिध्यति, न स्वरूपम्, कारकज्ञापकांगवत् एतत् हि (सिद्धम्)

अर्थ — धर्म और धर्मी का अविनाभावी ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध होता है इनका स्वरूप नहीं । कारक और ज्ञापक के अंगों की तरह यह तो स्वत ही सिद्ध है ।

भावार्थ—कारिकाकार इस कारिका द्वारा अपेक्षा और अनपेक्षा से सिद्धि का अनेकांत प्रदर्शित करते हुए कह रहे हैं कि धर्म और धर्मी का अविनाभाव ही अपेक्षा से सिद्ध होता है—धर्म के बिना धर्मी और धर्मी के विना धर्म नहीं होता है-यही इनका अविनाभाव परस्पर सापेक्ष है । धर्म और धर्मी का स्वरूप परस्पर की अपेक्षा से अपेक्षित नहीं है-उसकी सिद्धि-परस्पर की अपेक्षा के आधीन नहीं है-वह तो स्वत सिद्ध हैं विवक्षित पदार्थ में जब धर्म धर्मी की विवक्षा नहीं होती है-उसके पहिले भी धर्म धर्मी का स्वरूप सिद्ध रहा करता है । जैसे कारक के अंग कर्ता कर्म का स्वरूप और ज्ञापक के अग बोध्य बोधक का स्वरूप स्वतः सिद्ध रहा करता है । कर्ता कर्म व्यवहार, बोध्य बोधक व्यवहार ही परस्पर की अपेक्षा से प्रसिद्ध माना गया है अतः यह व्यवहार ही परस्पर सापेक्ष है । करने वाला यह कर्ता का स्वरूप है कर्ता को कर्तव्यत्वेन जो ईप्सिततम है वह कर्मका स्वरूप है यह स्वरूप अपना २ स्वत सिद्ध है किसी अपेक्षासे नहीं है । स्वरूप की सिद्धि में अपेक्षा नही मानी जाती है । इसी तरह बोध्य प्रमेय और बोधक-ज्ञान इनका भी स्वरूप स्वतः सिद्ध है । अपेक्षा कृत नहीं हैं । कर्ता कर्म व्यवहार बोध्य बोधक व्यवहार ही परस्पर की अपेक्षा से सिद्ध माना जाता है । अतः वही परस्परापेक्ष है । इसी तरह गुण गुणी आदि में भी स्वरूप की अपेक्षा स्वतः सिद्धि और अविनाभाव की सिद्धि की अपेक्षा परस्पर की अपेक्षा से सिद्धि जानना चाहिये । इस प्रकार अपेक्षा से भी सिद्धि होती है । और विना अपेक्षा के भी सिद्धि होती है । यह बात अनेकांत पक्ष के आश्रय से सुघटित हो जाती है । यहां सप्तभंगी इनकी इस प्रकार योजित करना चाहिये ।

(१) स्यादापेक्षिकी सिद्धि· (१) कथंचित् आपेक्षिक धर्म धर्मी आदि की सिद्धि है ।
(२) स्यादनापेक्षिकी सिद्धि (२) कथंचित् स्वरूप की अपेक्षा धर्म धर्मी आदि की सिद्धि आपेक्षिक नहीं है ।
(३) स्यादुभयी क्रमार्पितद्वयात् (३) दोनो की क्रमश· विवक्षा में कथंचित् आपेक्षिक अनापेक्षिक दोनों रूप से धर्म धर्मी आदि की सिद्धि है ।
(४) स्यादवक्तव्या सहार्पित द्वयात् [४] दोनों की युगपत् विवक्षा में धर्म धर्मी आदि की सिद्धि कथंचित् अवक्तव्य है ।

इसी तरह चौथे भंग के साथ प्रथमभग, द्वितीयभग, एव तृतीय भग मिलाने से अवशिष्ट तीन भंग और बन जाते है , इस प्रकार अविनाभाव रूप व्यवहार और स्वरूप की अपेक्षा करके धर्म धर्मी आदि की अपेक्षाधीन सिद्धि और अनपेक्षाधीन सिद्धि जाननी चाहिये ।

पचम परिच्छेद समाप्त

यथाबुद्धि परिज्ञाय भावमस्या अनूदितः
पंचमोऽयं परिच्छेदः पूर्णो जातः श्रियेऽस्तु वः

षष्ठपरिच्छेद

सिद्धं चेद्धेतुतः सर्वं न प्रत्यक्षादितो गतिः ।
सिद्धं चेदागमात्सर्वं विरूद्धार्थमतान्यपि ॥ ७६ ॥

अन्वय–हेतुत· (एव) सर्वं सिद्ध चेत् प्रत्यक्षादितः गति न (स्यात्) आगमात् सर्वं सिद्धं चेत् (तर्हि)

विरुद्धार्थमतानि अपि (सिद्धि उपगच्छेयुः)

अर्थ—समस्त उपेयतत्त्व हेतु से ही सिद्ध होता है यदि यही एकान्त नियम माना जाय तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से किसी भी उपेय तत्त्व की सिद्धि मान्य नहीं ठहरेगी। आगम से ही सब सिद्ध होता है यदि ऐसा ही एकान्त नियम माना जायगा तो परस्पर विरुद्ध अर्थ प्रतिपादक मत भी आगम से सिद्ध होकर मान्य हो जावेंगे।

आ० भावार्थ—सकल लौकिक एवं परीक्षक जन उपेयतत्त्व की व्यवस्था करके उपायतत्त्व की व्यवस्था किया करते
मी० हैं क्योंकि विना प्रयोजन के मन्द जन भी किसी भी काम में प्रवृत्त नहीं होता है। अत जिस प्रकार कृषक जन शस्य आदि
३=२ उपेय तत्त्वों का निश्चय करके उसके उपायभूत कृषि आदि कर्म में प्रयत्नशील देखे जाते हैं इसी प्रकार जो मुमुक्षु हुआ करते हैं वे पहिले मोक्षरूप उपेय तत्त्व का निश्चय करके उसके बाद उपायभूत तत्त्वों का निश्चय करते हैं। इस प्रकार यहां कितनेक अन्यमती अनुमान से ही उपेय तत्त्व की सिद्धि होती है निश्चय होता है—ऐसा एकान्तपक्ष का अवलम्बन कर कहते है "हेतुतः एव सर्वं सिद्धम्" इस विषय मे उनका ऐसा कहना है कि प्रत्यक्ष से जो हम उपेयतत्त्व की सिद्धि नहीं मानते हैं उसका कारण उससे विप्रतिपत्ति—विवाद-निश्चय के अभाव—की सभावना रहना है। "युक्त्या यन्न घटामुपैति तदह दृष्ट्वापि न श्रद्दधे" इस पक्ष को मानने वालो का ऐसा ही कहना है। तथा प्रत्यक्ष और प्रत्यक्षाभास की भी व्यवस्था अनुमान से ही होती है इसके ऊपर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि यदि ऐसा ही एकान्त पक्ष मान्य किया जाय तो "न प्रत्यक्षादितो गतिः" प्रत्यक्ष आदि प्रमाण से उपेय पदार्थ की गति नहीं हो सकेगी। इस तरह जब प्रत्यक्ष अकिंचित्कर इस मान्यता के समक्ष हो जाता है तो फिर अनुमान की सिद्धि भी कैसे हो सकेगी ? क्योंकि अनुमानोत्थान के लिये पहिले धर्मी का साधन का और उदाहरण का प्रत्यक्ष दर्शन अवश्य भावी है—तभी जाकर अनुमान सिद्ध हो सकता है। ऐसा तो है नहीं कि इनके प्रत्यक्ष दर्शन हुए विना भी किसी को अनुमान हो जाता है। अत अनुमान से ही पदार्थ की सिद्धि होती है ऐसा एकान्त श्रेयस्कर नहीं माना जा सकता। इसलिये अभ्यस्तविषय मे प्रत्यक्ष से भी सिद्धि होती है ऐसा मानना चाहिये नहीं तो शब्द लिङ्ग आदि की प्रतिपत्ति नहीं हो सकने से परार्थानुमानरूप शास्त्रोपदेशों की

भी प्रवृत्ति नही हो सकती है १ ।

आगम से ही समस्त उपेय तत्त्वो की सिद्धि होती है ऐसी एकान्त मान्यता मीमांसको की है । उनका कहना है कि प्रत्यक्ष दृष्ट भी माणिक्य आदि मे आगम के बिना यथार्थता का निर्णय नहीं होता है । दूसरे–जिस अनुमान का पक्ष आगम से बाधित हो जाता है वह अनुमान भी अपने साध्य का गमक नही होता है । अत अनुमान भी आगमापेक्ष है । इसके ऊपर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि इस प्रकार की एकान्त मान्यता में "विरुद्धार्थमतान्यपि सिद्धि उपगच्छेयुः" विरुद्धार्थ वाले मत भी शास्त्रोपदेशों से सिद्ध हो जायेंगे । यदि इस पर यो कहा जाय कि सम्यक् उपदेशों से सम्यक् मत ही सिद्ध होगे विरुद्धार्थ वाले मत नही, तो इसका उत्तर यह है कि विना युक्ति–अनुमान–के सम्यक् और असम्यक् का निर्णय उपदेशों में कैसे हो सकेगा । अत यह मानना चाहिये कि आगम में प्रमाणता का निर्णय युक्ति से जब होता है तो वह भी तत्त्वो की सिद्धि का कारण है । इसलिये यह भी एकान्त मान्यता उचित नहीं है ।

आ० मी० ३८३

इसी तरह प्रत्यक्ष एव अनुमान ये ही तत्त्व सिद्धि के कारण हैं आगम नहीं सो ऐसा भी कहना ठीक नहीं है क्योकि जो विषय प्रत्यक्ष एव अनुमान का नही है वह ग्रहोपराग आदि और इसका फल ज्योतिः शास्त्र से ही अवगत होता है । इस तरह हेतु द्वारा तथा आगम द्वारा सिद्धि का एकान्त युक्तियुक्त नही है ।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥७७॥

अन्वय–स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्य न । अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यमिति" उक्तिः अपि न युज्यते ।

---

१ हेतु से ही पदार्थ की सिद्धि होती हे ऐसी एकान्त मान्यता बौद्धो की हे इस अपेक्षा यहां "शब्दादि. क्षणिक. सत्त्वात्" इस स्वार्थानुमान मे विना प्रत्यक्ष के शब्द लिङ्ग आदि की प्रतिपत्ति नहीं हो सकने से परार्थानुमान का उत्थान नहीं हो सकता है ऐसा कहा है ।

अर्थ—स्याद्वादरूपी नीति से विद्वेष रखने वालों के यहां, परस्पर विरोध होने के कारण हेतुवाद और आगमवाद के एकान्त की एकता नहीं बन सकती है। तथा इन दोनों के अवाच्यतैकान्त में " अवाच्य " इस प्रकार का शाब्दिक व्यवहार भी युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता है।

भावार्थ—ये दोनों एकान्त एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं। अत इनकी एकता किसी भी तरह से एकान्तवादियो के यहां संभवित नहीं हो सकती है। इसी तरह इनकी एकान्त अवाच्यता भी युक्ति युक्त नहीं मानी जा सकती है। क्योंकि इस मान्यता में " ये अवाच्य हैं " इस प्रकार का वहां कहना ही नहीं घटित हो सकता है। हेतुवाद और आगमवाद का अपेक्षा से समन्वय करने वाला तथा उसे किसी अपेक्षा से अवाच्यता का रूप देने वाला एक स्याद्वाद है वह तो एकान्त वादियों को मान्य नहीं है। इसलिये इनका एकान्त कथमपि युक्तिपुरस्सर सिद्ध नहीं होता।

वक्तर्यनाप्ते यद्धेतोः साध्यं तद्धेतुसाधितम्।
आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यमागमसाधितम् ॥ ७८ ॥

अन्वय—अनाप्ते वक्तरि हेतोः यत् साध्यं तद्धेतुसाधितम्। आप्ते वक्तरि तद्वाक्यात् साध्यं आगमसाधितम्।

अर्थ—वक्ता यदि आप्त नही है तो ऐसी स्थिति मे हेतु से जो साध्य होता है वह हेतु साधित है, एव वक्ता जब आप्त होता है तब उसके वाक्य से जो साधित होता है वह आगम साधित है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार हेतुवाद और अहेतुवाद के अनेकान्त का प्रदर्शन करते हैं—अर्थात् किसी अपेक्षा हेतु से भी सिद्धि होती है और किसी अपेक्षा अहेतु-आगम-से भी सिद्धि होती है यही इन दोनों का अनेकान्त है। इस अनेकान्तप्रदर्शन से इन दोनो की एकान्त मान्यता निरस्त हो जाती है। हेतु से सिद्धि होने

में तथा अहेतु से सिद्धि होने में वक्ता मे आप्तत्व एवं अनाप्तत्व अपेक्षित है। जहां वक्ता अनाप्त है वहां उसके कथन मे प्रमाणता सिद्ध करने के लिये युक्ति की अपेक्षा रहा करती है। इस तरह जो साध्य हेतु से सिद्ध किया जाता है वह हेतु साधित कहा जाता है। एव वक्ता जब आप्त होता है-सर्वज्ञ वीतराग होता है-तब उसके कथन को प्रमाणित करने के लिये हेतु की-युक्ति की-आवश्यकता नहीं होती है। इस प्रकार आप्त वचन रूप आगम से जो साध्य साधित होता है वह आगम साधित कहा जाता है। आप्त और अनाप्त के स्वरूप का निर्णय प्रथम परिच्छेद की ६ वीं और सातवीं कारिका द्वारा पहिले किया जा चुका है "यदि कोई यहां ऐसो आशंका करे कि ये वचन आप्त के हैं और ये वचन अनाप्त के हैं तो इसका निर्णायक प्रमाण क्या है" तो इसका यही उत्तर है कि जिन वचनो में युक्ति एवं आगम से बाधा न आवे एव जिनमें पूर्वापर विरोध न होवे वे वचन सर्वज्ञ-आप्त के एवं इनसे विपरीत अनाप्त के जानना चाहिये। दोष और आवरणो की हानि से आत्मा सर्वज्ञ-आप्त बन जाता है यह बात ४ चौथी कारिका द्वारा पहिले प्रमाणित की जा चुकी है अतः अपौरुषेय वेद को प्रमाण मानने वाले मीमांसको की मान्यता इसलिये युक्तियुक्त नहीं मानी जा सकती है कि शब्द मे प्रमाणता वक्तृगुणा पेक्ष ही मानने में आई है। अचेतन शब्द अपनी प्रमाणता और अप्रमाणता का स्वयं ढिंढोरा नही पीट सकते है। इस तरह कथंचित्-अनाप्त की अपेक्षा सर्व हेतु से सिद्ध होता है और कथंचित्, आप्त की अपेक्षा-सर्वं हेतु से सिद्ध नहीं भी होता है-अर्थात् आगम से सिद्ध होता है, क्रमार्पित उभय की अपेक्षा से सर्वतत्त्व कथंचित् उभय से सिद्ध होता है एव सहार्पित द्वय की अपेक्षा से कथंचित् दोनों द्वारा उनकी सिद्धि अवक्तव्य है। अवशिष्ट ३ तीन भग इसी तरह और भी समझ लेना चाहिये। वेद में अपौरूषेयता क्यो नहीं है यह विषय अष्टसहस्त्री मे स्पष्ट किया गया है।—

षष्ठ परिच्छेद समाप्त

अनूदितः परिच्छेदः षष्ठाख्योऽयं यथामति।
यदि काचिद्भवेदत्र त्रुटिः क्षम्या सा धीधनैः॥

आ० मी० ३८६

सप्तम परिच्छेद

अन्तरंगार्थतैकान्ते बुद्धिवाक्यं मृषाऽखिलम् ।
प्रमाणाभासमेवातस्तत प्रमाणादृते कथं ॥ ७६ ॥

अन्वय—अन्तरंगार्थतैकान्ते अखिलं बुद्धिवाक्यं मृषा (स्यात्) । अतः प्रमाणाभासमेव (तत्) । तत् प्रमाणात् ऋते कथ (संभवेत्)

अर्थ—स्व संविदित ज्ञानरूप अन्तरंग पदार्थ में ही वस्तुता है, बहिरंग जड़रूप पदार्थ में नहीं, क्योंकि वह प्रतिभास के अयोग्य है१ इस प्रकार जो एकान्तरूप से अन्तरग अर्थ की मान्यता है उस मान्यता में समस्त बुद्धिवाक्य मृषा-असत्य-ठहरते हैं । और इसी से इनमे प्रमाणाभासता ही आती है परन्तु यह प्रमाणभासता वहां प्रमाण के बिना तो साधित हो नही सकती है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार, विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार के सिद्धान्त की मीमांसा कर रहे हैं जो वह इस प्रकार कहता है—"प्रतिभासमानस्याशेषस्य वस्तुनो ज्ञानस्वरूपान्तः प्रविष्टत्वप्रसिद्धे सवेदनमेव पारमार्थिक तत्त्वम्" (न्यायकुमुद चंद्र पृ० ११७) कि जितने भी पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित हो रहे है वे सव ज्ञान के ही स्वरूप है, अत संवेदन-ज्ञान-ही पारमार्थिक तत्त्व है, घट पटादिक बाह्य पदार्थ वास्तविक तत्त्व नहीं हैं। ज्ञान से

---

१ इति नास्ति वाह्योऽर्थ कश्चित् किन्तु ज्ञानमेद सर्वं नीलाद्याकारेण प्रतिभाति–वाह्यार्थस्य जडत्वेन प्रतिभासायोगात् । यथोक्तम्-'स्वाकारबुद्धिजनका दृश्या नेन्द्रिय गोचरा" अलकारकारेण प्युक्तम्'यदि सवेद्यते नील कथ वाह्य तदुच्यते न चेत् सवेद्यते नील कथ बाह्य तदुच्यते यदि बाह्योऽथ नास्ति किं विषयस्तर्ह्ययं घटपटादिप्रतिभासः इति चेत् ननु निरालंबन एवायमानादिवितथवासनाप्रवर्तित निर्विषयत्वात् आकाशकेशज्ञानवत् स्वप्नज्ञानवत् वेति । अतएव चोक्त- स्याद्वाद मजरी -पृ-२१५ ।
इस कारिका का अर्थ एवभावार्थ सूक्ष्म दृष्टि से देखने की कृपा करें ।

भिन्न ससार मे और कोई तत्त्व पारमार्थिक नहीं है, जो प्रतिभासित होता है वह सब सुखादिक की तरह ज्ञान स्वरूप ही है। (यत् अवभासते तत् ज्ञानमेव यथा सुखादि, प्रतिभासते च भावाः) । घट पटादिक पदार्थों का ज्ञान के द्वारा अवभासन नहीं होता है किन्तु इनका ज्ञान में अवभासन होता है तो जिस प्रकार ज्ञान स्वरूप का ज्ञान में अवभासन होने से उसमे ज्ञानरूपता है उसी प्रकार घट पटादिक में भी प्रतिभासपना होने से ज्ञान रूपता घटित हो जाती है।

यदि इस पर वाह्यार्थ वादी ऐसा कहे कि पदार्थ में प्रतिभासपना स्व से नहीं आता किन्तु पर से ज्ञान से-आता है—अतः उनमे प्रतिभासपना मानना ठीक नहीं है सो ऐसा कहना भी बाह्यार्थ वादी का उचित नहीं है कारण कि ज्ञान के द्वारा जो पदार्थ का अवभासन होगा सो ज्ञान और अर्थ का परस्पर में कोई सम्बन्ध होगा—तभी होगा—या बिना सम्बन्ध के ही होगा, यदि कहा जाय कि विना सम्बन्ध के ही होगा तो ऐसी स्थिति में अतिप्रसंग नाम का दोष आता है-फिर तो क्या है दुनियाभर के पदार्थ युगपत् ज्ञान मे प्रतिभासित होने लगेगे । यदि इनका ज्ञान के साथ सम्बन्ध माना जाता है तो वह सम्बन्ध भी कौनसा है, क्या तादात्म्य सम्बन्ध है या तदुत्पत्ति सम्बन्ध हैं ? तादात्म्य सम्बन्ध मानने पर या तो समस्त पदार्थों में ज्ञान रूपता सिद्ध होगी या ज्ञान में जडस्वभावता आ १ जायेगी । ज्ञान में जड स्वभावता आने से पदार्थ की किसी तरह व्यवस्था नहीं बन सकती है। पदार्थ में ज्ञान रूपता मानने पर ज्ञानाद्वैत की अबाधरूप से

---

१ न चैषा परतोऽवभासो घटते स हि परत॰ सम्बद्धात् असबद्धा द्वा भवेत् न तावदसंबद्धात् अतिप्रसगात् । अथ सबद्धात् किं तादात्म्येन तदुत्पत्त्या वा ? यदि तादात्म्येन तदा ज्ञानरूपता अर्थानाम् जडस्वभावता वा ज्ञानस्य स्यात् । तादात्म्यस्यान्योन्यस्वरूपस्वीकार स्वभादत्वात् । ज्ञानस्वरूपत्वे चार्थानां सिद्ध ज्ञानाद्वैतम् । जडस्वभावत्वे तु ज्ञानस्य अर्थव्यवस्थावार्तोच्छेद॰ जगतो विवेकविकलतया आन्ध्य-प्रसक्ते॰ । अथ तदुत्पत्त्या कुत॰ किमुत्पद्येत ज्ञानादर्थं. अर्थाद्वा ज्ञानम् । प्रथमपक्षे अर्थस्य ज्ञानरूपता प्रसग॰ ज्ञानादुत्पद्यमानत्वात् उत्तर ज्ञान क्षणवत् अथ अर्थात् ज्ञानमुत्पद्यते किं समकालात् भिन्नकालाद्वा, न तावत् समकालात् समसमय भाविनोः सव्येतरगोविषाणवत् कार्यकारण भावाभावात् अन्यथा अर्थं प्रति ज्ञानस्यापि कारणत्वप्रसग. अविशेषात् इत्यादि न्यायकुमुद चद्र पृ० ११७।

सिद्धि हो जाती है। यदि कहा जाय कि तदुत्पत्ति तदाकार और तदध्यवसाय के सम्बन्ध से ज्ञान में वेद्यवेदक भाव अवस्थापित होता है-तो ऐसा कहना भी सौत्रान्तिक का ठीक नहीं है कारण कि तदुत्पत्ति का चक्षु से व्यभिचार आता है। ज्ञान चक्षु से उत्पन्न तो होता है पर वह ज्ञान का विषय नहीं होता -इसलिये ऐसा कहना कि जहां २ तदुत्पत्ति सम्बन्ध होगा वहां २ वेद्यवेदक भाव होगा ठीक नही बैठता है। यदि ऐसा कहा जाय कि जहां तदुत्पत्ति तदाकार सम्बन्ध होगा वहीं पर ज्ञान में वेद्यवेदकभाव होगा सो यह भी ठीक नहीं है कारण कि इस कथन का समानार्थ समनन्तर प्रत्यय से व्यभिचार आता १ है। तथा तदुत्पत्ति तदाकार एवं तदध्यवसाय इन तीनों का शुक्ल शंख में जो पीताकार ज्ञान होता है उससे व्यभिचार आता है। अत तदुत्पत्त्यादिक सम्बन्ध को लेकर ज्ञान में वेद्यवेदक भाव मानना ठीक नहीं है। इसलिये एक ज्ञान ही वेद्यवेदक भाव रूप से प्रतिभासित होता है। ज्ञान से अतिरिक्त अन्यबाह्य पदार्थ नहीं हैं। एक ज्ञान की ही ये दो धाराएं हैं एक धारा का नाम वेदक है और एक धारा का नाम वेद्य है। इस प्रकार यह विज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध का सम्प्रदाय-मंतव्य-है।

इस मन्तव्य को हृदय में धारण कर कारिकाकार संवेदनाद्वैतवादी से कह रहे हैं कि यदि यही एकान्त रूप से सिद्धान्त अंगीकार किया जायगा तो इसमें " बुद्धिवाक्यं मृषाखिलम् " समस्त हेतुवाद और अहेतुवाद रूप उपायतत्त्व मृषा ही ठहरेगा। नहीं तो संवेदनाद्वैत की सिद्धि नहीं हो सकेगी-क्योंकि इसकी सिद्धि करते समय-जिस अनुमान से यह सिद्ध किया जाता है-उस अनुमान में साध्य साधन भाव ग्राह्य ग्राहक रूप द्वैत सिद्ध होते समय आप वहां मृषा रूप प्रमाणाभासता प्रकट करेंगे और ऐसा कहेंगे कि "ग्राह्य ग्राहक, साध्य साधक आदि भाव से रहित एक संवित्ति ही प्रकाशित होती है अतः साध्य साधन रूप ग्राह्य ग्राहक रूप द्वैत वहां मृषा स्वरूप है। इसी तरह अहेतुवाद

१ प्राक्तनज्ञानस्य य एव नीलाद्यर्थो विषयः स एवोत्तरज्ञानस्येत्येकसंतानवर्तित्वेन समानोऽर्थः एको नीलः। प्रथमक्षणे नीलमिति ज्ञानं उत्पन्न तच्च द्वितीयस्य जनक तत्र ताद्रूप्यमस्ति तदुत्पत्तिश्च ज्ञानत्वेन समान अन्या-व्यवहितत्वेन समनंतरमिति।
प्रमेयरत्नमाला सटिप्पणा पृ० ४६।

मे भी मृषात्व आपको मानना पडेगा । अत ऐसी स्थिति मे हेतुवाद और अहेतुवाद रूप जो बुद्धि वाक्य स्वरूप उपाय तत्त्व हैं वह सवेदनाद्वैत से बाह्य होने की वजह से मृषा-अपरमार्थभूत ही साबित होता है । जब बुद्धि और वाक्य रूप उपाय तत्त्व मृषा है तो वे प्रमाणाभास रूप ही हैं यह बात आती है । क्योंकि प्रमाण की व्याप्ति सत्यत्व के साथ एवं अप्रमाण की व्याप्ति मृषात्व-असत्यत्व - के साथ रहती है । तब बुद्धिवाक्य प्रमाणभास हैं यह साबित करने के लिये प्रमाण की जरूरत पडेगी ही । विना प्रमाण के ये प्रमाणाभास हैं यह तो साबित हो नहीं सकता है । नही तो हर एक सिद्धान्त का कथन बिना प्रमाण के साबित होने लगेगा । ऐसी स्थिति में संवेदना द्वैत की भी सिद्धि नहीं हो सकेगी । इस तरह वहां प्रमाणाभास को साबित करने के लिये तथा "तज्जन्मकार्यप्रभवादिवेद्यवेदकलक्षणं अनैकान्तिकमादर्श संविित्तिरेव खडशः प्रतिभासमाना व्यवहाराय कल्प्यते" तदुत्पत्ति, तदाकार एवं तदध्यवसाय रूप वेद्यवेदक भाव चक्षु द्वारा, समानार्थसमनन्तर प्रत्यय द्वारा, और शुक्ल शख मे पीताकार द्वारा व्यभिचरित है इस बात को साबित करने के लिये और एक सविित्ति ही वेद्यवेदक रूप से प्रतिभासित हो रही है इस अपने सिद्धान्त को साबित करने के लिये प्रमाण वाक्य की आवश्यकता तो पडेगी ही । इस स्थिति मे यह एकान्त मान्यता कथमपि संभवित नहीं हो सकती हैं । इस प्रकार इस कारिका का यह सक्षिप्त भाव है । विस्तृत भाव अष्ट सहस्री एवं अन्य ग्रन्थों में बहुत ही अच्छी तरह से स्पष्ट किया हुआ है । इस तरह सवेनाद्वैत एकान्तत मानने में बुद्धि वाक्य रूप हेतुवाव और अहेतुवाद मृषा ठहरते है और मृषा रूपता होने से उनमे प्रमाणभासता ही आती है । इस प्रमाणभासता को वहा साबित करने के लिये संवेदनाद्वैतवादी को प्रमाणवाक्य का सहारा लेना ही पडेगा । इससे अद्वैत सिद्ध न होकर कथचित् द्वैत ही सिद्ध होता है ।

साध्यसाधनविज्ञप्तेर्यदि विज्ञप्तिमात्रता ।
न साध्यं न च हेतुश्च प्रतिज्ञाहेतुदोषतः ॥ ८० ॥

अन्वय–साध्यसाधनविज्ञप्तेः यदि विज्ञप्तिमात्रता (भवेत्) "तदा" प्रतिज्ञा-हेतु दोषतः न साध्य न च

हेतुश्च (स्यात्)।

अर्थ—साध्य और साधन की विज्ञप्ति को यदि विज्ञानमात्र ही स्वीकार किया जाय तो प्रतिज्ञा एवं हेतु के दोष से न साध्य बन सकता है न साधन बन सकता है और न दृष्टान्त ही बन सकता है।

भावार्थ—७९ वीं कारिका में विज्ञानाद्वैत एकांततः उपायतत्त्व स्वीकार करने पर बुद्धि और वाक्यमृषा
आ० हो जावेंगे-यह बात कारिकाकार ने स्पष्ट की है-अर्थात् जब यह कहा जायगा कि केवल एक मात्र विज्ञान ही विज्ञान
मी० है इसके अतिरिक्त घट पटादिक वाह्यपदार्थ कुछ नहीं हैं। घट पटादिक रूप से प्रतिभासित होने वाले ये पदार्थ ज्ञान
३९० स्वरूप ही हैं। तब कारिकाकार ने उनसे कहा कि इस एकान्त मान्यता मे घट पटादिरूप वाह्य पदार्थ को जानने वाली बुद्धि एवं उन्हें अन्य के लिये बतलाने वाला वाक्य—यह घट है यह पट है इत्याकारक वचन—ये सब झूठे मृषा मानने पड़ेंगे तथा च ग्राह्यग्राहक भाव, साध्य साधन भाव आदि ये सबके सब मृषा असत्य—ही ठहरेंगे—ऐसी स्थिति में " यदवभासते तत् ज्ञानम् " यह अनुमान वाक्य भी मृषा ही मानना पड़ेगा तथा च फिर किस प्रकार संवेदनाद्वैत की सिद्धि हो सकेगी—इसके ऊपर पुन. संवेदनाद्वैतवादी कहता है कि साध्य और साधन को विषय करने वाली बुद्धि ज्ञान से अतिरिक्त कोई दूसरी थोड़े ही है जो उससे भिन्न मानी जाय—वह स्वय विज्ञान स्वरूप है। अतः " यदवभासते तज्ज्ञानम् " यह कथन निर्दोष है। इसलिये साध्य साधन की व्यवस्था प्रतिभास के आधीन होने से प्रतिभासान्तर्भूत ही मानी गई है उससे भिन्न नहीं। तथा—नीलतद्धियो अभेदः सहोपलंभनियमात् द्विचन्द्रदर्शनवत् " इस अनुमान के अनुसार नीलपदार्थ और नीलज्ञान इनमें सहोपलभ का नियम होने से द्विचन्द्र दर्शन की तरह अभेद माना गया है। इस प्रकार संवेदनाद्वैतवादी के इस कथन को हृदयंगम कर कारिकाकार इस पर यह कहते हैं कि यदि इस तरह से साध्य साधन की विज्ञप्ति को विज्ञानाद्वैत स्वरूप ही कहा जायगा तो ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञा एवं हेतु मे दोष आने से न साध्य ही बन सकेगा और न साधन ही बन सकेगा और न दृष्टान्त ही। क्योंकि ये सब संवेदनाद्वैत के ही अन्तर्गत हो जाते हैं। अद्वैत में साध्य, साधन एवं दृष्टान्त ये सब द्वैत नहीं बनते हैं। यदि इन द्वैतों को अंगीकार किया जाता

है तो सवेदनाद्वैत नहीं बनता है । नील वचन और नीलज्ञान में भेद मानने पर उनमे एकत्व का साधन फिर विरुद्ध पड़ जाता है । एकत्व साधन करने पर भेद विरुद्ध पड़ता है । इस तरह जैसे कोई व्यक्ति अपना मौन व्रत जाहिर करने के लिये किसी से कहे कि मै सदा मौन व्रत रखता हूं तो इस प्रकार का कथन जैसा उसका स्ववचन से बाधित माना जाता है उसी प्रकार विज्ञानाद्वैत ही मानने वालो के लिये भी नील और नील बुद्धि मे जो अभेद साध्य करना है और इसरूप जो यह (धर्मधर्मी का वचनरूप) प्रतिज्ञा है वह अप्रसिद्ध विशेष्य वाली एवं अप्रसिद्धविषणवाली होने से सदोष है । यह सदोषता ही प्रतिज्ञादोप--या स्ववचनन विरोध है । क्योकि इस प्रकार के कथन से पक्ष साध्य एवं दृष्टान्त इनकी सिद्धि—द्वैत की सिद्धि--होती है । यदि इस पर सवेदनाद्वैतवादी ऐसा कहे कि हम तो प्रतिज्ञा आदि द्वैत कुछ भी नहीं मानते है । परन्तु दूसरे वादी इस बात को मानते हैं अत हम उनकी अपेक्षा लेकर स्वसिद्धान्त की पुष्टि करते हैं सो ऐसा कहना भी उचित नही है । कारण कि अद्वैत की एकान्तता मे स्वपर का कोई भेद ही नहीं हो सकता है । फिर अन्य के सिद्धान्त को--द्वैत को--निषेध करने के लिये द्वैत का सहारा कैसे लिया जा सकता है । इस तरह ' नीलतद्धियो: अभेद " इस तरह की जो उसकी प्रतिज्ञा है वह धर्मधर्मी के भेद वचन वाली होने से इस अद्वैत वचनरूप जो स्ववचन है उससे विरुद्ध पडती है यह प्रतिज्ञा दोष है " सहोपलभनियमात् " यह हेतु है । अद्वैत मे यह हेतु वचन भी नहीं बनता है ।

तथा सहोपलभनियमरूप हेतु अपने साध्य को सिद्ध नहीं करता है । क्योकि साध्य और साधन का सम्वन्ध ही सिद्ध नहीं होता है । सहोपलम्भ का अर्थ होता है पृथक् अनुपलम्भ और अभेद का अर्थ होता है भेद का अभाव-इस प्रकार साधन भी अभावरूप है और साध्य भी अभावरूप है तो जिस प्रकार दो खरविषाणो का परस्पर मे कोई भी सम्वन्ध नहीं होता है क्योकि वे सर्वथा अभावस्वरूप हैं इसी प्रकार साध्यसाधनरूप जो ये दो अभाव हैं इनका भी कोई सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता है । अत सम्बन्धाभाव में हेतु अपने साध्य का गमक नहीं होता है । यही यहां हेतु दोष हैं । मतलब इसका यह है कि भेद और पृथक् उपलम्भ इनका पहिले से कोई सम्बन्ध सिद्ध होता तो पृथग्

अनुपलम्भरूप साधन पदार्थों में भेदाभावरूप स्वसाध्य का साधन हो जाता, परन्तु विज्ञप्तिमात्र तत्त्व मानने वालों के यहां ऐसा तो कुछ है नहीं। क्योंकि इसमें इस मान्यता से विरोध आता है। इसलिये संवेदनाद्वैत ही तत्त्व है यह एकान्त कथमपि समीचीन नहीं है।

मतलब इस कारिका का केवल इतना ही है कि एकान्ततः संविदद्वैततत्त्व मानने पर साध्य साधन भाव कुछ भी नहीं बन सकता है कि जिससे—अनुमान द्वारा इस अपने अभिमत की सिद्धि वह कर सके, अतः इस सिद्धान्त वाले को केवल मौन का ही शरण श्रेयस्कर है।

बहिरंगार्थतैकान्ते प्रमाणाभासनिह्नवात्।
सर्वेषां कार्यसिद्धिः स्याद्विरुद्धार्थाभिधायिनाम्॥ ८१॥

अन्वय—बहिरंगार्थतैकान्तैकान्ते प्रमाणाभासनिह्नवात् सर्वेषां विरुद्धार्थाभिधायिनां कार्यसिद्धिः स्यात्।

अर्थ—बाह्य पदार्थ घट पट आदि ही एकान्ततः वास्तविक है, अन्तरंग पदार्थ नहीं, इस प्रकार की मान्यता में प्रमाणाभास का निह्नव होने से समस्त विरुद्ध अर्थ का कथन करनेवालों के भी कार्य सिद्ध होने लग जावेंगे। अतः उन्हें भी प्रमाणभूत ही मानना पड़ेगा।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार "घट पटादिक बाह्य पदार्थों में ही एकान्ततः पारमार्थिकता है अन्य अन्तरंग मे नहीं" इस एकान्त मान्यता का निरसन कर रहे हैं। क्योंकि इस एकान्त मान्यता मे "लोकसमयप्रतिबद्धानां परस्पर विरुद्धशब्दबुद्धीनां स्वार्थसम्बन्धः परमार्थतः प्रसज्येत (अष्टशती)" लोक एवं समय में प्रतिबद्ध ऐसे परस्पर विरुद्ध शब्द एवं बुद्धियों का भी अपने २ अर्थ के साथ पारमार्थिक सम्बन्ध स्थापित हो जायगा-तब प्रमाण क्या है और प्रमाणाभास क्या है इसकी व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी-अर्थात् हरएक व्यक्ति का मान्य एक दूसरे से विरुद्ध पदार्थ भी वास्तविक सिद्ध हो जायगा तब प्रमाणाभास का निह्नव होने से सबके अभिमत कार्य की सिद्धि होने का प्रसंग

प्राप्त होगा-ऐसी स्थिति मे चार्वाक, मीमांसक, सौत्रान्तिक आदि द्वारा मान्य पदार्थ भी बहिरंगार्थतैकान्तवादी को प्रमाण रूप से मान्य करना पड़ेगा। वे प्रमाणाभास है और हमारा सिद्धान्त ही प्रमाण है यह फिर नहीं कहा जा सकेगा। क्यों कि प्रमाण और प्रमाणाभास ये विभाग तो ज्ञान के है। ज्ञान तो परमार्थभूत वहिरंगार्थतैकान्तवादी को मान्य नहीं है। अतः अन्तरंगार्थतैकान्त की तरह यह वहिरगार्थतैकान्त भी युक्ति युक्त नहीं है।

आ० मी० ३९३ विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति र्नावाच्यमिति युज्यते।

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न, अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यम्" इति उक्तिः अपि न युज्यते।

अर्थ—जो व्यक्ति स्याद्वाद रूप न्याय मार्ग से विद्वेष रखते हैं उनके यहां इन दोनों पक्षों की एकता-समन्वयता-हो ही नहीं सकती है। क्योकि ये दोनों ही पक्ष एक दूसरे से सर्वथा विरुद्ध हैं। इसी तरह यदि इन दोनों का सर्वथा अवाच्यता का सिद्धान्त अंगीकार किया जाय तो इस स्थिति में वहां "अवाच्य" इस प्रकार का शाब्दिक व्यवहार भी नहीं हो सकता है।

भावार्थ—परस्पर विरुद्ध अन्तर्ज्ञेय और बहिर्ज्ञेय के एकान्त का साथ २ मानना भी नहीं बनता है। क्योंकि इनको साथ २ मानने की युक्ति तो स्याद्वादमार्ग में ही वतलाई गई है। वह मार्ग एकान्तवादियों को अभीष्ट नहीं है-वे उससे विद्वेष रखते हैं। इसी तरह से इनकी एकान्त अवाच्यता में "ये अवाच्य है" इस तरह का कहना भी नहीं बन सकता है। अत इन दोनों पक्षों का एकात्म्य पक्ष एव अवाच्यतैकान्त का पक्ष भी श्रेयस्कर नहीं है।

भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नवः।
बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभं च ते॥ ८३॥

अन्वय—ते भावप्रमेयापेक्षायां प्रमाणाभासनिह्नव । बहिः प्रमेयापेक्षायां प्रमाणं तन्निभ च (अस्ति) ।

अर्थ—हे नाथ ! आपके सिद्धान्तानुसार भावरूपप्रमेय की अपेक्षा में कोई भी ज्ञान सर्वथा अप्रमाणभूत नहीं है । अतः इस दृष्टि से प्रमाणाभास का निह्नव है । तथा जब बाह्य प्रमेय की अपेक्षा की जाती है तब उस समय ज्ञान में प्रमाण और तदाभास की व्यवस्था होती है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अन्तर्ज्ञेय एव बहिर्ज्ञेय की वास्तविकता का स्याद्वाद नीति के अनुसार समन्वय कर रहे हैं-वे कहते हैं कि ज्ञान मात्र में स्वरूपभासकता की अपेक्षा से स्वावभासन करने रूप निज स्वभाव की विवक्षा से प्रमाणता ही है । ज्ञान दीपक की तरह स्वप्रकाशक एवं पर प्रकाशक माना गया हैं । भले ही दीपक पदार्थोंको मन्द या अस्पष्टरूप मे प्रकाशित करे पर वह अपने को तो जैसे का तैसा ही प्रकाशित करेगा यही हालत ज्ञान की स्वरूप प्रकाशक के सम्बन्ध मे जानना चाहिये । ज्ञान चाहे सशयरूप हो, चाहे विपर्ययरूप हो चाहे अनध्यवसाय रूप हो वह अपने आपके प्रकाशन मे कभी भी विपरीत स्वरूप वाला नहीं हो सकता यही प्रमाणाभास का निह्नव है । ज्ञान इस अपने स्वरूप को प्रकाशन करने रूप अंश की अपेक्षा सदा प्रमाणरूप-ज्ञानरूप ही रहेगा उसमें प्रमाणाभासता-सशय विपर्यय एव अनध्यवसाय रूपता आती ही नही है । इसी बात को अकलक स्वामी ने " सर्वसंविदो स्वसंवेदनस्य कथंचित् प्रमाण त्वोपत्तेः तदपेक्षायां सर्वं प्रत्यक्षम् " इस अष्टशती द्वारा प्रकाशित किया है । समस्त ही ज्ञान-प्रमाण-अप्रमाणभूत ज्ञान—अपने स्वरूप के सवेदक हैं इस अपेक्षा उनमे प्रत्यक्ष प्रमाणता है—स्वसंवेदन प्रत्यक्षरूपता है । यह स्वसवेदन रूप प्रत्यक्ष प्रमाणता बाह्य पदार्थाधीन यहां नहीं है यह तो स्वरूप की अपेक्षा से है । नैयायिक एव मीमांसकों ने ज्ञान को स्वसवेदी नहीं माना है नैयायिको का कहना है कि ज्ञान अपने आप को नहीं जानता हैं उसका प्रत्यक्ष संयुक्त समवाय सन्नि-

आ० मी० ३९५

कर्ष से होता है—मन आत्मा से सयुक्त होता है और आत्मा मे ज्ञान का समवाय होता है। इस १ प्रकार ज्ञान के उत्प-
न्न होने पर सन्निकर्ष जन्य द्वितीय मानस ज्ञान प्रथम ज्ञान का प्रत्यक्ष करता है। इसी का नाम ज्ञानान्तर वेद्यता है।
अर्थात् ज्ञानान्तर से ज्ञान का प्रत्यक्ष होता है इस सिद्धान्त को मानने वाले नैयायिक हैं। मीमांसकों का कहना है कि
ज्ञान परोक्ष ही उत्पन्न होता है जब उसके द्वारा पदार्थ का बोध हो जाता है तब अनुमान से ज्ञान को जाना जाता
है। चुंकि पदार्थ का बोध हुआ है। और यह बोध रूप क्रिया बिना करण के हो नही सकती अत करणभूत ज्ञान
होना ही चाहिये। मीमांसको को ज्ञान को परोक्ष मानने का कारण यही है कि इसने अतीन्द्रिय पदार्थ का ज्ञान वेद के
द्वारा ही माना है। धर्म आदि अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष किसी व्यक्ति विशेष को नहीं हो सकता है। उनका ज्ञान
तो वेद के द्वारा ही उसे होता है। इन्ही दो मन्तव्यों का समाधान अकलक स्वामी ने " तथानभ्युपगमे इत्यादि अष्टशति
से लगाकर सुखदु.खादिबुद्धेरप्रत्यक्षत्वे " यहां तक की अष्टशति से किया है। इस समस्त अष्टशती का भाव इस प्रकार
है कि यदि ज्ञान अपने आपका जाननेवाला नहीं माना जायगा तो उसके द्वारा हमे पदार्थ का प्रकाशन नहीं हो सकेगा।
जिस तरह दूसरे व्यक्ति का ज्ञान हमारे लिये परोक्ष है उसी प्रकार यह भी परोक्ष है। अत जिस तरह हमें दूसरे
व्यक्ति के ज्ञान के द्वारा पदार्थ का बोध नहीं होता है उसी तरह अपने परोक्षज्ञान द्वारा भी पदार्थ का जानना नहीं हो
सकता है। द्वितीय ज्ञान से—सयुक्तसमवायसन्निकर्षरूप ज्ञानान्तर से—प्रथम ज्ञान का साक्षात्कार करके यदि उसके द्वारा
अर्थ का प्रकाशन स्वीकार किया जाय तो योगियों को भी हमारे ज्ञान के द्वारा पदार्थ का प्रत्यक्ष करने का प्रसंग प्राप्त

---

१ न्याय वैशेषिक ज्ञान को आत्मा का गुण मानते अवश्य हैं। पर आत्मद्रव्य एव ज्ञानगुण को परस्पर मे जुदा २ मानते हैं। ज्ञान गुण आत्मा का यावद्द्रव्यभावी अर्थात् जब तक आत्मा है तब तक उसमें अवश्य रहनेवाला-गुण नहीं है। किन्तु आत्म मनः सयोग मन-इन्द्रिय पदार्थ सन्निकर्ष आदि कारणो से उत्पन्न होनेवाला विशेष गुण है। जब तक ये निमित्त मिलेंगे ज्ञान उत्पन्न होगा, न मिलेंगे न होगा। मुक्ति अवस्था में मन इन्द्रिय आदि का सयोग न रहने के कारण ज्ञान को धारा उच्छिन्न हो जाती है। इस अवस्था में आत्मा स्वरूपमात्रमग्न रहता है। बुद्धि सुख दु ख आदि विशेष गुण औपाधिक हैं स्वभावतः आत्मा ज्ञानशून्य है। ईश्वर नाम की एक आत्मा ही ऐसी है जो अनाद्यनत नित्यज्ञानवाली है। परमात्मा के सिवाय अन्य सभी जीवात्माएं स्वभावतः ज्ञानशून्य हैं। (न्याय विनिश्चय की प्रस्तावना से)

होगा। इसलिये जैसा ईश्वर का ज्ञान स्वपर प्रकाशक माना गया है उसी तरह से प्रत्येक ज्ञान को स्वपर प्रकाशक मानना चाहिये। ज्ञान में स्वकीयता उसकी स्वप्रकाशता से ही आती है ।

इसी तरह मीमांसक भी ज्ञान को परोक्ष मानकर जो अर्थप्रकाशन रूप हेतु से उसका प्रत्यक्ष मानते हैं वह भी मान्यता ठीक नहीं है कारण कि इस मान्यता में अनेक बाधाएं आती हैं–जिस अर्थ प्रकाश रूप हेतु से प्रथमज्ञान का
आ० ज्ञान माना जाता है वह अर्थ प्रकाश स्वयं एक ज्ञान स्वरूप है–यदि यह अर्थ प्रकाशरूप ज्ञान स्वयं अज्ञात है परोक्ष
मी० है-तो उससे प्रथम ज्ञान की सिद्धि नहीं हो सकती। याद रहना चाहिये कि "अप्रत्यक्षोपलम्भस्य नार्थसिद्धिः प्रसिध्यति"
३६६ अज्ञात ज्ञान के द्वारा अर्थ सिद्धि नहीं होती। "नाज्ञातं ज्ञापकं नाम" स्वयं अज्ञात दूसरे का ज्ञापक नहीं होता है। अतः आवश्यक है कि पहिले अर्थ प्रकाशन रूप लिङ्ग का ज्ञान हो जाय। इसे जानने के लिये दूसरे और दूसरे को तीसरे ज्ञान तीसरे को चौथे आदि ज्ञानों की परम्परा कल्पित की जायगी तो अनवस्था दूषण का अवतार होता है। यदि अर्थ प्रकाशन को स्वात्मवेदी माना जाय और इस तरह अनवस्था का परिहार कर दिया जाय तो प्रथमज्ञान को स्वात्मवेदी मानने में क्या नुकसान है। उसे ही स्वात्मवेदी मान लेना चाहिये। दूसरी बात यह है कि अर्थप्रकाश और ज्ञान का जबतक अविनाभाव संबंध गृहीत नहीं होगा तब तक उससे ज्ञान का अनुमान नहीं किया जा सकता। यह अविनाभाव ग्रहण ज्ञानरूप अपनी आत्मा में तो इसलिये नहीं बन सकता है कि अभी तक ज्ञान ही अज्ञात है। तथा अन्य आत्मा के ज्ञान का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता अतः अविनाभाव का ग्रहण न होने के कारण अनुमान से भी ज्ञान की सत्ता ग्रहण नहीं की जा सकती।

सभी वादियों १ ने ऐसा माना है कि आत्मा में जो आल्हादनाकाररूप परिणति होती है वह सुख है। अर्थात्

स्वार्थावबोधक्षम एव बोधः प्रकाशते नार्थकथाऽन्यथा तु। परे परेभ्यो भयतस्तथापि प्रपेदिरे ज्ञानमनात्मनिष्ठम्।
न्यायाव मं० का० १२।

१ सुखमाल्हादनाकारं विज्ञानं मेयमोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्यात् यून. कान्तासमागमे॥ प्रमेय रत्न मा० पृ० १८२।

सातवेदन का नाम सुख और असात वेदन का नाम दु ख है। अब यह सुखदुःखरूप वेदन यदि परोक्ष माना जाय तो जिस प्रकार अन्यजन के परोक्ष सुखदुःख वेदन से हमे—आत्मा को हर्ष विषाद नहीं होते—उसी प्रकार अपने सुख दुःख वेदन से आत्मा को हर्ष विषाद नहीं होना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। अतः ज्ञान को स्वसंवेदी मानना चाहिये। इसतरह प्रत्येक ज्ञान व्यक्ति इस स्वसवेदनरूप प्रमेय की अपेक्षा से प्रमाणभूत ही माना गया है अब रही बाह्य प्रमेय की अपेक्षा की बात सो जिस ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ मे विसवाद उपस्थित रहता है—अर्थात् जो ज्ञान विसंवादी हैं वह अप्रमाण है और जो सवादक है वह प्रमाण है। फलितार्थ इसका केवल इतना ही है कि ज्ञान में सशयरूपता, विपर्ययरूपता या प्रमाणता का निश्चय बाह्य पदार्थ के यथार्थ प्रकाशत्व १ और अयथार्थ प्रकाशत्व के आधीन है पर ज्ञानरूपता या प्रकाशरूपता का निश्चय तो उसका स्वाधीन ही है। इस तरह अन्तर्ज्ञेय एव बहिर्ज्ञेय मे कथंचित् वास्तविकता सिद्ध हो जाती है। एक ही जीव के ज्ञान में सवादकता या विसवादकता जो आती है वह आवरण विगम की विशेषता से ही आती है।

जीवशब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वाद्धेतुशब्दवत्।
मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च, मायाद्यैः स्वैः प्रमोक्तिवत्॥ ८४॥

अन्वय—सज्ञात्वात् हेतुशब्दवत् जीवशब्दः सबाह्यार्थः प्रमोक्तिवत् मायादिभ्रान्तिसंज्ञाश्च स्वैः मायाद्यै· (अर्थैः-सबाह्यार्था सन्ति)

अर्थ—सज्ञा होने से "हेतु" इस शब्द की तरह "जीव" यह शब्द अपने बाह्य अर्थ से युक्त है। प्रमाशब्द की तरह माया आदि भ्रान्ति शब्द अपने माया आदिरूप अर्थ से बाह्य अर्थ वाले हैं।

---

१ तस्मात्स्वसवेदनापेक्षया न किञ्चत् ज्ञान सर्वथाऽप्रमाण बहिरर्थापेक्षया तु प्रमाणतदाभासव्यवस्था तत्संवादकविसवादात्। अष्टशती०

भावार्थ — इस कारिका द्वारा कारिकाकार जीव पदार्थ की सिद्धि कर रहे हैं—वे कहते हैं कि जितने भी नाम होते हैं वे अपने अर्थ के बिना नहीं होते हैं। "जीव" यह भी एक नाम है अतः यह भी अपने अर्थ वाला है जैसे "हेतु" यह नाम है और यह अपने अर्थ से वाह्य अर्थवाला वादिप्रतिवादियों ने माना है। उसी प्रकार 'जीव' इस शब्द का भी वाच्यार्थ जीव पदार्थ है। बिना अपने अर्थ के 'जीव' ऐसा नामपद नहीं हो सकता है। यदि इस पर ऐसा कहा जाय कि माया आदि भ्रान्ति शब्द तो हैं पर इनका वाच्यार्थ तो कोई है ही नहीं—अतः वाच्यार्थ के अभाव में भी वाचक शब्द हो सकते हैं फिर ऐसा एकान्त नियम कैसे अगीकार किया जा सकता है कि 'वाच्यार्थ के विना वाचक शब्द नहीं होते हैं। अथवा जो२ संज्ञायें होती हैं वे सव अपने वाह्य अर्थवाली होती हैं' सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है कारण कि माया आदि भ्रान्ति सज्ञाएं भी अपने संशयादि रूप वाच्यार्थ से सवाह्यार्थ हैं। जिस प्रकार—प्रमाण सज्ञा अपने वाच्यार्थ प्रत्यक्ष परोक्षरूप प्रमाण से सबाह्यार्थ है। इसलिये 'स्वरूप व्यतिरिक्तेन शरीरेन्द्रियादिकलापेन जीव शब्दोऽर्थवान्' ऐसा चार्वाक का कथन ठीक नहीं है। कारण कि लोकरूढि से भी यही अभिमत पुष्ट होता है कि जीव शब्द का 'जीव' ऐसा ही अर्थ है। शरीर इन्द्रिय आदि अर्थ नही है—अर्थात् 'जीव' यह शब्द कर्तृत्व, भोक्तृत्व लक्षणरूप उपयोग स्वभाव वाले जीव से ही सबाह्यार्थ है—इससे भिन्न से नही। 'जीवो गतः तिष्ठति' ऐसा जो व्यवहार होता है वह शरीर मे नही होता है क्योकि वह तो अचेतन है तथा यह शरीर आत्मा—जीव के भोग का अधिष्ठान है। इसी तरह जीव ऐसा व्यवहार इन्द्रियो मे भी नही होता है क्योकि वे उपयोग की साधन हैं। शब्दादिक विषय भोग्य हैं इसलिये उनमे भी जीव व्यवहार नही हो सकता है इसलिये भोक्ता—आत्मा मे ही जीव इस तरह का व्यवहार होता है और उस अर्थ से ही जीव यह शब्द सवाह्यार्थ है यह जीव जन्म से लेकर मरण पर्यन्त ही सत्तावाला नहीं है किन्तु अनादि अनत है इस अनादि अनत चैतन्य से विशिष्ट शरीर मे जो जीव का व्यवहार होता है वह अभेद के उपचार से ही होता है। भूत चतुष्टय से अचेतन होने के कारण चैतन्य आत्मा की उद्भूति नहीं हो सकती है। चैतन्य से भूतचतुष्टय विजातीय है। यदि विजातीय से भी इस चैतन्य को उद्भूति होने लग जाय तो तात्विक व्यवस्था ही तुम्हारे मतानुसार—चार्वाक मतानुसार-विलुप्त हो जावेगी। अतः 'जीव' यह शब्द अपने अर्थभूत जीव से सबाह्यार्थ है ऐसा ही मानना चाहिये।

यहा बौद्ध यदि इस प्रकार की आशका करे कि 'संज्ञात्वात्' यह हेतु बाह्यार्थरूप साध्य से विरुद्ध जो अभिप्रेत मात्र अर्थ है उसके साथ व्याप्त है–प्रयुक्त शब्द केवल वक्ता के ही अभिप्राय मात्र का सूचक होता है अर्थ का नहीं। अत वह उसके साथ ही अविनाभूत रहा करता है–अत. साध्य से विपरीत अर्थ के साथ व्याप्तिवाला होने से विरुद्ध हेत्वाभासवाला है—सो ऐसा कहना बौद्ध का ठीक नही है कारण कि संज्ञा–नाम केवल वक्ता का अभिप्रायमात्र सूचक होता है यह कथन प्रमाण से बाधित है, हम देखते हैं कि जैसे घटाभास से जलाद्याहरणरूप अर्थ क्रिया नही सधती है उसी प्रकार अभिप्रायवर्ती–विवक्षावर्ती घट से भी यह अर्थक्रिया नहीं सधती है। संकल्पित मोदको से क्षुधा की निवृत्ति नहीं होती है वह तो वास्तविक बाह्यार्थरूप से प्रसिद्ध मोदको से ही होती है। जब यह बात हमारे प्रत्यक्ष है तो इसी तरह यह भी मानना चाहिये कि वक्ता के द्वारा उच्चार्यमाण घट शब्द से कथित जो बाह्यार्थरूप घट है उसका परिच्छेद करके उसमें प्रवर्तमान व्यक्ति अर्थ क्रिया मे विसवादी नही देखा जाता है। अर्थक्रिया का साधक पदार्थ ही संज्ञा का बाह्यार्थ है। घटाभास शब्द जिस प्रकार घटरूप बाह्यार्थ से शून्य है उसी प्रकार यदि सत्य घट शब्द भी मात्र वक्ता के अभिप्राय–विवक्षा–का ही सूचक माना जाय तो इस तरह से यह भी बाह्यार्थ का प्रतिपादक न होने से बाह्यार्थ से शून्य ही माना जायगा तो सत्य शब्द और मिथ्या शब्दो मे कोई अन्तर ही नही होना चाहिये। फर्क का कारण तो केवल इनमें इतना ही है कि एक अपने बाह्यअर्थ का यथार्थ अभिधायक होता है और दूसरा बाह्यअर्थ का यथार्थ अभिधायक नहीं। सज्ञा मे जो कहीं२ पर बाह्यार्थ के प्रति व्यभिचार देखा जाता है सो ऐसा व्यभिचार तो प्रत्यक्ष में भी देखा जाता है। कहीं२ व्यभिचार देखने से सत्य शब्द भी बाह्यार्थ वाला नही है यह तो नही माना जा सकता। असत्य धूम से यदि स्वसाध्यकी सिद्धि मे सदोपता आती है तो इसका मतलब यह तो नहीं हो सकता कि सत्य धूम से भी व्यभिचार स्वसाध्य के साधन मे आता है। अत यह मानना चाहिये कि जिस प्रकार सुविवेचित हेतु अपने साध्य से व्यभिचरित नहीं होता उसी प्रकार सुविवेचित शब्द भी अपने अर्थ का व्यभिचारी नही होता है। अतः अभिप्राय मात्र सूचक संज्ञा को मानना

युक्तियुक्त[1] नहीं है। माया आदि भ्रान्ति संज्ञाएं भी प्रमाण वचन की तरह अपने अर्थ से विशिष्ट प्रतिपत्ति की हेतु होने से सबाह्यार्थ हैं। खरविषाण आदि संज्ञायें भी स्वार्थ से रहित नहीं हैं। क्योकि ये भी विशिष्ट प्रतिपत्ति की कारण हैं। विशिष्ट प्रतिपत्ति यहां अभाव विशेष की प्रतिपत्ति ही जानना चाहिये। नही तो इनमें भाव शब्दत्व का प्रसग प्राप्त होगा। इस तरह नाम मात्र–संज्ञामात्र अपने अभिधेय से सबाह्यार्थ है। " मात्र अन्यापोह का–अन्यव्यावृत्ति का वाचक शब्द होता है " यह मान्यता भी बौद्धों की इससे निरस्त हो जाती है।

बुद्धि-शब्दार्थसंज्ञा स्तास्तिस्रो बुद्ध्यादिवाचिकाः ।
तुल्या बुद्ध्यादिबोधाश्च त्रयस्तत्प्रतिबिम्बकाः ॥ ८५ ॥

अन्वय—तिस्रः बुद्धिशब्दार्थसंज्ञाः बुद्ध्यादिवाचिकाः तुल्या तत्प्रतिबिम्बकाः त्रयः बुद्ध्यादि बोधाश्च (तुल्याः सन्ति)

---

१ शब्द वक्ता की इच्छा—विवक्षा–का ही गमक होता है यह कहना बौद्धो का इसलिये भी ठीक नहीं बन सकता है कि अन्यशब्द की विवक्षा रहने पर भी अन्य शब्द का प्रयोग देखा जाता है। स्वार्थ प्रतिपादकता मे यदि किसी शब्द मे व्यभिचार देखने से सर्वत्र शब्दो मे स्वार्थप्रतिपादकता के प्रति अनाश्वास रखा जाय तो स्वभाव हेतु और कार्य हेतु भी सर्वत्र व्यभिचरित मानने का प्रसग प्राप्त होगा। क्योकि वृक्षोऽय शिंशपात्वात्–यहां शिंशपात्वरूप हेतु यद्यपि वृक्षाविसवादी है फिर भी शिंशपानाम की लता मे रहने के कारण वह अपने साध्य का गमक नहीं माना जा सकेगा। इसी प्रकार धूमादिक से अग्नि की भी प्रतिपत्ति नही हो सकेगी। कारण कि कार्य कारण भाव मे भी व्यभिचार देखा जाता है। 'काष्ठादिजन्मनोऽग्नेरिव मणिप्रभृतेरपि भावात्' अग्नि काष्ठादिक इन्धन से पैदा होती है पर कहीं मणि आदि से भी उत्पन्न देखी जाती है। अत· जैसे इसके ऊपर बौद्धो की ओर से यह कहा जाता है कि सुविवेचित व्याप्त एवं कार्य अपने व्यापक और कारण के व्यभिचारी नहीं होते हैं। तो इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि 'सुविवेचित· शब्दोऽयं न व्यभिचरति' सुविवेचित शब्द भी अर्थ का व्यभिचारी नहीं हो सकता है। शब्द प्रयोग विवक्षा का ही सूचक यदि माना जाय तो सुप्त अवस्था मे जो शब्द प्रवृत्ति देखी जाती है वह भी विवक्षा की सूचिका होनी चाहिये। अत शब्द अपने अर्थ से ही सबाह्यार्थ है ऐसा मानना चाहिये। और इससे ही उसमें सत्यासत्य व्यवस्था होती है।

अर्थ—ये तीनों-बुद्धि, शब्द, एवं अर्थ सज्ञाएं-स्वव्यतिरिक्त बुद्धि शब्द एवं अर्थरूप वाच्यार्थ को कहती हैं अत समान हैं। तथा इनके संज्ञाओं—के-प्रतिबिम्बक जो तीन बुद्धि, शब्द एवं अर्थरूप बोध हैं वे भी बुद्धि, शब्द एव अर्थ को जानने वाले होने से समान हैं।

भावार्थ—"जीवशब्दः सबाह्यार्थः सज्ञात्वात्" इत्यादि ८४ वीं कारिका द्वारा जो कारिकाकार ने जोवशब्द-रूप धर्मी में सज्ञात्वहेतु द्वारा जीवरूप बाह्यार्थ सहितपना साध्य किया है उसके ऊपर प्रतिवादी बौद्ध का ऐसा कहना है कि'सज्ञात्वात्'यह हेतु साध्याभाव मे रहने वाला होने से व्यभिचरित है,कैसे ? सो सुनिये-'अर्थाभिधानप्रत्ययाः तुल्यनामानः' अर्थ—वाच्यार्थ, अभिधान-नाम, एवं प्रत्यय—तद्विषयक ज्ञान ये तीनो पर्यायवाची शब्द है सो इस नियम के अनुसार जीव-शब्द, जीव बुद्धि—जीव ज्ञान जीव इसरूप ज्ञान का--जीव शब्द का और जीव अर्थ का वाचक माना जायगा अर्थात् जीव संज्ञा के ये तीन अर्थ है। ऐसी हालत में जीव अर्थ कहने वाली जीवसंज्ञा ही इस जीव पदार्थरूप अपने वाच्य से युक्त होने के कारण सबाह्यार्थरूप साध्य से विशिष्ट मानी जावेगी, शब्दपदार्थक एव ज्ञानपदार्थक जीव सज्ञा-जीव शब्द-सबा-ह्यार्थरूप साध्य से विशिष्ट नहीं मानी जावेगी। ऐसी स्थिति मे शब्द पदार्थक एव ज्ञान पदार्थक जीव शब्द साध्याभाव विशिष्ट होने से विपक्ष पड़ जाते है फिर भी उनमें 'सज्ञात्वात्' यह हेतु रहता है। इससे विपक्ष में भी रहने से यह हेतु व्यभिचरित हो जाता है। फलितार्थ इसका केवल इतना ही है कि जीव शब्द के बुद्धि, शब्द और अर्थ ये तीन वाच्यार्थ हैं। इनमें अर्थपदार्थक जीव शब्द ही संज्ञात्व हेतु से सबाह्यार्थ सिद्ध होता है शब्द पदार्थक एव ज्ञान पदार्थक जीव शब्द नही। फिर भी इनमे सज्ञात्व हेतु रहता है। इस प्रकार का यह बौद्ध अभिप्राय चित्त में रखकर कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह साबित करते हैं कि शब्द पदार्थक एवं ज्ञानपदार्थक भी जीव शब्द सबाह्यार्थरूप साध्य से विशिष्ट है रिक्त नहीं है। अत सज्ञात्व हेतु साध्याभाव मे नहीं रहने वाला होने से व्यभिचरित नहीं होता है। यही बात स्पष्ट की जाती है—उच्चरित जिस शब्द से अव्यभिचरित जहां बोध होता है वही उसका अर्थ माना जाता है--जैसे घट शब्द के उच्चारण से श्रोता को कम्बुग्रीवादिमान् घट अर्थ का बोध होता हैं अतः घट शब्द का अर्थ घटरूप पदार्थ माना

जाता है।

यदि ऐसा न हो तो शाब्दिक व्यवहार ही नहीं बन सकता है। तो जिस प्रकार जीवरूप अर्थपदार्थक जीव शब्द से—"जीवो न हन्तव्य." इस वाक्य से-जीव रूप अर्थ का प्रतिबिम्बक बोध श्रोता को प्रादुर्भूत होता है उसी तरह बुद्धि पदार्थक जीव शब्द से " जीव है " ऐसा बुद्धिरूप वाच्य का प्रतिबिम्बक बोध श्रोता को प्रादुर्भूत होता है। तथा शब्द पदार्थक जीव शब्द से ' जीव इत्याह " इस वाक्य से " यह जीव ऐसा नाम कहता है " इस प्रकार का श्रोता को शब्द प्रतिबिम्बक बोध होता है। इस तरह जीवार्थक जीव शब्द, बुद्धि अर्थक जीव शब्द और नाम अर्थक जीव शब्द अपने से व्यतिरिक्त अर्थ, ज्ञान, एवं नाम इन अपने २ वाच्यार्थ के वाचक होते हैं। क्योंकि इनके प्रतिबिम्बक बोध तीन ही होते हैं। " जीव शब्दः सबाह्यार्थः संज्ञात्वात् " इस अनुमान में सामान्य से जीव शब्द को धर्मी बनाया गया है और स्वव्यतिरिक्त अर्थरूप सबाह्यार्थ को साध्य बनाया है, था " संज्ञात्वात् " को हेतु बनाया है। इस तरह ये बुद्धि, शब्द और अर्थरूप संज्ञाएँ बुद्ध्यादिक अपने२ वाच्य की वाचक होने से सबाह्यार्थ रूप साध्य से शून्य नहीं हैं। अतः इनमे विपक्षता नहीं आती है। बुद्धि और शब्द रूप संज्ञाएं जब विपक्ष ही नहीं है तो इनमे वर्तमान संज्ञात्व हेतु कथमपि व्यभिचारी नहीं हो सकता है। इस तरह यह हेतु सर्वथा निर्दोष है। इस प्रकार एक जीव पदार्थ का ज्ञान नाम एव अर्थरूप से प्रतिपादन करने वाली होने से इन संज्ञाओं में तुल्यता एव एक जीव को ही ज्ञान नाम एवं अर्थरूप संज्ञाओं से दिखाने वाले-जनावने वाले-होने से इनके प्रतिबिम्बक बोधों में तुल्यता प्रकट हो जाती है।

वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां, वाक्यबोधप्रमाः पृथक्।
भ्रान्तावेव प्रमाभ्रान्तौ, बाह्यार्थौ तादृशेतरौ ॥ ८६ ॥

अन्वय—वक्तृश्रोतृप्रमातॄणां वाक्यबोधप्रमाः पृथक् (सन्ति)। भ्रान्तौ एव प्रमाभ्रान्तौ तादृशेतरौ बाह्यार्थौ (भ्रान्तौ एव स्याताम्)।

अर्थ—वक्ता, श्रोता एवं प्रमाता के वाक्य, बोध एव प्रमा ये शब्द भिन्न २ हैं। यदि इन वाक्य बोध

एवं प्रमा को भ्रान्ति स्वरूप माना जायगा तो ऐसी स्थिति में प्रमाण में भ्रान्तिरूपता आने पर तादृश-भ्रान्त अप्रमाण और इतर अभ्रान्त-प्रमाणरूप तथा इष्ट एव अनिष्ट रूप अर्थ भी भ्रान्त स्वरूप हो हो जावेंगे–दोनो को भ्रान्त ही मानना पडेगा।

भावार्थ—सवेदनाद्वैतवादी बौद्ध ऐसा कहते है कि " संज्ञात्वात् " हेतु द्वारा जो शब्द मे सबाह्यार्थता

आ० सिद्ध करने की आप चेष्टा कर रहे हैं वह ठीक नहीं है क्योकि हम विज्ञानवादियों के प्रति यह हेतु स्वरूपत असिद्ध है।

मी० हेतु जो हुआ करता है वह वादि-प्रतिवादी दोनो को ही सिद्ध होना चाहिये तभी जाकर वह अपने साध्य का साधक

४०३ होता है। यह हेतु ऐसा नहीं है। इसका कारण यह है कि हम विज्ञानाद्वैतवादियो ने एक विज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ नहीं माना है। बाह्य पदार्थ नहीं मानने का कारण यही है कि बाह्य पदार्थ की सत्ता स्वतंत्र रूप से सिद्ध नही होती है। अत विज्ञान से व्यतिरिक्त संज्ञा का सत्व स्वतंत्र सिद्ध नहीं होने से वह विज्ञान स्वरूप ही पडती है। इससे यह बात भी स्वतः समझ में आजाती है कि हेतु शब्द को जो दृष्टान्त कोटि में रखा गया है वह साधनविकल बन जाता है। क्योकि उसमे संज्ञात्वात् यह हेतु नहीं रहता है। तथा इसी कारण से वह सबाह्यार्थ रूप अपने साध्य से शून्य भी हो जाता है। अतः हेतु शब्द अपने अवभासक ज्ञान के अतिरिक्त और कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। यदि "संज्ञात्वात्" हेतु का अर्थ सज्ञा का अवभासक ज्ञान ऐसा माना जाय तो यह कथन भी शब्द अवभासक स्वप्न ज्ञान से व्यभिचरित बन जाता है। क्योकि स्वप्न ज्ञान मे शब्दो का अवभासन तो होता है परन्तु वह सबाह्यार्थ नहीं माना जाता है। इस प्रकार यह सवेदनाद्वैतवादी का कथन हृदयंगम करके कारिकाकार इस कारिका द्वारा संज्ञात्व हेतु में असिद्धता एव दृष्टान्त मे साध्य साधन विकलता का परिहार करते हैं—वे कहते हैं कि वक्ता श्रोता और प्रमाता ये तीन तथा इनके यथा सख्य वाक्य, बोध और प्रमा-प्रमाण-ये सब भिन्न २ हैं। इस भिन्नता में विज्ञान का अद्वैत कैसे सिद्ध हो सकता है। यदि बाह्य पदार्थ का अस्तित्व न माना जाय तो वक्ता को तद् विषयक ज्ञान कैसे हो सकता है। बाह्य पदार्थ है तभी वक्ता को उसका ज्ञान होता है और इसी से वह उस विषय का उपदेश श्रोताजनों को

देता है।

अर्थात वक्ता के जो वाक्य की प्रवृति होती है वह अभिधेयबोध निबंधनक होती है। वक्ता की इस वाक्य प्रवृति से तद्विषयक ज्ञान का सद्भाव और उसके सद्भाव से बाह्यपदार्थ का अस्तित्व सिद्ध होता है। तब यह बात कैसे मानी जा सकती है कि एक असहाय-ज्ञान ही वास्तविक है बाह्यपदार्थ नहीं। यदि बाह्यपदार्थ स्वतत्ररूप से सत्ता विशिष्ट न माना जाय तो वक्ताजन तद्विषयक ज्ञान के अभाव मे कभी भी तद्विषयक उपदेश नही दे सकते हैं। उपदेश के अभाव में श्रोताओं को अभिधेय-पदार्थ का बोध नहीं हो सकता है। यदि वक्ता विना अभिधेय के बोध के उपदेश देगा तो वह उसका उपदेश एक असबद्ध प्रलाप जैसा ही माना जायगा। वक्ता के उपदेश से श्रोता को बाह्यपदार्थ की प्राप्ति यथावत् होती है। अतः बाह्यपदार्थ ज्ञानस्वरूप कथमपि नहीं माना जा सकता। तथा प्रमाता को-सत्य असत्य अर्थ के निर्णय करने वाले को-बाह्यपदार्थ की प्रमाणता यदि न होय तो शब्द और अर्थरूप प्रमेय में यथार्थता का वह निर्णय कैसे कर सकेगा। अर्थात प्रमाता द्वारा प्रमिति के अभाव में शब्द एव अर्थ रूप प्रमेय की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। इस शब्द का यह वाच्यार्थ है इस तरह की प्रमाता को जो वाच्यार्थ पदार्थ सम्बन्धी अज्ञान निवृति आदि रूप प्रमिति हुआ करती है वह वास्तविक बाह्यपदार्थ रूप जो शब्द और उसका अर्थ है उसके सद्भाव में ही बन सकती है। इस शब्द का यह वाच्यार्थ है इस तरह की प्रमाता को वाच्यवाचकभाव की अधिगति रूप प्रमिति जो न हो तो उसके लिये शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक भाव पारमार्थिक है इसलिये इस विवक्षित शब्द का संकेतानुसार यही अर्थ है अन्य नहीं इस तरह का प्रमाण रूप ज्ञान कैसे हो सकेगा। घट शब्द का प्रमेय यदि घट न हो तो यह कैसे कहा जा सकता है कि घट शब्द घट रूप अर्थ को ही कहता है वस्त्रादिक रूप अर्थ को नहीं।

घट शब्द घट रूप अर्थ को ही कहता है अन्य को नहीं इसीलिये तो इनका वाच्य वाचक सम्बन्ध प्रमाण माना जाता है और इसी अपेक्षा से घट शब्द से जायमान ज्ञान में प्रमाणता आती है और इसी कारण से घट शब्द में भी प्रमाणता की व्यवस्था बन जाती है। प्रमाता आत्मा इसी रूप से शब्द और अर्थ को जानता है अतः शब्द और

तदभिधेय रूप अर्थ की वह व्यवस्था करता है। यदि ऐसा न हो तो कोई भी व्यक्ति अपने इष्ट तत्त्व की व्यवस्था नहीं कर सकता, यह सब होता है। इसलिये वक्ता श्रोता और प्रमाता तथा उनके ये वाक्यादित्रय पृथग्भूत मानना चाहिये क्योंकि इसी तरह से उनकी व्यवस्था जो बनती है, इस तरह वक्ता आदि संज्ञाएं तथा वाक्यादि सज्ञाएं अपने२ बाह्यार्थ से विशिष्ट होने के कारण सबाह्यार्थ है। इस तरह सज्ञात्व हेतु मे न असिद्धता है और न हेतु शब्द रूप दृष्टान्त में साध्य साधन विकलता हा है। यदि ऐसा न माना जाय तो सवेदनाद्वैत भी अपने अभिधेय से रिक्त होने के कारण कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है। शब्द और अर्थ की इस द्विविधता मे सवेदनाद्वैत सिद्ध न होकर द्वैत सिद्ध होता है। सवेदना द्वैतवादी फिर भी यदि ऐसा कहें कि "बहिरर्थाभावात् वक्त्रादित्रय न बुद्ध पृथग्भूतं वक्त्राद्याभासाया बुद्धेरेव वक्त्रादित्वव्यवहारात् वाक्यस्यापि बोधव्यतिरेकेणासत्वात् प्रमाया वोधात्मकत्वात्" बहि अर्थ का अभाव होने से ये वक्ता श्रोता आदि त्रय, ज्ञान से पृथक्भूत नही है क्योंकि यह वक्ता है यह श्रोता है इत्यादि को जो व्यवस्था होती है वह बुद्धि से ही होती है। अतः वक्ता आदि आकार वाली बुद्धि मे ही वक्ता श्रोता इत्यादि व्यवहार होता है। वाक्य भी बोध से व्यतिरिक्त स्वतत्र नही है। प्रमा तो स्वयं बोधात्मक है। इसलिये "सज्ञात्वात्" हेतु में असिद्धता का एव दृष्टान्त मे साधन आदि विकलता का जो परिहार किया गया है सो ठीक नहीं है वह तो तदवस्थ ही है। सो ऐसा कहना भी संवेदनाद्वैत वादी का समुचित नहीं है, कारण कि बाह्य रूपादिक का ग्राहक ज्ञान यदि नहीं माना जायगा और केवल उसे स्वांश मात्रावलबी ही माना जायगा एव बाह्य रूपादिक के ग्राहक ज्ञान को विभ्रमस्वरूप ही स्वीकृत किया जायगा तो ऐसी स्थिति मे अन्तर्ज्ञेय रूप सवेदनाद्वैत भी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि वह भी विभ्रम रूप ही मानना पडेगा। कारण अन्तर्ज्ञेय रूप सवेदनाद्वैत की सिद्धि विना प्रमाण के होती नहीं है। और वह प्रमाण सवेदनाद्वैतवादी की दृष्टि में विभ्रमस्वरूप है। अतः एकान्त संवेदनाद्वैत की सिद्धि के बाधक ये भिन्न २ वक्ता आदित्रय एवं उनके वाक्य बोध और प्रमा हैं। यदि इन्हें भ्रान्ति स्वरूप माना जाता है तो प्रमाण में भ्रान्तिता आने से सत्यासत्य पदार्थ की व्यवस्था ही विनष्ट हो जाती है।

बुद्धिशब्दप्रमाणत्वं, बाह्यार्थे सति, नासति ।
सत्यानृतव्यवस्थैवं, युज्यतेऽर्थाप्त्यनाप्तिषु ॥ ८७ ॥

अन्वय---बाह्यार्थे सति बुद्धि-शब्दप्रमाणत्व असति न । एवं अर्थाप्त्यनाप्तिषु सत्यानृतव्यवस्था युज्यते ।

अर्थ---बाह्य अर्थ के होने पर बुद्धि-ज्ञान-एवं शब्द में प्रमाणता आती है, नहीं होने पर नहीं। इस प्रकार अर्थ की प्राप्ति और अप्राप्ति के निमित्त को लेकर बुद्धि और शब्द में सत्य और असत्य की व्यवस्था बनती है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार ज्ञान और शब्द मे प्रमाणता और अप्रमाणता की व्यवस्था कैसे होती है इस बात की पुष्टि करते हैं। वे कहते है कि यदि सवेदनाद्वैतवादी ऐसा कहे कि भ्रांति रहित ज्ञान ही निर्बाध रूप से प्रमाण माना जाता है तो इसके ऊपर उन कारिकार का यह कहना है कि ज्ञान मे भ्रान्ति से रहित पना विना वाह्यार्थ को माने नहीं आसकता है इसके लिये बाह्यार्थ मानना ही चाहिये । ज्ञान में प्रमाणता और अप्रमाणता की व्यवस्था बाह्यार्थापेक्ष है । यद्यपि भावप्रमेय की अपेक्षा समस्त ज्ञानो में-सम्यग्ज्ञान एवं मिथ्याज्ञान सब मे-प्रमाणता मानी गई है इसी को स्वोन्मुखतया ज्ञान का प्रतिभासन कहा गया है। परन्तु जब बुभुत्सु को अपने ज्ञान में प्रमाणता की कसौटी करनी होती है तब वह उस ज्ञान के द्वारा जाने गये पदार्थ की ओर तकता है। यदि ज्ञान का विषयभूत पदार्थ जिस रूपादिक से विशिष्ट ग्रहण किया गया है वह पदार्थ यदि उसी रूपादिक द्वारा निर्दोष उतरता है, उसमे किसी भी प्रकार से संदेह आदि के लिये गुंजाइश नही है तो उस ज्ञान को स्वयं ज्ञाता प्रमाण भूत मान लेता है। तथा जब प्रमाता अपने इस ज्ञान को "मदीय ज्ञानं प्रमाणम्" इस रूप से पर के लिये प्रतिपादन करता है तो उस परप्रतिपादन में साधन शब्द पडता है। क्योंकि स्वयं ज्ञान से परप्रतिपादन नहीं होता है । परप्रतिपादन तो परप्रतिपत्ति के उपायभूत शब्द द्वारा ही होता है। अब शब्द मे भी प्रमाणता बाह्य अर्थ के विना नहीं आसकती है । क्योंकि प्रतिपादित पदार्थ जिस स्वरूपादिक विशिष्ट वतलाया गया है वह यदि उसी स्वरूपादि

विशिष्ट उतरता है तो शब्द में प्रमाणता है। इसी का नाम है वक्ता की प्रमाणता से शब्द मे प्रमाणता। इस तरह बुद्धि और शब्द मे प्रमाणता बाह्य अर्थ के सद्भाव मे ही आती है, अभाव मे नहीं। इसी तरह स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का दूषण भी विना बाह्यार्थ के नहीं बनता है। अत बाह्यार्थ पारमार्थिक सत्य है ऐसा मानना चाहिये।

इस प्रकार बाह्यार्थ की सत्यता में वक्ता श्रोता और प्रमाता ये तीन तथा इनके वाक्य बोध और प्रमाण ये तीन निर्बाध सिद्ध हो जाते है। बहि अर्थ के सद्भाव को आवेदन करने वाला यह अनुमान है "बहिरर्थः परमार्थतः सन् साधनदूषणप्रयोगात्," इसका खुलासा अर्थ इस प्रकार है-विज्ञानाद्वैतवादी एक विज्ञान के सिवाय बाह्यार्थ परमार्थिक सत्य नहीं मानता है उसके मतानुसार अनादि कालीन विकल्प वासना के आधार से ज्ञान ही अनेकाकार में अर्थरूप से प्रतिभासित होता है। इसके ऊपर अकलक देव इस अष्टशती द्वारा यह उसे समझा रहे है कि इस प्रकार की ज्ञानाद्वैतवादी की मान्यता उचित नही है, कारण कि साधन और दूषण प्रयोग–स्वपक्ष का साधन प्रयोग एव परपक्षका दूषण प्रयोग-विना बहिर्चार्थ को पारमार्थिक सत्य माने बनता ही नहीं है 'अन्यथा स्वप्नेतराविशेषात् किं केन साधितं दूषितं च" यदि बहिर्चार्थ के बिना भी साधन प्रयोग एव दूषण प्रयोग वन जाता है तो स्वप्नदशाभावी और जाग्रत दशाभावी साधन दूषण प्रयोगो मे कोई भी विशेषता नही रहेगी कारण कि जिस प्रकार स्वप्न दशाभावी साधन दूषण प्रयोग बहिरर्थ से शून्य हैं उसी प्रकार जाग्रत् दशाभावी भी साधन दूषण प्रयोग बहिरर्थ से शून्य है। तब इन दोनों दशाभावी प्रयोगो मे भेद का नियामक क्या हो सकता है कि जिससे एक दशाभावी साधन दूषण प्रयोग सत्य और अपर दशाभावी साधन दूषण प्रयोग असत्य माना जा सके। इस तरह बहिरर्थ के अभाव में उभयदशाभावी इन प्रयोगो मे अविशेषता होने से " नीलतद्धियोरभेद सहोपलम्भनियात् द्विचन्द्रदर्शनवत्" ऐसा कथन कि अर्थ और ज्ञान दोनो एक साथ उपलब्ध होते हैं अत अर्थ और ज्ञान अभिन्न है जैसे द्विचन्द्रज्ञान मे प्रतिभासित होने वाले दो चन्द्र वस्तुतः पृथक् सत्ता नही रखते, किन्तु एक ही हैं" संवेदनाद्वैत की सिद्धि कैसे कर सकेगा। और कैसे वचन

रूप परार्थानुमान द्वारा सवेदनाद्वैत पर के प्रति साधित हो सकेगा तथा ऐसा कहना भी कि यह स्वसविदित संवेदनाद्वैत प्रत्यक्ष से ही प्रतिभासित होता है और बहिरर्थ जड पदार्थ का प्रतिभासन नहीं होता है। यह सब प्रतिपादन शोभन कैसे माना जायगा।

क्योकि यह सब कथन स्वप्न प्रत्यय की तरह अपने अभिधेय से शून्य ही रहेगा स्वप्नदशाभावी प्रत्यय में और जाग्रत् दशा भावी प्रत्यय मे बहिरर्थ की हयाती और अहयाती को लेकर ही तो बिशेषता मानी जाती है। तथा ऐसा कहना भी कि "तैमिरिक व्यक्ति के द्विचन्द्रदशन की तरह समस्त व्यवहार भ्रान्त है,, विना तत्व ज्ञान के माने नहीं बन सकता है। अर्थात् ऐसा जो कहा जायगा वह तत्वज्ञान की सहायता से ही तो कहा जायगा-तब तत्वज्ञान में भ्रान्तता कैसे आ सकती है -उसे तो अभ्रान्त ही मानना पडेगा- नहीं तो इस कथन को कोई कीमत ही नही रहेगी। दूसरे-जिस तरह बहिरर्थ को विभ्रम रूप मानकर उसका निराकरण सवेदन द्वैतवादी द्वारा किया जाता है उसी तरह सवेदनाद्वैतवादी को अभीष्ट जो संवेवनाद्वैत है उसके भी निराकरण की आपत्ति उसे प्रसक्त होती है। क्योकि सवेदनाद्वैत की सिद्धि वह तत्व ज्ञान से करता है और तत्व ज्ञान उसकी दृष्टि में भ्रान्त है। अतः भ्रान्त तत्व ज्ञान से सवेदनाद्वैत की सिद्धि ठोस रूप में नही मानी जावेगी—असिद्ध मानी जावेगी। इस तरह बाह्य अर्थ को पारमार्थिक सत्वस्वरूप माने विना सवेदना द्वैतवादी न तो अपने इष्ट तत्व रूप संवेदनाद्वैत की सिद्धि कर सकता है और न पर पक्ष का-बाह्य अर्थ का खडन ही कर सकता है। अतः परमार्थिक बाह्यार्थ का सद्भाव उसे मानना पड़ता है। इस सद्भाव मे एकान्ततः संवेदनाद्वैत सिद्ध नही होता है। इस प्रकार उभयतः पाशरज्जू उसके लिये तैयार हो जाती है। तथा [1] सवेदनाद्वैत वादी जो बाह्यार्थ के अस्तित्व मानने मे यह बाधक उपस्थित करते हैं कि एक परमाणु अन्य परमाणुओ से एक देश से संयोग करेगा या सर्व देश से संयोग करेगा। एक देश से संयोग मानने पर पूर्वादि दिशाओ से आगत छ परमाणुओ द्वारा संयुक्त होने पर उस परमाणु में षडशता माननी पडेगी। फिर निरश परमाणु को मानना

१—अकलक ग्रन्थत्रय की प्रस्तावना के आधार से उल्लिखित।

ठीक नहीं कहलावेगा । सर्वदेश से संयोग मानने पर परमाणुओं का पिण्ड एक परमाणु रूप हो जावेगा। इसी तरह अवयवी अपने अवयवों में एक देश से रहेगा या सर्वात्मना ? एक देश से रहने पर अवयवों में उतने ही देश मानना पड़ेंगे कि जितने अवयव हैं। सर्वदेश से अवयवी अवयवों में रहता है इस मान्यता में जितने अवयव हैं उतने ही अवयवी मानने का प्रसंग प्राप्त होगा । इस प्रकार संवेदनाद्वैत वादी के इस कथन का परिहार अकलंक स्वामी ने इस प्रकार किया है कि जिस तरह एक ज्ञान अपने ग्राह्य ग्राहक और संविदाकार से तादात्म्य रखकर भी एक रहता है

आ० उसी तरह अवयवी अपने अवयवों में कथंचित् तादात्म्य सम्बन्ध से रहने पर भी एक ही रहेगा। अवयवों से सर्वथा

मी० भिन्न अवयवी तो जैन भी नहीं मानते हैं। परमाणुओं में परस्पर स्निग्धता और रूक्षता के कारण एक ऐसा विलक्षण

४०९ सम्बन्ध होता है कि जिससे स्कन्ध बनता है। अत ज्ञान के अतिरिक्त बाह्य पदार्थ की सत्ता माननी ही चाहिये। क्यों कि ससार के समस्त व्यवहार बाह्य सत् पदार्थों से चलते हैं केवल ज्ञान मात्र से नहीं।

इस तरह बहिः अर्थ की सिद्धि होने पर वक्ता आदित्रय तथा उनके वाक्यादित्रय सिद्ध हो जाते हैं। अतः जीव शब्द को सबाह्यार्थत्व साध्यविशिष्ट साधित करने पर सज्ञात्व हेतु में न असिद्धता आती है और अनेकान्तिकता ही। तथा दृष्टान्त रूप में प्रवत्त हेतु शब्द भी साधन और साध्य विकल नहीं हैं । अत ८४ वीं कारिका द्वारा निर्बाधरूप से जीव पदार्थ सिद्ध हो जाता है । इस प्रकार भाव प्रमेय की अपेक्षा से समस्त ज्ञान कथंचित् अभ्रान्त ही हैं। तथा बहि अर्थकी विसवादिता की अपेक्षा से कथञ्चित् ज्ञान भ्रान्त भी है तथा अविसंवादिता की अपेक्षा से ज्ञान प्रमाण-अभ्रान्त भी है। क्रमार्पितद्वय-भ्रान्ताभ्रान्त की अपेक्षा ज्ञान उभयरूप ही है। सहार्पितद्वय की अपेक्षा से ज्ञान भ्रान्त अभ्रान्त रूप से युगपत् अवक्तव्य है। इस तरह ये चार भंग यहां समझ लेना चाहिये। बाकी के अवशिष्ट तीन भंग पूर्वोक्त पद्धति के अनुसार नियोजित कर लेना चाहिये।

सप्तमोऽयं परिच्छेदोऽनूद्याद्यपूर्णतां गतः।
पक्षे तिथौ च मासे च, कृष्णेऽष्टम्यां सुमाधवे ॥

इति सप्तम परिच्छेदः

देवादेवार्थसिद्धिश्चेद् दैवं पौरुषतः कथम् ।
दैवतश्चेदनिर्मोक्षः पौरुषं निष्फलं भवेत ॥ ८८ ॥

अन्वय—दैवादेव अर्थसिद्धिः चेत् (तदा) पौरुषतः दैव कथ (स्यात्) दैवतः चेत् अनिर्मोक्षः, पौरुष (च) निष्फल भवेत् ।

अर्थ—दैव-भाग्य से ही अर्थ-प्रशस्त अप्रशस्त शरीर इन्द्रियादिकों की, तथा ज्ञान सुखादिकों की, एवं अज्ञान दु.खादिकों की सिद्धि-निष्पत्ति होती है । यदि यही सिद्धान्त एकान्तत अंगीकार किया जाय तो पौरुष से-पुरुषार्थ से दैव की जो निष्पत्ति-सिद्धि मानी जाती है वह कैसे हो सकेगी । यदि इस पर यह कहा जाय कि दैव की सिद्धि पूर्व दैव से होती हैं तो इस प्रकार की मान्यता मे अनिर्मोक्ष—मोक्षाभाव प्रसक्त होता है तथा पुरुषार्थ भी निष्फल ठहरता है ।

भावार्थ—उपायतत्व दो प्रकार का है । १—ज्ञापकत्व २—कारकतत्त्व । ज्ञान को ज्ञापकतत्व माना गया है । दैव पुरुषार्थ आदि कारक तत्त्व है । यहां कारिकाकार इसी कारक तत्त्व का परीक्षण कर रहे हैं । किन्ही २ का इस विषय मे ऐसा मन्तव्य है कि जितने भी दृष्ट और अदृष्ट कार्य हैं उन सबका साधन एक दैव ही है । किन्हीं का ऐसा कहना है कि समस्त कार्यों का ऐसा साधन एक पुरुषार्थ ही है दैव नहीं । कोई ऐसा कहते हैं कुछ कार्य दैव से साधित होते हैं और कुछ कार्य पुरुषार्थ से साधित होते है । जो व्यक्ति पुरुषार्थ निरपेक्ष केवल दैव से ही कार्य की निष्पत्ति होना मानते है उनसे कारिकाकार का ऐसा कहना है कि इस मान्यता मे कुशल और अकुशल आचरण रूप पुरुष व्यापार से—पुरुषार्थ-से कर्म रूप दैव की निष्पत्ति कैसे हो सकेगी । अर्थात् पुण्य पाप रूप दैव की उत्पत्ति का कारण मन वचन काय रूप शुभ और अशुभ योग है । " शुभःपुण्यस्याशुभ. पापस्य " वह अब इस मान्यता मे घटित नहीं हो सकता ।

अन्यथा कृत प्रतिज्ञा की हानि होने का प्रसग प्राप्त होता है। इसी तरह केवल—दैवनिरपेक्ष-पुरुषार्थ से ही कार्य की सिद्धि मानी जाय तो यह सिद्धान्त भी युक्ति युक्त नहीं बैठता है, सो कैसे ? इसका विवेचन स्वयं कारिकाकार ८९ वी कारिका द्वारा आगे स्पष्ट रूप से करेंगे। अतः यह बात वहीं पर समझाई जावेगी। यदि दैववादी दैव की उत्पत्ति का कारण पूर्वोपार्जित दैव ही माने पुरुपार्थ नही तो इसके लिये कारिकाकार कहते हैं कि " दैवतश्चेदनिर्मोक्षः " पूर्व २ दैव से ही उत्तरोत्तर दैव की उत्पत्ति होती रहेगी उसका विराम तो होग नहीं ऐसी स्थिति मे मोक्ष-दैव का परिक्षयरूप-अभाव-रूप-निर्वाण कैसे सिद्ध हो सकेगा। तथा कर्मरूप दैव की उत्पत्ति को रोकने के लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है वह भी निष्फल ही हो जायगा। यदि पुरुषार्थ की सफलता निमित्त ऐसा कहा जाय कि पुरुषार्थ से ही दैव का विनाश होता है इससे मोक्ष की प्रसिद्धि होने से पुरुषार्थ सफलित हो जावेगा सो इस प्रकार का कथन " दैवादेव सर्वः भवति इति या प्रतिज्ञा सा हीयते " दैव से ही सब कुछ होता है इस कथन का निवारक हो जाता है क्योकि इस कथन से पुरुषार्थ भी कार्यकारी सावित हो जाता है। यदि अपनी प्रतिज्ञा को सुदृढ रखने के लिये दैववादी मीमांसक ऐसा कहे कि मोक्ष का कारणभूत जो पुरुषार्थ होता है वह भी तो दैव कारणक ही होता है अत परम्परा सम्बन्ध से मुक्ति भी दैव कारणक ही मान ली जावेगी-तब तो प्रतिज्ञा हानि होने का कोई भय ही नहीं रहता है सो इस प्रकार के कथन से दैवैकान्त सिद्ध नहीं हो सकता है। कारण कि तादृश-मुक्ति प्राप्ति का कारण परम पुण्यातिरूप ऐसे-दैव का निर्माण तो पुरुषार्थ से ही होता है ।

इस ही तरह यदि कोई ऐसा कहे कि स्वयं अप्रयतमान व्यक्ति के जो समस्त इष्ट और अनिष्ट कार्य सम्पन्न होते हैं वे उसके केवल दैव से ही होते हैं पुरुपार्थ से नही, एवं जो प्रयतमान व्यक्ति है-पुरुषार्थ करने वाले हैं—उनके जो समस्त इष्ट और अनिष्ट कार्य सम्पन्न होते हैं वे उसके पुरुषार्थ से होते हैं दैव से नहीं, सो ऐसी मान्यता भी युक्ति युक्त नहीं है। कारण कि कृष्यादिक कार्यों मे एक साथ प्रवृत्ति करने वाले—एकसा पुरुपार्थ मिलकर साथ २ करनेवाले व्यक्तियों में से किन्हीं २ के ही कार्य की सिद्धि एवं अनर्थ का विघात देखा जाता है तथा किन्हीं २ के अर्थ की-कार्य

की सिद्धि का अभाव एवं अनर्थ की प्राप्ति देखी जाती है। अतः यह मानना चाहिये कि ऐसी स्थिति में दैव की प्रतिकूलता एव अनुकूलता भी कारण है। "योग्यता कर्म पूर्वंवादैवमुभयमदृष्टं पौरुष पुनरिह चेष्टितं दृष्टम्। ताभ्यामर्थसिद्धिः तदन्यतरापायेऽघटनात् पौरुषमात्रेऽर्थादर्शनात् देवमात्रे वा समीहानर्थक्यप्रसगात्" इसी बात को अकलक स्वामी ने इस अष्टशती द्वारा प्रदर्शित किया है—वे इसमें बतलाते हैं कि योग्यता अथवा पूर्व कर्म ये दैव के नाम हैं, चेष्टित एवं दृष्ट ये पौरुष के नाम हैं। इन दोनो मे दैव अदृष्ट एव पुरुषार्थ दृष्ट है। इन दोनों से अर्थ की सिद्धि होती है। केवल पुरुषार्थ एवं केवल दैव से ही नही होती है। जो व्यक्ति पुरुषार्थ नहीं करते हैं फिर भी उनके जो अर्थ प्राप्ति एवं अनर्थोपरम तथा अनर्थ प्राप्ति एवं अर्थोपरम देखने मे आता है उससे वहां प्रयत्न का—पुरुषार्थ का अभाव माना जाय तो ऐसी स्थिति मे उनमे अनुपभोग्यता का प्रसंग प्राप्त होगा। अत इनके अनुभवन में कारण पुरुपार्थ भी है ऐसा निश्चितरूप से मानना चाहिये। केवल पुरुषार्थ से अर्थ सिद्धि देखी नहीं जाती है तथा दैव मात्र से अर्थ सिद्धि मानने मे तद्विषयक इच्छा करना भी व्यर्थ है इसलिये दैव और पुरुषार्थ ये दोनो ही मिलकर अर्थसिद्धि में कारण हैं ऐसा ही मानना चाहिये। मोक्षरूप अर्थ की सिद्धि भी परम पूण्यातिरूप दैव तथा चारित्र विशेषात्मक पौरुष से ही होती है। इसलिये दैवैकान्त का पक्ष श्रेयस्कर नहीं है।

पौरुषादेवसिद्धिश्चेत्पौरुषं दैवतः कथम्।
पौरुषाच्चेदमोधं स्यात्सर्वप्राणिषु पौरुषम् ॥ ८९ ॥

अन्वय—चेत् पौरुषात् एव सिद्धि (तदा) दैवत पौरुषं कथ (स्यात्) पौरुसषात् चेन् (र्तीह) सर्वप्राणिषु पौरुषं अमोध स्यात्।

अर्थ—यदि पुरुषार्थ से ही अर्थ की सिद्धि होती है ऐसा माना जाय तो दैव से जो पुरुषार्थ को सिद्धि होती हुई देखी जाती है उसका निर्वाह कैसे हो सकेगा। इस पर यदि यों कहा जाय कि पुरुषार्थ को सिद्धि पुरुषार्थ से ही

होती है दैव से नहीं, सो इस प्रकार की मान्यता में सर्व प्राणियों का पुरुषार्थ सफल ही होने का प्रसंग प्राप्त होता है।

भावार्थ-इस कारिका द्वारा कारिकाकार " पुरुषार्थ से ही समस्त अर्थ-प्रयोजनादिभूत पदार्थों-की सिद्धि होती है " इस एकान्त मान्यता का निरसन कर रहे हैं। वे कहते हैं कि जिनकी ऐसी ही मान्यता है कि पुरुषार्थ से ही सब कुछ होता है दैव से नहीं उनके प्रति उनका यह कहना है कि दैव से जो पुरुषार्थका निर्माण होना देखा जाता है वह कैसे इस मान्यता के समक्ष ठहर सकता है। अन्यथा प्रतिज्ञा हानि होने का दूषण प्राप्त होता है। पुरुषार्थ दैव के बिना नहीं होता है इस पर किसी विद्वान का ऐसा कहना १ है कि जैसी भवितव्यता-होनहार होती है उसी तरह की बुद्धि हो जाती है उसी प्रकार का व्यवसाय होने लगता है, सहायक भी उसी तरह के मिल जाते हैं" इस कथन से भवितव्यता रूप दैव द्वारा बुद्धि व्यवसाय रूप पुरुषार्थ का निर्माण साबित होता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि यह बुद्धि व्यवसाय रूप पुरुषार्थ दैव से उत्पन्न नहीं होता है किन्तु पुरुषार्थ से ही होता है तो इसका उत्तर कारिकाकार " सर्वप्राणिषु पौरुष अमोघं स्यात् " समस्त प्राणियों द्वारा किया गया पुरुषार्थ सफल ही होना चाहिये निष्फल नहीं होना चाहिये इस उत्तरार्ध द्वारा दे रहे हैं। यदि पौरुष वादी अपने सिद्धान्त को सुदृढ करने के लिये ऐसा कहे कि सर्व प्राणियों में उनके द्वारा कृत पुरुषार्थ अमोघ ही होता है तो उसके ऊपर अष्टशतीकार कहते हैं कि "तद्व्यभिचार दर्शनात् नवं श्रद्दधीरन्" यह बात नहीं है पुरुषार्थ करने पर भी उसका फल अवश्य ही मिलता है ऐसा एकान्त नियम नहीं बन सकता है। किसी का पुरुषार्थ सफल हो जाता है और किसी का निष्फल ऐसा ही देखा जाता है। यदि फिर भी इस पर यों कहा जाय कि जो पुरुषार्थ सम्यग्ज्ञान पूर्वक होगा वह सफल होगा तथा जो मिथ्याज्ञान पूर्वक होगा वह सफल नहीं होगा—उसी में अपने फल के प्रति व्यभिचार देखा जाता है-सो ऐसा कहना भी इस पुरुषार्थ वादी चार्वाक का संगत नहीं है। कारण कि इष्ट कारण सामग्री का सम्यग्ज्ञान जिस पुरुषार्थ का कारण होता है ऐसा भी वह पुरुषार्थ सफल ही होता है ऐसा नियम नहीं बन सकता है-अर्थात् यह भी व्यभिचरित देखा जाता है-ऐसे भी पुरुषार्थ से नियमतः पुरुषार्थी को

१ "तादृशी जायते बुद्धिर्व्यवसायश्च तादृशः। सहायास्तादृशाः सन्ति यादृशी भवितव्यता," ॥

उपेयतत्व की प्राप्ति -अपने कार्य में सफलता हो ही जाती है यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि किन्ही २ को वह नहीं भी होती १ है । यदि अदृष्ट-अदृश्य-कारण कलाप के सम्यग्ज्ञान से जायमान पुरुषार्थ सफल होता है ऐसा कहा जाय तो अदृश्य कारण कलाप का सम्यग्ज्ञान तो सर्वज्ञ को ही होता है -हम जैसे छद्मस्थ ज्ञानियों को नहीं-अतः अदृश्य कारण कलाप के ज्ञान से जायमान पुरुषार्थ तो हम लोगों में संभवित ही नहीं हो सकता है-क्योंकि इस पुरुषार्थ के जानने वाला जो सर्वज्ञ ज्ञान है वह हम मे नहीं है । यदि इस पर यों कहा जाय कि अदृष्ट कारण कलाप का ज्ञान हमें किसी दूसरे प्रमाण से हो जायगा - अत तन्निमित्तक पुरुषार्थ होने में क्या बाधा है तो इस पर पुरुषार्थ वादी से पूछा जाता है कि यह जो अदृश्य कारण कलाप है सो क्या है ? क्या वह कारण की शक्ति विशेष स्वरूप है या पुण्य पाप विशेष स्वरूप है ? यदि प्रथम पक्ष अंगीकार किया जाय तो वह ठीक नहीं है कारण कि कारणशक्ति का अवगम है निमित जिसका ऐसा भी पुरुषार्थ सफलित नहीं देखा जाता है । जैसे जिसकी आयु क्षीण हो चुकी है ऐसे पुरुष में औषधि की शक्ति के अवगम निमित्तक भी पुरुषार्थ-औषधि के पान करने आदि रूप पुरुषार्थ–का कुछ भी उपयोग नहीं होता है । द्वितीय पक्ष अंगीकार करने पर यही बात आती है कि दैव सहाय वाले ही पुरुषार्थ से फल की सिद्धि होती है यद्यपि दैव का यथार्थ ज्ञान जिस पुरुषार्थ का कारण है ऐसे ही पुरुषार्थ से उपेय तत्वों की प्राप्ति की व्यवस्थिति बनती है । परन्तु दैव का ज्ञान जिस पुरुषार्थ मे नहीं भी है ऐसे भी पुरुषार्थ से कदाचित् फलोपलब्धि होती देखी जाती है अत सम्यग्ज्ञान पूर्वक ही किया गया पुरुषार्थ सफल होता है ऐसी एकान्त मान्यता ठीक नहीं उतरती है । अत पौरुषैकान्त पक्ष भी दैवैकान्त पक्ष की तरह त्याज्य कोटि में समझना चाहिये ।

इतने लिखने का भाव केवल इतना ही कि जिस प्रकार दैवैकान्त पक्ष ठीक नहीं है उसी प्रकार यह "पुरुषार्थ से ही सब कुछ होत है" चार्वाक का मन्तव्य भी उचित नही है । क्योंकि पुरुषार्थ करने पर भी दैव की प्रतिकूलता मे जीवों को-पुरुषार्थ करने वालों को-सफलता हासिल नहीं होती है । कारण सामग्री के सम्यग्ज्ञानपूर्वक किया

१ "किन्हीं २ व्यक्तियों को कृषि आदि करने के साधनों का अच्छी तरह से ज्ञान होने पर भी उन्हें उसमे पूर्ण सफलता नहीं मिलती है । प्रत्युत नुकसान ही उठाना पडता है ।

गया भी प्रयत्न कभी २ निष्फल हो जाया करता है। जितना ज्ञान हमारे जैसे छद्मस्थ व्यक्तियो को है उसके अनुसार कारण सामग्री का ज्ञान होने पर भी उद्योग मे सफलता निश्चित नहीं मानी जाती हैं। अत ऐसा ही मानना चाहिये कि ये दोनो परस्पर सापेक्ष हैं। इनकी सापेक्षता मे ही कार्य की सिद्धि निहित है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ९० ॥

अन्वय–स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न। अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यं" इत्यपि उक्ति न युज्यते।

अर्थ–स्याद्वादरूप नीति से विद्वेष रखने वालो का दैव और पौरुष का एकात्मपक्ष परस्पर में विरुद्ध होने से नहीं बनता है। इसी तरह इन दोनो का अवक्तव्य एकान्तपक्ष भी घटित नहीं होता है। क्योकि इस पक्ष मे 'अवाच्य' ऐसे शब्द का भी प्रयोग करना जो नहीं बन सकता है।

भावार्थ–कुछ कार्य दैव से होते है और कुछ कार्य पुरुषार्थ से होते हैं इस प्रकार पृथक्२ कार्यों की अपेक्षा से दैव और पुरुषार्थ की मान्यता बन जायगी सो इस प्रकार मीमांसको की यह मान्यता ठीक नही है यहीं बात इस कारिका के पूर्वार्ध से कारिकाकार प्रदर्शित करते हैं। वे कहते हैं कि दैव का एकान्त पक्ष और पुरुषार्थ का एकान्त पक्ष जब परस्पर मे सर्वथा विरुद्ध पड़ता है तो इसी वजह से पृथक्२ कार्यों की अपेक्षा इन दोनो बातो को–पक्षों को स्वीकार करना स्वयं विरुद्धादि दोषो को आह्वानन करने जैसा है। बिना पुरुषार्थ के दैव लगड़ा है और बिना दैव के पुरुषार्थ लगड़ा है अतः ये दोनो पक्ष सर्वथा परस्पर की निरपेक्षता में कैसे निर्दोषरूप में संभवित हो सकते है। क्योंकि निरपेक्ष अवस्था में इनका अस्तित्व ही नही बनता है । दैव पुरुषार्थ का, पुरुषार्थ दैव का निर्माणकर्ता है। इसी तरह इन दोनो की सर्वथा अवाच्यता स्वीकार करने पर 'ये अवाच्य हे' इस प्रकार का निर्देशात्मक वचन उसमे नहीं बन सकता है। अन्यथा वाच्यता मानने का प्रसंग प्राप्त होता है। इसलिये इन दोनों को यदि मान्य करना है तो स्याद्वादनीति का ही

अवलम्बन करना चाहिये। कारण कि उसके अवलम्बन किये बिना इनका सद्भाव ही सिद्ध नहीं हो सकता है। इसी बात को ६१ वीं कारिका द्वारा प्रकट करते हैं।

अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्टं स्वदैवतः।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्टं स्वपौरुषात् ॥ ६१ ॥

अन्वय—अबुद्धिपूर्वापेक्षायां इष्टानिष्ट स्वदैवतः, बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायां इष्टानिष्टं स्वपौरुषात् (भवति)।

अर्थ—अबुद्धि पूर्वक हुए कार्य की अपेक्षा में इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने दैव से हुए हैं ऐसा माना जाता है तथा जो कार्य बुद्धिपूर्वक किये जाते हैं उस अपेक्षा मे इष्ट और अनिष्ट कार्य अपने पुरुषार्थ से हुए हैं ऐसा माना जाता है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार स्याद्वादनीति से दैव और पौरुष का समन्वय करते हैं–वे कहते हैं– कि जो कार्य चाहे वह अनुकूल हो या प्रतिकूल हो यदि वह अतर्कितोपस्थित है तो ऐसी स्थिति में वहां पुरुषार्थ की गौणता एवं दैव की प्रधानता मानी जायगी। कारिकास्थ बुद्धि शब्द का अर्थ है उस२ कार्य को करने का विचार। जिस कार्य के करने का विचार ही नहीं किया गया है और यदि वह अनायास ही हो गया है तो वह कार्य दैव से हुआ है ऐसा ही माना जायगा। तथा इससे विपरीत दिशा मे पुरुषार्थ की मान्यता लागू होती है। अर्थात् बुद्धि पूर्वक जो भी काम किया जाता हैं और उसमें जो सफलता मिलती है उस समय वहां पुरुषार्थ प्रधान एवं दैव गौण माना जाता है। इस तरह अबुद्धिपूर्वक जीव को जो सुख दुःखादिक होते हैं वह दैव की प्रधानता से होते हैं। तथा बुद्धि पूर्वक जो लाभ अलाभ आदि जीव को होते हैं वे पुरुषार्थ की प्रधानता से होते हैं। इष्ट या अनिष्ट दैव से ही होता है या पुरुषार्थ से ही होता है ऐसा एकान्त नहीं है। क्योकि केवल दैव या केवल पुरुषार्थ से कार्य होता नहीं देखा जाता है। दोनों की प्रधानता एव गौणता से ही कार्य बनता है। अनुकूल दैव और अनुकूल पुरुषार्थ प्रतिकूल दैव और प्रतिकूल पुरुषार्थ होने पर भी एक मुख्य और एक गौण रहता है। एक जीव ने पुण्य से न्यायरूप पुरुषार्थ से सम्पदा प्राप्त की,

किन्तु वह सम्पदा सुखदेने वाली तभी हो सकती है कि यदि पुण्य का उदय है तो। पुण्य के उदय न रहने पर सपदा सुख नहीं दे सकती है। अत पुण्य संसार के सुख का कारण है उससे भी संपदादिक प्राप्त होते हैं किन्तु यह एकान्त नहीं कि पुण्य से ही संपदा प्राप्त हों और पुरुषार्थ से नहीं हों या पुरुषार्थ से ही हों दैव से न हों। संपदा आदि प्राप्तिरूप कार्य दैव और पुरुषार्थ इन दोनो में से एक की मुख्यता एवं गौणता पर अवलम्बित है। बुद्धि पूर्वक कर्तव्य में पुरुषार्थ की प्रधानता एवं अबुद्धिपूर्वक कर्तव्य में दैव की प्रधानता रहती है। यही बात इस कारिका द्वारा कारिकाकार ने पुष्ट की है। इस तरह अबुद्धि पूर्वक कर्तव्य की अपेक्षा से कथंचित् सर्व दैवकृत एव बुद्धिपूर्वक कर्तव्य की अपेक्षा से कथंचित् सब पौरुषकृत तथा क्रमार्पित उभय की अपेक्षा से कथंचित् सब दैव एव पौरुषकृत तथा सहार्पित दोनों की अपेक्षा से कथंचित् समस्त अवक्तव्य हैं। बाकी के अवशिष्ट तीन भंग इसी तरह से और भी घटित कर लेना चाहिये।

अष्टमोऽपि परिच्छेदः, समाप्तोऽयमनूदितः।
मूलचन्द्रेण भाषायां, हिन्द्यामित्थं वितर्किणा ॥

नवम परिच्छेद

पापं ध्रुवं परे दुःखात्, पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च, बध्येयातां निमित्ततः॥ ९२ ॥

अन्वय—परे दुःखात् यदि ध्रुव पापं, सुखत च पुण्य (स्यात्तर्हि) अचेतनाऽकषायौ निमित्तत बध्येयातां।

अर्थ—दूसरे प्राणी मे दुःख उत्पन्न करने से यदि एकान्ततः पाप का बंध, तथा सुख देने से पुण्य का बंध माना जाय तो ऐसी एकान्त मान्यता मे अचेतनपदार्थ एवं वीतराग के भी निमित्त होने से इन दोनों का बंध मानने का प्रसग प्राप्त होगा।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अब यह सुस्पष्ट कर रहे हैं कि प्रधानरूप से अबुद्धि पूर्वक दशा की अपेक्षा जिस दैव को जीव के इष्ट और अनिष्ट का साधक माना गया है वह] दैव पुण्य और पाप की अपेक्षा से दो प्रकार का है। इनमें साता वेदनीय, शुभआयु, शुभ नाम और शुभ गोत्र ये चार पुण्यकर्म हैं, इनसे अतिरिक्त कर्म पाप[1] कर्म है।

इन पुण्य और पाप कर्मों के बन्ध के विषय में किन्हीं २ का ऐसा एकान्ततः मन्तव्य है कि दूसरे प्राणी को दुःखित करने से नियमतः पाप का बन्ध तथा सुखित करने से पुण्य का बन्ध होता है। इस पर सूक्ष्म दृष्टिकोण से निरीक्षण करते हुए कारिकाकार इस एकान्त नियम को अनुचित बतलाते हैं—वे कहते हैं कि यदि यही सिद्धान्त एकान्ततः मान्य किया जाय तो जो अचेतन विष कंटक आदि दुःख कारक पदार्थ हैं तथा दधि दुग्ध आदि जो सुखकारक पदार्थ एवं वीतराग जो मुनिजन हैं इन सबको पर में दुःख सुखादिक के उत्पादक का निमित्त होने से पुण्य एवं पापकर्म का बंधक मानने का प्रसंग प्राप्त होगा। विष कंटकादिक अचेतन पदार्थ दुःखप्रद हैं यह सब कोई जानता है। वीतराग मुनि जिस समय दूसरों को दीक्षित करते हैं उस समय वे दुःखकृत् प्रतीत होते हैं तथा जब हित विधायक शिक्षा प्रदान करते हैं उस समय वे सुखप्रद ज्ञात होते हैं। इस तरह इस नियम के अनुसार चेतन और अचेतन समस्त पदार्थों में पुण्य और पाप को बंध करने का प्रसंग दुर्निवार हो जाता है। परन्तु ऐसा नहीं होता है। यदि इस पर यह कहा जाय कि बंध होने का काम तो चेतन पदार्थ ही करते हैं अचेतन नहीं अतः अचेतन के बंध होने का प्रसंग ही प्राप्त नहीं होता सो ऐसा कहना ठीक है परन्तु जो वीतराग मुनिजन हैं उनका तो वारण इस कथन से होता नहीं है। क्योंकि वे तो पर के लिये सुख दुःख के निमित्त पड़ते हैं। यदि इस पर यों कहा जाय कि वीतराग मुनिजनो के ऐसा मनः संकल्प नहीं है कि जिससे वे दूसरों को सुख दुःख उपजाने के अभिप्राय वाले साबित हो सकें। निमित्त मात्र पड़ने से क्या? सो इस प्रकार का कथन फिर तो इस एकान्त मान्यता का खंडन करता है कि पर के लिये सुख दुःख उपजाने से जीव को पुण्य पाप का नियमतः बंध होता है। अतः यह मानना चाहिये कि केवल परत्र सुख दुःखोत्पादन पुण्य पाप के बन्ध का कारण

१ सद्वेद्य शुभायुर्नामगोत्राणि पुण्य अतोन्यत् पापम्। (तत्वार्थ सूत्र अष्टम अध्याय २५—२६ सूत्र)

नहीं है किन्तु विशुद्धि एवं संक्लेश परिणाम ही जीव के पुण्य और पाप के बन्ध के कारण होते हैं। नहीं तो वीतराग मुनि को भी निमित्त होने से पुण्य पाप का बन्धक मानना पडेगा ।

पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युंज्यान्निमित्ततः ॥ ९३ ॥

अन्वय—स्वतः दुःखात् ध्रुवं पुण्य, सुखतः च पापं यदि (स्यात्तर्हि) निमित्ततः वीतरागः विद्वान् मुनिः ताभ्या युञ्ज्यात् ।

अर्थ— अपने आप में दुःखोत्पादन से एकान्ततः पुण्य का बन्ध तथा सुखोत्पादन से एकान्ततः पाप का बन्ध माना जाय तो ऐसी स्थिति मे वीतराग एवं विद्वान् मुनिजन भी पुण्य पाप के निमित्त होने से उनके द्वारा बंधे हुए माने जाना चाहिये ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अब इस एकान्त मन्तव्य का निरसन करते हैं जो कोई ऐसा कहते है कि अपने आप में कष्टोत्पादन करने से जीव नियमतः पुण्य का बन्ध करता है और अपने आप में सुख उत्पादन करने से—अपने आप को सुखी करने से पाप का बन्ध करता है । क्योंकि इस प्रकार का यदि एकान्त रूप से सिद्धान्त-नियम-अंगीकार किया जाता है तो इससे बड़ी भारी गड़बड़ी फैलती है। वीतराग मुनियों में कायक्लेश आदि रूप दुःखोत्पत्ति के निमित्त से एवं तत्त्वज्ञानी मुनिजनो में तत्त्वज्ञान एवं सन्तोष लक्षण रूप सुखोत्पत्ति के निमित्त से पुण्य और पाप के बन्ध होने का प्रसग प्राप्त होता है। क्योंकि तथाकथित नियमानुसार पुण्य की उत्पत्ति का निमित्त वहां अपने आप मे कायक्लेशादि रूप दुःखोत्पादन है एवं पाप की उत्पत्ति का निमित्त अपने आप में सन्तोष एवं तत्त्वज्ञान से उद्भूत सुख है । अतः इन निमित्तो के सद्भाव से वीतराग एवं तत्त्वज्ञानी आत्मा में पुण्य एवं पाप का बंध होने का प्रसंग अवश्य प्राप्त होता है। यदि इस प्रसग को वारण करने के लिये ऐसा कहा जाय

कि अपने आप में सुख अथवा दुःख की उत्पत्ति होने पर भी वीतराग एवं तत्त्वज्ञानी मुनिजन के सुख एवं दुःख को उत्पन्न करने का अभिप्राय नहीं है अतः उनके पुण्य और पाप का बन्ध नहीं होता है। क्योंकि इनका बन्ध तो इस प्रकार के अभीप्राय रूप निमित्त से ही होता है। तो इस प्रकार का यह कथन अनेकान्त की सिद्धि का ही साधक ठहरता है। अर्थात् अभिप्रायोपेत आत्मसुख दु.खादिक पुण्य पाप के बन्ध कराने वाले होते हैं और अनभिप्रायोपेत आत्म सुखादिक उनके बन्ध कराने वाले नहीं होते हैं। यदि अकषाय अवस्था मे भी एकान्तत बध माना जाय तो फिर इस तरह बन्ध का अभाव ही नही हो सकता हैं। फिर मुक्ति की प्राप्ति कैसी ? अतः प्रत्यक्ष एवं अनुमान से विरुद्ध होने की वजह से सदादि एकान्त की तरह इस प्रकार की यह एकान्त मान्यता भी युक्तियुक्त नहीं है।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं, स्याद्वादन्यायविद्विषाम् ।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्ति, र्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ६४ ॥

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विपाम् विरोधात् उभयैकात्म्यं न। अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यमिति" अपि उक्तिः न युज्यते।

अर्थ—स्याद्वाद नीति से विद्वेष रखने वालों के यहां विरोध होने से इन दोनों प्रकार की एकान्त मान्यताओं में—दूसरों में दुःख उत्पन्न करने से एकान्ततः पाप का बन्ध, तथा उन्हें सुखी करने से पुण्य का बंध, एवं अपने को दुःखित करने से एकान्तत पुण्य का बध, तथा अपने को सर्वथा सुखी करने से पाप का बध इन एकात सिद्धान्तों मे—एक रूपता नहीं आ सकती है। इसी तरह इन दोनों का अवक्तव्य एकान्त पक्ष भी ठीक नहीं है कारण कि इस एकान्त मान्यता मे उनकी अवक्तव्यता का प्रदर्शन करना ही कथंचित् रूप से वक्तव्य रूपता को ले लेता है। नहीं तो वहाँ "अवक्तव्य" इस शब्द का भी प्रयोग नहीं हो सकता है।

भावार्थ---१ प्रथम मान्यता की अपेक्षा द्वितीय मान्यता और द्वितीय मान्यता के समक्ष प्रथम मान्यता जब सर्वथा विरुद्ध है तो इनमे एक रूपता कैसे आ सकती है । इसी तरह इन दोनों मान्यताओं का सर्वथा अवक्तव्य पक्ष भी खतरे से खाली नहीं है। अतः स्याद्वादनीति ही एक ऐसी नीति है कि जिसके सहारे से ये दोनों पक्ष एकत्र किसी अपेक्षा को लेकर सुरक्षित रह सकते हैं और अवक्तव्य भी बन सकते हैं। परन्तु एकान्त वादियो ने इस नीति को अपनाया ही नहीं है । प्रत्युत उन्होने तो इस नीति का तिरस्कार ही किया है। अतः इन दोनो पक्षों का एकत्र समन्वय नहीं हो सकता है और न इनमे सर्वथा अवक्तव्यता ही बन सकती है ।

विशुद्धिसंक्लेशाङ्गं चेत स्वपरस्थं सुखासुखम् ।
पुण्यपापास्रवो युक्तो, न चेद् व्यर्थस्तवार्हतः ॥ ९५ ॥

अन्वव---चेत् स्वपरस्थ सुखासुख विशुद्धिसक्लेशाङ्ग (अस्ति तदैव) पुण्यपापास्रव युक्तः न चेत् अर्हतः तव (स) व्यर्थः ।

अर्थ---यदि अपने सुख दुःख तथा पर सम्बन्धी सुख दुःख विशुद्धि और सक्लेश के अंग हैं तो ही उनसे पुण्य पाप का आस्रव होना युक्त माना गया है । यदि वे ऐसे नहीं हैं तो पुण्य और पाप का आस्रव आप अर्हन्त के व्यर्थ है-निष्फल है अर्थात् उनसे पुण्य और पाप का आस्रव नहीं होता है ऐसा आपका सिद्धान्त है ।

भावार्थ---इस कारिका द्वारा कारिकाकार इन दोनो एकान्त मान्यताओं का अनेकान्त नीति के अनुसार समन्वय करते हैं जो ९२ और ९३ वीं कारिकाओ द्वारा प्रदर्शित की जा चुकी हैं—अर्थात् वे ये हैं—दूसरे प्राणी में दुःख उत्पन्न करने से एकान्त पाप का बन्ध, तथा सुख उत्पन्न करने से एकान्त पुण्य का बन्ध, एवं अपने में सुख उत्पन्न करने से एकान्त पाप का बध तथा दुःख उत्पन्न करने से एकान्त पुण्य का बध होता है सो इस पर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि यदि अपने सुख दुःख अथवा पर के सुख दुःख विशुद्धि और सक्लेश के अंगभूत है तो ही वे "पुण्य-

पापास्रवहेतुत्वम्" पुण्य और पाप के आस्रव के हेतुभूत हैं। अन्यथा नही। नहीं तो अचेतन कंटक आदि के, तथा वीतराग एव तत्त्वज्ञानी मुनिजनो के भी इनका आस्रव मानने का प्रसंग प्राप्त होता है। अत इससे यही बात पुष्ट होती है कि केवल स्व सम्बन्धी, पर सम्बन्धी तथा स्व पर उभय सम्बन्धी सुख दुःखोत्पादन विशुद्धि और सक्लेश का अंगभूत न होने के कारण पुण्य और पाप के आस्रव में हेतुभूत नहीं पड़ सकता है। विशुद्धि सक्लेश की अगता होने पर ही उसमें पुण्यास्रव एव पापास्रव के प्रति हेतुता आती है।

आर्तरौद्र ध्यान मय जो परिणाम है सो इसी का नाम संक्लेश है। तथा इनका अभाव-अर्थात् आत्मा का स्वस्वरूप में अवस्थान-होना सो विशुद्धि है विशुद्धिके जो कारण हैं,विशुद्धिके जो कार्य हैं एव विशुद्धिके जो स्वभाव स्वरूप हैं वे सब विशुद्धि के अंग हैं। इसी तरह जो सक्लेश के कारण हैं, संक्लेश के कार्य हैं एवं संक्लेश के स्वभाव स्वरूप हैं वे सब सक्लेश के अग हैं। विशुद्धि के अंगो से पुण्यास्रव और सक्लेश के अंगों से पापास्रव आत्मा में होता है। आर्तरौद्र ध्यान मय जो आत्मा के परिणाम होते हैं वे सक्लेश स्वभाव रूप है। तथा इन परिणामो द्वारा जो हिंसादिक कार्य हुआ करते हे वे सक्लेश के कार्य हैं। मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय एवं योग ये अतिरौद्र ध्यान मय परिणामो के कारण है। अतः ये सब सक्लेशाङ्ग हैं। आर्तरौद्र ध्यान के परिणामो का अभाव अर्थात् धर्मध्यान एवं शुक्लध्यानके परिणामो की प्राप्ति ये विशुद्धि का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन आदिक विशुद्धि के कार्य है। विशुद्धि का कारण आर्तरौद्र ध्यान का अभाव है। इस प्रकार ये सब विशुद्धिके अंग हैं। इस तरह स्व, पर एवं स्वपर संबधी सुखोत्पादन या दुःखोत्पादन यदि सक्लेश का अंगभूत है तो वह पापास्रव मे कारणभूत होता है। यदि वह विशुद्धि का अंगभूत है तो पुण्यास्रवका कारणभूत होता है यदि इन दोनोसे वह रहित है तो न पुण्याश्रवका वह कारण होता है और न पापास्त्रव का ही। इस प्रकार के कहने से यह फलितार्थ होता है कि अपने मे, पर मे एव उभयमें उत्पादित सुखदुःख पुण्यपाप के आस्रव के कारण भी होते हैं और नहीं भी होते हैं। इसी का नाम स्याद्वाद नोति है। अतः स्व परस्थ सुखासुख कथचित्

पुण्यास्रव के कारण होते हैं जब वे विशुद्धि १ के अंग होते हैं। तथा जब संक्लेश के अंग होते हैं तब वे पापास्रव के कारण होते हैं। क्रमार्पित इन दोनो को विवक्षा से ये कथंचित् उभय के आस्रव के कारण होते हैं। सहार्पित उन दोनो की विवक्षा मे ये कथंचित् अवक्तव्य ही है। स्व परस्थ सुखा सुख कथंचित् पुण्य के भी हेतु हैं और अवक्तव्य भी हैं। कथंचित् पाप के हेतु हैं और अवक्तव्य है। तथा कथंचित् पुण्य पाप उभय के हेतु हैं और अवक्तव्य भी हैं। इस तरह स्व परस्थ सुखा सुख मे विशुद्धि ओर संक्लेश की अंगता की विवक्षा से पाप पुण्य हेतुता के प्रति सप्तभंगी प्रक्रिया का न्यास किया गया जानना चाहिये।

नवमोऽयं परिच्छेदः समाप्तिमगमद्गुरो !
त्वन्नामस्मृतिमंत्रेण बुद्धिशुद्धिविधायिना !!

-:दशम परिच्छेदः-

अज्ञानाच्चेद्ध्रुवो बन्धो ज्ञेयानंत्यान्न केवली।
ज्ञानस्तोकाद्विमोक्षश्चेदज्ञानाद्बहुतोऽन्यथा ॥ ९६ ॥

अन्वय—अज्ञानात् बधः ध्रुवः चेत् (तदा) ज्ञेयानंत्यात् न (कश्चित्) केवली (स्यात्)। ज्ञानस्तोकात्

आर्तध्यान और रौद्रधान ये दो ध्यान अशुभ है। विष, काटा, शत्रु आदि अप्रिय पदार्थों के समागम होने पर उनसे अपना पीछा छुडाने के लिये बार २ विचार करना यह अनिष्ट सयोग नामका आर्तध्यान है। इष्ट पदार्थों के वियोग होजाने पर उनसे मिलाप होने का बार २ चिंतवन करना यह इष्ट वियोग नामका आर्तध्यान है। वेदना के होने पर रात दिन उसी की चिंता करते रहना सो वेदना नामक आर्तध्यान है। भोगो की तृष्णा से पीडित होकर रात दिन आगामी भोगो को प्राप्त करने की ही चिंता करते रहना निदान आर्तध्यान है। हिंसा, झूठ चोरी ओर परिग्रह सचय करने की चिंता करते रहने से रौद्रध्यान होता है। इस तरह आर्तरौद्र ध्यान के परिणाम संक्लेश एव इनके अभावरूप धर्म शुक्लध्यान के परिणाम विशुद्धि है।

विमोक्षः चेत् (तदा) बहुतः अज्ञानात् अन्यथा (स्यात्) ।

अर्थ—अज्ञान से बंध अवश्यभावी है यदि ऐसा एकान्त पक्ष अंगीकार किया जाय तो ज्ञेय पदार्थों के अनंत होने से कोई भी व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं बन सकता है। तथा अल्पज्ञान से मोक्ष होता है यदि ऐसा एकान्तपक्ष स्वीकार किया जाय तो अवशिष्ट बहुत अज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति सिद्ध न होकर केवल बंध ही की प्राप्ति सिद्ध होती है।

भावार्थ— कारिकाकार इस कारिका द्वारा इस एकान्त मान्यता का निरसन करते हैं जो कोई ऐसा कहते हैं कि अज्ञान से बंध अवश्यभावी है तथा अल्पज्ञान से भी मुक्ति की प्राप्ति निश्चित है। इस सिद्धान्त को मानने वाले सांख्य हैं। उनसे पूछा जा रहा है कि "अज्ञान से बन्ध अवश्यंभावी है" ऐसा जो तुम्हारा कहना है सो यह कहना प्रसज्य प्रतिषेध रूप अज्ञान को लेकर है या पर्युदास रूप अज्ञान को लेकर है १ यदि अज्ञान का अर्थ यहां सर्वथा ज्ञान का अभाव ऐसा प्रसज्य प्रतिषेधरूप नञ् को लेकर किया जाय तो इस मान्यता मे कोई भी केवली नहीं हो सकता है। केवलज्ञान के योग से ही तो आत्मा केवली कहलाता है। जो तत्त्व ज्ञान सकल विपर्यय से रहित होकर असहाय होता है—ज्ञानान्तर का सहायता से रहित होता है—उसका नाम केवल है। ऐसी सांख्यो की मान्यता २ है। सो जब तक इस प्रकार का ज्ञान आत्मा में उत्पन्न नहीं हो जाता है उसके पहले अशेष पदार्थ विषयक ज्ञान का अभाव होने से आत्मा मे अज्ञान का ही सद्भाव है ऐसा मानना पड़ता है यदि इस पर यो कहा जाय कि प्रत्यक्ष अनुमान एवं

१-प्रसज्य और पर्युदास के भेद से नञ् के दो अर्थ हैं। अज्ञान का इस अपेक्षा सर्वथा ज्ञान का अभाव १ ऐसा अर्थ होता है और २ दूसरा ज्ञान से भिन्न मिथ्याज्ञान ऐसा अर्थ होता है। द्वौ नञौ समाख्यातौ, प्रसज्यपर्युदासकौ, पर्युदासः सदृशग्राही, प्रसज्यस्तु निषेधकृत्" ॥

१ एव तत्त्वाभ्यासात् नास्मिन् मे नाहमित्यपरिशेषम् ।
ऽविपर्याद्विशुद्ध केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् ॥

आगम प्रमाण से अशेष पदार्थ विषयक ज्ञान आत्मा में उद्भूत हो जायगा सो ऐसा कथन भी ठीक नहीं है। कारण कि इन्द्रि जन्य प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय पदार्थों को विषय नहीं करता है। अनुमान भी अत्यन्त परोक्ष अर्थ को नहीं बतला सकता है। आगम भी सामान्य रूप से ही पदार्थों का प्रतिपादन करता है विशेष रूप से नहीं। ऐसी अवस्था में इनकी सहायता से भी आत्मा में स्पष्ट रूप से अशेष पदार्थ विषयक ज्ञान उद्भूत नहीं हो सकता है। तथा च पदार्थों की अनतता मे उन अनत पदार्थों को स्पष्ट जानने वाला ज्ञान जब तक आत्मा में उत्पन्न नहीं हो लेता है तब तक अज्ञान का सद्भाव ही मानना पडेगा ऐसी हालत में उस आत्मा में बंध ही होता रहेगा -बन्ध से छूटना तो होगा नहीं-फिर केवली आत्मा कैसे हो सकेगा।

आ० मी० ४२५

इसी प्रकार " आगम बल भावी थोडे से भी प्रकृति पुरुष के विवेक ज्ञान से आत्मा केवलज्ञान शाली हो जाता है और ऐसी अवस्था ही आत्मा का विमोक्ष है। क्योंकि ऐसा ज्ञान होने से आत्मा पुन संसार में नहीं आता है, तथा उसके अनागत बंध का निरोध भी हो जाता है " ऐसा कथन भी सांख्यो का यह ठीक नहीं है। क्योंकि ज्ञान की अल्पता में तो अज्ञान की अधिकता का ही सद्भाव रहता है। तथा च इस अज्ञान की बाहुल्यता मे बंध होने का ही प्रसग प्राप्त होगा—ऐसी स्थिति में आगे होने वाले बन्ध के निरोध का अभाव होने से आत्मा को उस अल्प ज्ञान से मुक्ति की प्राप्ति नहीं बन सकती है। यदि इस पर यों कहा जाय कि ज्ञान की अल्पता में मुक्ति की प्राप्ति बनने मे कोई बाधा नहीं आती है क्योंकि अल्प भी तत्त्वज्ञान से बहुत भी अज्ञान की शक्ति प्रतिहत हो जाती है अतः अज्ञान निमित्तक बंध आत्मा के सभवित ही नहीं होता है सो ऐसा कहना स्ववचन से विरुद्ध पड़ता है। क्योंकि ऐसा तुम्हारा कहना है कि अज्ञान से बंध होता है अब अल्पज्ञान दशा में अवशिष्ट बहुत अज्ञान से बंध होगा ही फिर उस अल्प ज्ञान से बहुत अज्ञान की शक्ति प्रतिहत कैसे हो सकती है। यदि ऐसा होता है तो अज्ञान से बंध अवश्यंभावी है यह एकांत मान्यता नही ठहरती है। इसके समाधानरूप में यदि ऐसा कहा जाय कि अखिल ज्ञान के अभावरूप अज्ञान से ही बंध अवश्यंभावी होता है स्तोक ज्ञान से मिश्रित अज्ञान से नहीं सो ऐसा कथन भी उचित नहीं है। कारण कि दुनियां में ऐसा तो कोई प्राणी

आ० मो० ४२६

है ही नहीं कि जिसमें कुछ न कुछ ज्ञान न हो। अतः उसमें ज्ञान मिश्रित अज्ञान से बंध नहीं होने का प्रसंग प्राप्त होता है। दूसरे सकल ज्ञान का अभाव सांख्य सिद्धान्त ने मुक्ति में माना है अतः इस अपेक्षा मुक्ति में ज्ञान के अभावरूप अज्ञान का सद्भाव होने से बंध होने की प्रसक्ति प्राप्त होती है। सांख्यो ने आत्मा का स्वरूप चैतन्य माना है ज्ञान नहीं। मुक्ति में आत्मा अपने चैतन्य स्वरूप मे स्थित हो जाता है। ज्ञान प्रकृति का परिणाम है अत. वह उस अवस्था में नही रहता है। यदि इस पर सांख्यो की ओर से यह समाधान दिया जाय कि मुक्ति में ज्ञान का प्रागभाव नहीं है वहा तो उसका प्रध्वंसाभाव है। अतः ज्ञान के प्रध्वंसाभावरूप अज्ञान से बंध नहीं होता है किन्तु ज्ञान के प्रागभावरूप अज्ञान से ही बंध होता है सो ज्ञान का प्रागभावरूप अज्ञान संसार दशा में ही रहा करता है अतः वहीं बन्ध होता है मुक्ति में नहीं सो ऐसा कहना भी ठीक नही जचता। कारण कि इस प्रकार का कथन संसार अवस्था में भी बंध के अभाव का साधक बन जाता है। और वह इस प्रकार से— मान लो किसी जीव के तत्वज्ञान उत्पन्न हो गया और पश्चात् उसी जीव का वह तत्वज्ञान विपर्यय ज्ञान के किसी भी कारण से विपर्यय ज्ञान की उत्पत्ति होनेपर विनष्ट हो गया तो इस हालत में अब उसे बंध नहीं होना चाहिये। परन्तु सांख्यो ने ऐसा माना नहीं है। अत' तत्त्वज्ञानाभावरूप अज्ञान से बन्ध अवश्यंभावी है यह पक्ष क्षेमकर नहीं है।

यदि पर्युदास की अपेक्षा लेकर अज्ञान का अर्थ मिथ्याज्ञान किया जाय और ऐसा कहा जाय कि अज्ञान से-मिथ्याज्ञान से-बंध अवश्यभावी १ है सो ऐसा भी कहना ठीक नहीं जचता है क्योकि सांख्य सिद्धान्त में मिथ्याज्ञानरूप अज्ञान अनेक प्रकार का माना गया है। उनमें एक मिथ्याज्ञान ऐसा भी माना है जो स्वाभाविक होता है। तथा दूसरे मिथ्याज्ञान ऐसे माने गये हैं जो पर के निमित्त से होते रहते हैं। अतः अन्यसिद्धान्तों के श्रवण करने से उद्भूत जो अनेक विध विपर्यय ज्ञान हैं उनकी सांख्यागम की भावना के बल से जनित तत्वज्ञान द्वारा भले ही निवृत्ति मान ली जाय

१ धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण।
ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्ध.॥

सांख्यतत्व कौमुदी।

परन्तु जो अज्ञान स्वाभाविक — साहजिक है उसकी तो निवृत्ति कथमपि हो हो नहीं सकती है। उससे तो मिथ्या ज्ञानान्तरो की ही उद्भूति होती रहेगी। ऐसी दशा में बंध हो बंध होता रहने से आत्मा को केवलज्ञान उत्पन्न होने का अवसर ही नही प्राप्त हो सकता है। अत अज्ञान मे बंध अवश्यभावी है यह एकान्त मान्यता ठीक नहीं है क्योंकि इस मान्यता मे कोई भी केवली नहीं बन सकता है। कारण कि ज्ञेय अनंत है–किसी न किसी ज्ञेय का तो अज्ञान आत्मा में रहेगा ही। केवलज्ञान होने से ही समस्त ज्ञेयो का ज्ञान आत्मा को होता है। इसके पहिले नहीं। अत अज्ञान दशा में बंध होते रहने से केवली होने का अवसर किसी भी आत्मा को प्राप्त नहीं हो सकता है।

आ० मी० ४२७

नैयायिको की मान्यता ऐसी है कि "दु ख जन्म प्रवृत्तिदोष–मिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः" जब तत्त्व ज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान का नाश होता है तब उसके नाश होने पर सभी दोष दूर हो जाते हैं। दोषो के अभाव मे प्रवृत्ति-धर्माधर्मरूपप्रवृत्ति–लुप्त हो जाती है। प्रवृत्ति का लोप होने पर जन्म का बंधन छूट जाता है। जन्म का बंधन छूट जाने पर समस्त दु ख [1] निवृत्त हो जाते हैं। दु ख की यह आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष, अपवर्ग या नि श्रेयस है। मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है। १ परा, २ अपरा। १ आत्मा, २ शरीर, ३ इन्द्रिय, ४ अर्थ, ५ बुद्धि, ६ मन, ७ प्रवृत्ति, ८ दोष, ९ प्रेत्यभाव, १० फल, ११ दु ख, १२ अपवर्ग इन १२ प्रकार के प्रमेयो के तात्त्विक ज्ञान से अपर नि श्रेयस की प्राप्ति जीव को होती है। इसका नाम जीवन्मुक्तदशा भी है। इसकी प्राप्ति में १ प्रमाण, २ प्रमेय ३ संशय, ४ प्रयोजन, ५ दृष्टान्त, ६ सिद्धान्त, ७ अवयव, ८ तर्क, ९ निर्णय, १० वाद, ११ जल्प, १२ वितण्डा १३ हेत्वाभास, १४ छल, १५ जाति, १६ निग्रहस्थान इनके साक्षात् ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। इन्द्रियादि १२ प्रकार के प्रमेयो का ज्ञान ही इसकी प्राप्ति मे साक्षात्कारण है। इस अपेक्षा ज्ञानस्तोक से जीव को अपर मुक्ति की प्राप्ति हो

[1] दु खमेकविंशतिभेदम् १ शरीर ६ इन्द्रियां ६ विषय ६ प्रत्यक्ष १ सुख १ दु.ख इस प्रकार ये २१ दु ख हैं दुःखायत न होने के कारण शरीर को दु ख माना गया है। इन्द्रिया विषय और प्रत्यक्ष ये दुःख के साधन होने के कारण दु ख है। दुःख के साथ सबद्ध होने से सुख भी दु ख ही है। दु ख स्वत दुःख है।

जाती है अत ज्ञानस्तोक से मुक्ति मानने में कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार इस नैयायिक की मान्यता को लेकर कारिकाकार का ऐसा कहना है कि इस ज्ञान की अपेक्षा प्रमाणादि षोडश पदार्थों का जो वास्तविक ज्ञान नहीं है—बहुत मिथ्याज्ञान है उससे तो बंध ही होगा। फिर मुक्ति की प्राप्ति कैसी। यदि कहा जाय कि ज्ञानस्तोक से उस अवशिष्ट मिथ्याज्ञान का विनाश हो जाता है तो ऐसा कहना इसलिये ठीक नहीं माना जा सकता कि मिथ्याज्ञान से बन्ध अवश्यंभावी है यह एकान्त कथन सिद्ध नहीं होता है। इसी प्रकार बौद्धों की मान्यता भी ठीक नहीं है यह विषय अष्टसहस्री से जानना चाहिये।

इस तरह अज्ञान से बंध अवश्यभावी है तथा ज्ञानस्तोक से मुक्ति प्राप्त होती है ये दोनों एकान्त मान्यताएं युक्ति युक्त नहीं हैं।

विरोधान्नोभयैकात्म्यं स्याद्वादन्यायविद्विषाम्।
अवाच्यतैकान्तेऽप्युक्तिर्नावाच्यमिति युज्यते ॥ ६७ ॥

अन्वय—स्याद्वादन्यायविद्विषां विरोधात् उभयैकात्म्यं न। अवाच्यतैकान्ते "अवाच्यम्" इत्यपि उक्तिः न घटते।

अर्थ—स्याद्वादनीति से विरोध रखने वालों के यहां इन दोनों पक्षों में परस्पर विरोध होने के कारण एकात्मता नही बनती है। तथा इन दोनों की सर्वथा अवाच्यता में उनमें अवाचयता प्रदर्शित करने के लिये "ये अवाच्य हैं" इस प्रकार का निर्देश भी नही बन सकता है।

भावार्थ—अज्ञान से बंध होता भी है तथा नहीं भी होता है। ज्ञानस्तोक से मुक्ति होती भी है तथा नहीं भी होती है इस प्रकार की क्रमश एकत्र स्थितिरूप एकात्मता इन दोनो की एकान्त मान्यता में विरोध होने के कारण घटित नहीं हो सकती है। क्योंकि इस प्रकार की निर्विरोध मान्यता स्याद्वादनीति के सहारे ही सिद्ध होती है। परन्तु यह नीति एकान्त वादियों के लिये मान्य नहीं है। वे तो उल्टा उससे विरोध रखते हैं। इसी तरह सर्वथा अवाचयता में स्ववचन

विरोध आता है ।

अज्ञानान्मोहिनो बंधो, नाज्ञानाद्वीतमोहतः ।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्यादमोहान्मोहिनोऽन्यथा ॥ ९८ ॥

अन्वय—मोहिनः अज्ञानात् बन्ध, वीतमोहत अज्ञानात् न । अमोहात् ज्ञानस्तोकात् च मोक्षः स्यात् मोहिनः (ज्ञानस्तोकात्) अन्यथा (स्यात्) ।

अर्थ—मोह युक्त अज्ञान से बंध होता है । मोह विहीन अज्ञान से बन्ध नहीं होता है । इसी तरह मोह रहित ज्ञानस्तोक से मुक्ति प्राप्त होती है तथा जो मोह सहित ज्ञानस्तोक है उससे मुक्ति प्राप्त नही होती है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अज्ञान से बन्ध एव ज्ञानस्तोक से मुक्ति इन दोनों मान्यताओ का स्याद्वादनीति के अनुसार समन्वय कर रहे हैं वे इसमें यह वतलाते हैं कि स्थिति तथा अनुभागरूप कर्म बन्ध जो कि स्व फल प्रदान करने में समर्थ होता है मिथ्यात्व एव कषाय सहित अज्ञान से होता है तथा मिथ्यात्व रहित केवल कषायों से युक्त अज्ञान से होता है । परन्तु जिस अज्ञान मे (केवलज्ञानाभावरूप छद्मस्थावस्था के ज्ञान में) मिथ्यात्व एवं कषायों का उदय नही है जो इनसे तथा केवल कषाय से भी मिश्रित नहीं है ऐसे अज्ञान से—११वें एवं १२ वें गुणस्थानवर्ती जीव के अज्ञान से—यह कर्म बन्ध—स्थितिबंध एवं अनुभाग बंधरूप—कर्मबंध नही होता है । वहां तो प्रकृति एवं प्रदेश बंध ये दो बंध १ होते हैं । इनका कारण योग है । ये जीव को इष्ट और अनिष्ट फल प्रदान करने में सर्वथा असमर्थ माने गये हैं । क्योंकि आगम मे इनकी स्थिति दग्धरज्जु जैसी प्रकट की गई है । इष्टानिष्ट फल प्रदान करने वाले ये दो ही—स्थिति-बंध एव अनुभाग बंध—बन्ध हैं । क्योंकि इनका ही बंध कषाय युक्त २ आत्मा के होता हैं । अकषायी आत्मा के नहीं ।

---

१ जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति ।-द्रव्यसंग्रह ।

१ सकषायत्वाज्जीव : कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बंध । (तत्वार्थ सूत्र अ० ८)

तथा इष्टानिष्ट फल प्रदान करने में समर्थ ऐसे पुद्गल विशेषों का भी सम्बन्ध इन्हीं दोनों बन्धों में माना गया है। प्रकृति प्रदेश मे नहीं। वहां तो पुद्गल विशेषो का ही सम्बन्ध रहता है। इष्टानिष्ट फल प्रदान करने वाले पुद्गलों का नहीं। तथा जिस प्रकार ब्रीही आदि पदार्थ पुद्गल के सम्बन्ध से विपच्यमान होते हैं और इसीलिये वे पुद्गल रूप माने जाते हैं इसी प्रकार ये बंध भी स्वय पुद्गल स्वरूप है क्योंकि इनका विपाक भी पुद्गल के सम्बन्ध से होता है। यदि इस पर यों कहा जाय कि जीवविपाकी प्रकृतियो मे पुद्गल के सम्बन्ध से विपाक होना नहीं घटता है।

क्षेत्रविपाकी, भवविपाकी, एवं पुद्गल विपाकी प्रकृतियो मे ही यह बात बनती है सो ऐसा कहना भी उचित नही है। कारण कि जीव विपाकी प्रकृतियों का भी विपाक पुद्गल के सम्बन्ध से ही होता है। सकर्म जीव ही यहां पुद्गल [2] है उनमे ही उनका विपाक माना गया है। यदि इस पर भी इस प्रकार की आशका की जाय कि पूर्वानुभूतवस्तु के स्मरण से सुख अथवा दुःख देने वाले कर्मों में पुद्गल के सम्बन्ध से विपाक होना संभवित नहीं होता है अतः यह बात कैसे मानी जा सकती है कि कर्मों का विपाक पुद्गल के सम्बन्ध से ही होता है सो ऐसा कहना भी ठीक नही है कारण कि पूर्वानुभूत वस्तु के स्मरण से सुख दुःख देने वाले कर्मो का यह विपाक भी परम्परा से पुद्गल के

---

१ पुद्गलविपाकी, भवविपाकी, क्षेत्रविपाकी, एवं जीव विपाकी इस प्रकार से कर्मो के चार भेद माने गये हैं–पुद्गल–जीव-के शरीर मे जिनका विपाक–फलोदय हो वे पुद्गल विपाकी कर्म प्रकृतिया मानी गई है ये ६२ हैं–देहादी फासन्ता पण्णासा निमिणतावजगल च। थिरसुहपत्तेयदुग अगुरुतिय पोग्गलविवाई ।। ४७ ।। कर्मकाण्ड गाथा। भव–नरकादिगति में जिनका विपाक हो वे भवविपाकी कर्म प्रकृतियां हैं-आऊणि भवविवाई खेत्तविवाई य आणुपुव्वीओ। अट्ठत्तरि अवसेसा, जीवविवाई मुणेयव्वा ।। ये भव विपाकी कर्म प्रकृतियां ४ हैं तथा क्षेत्रविपाकी कर्म प्रकृतियां भी ४ हैं। जिसके फल से विग्रहगति मे जीव का आकार पहिला सा बना रहे वह क्षेत्रविपाकी है। जिनका विपाक साक्षात जीव मे होता है वे जीवविपाकी प्रकृतिया हैं–ये ७८ हैं। यथा–वेदणियगोदघादीणेकावण्ण तु णाम पयडीण। सत्तावीसं चेदे अट्ठत्तरि जीव वीगाई ।।४९।। गाथा कर्म कांड। वेदनीय को २, गोत्र की २, घातिया कर्मों की ४७, नाम कर्म को २७ इस प्रकार ७८ हो जाती हैं। नाम कर्म की २७ ये हैं—तित्थयर उस्सास बादरपज्जत्त सुस्सुरादेज्ज। जसतसविहायसुभगदुचउगइपणजाइ सगवीस ।। ५० गाथा कर्म काण्ड।

१–' बन्धं पडिएयत्त ' सर्वार्थसिद्धि।

ही सम्बन्ध से हुआ है ऐसा ही मानना चाहिये । क्योंकि स्मरण का कारण पूर्वानुभव है और वह पूर्वानुभव पुद्गल को विषय किये हुए है इसलिये उस रूप मे उस समय कर्मों का विपाक हो रहा है । चाहे कर्मों का विपाक आत्मा में साक्षात् पुद्गल के सम्बन्ध से हो या चाहे उसके परम्परा सम्बन्ध से हो कैसे ही क्यो न हो पर होगा वह अवश्य पुद्गल के सम्बन्ध से हो । इस तरह पुद्गल सम्बन्ध से विपच्यमान होने के कारण समस्त कर्मों मे पौद्गलिता सिद्ध होती है ।

आ० मी० ४३१

इसलिये कर्म बध में पुद्गल विशेष सबधित्व असिद्ध नही है । कोई यदि इस पर ऐसी आशका करे कि जब कर्म पौद्गलिक है तो उसमें फलदान समर्थता कैसे हो सकती है क्योकि पौद्गलिक होने से वे अचेतन जो हैं । सो इस प्रकार की आशंका करना भी ठीक नही है कारण कि प्रत्येक प्राणी को जो शुभेतर फलानुभवन होता है कि जो स्वानुभवगम्य है दृष्टकारणक नही है क्योंकि दृष्टकारणों का शुभेतर फलो को अनुभवन करने में व्यभिचार देखा जाता है अर्थात् शुभ और अशुभ फल जीव को दृष्ट कारणो से प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु इनका कोई अदृष्ट ही कारण है ऐसा मानना पडता है । जिस प्रकार रूपादिक ज्ञान के कारण अदृष्ट चक्षुरादिक मानना पड़ते हैं । वह अदृष्ट कारण कर्म बंध है । यदि इस पर इस प्रकार की आशका की जाय कि कर्म बध को अज्ञान हेतुक मानने पर मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय एव योगहेतुकता का वहा सूत्रकार उमास्वामी महाराज के अनुसार कथन विरुद्ध पड़ जायगा सो ऐसा कहना भी ठीक नही है कारण कि जिस आत्मा में कषायें रहती है उसी आत्मा मे वर्तमान जो अज्ञान है उस अज्ञान के साथ अविनाभावरूप के रहने वाले मिथ्यादर्शनादिको मे ही इष्टानिष्ट फल प्रदान करने में समर्थ कर्म बंध के प्रति हेतुता का-समर्थन होने से मिथ्यादर्शन आदिको का भी संक्षेप से संग्रह हो गया है ऐसा समझ में आता है । तथा च -मोही अज्ञान से ही विशिष्ट कर्म बंध होता है वीत मोहवाले अज्ञान से नही । इस प्रकार का कथन सूक्त है । इसी तरह क्षयोपशामिक प्रकृष्ट श्रुतज्ञान आदि जो केवलज्ञान की अपेक्षा स्तोक है एव ११ वे एवं १२ वें के चरम क्षण मे वर्तमान है से साक्षात् आर्हन्त्य लक्षण मोक्ष की सिद्धि होती है एवं इससे विपरीत मोह वालों के स्तोक ज्ञान

से जो कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से लेकर १० वें गुणस्थान तक के जीवों के होता है कर्म का बंध होता है—उससे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है। इस तरह अज्ञान एवं स्तोक ज्ञान मे सप्तभंगी प्रक्रिया का अवतरण जान लेना चाहिये —अर्थात् मोह सहित अज्ञान से कर्म का बंध होता है और मोह रहित अज्ञान से कर्म का बंध नहीं होता है। इसी तरह मोह सहित स्तोक ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है और मोह रहित स्तोकज्ञान से मुक्ति होती है। इस रूप से ये दो भंग यहां प्रकट किये हैं शेष भंग बुद्ध्यनुसार-पूर्व प्रदर्शित पद्धति के अनुसार-संघटित कर लेना चाहिये।

कामादिप्रभवश्चित्रः कर्मबन्धानुरूपतः।
तच्च कर्म स्वहेतुभ्यो, जीवास्ते शुद्ध्यशुद्धितः॥ ९९॥

अन्वय—कर्मबन्धानुरूपतः कामादिप्रभवः चित्रः तच्च कर्म स्वहेतुभ्यः भवति। ते जीवा शुद्ध्यशुद्धितः (द्विप्रकाराः सन्ति)।

अर्थ—पूर्वोपार्जित कर्म बन्ध के उदयानुसार कामादिक का उत्पाद रूप यह भावसंसार विविध प्रकार का है। वह कर्म अपने हेतुभूत रागादिक परिणामों से होता है। तथा शुद्धि और अशुद्धि के भेद से जीव दो प्रकार के हैं।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह बतला रहे हैं कि रागादिक परिणामों का उत्पाद रूप यह भाव संसार द्रव्य कर्मों के बंध के उदयानुसार उत्पन्न होता है। सुख दुःख आदि रूप जो इसमें विचित्रता है वह भी कर्मों के उदयानुसार ही है। इस प्रकार संसार का कर्ता नित्य एक स्वभाव वाला ईश्वर नहीं है जिस जीव ने जिस प्रकार के कर्मों का बंध पूर्व में किया है उन्हीं के उदयानुसार उस जीव को संसार की प्राप्ति होती है। कामादिप्रभव शब्द का अर्थ काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की उत्पत्ति है। इसी का नाम भाव संसार है। इसमे विचित्रता कर्मबंध की विशेषता से तथा कर्मबंध मे विचित्रता इसकी विशेषता से आती है। द्रव्य संसार से भाव संसार और भावसंसार से द्रव्य संसार का प्रवाह बीजाङ्कुर की तरह सन्तति रूप से चलता रहता है। ऐसा क्यों होता है इसका उत्तर वस्तुका

स्वभाव ही ऐसा है यही है । कर्मबन्ध के कारण रागादिक परिणाम हैं। ये रागादिक परिणाम हो तो भाव संसार हैं। इस भाव ससार के जो सुख दुःखादिरूप विचित्र कार्य हैं वे एक स्वभाव वाले नित्यकारण से जायमान नहीं हैं । कारण कि एक स्वभाव वाले कारण से अनेक कार्यों को उत्पत्ति नहीं देखो जातो है। यह बात युक्ति और आगम आदि प्रमाणों से बाधित होती है। तथा ऐसे किसो कारण का अस्तित्व हो सिद्ध नहीं होता है जो सर्वथा एक स्वभाव वाला ही हो। सर्वथा नित्य मे किसो भी रूप से अर्थक्रिया करना नहीं बनता है । नित्य एक स्वभाव वाला ईश्वर, अथवा उसकी नित्य एक स्वभाव वालो इच्छा अथवा नित्य एक स्वभाव वाला उसका ज्ञान ससार के कर्ता कैसे नहीं हैं इस विषय को जानने के लिये इस कारिका की टोका तथा आप्तपरोक्षा की ईश्वर-परोक्षा जो ७७ कारिकाओं द्वारा की गई है देखना चाहिये ।

शका—यदि यह भाव ससार कर्म बन्ध के अनुरूप होता है तो इस का क्या कारण है कि एक जीव तो यहां से मुक्ति प्राप्त कर लेता है और दूसरा जीव संसार में हो बंधा रहता है ? जब कर्मबंध एक का टूट जाता है तो दूसरे का भी हटना चाहिये ।

अर्थ—जीव दो प्रकार के होते हैं। एक शुद्धि विशिष्ट और दूसरा शुद्धिरिक्त। भव्यत्व भाव का नाम शुद्धि और अभव्यत्व भाव का नाम अशुद्धि है। जिस जोव को यह शुद्धि प्राप्त है वह कभो न कभो अवश्य मुक्त हो जाता है। परन्तु जो इस शुद्धि से विहीन हैं-अभव्यत्व भाव विशिष्ट हैं-उनको कभो मुक्ति नहीं होतो । वे संसार में हो रहते है ।

इस प्रकार ईश्वर वादियों की इस शंका का समाधान इस कारिका द्वारा किया गया हैं जो वे ऐसा कहते हैं कि कामादिप्रभवरूप विचित्र भाव ससार ईश्वर कारणक है ।

शुद्ध्यशुद्धी पुनः शक्ती, ते पाक्यापाक्यशक्तिवत् ।
साद्यनादी तयोर्व्यक्ती, स्वभावोऽतर्कगोचरः ॥ १०० ॥

अन्वय—पाक्यापाक्यशक्तिवत् पुनः ते शुद्ध्यशुद्धी शक्तो (स्त) । तयो व्यक्तो साद्यनादी । स्वभावः अतर्क गोचर ।

अर्थ—पाक्य एवं अपाक्य शक्ति की तरह वे शुद्धि और अशुद्धि शक्ति हैं । इन दोनों की अभिव्यक्ति भव्य एवं अभव्य जीवों की अपेक्षा से सादि और अनादि है । वस्तु का यह स्वभाव तर्क के अगोचर है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार यह स्पष्ट कर रहे हैं कि शुद्धि और अशुद्धि क्या है । वे यह बतला रहे हैं कि जिस प्रकार उड़द मूंग चना आदि पदार्थों में सीझने की अथवा नहीं सीझने की शक्ति स्वय रहा करती है । इसी प्रकार जीवों में शुद्धि और अशुद्धिरूप शक्ति स्वयँ रहा करती है । भव्यत्व का नाम शुद्धि है । यह किन्हो २ जीवों में सम्यग्दर्शन आदि के योग से निश्चित की जाती है । अभव्यत्व का नाम अशुद्धि है । अभव्य की इस शक्ति का प्रत्यक्ष निश्चय तो सर्वज्ञ भगवान् के ही होता है । छद्मस्थ तो केवल सर्वदा मिथ्यादर्शनादिक के योग से-सम्यग्दर्शन आदि से विपरीत में सदा प्रवृत्ति करने से—जानते हैं । भव्यत्वरूप शुद्धि शक्ति की व्यक्ति सादि है—क्योंकि उसके अभिव्यजक सम्यग्दर्शन आदि उस आत्मा में सादि रूप से प्रकट होते हैं । अभव्यत्व रूप अशुद्धिशक्ति की व्यक्ति अभव्य में अनादि है क्यों कि इसके अभिव्यजक मिथ्यादर्शन आदिकों की सतति अनादिकाल से ही वहां चली आ रही होती है । अथवा—सम्यग्दर्शनादि परिणाम स्वरूप जो अभिप्राय है उसका नाम शुद्धि एवं मिथ्यादर्शनादि परिणाम स्वरूप जो अभिप्राय है उसका नाम अशुद्धि है । इस प्रकार की शुद्धि और अशुद्धि की अभिव्यक्ति भव्य जीवों के ही सादि अनादि है-वह इस प्रकार से जब तक भव्य जीव के सम्यग्दर्शन आदि उत्पन्न नहीं होते हैं तब तक मिथ्यादर्शन आदि परिणामरूप अशुद्धि की व्यक्ति वहां अनादि है तथा जब उस भव्य आत्मा में सम्यग्दर्शन आदि समुद्भूत हो जाते हैं तब सम्यग्दर्शनादि रूप शुद्धि की व्यक्ति सादि है । इस प्रकारान्तर से अर्थ कहने में अशुद्धि और शुद्धि का अर्थ अभव्यत्व भाव एवं भव्यत्व भाव नहीं किया गया है ।

इस प्रकार जो यह शक्ति का प्रतिनियम किया गया है सो वस्तु का स्वभाव ऐसा ही है । इस अभिप्राय से

किया गया है। "ऐसा क्यों है" सो स्वभाव में ऐसा प्रश्न नहीं होता है। क्योकि वहां पर क्षोद विनोद के लिये गुंजाइश ही नही रहती है। इसी बात को कारिकाकार ने "स्वभावोऽतर्कगोचरः" इस पाद द्वारा प्रकट किया है। यदि कोई इस पर इस प्रकार की आशका करे कि जो विपय प्रत्यक्ष से प्रतोति कोटि में आ रहा है उसमे स्वभावविषयक तर्क करने पर वहां ही ऐसा उत्तर देना चाहिये कि "स्वभावोऽतर्कगोचरः" परन्तु जो पदार्थ परोक्ष है उसके स्वभाव को तर्क का अविषय क्यो बतलाया है। यदि यही बात मानी जाय तो फिर परोक्ष पदार्थों के स्वभाव का निर्णय कैसे हो सकेगा ? सो ऐसी आशका भी करना उचित नहीं है क्योकि परोक्ष पदार्थों की प्रतीति अनुमानादिक प्रमाणो से होती हैं। अतः अनुमान आदि प्रमाणो से प्रतोत पदार्थों के स्वभाव भी तर्क द्वारा निर्णीत नहीं होते हैं। वहां भी "वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है" यही उत्तर स्वभाव विषयक प्रश्न होने पर दिया जाता है। इसी तरह प्रसिद्ध प्रमाणवाले आगम से निर्णीत पदार्थों का स्वभाव भी तर्क के गोचर नहीं होता है। मतलब कहने का यही है कि जिस प्रकार प्रत्यक्ष से निर्णीत पदार्थ का स्वभाव तर्क के अगोचर होता है उसी प्रकार अनुमान एव आगम के विपयभूत पदार्थों का स्वभाव भी तर्क के अगोचर होता है। इसलिये कारिकाकार ने "स्वभावोऽतर्क गोचरः" ऐसा कहा है। इस प्रकार द्रव्यादिसंसार के कारणभूत इस कामादि प्रभवरूप भाव ससार में कर्मबन्धानुरूपता होने पर भी शुद्धि और अशुद्धि की विचित्रता से जीवों को मुक्ति की प्राप्ति होना एवं नहीं होना यह बन जाता है।

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते, युगपत्सर्वभासनम् ।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं, स्याद्वादनय संस्कृतं ॥ १०१ ॥

अन्वय–हे नाथ ! ते तत्त्वज्ञानं प्रमाणम्। (अक्रमभाविक्रमभाविभेदात् तत् द्विविधम्) युगपत्सर्वभासनम् (अक्रमभावितत्त्वज्ञानम्) स्याद्वादनय संस्कृतं यत् (मत्यादि) ज्ञानम् च (तत्) क्रमभावि (तत्त्वज्ञानम्)।

अर्थ–हे नाथ। आपके मतानुसार तत्त्वज्ञान प्रमाण माना गया हैं। अक्रमभावि और क्रमभावि के भेद से वह तत्त्वज्ञान दो प्रकार का आपने बतलाया है। जिसमें एक ही साथ समस्त पदार्थों का अवभासन होता है वह अक्रमभावि

तत्त्व ज्ञान है। तथा स्याद्वाद एवं नय से जो सस्कृत है ऐसा मत्यादिज्ञान क्रमभावि तत्त्व ज्ञान है।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार अब इस बात को स्पष्ट करते हैं कि जो उनसे यह पूछा गया है कि उपेय तत्त्व का एवं उपाय तत्त्व का अधिगम प्रमाण और नय से होता है। सो पहिले हमें " प्रमाण का क्या स्वरूप है" यही बतलाईये। कारण कि उसके स्वरूप आदि में अन्य लोगो को काफी विवाद है। इस प्रकार पूछे जाने पर कारिकाकार प्रमाण विषयक स्वरूपादिक की विप्रतिप्रत्ति का निराकरण इस कारिका द्वारा करते हैं। सर्व प्रथम वे यह बतला रहे हैं कि तत्त्वज्ञान प्रमाण का लक्षण है। उसके दो भेद हैं—अक्रमभावि और क्रमभावि। केवलज्ञान अक्रमभावि हैं और शेष मत्यादि चार ज्ञान क्रमभावि हैं। इस प्रकार का यह प्रमाणद्वय का विभाग उपयोग के क्रमाक्रम की अपेक्षा से है।

उपाय तत्त्व में ज्ञान ही आता है। जब ज्ञान वस्तु के पूर्ण रूप को जानता है तब प्रमाण कहा जाता है और जब वह उसके एकदेश को जानता है तब नय है। प्रमाण का लक्षण साधारणतया 'प्रमाकरणं प्रमाणं' यह सर्व स्वीकृत १ है। विवाद यह है कि करण कौन हो। नैयायिक एव वैशेषिक सन्निकर्ष को करणरूप से निर्दिष्ट करते हैं, बौद्ध अज्ञानरूप निराकार दर्शन को तथा सांख्य श्रोत्रादिक इन्द्रियों की वृत्ति को। परन्तु जैन परम्परा ने प्रमितिक्रिया के प्रति करण ज्ञान को ही माना है। इसीलिये उनका ऐसा कहना है कि " तत्त्व ज्ञान प्रमाणं " यहां तत्त्व ज्ञान इस पद से सन्निकर्ष निराकार दर्शन एवं इन्द्रियवृत्ति इनका निराकरण हुआ है क्योंकि स्वार्थाकार प्रमितिक्रिया के प्रति इनमें किसी में भी साधकतमता नहीं बनती है। स्वार्थाकार व्यवसायात्मक ज्ञान में ही उस प्रमिति के प्रति साधकतमता बनती है अतः वही प्रमाण है सन्निकर्षादिक नहीं। " तत्त्वज्ञानं प्रमाण " इस प्रकार के कथन से, संशयादिकों में ज्ञानरूपता होने पर भी जो उनमें प्रमाणता नहीं आती हैं उसका कारण उनमें यथार्थ प्रमिति जनकता का अभाव है यह बात ज्ञात होती है। " तत्त्वज्ञान प्रमाणम् " यह प्रमाण का लक्षण अव्याप्ति अतिव्याप्ति एवं असंभव इन तीन प्रकार के लक्षण दोषों से सर्वथा रहित है। " तत्त्वज्ञानं प्रमाणं " इसके अनुसार यदि तत्त्वज्ञान में सर्वथा प्रमाणता की सिद्धि मानी जायगी तो प्रमाणा प्रमाण

१ न्याय विनिश्चय विवरण की प्रस्तावना पृ० ३७।

के अनेकांत से वहा विरोध आवेगा क्योकि इस कथन से प्रमाण की एकांतता ही वहां सिद्ध होती है सो इस प्रकार की किसी की यह आशंका ठीक नही है कारण कि जिस आकार से ज्ञान मे तत्त्व का परिच्छेद करना रूप अश रहेगा वह ज्ञान उस अंशरूप आकार से प्रमाण माना जायगा और जितने आकार से वह तत्त्व के परिच्छेद से रहित होगा उस आकार से अप्रमाण माना जायगा। "कतिपय प्रमाण ज्ञानो मे भी अप्रमाणता अनुप्रविष्ट होरही है और मिथ्या ज्ञानों मे भी प्रमाणपना घुस रहा १ है।" इसी कारण प्रमाण और अप्रमाण का अनेकान्त सिद्ध होता है। "भावप्रमेयापेक्षायां" यह बात पीछे इस कारिका में पुष्टकर दी गई है। तिमिर रोगी के द्विचन्द्रज्ञान को सर्वथा विसंवादी—अप्रमाण इसलिये नहीं कहा जा सकता है कि वह केवल द्वित्व संख्या मे ही विसंवादी माना जा सकता है चन्द्रांश मे नही। इसी तरह निर्दोष नेत्र वाले व्यक्ति के चन्द्र सूर्योदय के के ज्ञान को सर्वथा अविसवादी इसलिये नही माना जा सकता है कि वह उसे धरती से लगा हुआ जो जानता है। इस तरह प्रमाण और अप्रमाण की यह संकीर्ण स्थिति है फिर भी प्रमाणऔर अप्रमाण के व्यपदेश का कारण अविसवाद एव विसंवाद की १ प्रकर्षता है। जिस ज्ञान में अविसवाद की प्रकर्षता होगी वहां प्रामाण्य एव विसंवाद की प्रकर्षता होगी वहा अप्रामाण्य व्यपदिष्ट होगा। जैसे कपूर, केशर, कस्तूरी आदि मे रूपरस आदि के होने पर भी गध की प्रधानता से उन्हे गंध द्रव्य कहा जाता है तथा नीबू नोन मिर्च आदि को रस की प्रधानता से रस द्रव्य माना जाता है। अवधिमन पर्यय ज्ञान में भी देशघाति प्रकृतियो का उदय कुछ बिगाड़ कर देता है। मतिज्ञान एव श्रुतज्ञान पराधीन हैं। इसलिये इन सब ज्ञानों मे जितने अश मे सवाद विसवाद होगा ये प्रमाण और अप्रमाण माने जायेंगे।

इन क्रमभावी और अक्रमभावी प्रमाण भेदो के कथन से प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणभेदो का यहां कथन किया गया जानना चाहिये। तथा सर्व भासन एवं क्रम भासन से प्रमाण का विषय स्पष्ट किया है। प्रत्यक्ष के भी सकल प्रत्यक्ष

---

१ तत्वार्थ श्लोक वार्तिक।

१ प्रमाणव्यवहारस्तु भूय' संवादमाश्रित।
गधद्रव्यादिवद्भूयो विसंवादतदन्यथा॥ —श्लोकवार्तिक तत्वचिन्तामणि पृ० ५०२।

एव विकल प्रत्यक्ष के भेद से दो भेद हो जाते हैं। अवधिज्ञान एव मनः पर्यय ज्ञान इन्हें विकल प्रत्यक्ष कहा गया है क्योंकि ये दोनों ही द्रव्यक्षेत्रादिक की मर्यादा लेकर रूपी पदार्थों को ही बिना इन्द्रियो की सहायता से स्पष्ट जानते हैं। तथा इन्द्रिय एवं मन से जो ज्ञान होता है उसे यद्यपि परोक्ष माना गया है परन्तु फिर भी लोक व्यवहार की अपेक्षा से वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष में परिगणित किया गया है। केवल ज्ञान को सकल प्रत्यक्ष मे गिना [1] है।

स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम के भेद से परोक्ष प्रमाण ५ प्रकार का माना गया[2] है। पूर्व में गृहीत-धारणा के विषयभूत-पदार्थ का स्मरण करना यह स्मृति का स्वरूप है। यद्यपि स्मृति गृहीत ग्राही है फिर भी अविसंवादी होने से तथा प्रत्यभिज्ञान की जनक होने से एवं समारोप की व्यवच्छेदिका होने से प्रमाणभूत ही मानी गई है। दर्शन और स्मरण से उत्पन्न होने वाले एकत्व, साहश्य, वैसाहश्य, प्रतियोगी तथा दूरत्वादिरूप से सकलन करने वाले (विवक्षित धर्मयुक्तत्वेन प्रत्यवमर्शन करने वाले) ज्ञान का नाम प्रत्यभिज्ञान है। यह प्रत्यभिज्ञान यद्यपि प्रत्यक्ष और स्मरण इन दोनो के द्वारा उत्पन्न होता है। परन्तु फिर भी प्रत्यक्ष और स्मरण के अविषयभूत एकत्वादिक धर्मों का अवमर्शक होने से इसे प्रमाण माना गया है। प्रत्यक्ष—साध्य साधन सद्भाव ज्ञान-और अनुपलंभ—साध्याभाव साधनाभावज्ञान-से उत्पन्न होने वाला सर्वोपसंहाररूप से साध्य साधन के सम्बन्ध को ग्रहण करने वाला ज्ञान तर्क है मतलव इसका 'व्याप्ति के ज्ञान का नाम तर्क है' यह है। अविनाभावी साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते है। स्वार्थानुमान और परार्थानुमान के भेद से अनुमान दो प्रकार का है। आप्त के वचन आदि से उद्भूत अर्थ का नाम आगम है।

---

१ प्रत्यक्ष विशद ज्ञान त्रिधाश्रितमविप्लवम्।
परोक्ष प्रत्यभिज्ञादि प्रमाणे इति सग्रह ॥

२ प्रत्यक्षादिनिमित्त स्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदमिति सन्कारोद्बोधनिबन्धना तदित्याकारा स्मृति यथा—स देवदत्त इति दर्शनस्मरणकारणक सकलन प्रत्यभिज्ञानम्। तदेवेद, तत्सदृश, तद्विलक्षण तत्प्रतियोगीत्यादि। यथा—स एवाय देवदत्त, गोसदृशो गवयः, गोविलक्षणो महिष, इदमस्माद्दूरम् वृक्षोऽयमित्यादि। उपलभानुपलभनिमित्तं व्याप्तिज्ञानमूह इदमस्मिन् सत्येव भवति असति तु न भवति यथाऽग्नावेवधूमस्तदभावे न भवत्येवेति। साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानम्। आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागम। परीक्षामुख तृतीय परिच्छेद

इस प्रकार तत्त्वज्ञान रूप यह प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के भेद से दो प्रकार का है तथा सामान्य और विशेष धर्मात्मक पदार्थ इसका विषय है। यह तत्त्वज्ञान क्रमाक्रमभावित्व मे प्रमाण नय से सस्कृत है ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है अर्थात् 'स्याद्वादनयसस्कृतम्' यह विशेषण क्रमभावि मत्यादिज्ञान पर न लगाकर तत्त्वज्ञान के साथ लगाने पर इस प्रकार अर्थ बोध होता है कि तत्त्वज्ञान कथचित् अक्रमभावि है क्योकि यह युगपत्सर्वार्थग्राही है (यह केवल ज्ञान की अपेक्षा कथन जानना चाहिये)। तथा तत्त्वज्ञान कथचित्–क्रमभावी है क्योकि उसका विषय विकल है। (यह मति श्रुत अवधि और मन. पर्यय की अपेक्षा कथन जानना चाहिये) आगे इन्हीं दोनो धर्मो को लेकर शेष भंग भी घटित कर लेना चाहिये। विशेष अर्थ को जानने के लिये इसकी टीका देखना चाहिये।

उपेक्षा फलमाद्यस्य, शेषस्यादानहानधीः।
पूर्वा वाऽज्ञाननाशो वा, सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥ १०२ ॥

अन्वय––आद्यस्य (ज्ञानस्य) उपेक्षा, शेषस्य (ज्ञानस्य) आदानहानधी. पूर्वा वा (व्यवहितम्) फलम्। वा सर्वस्य अस्य स्वगोचरे अज्ञाननाशः (अव्यवहित फलमस्ति)।

अर्थ––केवलज्ञान का उपेक्षा, शेप मतिज्ञान आदि चार ज्ञानो का ग्रहण करना, त्याग करना तथा माध्यस्थ्य-भाव रखना यह परम्परा फल है। एव इन पांचों ही ज्ञानो का अपने विषयभूत पदार्थ में अज्ञान का नाश होना यह साक्षात् फल है।

भावार्थ––कारिकाकार इस कारिका द्वारा प्रमाण के फल की विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हैं। प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा भिन्न ही है इस प्रकार की मान्यता यौगो की है। तथा प्रमाण का फल प्रमाण से सर्वथा अभिन्न ही है ऐसी मान्यता बौद्धो की है। इन दोनों मान्यताओं से जुदी एक तीसरे प्रकार की ऐसी मान्यता जैन दर्शन की है कि प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न भी है और कथचित् अभिन्न भी है इसी बात को यहां व्यवहित और

अव्यवहित शब्द से बतलाया गया है । कारिका १०१ की अपेक्षा से यहां " आद्य " इस पद द्वारा केवल ज्ञान का ग्रहण करना चाहिये । युगपत्सर्वभासक केवल ज्ञान का व्यवहित फल उपेक्षा है । क्योंकि केवलज्ञान के उत्पन्न होने पर केवली आत्मा कृतकृत्य हो जाती है । ससार और संसार का कारण हेय है एवं मोक्ष और उसका कारण उपादेय है सो केवली आत्मा के पूर्व का अभाव एव उत्तर की प्राप्ति हो जाने से वह आत्मा किसी भी पदार्थ में सिद्धप्रयोजन होने से मोहाधीन नहीं रहती है किन्तु वीतराग बन जाती है । यहां पर समस्त अन्तराय के क्षय से प्रक्षीणावरण आत्मा का सर्व जीवो को अभयदान देने रूप जो परम करुणा १ भाव है वही उपेक्षा है । इससे जो कोई ऐसी आशंका करते हैं कि करुणा के बिना वीतराग पर को हित का उपदेश नहीं दे सकता है सो निवृत्त हो जाती है । कारण कि वीतराग में मोह का सर्वथा अभाव हो जाने से मोह विशेष स्वरूप करुणा की संभावना ही नहीं होती है । वहां तो सर्व जीवो को अभयदान देने रूप जो आत्मा का स्वभाव है वह प्रकट हो जाता है । रही उपदेश के देने की बात सो इसका कारण वहां तीर्थंकर प्रकृति का उदय है । इसी से बिना इच्छा के वे उपदेश देते हैं । इच्छा के बिना भी वचन की प्रवृत्ति होती है । यह बात पीछे पुष्ट की जा चुकी है । यह उपेक्षा रूप फल केवल ज्ञान का कथंचित् उससे भिन्न है । क्योंकि करण क्रिया रूप परिणामो की अपेक्षा से उनमे भिन्नता जो है । इसी तरह हेय का त्याग करना उपादेय का ग्रहण करना उपेक्षणीय की अपेक्षा नहीं करना उसमें माध्यस्थभाव रखना यह जो फल मतिज्ञान आदि चार प्रमाण ज्ञानों का कहा गया है वह भी इसी अपेक्षा से कथंचित् भिन्न जानना २ चाहिये ।

---

१ ततो नि शेषान्तरायक्षयादभयदान स्वरूपमेवात्मनः प्रक्षीणावरणस्य परमादया (अ० स०)

२ अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम् । प्रमाणादभिन्नं भिन्नं च । यः प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्ते उपेक्षते चेति प्रतीते । परिक्षामुख प्रमाणाध्याये ।

हानादिवेदन भिन्न फलमिष्टं प्रमाणत. । तदभिन्न पुनः स्वार्थाज्ञानव्यावर्तन समम् । ४२
स्याद्वादाश्रयणे युक्त मेतदप्यन्यथा न तु । हानादिवेदनस्यापि प्रमाणादभिदेक्षणात् । ४३
येनैवार्थो मया ज्ञातस्तेनैवत्यज्यतेऽधुना गृह्यतेोपेक्ष्यते चेति तद्वेदय केन नोग्यते । ४४
मेदैकान्ते पुन नं स्यात् प्रमाणफलतानति. । सन्तानान्तरवत् स्वेष्टेऽप्येकत्रात्मनि सन्विदा. । ४५
पर्यायार्थापंणाद्भेदो द्रव्यार्थादभिदास्तु नः ।
प्रमाणफलयोः साक्षादसाक्षादपि तत्त्वतः । ४६ श्लोकवार्तिक—

अज्ञान निवृत्ति रूप फल इन पांचों ही ज्ञानों का साक्षात् फल है और यह प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है। कारण कि इस विवक्षा में करण और क्रिया में कथंचित् अभिन्नता है। जिस प्रकार प्रदीप स्वात्मा द्वारा अपने आपको प्रकाशित करता है यहा पर करण और क्रिया में किसी अपेक्षा अभिन्नता है। सर्वथा भिन्न या सर्वथा अभिन्न मानने पर प्रमाण और फल की समुचित व्यवस्था नहीं बन सकती है। इस प्रकार अज्ञाननिवृत्ति रूप प्रमिति यह प्रमाण का साक्षात् फल है क्योंकि यह प्रमाण के समय ही होता है। तथा हान उपादान एवं उपेक्षा यह चार ज्ञानों का परम्परा फल है—क्योंकि यह प्रमाण के बाद होता है। केवल ज्ञान का फल उपेक्षा ही है ऐसा जानना चाहिये।

आ० मी० ४४१

वाक्यष्वनेकान्तद्योती, गम्यं प्रतिविशेषणम् ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामभि ॥ १०३ ॥

अन्वय—तव केवलिनामपि "स्यात्" निपातः अर्थयोगित्वात् वाक्येषु अनेकान्तद्योती गम्य प्रतिविशेषणम्।

अर्थ—हे नाथ ! आपके या श्रुतकेवलियों के भी मतानुसार "स्यात्" यह निपात शब्द अर्थ के साथ सबंधित होने से वाक्यो मे अनेकांत का द्योतक तथा गम्यरूप अर्थ के प्रति विशेषण माना गया है।

भावार्थ—यहां कारिकाकार इस कारिका द्वारा यह बतला रहे हैं कि स्यात् इस शब्द के अनेकांत विधि, विचार एवं प्रश्न आदि अनेक अर्थ सभवित होते हैं परन्तु यहां वक्ता की विशेष इच्छा से अनेकांत अर्थ का द्योतक या वाचक यह स्यात् शब्द है। तथा यह लिङ्गन्त प्रतिरूपक अव्यय है। निपात शब्द वाचक भी होते हैं और द्योतक भी होते है। यदि कोई यहा पर ऐसी आशंका करे कि जब वाक्य मे प्रयुक्त यह "स्यात्" शब्द अनेकांत का वाचक है तो फिर उसमे अस्ति आदि शब्दो के प्रयोग की क्या आवश्यकता है सो एसी आशका ठीक नहीं है कारण कि स्यात् शब्द द्वारा सामान्य रूप से ही अनेकात का कथन किया जाता है—विशेषरूप से नहीं। अत विशेषरूप से उसका बोध कराने

के लिये अस्ति आदि पदों का प्रयोग आवश्यक[1] है। इसी तरह जब स्यात् शब्द का अनेकांत द्योतक पक्ष अंगीकार किया जाता है तब उसका भाव इस प्रकार जानना चाहिये कि अस्ति आदि पदों द्वारा प्रतिपादित किया गया अनेकांतरूप अर्थ इस स्यात् शब्द से द्योतित किया जाता है।

यह पहिले लिखा जा चुका है कि काल आदि के साथ अभेदवृत्ति एवं अभेदोपचार से अस्ति आदि पद अनेक
श्लो० धर्म के प्रतिपादक होजाते हैं अतः इस अपेक्षा यहां अस्ति आदि पदों द्वारा उन अनेकांतरूप अनेक धर्मों का प्रतिपादन हो
वा० रहा है—उसी अनेकांत का द्योतन इस स्यात् शब्द द्वारा किया जाता है। यदि वाक्य में स्यात् शब्द का प्रयोग न किया
४/२ जाय तो मिथ्या एकांत को हटाकर अनेकांत का प्रकाशन नहीं हो सकता है। स्यात् शब्द ही वाक्य में यह प्रकाशित करता रहता है कि यहां विवक्षित धर्म की ही एकान्ततः प्रधानता नहीं है किन्तु अन्य धर्म भी यहां मौजूद हैं जो इस समय अविवक्षित होने के कारण गौणता की गोद में सो रहे हैं। स्वद्रव्यादिक की अपेक्षा विवक्षित धर्म की प्रधानता एवं परद्रव्यादिक की अपेक्षा अप्रधानता यह बतलाने वाला यह स्यात् पद ही है। यदि कोई यहां ऐसी आशंका करे कि जब सामान्यरूप से अस्तित्व धर्म करके जीव व्याप्त होरहा है[2] एवं पुद्गलादिक के अस्तित्व विशेषोंसे वह व्याप्त नहीं होरहा

---

1 स्याच्छब्दादप्यनेकान्तसामान्यस्य विबोधने।
शब्दान्तरप्रयोगोऽत्र विशेषप्रतिपत्तये ॥ ५५ ॥
साऽप्रयुक्तोऽपि वा तज्ज्ञैः सर्वत्रार्थात् प्रतीयते।
यथैवकारोऽयोगादिव्यवच्छेदप्रयोजनः ॥
सर्वथा तत्प्रयोगेऽपि सत्त्वादिप्राप्तिविच्छिदे।
स्यात्कारः संप्रयुज्येतानेकान्तद्योतकत्वतः ॥ ५४ ॥

—श्लोक वार्तिक

तत्वार्थश्लोक वार्तिक

2 नन्वस्तित्वसामान्येन जीवस्य व्याप्तत्वात् पुद्गलाद्यस्तित्वविशेषैरव्याप्तेनैव पक्षि कृतकस्यानित्यत्वसामान्येन व्याप्तस्या नित्यत्वविशेषप्रसक्तिवत् ततोऽनर्थकस्तन्निवृत्तये स्यात्प्रयोग इति चेन्न अवधारणवैयर्थ्यप्रसंगात् स्वगतेनास्तित्वविशेषेण जीवस्यास्तित्वाव धारणात् प्रतीयते कृतकस्य स्वगतानित्यत्वविशेषेणानित्यत्ववदिति चेन्न स्वगतेनेतिविशेषणात् परगतेन नैवेति संप्रत्ययादनवधारणानर्थक्यस्य तदवस्थत्वात् न चानवधारणं वाक्य युक्त जीवस्यास्तित्वनास्तित्वस्यापि अनुषगात् कृतकस्य नित्यत्वानुषंगवत्। श्लोक वा० ४६।

है तो फिर पुद्गल आदि के अस्तित्व से जीव के अस्तित्व का प्रसग ही प्राप्त नहीं होता है तब फिर उन अनिष्ट पदार्थों की ओर से आनेवाले सत्त्व आदि की निवृत्ति के लिये वाक्य मे स्यात् शब्द का प्रयोग करना बिलकुल व्यर्थ ही है सो ऐसी आशका भी ठीक नहीं है कारण कि इस आशंका से तो फिर अवधारण करना भी व्यर्थ साबित हो जाता है। अवधारण की व्यर्थता मे स्वद्रव्यादिक द्वारा अस्तित्व की तरह परद्रव्यादिक द्वारा भी अस्तित्व पदार्थ में मानना पडेगा अथवा जिस समय जिस प्रकार से जीव मे अस्तित्व का विधान किया जायगा उसी समय वैसे ही नास्तिक के विधान का भी प्रसंग प्राप्त हो जायगा। परन्तु ऐसा विधान होता नहीं है। अतः अनिष्टार्थ की व्यवच्छित्ति के लिये सावधारण ही वाक्य बोला जाता है। इस अवधारण की सफलता स्यात् इस निपात के लगाने पर ही हो सकती है। अर्थात् स्यात् शब्द ही ऐसा बतलाता है कि पदार्थ मे अस्तित्व स्वद्रव्यादिक की ही अपेक्षा से है पर द्रव्यादिक की अपेक्षा से नहीं तथा विवक्षित होने से ही अस्तित्व धर्म की इस समय मुख्यता है अन्य अविवक्षित धर्मों का इसमें अभाव नहीं है। इस तरह अर्थ-वाच्य और द्योत्यरूप अनेकान्त अर्थ—का योगी होने से यह स्यात् शब्द लिङ्गन्त प्रतिरूपक निपात है—अव्यय है। तथा गम्य जो विवक्षित धर्म है उसका समर्थक होने से विशेषण है। यह बात इस कारिका द्वारा इस प्रकार समर्थित की गई जाननी चाहिये।

परस्परापेक्ष पदो का अन्य वाक्यान्तरगतपद निरपेक्ष जो समुदाय है वह वाक्य है इस प्रकार वाक्य का लक्षण जैन दार्शनिकों ने माना है। अत जो आख्यात शब्द को पदो के संघात को, सघातवर्तिनी जाति को, एक अवयव रहित शब्द को क्रम को (वर्णमात्र के क्रम का अथवा पदरूपवर्ण विशेषो के क्रम को) बुद्धि को, अनुसंहृति को, आद्यपद को, अन्तपद को, एवं सापेक्ष पद को वाक्य मानते हैं वह मान्यता ठीक नहीं है इसके लिये अष्टसहस्री का अवलोकन करना २

१ पदानां परस्परापेक्षाणां निरपेक्षः समुदायो वाक्यम् अ० श०)

२ आख्यानशब्दः सघातो जातिः संघातवर्तिनी ।
एकोऽनवयवः शब्द क्रमो बुद्ध्यनुसहृती ॥ १ ॥
पदमाद्य पद चान्त्य पद सापेक्षमित्यपि ।
वाक्य प्रति मतिर्भिन्ना, बहुधान्यायवेदिनाम् ॥ २ ॥

चाहिये ।

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥ १०४ ॥

इसका अन्वय स्पष्ट है—

आ० मी० ४४४

अर्थ—सर्वथा एकान्त के त्याग से ही स्याद्वाद होता है । कथंचित् इत्यादि इसके पर्यायवाची शब्द हैं । सप्तभंग और नयों की यह अपेक्षा वाला है । हेय एव उपादेय तत्व की विशेष व्यवस्था इसी स्याद्वाद से होती है ।

भावार्थ— "स्याद्वाद" पद स्यात् और वाद इन दो शब्दों से निष्पन्न हुआ है, १०३ वीं कारिका में यह बतला दिया गया है कि स्यात् यह अव्यय निपात शब्द है । क्रिया अथवा अन्य शब्द नहीं है । इसका अर्थ है कथचित किंचित् किसी अपेक्षा, कोई एक दृष्टि कोई एक धर्म की विवक्षा आदि । तथा वाद का अर्थ है मान्यता अथवा कथन । जो स्यात् का कथन करने वाला अथवा स्यात् को लेकर प्रतिपादन करने वाला है वह स्याद्वाद है । यह स्याद्वाद सर्वथा एकान्त का त्यागकर अपेक्षा से वस्तु स्वरूप का विधान करता है । कथंचिद्वाद अपेक्षावाद आदि इसी स्याद्वाद के दूसरे नाम हैं । सप्तभग और सप्तनयो की यह अपेक्षा वाला है अर्थात् सप्तभंग और सप्त नैगमादिक नयों द्वारा स्वभाव एवं परभाव की अपेक्षा लेकर वस्तु के सत् असत् आदि स्वरूप का यह प्रतिपादन करता है । सप्तभंगों का कथन तो प्रथम परिच्छेद में किया हो जा चुका है । अब यहां सप्तनयों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जाता है ।

"द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकप्रविभागवशान्नैगमादयः शब्दार्थनया बहुविकल्पा मूलनयद्वयशुध्यशुद्धिभ्याम् (अ० श०)" वस्तुओ मे अनन्त धर्म होते है । उनमे से किसी एक धर्म को लेकर उस वस्तु को कथन करने वाला जो वक्ता का अभिप्राय उसका नाम नय है । द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय के भेद से यह नय दो प्रकार का है । द्रव्य को विषय करने वाला नय द्रव्यार्थिक एवं पर्याय को विषय करने वाला नय पर्यायार्थिक नय है यद्यपि " जावइआ वयणपहा तावइआ चेव

हुँति नयवाया अथवा "शब्द विकल्प परिमाणाश्च" इस कथन से जितने भी वचन बोलने के मार्ग है उतने ही नयवाद है। अथवा जितने भी शब्द एव विकल्प हैं उतने नय हैं फिर भी "सर्वसग्राहिसप्ताभिप्रायपरिकल्पना द्वारेण" पूर्वाचार्यों ने सब का सग्रह करने वाले सात वचनो की कल्पना करके सात नयो का ही प्रतिपादन किया है। तथा इन सातो का भी द्रव्याथिक नय एव पर्यायार्थिक नय इनमे अन्तर्भाव कर दिया है। वक्ता अपना अभिप्राय या तो अर्थ की प्ररूपणा द्वारा प्रकट करता है या शब्दो की प्ररूपणा द्वारा. जब अर्थ की प्ररूपणा द्वारा वक्ता अपना अभिप्राय प्रकट करता हैं तब उस अभिप्राय में अर्थ—प्ररूपित अर्थ–ही प्रधान रहता है। यद्यपि अर्थ की प्ररूपणा शब्दों द्वारा ही होती है। परन्तु इस प्ररूपण मे लिङ्ग संख्या, कारक, वचन आदि के भेद से अथवा निरुक्ति आदि के भेद से प्ररूप्यमाण अर्थ मे भेद नही माना जाता है। यह भेद तो शब्द, समभिरूढ एव एवभूतनयमे ही माना गया है। इसलिये नैगम, सग्रह, व्यवहार, एव ऋजुसूत्र ये चार नय (प्रमाता के अभिप्राय विशेष) अर्थ निरूपण प्रवण होने से अर्थ नय तथा शब्द समभिरूढ एवं एवंभूत ये तीन नय शब्द के विचार करने मे चतुर होने से शब्द नय है। नैगम सग्रह व्यवहार इन तीन नयो का अन्तर्भाव द्रव्यार्थिक नय मे तथा ऋजुसूत्र. शब्द, समभिरूढ एव एवभूत इन चार नयो का अन्तर्भाव पर्यायार्थिक नय मे किया गया है। इन सात नयो को सर्व सग्राहक माना है। मूल द्रव्यार्थिक नय की शुद्धि से सग्रह नय माना गया है–अर्थात् मूल द्रव्यार्थिक नय की शुद्ध प्रकृति संग्रह नय है। क्योकि यह नय सकल उपाधि से रहित होकर शुद्ध सत्ता मात्र को विषय करता है। विशेषों की यह अपेक्षा नही रखता। सामान्य स्वरूप करके समस्त पदार्थों को ग्रहण करने वाला होने से ही इसका नाम संग्रह नय पडा है। संग्रह नय से गृहीत पदार्थ का विधि पूर्वक भेद प्रभेद करने वाला नय व्यवहार नय है। जो सत् है वह द्रव्य है कि गुण है? इत्यादिरूप से यह नय वहा तक भेद प्रभेद करता चला जाता है कि फिर जहां और भेद को जगह नही मिलती है।

इस १ नय की दृष्टि में जितनी वस्तु लोक मे प्रसिद्ध है अथवा लोक व्यवहार में जितनी आती है वही कार्यकारी है अन्य नही। इस तरह भेद को विषय करना यह द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति है। अनिष्पन्न जो अर्थ है उसमे जायमान सकल्पमात्र को ग्रहण करने वाला नैगम २ नय है। प्रस्थ और ओदन के दृष्टान्त से इसे प्रमेयकमलमार्तण्ड एव सर्वार्थसिद्धिकार ने समझाया है। वहा बतलाया है कि जैसे कोई पुरुष प्रस्थ (पांच सेर का परिमाण) बनाने के लिये काष्ठ लेने को जगल मे गया हुआ था वहां उससे किसी ने पूछा कि तुम यहां क्यों आये हुये हो तो उसने उत्तर दिया कि प्रस्थ लेने आया हुआ हूं। यहां प्रस्थ पर्याय यद्यपि निष्पन्न नहीं हुई है तो भी उस व्यक्ति ने उसके सकल्पमात्र में प्रस्थ पर्याय की मान्यता करली है। यह भी द्रव्यार्थिक नय की अशुद्ध प्रकृति है क्योकि इस नय द्वारा भी सोपाधि वस्तु विषय भूत हुई है शुद्ध सत्ता मात्र वस्तु विषय नही हुई। अथवा—दोधर्मो में दो धर्मियो में तथा एक धर्म और एक धर्मी मे प्रधानता एव गौणता की विवक्षा करना इसका नाम नैगम नय है। ३ जैसे " सत् और चैतन्य दोनों

---

१ यथा लोकग्राहमेव वस्तु अस्तु किमनया अदृष्टाव्यर्णाह्यमाणवस्तुपरिकल्पनकष्टपिष्टिकया। स्याद्वादमरी पृ० ३ १। सग्रहगृहीतार्थाना विधिपूर्वकमवहरण विभजन भेदेन प्ररूपण व्यवहार.। पर सग्रहेण हि सद्धर्माधारतया सर्वमेकत्वेन सदिति सगृहीतम् व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रै ति यत् सत् तद्द्रव्य पर्यायो वा। तथैवापर' सग्रहः सर्वद्रव्याणि द्रव्यमिति सर्वपर्यायांश्च पर्याय इति सग्टह्णाति व्यवहारस्तु तद्विभागमभिप्रैति–यद्द्रव्य तज्जीवादि षड्विधम् य. पर्याय. स द्विविध. सहभावी क्रमभावी च। प्रमेय कमल मार्तण्ड पृ० २०५ व्यवहारानुकूल्यात्, प्रमाणाना प्रमाणता।

नान्यथा बाध्यमानाना, ज्ञानाना तत्प्रसगत ॥ ७० ॥

—न्यायकुमुद चन्द्र पृ० ७६० ।

२ अनिष्पार्थं सकल्पमात्रग्राही नैगम'। प्रमेयक–पृ० २०५।

३ जीव सन्नमूर्त कर्ता सूक्ष्मो ज्ञाता दृष्टाऽसख्यातदेशो भोक्ता परिणामी नित्य पृथिव्यादि भूतविलक्षण इति प्रधानवृत्त्या जीव स्वतत्वप्ररूपणायां गुणीभूता सुखादय।

न्यायकुमुदचन्द्र पृ० ७८९।

यद्वानैक गमो नैगम धर्मधर्मिणो. गुणप्रधानभावेन विषयीकरणात्। जीवगुण'सुखमित्यत्र जीवस्या प्राधान्यं, विशेषणत्वात् सुखस्य तु प्राधान्य विशेष्यत्वात्। सुखी जीव इत्यादौ तु जीवस्य प्राधान्य न सुखादेः विपर्ययात। प्रमेय कमल मा० पृ० २०५।

धर्मयो. धर्मिणो धर्मधर्मिणोश्च प्रधानोपसजनभावेन यद्विवक्षण स नैकगमो नैगम। सच्चैतन्यमात्मनि इति धर्मयोः, वस्तु पर्यायवद्द्रव्यमिति धर्मिणोः, क्षणमेक सुखी विषयासक्तजीव इति धर्मधर्मिणोः। प्रमाणनयतत्वालोकालकार सप्तम परिच्छेदः।

यद्वा नैक गमो योऽत्र सतत नैगमो मत। धर्मयोः धर्मिणो' वापि विवक्षा धर्मधर्मिणोः॥ श्लोक वार्तिक।

गुणप्रधानभावेन धर्मयोरेक धर्मिणि। विवक्षा नैगमाऽत्यन्त भेदोक्ति. स्यात्तदाकृति'॥ न्याय कुमु० पृ० ७८८

आत्मा के धर्म हैं " इस प्रकार के वक्तव्य मे सत् और चैतन्य दोनो धर्मों मे चैतन्य विशेष्य होने से प्रधान धर्म है और सत् विशेषण होने से गौण धर्म है। पर्यायवान द्रव्य को वस्तु कहते है इस प्रकार के कथन मे द्रव्य और वस्तु ये दो धर्मी हैं परन्तु यहा द्रव्य मुख्य एवं वस्तु गौण है। विषयासक्त जीव क्षणभर के लिये सुखी हो जाता है इस प्रकार की विवक्षा मे विषयासक्त जीवरूप धर्मी मुख्य और क्षणभर के लिये सुखी होना रूप धर्म गौण है। इस नैगम नय के भेद इस प्रकार हैं—मूल में द्रव्य नैगम, पर्याय नैगम एव द्रव्य पर्याय नैगम इस प्रकार इसके तीन भेद माने गये हैं फिर इन भेदो के भी भेद प्रभेद इस प्रकार से हैं—शुद्धद्रव्य नैगमनय और अशुद्ध द्रव्य नैगमनय इस तरह द्रव्य नैगमनय दो प्रकार है। पर्याय नैगननय ३ प्रकार का है—अर्थ पर्याय नैगमनय, व्यंजन पर्याय नैगम नय एवं अर्थ व्यंजन पर्याय नैगमनय। अर्थ पर्याय नैगमनय भी ३ तीन प्रकार है ज्ञानार्थ पर्याय ज्ञेयार्थ पर्याय तथा ज्ञानज्ञेयार्थ पर्याय। व्यंजन पर्याय नैगम ६ प्रकार का है—शब्द व्यजन पर्याय, समभिरूढ व्यंजन पर्याय, एवंभूत व्यंजन पर्याय, शब्दसमभिरूढ व्यंजनपर्याय शब्द एवभूत व्यंजन पर्याय, समभिरूढ एवभूत व्यजनपर्याय। अर्थव्यंजनपर्याय नैगम ३ प्रकार का है—ऋजु सूत्र शब्द, ऋजु सूत्र समभिरूढ, ऋजुसूत्र एवभूत। द्रव्यपर्याय नैगम आठ तरह का है—शुद्धद्रव्यऋजुसूत्र, शुद्ध द्रव्य शब्द, शुद्ध द्रव्य समभिरूढ शुद्ध द्रव्य एवं भूत, अशुद्ध द्रव्य ऋजुसूत्र, अशुद्ध द्रव्य शब्द, अशुद्ध द्रव्य समभिरूढ, अशुद्ध द्रव्य एवभूत।

इसी तरह पर्यायार्थिकनय के भेद ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ एवं एवंभूति ये चार नय हैं। पर्यायार्थिकनय की अशुद्ध प्रकृति ऋजुसूत्रनय है। क्योकि यह काल, कारक, लिङ्ग आदि के भेद से भी अपने पर्यायवाची शब्दो के वाच्यार्थ में भेद नहीं मानता है। पर्यायार्थिकनय की शुद्ध प्रकृति शब्द नय है क्योकि यह नय अपने पर्यायवाची शब्दों के वाच्यार्थ में काल, कारक, लिङ्ग, वचन, संख्या आदि के भेद से भेद मानता है। परन्तु समान लिङ्ग आदि वाले पर्यायवाची शब्दों के वाच्यार्थ मे भेद नही मानता है। पर्यायार्थिकनय की शुद्धतर प्रकृति समभिरूढ नय है क्योंकि यह समान लिङ्ग आदि वाले पर्यायवाची शब्दो के वाचयार्थ मे भी भेद मानता है। एवंभूत नय पर्यायार्थिक नय की अशुद्धतम प्रकृति है क्योकि यह शब्द की प्रवृत्ति में निमित्त भूत क्रिया विशिष्ट अर्थ को उस शब्द का वाच्यार्थ मानता है। इसकी दृष्टि मे इन्द्र परम

ऐश्वर्य का अनुभव करते समय ही इन्द्र शब्द का वाच्यार्थ होसकता है अन्य समय मे नही। जबकि समभिरूढ की दृष्टि में ऐसा नहीं है।

ये नय नैगम की अपेक्षा संग्रह, सग्रह की अपेक्षा व्यवहार, व्यवहार की अपेक्षा ऋजुसूत्र, ऋजुसूत्र की अपेक्षा शब्द, शब्द की अपेक्षा समभिरूढ एवं समभिरूढ की अपेक्षा एवंभूत सूक्ष्म सूक्ष्म विषय वाले है। जसे नैगम का विषय सामान्य विशेष है तब कि सग्रह नय का विषय केवल सामान्य है। संग्रह की अपेक्षा व्यवहार का विषय इसलिये अल्प है कि वह सग्रह से जाने हुये पदार्थो को विशेप रूप से जानता है। संग्रहनय केवल सामान्य को जानता है। व्यवहार-नय तीनो कालो के पदार्थों को विषय करता है तब कि ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान कालिक पदार्थों को जानता है शब्द-नय कालादिक के भेद से वर्तमान पर्याय को जानता है ओर ऋजुसूत्रनय कालादिक के भेद से उन्हे नही जानता है। समभिरूढनय इन्द्र शक्र आदि पर्यायवाची शब्दो को भी व्युत्पत्ति की अपेक्षा भिन्न २ मानता है परन्तु शब्दनय में यह सूक्ष्मता नही है। समभिरूढनय से जाने हुये पदार्थों में क्रिया के भेद से वस्तु में भेद मानना एवमूतनय है। जैसे सम-भिरूढनय की अपेक्षा पुरदर और शचिपति मे भेद होने पर भी नगरो को नाश करने की क्रिया न करने के समय पुर-न्दर शब्द इन्द्र के अर्थ मे प्रयुक्त होता है परन्तु इस नय की दृष्टि मे ऐसा नहीं होता है। तत्तद् शब्द की प्रवृति उस २ अर्थ में तभी प्रवृत हो सकती है कि जब उस शब्द का वह वाच्यार्थ उस २ प्रकार की क्रिया से युक्त हो रहा होगा। इस प्रकार इन नयोमे उत्तरोत्तर अल्प विपयता आती है। तथा पूर्व२ मे महाविपयता। एवभूत की अपेक्षा समभिरूढमे तथा समभिरूढ की अपेक्षा शब्द मे, शब्द की अपेक्षा ऋजुसूत्र आदि में महाविषयता है। इस प्रकार यह स्याद्वाद हेय और उपादेय का विशेषरीति से इन्हीं सब बातो को लेकर व्यवस्थापक माना गया है। इसके बिना तत्त्व की व्यवस्था नहीं बन सकती है।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च, ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥ १०५ ॥

अन्वय—सर्वतत्त्वप्रकाशने स्याद्वादकेवलज्ञाने साक्षात् असाक्षात् च भेद । अन्यतमंहि अवस्तु भवेत् ।

अर्थ—सर्वतत्वो का जिनसे प्रकाशन होता है ऐसे स्याद्वाद और केवलज्ञान हैं । इनमें प्रत्यक्ष और परोक्षकृत भेद है । इनसे अतिरिक्त ज्ञान अवस्तु स्वरूप है ।

भावार्थ—इस कारिका द्वारा कारिकाकार स्याद्वाद और केवलज्ञान मे समानता प्रदर्शित करते हैं–वे कहते हैं कि स्याद्वाद केवल ज्ञान की तरह समस्त तत्त्वों का प्रकाशक है । तथा ये दोनो हो प्रधान है कारण कि इन दोनो में परस्पर मे हेतुता रही हुई है । पूर्व सर्वज्ञ द्वारा द्योतित स्याद्वादरूप आगम से उत्तरकाल में होने वाले सर्वज्ञ के केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है फिर उस सर्वज्ञ से स्याद्वादरूप आगम का द्योतन होता है इस तरह सर्वज्ञ और आगम की यह सतति अनादि होने से इन दोनो की प्रधानता में बीजाङ्कुर की तरह अन्योन्याश्रय दोष नहीं आता है । यदि कोई यहां पर इस प्रकार की आशंका करे कि स्याद्वाद रूप आगम को सर्वतत्त्वप्रकाशक मानने पर " मतिश्रुतयोर्निबंधो द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु " इस सूत्र से विरोध आता है । क्योंकि इस सूत्र द्वारा उसका विषय द्रव्यो की कुछ पर्यायो को ही बतलाया गया है । सो ऐसी किसी की यह आशंका ठीक नहीं है कारण कि कारिकाकार ने जो श्रुत को सर्वतत्त्व प्रकाशक कहा है वह पर्याय की अपेक्षा नहीं कहा है किंतु जीवादिक सप्त तत्त्वरूप पदार्थों की अपेक्षा लेकर कहा है । जीव, अजीव, आस्रव, बध, संवर, निर्जरा एव मोक्ष ये सात तत्त्व है । इनका प्रतिपादक आगम है । अत इनके प्रतिपादन की अविशेषता होने से स्याद्वाद और केवलज्ञान में सर्वतत्त्व प्रकाशता के प्रति कोई विरोध नहीं आता है । जिस तरह स्याद्वाद रूप आगम दूसरों के लिये जीवादिक तत्त्वों का प्रतिपादन करता है उसी तरह केवलज्ञानी भी करते हैं । हां यदि इन दोनो में भेद है तो वह प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप अवस्था को लेकर के हैं । केवल ज्ञानी द्रव्यों की समस्त पर्यायों को युगपत् प्रत्यक्षरूप से जानते हैं जब कि श्रुतज्ञानी उन द्रव्यों को तथा उनकी कुछ पर्यायो को परोक्षरूप से जानते हैं । जिस प्रकार वे उनका वचन द्वारा प्रतिपादन करते हैं केवली भी इसी तरह से प्रतिपादन करते हैं । श्रुतज्ञानी जिस प्रकार प्रज्ञापनीय विशेषों को वचन द्वारा प्रतिपादन नहीं कर सकता है केवली भी इसी तरह वचन अगोचर विशेषों का प्रति-

पादन नहीं कर सकते १ है । इस तरह स्याद्वाद और केवलज्ञान में सर्वतत्त्व प्रकाशकता की अपेक्षा लेकर कोई भेद नहीं है । प्रत्यक्ष और परोक्षकृत ही भेद इन दोनो मे जानना चाहिये । प्रत्यक्ष और परोक्ष से बाहर कोई तीसरा ज्ञान नहीं है । जो है भी उनका अन्तर्भाव परोक्ष प्रमाण मे ही कर लेना चाहिये । स्वतत्रता में उनमें अवस्तुरूपता जाननी चाहिये ।

सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यात् अविरोधतः ।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यंजको नयः ॥ १०६ ॥

१० मो० ४५०

अन्वय—सधर्मणा एव साध्यस्य साधर्म्यात् अविरोधत स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यजकः नय ।

अर्थ—सपक्ष के साथ हो अपने साध्य के साधर्म्य से जो बिना किसी विरोध के श्रुतप्रमाणरूप स्याद्वाद द्वारा विषयीकृत अर्थ विशेष का व्यंजक होता है वह नय है ।

भावार्थ—नय हेतुवाद है और स्याद्वादरूप आगम अहेतुवाद हैं । इन दोनों से संस्कृत तत्त्वज्ञान ही युक्ति एवं शास्त्र से अविरुद्ध होता हुआ सुनिश्चित हैं नहीं सभव होने वाले बाधक प्रमाण जिसमें ऐसा होता । इस कारिका द्वारा नय का लक्षण प्रकट किया गया है । और उसे हेतु स्वरूप बतलाया है । क्योंकि जो हेतु का स्वरूप है वही नय का स्वरूप है । जो अपने साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखता है वही हेतु है । इससे यह फलित होता है कि पक्ष धर्मत्व आदि त्रिलक्षण एवं पचरूप हेतु के वस्तविक स्वरूप नहीं हैं । केवल एक अन्यथानुपपत्ति ही हेतु का निर्दोष वास्तविक लक्षण है । सुनय वह १ है कि जो अनन्तधर्म विशिष्ट वस्तु में से किसी एक धर्म को ग्रहण करनेवाला,

---

१ पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो दु अणभिलप्पाण ।
पण्णवणिज्जाण पुण, अणतभागो सुदणिबद्धो ॥ —गोमट्टसार जीवकाड ।

१ अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाण, तदशधी ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी, दुर्णयस्तन्निराकृति ॥

नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्य अर्थस्य अ शस्तदितरांशौदासीन्यत स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय इति । स्वाभिप्रेतादशादितराशापलापी पुनर्नयाभासः । स्याद्वाद म० पृ–३१६ ।

वक्ता का अभिप्राय है। इस नय द्वारा इतर अंशो का अपलाप नहीं किया जाता है किन्तु उनमे उदासीनता ही धारण की जाती है। इतर अंशो का अ लाप करने वाला ौर अपने ही गृहीत अंश की पुष्टि करने वाला दुर्नय कहा गया है। इस तरह सुनय और हेतु का एक ही लक्षण जानना चाहिये। कारण कि जिस प्रकार नय स्याद्वाद प्रविभक्त अर्थ का विशेष द्वारा व्यजक होता है। इसी तरह हेतु भी ऐसा ही होता है। हेतु के साध्य का साधर्म्य सपक्ष से ही लिया जाता है विपक्ष से नही। इस कारिका से ऐसा अभिप्राय समझा हूं. (और भी यदि कोई अभिप्राय हो तो विशेषज्ञ जानें)

नयोपनयैकान्तानां, त्रिकालानां समुच्चयः ।
अविभ्राट् भावसंबंधो, द्रव्यमेकमनेकधा ॥ १०७ ॥

अन्वय——अविभ्राट् भावसबध, त्रिकालानां नयोपनयैकान्तानां समुच्चयः द्रव्यम् एकं अनेकधा (च)।

अर्थ——कथंचित् अविश्वक्भावसम्बन्ध स्वरूप जो त्रिकालविषयक नयोपनयों के एकान्तो का समुच्चय है वही द्रव्य है और वह द्रव्य एक भी है और अनेक भी है।

भावार्थ–वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाला वक्ता का अभिप्राय विशेष सो नय है। नय द्रव्य और पर्याय के भेदसे अनेक है। नय की शाखा प्रतिशाखा स्वरूप उपनय हैं। अनन्त धर्मविशिष्ट वस्तु के १।१ धर्मको ही ग्रहण करना यही इनका एकान्त है। त्रिकालवर्ती इन नय और उपनयो का विषयभूत जो पर्याय विशेषों का समुदाय है वह द्रव्य है। यह एकानेक स्वरूप वस्तु है। रह समुदाय कथचित् अविष्वग् भावसंबधरूप कहा गया है।

मिथ्यासमूहो मिथ्याचेन्न, मिथ्यैकान्तताऽस्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत् ॥ १०८ ॥

अन्वय——मिथ्यासमूहो मिथ्या चेत् (तर्हि) मिथ्यैकान्तता नः न। निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षाः ते वस्तु

अर्थकृत् ।

अर्थ---मिथ्याभूत एकान्तों का समुदाय यदि मिथ्या है तो वह मिथ्या एकान्तता हमारे यहां नहीं [1] है । निरपेक्ष नय मिथ्या हैं । सापेक्ष नय वस्तु हैं तथा वे ही अर्थ क्रियाकारी हैं ।

भावार्थ---यहां पर किसी की ऐसी आशंका है कि जब आप एकान्त को मिथ्या मानते हैं तो नय और उपनयों के एकान्तो को जो समुदाय रूप द्रव्य है उसे भी मिथ्या मानना चाहिये । क्योंकि जैसे विष की एक कणिका विषस्वरूप मानी जाती है तो उसी प्रकार उसका समुदाय भी विष ही माना जायगा अविष नहीं । जब स्वतंत्र एक २ नय का एकान्त मिथ्या है तो इनका समुदाय रूप द्रव्य भी मिथ्या क्यो नहीं होगा । इस प्रकार की आशंका का समाधान करते हुए कारिकाकार कहते हैं कि इस प्रकार की आशंका ठीक नहीं है कारण कि मिथ्याभूत नयों के एकान्तो का समुदाय मिथ्या ही होता है यह तो हम भी मानते हैं । परन्तु हम स्याद्वादियों ने जिन नय और उपनयों के एकान्तों के समूह को द्रव्य माना है वे नय मिथ्या नही हैं । नय मिथ्या वे ही होते हैं जो निरपेक्ष होते हैं इतर धर्म के अपलापक होते हैं। परन्तु जो सापेक्ष होते हैं--दूसरे इतर धर्मों की भी उपेक्षा रखते हैं--वे सम्यग्नय होते हैं । वे ही वस्तु स्वरूप हैं और न इनसे ही अर्थ क्रिया सधती है । अतः ऐसे नय उपनयो के एकान्तों का समुदाय मिथ्या नहीं होता है ।

आ० मी० ७५२

नियम्यतेऽर्थो वाक्येन विधिना वारणेन वा ।
तथाऽन्यथा च सोऽवश्यमविशेष्यत्वमन्यथा ॥ १०६ ॥

अन्वय---स तथा अन्यथा च अवश्यं (अस्ति अतः) अर्थः विधिना वारणेन वा वाक्येन नियम्यते । अन्यथा अविशेष्यत्वं (स्यात्) ।

---

१ मिथ्याभूत एकान्तों का समुदाय यदि मिथ्या है तो हम स्याद्वादियों द्वारा मान्य एकान्तता मिथ्या नही है ऐसा भी अर्थ हो सकता है ।

अर्थ—अर्थतत्त्व विधि एव निषेध प्रकार से अवश्य समर्थित हुआ है इसीलिये वह अर्थ तत्त्व विधिरूप वाक्य द्वारा अथवा निषेधरूप वाक्य द्वारा नियमित किया जाता है। इससे भिन्न प्रकार की मान्यता मे उसमें विशेष्यता नहीं आ सकती है।

भावार्थ—किसी की इस प्रकार की आशंका है कि जब अर्थ तत्त्व अनेकान्तात्मक है तो विवक्षित वाक्य से वह नियमित कैसे हो सकता है कि जिससे प्रतिनियत विषय मे लोक की प्रवृत्ति हो सके सो इस आशंका का समाधान कारिकाकार इस कारिका द्वारा दे रहे हैं-वे कहते हैं कि "यत्सत्तत्सर्वमनेकान्तात्मकं अर्थक्रियाकारित्वात्" जो सत्स्वरूप वस्तु है वह सब अर्थ कियाकारी होने से अनेकात्मक है। यह विधि वाक्य है। तथा "न किंचिदेकान्तं वस्तुतत्त्वं सर्वथा तदर्थ क्रियाऽसंभवात्" कोई भी वस्तु तत्त्व एकान्त रूप से युक्त नही है क्योकि उसमें अर्थक्रियाकारिता नहीं बनती है यह निषेधरूप वाक्य है। सो विधिरूप वाक्य से अथवा निषेध रूप वाक्य से जब २ अर्थ तत्त्व उन २ धर्मों द्वारा नियमित किया जाता है तब २ वह अर्थतत्त्व प्रधान गौणभाव से उन २ धर्मों द्वारा अन्वित था सो किया जाता है। जब "स्यात् अस्ति घट" ऐसा वाक्य बोला जाता है अर्थात् जब इस अस्तित्वमुखेन वाक्य से उस अर्थ तत्त्व को अस्तित्व धर्म से नियमित करते है तब उस अर्थ तत्त्व में पहिले से रहा हुआ नास्तित्व धर्म गौण हो जाता है। इसी तरह जब यह कहा जाता है कि 'स्यात् नास्ति घट' तब इस वाक्य द्वारा नास्तित्व धर्म मुख्य हो जाता है और रहा हुआ अस्तित्व धर्म गौण हो जाता है। वाक्य के साथ लगा हुआ स्यात् १ पद ही इस बात को प्रदर्शित करता है कि वस्तु अनेक धर्मात्मक है फिर भी जो धर्म इस समय बोला जा रहा है वह यहां प्रधान है शेष गौण हैं।

यदि ऐसा न माना जाय-अर्थात् एक धर्म विशिष्ट ही सर्वथा वस्तु तत्त्व माना जाय तो विधि के बिना नास्ति-

---

१ वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तवकेवलिनामपि ॥ ६०३ ॥
इस कारिका मे यह बात विशेष खुलासा रूप से प्रदर्शित की गई है।

त्व और नास्तित्व के बिना विधि सभवित नहीं हो सकने के कारण अपने इन विशेपणों के अभाव में वस्तु तत्व में विशेष्यता नहीं आ सकती है कारण कि प्रतिषेध रहित केवल विधि मे और विधि रहित केवल प्रतिषेध में विशेपणता का निराकरण किया गया है। परस्पर सापेक्षता मे ही इनमें विशेपणता समर्थित हुई है। अतः इन विशेपणों के अभाव में खपुष्प की तरह अर्थतत्त्व माना जायगा। अतः सत् असत् आदि वाक्यों मे विधि प्रतिषेध की गौण प्रधानभाव से वृत्ति रही हुई है इसीलिये वह उन २ वाक्यो द्वारा उन २ धर्मों से नियमित कराया जाता है और इसी तरह से लोको की उस २ धर्म विशिष्ट पदार्थ मे प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार इस कारिका का यह संक्षिप्त अर्थ है।

तदतद्वस्तुवागेषा तदेवेत्यनुशासती।
न सत्या स्यान्मृषावाक्यैः कथं तत्त्वार्थदेशना ॥ ११० ॥

अन्वय — तदतद्वस्तुवाक् तदेवेति अनुशासती एषा सत्या न, मृषा वाक्यै तत्वार्थदेशना कथं स्यात्।

अर्थ — तत् अतत् स्वभाववाली वस्तु है-और इसी स्वभाववाली वस्तु का प्रतिपादन वाक्य करता है। जब इस प्रकार की व्यवस्था है तब ऐसा कहना कि वचन विधि स्वरूप का ही प्रतिपादन करता है सर्वथा झूठ है। ऐसे मृषा वचनो से तत्त्वार्थदेशना कैसे हो सकती है ?

भावार्थ — इस कारिका द्वारा कारिकाकार " जो कोई ऐसा कहता है कि वाक्य केवल विधि रूप विशिष्ट अर्थ तत्त्व का नियम कराता है अन्य धर्म विशिष्ट अर्थ तत्व का नहीं " इस विषय का उत्तर दे रहे हैं-वे कहते हैं वस्तु स्वयं प्रत्यक्षादि प्रमाण की विषयभूत हुई अनेक विरुद्ध धर्मों से अध्यासित हो रही है। ये अनेक विरुद्ध धर्म वहा परस्पर मे बिना किसी विरोध के रहते हैं। तब ऐसा कहना कि वस्तु तत्स्वरूप ही है अतत्स्वरूप नहीं (अथवा अतत्स्वरूप ही है तत्स्वरूप नहीं) यह उचित नहीं है। कारण कि इस प्रकार की मान्यता एकान्त मान्यता है। सो इस प्रकार का एकान्त मान्यता वस्तु विचारको की दृष्टि मे जचती नही है। क्योंकि " विरुद्धमपि संसिद्धं तदतद्रूपवेदनं यदीदं स्वय-

मर्थेभ्यो रोचते तत्र के वयम्" यह तदतद्रूपता पदार्थों को जब स्वयं रुचती है तब किसी का इसमें क्या वश है। अतः जब वस्तु स्वयं तदतत् अनेक विरुद्ध स्वभावो से विशिष्ट हो रही है तब सर्वथा किसी एक स्वभाव विशिष्ट वस्तु को प्रतिपादन करने वाला वाक्य मिथ्या ही कहा जायगा । दूसरे वस्तु एकान्ततः विधि स्वरूप ही है इस प्रकार विधि के एकान्त में प्रतिषेधैकान्त का अभाव कथित भी नहीं हो सकता है यदि प्रतिषेध का अभाव उससे कथित होता है तो विधि वाक्य से विधि के एकान्तत· कथित होने मे विरोध आता है। कारण कि प्रतिषेध का अभाव भी इस वाक्य द्वारा कहा हो जाता है। मतलब कहने का केवल इतना ही है कि वाक्य केवल एक तत्स्वरूप विशिष्ट वस्तु का ही प्रतिपादन नहीं करता है। किन्तु अनेक धर्मात्मक-तत् अतत् आदि कनेक धर्म विशिष्ट वस्तु स्वरूप का मुख्य गौणरूप से प्रतिपादन करता है। ऐसे ही वाक्यो द्वारा तत्त्वार्थ की देशना निर्दुष्ट होती है। मिथ्या वाक्यो द्वारा नहीं।

वाक्स्वभावोऽन्यवागर्थप्रतिषेधनिरङ्कुशः ।
आह च स्वार्थसामान्यं तादृग् वाच्यं खपुष्पवत् ॥ १११ ॥

अन्वय—अन्यवागर्थप्रतिषेधनिरङ्कुशः वाक्यस्वभाव स्वार्थसामान्य च आह। तादृग् वाच्य खपुष्पवदस्ति।

अर्थ—अन्य वचन के प्रतिपाद्य अर्थ के प्रतिषेध करने में निरङ्कुश होना और अपने स्वार्थ सामान्य का प्रतिपादन करना यह वचन का स्वभाव है। केवल निषेध मुख से ही वचन अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है सो ऐसा कथन ठीक नहीं है। कारण कि इस प्रकार का वाच्य खपुष्प के समान असत् माना गया है।

भावार्थ—बौद्धो की ऐसी मान्यता है कि वचन निषेधमुख से ही अपने अर्थ का प्रतिपादन करता है। निषेध मुख से अर्थ का प्रतिपादन होना ही अन्य व्यावृत्ति है। इसका दूसरा नाम अपोह भी है। घट शब्द कम्बुग्रीवादिमात्रूप अर्थ को न कहकर जो अघटव्यावृत्ति का प्रतिपादन करता है यही अन्य व्यावृत्ति रूप उसका वाच्यार्थ है। इस बात का इस कारिका द्वारा समाधान करते हुए कारिकाकार कहते है कि यह मान्यता ठीक नही है कारण कि वचन का यह

स्वभाव है कि वह स्वार्थ सामान्य का प्रतिपादन करता हुआ बिना किसी रोक टोक के अन्य वचन के प्रतिपाद्य विषय का वहांपर निराकरण करता है। शब्द का वाच्य अपोह है सो यह कथन युक्ति संगत नहीं है इस विषय को पीछे स्पष्ट किया जा चुका है। यदि यह स्वभाव वचन का न माना जाय और केवल अन्यापोह ही उसका वाच्यार्थ माना जाय तो स्वार्थ सामान्य के प्रतिपादन के अभाव में वह अन्य का निराकरण ही नहीं कर सकता है। तथा उसमे स्वार्थ सामान्य का प्रतिपादन करना तथा अन्य वचन के अर्थ का निराकरण करना इन दोनों बातो में से यदि एक भी बात की न्यूनता हो तो वह वचन अनुक्त सम ही माना जायगा क्योंकि ऐसे वचन से किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकती है। वचन की सफलता तो इसी में निहित है कि उससे अपने अर्थ की प्रतिपत्ति एवं अन्य के अर्थ का वहां अभाव लक्षित होता है। जो वाच्यार्थ " ऐसा है ऐसा नहीं है " इस रूप से यदि प्रतीत नहीं होता है तो वह कूर्मरोमादिक की तरह असत् स्वरूप ही माना जाता है। पदार्थ सामान्य विशेषात्मक होता है जब यह बात प्रबल प्रमाणों द्वारा पुष्ट की जा चुकी है तो यह मानने में कोई आपत्ति नहीं है कि सामान्य विशेष के बिना और विशेष सामान्य के बिना क्वचिदपि उपलब्ध नहीं होता है। अत वचन से सामान्य विशेषात्मक पदार्थ का बोध होता है यही मान्यता ठीक है। शब्द से अपोह की प्राप्ति आदि कुछ नहीं होती है-फिर भी उसे उसका अर्थ मानना स्वपर को व्यामोह में डालना है। अतः गौणप्रधान भाव से विधि निषेध मुख द्वारा ही अनेकांतात्मक वस्तुतत्त्व विधिनिषेध रूप वाक्य से तत्तद्धर्म विशिष्ट प्रतिनियमित होता है यही मान्यता अबाध है। वाक्य से न स्वतन्त्र विधि एकांत का विधान होता है और निषेध एकान्त का। किन्तु कथंचित् उभय का विधान होता।

सामान्यवाग् विशेषे चेन्न शब्दार्था मृषा हि सा।
अभिप्रेतविशेषाप्तेः स्यात्कारः सत्यलाञ्छनः ॥ ११२ ॥

अन्वय—सामान्यवाग् विशेषे शब्दार्था न चेत् सा मृषा हि। अभिप्रेतविशेषाप्तेः सत्यलाञ्छन. स्यात्कार।

अर्थ—सामान्यवाणी विशेष मे शब्दार्थ वाली नहीं है यदि यही बात मानी जाय तो उस सामान्य वाणी को

झूठी ही मानना पडेगा। अभिप्रेत विशेष की प्राप्ति का सत्यचिह्न स्यात्कार है।

भावार्थ——बौद्धो की ऐसी मान्यता है कि शब्द अन्यापोह रूप अर्थ को ही कहता है। यद्यपि अन्यापोह शब्द का अर्थ नहीं है किन्तु सामान्यविशेषात्मक पदार्थ ही शब्द का वाच्य है यह बात संक्षेप से १११ वीं कारिका द्वारा कारिकाकार ने स्पष्ट करदी है फिर भी आग्रहवश यदि बौद्ध ऐसा ही कहता है कि नहीं अन्यापोह ही शब्द का अर्थ है तो इस पर उससे पूछा जाता है कि अन्यापोह क्या है ? क्या अन्यव्यावृत्ति अन्यापोह है कि अन्यापोह रूप से जो विकल्प

आ० उठता है वह अन्यापोह है ? यदि सामान्य शब्द का वाच्यार्थ केवल अपोह—अन्य से व्यावृत्ति-ही माना जाय तो ऐसी

मी० स्थिति में जब कि वह अभाव का-अन्य व्यावृत्ति रूप अभाव का-तो प्रतिपादन करता है और भाव-पदार्थ का प्रतिपादन

४५७ नहीं करता है उस शब्द के उच्चारण की सार्थकता ही क्या रह जाती है क्योकि वह तो अनुक्त शब्द के समान ही हो गया। अनुक्त शब्द से जैसे अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है—प्रतिपादन नहीं होता है उसी प्रकार उक्त शब्द से भी यह सब नही होता है। फिर उक्त और अनुक्त शब्द मे अन्तर ही क्या रहता है। यदि कहो कि अन्यापोह रूप से जो विकल्प उठता है वह अपोह है सो ऐसा कहना भी उचित नही है। कारण कि इस प्रकार के विकल्प का उत्पादक तो मिथ्या विकल्परूप अभिनिवेश ही है। अत शब्द का अर्थ अन्यापोह सिद्ध नहीं होता है। फिर भी शब्द का अर्थ यदि अन्यापोह माना जायगा तो उसमें प्रवर्तमान शब्द मिथ्या क्यों नहीं माना जायगा। इसलिये सामान्य वचन सामान्य १ और गम्यमान विशेष इन दोनों का प्रतिपादन करता है। सामान्य वचन मुख्यतया अपने अभिधेय-सामान्य का प्रतिपादन करते समय वक्ता के अभिप्राय में स्थित गम्यमान विशेष का भी स्यात्पद के सम्बन्ध से प्रतिपादन करता है। इसी अभिप्रेत विशेष को बतलाने वाला यह स्यात्शब्द वाक्य में प्रयुक्त किया जाता है।

---

१ अनेकमेक च पदस्य वाच्य, वृक्षा इति प्रत्ययवत्प्रकृत्या।
आकांक्षिणः स्यादिति वै निपातो, गुणानपेक्षेऽनियमेऽपवादः ॥

—स्वयम्भूस्तोत्र पुष्पदन्तस्तवन ४४ वां श्लोक।

विधेयमीप्सितार्थाङ्गं प्रतिषेध्याविरोधि यत् ।
तथैवादेयहेयत्वमिति स्याद्वादसंस्थितिः ॥ ११३ ॥

अन्वय–यत् विधेयम् (तत्) प्रतिषेध्याविरोधि ईप्सितार्थाङ्गम् । तथैव आदेय हेयत्वम् । इति स्याद्वादसंस्थितिः ।

अर्थ—जो विधेय होता है वह नास्तित्व आदि प्रतिषेध्यों के साथ विरोध रहित होता है । और इसी से वह ईप्सित अर्थ का अगभूत होता है । ऐसे ही आदेयत्व एव हेयत्व हैं । इस तरह यह स्याद्वाद की सम्यक् स्थिति है ।

भावार्थ-इस कारिका द्वारा कारिकाकार स्याद्वाद हो सत्यार्थ है, अन्यवाद नहीं, क्योकि वही उनकी अपेक्षा अतिशय स्वरूप पाता है यह स्पष्ट घोषित करते हैं । इसमे वे बतलाते हैं कि स्याद्वाद में ही सप्तभगी प्रक्रिया का आश्रय होने से अस्तित्व आदि विधेय अपने विरोधि-प्रतिषेध्यो के साथ भी विरोध नही रखते हैं । यदि परस्पर मे ये विरोधी होवें तो इनमें किसी की भी स्वतत्र सत्ता कायम नहीं रहती है और न विधेय स्वयं ईप्सित अर्थ का अंगभूत हो सकता है । विधि और प्रतिषेध का अन्योन्य में स्वार्थज्ञान की तरह अविनाभाव समर्थित हुआ है । अर्थात् जैसे ज्ञान में अपने आपको जाने बिना अर्थपरिच्छेदकता नहीं आती है । यह अर्थपरिच्छेदकता उसमें स्वसविदित अवस्था में ही आती है—घट ज्ञान जब तक स्वसंवेदी न होगा तब तक वह घट को नही जान सकता, नहीं तो घटादि पदार्थोंमे भी अन्यपदार्थोंको जानने का प्रसंग प्राप्त होता है-अत. ज्ञानमें अर्थपरिच्छेदकता स्वसंविदित अवस्थाके आधीन है और पदार्थमें परिच्छेद्यता स्वसविदित स्वज्ञानके आधीन है । अत जिस प्रकार स्वज्ञान और अर्थज्ञानमे परस्पर अविनाभाव सम्बन्ध है उसी प्रकार अस्तित्व एवं नास्तित्त्व में भी परस्पर में अविनाभाव सबन्ध है । जब यह बात है तो फिर एक दूसरे के विरोधी ये कैसे हो सकते हैं, नहीं हो सकते हैं । वक्ता जिसे अपनी स्वतत्र इच्छा से अभिप्रेत कर साध्यकोटि में रखता है वही विधेय होता है अन्य नहीं क्योंकि अभिप्रेत करके उसी का विधान होता है । राजा आदि के भय से अनभिप्रेत का भी यदि विधान कर दिया जाय तो वह विधेय कोटि मे नहीं आता है । इसी तरह जो अभिप्रेत तो हो पर उसका विधान नहीं किया गया हो तो वह भी विधेय नहीं माना गया है । फलितार्थ इसका इतना ही है कि वक्ता द्वारा अभिप्रेत होकर जिसका विधान किया

जाना है वही विधेय है । "घटोऽस्ति" यहां पर घटरूप उद्देश्य मे अस्तित्व विधेय है क्योंकि वक्ता को अपनी स्वतंत्र इच्छा से वह विधेय है—साध्य है । परन्तु यह विधेय नास्तित्व आदि प्रतिपक्षी धर्मों के साथ विरोध रखने वाला नही है । इसीलिये यह किसी अपेक्षा घट को अस्तित्व विशिष्ट साध्य करना रूप जो अर्थ है उसका अगभूत हुआ है नहीं तो नहीं हो सकता । कारण कि जब इनका परस्पर में विरोध माना जायगा तो अस्तित्व के रहने के स्थानमें उसका विरोधी वहां रह नहीं सकेगा-ऐसी हालत मे सर्वात्मना घट मे अस्तित्व मानने का प्रसग प्राप्त होगा-तथा च घट जिस प्रकार स्वात्मना अस्तित्व विशिष्ट हैं उसी प्रकार परात्मना भी वह अस्तित्व विशिष्ट माना जायगा-तब तो "चोदितो दधि खादेति किं मुष्ट्र नाभिधावति" किसी को दधि खानेके लिये कहने पर वह ऊंट को भी खानेके लिये दौड़ जायगा क्योंकि दध्यात्मना ऊंट का जो अस्तित्व है । अत इस दोष की निवृत्ति के लिये मानना यही चाहिये कि अस्तित्वादि विधेय अपने प्रतिषेध्यो के साथ अविरोधी होते है । इसीलिये घट में अस्तित्वादिक विशेष जो विधेय हुए है वे स्वात्मना ही विधेय हुए हैं, प्रतिषेध्य पटादि को अपेक्षासे विधेय नहीं हुए हैं । अत वे वहा कथंचित् विधेय हैं यह बात माननी चाहिये ।

इसी तरह जो प्रतिषेध्य धर्म है वह विधेय की अपेक्षा से ही प्रतिषेध्य है, प्रतिषेध्य की अपेक्षा से प्रतिषेध्य नहीं है । अत इस तरह प्रतिषेध्य भी कथंचित् प्रतिषेध्य है और कथंचित् अप्रतिषेध्य है । इसी प्रकार जीवादिक पदार्थ भी कथंचित् विधेय और कथंचित् प्रतिषेध्य है । इस प्रकार विधेय एवं प्रतिषेध्य के ऊपर सप्तभंगी प्रक्रिया के आश्रय से स्याद्वाद की स्थिति युक्ति और शास्त्र से अविरुद्ध सिद्ध होती है । इसी तरह आदेय एवं हेयत्व भी प्रतिषेध्याविरोधी माने गये हैं । अर्थात् विधेय के एकान्त मे हेयत्व का विरोध आता है । जब वस्तुमें कथंचित् विधेय एव प्रतिषेध्यस्वरूपता मानी जाती है तो विधेय की अपेक्षा वहा आदेयता एवं प्रतिषेध्य की अपेक्षा वहा हेयता सिद्ध हो हो जाती है । इस तरह आदेयत्व एवं हेयत्व ये भी परस्पराविनाभावी है यहबात पुष्ट होती है । इस तरह परस्पर विरोधी धर्मोंका किसी अपेक्षा से एकत्र समन्वय होना यही स्याद्वाद की सम्यक् स्थिति है । फलितार्थ इसका केवल इतना ही है कि अस्तित्वादि विशेष जो विधेय होते हैं वे वक्ता की किसी विशेष दृष्टि से ही होते हैं एव नास्तित्वादि जो प्रतिषेध्य है वे भी किसी विशेष

दृष्टिसे होते हैं । अतः विधेय प्रतिषेध्याविनाभावी और प्रतिषेध्य विधेयाविनाभावी बनता है । इन्हीं दोनों को लेकर वस्तु मे आदेयता एवं हेयता सधती है । इन्हीं परस्पर विरोधी धर्मों के समन्वय का नाम स्याद्वाद है । इस स्याद्वाद का ही उपदेश आप वीतराग प्रभु ने दिया है अतः हे नाथ ! युक्ति और शास्त्र से अविरोधी वचन वाले होने के कारण आप ही निर्दोष हैं । अन्य एकान्तवादी नही ।

इतीयमाप्तमीमांसा विहिता हितमिच्छताम् ।
सम्यग्मिथ्योपदेशार्थ–विशेषप्रतिपत्तये ॥ ११४ ॥

अन्वय—हितमिच्छताम् सम्यग्मिथ्योपदेशार्थविशेषप्रतिपत्तये इति इयं आप्तमीमांसा विहिता ।

अर्थ—हित की चाहना करने वाले भव्य जीवो को सम्यग्उपदेश एवं मिथ्या उपदेश में अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति के लिये-निमित्त-दश परिच्छेदों वाली यह आप्तमीमांसा-मैंने बनाई है ।

विशेषार्थ—इस अन्तिम कारिका द्वारा कारिकाकार आप्तमीमांसा के निर्माण करने का अपना प्रयोजन प्रदर्शित कर रहे हैं । वे कह रहे हैं कि यह आप्तमीमांसा जो मैंने बनाई है-रची-है कि जिसमें सर्वज्ञ विशेष का परीक्षण किया गया है सो उसके रचने का मेरा केवल यही उद्देश्य है कि अपने हित के अभिलाषी भव्यजन (इसके पठन पाठन द्वारा) यह समझ सकें कि यह सम्यग् उपदेश है और यह मिथ्या उपदेश है । "जैसे सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" इस प्रकार का उपदेश सच्चा उपदेश है । कारण कि यह पहिले समर्थित किया जा चुका है कि सम्यग्दर्शनादिक तीन में से यदि किसी एक की कमी रहती है तो मुक्ति की प्राप्ति नही हो सकती है । तथा-" ज्ञानेन चापवर्गः " ऐसा जो उपदेश है वह मिथ्या उपदेश है । क्योंकि यह प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से विरुद्ध पड़ता है । सम्यक् उपदेश सत्यार्थ विषय वाला एवं मिथ्या उपदेश असत्यार्थ विषयवाला होता है इत्यादि-ऐसा जो सम्यग् उपदेश एवं मिथ्या उपदेश का रूप है यही इनका अर्थ विशेष हैं । एव सत्यार्थ विषयवाला उपादेय एवं असत्यार्थ विषयवाला हेय है यही यहां इस अर्थ

विशेष की प्रतिपत्ति है। सो इस सम्यक् एव मिथ्या उपदेश के अर्थ विशेष की प्रतिपत्ति के निमित्त यह आप्त मीमांसा कि जिसमे १० परिच्छेद हैं मैंने (समन्द्र भद्र ने) रची है हित शब्द से मोक्ष के कारण सम्यग्दर्शनादिको का ग्रहण हुआ है कारण कि हित स्वरूपता प्रधानतया तो मुक्ति मे ही है। तथा सम्यग्दर्शन आदिको मे जो हितस्वरूपता है वह उसके कारण होने से है। इस हित के अभिलाषी केवल भव्य जीव ही होते है अभव्य नहीं। अतः इन भव्यो के लिये सम्यग्-मिथ्या उपदेश के अर्थविशेष की प्रतिपत्ति हो जाय इस अभिप्राय से यह ग्रंथ रचा गया है। इस प्रकार शास्त्र के आरंभ में मोक्ष मार्ग के प्रणेता रूप से कर्म रूप पर्वतो के भेत्तारूप से एव विश्वतत्त्वो के ज्ञातारूप से जो आप्त का स्तवन किया गया है सो ऐसे आप्त सर्वज्ञ अरहन्त परमातमा ही हैं अन्य नहीं। इस तरह अन्ययोगव्यवच्छेद द्वारा इन विशेषणों का जो उनमें ही व्यवस्थापन किया गया है सो यही आप्तपरीक्षा स्वरूप आप्तमीमांसा है। ऐसा अभिप्राय आचार्यवर्य स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपना इस अन्तिम कारिका द्वारा प्रदर्शित किया है।

अंतिम मङ्गलाचरण

जयति[1] जगति क्लेशावेशप्रपञ्चहिमांशुमान् ,
विहतविषमैकान्तध्वान्तप्रमाणनयांशुमान् ।
यतिपतिरजो यस्याधृष्यान्मताम्बुधेर्लवान् ,
स्वमतमतयस्तीर्थ्या नानापरे समुपासते ॥

जिस प्रभु के आगम रूपी समुद्र के अधृष्य कणो की एक एक धर्म की-अपने २ मत में आसक्तमति वाले सुगतादिक अन्यतीर्थिक जन अपनी२ मान्यताओ के अनुसार उपासना करते हैं-उस ही एक २ धर्म की एकांत रूप से प्ररूपणा करते है-ऐसे वे जन्म जरा एव मरण से सर्वथा विहीन जिनेन्द्रदेव जो क्लेश के प्रपञ्चरूप हिम के लिये आदित्य स्वरूप

१ यह मगलाचरण अष्ट सहस्री के रचयिता का है

है तथा विषम एकांतरूप अन्धकार को नष्ट करने वाले प्रमाण एव नयरूप किरणमाला से मंडित हैं, सदा जगत में जयवन्त वर्तें।

संस्कृत हर्षसूरि प्रबन्ध काव्य के कर्त्ता, पूर्वार्ध षोडशक प्रकरण की पंद्रह हजार श्लोकप्रमाण सस्कृतटीका के निर्माता एवं युक्त्यनुशासन १ आदि अनेक ग्रंथो के हिन्दी-अनुवादक मालथौननिवासी (पं०) मूलचंद जैन शास्त्री श्रीमहावीरजी द्वारा विरचित यह हिन्दी आप्तमीमांसानुवाद समाप्त हुआ।

दशमोऽय परिच्छेद समाप्तोऽभूदनूदितः।
शास्त्रिणा मूलचन्द्रेण यथाबुद्धि सुचेतसा ॥ १ ॥
नित्य चेतसि सस्थितेन गुरुदेवोपग्रहेणोदित, तद्भवत्यङ्कुशसावधानमनसा सामन्तभद्रं वच. ।
विद्यानन्दमहोदयैर्विशदितं सम्यक् प्रबुद्धयाप्तमी—मांसोक्तं तदहं यथामति चकार स्पष्टमित्थं च तत् ॥ २ ॥
समन्तभद्रेण विनिर्मिताया जातोऽनुवादः परिपूर्णमस्या ।
सुचित्तवित्ता 'परिशोधयन्तु दोषान् समस्तानुदितान् प्रमादात् ॥ ३ ॥
गंगोत्तुङ्गतरङ्गसङ्गिसलिल प्रान्तस्थिते विश्रुते, श्रीस्याद्वादपदाङ्किते भुवि जनैर्मान्येसु विद्यालये ।
अम्बादासगुरोर्निपीय नितरां सत्तार्कविद्यां पराम्, पीतोद्गार इवास्ति मेऽयमनुवादोऽस्या विजानन्त्विति ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयमनुवादः

---

१ ये सभी ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

अनुवादकपरिचयसप्तत्रिंशत्का

निर्वाहचिन्तया मे दिवानिशं बाध्यमानया बुद्ध्या, विहितेऽस्मिन्ननुवादे भवेत् त्रुटिःकापि संशोध्या ॥१॥
नवाधिकद्विसहस्रे विक्रमाब्दे मया कृतः गतो हिन्द्यनुवादोऽय श्रावणे मासि पूर्णताम् ॥२॥
यद्भक्त्येद मयाऽऽरब्ध कार्यं जात समाप्तिमत्, नमामि मङ्गलार्थं त वीर स्याद्वाददेशिनम् ॥३॥
समन्तभद्रो भुवि वर्धमानः स्याद्वादविद्याधिगमोऽकलङ्कः, यस्योपदेशान् परिपीय विद्यानन्द स्थितो भव्यजनान्तरङ्गे ।
कष्टसहस्रो सोढ्वा समा कियत्यो यदङ्घ्रिमासाद्य, अष्टसहस्री काश्या पठिता स्मर्यते गुरुः सोऽपि ॥५॥
गङ्गोत्तुङ्गतरङ्गसङ्गिसलिलप्रान्तस्थितो विश्रुतः, श्री स्याद्वादपदाङ्कितो भुविजनैर्मान्योऽस्ति विद्यालयः ।
तत्राह ह्यपठं स्वकीयविषये पारङ्गतैः सत्प्रभैः विद्वद्भिर्भरिते गणेशगुरुणा संस्थापिते वर्णिना ॥६॥
गुरुवर्याम्बादासानुकम्पयैवास्मि लब्धबोधोऽहम्, अज्ञतरो मूलेन्दुः सर्वं श्रेयस्तमाश्रयतु ॥७॥
ज्ञास्यन्ति ते किं नु परिश्रमं मे दोषेक्षणाकृत्यनिबद्धकक्षाः रविप्रकाशो भवतीति कीदृग् जानंति नो —
सत्यमुलूकपोता ॥८॥

सागरमण्डलाधीनो विद्वन्मडलमण्डित । मालथौनाभिधो ग्रामो रम्योऽस्ति जनसंकुलः ॥९॥
तत्रास्मि लब्धजन्माऽहं परवारकुलोद्भवः सल्लो माता पिता मेश्रीसटोलेलालनामकः ॥१०॥
मदेकपुत्रादभवत्सपुत्र स तातपादः परमल्पकाले, दिवंगतस्तत्समयेऽहमास सार्धद्विवर्षायुषि वर्तमानः ॥११॥
मात्रा पितृव्यपत्न्या च पितृव्येन प्रपालितः । अभव सप्तवर्षीयो भग्नो वामकरस्तदा ॥१२॥
दृष्ट्वा मां दूयमानेन दयार्द्रीभूतचेतसा, विदुषा वृजलालेन चौरासीं जननीयुत ॥१३॥
नीतोऽहं पाठितस्तेन मठे सस्थाप्य भूयसाऽस्नेहसा नाप्तबोधत्वाज्जातोऽहं कलहप्रियः ॥१४॥
मध्यमत्वात् परिस्थित्याःअभावादन्यसद्गते पञ्चदशवर्षायुष्को वाराणस्यां तु प्रेषितः ॥१५॥
तत्र षडब्दपर्यन्तं न्यायव्याकरणादिकम्, गुरो शुश्रूषयाऽधीतं यथाबुद्धि मया मुदा ॥१६॥
दारिद्रय दुःखात् परिपीड्यमानो गतोऽमदावादपुरं विशालं तत्र स्थितैः श्रीसुखलालविज्ञैर्नियोजितो वृत्तिविधौ
परीक्ष्य ॥१७॥
गान्धीविद्यापीठाश्रिते विभागे तदा पुरातत्त्वे सन्मतिकाख्यस्य ग्रन्थस्य प्रकाशन व्यचलत् ॥१८॥

तत्पाठान्तरकरणे कार्येऽयं मां नियोज्य संतुष्ट कालक्रमेण मुनिभिः प्राज्ञैः सह परिचयो जातः ॥१९॥
"पन्नालाल उमाभाई" त्याख्यया विश्रुतो धनी, विपत्तौ मे सखा जातो मत्तो जैनोक्तिमाश्रित ॥२०॥
श्वेताम्बरमतमतयो मत्तोऽधीता अनेक मुनिवर्या. जाता विद्वान्सस्ते सन्त्यधुना केऽपि सूरिपदभाजः ॥२१॥
प्राय षोडशवर्षाणां समयोऽत्र विनिर्गतः। तथापि स्वल्पपुण्यत्वान्नाऽभवत्सातवेदनम् ॥२२॥

तत आगत्य—

पपौराभिधक्षेत्रस्थे वीरविद्यालये मया, पच वर्षाणि संस्थित्य विहित छात्रपाठनम् ॥२३॥
श्रीमत्यतिशयक्षेत्रे महावीरेति नाम्ना भुवि प्रथिते. राजस्थानाधीने यथाकथं चागत पुण्यात् ॥२४॥
अत्र सस्थापिते क्षेत्रे मुमुक्षुमहिलाश्रमे, पाठयतो मनस्तोषः काले गच्छति नाभवत् ॥२५॥
क्षेत्रीयैः पारिषदैः कृतो नियुक्तोऽस्मि वेतनं दत्वा, क्षेत्रे प्रवचनकार्ये तत्काले कृतोऽनुवादोऽयम् ॥२६॥
एतत्कार्यसमाप्त्यनन्तरमहो हृत्कपतः पीडित जातोऽहं विधिदुर्विपाकवशतः षण्मासकाल, कृतः।
वीक्ष्येमां मम दुःस्थिति च पतिभिः क्षेत्रस्य कार्यात् पृथग्,उन्मत्ता अधिकारिणो नहि जना जानन्ति नि स्वस्थितिम्।
मन्त्रिणा वृद्धिचन्द्रेण भद्रभावालिशालिना, योगोदत्तश्चिकित्सायां नाह स्वस्थो बभूव हा ॥२८॥
एतत्सत्कृतिजन्यपुण्यमहसा लब्धो मया पावनः वैद्यो वैद्यशिरोमणिर्गुणमणि कारुण्यरत्नाकर।
स्ववैद्या अपि यस्य कीर्तियशसाऽऽगन्तु क्षमा नोऽभवन्, त्रस्ताअत्र तदीयभेषजमहं संसेव्य स्वस्थोऽभवम् ॥२९॥
निष्कारणवयस्योऽसौ सुदाम्नो मे मुरारिवत्, द्वारिकायां विराजिन्यां राजधान्यां विराजते,
चिरजीव्याच्चिरजीव्याच्चिरंजीव्याच्चिरंजयेत् कन्हैयालालनामाऽयं वैद्यराजः सुखी भवेत् ॥३१॥
श्रेयोऽर्धभागिनी मेऽस्तु गृहिणी मनवाभिधा, निराकुल कृतं चित्तं ययाऽऽगारव्यवस्थया ॥३२॥
एतस्या योगतश्चित्ते हर्षोल्लासोऽधिकोऽस्ति मे तस्मादेवाभवत्कार्यं पूर्णं तूर्णं च सध्द्रुवम् ॥३३॥
चत्वारश्च चतस्रश्च सुता सन्ति गुणान्विता सर्वेऽप्येते सदा सन्तु जैनधर्मपरायणाः ॥३४॥
धन्यवादाञ्जलिस्तेभ्य· सर्वेभ्योऽय मया कृतः येपामय परामर्शात् साहाय्यात् पूर्णतां गतः ॥३५॥
जिनधर्मं प्रणम्याह सर्वं मदुपकारिणम् विद्यागुरुं च वाञ्छाम्येषां स्यान्तिश्रा भवे भवे ॥३६॥
यावद्राजति शासनं जिनपतेर्यावच्च गगाजलम्, यावच्चन्द्रदिवाकरौ वितनुत स्वीयां गतिं चाम्बरे।
तावद्राजतु मेऽनुवाद इह भो व्याख्यायमानोऽङ्गिनाम् प्राज्ञानां विदुषां सभासु सततं मे भावनैवेदृशी ॥३७॥